Subject Name : Business Environment Hindi

Course : BCOM 1st YEAR(VBSPU)

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

अध्याय	**1:**	**व्यावसायिक वातावरण** (Business Environment)	5
अध्याय	**2:**	**भारत की राष्ट्रीय आय** (National Income of India)	32
अध्याय	**3:**	**बचत एवं विनियोग** (Saving and Investment)	52
अध्याय	**4:**	**उद्योग** (Industry)	59
अध्याय	**5:**	**भुगतान संतुलन** (Balance of Payments)	87
अध्याय	**6:**	**मुद्रा** (Money)	100
अध्याय	**7:**	**मुद्रा का महत्व** (Importance of Money)	116
अध्याय	**8:**	**मुद्रा का वर्गीकरण** (Classification of Money)	129
अध्याय	**9:**	**मुद्रा का मूल्य–मुद्रा परिमाण सिद्धान्त** (Value of Money)	141
अध्याय	**10:**	**सार्वजनिक वित्त** (Public Finance)	156
अध्याय	**11:**	**भारत में कीमतें** (Prices in India)	163
अध्याय	**12:**	**भारत के आर्थिक विकास की बाधाएं एवं दूर करने के उपाय** (Impediments to Economic Growth and Measures of Economic Growth)	178
अध्याय	**13:**	**बेरोजगारी** (Unemployment)	187
अध्याय	**14:**	**भारत में गरीबी** (Poverty in India)	195
अध्याय	**15:**	**क्षेत्रीय असमानता** (Regional Imbalances)	214
अध्याय	**16:**	**आर्थिक असमानता** (Economic Inequality)	221
अध्याय	**17:**	**मुद्रा-स्फीति** (Inflation)	226
अध्याय	**18:**	**समानान्तर अर्थव्यवस्था** (Parallel Economy)	239
अध्याय	**19:**	**भारत में औद्योगिक अस्वस्थता** (Industrial Sickness in India)	245
अध्याय	**20:**	**मौद्रिक नीति** (Monetary Policy)	252
अध्याय	**21:**	**राजकोषीय नीति** (Fiscal Policy)	274
अध्याय	**22:**	**औद्योगिक नीति** (Industrial Policy)	282
अध्याय	**23:**	**आर्थिक लाइसेंसिंग व्यवस्था** (Industrial Licensing System)	308
अध्याय	**24:**	**निजीकरण** (Privatisation)	319
अध्याय	**25:**	**अवमूल्यन** (Devaluation)	326
अध्याय	**26:**	**नई निर्यात-आयात नीति,** 1992-1997 (New EXIM Policy, 1992-1997)	336
अध्याय	**27:**	**विदेशी सहायता एवं विदेशी पूंजी** (Foreign Aid and Foreign Capital)	346
अध्याय	**28:**	**दसवीं पंचवर्षीय योजना** (Tenth Five Year Plan)	358
अध्याय	**29:**	**अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण** (International Environment)	371
अध्याय	**30:**	**विदेशी व्यापार** (Foreign Trade)	399
अध्याय	**31:**	**तटकरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता (गाट)** (General Agreement on Tariff and Trade [GATT])	411
अध्याय	**32:**	**व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन** (United Nations Conference on Trade and Development–UNCTAD)	422
अध्याय	**33:**	**विश्व व्यापार संगठन** (WTO)	433
अध्याय	**34:**	**विश्व बैंक** (World Bank)	439
अध्याय	**35:**	**अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** (International Monetary Fund)	445

B. Com–III
Business Environment
Paper–IV

Max Marks: 100
Time: 3 Hours

Note: Ten question shall be set in the question paper covering the whole syllabus. The candidates will be required to attempt any five questions.

Course Inputs: B usiness environment: concept, components and importance

Economic trends (overview): Income, savings and investment Industry trade balance of payments, Money finance; prices.

Problems of growth: Unemployment; Poverty; regional imbalances; social injustice; Inflation ; parallel economy; Industrial sickness.

Role of Government in Indian Economy: Monetary and fiscal policy ; Industrial policy; Industrial licensing, privatization; devaluation; Export-import policy; Foreign investment; and collaborations.

Tenth five year plan: Major policies; resource allocation.

International Environment: International environment (overview); Trends in world trade and the problems of developing countries; foreign trade and economic growth;

International economic institutions-GATT, WTO, UNCTAD, World Bank, IMF.

अध्याय 1
व्यावसायिक वातावरण
(Business Environment)

व्यवसाय को आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्रौद्योगिक तथा प्राकृतिक घटक तथा संगठन के संसाधन, क्षमताऐं तथा ख्याति प्रभावित करते हैं। व्यवसायिक परिवेश की गहन सूझबूझ व्यूह रचनात्मक निर्णयन हेतू एक पूर्व शर्त होती है। रणनीति का स जन एक उचित फर्म वातावरण सामंजस्य की स्थापना के रूप में परिभाषित किया जाता है। व्यवसायिक वातावरण में उन सभी घटकों का समावेश होता है जिनका व्यवसाय पर प्रभाव पडता है। आधुनिक अर्थव्यवस्था में व्यवसाय एवं व्यवसायिक गतिविधियों ने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तकनीकी तथा सार्वजनिक नीति निर्माण एवं कार्यान्वयन के समस्त पक्षों को प्रभावित किया है, वस्तुतः व्यवसाय राष्ट्र एवं समाज के वातावरण में रहकर अपनी समस्त क्रियाओं को संचालित करता है। सरकार की नीतियां तथा निर्णय, सामाजिक परिवेश, बदलते हुए सामाजिक मूल्य, वैधानिक नियम, राजनैतिक प्रणाली सम्पूर्ण आर्थिक परिवेश व्यवसाय को क्षत प्रतिक्षण निर्मित कर रहा है।

व्यवसाय के वातावरण एवं परिवेश को समझने के लिए व्यवसाय की परिभाषा, कार्य क्षेत्र, प्रक ति एवं इसके परिवेश के साथ अन्तः निर्भरता का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। व्यवसाय का महत्व विभिन्न वातावरणीय घटकों के साथ सह-सम्बन्ध एवं अन्तक्रियात्मक द ष्टिकोण को भी समझना आवश्यक है। समाज की बदलती मान्यताओं, विचारधाराओं, प्रबंधन की नवीनतम तकनीकें, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिर्वतनशील एवं अन्य क्रियाओं की जटिलता के कारण व्यवसाय को व्यापक रूप में देखना आवश्यक हो जाता है। आधुनिक अर्थव्यवस्था में व्यवसाय तथा व्यवसाय सम्बन्धित अन्य आर्थिक क्रियाओं ने देश के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक वातावरण को प्रभावित किया है वातावरण ने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक तथा तकनीकी नीतियों को प्रभावित किया है। व्यवसाय तथा वातावरण दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। व्यवसाय का अर्थ है - जीविका उपार्जन करने का एक तरीका अर्थात जोखिम उठाते हुए लाभ कमाना। व्यवसाय, राष्ट्र एवं समाज के वातावरण में रह कर अपनी क्रियाओं को संचालित करता है। व्यवसाय एवं वातावरण को कुछ विद्वानों ने इस प्रकार परिभाषित किया हैं - रेनकी एवं शाल के अनुसार यह उन समस्त बाह्य घटकों को योग हैं जिनके प्रति व्यवसाय अपने को अनाव त करता है तथा प्रयत्क्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। The environment of business consists of all those external things to which it is exposed and by which it may be influenced, directly or indirectly. विलियम ग्लूक व जाक के अनुसार "वातावरण में फर्म के बाहर के घटक शमिल होते हैं- जो फर्म के लिए अवसर व खतरे पैदा करते हैं।" In environment, there are external factors, which constantly spin out opportunities and threats to the business firm. रिचमैन व कौपन के अनुसार "वातावरण में दबाव व नियंत्रण होते हैं जो अधिकांशत : वैयक्तिक फर्म एवं इसके प्रबन्धकों के नियन्त्रण के बाहर होते हैं।" There are lot of Pressures and controls which are mostly out-side the control of individual firm and its managers. इस प्रकार वातावरण से अभिप्रायः उन सभी कारणों से है जो व्यवसाय की कार्यविधि पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। व्यवसायिक वातावरण विभिन्न गतिशील, जटिल व ऐसी परिस्थितियां जो आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक, भौतिक व तकनीकी है व नियंत्रण से बाहर हैं का योग है, जिनके भीतर व्यवसाय को, कार्य करना पड़ता है। अनेक परिस्थितियों में नए अवसरों की खोज में वातावरण से व्यवसाय को प्रोत्साहन व एक नयी उर्जा प्राप्त होती है और यह भी सच है कि व्यवसाय खुद भी वातावरण के परिवर्तन में एक महत्वपूर्ण घटक होता है। वातावरण के कारणों की वजह से ही व्यवसाय स्वयं को प्रेरित करने के लिए तथा इन परिस्थितियों के अनुसार अपने स्वरूप को ढालने के लिए नई मान्यताएँ, नये आदर्श, प्रव तियां, नई भूमिकाओं को ग्रहण करने के लिए विवश होता है। वातावरण के इन नए परिवर्तनों की वजह से व्यवसाय ऐसी शक्ति एवं ऊर्जा प्राप्त करने में समर्थ होता हैं कि वह अपने अस्तित्व को बचा पाता है। यदि वातावरण के व्यवसाय के साथ सम्बन्धों को ध्यान में न रखा जाए तो व्यवसाय को इसके गंभीर परिणाम भुगतने पड़ते हैं। यदि कोई व्यवसायिक संस्था इन बाहरी घटकों का अपनी व्यवसायिक

रणनीति बनाने में ध्यान नहीं रखती तो वह अपने को बाजार में बचा कर नहीं रख सकती। अतः आधुनिक समय में व्यवसाय के वातावरणीय विश्लेषण की सहायता से अवसरों की पहचान करने वाला व्यापारी अधिक प्रगति कर सकता हैं वे फर्मे उन फर्मो की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल व प्रभावशाली होती है जो अपने वातावरण का व्यवस्थित रूप से अध्ययन, विश्लेषण व पर्यवेक्षण करती हैं।

जैसे किसी व्यक्ति का अस्तित्व तथा उसकी सफलता उसकी आन्तरिक क्षमताओं पर र्निभर होती है तथा जैसे विभिन्न शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक घटक, जो उसके परिवेश से तालमेल बनाये रखें तथा उसके विकास के प्रति अहम बन सकें ठीक वैसे ही एक व्यवसायिक फर्म की सफलता भी व्यवसाय की अपनी आन्तरिक शक्ति पर निर्भर करती है। आन्तरिक शक्ति के तत्व हैं :-भौतिक संसाधन, वित्तीय शक्तियां, मानवीय घटक, संगठन । इसी प्रकार किसी फर्म का अस्तित्व तथा सफलता घटकों के दो समुच्चयों के परिणाम है :- आन्तरिक घटक - आन्तरिक वातावरण, बाह्य घटक- बाहरी वातावरण। व्यापक तौर पर बाहरी वातावरण के दो प्रकार है - (i) व्यवसायिक अवसर (Business Opportunities) (ii) व्यवसाय के समक्ष चुनौतियां (Business Threats)। इसी तरह संगठनात्मक वातावरण के दो तत्व होते हैं - संगठन की शक्तियां तथा क्षीणताएं। अतः रणनीति बनाने का अर्थ बाहरी परिवेश में अवसरों तथा चुनौतियों के प्रति संगठनात्मक घटकों अर्थात आन्तरिक परिवेश को व्यवस्थित करना मात्र है। किसी भी अर्थपूर्ण संगठन के कुछ लक्ष्य (Mission) उद्देश्य (Object) तथा प्रयोजन (Goal) होते हैं तथ उनको पाने के लिए सुव्यवस्थित रणनीति (Strategy) आवश्यक होती है । वस्तुतः स्वयं उद्देश्य एवं लक्ष्य बाहरी परिवेश एवं संगठनात्मक घटकों के आकलन पर आधारित होने चाहिए । इस सम्बन्ध में Strenglths, Weakness, Opportunities तथा Threats को ध्यान में रखते हुए व्यवसायिक निर्णय लिए जाते हैं।

व्यवसाय के आधार (Bases of Business)

प्रारम्भ में व्यवसाय का कार्य केवल व्यवसाय के माध्यम से लाभ कमाना माना जाता था। लेकिन आधुनिक परिस्थितियों ने व्यवसाय के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये हैं और इस क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा देखने को मिलती है जिसे व्यवसाय की सामाजिक विचारधारा कहा जाता है । अतः अब व्यवसाय के दो आधार माने जाते हैं :- (1) व्यवसाय का व्यक्तिगत आधार (Individnal basis) (2) व्यवसाय का सामाजिक आधार (Social basis) व्यक्तिगत आधार उन कारणों को बताया है जिनकी वजह से कोई व्यक्ति व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा उसी में निरन्तर संलग्न रहते हुए अपने व्यवसायिक कार्य-क्षेत्र की निरन्तर व द्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। कोई भी व्यक्ति केवल मात्र देश-प्रेम व जनहित के लिए व्यवसाय करने को प्रेरित नहीं होता। व्यवसाय में उसका व्यक्तिगत हित आवश्यक होता है । व्यक्तिगत रूप से लाभ अर्जित करना व्यवसाय का प्रमुख ध्येय होता है लाभ अर्जित करके ही कोई व्यक्ति अपनी तथा अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है। वर्तमान द ष्टिकोण के अनुसार व्यवसाय का सामाजिक आधार भी माना गया है। इस द ष्टिकोण से व्यवसाय समाज का ही अंग है जो समाज के लिए समाज में ही किया जाता है, अतः व्यवसाय को समाज में अपना अस्तित्व कायम रखनें के लिए व्यवसाय के सामाजिक आधार को भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है। इसी सामाजिक आधार को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक व्यवसायी को समाज की बदलता हुई आवश्यकताओं की लगातार पूर्ति, ग्राहकों की सन्तुष्टि तथा सामाजिक रहन-सहन के स्तर में व द्धि हेतु प्रयत्न करना आवश्यक हो गया है ।

इस प्रकार व्यवसाय के दो प्रमुख आधार माने जाते हैं- व्यक्तिगत व सामाजिक आधार। यद्यपि दोनों प थक-प थक प्रतीत होते हैं लेकिन आन्तरिक रूप से दोनों ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। व्यक्तिगत आधार लाभ से प्रेरित हैं तथा सामाजिक आधार अस्तित्व को बनाये रखने हेतु सेवा-कार्य से सम्बन्धित हैं। व्यक्तिगत आधार को आर्थिक रूप से सम्बन्धित हैं। व्यक्तिगत आधार को आर्थिक आधार भी कहा जाता है जिसे इस तरह वार्णित किया गया है ।

(1) **व्यक्तिगत या आर्थिक आधार (Individual Or Economic Basis) :-** व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है। लाभ की प्रेरणा ही व्यवसाय की जन्मदाता है। जिन संस्थाओं का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता, उन्हें व्यवसाय के अन्तर्गत शमिल नहीं किया जाता है जैसे सार्वजनिक औषधालय, व द्धाश्रम एवं अन्य संस्थाएं जो लाभ कमाने के लिए नहीं बनाई गई हैं। लाभ व्यक्ति ने व्यवसाय में जो जोखिम उठाई है उसके बदले में मिलता है। बिना लाभ की आशा के कोई व्यक्ति व्यवसाय करने को तैयार नहीं होता। बिना लाभ के कोई व्यवसाय चलाया ही नही जा सकता है, और न ही उन्नति कर सकता है। लाभ की आशा में ही उत्पादन के संसाधनों की गतिशीलता बढती है। लाभ व्यवसाय की अस्तित्व रक्षा, प्रेरणा के स्त्रोत व संसाधनों

की धनोत्पादन क्षमता को बनाये रखने हेतु आवश्यक है। सामखेल ने कहा है कि "लाभ को व्यवसाय का आर्थिक आधार माना गया है, क्योंकि लाभ कार्यकुशलता की कसौटी है, जोखिम व विस्तार के लिए वित प्रबंध का स्त्रोत है तथा कार्य की प्रेरक शक्ति है।" लाभ की आशा में ही व्यवसाय बढता है । इसलिए लाभ को व्यवसाय का आर्थिक आधार माना जाता है। लाभ के सम्बन्ध में पीटर ड्रकर का यह कथन अत्यन्त महत्पूर्ण है - वास्तव में आज के वैज्ञानिक एवं इंजीनियर्स जिस पुनर्निवेशन सिद्धांत की चर्चा करते हैं, जो कि समस्त स्वचालित उत्पादन प्रणालियों का महत्वपूर्ण आधार है, तथा जो अपने स्वयं के परिणाम के द्वारा किसी प्रकिया का स्व-नियमन करता है तो उसका इस चर्चा से आशय है- लाभ और यह इन सबका एक सुन्दर उदाहरण है । अतः लाभ व्यवसायिक क्रिया का स्व-नियमन Self - Regulation कार्य है। यह व्यवसाय को निरन्तर जीवन-क्षमता प्रदान करता है। व्यवसायिक सफलता को मापने का एक मात्र आधार आर्थिक ही होता है। आर्थिक द ष्टि से सद ढ़ होना हर व्यवसाय के लिए आवश्यक है। अर्थिक द ष्टि से लाभ कमाकर ही संस्था मजबूत हो सकती है। सभी प्रकार की आर्थिक प्रणालियों में लाभ कमाना व्यापार का अधिकार माना जाता है। पूंजीवादी प्रणाली में इस पर अधिक जोर दिया जाता है, जबकि समाजवादी अथवा मिश्रित में उचित लाभ पर जोर दिया जाता है। अतः व्यवसाय के लिए आर्थिक आधार ही सबसे महत्वपूर्ण होता है। कुशल प्रबंध भी उसे ही माना जाता है, जब व्यवसाय आर्थिक आधार पर सुद ढ़ हो। व्यवसाय की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी मजबूत आर्थिक आधार होना आवश्यक है।

आर्थिक आधार का व्यवसाय में महत्व (Importance of economic basis in business)

व्यवसाय किसी अन्य प्रकार से व्यवहार नहीं कर सकता । व्यवसाय केवल व्यवसाय की भांति ही कार्य करता है - अर्थात व्यवसाय जो कुछ भी करता है उसमें आर्थिक विवेक का प्रयोग करना ही चाहिए और यही इसके कार्य करने का सही ढंग हैं। पीटर ड्रकर का यह कथन व्यवसाययिक क्रियाओं में आर्थिक आधार के महत्व को स्पष्ट करता है। विस्त त रूप में व्यवसाय के आर्थिक आधार के महत्व को निम्न द्वारा स्पष्ट किया गया है:-

1. **व्यवसाय के लिए प्रेरणा का स्रोत (Motivating force for business)** :- अधिक से अधिक लाभ कमाना हर व्यक्ति की इच्छा होती है। कोई भी व्यक्ति अपनी पूंजी तथा अन्य साधनों का उपयोग व्यवसाय में केवल लाभ कमाने की द ष्टि से ही करता है, लाभ आर्थिक किया के लिए मुख्य प्रेरणा प्रदान करने वाला तत्व है। आधुनिक युग में व्यवसाय पहले की अपेक्षा जटिल हो गया है। विभिन्न प्रकार के नियम नियंत्रण एवं प्रतियोगिताओं के कारण इन सब कठिनाइयों को भी झेलने व व्यवसाय में प्रवेश की इच्छा, लाभ प्राप्ति के कारण ही पाई जाती है। लाभ की प्रेरणा जितनी अधिक शक्तिशाली होती है, जोखिम भी उस व्यवसाय में उतनी ही अधिक पाई जाएगी ।

2. **विनिमय का आधार (Basis of Exchange)** :- व्यावसायी अपनी वस्तुओं का विनिमय, मुद्रा में अथवा अन्य वस्तुओं से लाभ प्राप्ति के लिए करता है। इसी प्रकार व्यापारी से वस्तुएं लेने वाले व्यक्ति को भी उपयोगितात्मक लाभ होता है तभी वह वस्तु के बदले मुद्रा देता है अतः दोनों ही विनियम करने वालों को पारस्परिक लाभ होता है अन्यथा विनिमय ही नहीं होगा।

3. **व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfilment of individual needs)** :- सामान्य व्यक्ति की तरह व्यवसाय की भी अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताएं होती है। अतः व्यवसायी भी अपने व्यवसाय से अर्जित लाभ को ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रयुक्त कर सकता है। यदि लाभ न होगा तो प्रमुख आवश्यकताएं अपूर्ण रह जायेंगी। यदि कोई व्यापारी अपने व्यक्ति कार्यो के लिए अपनी पूंजी का उपयोग करता है, तो यह अपने पैर मे कुल्हाड़ी मारने के समान है। थोड़े समय में पूंजी समाप्त हो जायेगी, फिर या तो वह दिवालिया हो जायेगा अन्यथा अपनी समस्त व्यक्ति सम्पत्तियों को व्यक्तिगत उपयोग में, प्रयोग कर लेगा । इस प्रकार व्यवसाय भी समाप्त हो जायेगा।

4. **व्यवसाय के अस्तित्व के लिए (For survival of Business)** :- व्यवसाय को जीवित रखने के लिए लाभ अवश्य अर्जित करना चाहिए। निरन्तर घाटे पर चलने वाला व्यवसाय या बिना लाभ प्रदान करते हुए उसका चलना सम्भव नहीं है इसलिए उसके अस्तित्व के लिये यह आवश्यक है कि लाभ कमाया जाए। हरमन क्रूज के शब्दों में "आज व्यवसाय को जीवित रखने के लिए लाभ अर्जित करना चाहिए। अपने पूर्वजों की अपेक्षा आज का व्यवसायी लाभ में ज्यादा उत्सुक है, क्योंकि वह व्यवसायिक परिवर्तन, नव प्रवर्तन एवं जोखिम के प्रति ज्यादा सजग है।

5. **व्यवसाय के विकास एवं विस्तार के लिए (For Growth and Expansion of Business)** :- व्यवसाय में लाभ प्राप्त होना व्यवसाय के अस्तिव के लिये भी आवश्यक है। यदि लाभ नहीं होगा तो व्यवसायी को अपनी जीविका व प्रमुख

आवश्यकताओं को पूरा करने हेतू व्यवसाय में लगी पूंजी का उपयोग करना पड़ेगा जिससे व्यवसाय का अस्तिव समाप्त होने की आशंका हो जाती है। व्यवसाय के विकास के लिए भी लाभ का होना आवश्यक है। सामान्य रूप से अर्जित लाभ का होना आवश्यक है। सामान्य रूप से अर्जित लाभ का पुनर्विनियोग व्यवसाय में किया जाता है तथा यह उचित भी है। व्यवसाय में विकास हेतू अतिरिक्त पूंजी की प्राप्ति भी लाभ पर निर्भर होती है। जनता, बैंक एवं विभिन्न वित्तीय संस्थाएँ अपनी राशि तभी उधार देती हैं जबकि व्यवसाय में लाभ हो रहा हो तथा लाभ की सम्भावाएँ हों। इसलिए व्यवसाय में लाभ को पूँजी निर्माण का स्त्रोत कहा गया है।

6. **साहस का पुरस्कार (Reward for Entrepreneurship)** :- व्यवसाय के संचालन में व्यवसायी का साहस एक अभिन्न आवश्यकता माना जाता है। व्यवसाय में लाभ होना व्यवसायी की उद्यमशीलता एवं व्यवसायिक दूरदर्शिता का ही परिणाम है। व्यवसायी का अथक प्रयास एवं कठिन परिश्रम ही व्यवसाय को आगे बढ़ा सकते हैं। अतः उसको साहस का पुरस्कार प्राप्त करने के लिए लाभ कमाना ही चाहिए। लाभ व्यवसायी की सेवाओं व योग्यता का पुरस्कार है। एफ. फ्रेन्ज के अनुसार,"व्यवसाय को साहस लाभ कमाना चाहिए क्योंकि व्यवसायी एक बड़ी जोखिम लेकर उसमें विनियोग करता है।

7. **सेवाओं का पुरस्कार (Reward for services)** :- जिस प्रकार से एक सामन्य व्यक्ति अपने परिश्रम के बदले में कुछ चाहता है उसी प्रकार से व्यवसायी भी व्यवसाय में किए गए परिश्रम के प्रतिफल के लिए लाभ चाहता है। लाभ के अभाव में उसका परिश्रम व्यर्थ है। कोई भी व्यक्ति निरर्थक परिश्रम नहीं करना चाहता। यदि व्यवसायी को विकट भविष्य में भी अपने परिश्रम के प्रतिफल की सम्भावनायें नहीं दिखाई देती हैं तो वह उस व्यवसाय को छोड़ कर कोई नया मार्ग अपनाता है। व्यवसाय में लाभ अनुचित नहीं होना चाहिए।

8. **व्यवसाय की सफलता एवं कुशलता का मापदंड (Measurment of success and efficiency)** :- एक उद्योग राष्ट्रीय सम्पति का अर्थिक स्त्रोत है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी सम्पति की व द्धि व निरन्तर उसका विकास चाहता है। व्यवसायी का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यवसाय का संचालन राष्ट्रीय हितों का ध्यान में रखते हुए लाभपूर्वक करे। सरकार व समाज भी व्यवसाय की सफलता चाहते हैं तथा यथासम्भव सहयोग देते हैं। व्यवसाय में लाभ व होने की स्थिति केवल एक उद्योग व व्यावसायी के लिए ही अहितकर नहीं होती है बल्कि समस्त राष्ट्र के लिए अहितकर होती है।

9. **समस्त अर्थव्यवस्थाओं में लाभ को मान्यता (Recognition of Profit by all systems)** : साम्यवादी, समाजवादी और पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में व्यवसायिक लाभ को किसी न किसी रूप में मान्यता दी गई है। अर्जित लाभ के प्रयोग के स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकते है। साम्यवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था में लाभ की प्रयुक्ति सामाजिक हित व राष्ट्रीय हित में होती है जबकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत हित सर्वोपरि होता है। अतः व्यवसाय और लाभ दोनों में चोली-दामन का सम्बन्ध है।

10. **सामाजिक दायित्वों की पूर्ति का साधन (Means for discharging social obligations)** :- आधुनिक व्यवसाय में व्यवसाय का सामाजिक दायित्व भी महत्वपूर्ण माना गया है। उपभोक्ताओं को संतुष्टि प्रदान करना, कर्मचारियों का उचित रूप से पारिश्रमिक प्रदान करना, विनियोजकों को उनके द्वारा निवेशित पूंजी पर उचित प्रतिफल प्रदान करना, रोजगार के अवसर प्रदान करना एवं आवश्यकता के समय देश के समाज सेवी संगठनों को आर्थिक सहायता प्रदान करना आदि सामाजिक दायित्व की परिधि में आते है। इन दायित्वों को केवल लाभ होने पर ही पूरा किया जा सकता है।

11. **जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा (Safety againt Risks)** :-प्रत्येक व्यवसाय में अनेक जोखिमें होती हैं। ये प्राक तिक आपदाओं (तूफान, भूकम्प, आग) के अतिरिक्त मंदी, मांग में परिवर्तन, फैशन व उपभोक्ता रूचि में परिवर्तन, सरकारी नीतियों, प्रतिस्पर्धा, विदेशी माल की पूर्ति, ग्राहक व्यवहार के कारण उत्पन्न हो सकती हैं। इन जोखिमों का सामना करने के लिए व्यवसाय में लाभ का होना आवश्यक है। इसलिए पीटर ट्रकर ने लाभ को 'जोखिम अधिशुल्क' कहा है, जो व्यवसाय में बने रहने की लागतों को पूरा करने के लिए आवश्यक है। विज्ञान की प्रगति के कारण व्यवसाय में लगी मशीनों, यन्त्रों आदि के पुराने होने पर उनका प्रतिस्थापन की आवश्यक होता है। लाभ प्रतिस्थापन करना जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा है।

12. **भावी पूँजी की पूर्ति (Supply of future capital)** :- सफल एवं लाभ प्रदान करने वाले व्यवसायों में ही विनियोजक अपनी पूँजी लगाना पसन्द करते हैं। लाभों में से अधिक दर पर लाभांश वितरित किए जा सकते हैं। इस प्रकार लाभ अर्जन की क्षमता के कारण व्यवसाय में नयी पूंजी आकर्षित होती रहती है। भावी पूंजी की प्राप्ति से व्यवसाय की दीर्घकालीन योजनाओं एवं उद्देश्यों को पूरा किया जा सकता है।

13. **स्व-अर्थप्रबन्ध (Self-Financing)** : लाभ व्यवस्था के लिए स्ववित्त व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण साधन है। व्यवसायी, लाभों का पुनर्विनियोजन करके अपनी आय बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार व्यवसायी, लाभों में से सुरक्षित कोषों का निर्माण करके अपनी व्यवसायिक आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। जार्ज टैरी लिखते है कि "प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में व्यवसाय को जीवित रखने के लिए, स्वामियों का उचित लाभांश देने के लिए, इसके साधनों के विकास एवं सुधार के लिए, समुदाय के हित के लिए तथा सरकारी करों का भुगतान करने के लिए उचित लाभ अवश्य कमाया जाना चाहिए।

14. **कार्यक्षमता बनाये रखने हेतू (To maintain efficiency)** :- लाभ व्यवसाय में लगे हुए धनोत्पादन क्षमता को बनाये रखने हेतू आवश्यक है। लाभों में से कर्मचारियों को अच्छा वेतन, बोनस, भत्ते, नकद प्रेरणाएं, प्रशिक्षण आदि की सुविधाएं प्रदान करके उनकी कार्यक्षमता को बनाए रखा जा सकता है। साथ ही भौतिक संसाधनों की मरम्मत, प्रतिस्थापन आदि की आवश्यकताएं भी लाभों में से पूरी की जा सकती हैं। प्रमुख उद्योगपति श्री अमीन के शब्दों में-"लाभ वह साधन है जिसके द्वारा व्यवसाय अपनी कार्य-क्षमता एवं जीवन-शक्ति बनाये रखता है।"

15. **पूंजी पर प्रतिफल (Return on Capital)** :- अल्फ्रेड स्लोन के शब्दो में "व्यवसाय का महत्वपूर्ण उद्देश्य पूंजी पर लाभ कमाना है। "प्रत्येक महत्वपूर्ण उद्देश्य पूंजी पर लाभ कमाना है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ प्रतिफल प्राप्त करने के उद्देश्य से ही व्यवसाय में पूंजी का विनियोजन करता है। मैक्फारलैंड के अनुसार,"विनियोजित पूंजी, समय तथा योग्यताओं के साथ-साथ अर्पित सेवाओं के लिए उचित प्रत्याय उपलब्ध करना व्यवसाय का दायित्व है। "अतःविनियोजकों को उनकी पूंजी पर उचित प्रतिफल प्रदान करने के लिए लाभ अवश्य कमाया जाना चाहिए।

16. **कर्मचारियों को सुविधाएं (Facilities to employees)** :- आज कर्मचारी व्यवसाय से केवल वेतन पाने की अपेक्षा ही नहीं रखता अपितु वेतन के अलावा अन्य सुविधाएं भी चाहता है जैसे बोनस, आवास, व्यवस्था, कैन्टीन, वाचनालय आदि। अतः कर्मचारियों की इन आकाक्षांओं का पूरा करने के लिए लाभ आवश्यक है। ड्रकर का कथन है, "उपक्रम का संचालन पर्याप्त लाभ पर ही किया जाना चाहिए। स्वयं के प्रति तथा कर्मचारियों के प्रति यही इसका प्रथम सामाजिक उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य है।

17. **लाभ का सामाजिक औचित्य (Social Justification of Profit)** :- लाभ अर्जन की आंकाक्षा में समाज में नयी-नयी व्यवसायिक फार्मे खुलने लगती हैं लाभ की आशा में ही फर्मे नव-प्रर्वतन के कार्य करती है तथा अपने व्यवसाय का विस्तार करती है। इस प्रकार समाज में रोजगार व विनियोग के नये अवसर उत्पन्न होते है।, पूंजी का निर्माण होता है तथा श्रेष्ठ किस्म की वस्तुओं के उपयोग से जीवन स्तर में व द्धि होती है। लाभ औद्योगिक प्रगति को प्रोत्साहित कर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को गतिशील बना देता है,

व्यवसाय में आर्थिक आधार की प्रक ति

व्यवसाय के आर्थिक आधार में लाभ पक्ष का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण इसे अनेक प्रकार की आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा है। अनेक लोगों एवं संस्थाओं ने व्यवसाय में लाभ की विद्यमानता की अवहेलना की है तथा इसके अस्तित्व को नकारा है, लेकिन दूसरी तरफ राह विचारधारा भी किसी प्रकार कम शक्तिशाली नहीं है कि व्यवसाय का आर्थिक आधार व्यवसाय के लिए अत्यंत आवश्यक है और इस आर्थिक आधार का मूलाधार लाभार्जन है। इसलिए यहां पर व्यवसाय में आर्थिक आधार की प्रक ति को ठीक तरह समझने के लिए लाभ के विभिन्न पहलुओं तथा आयामों का विवेचन करना आवश्यक है। आधुनिक प्रबंध विचारक पीटर ड्रकर के विचार इस सम्बन्ध में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं तथा व्यवसाय में आर्थिक आधार की प्रक ति पर पर्याप्त प्रकाश डालते है :-

1. **लाभ व्यवसाय की आवश्यकता है** : लाभ व्यवसाय का लक्ष्य नहीं बल्कि एक आवश्यकता है। ड्रकर के अनुसार,"लाभ व्यवसाय में एक प्रतिबंधात्मक घटक का कार्य करता है। पर्याप्त लाभ के अभाव में एक व्यवसाय अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता।" लाभों के द्वारा व्यवसाय के लिए आवश्यक कोष, निधियाँ, लाभांश तथा अनेक खर्चों की व्यवस्था की जाती है। लाभ व्यवसाय की चालक शक्ति का कार्य करता है।

2. **लाभ एक न्यूनतम विचार है** : व्यवसाय में अधिकतम लाभ कमाने से लाभ की विचारधारा का कोई संबंध नहीं है। लाभ तो एक 'न्यूनतम विचार' है, एक आधारभूत विचार है। किसी भी व्यवसाय में वास्तविक समस्या अधिकतम लाभ कमाने की नहीं,

वरन् जोखिमों से सुरक्षा के लिए पर्याप्त लाभ अर्जित करने की होती है। ड्रकर बताते है कि "व्यवसाय का निर्देशक सिद्धांत अधिकतम लाभार्जन का नहीं बल्कि व्यवसाय में होने वाली हानियों को टालना होना चाहिए।" अधिकतम लाभार्जन का सिद्धांत, व्यवसाय के एक पुराने सिद्धांत 'सस्ता खरीदो, महंगा बेचो' के जटिल रूप को प्रकट करता है। यह मानसिक क्रिया का आधार नहीं बन सकता। ड्रकर का यह द ढ़ विचार है कि " लाभदायकता का उद्देश्य व्यवसाय के उस अधिकतम लाभ को नहीं मापता है जो वह अर्जित कर सकता है, वरन् उस न्यूनतम लाभ को दर्शाता है जो व्यवसाय को अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए कमाना चाहिए।"

3. **अवसरों का अधिकाधिकरण** :- ड्रकर ने अधिकतम लाभार्जन के सिद्धांत को अस्पष्ट एवं निरर्थक बताया है। वे कहते है कि लाभों के अधिकाधिकरण की अपेक्षा अवसरों का अधिकाधिकरण व्यवसाय के लिए ज्यादा जरूरी है। व्यवसाय में अवसरों को अधिकतम करने पर बल देते हुए उन्होने कहा है कि यही सच्ची उद्यमशीलता है तथा यही व्यवसाय को निश्चित एवं सही रूप में परिभाषित करती है। वे प्रभावशीलता को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका यह विचार है कि प्रभावशीलता तथा अवसरों के स जन और अधिकाधिकरण पर निरंतर ध्यान देना व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है।

4. **लाभ परिणाम है, उद्देश्य नहीं** : व्यवसाय के आर्थिक आधार के रूप में लाभ को जोखिम उठाने, आर्थिक कुशलता बढ़ाने तथा नवप्रवर्तन के परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि एक उद्देश्य के रूप में लाभ व्यवसाय की उत्तम सेवाओं की कसौटी है तथा व्यवसायिक क्रियाओं के श्रेष्ठ निष्पादन का परिणाम है, पर यदि इसे व्यवसाय का लक्ष्य या उद्देश्य मान लिया जाएगा तो व्यवसायिक क्रियाओं की सही दिशा इसका श्रेष्ठ निष्पादन, उत्तम सेवाओं तथा व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व एवं न्यासिता जैसे व्यवसाय के आधार स्तम्भ गौण हो जायेगे तथा लाभार्जन के लक्ष्य की प्राप्ति पर ही सारा ध्यान केंद्रित हो जायेगा जिससे व्यवसाय तथा समाज दोनों की अनेक मौलिक आवश्यकताओं की अवहेलना होगी।

5. **सामाजिक लक्ष्य का आधार** : व्यवसाय के लिए केवल लाभ कमाना ही पर्याप्त नहीं है, इसे समाज की भलाई व कल्याण के लिए भी कार्य करना होता है। सामाजिक कार्यो, सामाजिक कल्याण व सेवा में ईमानदारी से संलग्न होने के लिए यह बहुत जरूरी है कि पहले व्यवसाय का आर्थिक आधार सुद ढ़ हो।

6. **लाभदायकता व्यवसाय में महत्वपूर्ण है** : व्यवसाय में मूल बात लाभदायकता में सुधार करने की है,लाभों को बढाने की नहीं। लाभदायकता कुशलतम आर्थिक निष्पादन का ही दूसरा नाम है। एक व्यवसाय को आर्थिक रूप से कुशल होने, न्यूनतम लागत पर श्रेष्ठ उत्पादन करने की चिंता करनी चाहिए, लाभ बढाने की नहीं। लाभदायकता का सम्बन्ध व्यावसायी की योग्यता, कौशल तथा नव प्रर्वतन की क्षमता से है।

7. **लाभ बाह्य घटक के रूप में** : ड्रकर का मत है कि लाभ एक बाहरी घटक हैं। इसकी प्राप्ति आंतरिक रूप में नहीं बल्कि बाहरी क्रियाओं, सेवाओं तथा गतिविधियों के निष्पादन से होती है। आंतरिक प्रबंधन एवं संसाधनों का उचित उपयोग व्यवसाय के संचालन के लिए आवश्यक है, लेकिन लाभ की प्राप्ति मूल रूप से ग्राहक सेवा तथा ग्राहक संतुष्टि से ही होती है। बाजारों, वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग का स जन करना, जो कि व्यवसाय की बाहरी क्रियाएं हैं, लाभ प्राप्त करने का मूलाधार बनती हैं।

8. **लाभ तो पुरस्कार है, प्रेरणा नहीं :** लाभ को प्रेरणा के रूप में देखना भ्रामक है। यह एक झूठा विश्वास है कि प्रेरक तत्व के द्वारा ही व्यक्ति के व्यवहार को समझा जा सकता है, व्यवसाय में अनेक प्रेरणाएं अपना- अपना प्रभाव डालती रहती हैं, जिससे व्यवसाय के संचालन, विस्तार, विकास, विविधिकरण, आधुनिकरण, निर्यातोन्मुखदिशा तथा सामाजिक सेवाओं के प्रति व्यवसाय का ध्यान आकर्षित एवं केन्द्रित होता है।

व्यवसाय का सामाजिक आधार (Social Basis of Business)

उन्नीसवी शताब्दी तक व्यवसायी सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करते रहे तथा उनका उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना ही था। लेकिन बीसवीं शताब्दी की परिस्थितयों ने इस क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया जिसे 'व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व' के नाम से जाना जाता है। इसी विचारधारा के फलस्वरूप स्वतन्त्र व्यापार नीति को कुछ सीमा तक परिवर्तित किया गया। कुछ राष्ट्र जो कि पूँजीवादी अर्थवयवस्था के पूर्ण समर्थक हैं, वहाँ पर भी कुछ महत्वपूर्ण उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा कुछ क्षेत्रो में राजकीय उपक्रम स्थापित किए गए तथा कुछ राष्ट्रों में निजी व्यवस्था का पूर्ण उन्मूलन ही कर दिया गया तथा साम्यवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्था का उदय हुआ।

आज की विचारधारा स्पष्ट है कि व्यवसाय का उद्देश्य लाभ प्राप्त करना है लेकिन यह उसका एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता है। टामस के अनुसार, "व्यवसाय का दायित्व हमारे नगरों तथा प्रमुख क्षेत्रों की समस्याओं को हल करना है तथा यह दायित्व व्यवसाय के आर्थिक उद्देश्य से भी ऊपर एवं अग्रणी है।" सामाजिक विचारधारा के अनुसार व्यवसायी के लिए यह आवश्यक है कि वह आधुनिक परिस्थितियों में अपने लक्ष्यों को पूरा करता हुआ, समाज के प्रति जो उसके कर्तव्य एवं दायित्व है उन्हें भी निरन्तर पूरा करता रहें। श्री हेनरी फोर्ड जो कि बहुत बडे उद्योगपति थे उन्होंने भी अधिकतम लाभ के पीछे भागने की प्रव ति को उचित नहीं समझा क्योंकि आज व्यवसाय की उपयोगिता उसके सामाजिक द ष्टिकोण से है तथा इसके अभाव में उसका बहिष्कार कर दिया जाता है। आज के युग में सामाजिक विचारधारा ने व्यवसायिक जगत में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है तथा नित्य प्रति व्यावसायियों में भी इसके प्रति अधिक चेतना जाग्रत हो रही है। पीटर ड्रकर ने भी उल्लेख किया है "व्यवसाय में केवल लाभ पर ही विशेष ध्यान देने से प्रबन्धको को इतना दोषपूर्ण निर्देश मिलता है कि वे उस व्यवसाय का अस्तित्व ही खतरे में डाल सकते है तथा अधिकतम लाभ प्राप्ति की भावना से प्रेरित होकर भविष्य की उपेक्षा कर सकते है"। ड्रकर ने व्यवसाय के सामाजिक आयाम को बहुत महत्व दिया है। वे कहते है कि व्यवसाय को समाज के प्रति दिलचस्पी पैदा करनी चाहिए तथा जन कल्याण की क्रियाओं को भी चलाना चाहिए। क्योंकि ये क्रियाएं व्यवसाय का महत्वपूर्ण कार्यक्षेत्र है। आज की माँग यह है कि जीवन की गुणवत्ता ही व्यवसाय का मुख्य कार्य बन जाए और व्यवसाय को इस कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। व्यवसाय का लक्ष्य समाज को अधिकतम संतुष्टि प्रदान करना चाहिए और यही कार्य व्यवसाय का सामाजिक आधार है। हुर्बट सांभखेल तो यहाँ तक कहते है कि "लाभ को ही व्यवसाय का एक मात्र आधार माना जाना गलत है। यह मानव जीवन के प्रति गहरी हिंसा होगी।" वास्तव में आज व्यवसाय एक सामाजिक मानवीय आधार पर कार्य करता है।

व्यवसाय के सामाजिक आधार के मूल तत्व (Basic Elements of Social Basis of Business)

व्यवसाय के सामाजिक आधार में मुख्यरूप से निम्नलिखित तत्वों का समावेश किया जाता है :-

1. जनहित एवं कल्याण के लिए कार्य करना
2. अनेक प्रकार के व्यवसायिक खतरों से सामान्य जन की रक्षा करना
3. समाजिक उत्तरदायित्व का सही ढंग से निर्वाह करना।
4. पर्यावरण की रक्षा करना।
5. व्यवसाय की वैधानिक आपूर्तियों एवं आवश्यकताओं पर पूरा ध्यान देना।
6. श्रम एवं कर्मचारी के साथ मानवीय द ष्टिकोण से कार्य करना।
7. ग्राहक सेवा एवं सन्तुष्टि पर अधिकतम ध्यान देना।
8. स्कन्ध-धारकों एवं विनियोजकों के हितों की रक्षा करना।
9. व्यवसायिक नीति शास्त्र का अनुपालन करना।
10. सरकार, प्रशासन एवं सामाजिक संस्थाओं के प्रति उत्तरदायी होना तथ अपने उत्तरदायित्वों को निभाना।
11. विश्व स्तर पर व्यवसाय के लिए मधुर सम्बन्ध स्थापित करना तथा विश्व समाज की आकांक्षाओं के अनुकूल व्यवहार कराना।
12. सामाजिक व सांस्क तिक मूल्यों, विश्वासों, आस्थाओं, रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि का ध्यान रखना तथा ऐसे कार्य नहीं करना जिनसे क्षति होती हो एवं व्यवसाय से जुड़े पक्षों, ग्राहकों व अन्य लोगों के जीवन के साथ खिलवाड़ न करना। लाभ कमाने की अंधी दौड़ मे न पड़ना तथा जीवन रक्षा के विपरीत किसी कार्य से संलग्न नही होना।

व्यवसाय में सामाजिक आधार का महत्व (Importance of Social Basis in Business)

बीसवीं सदी ने जहां व्यवसाय को नये आयाम दिए है, वही इसने व्यवसाय के सामाजिक आधार को अधिक सुद ढ़ किया है। अब यह विचार सर्वग्राह विचार बन चुका है। इसमें कोई विवाद नही है आर्थिक आधार को अपनाया जाए या

सामाजिक आधार को इस बात में भी कोई सन्देह नही रहा कि व्यवसाय का आधार आर्थिक हो या कि सामाजिक। व्यवसाय के लिए दोनों ही आधार आवश्यक है दोनों आधारों मे एक सन्तुलन बनाए रखने की आवश्यकता हैं। एकवार्ड कोल के विचारो में "आज व्यवसाय के सामने सबसे बडी चुनौती निरन्तर बदल रही सामाजिक अपेक्षाओं एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों का मूल्यांकन करके उचित सामजिक व्यवहार करना है"। व्यवसाय के सामजिक आधार के महत्व को संक्षेप में निम्नलिखित कारणों से अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है-

1. **बहुदलवादी समाज की स्थापना** :- इसमें वैयक्तिवादी विचारधारा पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इसमें सामूहिक हित को सर्वोपरि माना गया है।

2. **सवैधानिक व्यवस्थाएं:**- इसमें समाज के सभी पक्षों की सुरक्षा पर ध्यान दिया गया है। व्यवसाय के पनपने व अग्रसर होने के लिए भी हमारे संविधान में अनेक व्यवस्थाओं का समावेश किया गया है।

3. **सांस्क तिक मूल्यों पर ध्यान देना:-** आस्थाओं, विश्वासों, रीति-रिवाज, धर्म, परम्पराओं पर व्यवसाय द्वारा पर्याप्त ध्यान दिया जाना न केवल इनके पोषण व संरक्षण के लिए आवश्यक है बल्कि व्यवसायिक हितों की तीव्र अभिव द्धि के लिए भी इन्हें आधार बनाना आधुनिक व्यावसयिक वातावरण का अभिन्न अंग बन गया है।

4. **उपभोक्ता आन्दोलन** : उपभोक्ता आन्दोलन एवं जनचेतना ने लोगों को अधिक जागरूक बनाया है। इसमें शिक्षा के प्रसार ने भी काफी योगदान दिया है। उपभोक्ता अपने अधिकारों को प्राप्त करने, अच्छी सेवाएं उपलब्ध करवाने, उत्पाद एवं सेवाओं की कमियों एवं दोषों से छुटकारा पाने तथा नुकसान के लिए हर्जाना प्राप्त करने आदि के लिए पहले से कहीं ज्यादा सतर्क तथा जागरूक है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता को इन कार्यों के लिए कहां और किससे सम्पर्क करना है आदि की भी पूरी जानकारी होती जा रही है।

5. **उपभोक्ता प्रव तियां एव प्रारूप** : परिवर्तन इस तीव्रता से आया है कि व्यवसाय किसी भी स्थिति में इनकी अनदेखी नहीं कर सकता है। लोगों की उपभोक्ता की आदतें विकसित समाज के जैसे होती जा रही है। जहां एक उच्च एव विकसित उपभोग संस्क ति है। उपभोग प्रव तियां एवं प्रारूपों का अध्ययन एवं विश्लेषण व्यवसाय के लिए मांग स जन, मांग आपूर्ति, नये उत्पादों व नयी सेवाओं का बाजार तैयार करने, उत्पाद अभिकल्पना, विज्ञापन माध्यम, सेवाक्षेत्र का विकास आदि के लिए बहुत जरूरी हो गया है।

6. **सामाजिक एवं पारिवारिक संरचना एव सामान्यताओं:-** इनमे जो भी परिवर्तन आते है, वे भी व्यवसाय की क्रियाओं को प्रभावित करते है। आज के तथा आज से 50-100 वर्ष पहले के सामजिक ढांचे में काफी अन्तर है। परिवारों की संरचना एवं स्वरूप बदलते जा रहे है। संयुक्त तथा विस्त त परिवार का स्थान अब नाभिकीय, मुम्म, तथा सकल व्यक्ति परिवारों ने ले लिया है। ऐसे परिवारों की आवश्यकता अब संयुक्त न रहकर प थक एवं स्वतंत्र होने लगी है, जिनका ख्याल रखना व्यवसाय के लिए जरूरी है।

7. **बढ़ते हुए शहरीकरण :** गावों में शहरी प्रभावों के बढ़ने से वस्तुओं की मांग, आपूर्ति एवं उपभोग के नये आकार गहन कर लिए है। बड़ी-2 कम्पनियों ग्रामीण क्षेत्रों में बाजार की तालाश में है। बढ़ते हुए शहरीकरण, महानगरों व बड़े-2 शहरों ने कम्पनियों को नयी विपणन व्यूहरचना तैयार करने तथा इन्हे अपनाने के लिए बाध्य कर दिया है।

8. **जनसंख्या व द्धि एवं प्रसार :** इसने जहां एक और सरकार तथा समाज के लिए विकट एवं गम्भीर समस्याएं पैदा कर दी हैं। वहीं दूसरी ओर व्यवसाय के लिए नयी सम्भावनाओं का आधार तैयार किया है। अनेक व्यवसायों के लिए तो जनसंख्या व द्धि तथा प्रसार एक वरदान सिद्ध हुआ है। केवल यही नही बढती हुई जनसंख्या ने हर उम्र वर्ग बच्चे, युवा, प्रौढ, व द्ध, युवक-युवतियां, स्कूल, कालेज, व विश्वविद्यालयों से शिक्षा गहन कर रहे शिक्षार्थी, कामकाजी महिलाएं, नये, नये फैशन की दौड़ एवं आधुनिक सोसायटी के चाहने वालों की संख्या में आधार व द्धि की है। तथा व्यवसाय के लिए नये आयाम तैयार किये है।

9. **सरकार, प्रशासन, न्याय व वैधानिक :** इन व्यवस्थाओं ने व्यवसाय को एक निश्चित दिशा में वं सही मार्ग पर चलने के लिए दिशा निर्देश दिए हैं, अनेक कानूनों, नियमों, सरकारी आदेशों एवं नियन्त्रण ने व्यवसाय को भटकने से रोका है तथा व्यवसाय ने भी अपनी नीतियो, योजनाओं, कार्यक्रमों, व व्यूह रचनाओं के निर्माण करने तथा इन्हें क्रियान्दित करने के लिए सरकार, प्रशासन, न्याय तथा वैघानिक व्यवस्थाओं को आधार माना है।

10. **अनेक खतरों के प्रति व्यवसाय की जागरूकता में व द्धिः-** जल, वायु शोर तथा धरातलीय प्रदूषण को बढ़ने, इनकी व द्धि मे व्यवसाय का भी काफी बड़ा हाथ होने तथा इनके विरूद्व जन आन्दोलन व जन चेतना के बढ़ने तथा साथ ही व्यवसाय द्वारा अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का सही बोध होने के कारण अब व्यवसाय द्वारा नयी मशीनों व उत्पादों के निर्माण में तथा कारखानों की रचना में काफी सावधानी काम में ली जा रही है।

11. **व्यवसाय ने "समाज तथा व्यवसाय" की बढ़ती हुई अन्तनिर्भरता :** इस बढ़ती हुई अर्न्तनिर्भरता को एक ठोस आकार के रूप में स्वीकार किया है। यह बात स्पष्ट है कि व्यवसाय समाज पर तथा समाज व्यवसाय पर पारस्परिक रूप से निकटता से आश्रित है, दोनों ही एक ऐसी अवस्था में पहुंच गये हैं जहां एक दूसरे के बिना कार्य सम्पन्न करना अति कठिन कार्य है।

12. औद्योगिक एवं व्यवसायिक जगत में संगठनात्मक व्यवहार तथा मानवीय सम्बन्धों की बढती हुई जटिलतायें।

13. व्यवसाय को सामाजिक संस्था के रूप मे मान्यता प्राप्त होना।

14. व्यवसाय के नैतिक मापदण्डो की अनुपालना पर जोर।

15. स्थानीय परिवेश एवं स्वदेशी परिवेश को व्यवसाय द्वारा महत्वपूर्ण स्थान देना।

16. व्यवसाय की सामाजिक छवि पर अधिक बल दिया जाना।

17. व्यवसायिक वातावरण में तीव्रगति से आ रहे परिवर्तनों का प्रभाव।

18. नये सामाजिक-सांस्क तिक मूल्यों का प्रादुर्भाव तथा देश में अनेक नयी सांस्क तियों जैसे 'कम्पनी कल्चर' उपभोक्ता संस्क ति, विनियोजन संस्क ति तथा आधुनिक संस्क ति आदि का प्रादुर्भाव तथा इनके बढ़ते हुए व्यापक प्रभाव।

19. नये सामाजिक दर्शन का प्रादुर्भाव तथा नए समाज का उदय।

व्यवसाय एवं वातारण के सम्बन्ध की प्रक ति
(Nature of Relationship between Business and Environment)

1. **पारस्परिक निर्भरता :** व्यवसाय का सम्पूर्ण वातावरण-आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, वैधानिक, तकनीकी, नैतिक एवं सांस्क तिक घटकों से मिलकर निर्मित होता है। परिवेश के ये घटक एक दूसरे पर निर्भर करते है। किसी राष्ट्र का आर्थिक स्तर तकनीकी विकास को प्रभावित करता है। एक धनी राष्ट्र प्रौद्योगिक विकास के लिए अनुसंधान पर पर्याप्त धन व्यय कर सकता है। इसी प्रकार देश के नागरिक के नैतिक एवं सांस्क तिक मूल्य उनके द्वारा चुनी गयी सरकार एवं उनके द्वारा बनाये गए कानूनों में परिलक्षित होते है।

2. **गतिशीलता :** व्यवसाय का समस्त बातावरण गतिशील है। अतः समय के साथ साथ व्यवसाय की पर्यावरण समस्याएं भी बदलती रहती है। जैसे आप्रवासन नियमों के बदल जाने से किसी व्यवसायों के लिए विदेशों से कुशल व तकनीकी श्रम का आयात करना सरल हो जाए। व्यवसायिक, घटकों में निरन्तर परिवर्तन के फलस्वरूप व्यवसाय के उद्देश्य योजनाएं एवं नीतियां भी बदलती रहती है।

3. **समाज में परितर्वन का माध्यम :** व्यवसाय का बाह्य वातावरण इस बात का सूचक नही है कि उपक्रम वातावरण को प्रभावित करने की क्षमता नही रखता। प्रत्येक व्यवसाय समाज एवं राष्ट्र के परिवेश को पर्याप्त रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखता है। अर्थात् व्यवसाय वातावरण की उपज के साथ साथ इसका स ष्टिकर्ता भी है। व्यवसाय के द्वारा समाज के शिक्षा, आचरण, जीवन शैली, भौतिक व नैतिक स्तर में परिर्वतन लाये जा सकते है।

4. **अनिश्चितताएं एवं बाधाएं :** व्यवसाय का बाह्य वातावरण व्यवसायी के नियन्त्रता के बाहर होता है। व्यवसायी के लिए बाह्म प्रभावों का उचित ढंग से मूल्यांकन कर पाना तथा समस्त बाहरी दबावों व नवीन समावेशों का पूर्णरूप से पूर्व निर्धारण कर पाना तथा वातारण की गहराइयों का ठीक से अध्ययन कर पाना अत्यंत कठिन होता है। ऐसी अनियन्त्रित एवं अनिश्चित प्रक ति के कारण व्यवसाय में हर कदम पर बाधाएं उत्पन्न होती है।

5. **अनियन्त्रित घटकों का असीमित प्रभाव :** बाहरी घटक न केवल अनियन्त्रित होते है बल्कि उनका प्रभाव असीमित होता है। सरकारी नीतियाँ, नये वैधानिक प्रावधान, नये विधान, वैज्ञानिक शोघ, प्रौद्योगिकी, सामाजिक दशाएं राजनीति एवं सता परिवर्तन, विदेशी समीकरण, विदेशी-प्रभाव दबाव आदि कुछ ऐसे घटक है जिन पर वातावरण द्वारा नियन्त्रण कर पाना प्रायः सम्भव नहीं है।

6. **आकस्मिक परिवर्तनों के खतरे :** व्यवसाय जगत को वातारण में हुए आकस्मिक परिर्वतनों के खतरे को सहना पड़ता है, चाहे वे उसकी क्षमताओं के बाहर ही क्यों न हो। नये खतरे अनेक रूपों में जैसे-विघुत संकट, ब्याज की दरों में तीव्र व द्धि या कमी, मन्दी, अनेक सुस्थापित बाजारों का ध्वस्त होना आदि आदि, व्यवसाय के सामने आते रहते है।

7. **बड़े परिवतर्नों की पहचान करना व्यवसाय का दायित्व :** व्यवसायिक वातावरण सतत् रूप से गतिशील व परिवर्तनशील है। लेकिन वातावरण मे हो रहे बड़े परिवर्तनों की सही पहचान करने के दायित्व व्यवसाय पर है। व्यवसाय को इनके बारे में कोई बतायेगा नहीं बल्कि व्यवसाय को स्वयं इनकी सही पहचान करना जरूरी है। खतरों के अलावा निरन्तर परिवर्तनशील वातावरण अच्छे और बुरे दोनों तरह के समय में व्यवसाय को नये लाभदायक अवसर भी प्रदान करता है।

8. **विषम दशाएं और व्यवसाय की अनुकूलशीलता :** वातारण व्यवसाय के मार्ग में बाधाएं, सीमा रेखाएँ, दबाब व प्रतिबन्ध खड़े करता है, लेकिन व्यवसाय में इतनी अनुकूलशीलता होना जरूरी है कि वह इन विषम दशाओं के होते हुए और इनकी सीमाओं में अपना कार्य निष्पादन सही ढंग से कर सके।

9. **बदलते हुए परिद श्य पर निरन्तर निगाहे रखना :** व्यवसाय को हमेशा इस प्रकार से सजग रहना चहिए कि वह यह सुनिश्चित करे कि वातावरण का बदलता हुआ परिद श्य बिना देखे नही गुजर जाए। इससे न केवल उसे अपनी व्यवसायिक व्यूह-रचनाएँ तैयार करने मे सहायता मिलेगी बल्कि वातावरण के परिवर्तन अध्ययन से वातावरण पूर्वानुमान करने व समझने मे काफी सफलता प्राप्त होगी। साथ ही व्यवसाय एवं वातावरण के सम्बन्ध की प्रक ति को समझने में भी यह क्रिया काफी सहायक होगी।

व्यवसाय एवं परिवेश के सम्बन्ध के प्रति द ष्टिकोण
(Approaches towards the Relationship of Business and its Environment)

कून्ट्ज एवं ओ डोनेल के अनुसार व्यवसाय एवं परिवेश के सम्बन्ध का अध्ययन निम्नलिखित द ष्टिकोण को स्वीकार करते हुए किया जा सकता है।

(i) **प्रणाली द ष्टिकोण :** व्यवसाय को ऐसी संस्था एवं उपक्रम के रूप में देखा जाना चाहिए जो समाज एवं बाह्य परिवेश से विभिन्न संसाधनों (inputs) जैसे-श्रम, पूँजी, कच्चा माल, प्रबन्धकीय एवं तकनीकी योग्यता आदि को ग्रहण कर समाज को देने हेतु विभिन्न उत्पादों एवं सेवाओ का निर्माण करता है। इस प्रकार व्यवसाय संसाधनों एवं परिणामों (outputs) की द ष्टि से सम्पूर्ण परिवेश के साथ अन्तर्क्रिया (interaction) करता है।

(ii) **सामजिक उत्तरदेयता द ष्टिकोणः-** व्यवसाय एवं परिवेश के सम्बन्ध के प्रति दूसरा द ष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि व्यवसाय को विभिन्न वर्गों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। व्यवसाय को अपने परिवेश के विभिन्न अंगो कर्मचारी, उपभोक्ता, पूर्तिकर्त्ता, स्टॉकधारी, सरकारी, समुदाय आदि की मांगो, अपेक्षाओं एवं वैधानिक आधिकारों की पूर्ति करनी चाहिए। यह सम्बन्ध व्यवसाय की सामाजिक उत्तरदेयता को उजागर करता है।

(iii) **स जनात्मक भूमिका द ष्टिकोणः-** व्यवसाय बाह्य वातावरण की विभिन्न चुनौतियों, अवसरों एवं सीमाओं (Constraints) में कार्यरत रहते हुये न केवल इनके साथ समायोजन (adaption) करता है, बल्कि विवेकपूर्ण ढंग से समस्त परिवेश को एक उपयुक्त आकार एवं दिशा प्रदान करता है (Business shapes the environment)। व्यवसाय सम्पूर्ण समाज एवं परिवेश में विभिन्न परिवर्तनों एवं नवीनताओं को लाता है, सम्भावनाओं के यथार्थ को ध्यान मे लेता है तथा परिवेश को अपने अधिकार में लाने ("Master its environment") के लिए प्रयास करता है। समाज के हितों एवं लक्ष्यों की पूर्ति में व्यवसाय की यह गातिशील एवं स जनात्मक भूमिका है।

व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन का महत्व
(Significance of study of the Business Environment)

व्यवसायिक वातावरण एक और जहाँ देश के आर्थिक विकास, सम द्धि एवं रोजगार का मार्ग प्रशस्त करता है। वहां दूसरी ओर उपयुक्त व्यवसायिक वातावरण के अभाव में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी एवं अशान्ति की स्थितियाँ सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को झकझोर देती है। बदलते हुए परिवेश का मूल्यांकन, पूर्वानुमान एवं इसके प्रभावों का निर्धारण करने के पश्चात् ही व्यवसाय द्वारा सफलतापूर्वक अपनी नीतियों एवं योजनाओं का निर्माण किया जा सकता है।

व्यवसायिक वातावरण के अध्ययन की महत्ता को निम्नलिखित सन्दर्भों से समझा जा सकता है-

1. **आन्तरिक वातावरण की पूर्ण जानकारी :** यह बहुत जरूरी है कि व्यवसाय अपने आन्तरिक वातावरण से पूरी तरह परिचित हो। व्यवसाय की नीतियों लक्ष्यों, साधनों, संगठन-रचना, प्राविधियों, योजनाओं, व्यूह रचनाओं तथा इनमें हो रहे परिवर्तनों की पूरी जानकारी व्यवसाय के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। निर्णयन एंव भावी योजनाओं व व्यूह रचनाओं के निर्माण के लिए व्यवसाय के पास एक ऐसी विकसित 'प्रबन्ध सूचना प्रणाली' होनी चाहिए जिससे व्यवसाय के आन्तरिक वातावरण की जानकारी पूर्णतः एंव शीध्रता से उपलब्ध हो सके।

2. **व्यवसाय की समस्याओं व चुनौतियों की जानकारी :** इससे पहले कि व्यवसाय की समस्याएं एंव नयी-नयी चुनौतियाँ व्यवसाय के ऊपर हावी हों जाये, व्यवसाय के लिए जरूरी है कि इनकी पूरी जानकारी रखें तथा इनके समाधन व इनका मुकाबला करने की युक्तियों पर विचार करें। ऐसा माना जाता है कि व्यवसाय का आंतरिक वातावरण नियंत्रण योग्य स्थिति में होता है। इसी मान्यता के आधार पर समय रहते हुए समस्याओं व चुनौतियों से निपटना जरूरी होता है और इसके लिए अध्ययन एंव विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है ।

3. **गतिशील व्यवहार के लिए:-** आन्तरिक वातावरण के साथ व्यवसाय के बाहरी वातावरण आर्थिक सामाजिक-राजनीतिक दशाओं एंव नवीन घटनाओं के प्रति जागरूक रहना व्यवसाय के लिए जरूरी होता हैं। व्यवसाय की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को निरन्तर गतिशील व्यवहार करने की स्थिति में बनाये रखे ।

4. **आर्थिक प्रणालियों के स्वरूप का अध्ययन :** यह सर्वविदित है कि आर्थिक प्रणाली का स्वरूप व्यवसाय को कई प्रकार से प्रभावित करता है । पूंजीवादी प्रणाली समाजवादी व साम्यवादी प्रणाली तथा मिश्रित-आर्थिक व्यवस्था अलग-अलग ढंग से व्यवसाय पर प्रभाव डालती है । पिछले कुछ वर्षो में अधिकाशं अर्थ व्यवस्थाओं में एक बहुत बड़ा परिवर्तन यह आया है कि वे यथार्थ में अपने मौलिक स्वरूप को बनाए नहीं रख पाएगी एक विशिष्ट प्रकार की आर्थिक प्रणाली में दूसरी प्रणालियों का प्रभाव पड़ रहा है । इनका समावेश हो रहा है तथा ये अन्तक्रियाशील हो रही है। महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भी एक प्रणाली दूसरी प्रणाली की विशिष्टताओं को समाहित करती जा रही है। व्यवसाय के लिए इन आर्थिक प्रणलियों के बदलते तथा वास्तविक स्वरूप को पहचानना बहुत जरूरी हो जाता है ।

5. **खतरों के प्रात सतर्कता :** व्यवसाय एक खुले वातावरण में कार्य करता है। विकास की तेज दौड़ ने भौगोलिक सीमाओं को गौण कर दिया है। अर्थव्यवस्थाओं में भी खुलापन आ रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि खुले वातावरण व अर्थव्यवस्थाओं के खुलेपन से जहां एक ओर नए अवसर तैयार हुए है तो दूसरी ओर प्रतिफल नए खतरों संकटों व समस्याओं की उत्पन्न हो जाने की आशंका बनी रहती है। आर्थिक नीतियों, मांग व द्धि व कमी, उपभोग प्रव त्ति, क्रय प्राथमिकताएं प्रतिस्पर्धा आदि में होने वाले परिवर्तन व्यवसाय के लिए अनेक चुनौतियां खड़ी कर देती हैं। इन सबका सामना करने के लिए व्यवसायिक वातावरण का मूल्याकंन व अध्ययन करते रहना जरूरी होता है।

6. **शासन प्रणाली एंव उसकी प्रव त्ति :** किसी भी देश की शासन व्यवस्था एवं उसकी प्रकृति उस देश के व्यवसाय, व्यवसायिक स्वतंत्रता, व्यवसाय के आकार व प्रकार व्यवसायिक प्रगति एंव सम द्धि पर काफी प्रभाव डालती हैं। साम्यवादी, प्रजातांत्रिक व सैन्य शक्ति प्रशासित प्रणालियों के प्रभावों में व्यापक अंतर होता है। व्यवसायिक सम्भावनाओं का आंकलन भी विभिन्न शासन प्रणालियों में अलग-अलग तरह का होता है। अतः इनकी जानकारी व पूर्ण अध्ययन व्यवसाय के अस्तित्व व विकास के लिए अंत्यत आवश्यक हैं।

7. **अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, प्रभावों व दबावों को समझना :** आज की अर्थव्यवस्थाओं पर अंतराष्ट्रीय घटनाओं व इसके प्रभाव शीघ्र पड़ने लगते हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तनों से कोई भी राष्ट्र व वहां का व्यवसाय प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अर्थव्यवस्थाओं में लिए जाने वाले अनेक महत्वपूर्ण निर्णय अंतराष्ट्रीय प्रभावों व संस्थागत एंव शासकीय दबावों से प्रभावित होते है और इन सबका असर व्यवसाय पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसलिए यह जरूरी है कि व्यवसाय के स्थायित्व, अस्तित्व, लाभदेयता एंव प्रभावी कार्य प्रणाली के लिए अंतराष्ट्रीय घटनाओं, प्रभावों व दबावों का अध्ययन व विश्लेषण किया जाए।

8. **सरकार की आर्थिक नीतियाँ :** सरकार की आर्थिक नीतियाँ व्यवसायिक वातावरण का एक महत्वपूर्ण अंग होता है तथा व्यवसाय में इनका महत्वपूर्ण स्थान होता है। सरकार द्वारा घोषित औद्योगिक नीति, अनुज्ञापन नीति, आयात निर्यात नीति, विदेशी

विनिमय नीति, मूल्य नीति, राजकोष तथा कराधान नीति आदि व्यवसाय पर स्पष्ट रूप से प्रभाव ड़ालती हे। इस संदर्भ में मुख्य बात यह है कि व्यसाय को ना केवल इन नीतियां की जानकारी होना ही आवश्यक होना बल्कि इनमें किए गए नीतिगत एंव प्रक्रिया सम्बन्धी तथा इनके तुरंत व दीर्घकालीन प्रभावों का आंकलन भी जरूरी है।

9. **व्यवसायिक लाभदेयता :** आज के प्रतिस्पर्धी युग में लाभदेयता दाव पर लगी हुई है। व्यवसाय के लाभ के अवसरों पर अधिकाधिक उपयोग वातावरण के प्रति एवं विशेषकर प्रतिस्पर्धा के प्रति जागरूक रह कर ही किया जा सकता है। प्रतिस्पर्धियो के विरूद्ध सुद ढ़ उपायों तथा प्रतिक्रिया योजनाओं को अपनाने के लिए वातावरण का पर्याप्त अध्ययन आवश्यक है।

10. **व्यवसायिक विकास एवं सफलता :** व्यवसायिक वातावरण एवं उसमें होने वाले सतत् परिवर्तनों के अंतर्गत अनेक अवसरों का अनुकूल लाभ उठाया जा सकता है। व्यवसाय के विकास विस्तार विविकरण एवं सफल प्रगति का मार्ग, व्यवसायिक वातावरण के साथ पूर्ण सामंजस्य बनाए रखने पर ही दिखाए देते है। वातावरण के साथ सामंजस्य समायोजन एवं संघर्ष व्यवसाय की सफलता का मार्ग प्रशस्त करते है। इसीलिए वीटेल एवं बर्क का कथन है कि परिवर्तन के साथ फलने फूलने के लिए व्यसाय को वातावरण के साथ जीना आवश्यक है।

11. **संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करने के लिए :** संसाधनों को मूलतः दो भागो में विभाजित किया जा सकता है। प्राक तिक एवं मानवीय संसाधनों देश के प्राक तिक संसाधन, व्यवसाय की प्रक ति, उसका स्थानीयकरण परिणाम एवं प्रगति निर्धारित करते है। मानवीय संसाधनों द्वारा व्यवसाय में अपनाए जाने वाली तकनीक, ज्ञान उत्पादन, तकीनके, औद्योगिक सद्भाव, प्रबन्धकीय कुशलता एवं सक्षमताएँ बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित होती हैं। प्रबंध तो आधुनिक व्यवसाय का मेरुदंड है। किसी भी देश का प्रबन्धकीय संवर्ग, वहाँ का प्रबन्धकीय वातावरण उस देश के व्यवसाय को नई ऊँचाइयों पर ले जाता है।

12. **वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक विकास की परिस्थितियाँ :** देश विदेश में नए नए वैज्ञानिक आविष्कारों एवं प्रौद्योगिक विकास की गतिविधियों में व द्धि व्यवसाय के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। नए उत्पादों, नए डिजाइनों एवं उत्पादन की नवीन तकनीकों को अपनाने लिए नए-2 प्रौद्योगिक विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति की जानकारी रखना आवश्यक होता है। आज कोई भी व्यवसाय चाहे वह किसी भी देश में चलाया जा रहा हो, नई प्रौद्योगिकी एवं वैज्ञानिक विधियों की उपेक्षा करके विकास नही कर सकता है।

13. **बाजार की परिस्थितियाँ :** व्यवसाय के लिए बाजार की संरचना तथा पूर्ण होती है। वस्तुओं की मांग का स जन, एकाधिकारी प्रव तियां, मंदी व तेजी का दौर, लाभ प्रव तियां तथा राज्य द्वारा संचालित व्यवसायिक गतिविधियों की सही जानकारी रखना व्यवसाय के लिए अत्यंत आवश्यक माना जाता है।

14. **व्यवसायिक दीर्घकालीन व्यूहरचना के लिए :** व्यवसाय की दीर्घकालीन नीतियाँ विकास योजनाएं एवं व्यूह रचनाएं तैयार करने के लिए वातावरण के विभिन्न घटकों की सम्रग जानकारी करना व्यवसाय के लिए अत्यंत जरूरी है। एक व्यक्ति की भाँति इस व्यवसाय का भी सम्रग वातावरण के प्रति उत्तरदायी होता है। विशेषकर वह वातावरण जिसमें वह कार्य करता है। वातावरण से परिचित होना आगे बढ़ने के लिए बहुत जरूरी समझा जाता है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की बढ़ती हुई सफलता उनके द्वारा अपनाई गई निगमित व्यूहरचनाओं पर ही आधारित होती है और ये व्यूह रचनाएँ समग्र वातावरण की पहचान करने, समझने, अध्ययन करने तथा इनके अनुरूप क्रिया योजनाओं पर आधरित होती है।

वातावरण के घटक एवं प्रकार
(Components and types of environment)

व्यवसाय परिवेश अत्यन्त विशाल एवं जटिल है। यह विभिन्न घटकों का जाल सूत्र है। साथ ही व्यवसायिक वातावरण प्रतिफल परिवर्तनशील है। इसकी, शक्तियाँ (forces) दशाएँ एवं प्रभाव निरन्तर गतिशील है। व्यवसाय प्रगति एवं विकास दो तत्वो पर निर्भर करता हैं - व्यवसाय की अपनी किस्म तथा इसका बाह्य परिवेश जिसमें यह पोषित एवं विकसित होता है।

वातावरण के विभिन्न घटक निम्नलिखित हैं :-

1. **आर्थिक घटक :** इसमें आर्थिक घटनाएं आर्थिक नीतियाँ, माँग, पूर्ति, विनियोग, औद्योगिक प्रव तियां, वितीय एवं आर्थिक दबाव, विनियोग प्रवाह व स्तर, आयात-निर्यात, राजकोषीय व कराधान नीतियाँ, मौद्रिक नीति आदि सम्मिलित किये जाते है।

2. **भौगोलिक एवं परिस्थितिक घटकः-** इसमें प्राक तिक संसाधन, पर्यावरण, जलवायु, स्थानाक ति, समुद्री एवं आकाशीय, संरचना, भूगभीय संसाधन, चुम्बकीय एवं सौर ऊर्जा आदि सम्मिलित है।
3. **राजनीतिक व शासकीय घटकः-** इसमें मुख्य रूप से राजनीतिक व शासकीय व्यवस्था, आर्थिक व शासन प्रणाली राजीनीतिक द ष्टि, प्रशासनिक संस्थाएं, संवैधानिक व्यवस्था, सुरक्षा आदि सम्मिलित माने जाते है।
4. **सामाजिक-सांस्क तिक घटकः-** इसमें सामाजिक मूल्य प्रथाएं, अवस्थाएं, धारणाएं, सामाजिक व्यवस्था, भौतिकवाद, धर्म-संस्क ति, संस्कार आदि प्रमुख माने जाते है।
5. **विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय घटकः-** इसमें वैज्ञानिक शोध व स्तर प्रौद्योगिकी विकास, यांत्रिकी, आणविक शक्ति, सैटेलाइट, सम्प्रेक्षण, नाभकीय शोध, आकाशीय शोध, प्रयोगशालाएं आदि प्रमुख माने जाते है।
6. **वैधानिक एवं न्यायिक घटक :** इसमें न्याय व्यवस्था, विभिन्न प्रकार के व्यवसायिक औद्योगिक श्रम-नियंत्रण सन्नियम, सन्नियम प्रशासन व्यवस्था आदि मुख्य माने जाते है।
7. **अन्य घटकः-** वातावरण के अन्य घटकों के जनसंख्या, शैक्षिक स्तर उपभोक्ता व्यवहार सुरक्षा, संकट व खतरे, अंतर्राष्ट्रीय शक्तियाँ, औद्योगिक शान्ति व संघर्ष आदि प्रमुख है।

व्यवसायिक वातावरण के प्रकार

1. आंतरिक वातावरण (Internal Environment)
2. बाह्य वातावरण (External Environment)

व्यवसाय का आंतरिक वातावरण : यह माना जाता है कि व्यवसाय के आंतरिक वातावरण पर नियंत्रण रखना आसान होता है एवं यह नियंत्रण योग्य है लेकिन इसमें भी निरन्तर जटिलताएं एवं बाधाएं उत्पन्न होती रहती है। इसलिए व्यवसाय के आंतरिक वातावरण की पहचान करना तथा इसे पूर्ण रूप से समझना व्यवसाय का प्रथम दायित्व हो जाता है। व्यवसाय के आंतरिक वातावरण मे निम्नलिखित घटक महत्वपूर्ण माने जाते है।

1. व्यवसायिक एवं प्रबन्धकीय नीतियाँ
2. व्यवसायिक लक्ष्य एवं उद्देश्य
3. व्यवसायिक विचारधाराएँ एवं प्रबन्धकीय दर्शन एवं द ष्टिकोण।
4. व्यवसायिक संसाधनों की उपलब्धि, कार्यशीलता एवं उपादेयता।
5. व्यवसायिक क्षमता एवं व द्धि सम्भावनाएं।
6. उत्पादन प्रणाली अभिकल्पना यन्त्र एवं तकनीकें।
7. श्रम एवं प्रबन्ध कह कुशलता व सक्षमता का स्तर।
8. कार्य का सम्रग वातावरण।
9. व्यवसायिक संगठन संरचना, विकेन्द्रीकरण, विभागीयकरण, दायित्व, भूमिकाएँ, शक्ति, समूह, दबाव।
10. व्यवसायिक योजनाएं एवं व्यूहरचनाएँ।
11. व्यवसायिक प्रबन्ध सूचना प्रणाली एवं सम्प्रेषण व्यवस्था।
12. सामाजिक दायित्वों के प्रति द ष्टिकोण।
13. व्यवसायिक द ष्टि।

इनमें से कुछ घटकों का वर्णन इस प्रकार है :-

आपूतिकर्त्ता (Suppliers)-कम्पनी के व्यवसाय को आन्तरिक रूप से प्रभावित करने वाला तत्व है उसके सप्लायर्स जो कि कच्चा माल, मशीनें व अन्य सामग्री व्यवसाय को आपूर्ति करते हैं। कई बार आपूर्ति के स्रोत(Sources) बहुत दूर होते हैं या दुर्गम स्थानों पर स्थित होते हैं। इससे आपूर्ति बाधित होती है और व्यवसाय बुरी तरह प्रभावित होता है। अतः व्यवसाय

को 3-4 महीने की आपूर्ति का अतिरिक्त स्टॉक रखना चाहिए। सप्लायर्स की विश्वसनीयता उसके द्वारा आपूर्ति किए गये माल की गुणवत्ता पर भी निर्भर करती है। कई बार एक ही आपूर्तिकर्त्ता पर निर्भरता से भी जोखिम (Risk) हो सकती है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कारक भी आपूर्तिकर्त्ताओं द्वारा व्यवसाय को प्रभावित कर सकते हैं-

- कठोर ऋण शर्ते।
- असामयिक आपूर्ति।
- उनका व्यवहार व द ष्टिकोण।
- उनकी वित्तीय स्थिति तथा तरलता।
- बाजार की विपरीत दिशायें।
- सरकारी विनिमय।
- परिवहन सुविधाओं अभाव।
- तालाबन्दी या अन्य समस्याएं।
- प्रतिस्पर्धा की कमी या व द्धि।

उपभोक्ता (Customers) -किसी व्यवसाय की उपादेयता उसके उपभोक्ता द्वारा निर्धारित होती है। अधिक लाभांश की बजाए अधिकतम उपभोक्ता-सन्तुष्टिकरण, व्यवसायों का मुख्य उदेश्य बन गया है। उपभोक्ता की संवेदनशीलता (Sensitivity) का अध्ययन अब अनिवार्य हो गया है। किसी व्यवसाय के उपभोक्ता कई प्रकार के हो सकते हैं। जैसे-व्यक्ति, ग हणियाँ, उद्योग, अन्य व्यापारिक प्रतिष्ठान, सरकारी, एवं अन्य संस्थान, आदि। उदाहरण के लिए एक वाहन निर्माण कम्पनी के उपभोक्ता वर्ग में,निजी, सरकारी, संस्थान या परिवहन परिचालक(Operators) शमिल हो सकते हैं। ये उपभोक्ता वर्ग अपनी-अपनी पसंद के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से व्यवसाय को प्रभावित करतें हैं-

- उपभोक्ता प्राथमिकताएं
- उनकी प्रकृति
- बदलते रिवाज, फैशन, प्रव त्तियाँ, स्वाद, आदि।
- ऋण-साख सुविधाएं (Credit facilities)
- विक्रय पश्चात सेवा (After-sales services)
- उत्पाद की गुणवत्ता
- उपभोक्ता का संतुष्टि-स्तर
- उपभोक्ता की अवशिष्ट आय (Disposable income)
- उपभोक्ता की आय में उच्चावचन
- जीवन- स्तर (Stadarad of living)
- वस्तुओं या सेवाओं की आसानी से उपलब्धता
- वस्तुओं या सेवाओं की प्रयोग सुविधा (Convenience to use)
- उत्पाद मानकीकरण (Standardisation)
- उत्पाद आविष्कार (Innovation)
- पर्याप्त उत्पादन
- सामाजिक आपूर्ति
- उत्पादों की प्रभावशीलता व कार्यक्षमता (Efficency & effectiveness)

किसी एकाकी ग्राहक पर निर्भरता बहुता जोखिम पूर्ण हो सकता है क्योंकि इससे कम्पनी की सौदाकारी स्थिति तो कमजोर होती ही है और साथ ही व्यवसाय भी खो सकता है जिससे अन्तोगत्वा व्यवसाय का समापन हो सकता है। यदि ग्राहक

कम्पनी के प्रतिस्पद्धियों के पास चला गया तो व्यवसाय अपना अस्तित्व ही खो बैठेगा।

ग्राहक प्रखण्ड़ों का चयन अनेक घटकों पर विचार करके किया जाना चाहिये जैसे सापेक्षिक लाभोपर्जन, विश्वसनीयता, माँग का स्थायित्व, उन्नति के अवसर तथा प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा बढ़ते सार्वभौमीकरण के साथ ग्राहक परिवेश तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय होता जा रहा है। न केवल अन्य देशों के बाजार कहीं अधिक खुले हो रहे हैं वरन, भारतीय बाजार भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा का द ढ़ता से मुकाबला कर रहे हैं तथा अपनी शॉपिंग में भारतीय ग्राहक कहीं अधिक 'सार्वभौमिक' हो चला है।

विपणन मध्यस्थ (Marketing Intermediates)

कम्पनी के तत्काल वातावरण (Immediate Environment) में अनेकों विपणन मध्यस्थ कार्यरत होते हैं । उनका कार्य कम्पनी (व्यवसाय) व ग्राहक के मध्य एक श्र ंखला के रूप में काम करना है। ये मुख्यतः कम्पनी के उत्पादों व सेवाओं को इनके अंतिम ग्राहकों तक पहुँचाने में प्रोत्साहन, विक्रय व वितरण में सहायता करते हैं।

विपणन मध्यस्थ कम्पनी तथा अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच एक अहम कड़ी होते हैं। किसी श्र ंखला में व्यवधान या उसका अव्यवस्थित होना अथवा किसी गलत सूत्र का चयन कम्पनी को भारी पड़ सकता है। एक बार किसी मुद्दे पर रिटेल कैमिस्टों तथा विक्रेताओं ने किसी बड़ी कम्पनी के उत्पादों के बॉयकाट करने का निर्णय ले लिया था। यद्यपि उनके इस सामूहिक बहिष्कार को एकाधिकार आयोग द्वारा गलत ठहराया गया था लेकिन कम्पनी के लिए यह मुसीबत की घड़ी थी। उल्लेखनीय है कि हिन्दुस्तान लीवर जैसी विशालकाय कम्पनी को भारी चुनौती का समाना करना पड़ा था जब उसने ट्रेड मार्जिन के मुद्दे पर केरल में सामूहिक बहिष्कार का सामना किया।

व्यवसाय के ये मध्यस्थ निम्नलिखित तरीकों से उसे प्रभावित करते हैं-

- ❖ उनका सुद ढ जाल (Network)
- ❖ उनकी योग्यता (Competence)
- ❖ अनुभव (Experience)
- ❖ परिवहन व अन्य सुविधाएं
- ❖ उनकी वस्तुनिष्ठा (Intergrity)
- ❖ सेवा भाव
- ❖ सरकार व अन्य संस्थानों से सम्बन्ध
- ❖ व्यवसाय व मालिकों व प्रबन्धकों से संबंध
- ❖ सही बाजार की पहचान
- ❖ उनके पास उपलब्ध भौतिक संरचना
- ❖ सम्प्रेषण व्यवस्था
- ❖ विज्ञापन या अन्य प्रोत्साहक गतिविधियाँ
- ❖ ग्राहकों की पसद-नापसंद का ज्ञान

जनता (Public)

यहाँ इस शब्द से अभिप्राय है कोई समूह जिसके हित (स्वार्थ) व्यवसाय से जुड़े हैं और जिसके संगठन, पर प्रत्यक्ष प्रभाव हैं। इनमें मीडिया के लोग, नागरिक कार्य समितियाँ, उपभोक्ता संगठन, दबाव समूह, स्थानीय जनता, आदि कुछ उदाहरण शामिल हैं। मीडिया व्यवसाय की कुछ ऐसी सूचनाओं को उद्‌ध त करते हैं जिनसे व्यवसाय की छवि (Image)को खतरा हो सकता है। वर्तमान में कई व्यापारिक घरानों के वित्तीय घोटाले व अनैतिक व्यापारिक आचरण के मामले मात्र मीडिया के प्रचार के कारण ही उजागर हो सके हैं।

इसी तरह उपभोक्ता समूह भी व्यवसाय पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। बिजली, रेल, स्टील, सीमेण्ट के उपभेक्ताओं के अलग-अलग संगठन हैं जो कि व्यवसाय को अपने हितों की तरफ मोड़ने व अपने स्वार्थ की नीतियां बनाने में परामर्श देते हैं।

इसी प्रकार व्यवसायी भी अपने व्यवसायिक हितों की पूर्ति के लिए विभिन्न संगठनों में एकत्र होते हैं और एक दबाव समूह (Pressure group) के माध्यम से सरकार पर अपने पक्ष में नीतियाँ बनाने के लिए दबाव डालते हैं। भारत में FICCI (फैडरेशन आफ अण्डियन चैम्बरर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज) Assocham (ऐसोसियेटेड चैम्बर आफ कामर्स) PHDCCI (पंजाब, हरियाण, दिल्ली, चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज) शामिल हैं जो कि व्यवसायियों द्वारा गठित विभिन्न दबाव (हित) संगठन हैं।

कुछ कम्पनियाँ ऐसे जनसम्पर्को (Publics) से गम्भीरता पूर्वक प्रभावित होती हैं। उदाहरण के लिए भारत की एक बड़ी कम्पनी पर संचार माध्यमों (Media Public) द्वारा बार-बार हमला किया जाता था विशेषतः (एक बड़े दैनिक समाचार-पत्र द्वारा, जो उसकी छवि को बिगाड़कर कम्पनी के अंशों के मूल्यों को नीचे लाने पर तुले थे। संचार माध्यमों द्वारा ऐसी अभिव्यक्ति का आन्दोलन कम्पनी को प्रभावित करने वाले सरकारी निर्णयों को भी प्रभावित कर सकते थे। अनेक कम्पनियाँ स्थानीय जनता से भी व्यापक तौर पर प्रभावित होती हैं। स्थानीय जनता द्वारा उठाया गया एक ऐसा ही मुद्दा है वातावरणीय प्रदूषण। स्थानीय जनता द्वारा उठाये गये कदमों ने अनेक कम्पनियों को विवश किया कि अपनी गतिविधियों को स्थगित करें तथा प्रदूषण निदान हेतु उपाय करें। गैर सरकारी संगठन (NGOs), विशेषतः विकसित देशों में, बालश्रम, पशुओ के प्रति अत्याचार, श्रम-शोषण जो वायुमंडलीय असंतुलन के प्रति अपनी आवाज उठा रहें हैं। ऐसे विकासों ने विकासशील देशों के निर्यातों को प्रभावित किया है। यह समझना गलत है कि सभी जनताएँ व्यवसाय के सामने चुनौतियाँ है। उनके कुछ कार्य कम्पनियों के सामने समस्याऐं पैदा कर सकते हैं। साथ ही कुछ जनसम्पर्क व्यवसाय के लिए अवसर प्रदान करते हैं। संचार माध्यमों को उपयोगी सूचनाओं के प्रचार प्रसार के काम लाया जा सकता है। कम्पनी तथा आम जनता के बीच लाभपूर्ण सहयोग कम्पनी तथा स्थानीय जनता दोनों के पारस्परिक लाभ हेतु स्थापित किया जा सकता है।

प्रतिस्पर्द्धा (Competitions)

किसी व्यवसाय में प्रतिस्पर्द्धा का होना उसकी प्रगति व उत्थान का द्योतक होता है। प्रतिस्पर्धी फर्मो की विद्यमानता निम्नलिखित तरीके से किसी व्यवसाय पर प्रभाव डालती है-

- उनकी रणनीतियाँ
- उनकी मूल्यन नीतियाँ
- गुणवत्ता पर ध्यान
- उनके द्वारा दी गई साख सुविधाएं
- उनकी सुद ढ़ वित्तीय स्थिति
- उनके द्वारा प्रस्तुत बिक्री पश्चात सेवाएं
- योग्यता एवं अनुभव
- बाजार अनुसंधान (Market Research)
- उत्पादन विकास व अनुसंधान (Product R&D)
- आक्रामक विज्ञापन व प्रसार नीतियाँ
- उत्कृष्ट ब्राण्डिंग व पैकेजिंग रणनीतियाँ
- अवसरों व खतरों की समय पर पहचान
- बेहतर उपभोक्ता प्रत्युत्तर (Better Customer Response)
- उन्नत तकनीकी
- बढ़िया कच्चे माल का उपयोग
- संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग
- नवीन प्रबन्ध तकनीकें व विधियाँ
- विस्तारण (Expansion)

- ❖ विविधीकरण(Diversification)
- ❖ अच्छी कारपोरेट छवि (Better Corporate Image)
- ❖ प्रभावशाली विपणन
- ❖ उत्कृष्ट वितरण प्रणाली (Better Distribution System)

एक फर्म के प्रतिस्पद्धियों में न केवल अन्य फ र्मों का समावेश होता है वरन् उन सभी का जो उपभोक्ताओं की विवेकशील आयों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। उदाहरण के लिए एक कम्पनी के टेलीविजन के लिए प्रतिस्पर्द्धा न केवल अन्य टी.वी. उत्पादकों से मिल सकती है वरन् टूव्हीलर्स, रैफ्रीजरेटर्स, कुकिंगरेंज, स्टीरीयो सैट, आदि से तथा बचत एवं विनियोजन योजनाओं को ऑफर करने वाली फर्मों से भी मिल सकती है जैसे बैंक, यू.टी.आई., ऋणों एवं अंशों का निर्गमन करने वाली कम्पनियाँ, आदि। इन उत्पादों के बीच यह प्रतियोगिता DESIRE COMPETITION के रूप में बताई जा सकती है क्योंकि यहाँ प्राथमिक कार्य है उपभोक्ता की मौलिक इच्छा को प्रभावित करना। ऐसा Desire Competition सामान्यतः ऐसे देशों में अधिक होता है जहाँ खर्च करने योग्य आय सीमित होती है तथा अनेक इच्छाएं अत प्त रह जाती हैं।

यदि उपभोक्ता अपनी आय को मनोरंजन एवं शिक्षा पर व्यय करना चाहता है तो उसके सामने अनेक विकल्पों में चयन की समस्या आती है जैसे टी.वी.,स्टीरियो, टू-इन-वन, थ्री-इन-वन, आदि। ऐसे विकल्पों के बीच प्रतिस्पर्द्धा जो इच्छा के किसी वर्ग विशेष को संतुष्ट करती है व्युत्पन्न प्रतिस्पर्द्धा (Generic Competition) कहलाती है। यदि उपभोक्ता एक टी. वी. खरीदने का निर्णय लेता है तो अगला प्रश्न उठता है कि कौन सा टी.वी. खरीदे-ब्लैक एन्ड व्हाईट या कलर टी. वी. रिमोट कन्ट्रोल के साथ या उसके बिना। दूसरे शब्दों में, एक उत्पाद स्वरूपी प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न होती है (Product Form Competition) फिर उपभोक्ता का सामना होता है ब्रांड प्रतिस्पर्द्धा (Brand Competition) से अर्थात उसी उत्पाद के विभिन्न ब्रॉंडों के बीच प्रतिस्पर्द्धा।

उदारीकरण के परिणामस्वरूप भारत में प्रतिस्पर्द्धात्मक वातावरण में क्रांतिकारी बदलाव आया है। अनेक कम्पनियों ने अपने अपने व्यवसायिक पोर्टफॉल्यो तथा रणनीतियों को पुनः संरचित किया है। अनेक उद्योगों में, जहाँ एक विक्रेता बाजार मौजूद या अब क्रेता बाजार उभर चुका है।

वित्त प्रबन्धक (Financiers)

एक अन्य व्यष्टिगत वातावरणीय घटक है कम्पनी के वित्तव्यवस्थापक। वित्त प्रबन्धन क्षमताओं के अतिरिक्त, उनकी नीतियाँ तथा व्यूह रचनाऐं, रुझान (जोखिम के प्रति रुख सहित), गैर वित्तीय सहायता सुलभ कराने की योग्यता, आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं।

वित्तीय मध्यस्थ (Financial Intermedaries) ऐसे व्यक्ति तथा संस्थाऐं हैं जो विपणन गतिविधियों की वित्त व्यवस्था करते हैं तथा व्यवसायिक जोखिमों का बीमा करते हैं।

व्यवसाय का बाह्य वातावरण (External Environment of Business)

व्यवसाय किसी रिक्तता (Vacuum) में संचालित नहीं किया जाता वरन् समाज के अन्तर्गत कार्यशील विभिन्न शक्तियों, दशाओं एवं तत्वों की अनुक्रिया में किया जाता है। ये वातावरण की वास्तविकताएं व्यवसाय के संचालन एवं प्रगति को प्रभावित करती रहती हैं। अतः व्यवसायिक निर्णयकर्ताओं को सदा वातावरण के प्रभावों को स्वीकार करके अपनी योजनाएं बनानी चाहिए। बाह्य वातावरण के विभिन्न प्रकारो का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

(1) भौतिक वातावरण (Physical Environment)

1960 के बाद यह महसूस किया जाने लगा है कि बड़े और विकसित राष्ट्रों की औद्योगिक क्रियाओं ने विश्व के भौतिक वातावरण की अपूर्णीय क्षति की है। कैनिथ बाउल्डिंग ने इस प थ्वी को एक जहाज की संज्ञा की है और यह चेतावनी दी है कि इसका ईंधन शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा। यदि इसको संभाल कर नही रखा गया इसी तरह के विचार मिडोसिस ने उसकी पुस्तक में प्रकट किये हैं और यह चिन्ता भी व्यक्त की है कि इस दुनिया के पास अपने जीवन सुधार के लिए भी पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन नहीं रह पाएगें यदि विकास के नाम पर संसाधनों का दुरूपयोग नहीं रोका जाता है। अब यह निश्चित हो गया है कि ऐसे अनेक संसाधन (पैट्रोल, कोयला व अन्य खनिज) हैं जिनका नवीनीकरण या जिनमें व द्धि नही की जा सकती

उनका अंत निश्चित है। यही नही धीरे धीरे उनकी विदोहन लागत बढती जा रही है और उनका अनियोजित तथा अव्यवस्थित विदोहन अनेक मौलिक खतरे पैदा कर रहा है। हानिकारक पदार्थो व गैसो के रिसाव व बाहर फेंके जाने से पर्यावरण के अनेक खतरों ने इस प थ्वी को घेर लिया है। हमारे सुरक्षित भविष्य पर एक बड़ा प्रश्न चिह्न लगा हुआ है।

हमारे सामने एक मूल प्रश्न यह है कि क्या व्यवसाय इन सबकी अनदेखी कर सकता है? इस बात पर भी गम्भीरता पूर्वक विचार किया जा रहा है कि क्या भविष्य की पीढ़ियों की लागत पर आज का विकास किया जाए? रियो सम्मेलन व प थ्वी दिवस के कार्यक्रमों में विश्व स्तर पर अब निर्वाह योग्य विकास (Sustainable development) की बात की जाने लगी है और इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाने लगा है कि प थ्वी की सम्भावित औद्योगिक खतरों से कैसे बचाया जा सकता है तथा प्राक तिक संसाधनों की सुरक्षा एवं विवेकोचित उपयोग किस प्रकार किया जाय। अब केवल विकास महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं रहा है। आज विकास के क्रम में प्राकृतिक संसाधनों का क्षय एवं रिक्त हो जाना व्यवसाय की एवं आधुनिक समाज की समस्या है।

व्यवसाय का भौतिक वातावरण न केवल व्यवसाय की संरचना को प्रभावित करता है। वरन इसके भावी विकास को भी निर्धारित करता है। व्यवसाय एवं प्रक ति का गहरा सम्बन्ध है। भौतिक वातावरण व्यवसाय के उत्पादों, मांग-प्रारूप, विपणन, लागत संरचना, साम्रगी उपयोग मूल्य, पूर्ति प्रवाह, व्यापार प्रसार उपभोक्ता व्यवहार एवं व्यवसाय को दी जाने वाली सामाजिक स्वीकृति को गहनता से प्रभावित करता है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है, कि वातावरण नियन्त्रण, सन्तुलन एवं स्वच्छता की समस्या वैधानिक ही नहीं बल्कि व्यवसायिक पहल की भी है।

भौतिक वातावरण में प्रमुखतः निम्नलिखित का समावेश किया जाता है। -

1. प्राक तिक संसाधन-भूमि, खनिज, तेल, कोयला, सौर-ऊर्जा, कच्चा माल एवं जल।
2. जलवायु :- वर्षा, नमी, तापमान, बर्फीले और रेगिस्तानी प्रभाव।
3. स्थानाक ति :- पहाड़, पठार, मैदान, समुद्र, नदियाँ, नहरे, बन्दरगाह आदि।
4. पर्यावरण :- प्राक तिक वातावरण जो पंच महाभूतो (प थ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश) से बना है। इसमें वन संरक्षण भी महत्वपूर्ण है।

भौतिक वातारण में मनुष्य द्वारा निर्मित व विकसित भौतिक सुविधाओं की भी सम्मिलित किया जाता है। ये ऐसी भौतिक सुविधाएं है जो व्यवसाय, वाणिज्य एवं उद्योगों के विकास के लिए एक पूर्व शर्त सुद ढ़ आधार मानी जाती है। इन्हें आधारभूत सुविधाएं भी कहते हैं। तथा इनमें से निम्मलिखित प्रमुख है।

1. **विद्युत एवं ऊर्जा :-** विद्युत, जल विद्युत, थर्मल शक्ति, आणविक शक्ति, सौर ऊर्जा, गैंस, कोयला, तेल, पैट्रोल, डीजल से जनित ऊर्जा।
2. **आधारभूत ढांचा :-** विशेषकर आर्थिक आधारभूत ढांचा जिसमें एवं ऊर्जा के अतिरिक्त जल संसाधन सडके, यातायात -सड़के, वायु एवं जल, संचार, सैटेलाइट सम्प्रेषण, कम्प्यूटरीक त, दूरस्थ नियन्त्रण प्रणालियां, बंदरगाह, व्यापार केन्द्र, उपज व स्कन्ध, विपणि, वित्तीय संस्थाएं, न्यूज एजेन्सियां, तकनीकी संस्थान, प्रबन्ध संस्थान, औद्योगिक क्षेत्र, औद्योगिक बस्तियाँ, जिला उद्योग केन्द्र, जिला विकास केन्द्र, तथा राज्य विकास संस्थाएँ आदि महत्वपूर्ण है।
3. **लोक उपयोगी सेवाएँ :** विद्युत प्रतिष्ठान, जल, आपूर्ति विभाग, रेलवे, वायु सेवाएं, नदी व समुद्री सेवाएं, परिवहन डाक-तार सेवाएं, आकाशवाणी, दूरदर्शन, संचार सेवाएं, फैक्स, टेलीप्रिन्टर व इन्टरनेट सेवाएं आदि।

(2) जन सांख्यिकीय वातावरण (Demographic Environment)

व्यवसाय के लिए जनसंख्या का असीम महत्व है। व्यवसायिक क्रियाओं द्वारा जनित सेवाएं तथा उत्पाद मनुष्यों के लिए ही लक्षित किये जाते है। इस विपणन प्रधान युग में जनसंख्या के विभिन्न आयामों जैसे - आयु, घनत्व, जन्मदर, म त्युदर, आवागमन प्रव ति, भौगोलिक फैलाव, जनसंख्या में बच्चे और व द्धों का हिस्सा, विवाहित जोड़े, धर्म, जाति, लिंग, स्थानानुसार, जनसंख्या का वितरण आदि का इतना अधिक महत्व हो गया है जितना पहले कभी नहीं था। बाजारों के विकास एवं प्रगति में जनसंख्या के हर वर्ग का स्थान है। लोगों की आवश्यकताएं, रूचि, फैशन, स्टाइल, उपभोग, प्रव तियाँ, क्रय शक्ति आदि व्यवसाय के लिए हमेशा ध्यानाकर्षण का केन्द्र रहे है।

विश्व जनसंख्या व द्धि के विस्फोट ने जहां एक ओर प्राय सभी देशो को परेशानी में डाला है। वहीं दूसरी ओर व्यवसाय ने बढ़ती हुयी जनसंख्या एवं आवश्यकताओं की पूर्ति की चुनौतियों को स्वीकार किया है। जनसंख्या विस्फोट की स्थिति सभी सरकारों और जिम्मेदार संस्थाओं के लिए निरन्तर एक चिन्ता का विषय बना हुआ है। सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि प्राक तिक हुआ संसाधन बढ़ती हुई जनसंख्या के मुकाबले में कम पड़ते है। वांछित जीवन-स्तर को बनाए रखना एक बड़ी समस्या बनी हुई है। यदि जनसंख्या व द्धि की रफ्तार ऐसे ही बढ़ती रही तो प्रदूषण को रोकना असम्भव हो जायेगा और खाद्य आपूर्ति, खनिज भंडार, जल आपूर्ति, शहरो में भीड़ का माहौल, परिवहन संकट और जीवन की गुणवत्ता (Quality of life) जैसी विकट समस्याओं का सुलझाना दुष्कर हो जाएगा। बढ़ती हुई जनसंख्या का एक और आयाम चिन्ता का विषय बना हुआ है। यह उन देशों में सबसे ज्यादा बढ़ रही है जो इसकी व द्धि को सहन करने में बिल्कुल भी सक्षम नहीं है। अविकसित व विकासशील देशों में 2 से 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की गति से जनसंख्या में व द्धि हो रही है जबकि विकसित देशों में यह केवल 0.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष है।

(3) आर्थिक वातावरण (Economic Environment)

प्रत्येक प्रकार का व्यवसाय, आर्थिक वातावरण को चाहता है। पूंजी, संयंत्र एवं मशीनें, भवन, स्टॉक, कार्यालय, उपकरण, नकद संसाधन आदि, व्यवसाय को गहन रूप से प्रभावित करते हैं। अर्थव्यवस्था में कुशल श्रमिकों एवं तकनीशियनों की उपलब्धि एवं कीमत भी व्यवसाय के लिए विचारणीय होती हैं। देश का कीमत स्तर, उत्पादकता, सरकार की कर एवं राजकोषीय नीतियां भी महत्वपूर्ण रूप से व्यवसायिक क्रियाओं को प्रभावित करती हैं।

इसके अतिरिक्त आर्थिक वातावरण के दो महत्वपूर्ण घटक हैं - व्यवसाय के साहसी एवं प्रबन्धक तथा इसके ग्राहक। जोखिमों को झेलने का साहस नवयार की योग्यता व प्रशिक्षित प्रबंध, व्यवसाय की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को सुद ढ़ बनाता है। ग्राहकों की प्रव तियों, इच्छाओं, आशाओं व बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप व्यवसाय का संचालन आवश्यक है। बाजार में उपलब्ध स्थानापन्न वस्तुएं भी महत्वपूर्ण प्रभाव रखती हैं - जैसे विज्ञापन कम्पनियों द्वारा टेलीविजन का माध्यम चुन लिये जाने से अब पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशकों का बाजार प्रभावित होने लगा है।

व्यवसाय के आर्थिक वातावरण में मुख्यतः तीन घटकों का समावेश होता है - देश की आर्थिक प्रणाली, देश की आर्थिक नीतियां तथा देश में विद्यमान आर्थिक दशाएं -

1. **आर्थिक प्रणाली (Economic System)** - व्यवसाय की द ष्टि से किसी देश में पहुंच व प्रवेश के लिए तथा वहां के आर्थिक वातावरण को समझने के लिए उस देश में प्रचलित आर्थिक प्रणाली को जानना व समझना बहुत जरूरी है। किसी भी देश की आर्थिक प्रणाली उस देश की आर्थिक विचारधारा, आर्थिक संरचना तथा आर्थिक खुलेपन को प्रदर्शित करती है। इसके अध्ययन से व्यवसाय को यह समझने में आसानी हो जाती है कि आखिर वह देश कहां खड़ा है, वह किसी ओर है तथा इसका झुकाव किस तरफ है। इन बातों की जानकारी क्षेत्रीय एवं बहुराष्ट्रीय निगमित व्यूह-रचनाएं तैयार करने में काफी उपयोगी रहती हैं। आर्थिक प्रणालियां मुख्य रूप से तीन प्रकार की हैं -

(क) **पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली** - इसके अन्तर्गत निजी उद्यम की बहुलता होती है। अर्थव्यवस्था के खुलेपन के कारण पूंजीवादी प्रणाली को स्वतंत्र या खुले बाजार की अर्थव्यवस्था भी कहा जाता है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं'

- ❖ आर्थिक स्वतंत्रता।
- ❖ स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा।
- ❖ निजी सम्पत्ति व लाभ की प्रेरणा।
- ❖ मूल्य तंत्र की बाजार क्रियाशीलता।
- ❖ उपभोक्ता-सम्प्रभुता का महत्वपूर्ण स्थान।
- ❖ उपक्रम स्वतंत्रता।
- ❖ व्यवसाय एवं पेशों के चयन की स्वतंत्रता।
- ❖ उत्पादन के साधनों में पूंजी का सर्वोपरि स्थान।

- ❖ बचत एवं विनियोजन की पूर्ण स्वतंत्रता।
- ❖ संसाधन आबंटन व विनियोजन निर्णयन में बाजार शक्तियों का अधिपत्य।
- ❖ सरकार की सीमित भूमिका।

(ख) **समाजवादी आर्थिक प्रणाली -** समाजवादी व्यवस्थाओं में आर्थिक प्रणाली का एक व्यापक रूप सामने आता है। एक ओर तो साम्यवादी देश हैं जहां राज्य पूंजीवाद की बहुलता है तथा दूसरी ओर प्रजातांत्रिक समाजवादी देश हैं जिनमें प्रभावी निजी क्षेत्र कार्यरत है। लेकिन सभी प्रकार की व्यवस्थाओं के सामान्यतया उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण या स्वामित्व पाया जाता है तथा संसाधन आबंटन विनियोजन प्रारूप, उपभोग, आय, वितरण आदि राज्य द्वारा विनियमित एवं निर्देशित होते हैं। समाजवादी आर्थिक प्रणाली मुख्यतः राज्य द्वारा संचालित प्रणाली है। सरकार ही विकास की प्राथमिकताओं, उत्पादन के स्वरूपों एवं साधनों को निर्धारित करती है। समाजवादी आर्थिक प्रणाली की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

- ❖ केन्द्रीय नियोजन की प्रधानता।
- ❖ सरकार की बढ़ती हुई भूमिका एवं व्यापक हस्तक्षेप।
- ❖ सरकारी नियंत्रण एवं स्वामित्व।
- ❖ केन्द्रीय अभिकरणों की प्रधानता।
- ❖ मूल्य एवं मजदूरी का सरकार द्वारा नियन्त्रण।
- ❖ आय वितरण में समानता पर जोर।
- ❖ उपभोक्ता सम्प्रभुता का निम्नतम स्थान।
- ❖ स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा का अभाव।
- ❖ व्यवसाय, पेशे, धंधे, रोजगार आदि की पूर्ण स्वतंत्रता का अभाव।

(ग) **मिश्रित आर्थिक प्रणाली -** मिश्रित आर्थिक प्रणालियों में पूंजीवाद व समाजवादी आर्थिक प्रणालियों का मिला-जुला प्रभाव होता है। इस प्रणाली में सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र का सह-अस्तित्व होता है। सार्वजनिक अथवा राजकीय क्षेत्र सरकार के प्रबंध एवं संचालन में रहता है। लेकिन निजी क्षेत्र भी सरकार के द्वारा नियन्त्रित होता है। सरकार विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का आबंटन विभिन्न क्षेत्रों में उनके महत्व, प्रभाव क्षेत्र, विदोहन क्षमता, कल्याण पक्ष तथा अर्थव्यवस्था में उनकी स्थिति के आधार पर करती है। सरकार की सहभागिता के लिए ऐसी आर्थिक प्रणाली में काफी सम्भावनाएं रहती हैं। सरकार की सहभागिता के प्रारुप भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं जो स्थिति, उद्देश्य एवं सरकारी नीतिगत निर्णयों पर आधारित होते हैं। मिश्रित आर्थिक प्रणाली की कुछ प्रमुख-विशेषताएं इस प्रकार हैं -

- ❖ केन्द्रीय नियोजन।
- ❖ सार्वजनिक, निजी, सहकारी एवं संयुक्त क्षेत्रों की विद्यमानता।
- ❖ निजी क्षेत्र को पर्याप्त प्रोत्साहन एवं स्थान।
- ❖ आर्थिक क्रियाओं पर सरकार द्वारा नियन्त्रण एवं विनियमन।
- ❖ रोजगार, पेशे एवं व्यवसाय के चयन की स्वतंत्रता।
- ❖ बचत एवं विनियोजन की स्वतंत्रता।
- ❖ नीतियां प्राथमिकताएं एवं संसाधन आबंटन सरकार द्वारा निर्धारित।
- ❖ सरकार एवं सरकारी संस्थाओं की अधिकाधिक भूमिका।
- ❖ सार्वजनिक वितरण प्रणाली सरकार द्वारा संचालित।
- ❖ प्रतिबंध रहित उपभोग प्रारूप।

2. **आर्थिक नीतियां (Economic Policies) -** किसी देश की आर्थिक नीतियां उस देश में पनपने वाले व्यवसाय, उद्योग एवं आर्थिक क्रियाओं को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती हैं। आर्थिक क्रियाओं में उतार-चढ़ाव, व द्धि-संकुचन, स्थानीयकरण, निर्यात संवर्धन विस्तार, विकास, शोध, प्रतिस्पर्धा आदि उस देश की आर्थिक नीतियों से प्रभावित होते हैं। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में आर्थिक नीतियों का निर्धारण आर्थिक समानता, रोजगार स जन, स्थायित्व गरीबी निवारण, मुद्रा स्फीति एवं संकुचन पर नियन्त्रण, साधन, आबंटन, आय व द्धि, आन्तरिक बचत एवं विनियोजन अभिव द्धि, पूंजी निर्माण, निर्यात, संवर्धन, विदेशी विनियोजन, विदेशी विनिमय सन्तुलन आदि लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये किया जाता है।

एक देश की आर्थिक नीतियों में निम्नलिखित नीतियां मुख्यतः सम्मिलित हैं -

1. औद्योगिक नीति।
2. औद्योगिक अनुज्ञापन नीति।
3. विशिष्ट उद्योगों के लिए नीति।
4. मौद्रिक नीति।
5. राजकोषीय नीति।
6. कर नीति।
7. सार्वजनिक व्यय नीति।
8. सार्वजनिक ऋण नीति।
9. घाटे की वित व्यवस्था नीति।
10. आय, रोजगार एवं मूल्य नीति।
11. आयात-निर्यात नीति।
12. खनिज नीति एवं प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग एवं विदोहन के लिए नीति।
13. आर्थिक मूलभूत ढांचे से सम्बन्धित नीति तथा इसके अन्तर्गत प थक क्षेत्रों के लिए प थक-प थक नीति।
14. आन्तरिक विनियोजन एवं विदेशी विनियोजन नीति।
15. क षि नीति।

3. **आर्थिक दशाएं :** आर्थिक दशाएं एक ओर आर्थिक प्रगति का सूचक मानी जाती है तो दूसरी ओर आर्थिक विकास की सम्भावनाओं का आधार प्रस्तुत करती हैं। व्यवसाय के लिए आर्थिक दशाओं का महत्व व्यवसायिक सम्भावनाओं व अवसरों की पूर्ति से जुड़ा हुआ है। सरकार आर्थिक दशाओं को नियोजन एवं विकास का आधार मानकर अनेक कार्यक्रमों का संचालन करती है। आर्थिक दशाएं, इनमें सुधार तथा आर्थिक सम द्धि लोगों के जीवन स्तर तथा जीवन की गुणवत्ता को भी प्रभावित करते हैं। व्यवसाय के लिए लोगों का उपभोग स्तर व प्रारूप, जीवन स्तर तथा जन सामान्य की आर्थिक सम द्धि अनेक द ष्टियों से महत्वपूर्ण है। व्यवसाय इनके आधार पर अपने विस्तार एवं विकास, नये बाजारों की खोज, नये उत्पादों की शुरूआत, विज्ञापन, रणनीति, व्यवसायिक उपक्रमों का स्थानीयकरण सौ प्रतिशत निर्यात उपक्रमों की स्थापना, विभिन्न उत्पादों का सम्मिश्रण, नयी उत्पादक अभिकल्पनाएं, नये मॉडल आदि के बारे में योजनाएं एवं कार्यक्रम तैयार करता है।

सामान्यतया प्रमुख आर्थिक दशाएं निम्नलिखित हैं।

1. प्राकृतिक संसाधनों की पूर्ति।
2. मानवीय संसाधनों का उपयोग।
3. आर्थिक विकास एवं प्रगति का स्तर
4. राष्ट्रीय उत्पादन, राष्ट्रीय आय तथा वितरण।
5. पूंजी निर्माण
6. विदेशी पूंजी।

7. उद्योगों की प्रक ति, प्रकार व उत्पादन
8. उपभोग का स्तर
9. देश में प्रचलित सामान्य मूल्य स्तर
10. बाजार का आकार
11. उद्यमशीलता एवं साहस
12. व्यवसायिक ढांचा
13. देश का औद्योगिक विकास
14. देश में आर्थिक मूलभूत ढांचा
15. देश में लोक कल्याणकारी कार्य
16. विदेशी व्यापार व विदेशी मुद्रा अर्जन
17. नवाचार एवं कौशल निर्माण
18. मौद्रिक ढांचा, ब्याज की दरें तथा बैंकिंग प्रणाली

4. **प्रौद्योगिक वातावरण (Technological Environment) -** विज्ञान ज्ञान उपलब्ध करता है, प्रौद्योगिक उसका उपयोग करती है। राष्ट्र का तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी विज्ञान उत्पादन की प्रणालियों, नई वस्तुओं, नये बाजार, नये कच्चे माल के स्त्रोत, नये यंत्र व उपकरण, नयी सेवाओं आदि को प्रभावित करता है। तकनीकी प्रगति के कारण ही उद्योगों में क्रांति सम्भव हुई है। तकनीकी विकास के क्षेत्र में निम्नलिखित परिवर्तन महत्वपूर्ण है, जो उद्योग व व्यवसाय के स्वरूप को प्रतिदिन बदल रहे हैं।

(i) वस्तुओं के वितरण हेतु समय व दूरी पर नियन्त्रण की योग्यता में व द्धि
(ii) विद्युत एवं आणविक शक्ति के उत्पादन, संचय
(iii) कच्चे माल के नये स्वरूप तथा वस्तुओं के गुणों (Properties) में विभिन्न परिवर्तन नई धातुएं, संश्लेषित पदार्थ, प्लास्टिक व नये रसायन,
(iv) उत्पादन प्रक्रियाओं का यन्त्रीकरण व स्वचालन।
(v) वस्तुओं के विश्लेषण के प्रति मानवीय संवेदन क्षमता में व द्धि रेडार, इलेक्ट्रॉन, माइक्रोस्कोप, दूरद ष्टि उपकरण आदि।
(vi) समूह व्यवहार के प्रति नई समझ तथा उत्प्रेरण, समूह, व्यवहार के नए प्रारूप व उन्नत प्रबन्धकीय तकनीकें।
(vii) विभिन्न बीमारियों व उनके उपचार के ज्ञान में व द्धि-पोलियों के टीके, गुर्दों का प्रत्यारोपण, संक्रामक रोगों का प्रतिजीवाणु उपचार आदि।

प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों ने व्यवसाय की प्रणाली एवं ढांचे को पूर्णतः नवीन कर दिया है। तेज गति से होने वाले तकनीकी वातावरण के परिवर्तनों को व्यवसाय के द्वारा अच्छी तरह समझे जाने, इन्हें आश्यकतानुसार अपनाने तथा व्यवसाय को बदलते परिवेश में गतिशील रखने की आवश्यकता है।

5. **सामाजिक वातावरण (Social Environment)** - व्यवसाय का सामाजिक वातावरण समाज की प्रव तियों, इच्छाओं, आंकाक्षाओं, शिक्षा एवं बौद्धिक स्तर, मूल्य, विश्वास (Beliefs), रीति-रिवाज एवं परम्पराओं आदि घटकों से निर्मित होता है। इन तत्वों की उपेक्षा किए जाने पर व्यवसाय के प्रबन्धकों को समाज की आलोचना का शिकार होना पड़ता है। समाज के लक्ष्यों एवं मूल्यों की अवहेलना करके व्यवसाय प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। सामाजिक परिवेश के प्रति संचेतना (Consciousness) ही व्यवसायिक संस्थाओं की गरिमा बढाती है।

पिछले कुछ दशकों में नई सामाजिक मान्यताओं की स्थापना हुई है। व्यवसायिक दर्शन के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण योगदान हो रहा हैं इनमें कुछ महत्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं।

1. समाज में यह विश्वास बढ़ा है कि कार्य की इच्छा व क्षमता रखने वाले व्यक्तियों के लिए समाज में सदा 'अवसर' विद्यमान रहते है।

2. व्यवसाय के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास।
3. जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशेष रूप से व्यवसाय में प्रतियोगिता, भावना (Competitiveness) का विकास।
4. जाति-धर्म और सम्प्रदाय से परे 'व्यक्ति' के प्रति आदर भावना। (Respect for the individual)
5. सम्पत्ति, ज्ञान, शैक्षिक, स्तर व सामाजिक प्रतिष्ठा पर सत्ता के प्रति विश्वास।
6. ज्ञान व शिक्षा के प्रति प्रेम (Love for Knowledge and education)
7. तर्क, विज्ञान एवं तकनीकी में विश्वास।
8. कार्य के नए ढंगों को विकसित करने हेतु परिवर्तन एवं प्रयोग का महत्व। (Importance of Change and experimentation)
9. जीवन की उच्च गुणवत्ता (Better quality of life) में विश्वास।

समाज के इस नवीन ढांचे ने व्यवसाय की कार्य पद्धतियों एवं प्रणाली में गहन परिवर्तन कर दिये हैं।

6. **राजनीतिक, शासकीय एवं प्रशासनिक वातावरण (Political Government and Administrative Environment)** - राजनीतिक, सरकार, प्रशासन तथा व्यवसाय के बीच होने वाली आन्तरिक क्रियाएं व्यवसाय की कार्यशीलता को प्रभावित करती हैं। व्यवसाय की अनेक संरचनाओं का जन्म राजनीतिक निर्णयों के कारण होता है। कई बार ऐसे राजनीतिक निर्णय होते हैं जो व्यवसाय की अभिव द्धि में सहायक होते हैं, लेकिन कई बार विपरित प्रभाव डालने वाले राजनैतिक निर्णय भी होते हैं, कुछ ऐसे राजनैतिक निर्णय भी होते हैं जो व्यवसाय की पूरी दिशा ही बदल देते हैं।

राजनीतिक निर्णय अनेक कारणों से प्रभावित व शासित होते हैं इनमें विचारधाराएं, चिन्तन, जनकल्याण, जनसेवा, राजनीतिक दबाव, अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव व दबाव, स्वार्थ भावना, समूह विशेष का दबाव - जो सामाजिक व असामाजिक तत्वों के हो सकते हैं, राष्ट्रीय सुरक्षा, एकता तथा राष्ट्र हित आदि महत्वपूर्ण हैं।

राजनीतिक निर्णयों को व्यवसाय द्वारा एक व्यापक परिवेश में स्वीकार किया जाता है तथा उनके अनुसार अपनी कार्यविधि में समायोजन के प्रयास किए जाते हैं लेकिन ऐसा बहुत कम होता है कि राजनीतिक निर्णय व्यवसाय के व्यापक हित में ही लिए जाए।

राजनीतिक पक्ष के साथ जो दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष जुड़ा हुआ है वह सरकारी या शासकीय पक्ष है विभिन्न सत्ताधारी सरकारें अलग-अलग प्रकार से व्यवसाय को प्रभावित करती हैं। अपने निर्णयों का कठोरता या नरमी से पालन तथा विवेकपूर्ण शक्तियों का प्रयोग अनेक भिन्नताएं लिए होता है। फिर सभी निर्णय समानता एवं एकरूपता से लागू नहीं कराए जाते। इस प्रकार से भी व्यवसाय को अनेक विषम परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है।

व्यवसाय के लिए प्रशासकीय वर्ग भी काफी भारी पड़ता है राजनीतिक एवं शासकीय निर्णयों की अनुपालना प्रशासनिक स्तर पर की जाती है। धीमी गति, मनमानी, भ्रष्टाचार, कार्य में बाधाएं खड़ी करना आदि कारणों से प्रशासनिक तंत्र चर्चा के घेरे में रहता है। तभी इसे नौकरशाही व लालफीताशाही जैसे नामों से जाना जाने लगा है।

अतः व्यवसाय के लिए राजनीतिक, शासकीय तथा प्रशासकीय वातावरण से परिचित होना तथा समयानुसार इस वातावरण से व्यवसायिक हितों की पूर्ति करना आवश्यक होता है। व्यवसाय के लिए अग्रलिखित राजनीतिक, शासकीय तथा प्रशासकीय घटकों की जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है :-

1. राजनीतिक विचारधारा, मत, द ष्टिकोण
2. राजनीतिक शासन व्यवस्थाऐं जैसे - साम्यवादी, समाजवादी एवं प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्थाएं।
3. राजनीतिक रूझान एवं झुकाव।
4. व्यवस्था व विचारधारा से प्रभावित नीतिगत निर्णय।
5. राजकीय हस्तक्षेप नियन्त्रण, विनियमन तथा उदारीकरण।
6. लोक कल्याणकारी संकल्पना।
7. औद्योगिक प्रजातंत्र के प्रति विश्वास।

8. व्यवसाय के लिए संवैधानिक प्रावधानों की रचना।
9. सरकार व शासन तंत्र
10. राजनीतिक दल व दबाव समूह।
11. प्रशासनिक संस्थाओं का प्रारूप एवं कार्यशैली
12. लोक प्रशासन व नौकरशाही का स्वरूप।
13. प्रशासकीय राज्य की अभिकल्पना।
14. केन्द्र, राज्य व स्थानीय प्रशासन का स्वरूप
15. केन्द्र-राज्य सम्बन्ध।
16. संसदीय, विधायी एवं प्रशासनिक निर्णय

(7) वैधानिक वातावरण (Legal Environment) :-

किसी देश का वैधानिक वातावरण उसके आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को प्रभावित करता है। वैधानिक वातावरण से व्यवसाय को संरक्षण भी मिलता है तथा वह सही ढ़ग से कार्य करने के लिए भी बाध्य किया जा सकता है। वैधानिक ढांचे के द्वारा जनहित की अभिव द्धि के प्रयास किये जाते है। कानून के द्वारा सामाजिक कल्याण एवं जन आकाक्षांओं के लिए व्यवसायिक क्रियाओं पर अनेक प्रतिबंध लगाये जाते है।

वैधानिक वातावरण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके द्वारा आर्थिक जगत में व्यवसाय के सभी पहलुओं पर नियन्त्रण रखा जाता है। व्यवसाय से सम्बन्धित क्रियाएं जैसे-अनुज्ञापन, एकाधिकार व प्रतिबन्धित संव्यवहार, प्रतिभूति, निर्गमन, स्कन्ध एवं उपज विपणि, संविदा, सम्पत्ति एवं सम्पदा, एजेन्सी, विनिमय साध्य प्रलेख, बैंकों की क्रियाएँ, कम्पनियों के निर्माण से लेकर समापन के बाद तक की क्रियाएँ, प्रत्याभूति, निक्षेप, साझेदारी, बीमा, विदेशी विनिमय, उपभोक्ता हित, व्यवसायिक अपराध, प्रदूषण आदि वैधानिक वातावरण के अन्तर्गत मानी जाती है।

व्यवसाय के अलग-अलग पक्षों के लिए सरकार द्वारा अलग-अलग अधिनियमों का निर्माण किया जाता है। विधान मण्डलों, समितियों तथा आयोगों का गठन किया जाता है। तथा देश के संविधान के अधीन न्यायालयों एवं न्यायाधिकरणों की स्थापना की जाती है। न्यायालयों एवं न्यायाधिकरणों की एक प थक व्यवस्था है जो लगातार इस बात का प्रयास करते है कि कानूनों की रक्षा हो तथा पीड़ित को न्याय मिल सके।

देश में व्यवसाय एवं उद्योगों को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित अधिनियम महत्वपूर्ण माने जाते है।

1. भारतीय कम्पनी अधिनियम, 2. भारतीय अनुबन्ध अधिनियम, 3. वस्तु विक्रय अधिनियम, 4. भारतीय साझेदारी अधिनियम, 5. उद्योग विकास एवं नियमन अधिनियम, 6. एकाधिकार एवं प्रतिबन्धित व्यापार व्यवहार अधिनियम, 7. प्रतिभूति प्रसंविदा नियमन अधिनियम, 8. भारतीय कारखाना अधिनियम, 9. औद्योगिक विवाद अधिनियम, 10. न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 11. बोनस भुगतान अधिनियम, 12. कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम, 13. आवश्यक वस्तु अधिनियम, 14. बाट व माप तोल अधिनियम, 15. चोर बजारी निवारण अधिनियम, 16. खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 17. रूग्ण औद्योगिक कम्पनी (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 18. पर्यावरण सरंक्षण अधिनियम, 19. व्यापार व वस्तु चिन्ह अधिनियम, 20. पेटेन्टस अधिनियम, 21. जल प्रदूषण एवं नियन्त्रण अधिनियम, 22. वायु प्रदूषण निवारण एवं नियन्त्रण अधिनियम, 23. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 24. कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम।

8. नैतिक वातावरण (Ethical Enviroment)

व्यवसाय को समाज के नैतिक स्तरों का पालन करना होता है जटिल व्यवसायिक परिवेश में नैतिक सिद्धांत एवं सहिताएँ प्रबन्धकों के व्यवहार का मार्ग दर्शन करती है विश्व के सफलतम राष्टों जापान, जर्मनी, अमेरिका ने व्यवसायिक नीति शास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर ही अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में सफलताऐं प्राप्त की है। नैतिक मापदण्डों एवं आदर्शों को ध्यान में रखकर ही व्यवसाय के साधनों (Means) तथा साध्यों (Goals) का निर्धारण होता है।

प्रतिस्पर्धा, कीमत व किस्म निर्धारण, आय वितरण, विज्ञापन विक्रय, कार्य की दशाऐं, श्रम कल्याण व सामाजिक सुरक्षा

आदि से सम्बन्धित निर्णय नैतिक परिवेश में ही लिये जा रहे हैं। सामाजिक लागतों (Social Costs) की समस्या इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं। आय व्यवसाय, शहरीकरण, प्रदूषण शोरगुल, गन्दी औद्योगिक बस्तियाँ आदि की समस्याओं के समाधान खोज रहा है। व्यवसायिक क्रियाओं को नीतिशास्त्र के अनुकूल संचालित करने के लिए कानून तथा सरकार विशेष बल दे रही हैं।

9. सांस्क तिक वातावरण (Cultural Environment)

राष्ट्र की संस्क ति उसकी कला, साहित्य एवम् जीवन ढंग से परिलक्षित होती हैं। संस्क ति व्यक्तियों के द ष्टिकोण एवं मानसिक विकास को भी स्पष्ट करती है। राष्ट्र की सांस्क तिक विकास ही व्यवसाय के प्रति जनमत एवं जन प्रव तियों को प्रभावित करता है। आर्थर मिलन ने अपने नाटक 'एक विक्रयकर्ता की म त्यु' (The death of the sales man) में बताया है कि प्रतियोगिता के दबावों ने एक विक्रयकर्ता के विचारों को इस प्रकार प्रभावित किया कि वह आत्महत्या करने को विवश हो जाता है।

बाज़ार एवम् माँग को प्रभावित करके ही राष्ट्र की संस्क ति व्यावसायियों के निर्णय को प्रभावित करती है। सम्पूर्ण विश्व में बढ़ रहे नारी स्वतन्त्रता (Women's Liberation) आंदोलन, औषध संस्क ति (drug culture), युवा-केन्द्रित समाज (Youth-oriented society), हिप्पीवाद आदि संस्क तिक मूल्य व्यवसायिक नीतियों को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते रहे है।

समाज व संस्क ति व्यवसाय के मूल आधार हैं। कोई भी व्यवसाय के देश की सांस्क तिक विरासत एवम् मूल्यों की अनदेखी नहीं कर सकता यदि उसे अपने अस्तित्व को बनाए रखना है। रैनकी एवम् शॉल का यह कथन बहुत ही उपयुक्त है कि "व्यावसायी को निरन्तर मानवीय आशाओं, भय आकांक्षाओं पसंद, प्राथमिकताओं एवम् विचारों के संसार में रहकर कार्य करना होता है वह इनकी अपेक्षा नहीं कर सकता। उसे मानव समाज इसकी संस्क ति इसके मूल्य तथा सामाजिक प्रारूपों का सम्मान करना ही होता है।

संस्क ति, 'लोगो के जीने का सम्पूर्ण तरीका' मानी जाती है। यह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार है जिसमें मुख्य रूप से ज्ञान, विश्वास, परम्पराएं रीतिरिवाज, आदर्श एवम् पसन्द, प्राथमिकताएं सम्मिलित है। संस्क ति के ये मौलिक तत्व व्यवसायिक नियोजन एवम् व्यूह रचनाएं तैयार करने का आधार बनते हैं इनकी अवहेलना या अनदेखी करना व्यवसाय के लिए बहुत मंहगा व भारी पड़ता है। सही एवम् उपयुक्त व्यवसायिक व्यवहार व्यूह रचनाएं वे ही होती है जो उस देश के सांस्क तिक वातावरण के अनुरूप तथा अनुकूल हो।

10. अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण (International Enviroment) संचार, परिवहन, तकनीकी, प्रोद्योगिकी, बहुराष्ट्रीय व्यवसाय का प्रवेश, देशों के पारस्परिक सम्बंधों की सुद ढ़ता एवम् अनेक क्षेत्रों में आये तीव्र परिवर्तनों से सभी तरह की दूरियां कम हुई हैं। इन्हीं के परिणामस्वरूप एक देश का दूसरे देश अन्य देशों पर प्रभाव पड़ता है। अर्न्तराष्ट्रीय वातावरण में भी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, संस्क तिक, भौतिक, वैधानिक तथा पर्यावरण जैसे पहलू समाहित है। अर्न्तराष्ट्रीय स्तर की संस्थाएं एवम् अर्न्तराष्ट्रीय घटनाक्रम अपने प्रभावों का संचरण तेजी से करते है। व्यवसायिक एवम् औद्योगिक स्तर के ऊंचा होने तथा व्यवसायिक दौड़ में अनेक विकसित देशों का आगे होना भी अन्य देशों का व्यवसाय को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करते हैं। कुछ देशों में विशेष क्षेत्रों में समय एकाधिकार स्थापित कर लिया है तथा वे अन्य देशों को अपनी शर्ते मानने के लिए बाध्य करते है। इन क्षेत्रों में तेल एवम् पैट्रोलियम, इलैक्ट्रोनिक उत्पाद औषधियाँ, वित, तकनीकी ज्ञान, प्रबन्धकीय कौशल, युद्ध सामग्री, शोध, कई तरह का कच्चा माल खाद्यान्न, व्यापारिक फसलें, यन्त्र, मशीनें, कम्प्यूटर आदि उल्लेखनीय है।

उपभोग के क्षेत्र में एक क्रन्तिकारी परिवर्तन लाने के पीछे अर्न्तराष्ट्रीय संचार व विज्ञापन माध्यमों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

अर्न्तराष्ट्रीय वातावरण के प्रभाव से ही विभिन्न देशों के बीच विचारों का आदान-प्रदान, समझौते, सहयोग एवं अनेक प्रकार की सहायताएँ सम्भव हो सकी हैं। आज पर्यावरण को बचाने का आन्दोलन तथा इसके प्रति जन-चेतना जाग त करने का कार्य अर्न्तराष्ट्रीय वातावरण के प्रभाव की ही देन है। अर्न्तराष्ट्रीय संस्थाऐं ही अन्य देशों को विभिन्न आने वाले खतरों की चेतावनी देती है। चाहे वे खतरे जनसंख्या विस्फोट, आर्थिक व वित्तीय स्थिति, देश की सुरक्षा, कैन्सर व एड्स जैसे विकराल रोग, सौर मण्डल व ओजोन पर्त, शास्त्रीकरण, परमाणु शक्ति आदि किसी भी पक्ष से सन्बन्धित क्यों न हों।

समाज द्वारा व्यवसाय की चुनौतियां
(The Social challenges to Business)

व्यवसायिक फर्में निरन्तर सामाजिक समस्याओं के भंवर में कार्य करती हैं। व्यवसाय ने सामाजिक प्रगति के साथ-2 अनेक सामाजिक लागतों एवं समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है। वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, शोर-शराबा, धुआं, गन्ध, धूल, यातायात असुविधाएं, शहरों पर दबाव आदि औद्योगिक समस्याओं से आज कौन अपरिचित है? भ्रामक विज्ञापन, लूट-खसोट, कालाबाजारी उपभोक्ताओं की जेब पर बढ़ता हुआ भार आदि गम्भीर प्रश्न व्यवसायिक प्रगति के साथ उठ खड़े हुए है। उद्योगपतियों की असामाजिक गतिविधियों को नियन्त्रित करने के प्रयासों में सरकार चिन्तित है-प्रतिदिन पारित होते हुए नये-नये व्यवसायिक विधानों, नीतियों व व्यवसायिक जगत के नैतिक स्तर पर प्रश्न चिन्ह लगा दिये है।

इन बढ़ती हुई सामाजिक समस्याओं एवं चुनौतियों ने व्यवसाय के दायित्व निर्वाह को महत्वपूर्ण बना दिया है। कीथ डेविस एवं विलियम फ्रेडरिक ने समाज द्वारा व्यवसाय को दी गई निम्नलिखित प्रमुख चुनौतियों का वर्णन किया है।

1. पर्यावरण सन्तुलन को प्राप्त करना (Achieving Ecological Balance) :-

व्यवसाय के लिए पहली सामाजिक चुनौती औद्योगिक उत्पादन एवं प्रक ति की सीमाओं के मध्य एक सुन्दर सन्तुलन स्थापित करने की है। उद्योग एवं व्यवसाय कच्चेमाल के लिए प्राक तिक सम्पदाओं पर निर्भर करता है। बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन से निरन्तर हो रहे प्राक तिक सम्पदाओं के क्षय ने कच्चे माल के नये-2 स्त्रोत खोजने को विवश कर दिया है। औद्योगिकरण के फलस्वरूप हो रहे विभिन्न प्रकार के प्रदूषण एवं प्राक तिक सम्पदाओं एवं सौंदर्य की बर्बादी से सामाजिक लागतों की समस्या पैदा हो गई। समाज पर पड़ने वाले दूषित पर्यावरण के प्रभाव को कम करने के लिए व्यवसाय को पर्याप्त करने होगें तथा ऊर्जा के नए-नए स्त्रोतो की खोज करके उत्पादन की तकनीक में सुधार करना होगा।

2. कार्य में मानव तत्व (The Human Element in work)

मानव साधन ही अपनी कार्य क्षमताओं से औद्योगिक उत्पादन में व द्धि कर सकते है। श्रमिक व कर्मचारी मानवीय सामाजिक पूंजी है। प्रबनधकों के लिए यह एक गम्भीर चुनौती है कि वे मानवीय साधनों के चातुर्य एवं योग्यताओं का उच्चतम प्रयोग करते हुए उनकी प्रतिष्ठा एवं स्वास्थ्य की रक्षा करें। कार्य -स्थलों पर अनेक जटिल सामाजिक समस्याएँ प्रबन्धकों के लिए चुनौतियां है। कुछ महत्वपूर्ण चुनौतियाँ निम्न प्रकार है।

(i) उद्योग में प्रत्येक कर्मचारी सम्मान, प्रतिष्ठा व अपनापन चाहता है, जबकि उत्पादन की दौड़ में कर्मचारी की निजी व्यक्तित्व गौण होने लगा है। (ii) कर्मचारी की प्रबन्धकीय निर्णयो में स्थान देना, (iii) अल्प वर्ग महिलाओं द्वारा चाहे गये कार्य के अवसरों की समानता (iv) सुरक्षित एवं स्वास्थ्यवर्धक कार्य वातावरण (v) कार्य के प्रति बदलती हुई प्रव तियों

उत्पादन व द्धि के लक्ष्य की पूर्ति के साथ-साथ मानवीय संसाधनो के मानवीय व्यवहार को बनाए रखाने, प्रबन्ध की नीतियाँ व कार्य के प्रति बदलते हुए द ष्टिकोण में सामंजस्य बनाये रखने की महत्वपूर्ण चुनौती प्रबन्धकों के समक्ष उत्पन हो गई है।

(3) उत्पादकता को बढ़ाना :- राष्ट्रीय संसाधनों के उच्चतम प्रयोग द्वारा राष्ट्र की उत्पादकता को बनाया जा सकता है। प्राक तिक मानवीय व पूंजी ससांधनों के कुशल प्रबन्ध एवम् समायोजन द्वारा राष्ट्रीय उत्पादकता के स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। इसकी व द्धि में उन्नत तकनीक प्रशिक्षित कर्मचारी श्रमिक मनोबल कुशल प्रबन्धक सरकारी नीतियों अादि सभी तत्वों का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

राष्ट्र की उत्पादकता में व्यवसाय ही नहीं, वरन् समाज के अन्य अंग-सरकार, कर्मचारी, ग्राहक, समुदाय भी अपना योगदान देते है। व्यवसाय का यह एकल दायित्व नहीं है। फिर भी जन आंकाक्षाओं की पूर्ति एवम् समुदाय की सर्वागीण प्रगति हेतु उत्पादकता बढ़ाने के उपाय नई विधियाँ व्यवसाय को अपनानी होगीं।

(4) विश्वव्यापी दबाव, मांग एवं आवश्यकता (Global Pressures Demands and Needs) व्यवसाय एक विश्वव्यापी संस्था है जो सम्पूर्ण राष्ट्रों व क्षेत्रों में अपनी वस्तुओं व सेवाओं का विवरण करती है। जापानी कारें, अमेरिका की कम्प्यूटर सेवाएँ, इटेलियन शराब, बिट्रेन की बीमा सेवाएँ, स्विट्जर लैण्ड की बैकिंग सेवाऐं, ब्राजील की काफी, ताइवान के ट्रांजिस्टर-रेडियो आदि विश्व में सर्वत्र माँगे जाते है। विश्व में बढ़ती हुई माँग हेतु उत्पादन करना, अविकसित राष्ट्रों में पूँजी

विनियोग करना, निर्धन राष्ट्रों ने उचित मूल्यों पर विक्रय करना, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को सहयोग प्रदान करना, विकासशील देशों में औद्योगिकीकरण की गति तेज करना आदि कुछ ऐसी चुनौतियां है जिनका विकसित राष्ट्र के व्यवसायियों का सामना करना है।

(5) नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र में सन्तुलन (Balancing Ethics and Economics) : अपने निर्णयों में नीति (Ethics) को पर्याप्त स्थान प्रदान करने की चुनौती व्यवसाय के सामने हमेशा से रही है। समाज व्यवसाय से बांधित वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन चाहता है, किन्तु साथ ही समाज की व्यवसाय से यह अपेक्षा भी बनी रहती है कि व्यवसाय अपनी समस्त आर्थिक क्रियाओं का संचालन नैतिक सिद्धान्तों के अनुरूप करें। जब व्यावसायी समाज के नैतिक मूल्यों को त्याग कर अवांछित गतिविधियों में लिप्त हो जाते हैं, तो व्यवसाय में नैतिक समस्याएँ खड़ी हो जाती है।

वर्तमान में व्यवसाय अपने नैतिक दायित्वों के प्रति जागने लगा है। प्रत्येक व्यावसायी अपने क्रियाओं एवं नियमों में, कम या ज्यादा मात्रा में नैतिक प्रमापों को स्थान देता है व्यवसाय के लिए मूल चुनौती नैतिक होने या आर्थिक रूप से कुशल होने की नहीं है, वरन् समाज की दो महत्पवपूर्ण मांगें-उच्च आर्थिक निष्पादन (लाभ) एवं उच्च नैतिक प्रमापो (सेवा) मे एक सन्तुलन स्थापित करने की है।

(6) सामाजिक साझेदारी की अभिकल्पना (A Design For Social Partnership) मिश्रित अर्थव्यवस्था के युग में यह अनुभव किया जाने लगा है कि सामाजिक समस्याओं के हल के लिए सरकार व व्यवसाय की साझेदारी निर्मित की जानी चाहिए। समाज के हितों की पूर्ति का दायित्व अकेली सरकार या व्यवसाय को नहीं सौपा जा सकता। प्रत्यक्ष वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन के अतिरिक्त, व्यवसाय समाज को अन्य योगदान भी देता है। सरकार की साझेदारी में व्यवसाय की कुशलता व प्रभावशीलता में व द्धि की जा सकती है।

अध्याय 2
भारत की राष्ट्रीय आय
(National Income of India)

भूमिका : भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप, स्तर तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए शुद्ध घरेलू उत्पाद की प्रव तियों का ज्ञान बहुत आवश्यक है। शुद्ध घरेलू उत्पाद द्वारा किसी अर्थव्यवस्था में प्रतिवर्ष वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह का अनुमान लगााया जाता है। शुद्ध घरेलू उत्पाद से संबंधित आँकड़े देश की समस्त अर्थव्यवस्था तथा जनसख्या के विभिन्न वर्गो का एक व्यापक द श्य प्रस्तुत करते हैं। इनके द्वारा हमें देश की आर्थिक विकास की दर, विभिन्न क्षेत्रों जैसेः-क षि, उद्योग, सेवाओं आदि का सापेक्षिक महत्व, कुल निवेश, कुल बचत तथा अन्य महत्वपूर्ण विषयों के संबंध में जानकारी प्राप्त होती है भारत में राष्ट्रीय आयों का प्रचलित कीमतों के आधार पर तथा स्थिर कीमतों के आधार पर अनुमान लगाया जाता है वर्तमान समय में भारत में राष्ट्रीय आय तथा शुद्ध घरेलू उत्पादन की गणना का कार्य केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के द्वारा किया जाता है भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान 1 अप्रैल से 31 मार्च तक की अवधि के लिए लगाया जाता है। यह संगठन राष्ट्रआय से सम्बन्धित विभिन्न आँकड़ो पर राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी प्रदर्शित करता है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा :-किसी देश में एक वर्ष में जो अन्तिम वस्तुएं व सेवाएं उत्पन्न होती हैं उनके बाजार मूल्य के जोड़ को राष्ट्रीय आय कहा जाता है भारत की राष्ट्रीय आय समिति के अनुसान, "राष्ट्रीय आय में बिना दोहरी गिनती के, एक दी गई अवधि में उत्पन्न की जाने वाली सेवाओं तथा वस्तुओं के मूल्य का माप किया जाता है।"

प्रति व्यक्ति आयः- किसी देश की प्रति व्यक्ति आय से अभिप्राय एक निश्चित समय में वहाँ के निवासियों द्वारा प्राप्त औसत आय से होता है प्रति व्यक्ति आय प्रचलित कीमतों या स्थिर कीमतों पर निकाली जाती है और राष्ट्रीय आय की भांति यह भी वार्षिक आय के रूप में प्रकट की जाती है किसी भी वर्ष की प्रति व्यक्ति आय की जानकारी के लिए उस वर्ष की कुल राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से भाग दे दिया जाता है। मान लो, हम भारत की 2003 की प्रति व्यक्ति आय जानना चाहते हैं तब हम कहेंगें किः-

$$\text{प्रति व्यक्ति आय} = \frac{\text{भारत की 2003 में राष्ट्रीय आय}}{\text{भारत की 2003 में जनसंख्या}}$$

स्पष्ट है कि किसी देश की प्रति व्यक्ति आय भिन्न- 2 वर्षों में विभिन्न होगी क्योंकि प्रतिव्यक्ति आय, राष्ट्रीय आय के आकार के साथ- साथ जनसंख्या के आकार पर भी निर्भर होती है जिस देश में राष्ट्रीय आय अधिक और जनसंख्या कम है वहां प्रति व्यक्ति आय बढाने के लिए जनसंख्या व द्धि पर भी नियन्त्रण रखना पड़ता है।

भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान : भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए स्वतन्त्रतापूर्व तथा स्वतन्त्रता के बाद विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया गया है इसलिए भारत में राष्ट्रीय आय के अनुमान का दो भागों में अध्ययन किया जायेगा : (1) स्वतन्त्रता से पूर्व का अनुमान तथा (2) स्वतन्त्रता के बाद का अनुमान।

स्वतन्त्रता से पूर्व का अनुमान : भारत में स्वतन्त्रता से पहले राष्ट्रीय आय को मापने का कोई संगठन सरकारी नहीं था। इसलिए इस संबंध में कोई सरकारी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। राष्ट्रीय आय का अनुमान कुछ व्यक्तियों ने अपने निजी स्तर पर लगाया था। पसिद्ध देशभक्त दादा भाई नाराजी ने सबसे पहले राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया था विभिन्न वर्षो में विभिन्न विद्वानों द्वारा लगाये गये राष्ट्रीय आय के अनुमान को निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रस्तुत किया है।

तालिका न. 1 भारत की राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय का अनुमान

अनुमानकर्ता	अनुमान का वर्ष	राष्ट्रीय आय	प्रतिव्यक्ति
1	2	3	4
दादा भाई नारौजी	1868	340	20
एफ. जे. एटकिंसन	1875	574	31
बेरिंग एण्ड बारबोर	1882	525	27
लार्ड कर्जन	1897-98	675	30
विलियम डिम्वी	1899	390	17
फिंडले शिर्राज	1911	1,942	80
वाडिया और जोशी	1913-14	1067	44
आर्नल्ड लपटन	1919-20	2954	114
शाह और खम्बाटा	1921-22	2364	74
वी.के.आर.वी.राव	1931-32	1689	72
बी. नटराजन	1938-39	1482	67
ईस्टर्न इकोनोमिस्ट	1939-40	1934	67
वाणिज्य मंत्रालय (भारत सरकार)	1945-46	6234	198

स्वतन्त्रता से पूर्व राष्ट्रीय आय की गणना की विधियाँ : स्वतन्तत्रा से पूर्व राष्ट्रीय आय की गणना के लिए विभिन्न तरीके अपनाये थे। उदाहरण के लिए : (1) दादा भाई नारौजी, शाह और खम्बात, वाज्या तथा जोशी आदि ने पहले क षि क्षेत्र के उत्पादन के मूल्य का अनुमान लगाया उसका एक निश्चित प्रतिशत मेरे क षि क्षेत्र की आय के रूप में जोड़ दिया गया। इस प्रकार क षि आय का कुल राष्ट्रीय आय से अनुमान लगाया था। यह एक अवैज्ञानिक तरीका था।

डॉ. वी.के.रा.वी. राव ने सबसे पहला 1931 में राष्ट्रीय आय मापने का एक वैज्ञानिक तरीका अपनाया था। इन्होनें भारतीय अर्थव्यवस्था को दो भागों में बांट दिया था।

(1) क षि क्षेत्र में क षि, वन, खान, मछली पालन, चारागाह तथा शिकार से प्राप्त आय शामिल होती है। (2) निगम क्षेत्र इसमें उद्योग, निर्माण, व्यवसाय, परिवहन, सार्वजनिक सेवाएँ शमिल होती है डा. राव ने राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए संयुक्त विधि का प्रयोग किया है, उन्होंने (a) उत्पादन विधि द्वारा कृषि क्षेत्र की आय का अनुमान लगाया था और **(b)** आय विधि द्वारा गैर-क षि क्षेत्र की आय का अनुमान लगाया था। इन दोनों अनुमानों में विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय को जोड़कर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया गया। यह राष्ट्रीय आय मापने का अधिक वैज्ञानिक तरीका है। भारत में अभी तक इसी का प्रयोग किया जा रहा है।

कठिनाइयाँ एवं सीमायें:- स्वतन्त्रता से पूर्व राष्ट्रीय आय की गणना से सम्बन्धित मुख्य कठिनाइयां तथा सीमाएँ निम्नलिखित थी : (1) स्वतन्त्रता से पहले राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए कोई सरकारी एजेंसी नहीं थी। इसलिए सरकारी स्तर पर कोई अनुमान तैयार नहीं किए जाते थे। राष्ट्रीय आय के सभी अनुमान व्यक्तिगत स्तर पर तैयार किए गए, इसलिए वे पक्षपातपूर्ण थे। जो अनुमान भारतीयों ने तैयार किए। उसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया कि भारत बहुत गरीब देश है इसलिए प्रति व्यक्ति आय को कम दिखाने का प्रयत्न किया गया, इसके विपरीत जो अनुमान अंग्रेजों ने लगाए उसमें प्रति व्यक्ति आय को इतना कम नहीं दिखाया गया (2) ये अनुमान अविश्वसनीय तथा अपूर्ण आँकड़ो पर आधारित थे (3) विभिन्न अनुमान राष्ट्रीय आय की विभिन्न धारणाओं पर आधारित थे। (4) ये अनुमान स्वीक त धारणाओं तथा परिभाषाओं के अनुरूप नहीं थे (5) राष्ट्रीय आय के अनुमानों से सम्बन्धित भौगोलिक क्षेत्र भी राष्ट्रीय आय के अनुमानों की कठिनाइयों का मुख्य कारण था (6) ये अनुमान प्रचलित कीमतों पर आधारित थे तथा वर्ष की अवधि के लिए किए गए थे। इसलिए इनमें तुलना करना सम्भव नहीं है (7) विभिन्न क्षेत्रों की आय की गणना करने की विधि भी एक जैसी नहीं थी। यह अनुमानकर्ता की इच्छा पर निर्भर करती थी।

राष्ट्रीय आय के अनुमानों में उपरोक्त दोषों के बावजूद भी इनके द्वारा स्वतन्त्रता से पूर्व देश की आर्थिक स्थिति के बारें में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी।

स्वतन्त्रता के बाद के अनुमान : स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार ने 1949 में प्रो0 महालनोबिस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति की नियुक्ति की थी। इस समिति के दो और सदस्य प्रो0डी0आर0 गाडगिल तथा प्रो.वी.के.आर.वी.राव थे। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री साइमन कुजनेटस इस समिति के सलाहकार थे। इस समिति ने अपनी पहली रिपोर्ट 1951 में तथा अन्तिम रिपोर्ट 1954 में प्रस्तुत की थी। इस समिति की पहली रिपोर्ट के अनुसारे 1948-49 में राष्ट्रीय आय 8710 करोड़ रूपये तथा प्रति व्यक्ति आय 225 रूपये थी इन रिपोर्टो में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए ऑकड़ों के स्त्रोत तथा उनकी सीमाओं का विस्त त विवेचन किया गया। इस कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन सन् 1955 से लेकर अब तक भारत की राष्ट्रीय आय की गणना कर रहा है। यह संगठन राष्ट्रीय आय सम्बन्धी राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी प्रतिवर्ष प्रकाशित कर रहा है।

केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा राष्ट्रीय आय के अनुमान : केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के विभिन्न आधार वर्षो के अनुरूप राष्ट्रीय आय की गणना से सम्बन्धित तीन श्र खलाएँ जारी की हैः

(1) परम्परा श्रंखला : केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने सन् 1952 से सन् 1967 तक राष्ट्रीय आय के अनुमान राष्ट्रीय आय समिति द्वारा बताई गई नई विधियों के आधार पर तैयार किए थे। राष्ट्रीय आय की इस श्रं खला के लिए 1948-49 को आधार वर्ष माना गया था। श्रंखला को परम्परागत श्रंखला कहा जाता है। इस श्रंखला के अनुसार 1941 तथा 1951 की जनगणना के आधार पर अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित 13 क्षेत्रों में बांट दिया गया है। (1) क षि तथा पशुपालन (2) वन उद्योग, (3) मछली उद्योग (4) खनन (5) कारखाना प्रतिष्ठान (6) लघु उद्यम (7) संचार (8) संगठित बैंकिग तथा बीमा (9) अन्य वाणिज्य और परिवहन (10) व्यवसाय तथा उदार कलाएँ और घरेलू सेवाएँ (11) सार्वजनिक प्राधिकरण (12) आवास ग ह सम्पत्ति (13) भुगतान सन्तुलन तथा विदेशो से शुद्ध आय। केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने परम्परागत श्रंख्ला का प्रकाशन 1970 के बाद बन्द कर दिया।

(2) संशोधित श्रं खला : केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने अगस्त 1967 में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने की विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। इन परिवर्तनों को उन्होने ब्रीशर आन रिवाईज्ड सीरीज ऑफ नेशनल प्राडक्ट 1960-61 से 1964-65 में प्रकाशित इस श्रंखला में 1948-49 स्थान पर 1960-61 को आधार वर्ष माना गया है। राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रचलित कीमतों तथा स्थिर कीमतों पर लगाये जाते है इस श्रंखला के अनुमार आर्थिक क्रियाओं को 14 क्षेत्रों में बांट दिया गया है। जिन्हे तीन क्षेत्रों में विभाजित किया गया। संशोधित श्रंखला के अनुसार 14 आर्थिक क्षेत्र निम्नलिखित है।

(1) प्राथमिक क्षेत्रः इस क्षेत्र में चार व्यवसायों को शामिल किया गया है (1) क षि तथा पशुपालन (2) वन उद्योग तथा लट्ठे बनाना (3) मछली पालन तथा (4) खनन और उत्खनन।

(2) द्वितीयक क्षेत्रः इस क्षेत्र मं तीन व्यवसायों को शामिल किया गया है। (5) उद्योग (6) निर्माण कार्य (7) बिजली, गैस और जलपूर्ति

(3) त तीयक क्षेत्रः इस क्षेत्र में सात व्यवसायों को शामिल किया गया है (8) परिवहन, संग्रह गोदाम तथा संचार (9) व्यापार तथा जलपान ग ह (10) बैंक तथा बीमा (11) स्थावर सम्पदा, आवास ग हों का स्वामित्व तथा व्यवसायिक सेवाएँ (12) सरकारी प्रशासन और प्रतिरक्षा (13) अन्य सेवायें और (14) विदेशी सौदे।

(4) दूसरी संशोधित श्र खलाएँ : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन ने राष्ट्रीय आय की एक नई श्रंखला भी आरम्भ की थी इस श्रंखला में 1960-61 के स्थान पर 1970-71 को आधार वर्ष माना गया था। इसके बाद 1980 में जारी श्रंखला में 1980-81 को आधार वर्ष माना गया है। सन् 1999 में एक नई श्रंखला जारी की गई है जिसका आधार वर्ष 1993-94 माना गया है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय आय की गणना की विधियाँः स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय आय की गणना का वर्णन ऊपर किया जा चुका है भारत में राष्ट्रीय आय की गणना करने की विभिन्न विधियाँ अपनाई जाती है। इन विधियों को संक्षिप्त रूप में निम्नलिखति ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

(1) उत्पाद विधि : उत्पाद विधि वह विधि है जो एक लेखा वर्ष में एक देश की घरेलू सीमा के अन्तर्गत प्रत्येक उद्यम के द्वारा किये गये उत्पाद की गणना करके घेरलू उत्पादन को मापती है। उत्पाद का वर्गीकरण तीन भागों में किया जाता है:

(1) उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं का योगदान (2) पूंजीगत वस्तुओं तथा सेवाओं का योगदान या सकल निजी घरेलू निवेश (3) सरकार द्वारा उत्पादन। इस विधि में दोहरी गणना की गलती से बचने के लिये प्रत्येक उद्यम द्वारा की गई मूल्य व द्धि की गणना कर ली जाती है। उत्पाद विधि द्वारा घरेलू उत्पाद ज्ञात करके उसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय जोड़कर राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाती है इस विधि का प्रयोग (1) क षि तथा पशुपालन (2) वन उद्योग तथा लट्ठे बनाने (3) मछली उद्योग (4) खनन तथा उत्खनन (5) निर्माण क्षेत्र में बड़े पैमाने के रजिस्टर्ड कारखानों में उत्पादित आय का अनुमान लगाने के लिए किया जाता है। इस विधि द्वारा राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए सबसे पहले प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादित विभिन्न वस्तुओं की मात्रा को उनकी औसत कीमत से गुणा करके कुल उत्पादन के सकल को मूल्य ज्ञात किया जाता है इसके बाद कुल उत्पादन में प्रयोग किये जाने वाले मध्यवर्ती पदार्थों का मूल्य ज्ञात किया जाता है कुल उत्पादन के सकल मूल्य में से घिसावट व्यय को घटाकर शुद्ध मूल्य ज्ञात कर लिया जाता है।

(2) आय विधि : आय विधि वह विधि है जो एक लेखा वर्ष में उत्पादन के प्राथमिक साधनों को उनकी उत्पादक सेवाओं के बदले में क्रमशः मजदूरी (कर्मचारियो का पारिश्रमिक) लगान, ब्याज तथा लाभ (इन तीनों के जोड़ को प्रचलन अधिशेष कहा जाता है) के रूप में किये गये भुगतान की गणना करके राष्ट्रीय आय का माप करती है। आय विधि द्वारा निम्नलिखित क्षेत्र से सम्बन्धित राष्ट्रीय आय की गणना दो प्रकार से की जाती है:

(i) लघु, कुटीर और असंगठित उद्योगों असंगठित सड़क तथा जल यातायात, संग्रह, व्यापारी होटल एवं जलपान ग ह, आवास ग हों के स्वामित्व से सम्बन्धित राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए श्रमिको की औसत उत्पादकता का अनुमान लगाया जाता है। श्रमिकों की संख्या को उनकी औसत उत्पादकता से गुणा करके मूल्य व द्धि का अनुमान लगाया जाता है।

(ii) अन्य क्षेत्र जैसे बिजली, रेल यातायात, वायु यातायात, संगठित सड़के तथा संगठित यातायात, संचार, बैंक तथा बीमा, स्थावर सम्पदा सार्वजनिक प्रशासन और प्रतिरक्षा में राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए प्रत्येक उद्यम व संगठन में कर्मचारियों की मजदूरी, वेतन, ब्याज, किराया, लाभ की गणना करके उसका कुल जोड़ प्राप्त कर लिया जाता है। बैंको तथा बीमा कम्पनियों द्वारा किए गए उत्पादन का अनुमान उनके लाभ तथा हानि के लेखों से लगाया जाता है। सरकारी क्षेत्र मं प्रशासन तथा प्रतिरक्षा के रूप में उत्पादन का अनुमान उनके लाभ तथा हानि के लेखों से लगाया जाता हैं। सरकारी क्षेत्र में प्रशासन तथा प्रतिरक्षा के रूप में उत्पादन के अनुमान केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बजट के आधार पर लगाये जाते है रिजर्व बैंक द्वारा प्रस्तुत किए गए आंकड़ों के आधार पर विदेशी सौदों से प्राप्त आय का अनुमान लगाया जाता है।

(3) व्यय विधि तथा वस्तु प्रवाह विधि : निर्माण क्षेत्र में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए व्यय विधि तथा वस्तु प्रवाह विधि का प्रयोग किया जाता है ग्रामीण जीवन निर्माण कार्य के लिए व्यय विधि का प्रयोग किया जाता है तथा शहरी निर्माण कार्य के लिए वस्तु प्रवाह विधि का प्रयोग किया जाता है। वस्तु प्रवाह विधि में निर्माण कार्य में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं जैसे : सीमेन्ट, लोहा, इस्पात, ईटों, टाइलों, लकड़ी, आदि के घरेलू उत्पादन के अनुमान तैयार किये जाते हैं और इन्हें स्टॉक, आयात तथा निर्यात में होने वाले परिवर्तन के अनुसार समायोजित कर लिया जाता है।

भारत में राष्ट्रीय आय मापने में कठिनाइयां

भारत में राष्ट्रीय आय मापने में निम्नलिखित कठिनाइयां हैं :-

(1) अमौद्रिक क्षेत्र : (i) राष्ट्रीय आय की गणना करते समय यह मान लिया जाता है कि देश में मौद्रिक अर्थव्यवस्था है और यहाँ अधिकांश वस्तुओं और सेवाओं का मुद्रा में विनियम किया जाता है किन्तु भारत में उत्पादन का अधिकांश भाग बाजार में बिल्कुल नहीं आता। वह या तो उत्पादाकों द्वारा उपयोग कर लिया जाता है अथवा वस्तु विनियम में ही उसका प्रयोग होता है। अतः भारत में उत्पादित वस्तुओं का (विशेषकर क षि क्षेत्र में) ठीक-2 मुद्रा मूल्य ज्ञात करना अत्यन्त कठिन होता है। (ii) अधिकांश उत्पादक अपने उत्पादक की मात्रा तथा इसके मूल्य का कोई हिसाब

किताब नहीं रखते। इसका मुख्य कारण लोगों का अशिक्षित होना है। उनकी इतना भी मालूम नहीं होता कि उनकी उत्पादन मात्रा का कुल मूल्य कितना होता है।

(2) **आर्थिक क्रियाओं में सुस्पष्ट अन्तर का आभाव :** भारत में एक व्यक्ति एक साथ कई काम-धन्धो मं संलग्न रहता है। इसलिए इसकी अलग-2 काम में आय का अनुमान लगाने में कठिनाई होती है। जैसे किसानों को अपनी अजीविका कमाने के लिए लघु व कुटीर उद्योगों में लगना पड़ता है या शहरों में काम की तलाश में जाना पड़ता है।

(3) **अपूर्ण आंकड़े :** भारत में प्राप्त आंकड़े अपूर्ण तथा अविश्वसनीय है, जैसे क षि उत्पादन की कुल मात्रा, कारखाने में उत्पादन, सरकार का आय व खर्च, कार्यशील जनसंख्या तथा आयात व निर्यात संबंधी आंकड़े तो हैं परन्तु उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता ।

(4) **आंकड़ो की प्राप्ति में कठिनाइयां :** आंकड़ो की पूर्ति में भी अन्तर पाया जाता है। क षि व अन्य क्रियाओं के बारे में सही आंकड़ो सम्बन्धी सूचना बड़ी कठिनाई से उपलब्ध हो पाती है देहाती जनता के उपभोग, बचत एवं व्यय के आंकड़े काफी मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं।

(5) **क्षेत्रीय अन्तर :** इस देश में विभिन्न क्षेत्रो की परिस्थितियाँ एक समान नहीं है यही कारण है कि किसी एक क्षेत्र सम्बन्धी जानकारी को दूसरे क्षेत्र में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। फलस्वरूप देश की आय की गणना में अनेक व्यवहारिक कठिनाइयों का समाना करना पड़ता है।

(6) **अवधारणा सम्बन्धी कठिनाइयाँ :** भारत में राष्ट्रीय आय गणना के संबंध में कई अवधारणा संबंधी कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है। राष्ट्रीय आय को परिभाषित करने के लिए उत्पाद, आय, व्यय आदि कई तत्वों को आधार बनाया गया है इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय के अनुमान सही नहीं हो पाते। देश में कई नई वस्तुओं का भी उत्पादन होता है जैसेः कम्प्यूटर, इलैक्ट्रोनिक का सामान, हवाई जहाज आदि जिनका आधार वर्ष में उत्पादन नहीं होता था। इस प्रकार के उत्पादन के लिए स्थिर कीमतों को ज्ञात करना कठिन होता है। इस प्रकार चालू कीमतों पर तो राष्ट्रीय आय की गणना हो जाती है परन्तु स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय की गणना करने में कठिनाई आ जाती है।

(7) **विविध कठिनाइयां :** प्रशासनिक परिवर्तन होने से भी कठिनाइयां बढ़ गई है (ii) भारत में राष्ट्रीय आय के मापने की कोई एक विधि नहीं अपनाई गई है (iii) यहाँ लोगों को अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण राष्ट्रीय आय के आँकड़ो को इकट्ठा करना कोई सुगम कार्य नहीं है (iv) भारत में राष्ट्रीय आय को एकत्रित करने के लिए विशेषताओं की कमी रही है।

भारत में शुद्ध घरेलू उत्पाद : केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (CSO) प्रति वर्ष 1 अप्रैल, से 31 मार्च की अवधि के लिए भारत के शुद्ध घरेलू उत्पाद तथा राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित अन्य धारणाओं का अनुमान लगाता है ये अनुमान चालू कीमतों तथा स्थिर कीमतों दोनो के आधर पर लगाए जाते है आजकल भारत में सन् 1993-94 को आधार वर्ष मानकर चलते है। उदाहरण के लिए सन् 2000-01 में चालू कीमतों पर शुद्ध घरेलू उत्पाद 18,64,292 करोड़ रू. था तथा 1993-94 की कीमतों पर 11,15,157 करोड़ रू0 था। इसका अभिप्राय यह है कि 1993-94 की तुलना में कीमतें कई गुणा बढ़ जाने के कारण 2000-01 में शुद्ध घरेलू उत्पाद का मूल्य कई गुणा बढ़ गया। परन्तु वास्तव में वस्तुओं और सेवाओं का इतना अधिक उत्पादन नहीं हुआ था। इसलिए स्थिर कीमतों पर शुद्ध घरेलू उत्पाद के आंकड़े अधिक विश्वसनीय तथा तुलनात्मक होते है। भारत में शुद्ध घरेलू उत्पाद का अध्ययन निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है।

तालिका नं : 2 साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद

(वर्ष)	शुद्ध घरेलू उत्पाद (चालू कीमतों पर)	(वर्ष)	शुद्ध घरेलू उत्पाद (करोड़ रू.)
1950-51	8566	1980-81	110139
1951-52	9023	1981-82	128417
1954-55	9003	1982-83	141875
1955-56	9116	1988-89	310100
1959-60	13017	1991-92	473246
1960-61	14232	1992-93	556344
1963-64	18253	1996-97	1153977
1964-65	21390	1997-98	1278606
1969-70	34530	1998-99	1479619
1970-71	36646	1999-2000	1590428
1971-72	42684	2000-2001	1702454
1974-75	61485	2001-202	1864292

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि भारत का साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन अर्थात् साधन आय प्रचलित कीमतों पर प्रतिवर्ष बढ़ रही है यदि इसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय जोड़ दी जाए तो शुद्ध राष्ट्रीय आय ज्ञात की जा सकेगी। भारत की शुद्ध राष्ट्रीय आय की प्रक ति निम्नलिखित पैराग्राफों से स्पष्ट की जाती है।

योजना काल में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की प्रव तियां : प्रत्येक योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में व द्धि हुई है। लेकिन यह व द्धि अधिकतर योजनाकाल के लक्ष्य से कम रही है। योजनाओं की विभिन्न अवधियों में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में होने वाली व द्धि का विवरण इस प्रकार है :

(1) **प्रथम योजना :** प्रथम योजना की अवधि 1951-56 में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में होने वाले परिवर्तन को तालिका नं0 3 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

मदें	**1950-51**	**1955-56**
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	8574 Cr. Rs.	9,161 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	1,32,367 Cr. Rs.	1,58,001 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	238 Rs.	233 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	3687 Rs.	4020 Rs.

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि प्रथम योजना से सन् 1993-94 की स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में व द्धि 3.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष हुई परन्तु जनसंख्या के बढ़ जाने के कारण प्रति व्यक्ति आय में केवल 1.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की व द्धि हो सकी थी।

(2) **दूसरी योजना : द्वितीय योजना** (1956-61) की अवधि राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय में होने वाले परिवर्तन तालिका नं. 4 द्वारा स्पष्ट हो जाते है।

मदें	1956-57	1960-61
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	10,972 Cr. Rs.	14,242 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	1,66,793 Cr. Rs.	1,92,235 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	274 Rs.	328 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	34159 Rs.	4429 Rs.

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि दूसरी योजना की अवधि में 1993-94 की स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष था प्रति व्यक्ति आय में 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की व द्धि हुई थी।

(3) **तीसरी योजना :** तीसरी योजना (1961-66) की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में होने वाले परिवर्तन तालिका नं0 5 द्वारा स्पष्ट हो जाते है :

मदें	1961-62	1965-66
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	14,946 Cr. Rs.	22,247 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	1,97,514 Cr. Rs.	21,6344 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	337 Rs.	459 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	4448 Rs.	4429 Rs.

तीसरी योजना की अवधि में 199 रुपये 94 की कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 2.5 प्रतिशत की कमी हुई परन्तु प्रतिव्यक्ति आय में 0.2 प्रतिशत की कमी हुई। इसका मुख्य कारण जनसंख्या की दर में व द्धि तथा सूखा पड़ने के कारण कृषि उत्पादन का कम होना था।

4. **चौथी योजना** - चौथी योजना की अवधि 1969-74 में राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति आय में होने वाले परिवर्तन तालिका नं. 6 द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं।

मदें	1969-70	1973-74
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	34,421 Cr. Rs.	52,362 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	2,57,359 Cr. Rs.	2,83,061 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	651 Rs.	903 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	4865 Rs.	4803 Rs.

चौथी पंचवर्षीय योजना कई कारणों से 1996 के स्थान पर 1969 में आरंभ हुई। चौथी योजना की अवधि में स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 3.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष तथा प्रतिव्यक्ति आय में केवल 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष की व द्धि हो सकी।

5 **पांचवी योजना :** पांचवी योजना को चार वर्ष पश्चात् अर्थात् 1978 में ही समाप्त कर दिया गया। इस योजना की चार वर्षों की अवधि में 1974-78 में राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति आय में होने वाले परिवर्तन तालिका नं. 7 द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं।

मदें	1974-75	1977-78
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	61,290 Cr. Rs.	79,749 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	2,86,417 Cr. Rs.	3,40,751 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	1034 Rs.	1258 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	4830 Rs.	5375 Rs.

पांचवी योजना के चार वर्षों की अवधि में स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय में आय में 5 प्रतिशत की व द्धि हुई तथा प्रतिव्यक्ति आय में 2.7 प्रतिशत की व द्धि हुई।

6 **छठी योजना :** छठी योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति आय में होने वाले परिवर्तन तालिका नं 8 से स्पष्ट हो जाते है। छठी योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय में 5.4 प्रतिशत की व द्धि हुई तथा प्रतिव्यक्ति आय में 3.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की व द्धि हुई है।

मदें	1980-81	1984-85
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	1,10,685 Cr. Rs.	185018 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	3,63,417 Cr. Rs.	1,33,808 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	1630 Rs.	2504 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	5352 Rs.	5954 Rs.

7 **सातवीं योजना :** सातवीं योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में होने वाले परिवर्ततन तालिका नं. 9 द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं।

मदें	1985-86	1989-90
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	2,06,133 Cr. Rs.	3,57,285 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	4,59,185 Cr. Rs.	5,82,518 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	2730 Rs.	4346 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	6082 Rs.	7087 Rs.

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि सातवीं योजना में स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 5.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष और प्रति व्यक्ति आय में 3.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की व द्धि हुई है।

8 **आठवीं योजना :** आठवीं योजना 1990 में आरम्भ होनी थी परन्तु वह वास्वत में 1992 में पांच वर्ष की अवधि अर्थात् 1992 से 1997 तक के लिए लागू की गई। आठवीं योजना से पहले दो एक वर्षीय योजनाएं अर्थात् 1990-91 तथा 1991-92 में आरम्भ की गई। 1992 से 1980-81 की कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 2.5 प्रतिशत की व द्धि तथ प्रति व्यक्ति आय में 1980-81 की कीमतों पर 0.4 प्रतिशत की व द्धि तथा प्रति व्यक्ति आय में 1980-81 की कीमतों पर 0.4 प्रतिशत की व द्धि हुई। आठवीं योजना में दो वर्षो में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की प्रव ति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो रही है।

मदें	1992-93	1996-97
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	546023 Cr. Rs.	1089563 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	648182 Cr. Rs.	852085 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	6262 Rs.	11554 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	7433 Rs.	8987 Rs.

आठवीं योजना में राष्ट्रीय आय में स्थिर कीमतों पर 6.7 प्रतिशत की व द्धि हुई तथा प्रतिव्यक्ति आय में 4.6 प्रतिशत की व द्धि हुई है।

9. नौवीं योजना : नौवी योजना 1 अप्रैल 1997 से 31 मार्च 2002 तक की अवधि में लागू थी। इस योजना का प्रस्तावित लक्ष्य राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से व द्धि करना था। नौवी योजना में आधार वर्ष 1980-81 के स्थान पर 1993-94 कर दिया गया है।

मदें	1997-98	2001-02
(राष्ट्रीय आय)		
(1) चालू कीमतों पर	1220716 Cr. Rs.	1864292 Cr. Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	891095 Cr. Rs.	1115157 Cr. Rs.
(प्रति व्यक्ति आय)		
(1) चालू कीमतों पर	127129 Rs.	17978 Rs.
(2) 1993-94 की कीमतों पर	9244 Rs.	10754 Rs.

नौवीं योजना में स्थिर कीमतो पर राष्ट्रीय आय में 3.6 प्रतिशत व द्धि हुई है तथा प्रति व्यक्ति आय में 3.6 प्रतिशत की व द्धि हुई है।

राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की वार्षिक विकास व द्धि दर : योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में अनियमित रूप से व द्धि होती रही है। किसी वर्ष प्रति व्यक्ति आय की अनियमित रूप से व द्धि होती रही है। किसी वर्ष प्रति व्यक्ति आय में की व द्धि दर पिछले वर्ष की तुलना में काफी अधिक हो गई है। जबकि दूसरे वर्ष में काफी कम हो गई है। जबकि दूसरे वर्ष में काफी कम हो गई है। यद्यपि लगभग सभी योजनाओं के लक्ष्य राष्ट्रीय आय में 5% की व द्धि करना था परन्तु यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। विभिन्न योजनाओं की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की स्थिर कीमतों पर विकास दरें तालिका नं0 11 से स्पष्ट हो जाती है।

Period	National Income %	Per Capital Income %
Ist Plan	3.6	1.8
2nd Plan	4.6	2.0
3rd Plan	2.5	0.2
4th Plan	3.3	1.0
5th Plan	5.0	2.7
6th Plan	5.4	3.2
7th Plan	5.8	3.6
8th Plan	6.7	4.6
9th Plan	5.6	3.6

उपरोक्त तालिका से भी ज्ञात होता है कि योजनाओं की अवधि में (1951-2002) तक स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 4.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष तथा प्रति व्यक्ति आय में 2 प्रतिशत की व द्धि की प्रव ति पाई जाती है

भारत तथा अन्य देशो की तुलना : भारत की राष्ट्रीय आय संसार के कई देशों से कम है तथा कई देशों से अधिक है। परन्तु प्रति व्यक्ति आय की द ष्टि से भारत की स्थिति बहुत खराब है हमारे देश की प्रति व्यक्ति आय संसार के बहुत से देशो से कम है। नीचे दी गई तालिका में कुछ देशों में राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति आय के तुलनात्मक आंकड़े प्रस्तुत हैं।

देश	राष्ट्रीय आय (करोड़ डालर)	प्रतिव्यक्ति आय (डालर)
स्विटजरलैण्ड	26650	36970
जापान	45472	35990
स.रा. अमेरिका	99007	34870
यू. के.	14514	24230
चीन	11310	890
भारत	4743	460

संसार की राष्ट्रीय आय मे 2.6 प्रतिशत भाग स.रा. अमेरिका का 4 प्रतिशत भाग यू.के का 15 प्रतिशत जापान का 1.7 प्रतिशत चीन का 10 प्रतिशत भारत का है। भारत संसार के सबसे निर्धन देशों में से एक है।

आय में अन्तर-क्षेत्रीय अन्तर :- भारत के विभिन्न राज्यों की घरेलू आय तथा प्रति व्यक्ति आय में काफी विभिन्नता पाई जाती है यह विभिन्नता निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट हो जाती है :-

Table : 13

Net State Domestic Product (at current Prices New Series (1993-94)

State	Rs. Crore	State	Rs. Crore
Andhra Pradesh	12443	Maharashtra	227893
Arunachal Pradesh	1591	Manipur	2945
Assam	26891	Meghalya	3230
Bihar	41825	Mizoram	1127
Delhi	52793	Nagaland	1727
Goa	6022	Orissa	30755
Gujrat	93601	Punjab	60890
Haryana	47474	Rajasthan	66949
Himachal Pradesh	11536	Sikkim	827
Jammu Kashmir	12423	Tamil Nadu	123140
Karnataka	94635	Tripura	4580
Kerela	63094	Uttra Pradesh	159406
Madhya Pradesh	64063	West Bengal	128387

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि महाराष्ट्र का शुद्ध घरेलू उत्पाद भारत में सबसे अधिक है इस संबंध में उत्तर प्रदेश का स्थान दूसरा, पश्चिमी बंगाल का तीसरा तथा तमिलनाडु का चौथा है इन राज्यों की जनसंख्या भी काफी अधिक है। सिक्किम का घरेलू उत्पाद सभी राज्यों से कम है बिहार तथा मध्यप्रदेश की जनसंख्या अधिक होते हुए भी घरेलू उत्पादन काफी कम है।

Table 14
Per Capital Income (At current Prices 1993-94)

राज्य	प्रति व्यक्ति आय रू.	राज्य	प्रतिव्यक्ति आय रू.
गोवा	41105	पश्चिमी बंगाल	16072
पंजाब	25048	मेघालय	13142
हरियाणा	23742	नागालैण्ड	12594
महाराष्ट्र	23726	जम्मू-कश्मीर	12399
तमिलनाडु	19889	राजस्थान	11986
गुजरात	19463	मध्यप्रदेश	10803
केरल	19463	असम	10198
हिमाचल प्रदेश	18920	उत्तर प्रदेश	9721
कर्नाटक	18041	उड़ीसा	8547
आन्ध्रप्रदेश	16373	बिहार	5108

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि राज्यों में सबसे अधिक आय गोवा की है। पंजाब का दूसरा, हरियाणा का तीसरा तथा महाराष्ट्र का चौथा स्थान है इससे पहले 1960-61 में महाराष्ट्र का पहला स्थान था तथा पंजाब का चौथा और हरियाणा का छठा स्थान था अब महाराष्ट्र का चौथा स्थान हो गया है इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल का तीसरा स्थान था अब इसका स्थान 11 वां हो गया है। अब हरियाणा का तीसरा स्थान है। 1960-61 में गुजरात का स्थान तीसरा था तथा तमिलनाडु का पाँचवा था। अब गुजरात का स्थान छठा तथा तमिलनाडु का पाचवां स्थान हो गया है। बिहार, उत्तरप्रदेश तथा उड़ीसा आरम्भ से ही सबसे निर्धन राज्य रहे हैं 1960-61 में सबसे अधिक क्षेत्र वाले राज्य मध्य प्रदेश का स्थान 13 वां था अब यह 16 वां हो गया है। 1960-61 में देश के सबसे अधिक जनसंख्या वाले राज्य उत्तरप्रदेश का 14 वां स्थान था अब यह 18 वां हो गया हैं। पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र,गुजरात,गोवा आरम्भ से ही धनी राज्य थे तथा अब भी है इसके विपरीत बिहार, उड़ीसा,उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि शुरू से ही निर्धन राज्य रहे हैं तथा अब भी उनकी स्थिति में कोई प्रगति नहीं हुई हैं भारत में अन्तर्राज्य प्रति व्यक्ति आय की विभिन्नता के कई कारण हैं जैसे :- (1) क षि के विकास की दर में विभिन्नता पंजाब तथा हरियाणा की आर्थिक प्रगति का यह मुख्य कारण है (2) औद्योगिक प्रगति की दर में विभिन्नता। महाराष्ट्र, गोवा, गुजरात की आर्थिक प्रगति का यह मुख्य आधार है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में बैकिंग की सुविधायें, राजनीतिक वातावरण, राज्य सरकारों की नीतियां, शिक्षा, स्वास्थ्य की सुविधाओं आदि के तत्व भी प्रति व्यक्ति आय में अन्तर्राज्य विभिन्नता के कुछ मुख्य कारण है। सबसे कम प्रति व्यक्ति आय बिहार की है।

अब तक का योजनाकाल यह व्यक्त करता है कि पंजाब, गोवा, महाराष्ट्र, हरियाणा, गुजरात, अब भी शिखर पर है क्योंकि इन राज्यों में प्रति व्यक्ति आय सारे भारत की औसत से अधिक है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक योजनाएँ देश से धनी व निर्धन राज्यों के अन्तर को समाप्त नहीं कर सकी है। वास्तव मे धनी राज्य अधिक धनी हो गए। वास्तविक स्थिति तो ये व्यक्त करती है कि आय में क्षेत्रीय अन्तर विस्क त हो चुके है।

विभिन्न राज्यों की प्रति व्यक्ति आय की विभिन्नता की प्रव ति :- योजना की अवधि में विभिन्न राज्यों की प्रति व्यक्ति आय के अन्तर में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ यह निम्नलिखित तालिका से सिद्ध है:-

Table 15

Ranking of 20 States by Per Capital Income at 1993-94 Prices

1993 1994			2001-2002		
State	Rank	Per Capital Income	State	Rank	Per capital Income
गोवा	1	16558	गोवा	1	41105
पंजाब	2	12710	पंजाब	2	25048
महाराष्ट्र	3	12183	हरियाणा	3	23742
हरियाणा	4	11090	महाराष्ट्र	4	23726
गुजरात	5	9796	तमिलनाडु	5	19889
नागालैण्ड	6	9129	केरल	6	19463
तमिलनाडु	7	8943	गुजरात	7	19228
केरल	8	7938	हिमाचल प्रदेश	10	16373
हिमाचल प्रदेश	9	7870	प० बंगाल	11	16072
कर्नाटक	10	7838	मेघालय	12	131142
आन्ध्र प्रदेश	11	7447	नागालैण्ड	13	12594
मेघालय	12	6756	जम्मू-कश्मीर	14	12399
प0 बंगाल	13	6720	राजस्थान	15	11986
मध्य प्रदेश	14	6577	मध्यप्रदेश	16	10803
जम्मू-कश्मीर	15	6543	असम	17	10198
राजस्थान	16	6182	उत्तर प्रदेश	18	9721
असम	17	5715	उड़ीसा	19	8547
उ0 प्रदेश	18	5060	बिहार	20	5108
उड़ीसा	19	4797			
बिहार	20	3037			

इस तालिका से ज्ञात होता है कि :-

(1) देश के सबसे धनी राज्य पंजाब तथा सबसे निर्धन बिहार में विभिन्नता दर 1980-81 में 2:9:1 थी वह 1991-92 में 3.38 : 1 हो गई है इसका अभिप्राय है कि योजनाओं की अवधि में क्षेत्रीय असमानता कम होने के स्थान पर और अधिक बढ़ गई।

(2) पिछले दस सालों में देश के सबसे धनी राज्यों में पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र तथा गुजरात ही बने रहे। कर्नाटक, राजस्थान, तमिलनाडु तथा असम की अपनी स्थिति में गिरावट आई है पंजाब देश का सबसे अधिक धनी तथा बिहार सबसे निर्धन राज्य बना रहा है।

(3) अन्तर राज्य प्रति व्यक्ति आय निम्न तालिका से भी स्पष्ट हो जाती है।

Table 16
Inter State Disparity

Per Capital Income (Rs)	1697-68	1977-78	1985-86
Average of Top Six States	1748	2146	2476
Average of Bottom Six States	1046	1203	1410
Disparity Ratio	0.49	0.57	0.57
Gimni Coefficent	0.0880	0.1112	0.0704
Co-efficient of Variation	16.28	22.67	.35

उपरोक्त तालिका से भी ज्ञात होता है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् से ही अन्तर्राज्य प्रति व्यक्ति आय की विभिन्नता में कोई कमी नहीं हुई है। अन्तर्राज्य विभिन्नता के मुख्य कारणः-

(1) **व द्धि दर में अन्तर** :- भारत में आय की अन्तर्राज्य विभिन्नता का एक मुख्य कारण विभिन्न राज्यों की व द्धि दर में पाया जाने वाला अन्तर है उदाहरण के लिए 2000-01 की अवधि में पंजाब तथा उड़ीसा में 4.4 प्रतिशत थी इस प्रकार व द्धि दर मे पाये जाने वाले अन्तर भी आय के अन्तर को जन्म देते है।

(2) **क षि उत्पादकता में अन्तर :-** विभिन्न राज्यों में क षि की उत्पादकता में पाया जाने वाला अन्तर भी आय की विभिन्नता का कारण है उदाहरण के लिए 2000-01 में पंजाब में गेहू की उत्पादकता 4332 कि. ग्रा. प्रति हैक्टैयर, हरियाणा में 3879 कि.ग्र.ा प्रति हैक्टेयर थी। इसके विपरीत बिहार में केवल 1992 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर, उड़ीसा में 1320 कि.ग्रा. तथा उत्तर प्रदेश में 2510 कि. ग्रा. प्रति हैक्टेयर था। इसी प्रकार तमिलनाडु में चावल की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता 3443 कि.ग्रा. तथा पंजाब की 3465 कि.ग्रा. थी। इसके विपरीत बिहार की 1301 कि.ग्रा. तथा उत्तर प्रदेश की 1958 कि. ग्रा थी। क षि उत्पादकता का अधिक या कम होना भी राज्यों की प्रतिव्यक्ति आय में पाये जाने वाले अन्तर के लिए जिम्मेदार है।

(3) **खाद्यान उत्पादन में प्रतिशत भागः**- भारत में आय की असमानता का एक कारण विभिन्न राज्यों का कुल खाद्यान्न उत्पादन में विभिन्न प्रतिशत होना भी है उदाहरण के लिए पंजाब का खाद्यान्न उत्पादन है प्रतिशत भाग 11 प्रतिशत महाराष्ट्र का 7.4 प्रतिशत तथा आन्ध्रप्रदेश का 6.9 प्रतिशत तथा उड़ीसा का 4.1 प्रतिशत था। यद्यपि उत्तर प्रदेश का 20.3 प्रतिशत तथा मध्यप्रदेश का 9.4 प्रतिशत था परन्तु उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश का क्षेत्रफल और जनसंख्या पंजाब और हरियाणा से कई गुणा अधिक है।

(4) **शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल में अन्तरः-** भारत में विभिन्न राज्यो के शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल तथा आय में प्रत्यक्ष संबंध पाया जाता है। पंजाब के 95 प्रतिशत तथा हरियाणा के 83 प्रतिशत कृषि क्षेत्रफल पर सिंचाई की व्यवस्था है इसके विपरीत बिहार के केवल 44 प्रतिशत उड़ीसा के 31 प्रतिशत तथा राजस्थान कृषि क्षेत्रफल पर सिंचाई की व्यवस्था है सिंचाई की अधिक सुविधाओं के कारण कुल उत्पादन अधिक होता है तथा आय में व द्धि होती है ।

(5) **औद्योगिक विकास में अन्तरः-** भारत में पाई जाने वाली अन्तर्राज्य आय असमानता का एक कारण विभिन्न राज्यों के औद्योगिक विकास के स्तर में पाया जाने वाला आय का अन्तर है महाराष्ट्र में प्रति व्यक्ति सकल औद्योगिक उत्पाद 17258 रु0 है पंजाब में 12429 रु0, गुजरात में 18932 रु0 तथा हरियाणा में 15055 रु0 है । इसके विपरीत बिहार मे 2314 रु0, उड़ीसा में 3521रु0 उत्तरप्रदेश में 3787 रु0 तथा राजस्थान में 4574 रु0 है ।

(6) **निर्धनता रेखा के नीचे व्यक्तियों का कुल ज0स0 में प्रतिशत :-** भारत में अतर्राज्य आय असमानता का एक प्रतीक तथा कारण विभिन्न राज्यों में कुल जनसंख्या में निर्धनता रेखा से नीचे लोगो का प्रतिशत है धनी राज्यों जैसे पंजाब, हरियाणा, हिमाचलप्रदेश में इनका प्रतिशत कम है इसके विपरीत निर्धन राज्यों जैसे बिहार, उडीसा, उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश में अधिक है उदाहरण के लिए पंजाब में निर्धनता रेखा से नीचे लोगो का प्रतिशत जनसंख्या के केवल प्रतिशत जनसंख्या का केवल 12 प्रतिशत था हरियाणा में 25 प्रतिशत तथा हिमाचल में 28 प्रतिशत था। इसके विपरीत बिहार में 55 प्रतिशत उत्तर प्रदेश में 41 प्रतिशत उड़ीसा में 49 प्रतिशत था।

(7) **जनसंख्या की व द्धि दर :-** जनसंख्या की व द्धि दर का अधिक होना भी आय की असमानता का एक कारण है धनी राज्यों की जनसंख्या की व द्धि दर निर्धन राज्यों की तुलना में कम है उदाहरण के लिए जनसंख्या की व द्धि दर पंजाब में 2

प्रतिशत, तमिलनाडु में 1.5 प्रतिशत, गुजरात में 2 प्रतिशत तथा केरल में 1.4 प्रतिशत है इसके विपरीत बिहार में 2.4 प्रतिशत मध्य प्रदेश में 2.7 तथा उत्तर प्रदेश में 2.6 प्रतिशत है ।

संक्षेप में, डा0 राजकृष्णन के अनुसार 1950 की शताब्दी में राज्य आय असमानताएँ कुछ कम हुई परन्तु उसके पश्चात् ये बढ़ती चली गई तथा आठ पंचवर्षीय योजनाओं के पश्चात भी ये कम नहीं हो सकी हैं।

राष्ट्रीय आय औद्योगिक उद्‌गम या क्षेत्रीय विभाजनः- भारत की राष्ट्रीय आय में कई प्रकार की आर्थिक क्रियाओं जैसे कृषि, उद्योग, व्यापार, सेवाओं आदि का योगदान होता है इसे ही राष्ट्रीय आय का औद्योगिक उद्‌गम कहा जाता है प्रत्येक देश की राष्ट्रीय आय में इन आर्थिक क्रियाओं का सापेक्षिक महत्व अलग-अलग होता है आर्थिक विकास के स्तर के साथ- साथ इन आर्थिक क्रियाओं के सापेक्षिक योगदान में भी अन्तर आता रहता है। अल्पविकसित देशों में कृषि अथवा प्राथमिक क्षेत्र का सापेक्षिक महत्व अधिक होता है एक देश का जैसे -जैसे आर्थिक विकास होता जाता है उसकी राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान कम होता जाता है तथा उद्योगों या माध्यमिक क्षेत्रों तथा व्यापार आदि टरश्यरी क्षेत्र का योगदान बढता जाता है केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने भारत की राष्ट्रीय आय के औद्यागिक उद्‌गम को नि0 भागों में बांटा हैं।

(1) **प्राथमिक क्षेत्र :** इसके अन्तर्गत कृषि, वन, मछली पालन तथा खानें और खदान संबंधी क्रियाएँ शामिल होती हैं।

(2) **माध्यमिक क्षेत्र :** इस क्षेत्र में उद्योग तथा निर्माण, बिजली, गैस, जलपूर्ति आदि संबंधी क्रियाएँ शामिल होती हैं।

(3) **टरश्यरी क्षेत्र :** इस क्षेत्र में नि. आर्थिक क्रियाएँ शामिल की जाती हैं :-

(i) यातायात, संचार तथा व्यापार (ii) बैंक, बीमा, जायदाद, व्यापारिक सेवाएँ (iii) सार्वजनिक प्रशासन, रक्षा तथा अन्य सेवाएँ (iv) विदेशी व्यापार

देश के आर्थिक विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय की संरचना में परिवर्तन होते हैं इसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्रीय आय में विभिन्न क्षेत्रों में योगदान व तुलनात्मक महत्व में परिवर्तन आ जाता है।

उदाहरण के लिए आर्थिक विकास की दर में व द्धि होने पर क षि का तुलनात्मक योगदान कम हो जाता है तथा उद्योगों और सेवाओं का योगदान बढ़ जाता है अतएव आर्थिक विकास के स्तर के बढ़ने के साथ-2 इन आर्थिक क्रियाओं अर्थात् माध्यमिक एवं टरश्यरी क्षेत्र की क्रियाओं का सापेक्षिक महत्व बढ़ता जाता है अल्पविकसित देशो में क षि अथवा प्राथमिक क्षेत्र का सापेक्षिक महत्व अधिक होता है एक देश का जैसे-2 आर्थिक विकास होता जाता है उसकी राष्ट्रीय आय में क षि का योगदान कम होता जाता है तथा उद्योगों या माध्यमिक क्षेत्रों तथा टरश्यरी क्षेत्र अर्थात् सेवाओं का योगदान बढ़ता जाता है तालिका न. 17 द्वारा विकसित तथा अल्प विकासित देशों की आय में विभिन्न क्षेत्रों के योगदान का अनुमान लगाया जा सकता है :-

Table 17

Percentage Share of Different Sectors in Grass Domestic Product of Factor Cost

देश	प्राथमिक क्षेत्र (क षि)	माध्यमिक क्षेत्र (उद्योग)	टरश्यरी क्षेत्र (सेवाएँ)
यू.के.	1	29	70
जर्मनी	1	31	68
जापान	1	32	66
मिश्र	17	34	49
पाकिस्तान	25	23	51
भारत	27	24	49

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि विकसित देशों में क षि का योगदान कम है तथा उद्योगो और अन्य क्रियाओं का योगदान अधिक है इसके विपरीत अल्पविकसित देशों में क षि का योगदान अपेक्षाक त अधिक है।

भारत में विभिन्न क्रियाओं से प्राप्त राष्ट्रीय आय का भाग समय-2 पर बदलता रहा है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप विभिन्न साधनों से प्राप्त होने वाली कुल आय में जो परिवर्तन हुए है उनका ज्ञान तालिका न. 18 से प्राप्त हो जाता हैः

Table 18
राष्ट्रीय आय में विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिशत योगदान :

Year	Primary Sector %	Secondary Sector %	Tertiary Sector %
1950-51	61	14.5	24.5
1960-61	56.5	17	26.4
1970-71	48.5	20.6	30.9
1976-77	43	22	35
1978-79	45.7	23.8	30.5
1979-80	44.1	22.9	33
1980-81	41.8	21.6	36.6
1981-82	41	21.5	37.5
1982-83	39	22	39
1984-85	38	21.6	40.4
1985-86	37	22	41
1988-89	35	27	38
1991-92	33	27	40
1994-95	31	28	41
1996-97	29	29	42
1997-98	29.2	25	45.8
1998-99	29.1	24.7	46.2
1999-2000	27.5	24.6	47.9
2001-02	27.2	23.7	49.1

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि भारत की राष्ट्रीय आय में पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में आर्थिक विकास के सिद्धान्त कें अनुसार प्राथमिक क्षेत्र का भाग कम होता जा रहा है, माध्यमिक और टरश्यरी क्षेत्र का भाग बढ़ता जा रहा है। भारत की राष्ट्रीय आय में कुछ आर्थिक क्रियाओं के सापेक्षिक योगदान में होने वाला परिवर्तन निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट हो जाता हैः-

Table 19
Gross Domestic Product at Factor Cost by Industrial Origin
(Percentage Distribution)

Year	Agriculture + Allied Sector	Industry Construction and Electricity	Trade and Transport	Banking and Insurance	Community and Personal Service
1976-77	43	22	18	6.5	10.5
1977-78	44.4	23.8	17.7	6.5	7.6
1979-80	44.1	22.9	18	7	8.3
1980-81	41.8	21.6	18.6	6.6	11.4
1982-83	39.5	22	19.9	7	12.3
1983-84	39.9	21.2	19.5	6.9	12.5
1984-85	38	21.6	19.8	7.2	13.4

Contd...

1991-92	33	27	18.5	9.5	12
1992-93	32	27	18	11	12
1994-95	31	28	19	11	11
1996-97	29	29	20.5	11	11
1997-98	29.2	25	21.3	12.2	12.3
1998-99	29.1	24.7	21.3	12.1	12.8
1999-2000	27.5	24.6	21.9	12.7	13.3
2001-02	27.2	23.7	22.8	7.0	11.3

भारत की राष्ट्रीय आय में विभिन्न क्षेत्रों के योगदान में होने वाले प्रतिशत परिवर्तनों के विषय में उपरोक्त तालिकाओं से निम्नलिखित ज्ञान प्राप्त होता है:

(1) क षि, वन, मछली, पालन तथा खनिज :- इन क्रियाओं का राष्ट्रीय आय में अब भी सबसे अधिक योगदान है परन्तु इनका यह योगदान धीरे-2 कम होता जा रहा है 1950-51 में इन क्रियाओं का योगदान 61 प्रतिशत था परन्तु 2001-02 में यह कम होकर 27.2 प्रतिशत रह गया। प्राथमिक क्षेत्र में सबसे अधिक आय क षि क्षेत्र से प्राप्त होती है। क षि क्षेत्र के सपेक्षिक महत्व का कम होना अर्थिक विकास का चिन्ह है।

(2) उद्योग, निर्माण, बिजली: इन क्रियाओं को माध्यमिक क्रियाएँ कहा जाता है भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग पावचां भाग इन क्रियाओं से प्राप्त होता है 1950-51 में इन क्रियाओं का योगदान 14.5 प्रतिशत के लगभग हो गया। इन क्रियाओं में उद्योगो का सबसे अधिक महत्व है माध्यमिक क्रियाओं का राष्ट्रीय आय में 1950-51 में 14.5 प्रतिशत योगदान था, अब यह बढ़कर 2001-02 में 23.7 हो गया।

(3) यातायात तथा व्यापार :- भारत की राष्ट्रीय आय में इन क्रियाओं से प्राप्त होने वाली आय का भाग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इन क्रियाओं से देश की राष्ट्रीय आय का लगभग छठा भाग प्राप्त होता है 1950-51 में राष्ट्रीय आय का 11.6 प्रतिशत भाग इन क्रियाओं से प्राप्त हुआ था 2001-02 में यह भाग बढ़कर 22.8 प्रतिशत हो गया।

(4) बैकिंग और बीमा :- इन क्रियाओं से राष्ट्रीय आय को केवल दसवां भाग प्राप्त होता है राष्ट्रीय आय में इन क्रियाओं से प्राप्त प्रतिशत आय भी बढ़ रही है सन् 1950-51 में राष्ट्रीय आय का 20.4 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। परन्तु 2001-02 में 7.0 प्रतिशत भाग इन क्रियाओं से प्राप्त हुआ।

(5) प्रशासन तथा सेवाएँ :- सरकारी प्रशासन तथा सेवाओं से राष्ट्रीय आय का काफी भाग प्राप्त होता है 1950-51 में इस स्त्रोत से राष्ट्रीय आय का 9.5 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ यह 2001-02 में बढ़कर 1913 प्रतिशत हो गया।

विभिन्न क्षेत्रो के प्रमुख मदो के तुलनात्मक योगदान में परिवर्तन :- योजानाओं की अवधि में भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो में प्रमुख मदों के तुलनात्मक योगदान में काफी परिवर्तन हुए हैं इन परिवर्तनों का वर्णन निम्न ढंग से किया जा सकता है :-

(1) **क षि क्षेत्र में परिवर्तन :** स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय क षि में काफी परिवर्तन हुए है निर्वाह योग्य क षि के स्थान पर व्यवसायिक क षि का महत्व बढ़ गया है। किसान अब स्वयं उपभोग के स्थान पर बाजार में बिक्री करने के लिए अधिक उत्पादन करने लगा है खाद्य फसलों की तुलना में व्यवसायिक फसलों जैसे कपास, जूट आदि का तुलनात्मक महत्व बढ़ गया है। क षि क्षेत्र में खेती करने के पुराने ढंग के स्थान पर नई विधि अपनाई गई है इसके फलस्वरूप हरित क्रान्ति सम्भव हो सकी है।

(2) **औद्योगिक क्षेत्र में परिवर्तन :-** भारत में योजनाओं की अवधि के दौरान औद्योगिक क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं स्वतन्त्रता के बाद देश में कई महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योग जैसे इस्पात, मशीनरी, रसायन, पैट्रोलियम की स्थापान की गई है नई-2 उपभोक्ता वस्तुएँ जैसे फ्रिज, टेलीविजन आदि बनाने के उद्योग स्थापित किए गए है लघु उद्योगों का भी आधुनिकीकरण किया जा रहा है।

(3) **सेवा क्षेत्र में परिवर्तन :-** भारत में सेवा क्षेत्र जैसे यातायात, बैकिंग, बिजली, संचार, सिंचाई आदि में काफी परिवर्तन

हुए हैं देश में बहुउद्देश्यीय योजनाएँ स्थापित की गई है बैकिंग का ग्रामीण क्षेत्र में काफी विकास किया गया है विदेशी व्यापार की संरचना में भी काफी परिवर्तन हुए है अब भारत तैयार माल का काफी मात्रा में निर्यात करने लगा है विदेशों से पूंजीगत पदार्थ तथा कच्चा माल। अधिक मात्रा में आयात किया जाता है।

संक्षेप में पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में देश के विभिन्न क्षेत्रों का राष्ट्रीय आय के योगदान में काफी परिवर्तन हुआ है माध्यमिक तथा टरश्यरी क्षेत्र का योगदान बढ़ता जा रहा है तथा प्राथमिक क्षेत्र का कम होता जा रहा है इससे प्रकट होता है कि भारत आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हो रहा है परंतु अभी भारत की अर्थव्यवस्था एक अल्पविकासित अर्थव्यवस्था है क्योंकि विकसित देशों की तुलना में भारत में क षि क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में योगदान अब भी बहुत अधिक है विकसित देशों की राष्ट्रीय आय में क षि का भाग 5 प्रतिशत से भी कम है जबकि भारत में लगभग 27.5 प्रतिशत है इससे ज्ञात होता है कि भारत अभी भी एक क षि प्रधान देश है इसके विपरीत भारत की राष्ट्रीय आय में उद्योगों का भाग 25 प्रतिशत के करीब है जबकि अन्य देशों में यह 35 प्रतिशत से भी अधिक है इसलिए भारत विकसित देशों में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों से अभी काफी दूर है परन्तु यह धीरे-धीरे इस ओर अग्रसर हो रहा है।

भारत की राष्ट्रीय आय की मुख्य विशेषताएँ : भारत की राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि हमारे देश की राष्ट्रीय आय में निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं :-

(1) **क षि पर अत्याधिक निर्भरता :-** भारत की राष्ट्रीय आय मुख्य रूप से क षि पर निर्भर है और राष्ट्रीय का लगभग 27.7 प्रतिशत भाग क षि से प्राप्त होता है पर क षि एक अनिश्चित धंधा है क्योकि यह अधिकर वर्षा पर निर्भर करता है जो कि स्वयं अनिश्चित है यदि क षि की उन्नति की और विशेष ध्यान दिया जाए तो यह देश के आर्थिक विकास एवं राष्ट्रीय आय की व द्धि में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान देती रहेगी।

(2) **प्रति व्यक्ति आय की व द्धि दर :-** जनसंख्या की व द्धि तीव्र गति से हो रही है जबकि योजनाकाल में राष्ट्रीय आय की व द्धि की दर 4.1 प्रतिशत रही है इसका परिणाम यह रहा है कि प्रति व्यक्ति आय की व द्धि दर केवल 1.9 रही है यही कारण है कि अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय एक भारतीय से लगभग 68 गुणा अधिक है इसी भाँति एक अंग्रेज की प्रति व्यक्ति आय से 50 गुणा अधिक है।

(3) **राष्ट्रीय आय का असमान वितरण :-** दुर्भाग्यवंश हमारे देश में राष्ट्रीय आय का वितरण समान नहीं है प्रो. शाह और खम्बारा के अनुसार देश की राष्ट्रीय आय का 30 प्रतिशत भाग केवल 5 प्रतिशत लोगों के हाथों में है 34 प्रतिशत भाग 35 प्रतिशत लोगों के हाथ में है 36 प्रतिशत भाग केवल 60 प्रतिशत जनसंख्या के हाथ में केन्द्रित रहता है योजना आयोग के अनुसार, भारत की 58 प्रतिशत जनसंख्या की 52.5 प्रतिशत आय प्राप्त होती है तथा 42 प्रतिशत जनसंख्या को केवल 17.5 प्रतिशत राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है।

(4) **राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग खाद्य पदार्थो पर व्यय किया जाता है :-** केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के मतानुसार 2000-01 में भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 53 प्रतिशत भाग खाद्य पदार्थो पर व्यय किया गया है राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में उपभोक्ता व्यय का 600 प्रतिशत भाग खाद्य-पदार्थो पर खर्च होता है, जबकि शहरी क्षेत्रों में खाद्य पदार्थो पर किया जाने वाला व्यय कुल आय का 50 प्रतिशत है इससे हमारे आर्थिक पिछड़ेपन का प्रमाण मिलता है यही कारण है कि हमारे देश में बचत एवं निवेश की दर बहुत कम है।

(5) **निम्न जीवन स्तर :-** भारत की राष्ट्रीय आय का अध्ययन इस तथ्य को भी बताता है कि पिछले कई वर्षो से राष्ट्रीय आय बढ़ने पर भी लोगो का जीवन स्तर बहुत कम बढ़ा है लोगों की मौद्रिक आय तो अवश्य ही बढ़ी है पर कीमत स्तर के बढ़ने से वास्तविक आय में अधिक व द्धि नहीं हुई।

(6) **कम विकास की दर :-** राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह बात भी स्पष्ट होती है कि हमारे देश के विकास की दर अन्य देशों की तुलना में बहुत नीची रही है यहां विकास की दर 2000-01 में 6.5 प्रतिशत रही है जबकि आयरलैण्ड की 8.5 प्रतिशत रही है।

(7) **प्रत्यक्ष करो की अपेक्षा परोक्ष करों से अधिक आय की प्राप्ति :-** राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार भारत सरकार को प्रत्यक्ष करो जैसे आयकर की अपेक्षा परोक्ष करों जैसे उत्पादन कर से अधिक आय प्राप्त हुई है इस समिति के अनुसार सरकार को कुछ करों से प्राप्त कुल आय का 75 प्रतिशत भाग परोक्ष करों से तथा 25 प्रतिशत भाग प्रत्यक्ष करो से प्राप्त

होता है अतः भारत में परोक्ष करों के अधिकता इस बात की पुष्टि करती है कि हमारी अर्थव्यवस्था अविकसित अर्थव्यवस्था है।

(8) विभिन्न क्षेत्रों की असमान विकास दरें :- अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का विकास अलग-2 दर पर हुआ है। प्राथमिक क्षेत्र की विकास अलग-2 दर पर हुआ है प्राथमिक क्षेत्र की विकास दर योजनाओं की अवधि (1951-2001) में 2.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष, माध्यमिक क्षेत्र की विकास दर लगभग 6.3 प्रतिशत तथा टरश्यरी क्षेत्र की विकास दर भी लगभग 7 प्रतिशत रही है इससे सिद्ध होता है की क षि की निम्न विकास दर भारतीय अर्थव्यवस्था की गति को धीमा रखे हुए है।

(9) शहरी और ग्रामीण क्षेत्रो का आय स्तर :- अखिल भारतीय ग्रामीण परिवार सर्वेक्षण के अनुसार शहरी क्षेत्रों में आय का स्तर ग्रामीण क्षेत्रों से लगभग दुगना है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों का विकास कम हुआ है।

(10) क्षेत्रीय असमानता :- प्रति व्यक्ति आय के अनुमान से पता चलता है कि भारत में क्षेत्रीय असमानता कम नहीं हुई, केवल पांच राज्यों की औसत प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से अधिक है, बाकी सब राज्यों की कम है। सबसे अधिक आय गोवा तथा सबसे कम बिहार की है पश्चिम बंगाल का स्थान गुजरात ने ले लिया है। महाराष्ट्र का दूसरा स्थान तथा पंजाब का तीसरा स्थान है जबकि तमिलनाडु का चौथा स्थान है 1960-61 में महाराष्ट्र का पहला स्थान था।

(11) हरित क्रान्ति का प्रभाव :- पंजाब और हरियाण की प्रति व्यक्ति आय में होने वाली व द्धि का प्रमुख कारण हरित क्रान्ति है इन राज्यों ने क षि क्षेत्र, विशेष रूप से गेहूँ बाजरा और चावल के उत्पादन में काफी प्रगति की है।

(12) सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र :-भारत की कुल राष्ट्रीय आय में सार्वजनिक क्षेत्र का भाग केवल 25.6 प्रतिशत है तथा निजी क्षेत्र का भाग 74.4 प्रतिशत है इससे ज्ञात होता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र की तुलना में निजी क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण है।

(13) टरश्यरी क्षेत्र के योगदान में व द्धि :- भारत की राष्ट्रीय आय में योजनाकाल में टरश्यरी क्षेत्र के योगदान में निरन्तर व द्धि हो रही है 1950-51 में टरश्यरी क्षेत्र का योगदार 24.5 प्रतिशत माध्यमिक क्षेत्र का 14.5 प्रतिशत तथा प्राथमिक क्षेत्र का योगदान 61 प्रतिशत था परन्तु 2001-02 में इन क्षेत्रों का योगदान क्रमश 49.1 प्रतिशत 23.7 प्रतिशत तथा 27.2 प्रतिशत हा गया इस प्रकार टरश्यरी क्षेत्र का योगदान सबसे अधिक है।

भारत की राष्ट्रीय आय के कम होने के कारण

अन्य देशों की तुलना में भारत की राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति आय बहुत कम है इसके मुख्य कारण निम्न हैं।

आर्थिक कारण :- भारत की प्रति व्यक्ति आय कम होने के मुख्य आर्थिक कारण यह हैः-

(1) बचत एवं निवेश की कम दर :- भारत में लोगों की बचत करने की इच्छा एवं शक्ति तथा निवेश प्रेरणा कम है ऐसा अनुमान है कि इस समय राष्ट्रीय आय का लगभग 22.3 प्रतिशत भाग लोगो द्वारा बचाया जा रहा है और 23.3 प्रतिशत निवेश पर लगाया जा रहा है। यद्यपि बचत एवं निवेश की दर योजनाओं की अवधि में काफी बढ़ गई है परन्तु दूसरे देशों की तुलना में कम है। भारत का पूँजी-उत्पाद अनुपात भी अधिक है।

(2) देश में राष्ट्रीय आय का असमान वितरण :- भारत में राष्ट्रीय आय का वितरण भी बहुत असमान है इस असमानता का मुख्य कारण भारत सरकार की दोषपूर्ण कर नीति है योजनाओं के फलस्वरूप पिछले 50 वर्षो में भारत की राष्ट्रीय आय स्थिर कीमतों पर 4 गुणा और प्रति व्यक्ति आय में 2 गुणा व द्धि होने पर भी लोगों के जीवन स्तर में कोई विशेष व द्धि नहीं हो पाई है।

(3) जनसंख्या में तीव्र गति से व द्धि :- भारत की जनसंख्या पिछले कई वर्षो से तीव्र गति से बढ़ रही है। पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने से देश की राष्ट्रीय आय में जो थोड़ी व द्धि हुई भी है। वह जनसंख्या की तीव्र व द्धि के कारण प्रति व्यक्ति औसत आय में कोई विशेष व द्धि नहीं कर पाई। अतः पिछले चालीस वर्षो से राष्ट्रीय आय में तो व द्धि हुई परन्तु प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में बहुत कम व द्धि हुई है

(4) क षि पर अत्याधिक निर्भरता :- क षि एक अनिश्चित व्यवसाय है (भारत में अधिकाँश जनसंख्या क षि व्यवसाय में लगी हुई है। क षि पूर्णतः प्रक ति पर निर्भर है। यदि समय पर वर्षा न हो तो क षि से कुछ भी प्राप्त नही होगा।

(5) अपर्याप्त औद्योगित विकास :- भारत की राष्ट्रीय आय के कम होने का एक प्रमुख कारण उद्योगों का अपर्याप्त विकास है। यहाँ पर भारी तथा आधारभूत उद्योगों की कमी है। इनका विकास सही ढंग से हो ही नहीं सका है।

(6) **यातायात तथा बिजली का अपर्याप्त विकास :-** भारत में यातायात, परिवहन तथा बिजली का समुचित विकास न होने के कारण देश के आन्तरिक व्यापार एवं वाणिज्य विस्तार में कई रूकावटें उपस्थित हो रही हैं। यातायात के साधनों व बिजली, कोयले तथा पैट्रोल की अपर्याप्त उपलब्धि के कारण उद्योगो की विकास दर कम है। इसलिए राष्ट्रीय आय की व द्धि दर भी कम है।

(7) **देश के विभिन्न क्षेत्रों का असंतुलित विकासः-** पंचवर्षीय योजनाओं के आधीन भी देश के विभिन्न क्षेत्रो का असंतुलित विकास हुआ है। कई क्षेत्रों के साधनों का तो उचित प्रयोग किया गया है। इसके फलस्वरूप उन क्षेत्रो के साधनों का तो उचित प्रयोग किया गया है। इसके फलस्वरूप उन क्षेत्रों की आर्थिक दशा पहले से अधिक अच्छी हो रही है। जैसे पंजाब हरियाणा। किंतु दूसरी ओर कई ऐसे राज्य हैं जो अभी तक पिछड़ी दशा में है। जैसे - राजस्थान, उड़ीसा, बिहार, मध्यप्रदेश। इस असंतुलित क्षेत्रीय विकास के फलस्वरूप भी राष्ट्रीय आय अपेक्षाक त कम है।

2 सामाजिक कारण :

(1) **सामाजिक संस्थाएँ :** भारत में जाति प्रथा एवं संयुक्त परिवार प्रणाली जैसी कई सामाजिक संस्थाए भी अधिक विकास में बाधक सिद्ध होती हैं। इनका हमारी राष्ट्रीय विकास दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(2) **भाग्यवादिता :-** भारत के नागरिकों में पाई जाने वाली भाग्यवादिता, रूढ़िवादिता तथा निराशावाद की प्रव ति इनमें आर्थिक प्रगति व सुधार की भावना जाग त नहीं करती। लोगों की धार्मिक प्रव ति भौतिक प्रगति को हतोत्साहित करती है।

(3) **निरक्षतरा :-** हमारे देश के लोगो की निरक्षरता एवं अज्ञानता भी देश के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी हैं। क्योंकि यह निरक्षता व अज्ञानता लोगों में आगे बढ़ने की प्रेरणा को समाप्त कर देती है, इसिलए राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में ये लोग पूर्ण योगदान नहीं दे पाते।

3 राजनैतिक कारण :-

भारत के पिछड़ेपन तथा कम राष्ट्रीय आय का उत्तरदायित्व काफी सीमा तक ब्रिटिश शासन पर निर्भर है। इन ब्रिटिश शासकों ने अपने स्वार्थ हेतु भारत को आर्थिक द ष्टिकोण से विकसित नहीं होने दिया। वे लोग यहाँ से कच्चे माल का निर्यात करते रहे और इग्लैंड से तैयार माल लाकर बेचते रहे, जिस से हमारे देश में उद्योगों का विकास न हो सका। स्वतंत्रता के पश्चात् भी वोट लेने के विचार से सरकार स्वंय ही जाति प्रथा आदि को बढ़ावा देती रही है। धनी किसानों, उद्योगपतियों, स्मगलरों, चोरबाजारियों पर नियंत्रण नहीं रखा गया हैं। इन राजनीतिक कारणो का भी राष्ट्रीय आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त केन्द्र तथा राज्य सरकारों की अस्थिरता के कारण आर्थिक विकास पर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सका।

भारत की राष्ट्रीय आय बढ़ाने के लिए सुझाव :

भारत की राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रयोग में लाए जा सकते हैं।

(1) **बचत एंव निवेश की दर में व द्धि की जाएः-** देश की राष्ट्रीय आय में आवश्यक व द्धि लाने के लिए घरेलू बचत एवं निवेश की दरो में व द्धि की जानी चाहिए, यह राष्ट्रीय आय बढ़ाने का सबसे उत्तम उपाय है। निवेश बढ़ाने तथा पूंजी उत्पाद अनुपात कम होने के फलस्वरूप आर्थिक विकास की गति स्वयमेव तीव्र हो जाएगी। नौवी योजना का लक्ष्य राष्ट्रीय आय की व द्धि दर को बढ़ाकर 6.5 प्रतिशत करना है इसके लिए निवेश की दर 27 को बढ़ाकर 28.2 प्रतिशत करना है तथा पूंजी उत्पाद अनुपात को 4.2 से कम करके 4 करना है।

(2) **धन के वितरण की विषमता को दूर किया जाए :-** राष्ट्रीय आय बढ़ाने के संबंध में यह सुझाव भी प्रस्तावित किया जाता है कि देश में लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए धन के वितरण की विषमता को यथासंभव दूर किया जाए। इस सुझाव हेतु सरकार को अपनी रोपण तथा धन के वितरण की नीति को इस प्रकार समंवित करना होगा कि एक ओर सरकार की आर्थिक योजनाओं को चलाने के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध हो सके और दूसरी ओर धन के वितरण की असामनता कम से कम हो।

(3) **क षि विकास किया जाए :-** पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय का शीघ्र विकास करना

होगा। इसके लिए आवश्यक है कि बेकार भूमि प्रयोग लाई जाए, अधिक क षि क्षेत्र में सिंचाई की व्यवस्था की जाए। उत्तम खाद व उर्वरक, उत्तम बीज, उत्तम किस्म के औजार व उत्तम बीज का प्रयोग करके उत्पादकता को बढ़ाना चाहिए।

(4) **जनसंख्या की व द्धि पर नियंत्रण किया जाए:-** पंचवर्षीय योजनाओ में निर्धारित राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जनसंख्या की व द्धि पर नियंत्रण रखना होगा। अतः सरकार को परिवार नियोजन कार्य की गति और भी तीव्र करनी होगी ताकि जनसंख्या की तीव्रगति मे होने वाली व द्धि पर रोक लगाई जा सके।

(5) **उद्योगों का विकास किया जाए :-** उद्योगों की स्थापना पर अधिक बल दिया जाए। देश की राष्ट्रीय आय में आशातीत व द्धि के लिए छोटे व बड़े उद्योगो का विकास किया जाए। बड़े उद्योगों में उपभोग पदार्थ उद्योगो की तुलना में भारी एवं आधारभूत उद्योगो की ओर ध्यान दिया जाए, अल्पकाल में छोटे उद्योगो की ओर अधिक ध्यान दिया जाए, क्योंकि छोटे उद्योगो में थोड़े ही समय में उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

(6) **यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास किया जाए :-** यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास किया जाए ताकि देश की आर्थिक प्रगति की गति में तीव्रता लाई जा सके (ये साधन देश में व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योगो के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। इनके विपरीत होने का राष्ट्रीय आय पर अप्रत्यक्ष रूप से अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

(7) **देश के समस्त क्षेत्रो का संतुलित विकास किया जाए:-** विकास के द ष्टिकोण से यह भी आवश्यकत है कि देश के सभी क्षेत्रो उनके साधनों, उनकी सम्पतियों तथा मानवशक्ति का उचित प्रयोग किया जाए, ताकि देश के समस्त क्षेत्रो का संतुलित विकास हो सके। संतुलित विकास होने से समस्त क्षेत्रों में यह प्रयास रहेगा कि वे अधिक से अधिक परिश्रम करके देश की राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति आय बढ़ाने में योगदान दे सकें।

(8) **स्वास्थ्य, कार्यक्षमता एवं रोजगार की सुविधाओं में व द्धि की जाए :-** देश को अधिक स्वास्थ्य सेवा, आवास, प्रशिक्षण, रोजगार की सुविधाएं प्रदान की जाए ताकि देश के लोगो का जीवनस्तर ऊँचा हो सके। इससे मानव पूंजी अधिक कुशल होगी तथा राष्ट्रीय आय में व द्धि होगी।

(9) **शिक्षा :-** राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए लोगो को शिक्षित करने की भी आवश्यकता है। शिक्षा व्यक्ति, अशिक्षित व्यक्ति की तुलना में अधिक कुशलता से काम कर सकता है और राष्ट्रीय आय बढ़ाने में अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है। इसमे विशेष रूप से तकनीकी शिक्षा एवं स्त्रियो की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

(10) **बैंको का विकास :-** देश के उद्योग, व्यापार तथा क षि का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि बैकिंग तथा साख का विकास किया जाए, इससे बचत तथा निवेश में व द्धि होगी।

(11) **प्राक तिक साधनों का उचित प्रयोग :-** राष्ट्रीय आय बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि देश में खनिज पदार्थो, वन, जल आदि प्राक तिक साधनों का उचित प्रयोग किया जाए।

(12) **विदेश व्यपार में व द्धिः-** भारत की राष्ट्रीय आय के लिए यह भी आवश्यक है कि विदेशी व्यापार बढ़ाया जाए अर्थात् देश से निर्यात् अधिक किए जाए।

अध्याय 3
बचत एवं विनियोग
(Saving and Investment)

"Saving and Investment are necessarily equal in amount for the community as a whole, being merely different aspects of the samething" J.M. Keynes.

हम यह जानते है कि आय तथा रोजगार का निर्धारण प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है। कुल प्रभावपूर्ण माँग के दो अंग हैं-उपभोग पदार्थो के लिए माँग तथा पूँजीगत अथवा विनिमय-पदार्थो के लिए मांग। केन्स के अनुसार, "उपभोग प्रव ति सामान्यता अल्पकाल में स्थिर रहती है। इसलिए उपभोग में इतनी अधिक व द्धि नही हो पाती जितनी कि आय में व द्धि होती है। जो आय उपभोग पर व्यय नहीं की जाती, वह बचत है। अर्थव्यस्था में संतुलन तभी स्थापित होता है जब कुल आय और कुल व्यय एक दूसरे के बराबर हो। इस प्रकार, संतुलन की स्थापना तभी होगी जब उपभोग से बचायी हुई आय (अर्थात बचत) को विनियोग पर व्यय कर दिया जाए। राष्ट्रीय आय के संतुलन स्तर पर बचत और विनियोग का आपस में बराबर होना आवश्यक है। प्रो. केन्स की विचार धारा के प्रभाव में अर्थशास्त्र में बचत तथा विनियोग की धाराणाओं को बहुत अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। वास्तव में, बचत तथा विनियोग का एक दूसरे से सम्बन्ध इतना घनिष्ठ होता है कि इन दोनो का अध्ययन प्रायः एक साथ किया जाता है।

बचत
(Saving)

According to Prof. Keynes "Saving means the excess of income over expenditure of consumption."

"उपभोग पर किये गये व्यय से बची आय ही बचत है" दूसरे शब्दों मे, बचत आय का वह शेष है जो उपभोग संबंधी व्यय करने के पश्चात् बच जाता है। इस प्रकार

बचत (S)= आय (Y)- उपभोग (C)

इस परिभाषा का गुण यह है कि व्यक्तिगत बचत तथा सामाजिक अथवा राष्ट्रीय बचत पर समान रूप में लागू होती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि व्यक्तिगत बचत तथा सामाजिक बचत की परिभाषा एक ही है और सामाजिक बचत व्यक्तिगत बचतों का विशुद्ध परिणाम है, परन्तु ऐसा होते हुए भी दोनो प्रकार की बचतो के प्रभाव अलग-2 होते है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री व्यक्तिगत बचत में व द्धि को ही कुल सामाजिक बचत का आधार मानते थे। वे न केवल व्यक्तिगत बचत को प्रोत्साहन देने के पक्ष में थे, अपितु इसे व्यक्ति अथवा समाज का महान गुण समझते थे। उन्होने बचत को विनियोग का निर्धारक माना और इन दोनो को एक दूसरे से अलग नही समझा। इसके विपरित J.A Hobson तथा Aftalion आदि अर्थशस्त्रियों ने बचत का विरोध किया। उनका विचार था कि बचत अर्थव्यवस्था में न्यून उपभोग की स्थिति उत्पन्न करती है जिससे माँग में कमी की समस्या उत्पन्न होती है।

परिणामस्वरूप अति उत्पादन, बेरोजगारी तथा अर्थिक संकट की स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती है। लार्ड केन्स ने General theory में बचत से संबधित प्रतिष्ठित विचारधारा का खंडन किया, परन्तु साथ ही यह भी बताया कि बचत का अच्छा अथवा बुरा होना उसके उपयोग पर निर्भर करता है। यदि बचत की गई राशि का विनियोग कर लिया जाता है तो प्रभावपूर्ण मांग में कमी नही होती और बचत करने से समाज को कोई हानि नहीं होती। परन्तु यदि इसका विनियोग नही किया जाता और यह संचित धन के रूप में रखी रहती है तो इसके परिणाम हानिकारक होते है।

केन्स ने बताया है कि एक व्यक्ति के द ष्टिकोण से बचत करना एक गुण अथवा अच्छाई हो सकती है, परन्तु सामजिक द ष्टिकोण से बचत एक बुराई है। किसी व्यक्ति द्वारा उपभोग व्यय में कमी करके अपनी निश्चित आय में से अधिक

बचत कर लेने पर उसकी व्यक्तिगत बचत तो बढ़ जाती है परन्तु सामजिक बचत में कोई व द्धि नही होती। वास्तव में एक व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय दूसरों की आय होता है। एक निश्चित आय में से एक व्यक्ति द्वारा अधिक बचत कर लेने पर अन्य व्यक्तियों की आय उतनी ही कम हो सकती है जिसका उनकी बचत करने की क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार, केन्स के विचार मे, एक व्यक्ति जितनी अधिक बचत करता है, समाज में अन्य व्यक्ति उतनी ही कम बचत कर पाते हैं। परिणामस्वरूप, व्यक्तिगत बचत बढ़ने पर सामजिक बचत में व द्धि नही होती है। स्मरण रहे कि केन्स का बचत से अभिप्राय सामूहिक अथवा सामाजिक बचत से था। समस्त राष्ट्रीय बचत में कुल व्यक्तिगत बचतों के योगफल के अतिरिक्त कुल व्यवसायिक बचत तथा सरकारी बचत भी सम्मिलित होती है।

बचत तथा आयः- सैद्धान्तिक रूप में, बचत राष्ट्रीय आय का ही एक भाग है। केन्स के अनुसार, बचत आय का फलन है (saving is the function of income)। इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि S=F(y)। दुसरे शब्दो में, आय में परिवर्तनों के साथ-2 बचत मे भी व द्धि अथवा कमी होती है। बचत की मात्रा बचत प्रव ति पर निर्भर करती है। बचत प्रव ति का अनुमान उपभोग प्रव ति के आधार पर लगाया जाता है। उपभोग प्रव ति $\frac{c}{y}$ को एक में से घटा देने पर बचत प्रव ति $\frac{s}{y}$ का पता लग जाता है। इस प्रकार $\frac{s}{y} = 1 - \frac{c}{y}$

स्पष्ट है कि उपभोग प्रव ति तथा बचत प्रव ति एक दुसरे पर अश्रित होती है। जैसाकि हम देख चुके है, केन्स के अनुसार, अल्पकाल मे उपभोग प्रव ति आय का एक स्थिर फलन होती है। इस प्रकार, बचत प्रव ति भी आय का एक स्थिर फलन ही होगी। बचत प्रव ति स्थिर रहते हुए भी आय में व द्धि होने पर बचत में भी व द्धि होती है। इस प्रकार, सीमान्त बचत प्रव ति $\frac{\Delta s}{\Delta y}$ सदा शुन्य से अधिक, परन्तु इकाई से कम रहती है अर्थात् $1 < \frac{\Delta s}{\Delta y} > 0$

सैद्धान्तिक रूप में, बचत तथा उपभोग का स्तर राष्ट्रीय आय के स्तर पर निर्भर करता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में यह देखा गया है कि कम आय वाले कुछ देशों में भी बचत-प्रव त्ति काफी अधिक है जबकि अधिक आय वाले कुछ देशों में बचत-प्रव त्ति कम है। यह भी आवश्यक नहीं है कि आय में व द्धि के साथ-साथ बचत प्रव त्ति में भी व द्धि हो। इसलिए ऐसा सोचना गलत है कि बचत की मात्रा किसी एक तत्व पर निर्भर करती है। उस पर विभिन्न तत्वों का प्रभाव पड़ता है। उपभोग प्रव त्ति को प्रभावित करने वाले व्यक्तिनिष्ठ (subjective) तथा वस्तुनिष्ठ (objective) तत्वों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। बचत प्रव त्ति पर भी उन सभी तत्वों की प्रभाव पड़ता है।

विनियोग
(INVESTMENT)

विनियोग की परिभाषा देते हुए प्रो. केन्स ने General Theory में लिखा है कि "विनियोग से हमारा अभिप्राय एक काल के भीतर होने वाली उत्पादक क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप पूंजीगत वस्तुओं के मूल्य में होने वाली चालू व द्धि से होना चाहिए। ("--- we must mean by this (investment) the current addition to the value of the capital equipment which has resulted from the productive activity of the period — Keynes) डडले डिलार्ड ने केन्स द्वारा दी गई परिभाषा को अत्याधिक सरल शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है कि "वास्तविक पूंजीगत परिसम्पत्तियों के वर्तमान स्टॉक में व द्धि विनियोग है।" (Investment is the net addition to the existing stock of real capital assets" — Dudley Dillard) इस प्रकार विनियोग से हमारा अभिप्राय वास्तविक पूंजी कोष में व द्धि से होता है। दूसरे शब्दों में, विनियोग आय का वह भाग है जो पूंजीगत वस्तुओं अर्थात् और अधिक आय कमाने वाली वस्तुओं के रूप में बचाकर रखा जाए। नए कारखानों की स्थापना, पहले से स्थापित व्यवसायों की क्षमता में व द्धि, परिवहन के साधनों का विस्तार, कारखानों तथा कार्यालयों के भवनों का निर्माण आदि कार्य विनियोग कहे जाते हैं।

बचत के समान विनियोग का अध्ययन भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक द ष्टिकोणों से किया जा सकता है। व्यक्तिगत विनियोग के दो रूप हो सकते हैं- वित्तीय तथा वास्तविक। जब कोई व्यक्ति अपनी बचत का प्रयोग किसी विद्यमान कम्पनी के अंश अथवा सरकारी ऋणपत्रों व ब्रॉण्डों के खरीदने के लिए करता हे तो यह वित्तीय विनियोग कहा जाएगा। इसके विपरीत, यदि वह व्यक्ति किसी विद्यमान कम्पनी के पुराने शेयर खरीदने की बजाए अपनी बचत का प्रयोग नई फैक्टरी अथवा नये मकान आदि के निर्माण के लिए करता है तो इससे वास्तविक पूंजी की मात्रा में व द्धि होगी और इसे विनियोग कहा जाएगा। वित्तीय विनियोग के परिणाम-स्वरूप समाज में वास्तविक पूँजी की मात्रा में कोई व द्धि नहीं होती। यदि एक व्यक्ति शेयर खरीदता है तो कोई अन्य व्यक्ति उसे बेचता भी है जिससे समाज में कुल विनियोग की मात्रा में कोई व द्धि नहीं होती। वास्तविक विनियोग का प्रमुख लक्षण पूंजीगत आदेयों अथवा माल की मात्रा तथा स्टाक में व द्धि करना है।

प्रो. केन्स ने वास्तविक विनियोग को ही महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि इसमें व द्धि होने पर समाज की उत्पादन-शक्ति में व द्धि होती है तथा रोजगार का स्तर ऊँचा होता है। सामाजिक द ष्टिकोण से विनियोग तभी महत्वपूर्ण होगा जब किसी नई औद्योगिक कम्पनी, नयो स्कूल, पुल, अस्पताल, फैक्टरी आदि का निर्माण होने के कारण देश की वास्तविक पूंजी की मात्रा में व द्धि होती है तथा समाज की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है। इसलिए प्रो. केन्स ने विनियोग शब्द का प्रयोग वास्तविक विनियोग के अर्थ में किया है। किसी देश में किसी समय कुल वास्तविक विनियोग की मात्रा अनेक प्रकार की पूंजी की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है, जैसे (1) स्थिर यंत्र, मशीने तथा अन्य अचल पूँजी (2) कच्चे माल का स्टॉक तथा अन्य चल पूंजी। (3) आवासिक भवन (4)ऽसार्वजनिक निर्माण कार्य तथा (5) शुद्ध विदेशी विनियोग।

कुल तथा शुद्ध विनियोग :- कुल विनियोग से अभिप्रायः किसी दिये हुए समय में अर्थव्यवस्था में कुल वास्तविक विनियोग की मात्रा से होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है संपूर्ण वास्तविक विनियोग का उपयोग उत्पादन-क्षमता में व द्धि करने के लिए नहीं किया जाता है। इसका कुछ भाग उत्पादन-सज्जा, मशीनों आदि की टूट-फूट तथा अचल पूंजी की घिसावट को ध्यान में रखते हुए अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन क्षमता को समान बनाये रखने के लिए उपयोग किया जाता है। इस प्रकार कुल विनियोग का कुछ भाग प्रतिस्थापन माँग का रूप धारण करता है।

शुद्ध विनियोग कुल विनियोग का वह भाग है जो अर्थव्यवस्था की कुल विद्यमान उत्पादन -क्षमता में हुई शुद्ध व द्धि का सूचक है। कुल विनियोग तथा शुद्ध विनियोग में समानता तभी संभव है जब किसी अर्थ-व्यवस्था में टूट-फूट तथा घिसावट आदि के कारण पुरानी मशीनों तथा उत्पादन सज्जा का प्रतिस्थापन करने की कोई समस्या न हो। परन्तु चूँकि वास्तविक जगत में ऐसा नहीं होता, इसलिए शुद्ध विनियोग के समान न होकर उससे कम होता है।

नियोजित तथा अनियोजित वास्तविक विनियोग :- उत्पादन में व द्धि तथा भविष्य में लाभ-प्राप्ति के उद्देश्य से अर्थव्यवस्था में पूँजीगत पदार्थो का निर्माण जब सोच-विचार कर किया जाता है तो यह नियोजित अथवा ऐच्छिक विनियोग होता है। इसके विपरीत, बाजार में बिक्री के अभाव में जब विक्रेताओं के पास उत्पादित वस्तुओं का अविक्रित स्टॉक रह जाता है अथवा केन्स के शब्दों में अधिक मात्रा में तरल पूंजी एकत्र हो जाती है तो यह अनियोजित अथवा अनैच्छिक विनियोग (Unplanned real Investment) है। यद्यपि कुछ अर्थशास्त्रियों ने विनियोग के अन्तर को महत्वपूर्ण माना है, केन्स के विचार में इस अंतर का कोई विशेष महत्व नहीं है।

प्रेरित तथा स्वायत्त विनियोग : प्रत्यक्ष रूप से आय अथवा उत्पादन के परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होने वाला विनियोग प्रेरित विनियोग (Induced Investment) होता है। समाज में व्यक्तियों की उपभोग आय (disposable Investment) में व द्धि होने पर वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए प्रभावपूर्ण मांग में व द्धि होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए उद्यमकर्त्ता विनियोग को बढ़ाने के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार, प्रेरित विनियोग की मात्रा आय में व द्धि अथवा कमी के साथ-साथ बढ़ती घटती रहती है। दूसरे शब्दों में, प्रेरित विनियोग आय सापेक्ष (Elastic) होता है। अल्पकाल में पूंजी उत्पादन अनुपात के स्थिर होने के कारण आय तथा प्रेरित विनियोग के मध्य एक सीधा अनुपाती संबंध होता है।

स्वायत्त विनियोग (autonomous Investment) आय के परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता है अर्थात् आय निरपेक्ष होता है। वह पूंजी व्यय जो प्रत्यक्ष रूप में समर्थ मांग में होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता है, स्वायत्त विनियोग कहलाता है। नवीन प्रक्रियाएं, अविष्कार, जनसंख्या में व द्धि, युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियां, श्रम आंदोलन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, दीर्घकालीन संभावनाएं आदि प्रमुख कारण स्वायत्त विनियोग की मात्रा को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार, आय की मात्रा स्थिर रहने पर स्वायत्त विनियोग में परिवर्तन हो सकता है तथा आय में परिवर्तन होने पर भी स्वायत विनियोग

की मात्रा स्थिर रह सकती है। आर्थिक विस्तार के उद्देश्य से सड़कों का निर्माण, जन-कल्याण के लिए अस्पतालों का निर्माण, अनुसंधान व विकास पर किया जाने वाला दीर्घकालीन विनियोग स्वायत्त विनियोग के उदाहरण हैं।

विनियोग का निर्धारण : प्रेरित विनियोग आय के स्तर तथा आय में परिवर्तनों, उपभोग-प्रव त्ति, अचल पूंजी के स्टॉक आदि आतंरिक तत्वों द्वारा प्रभावित होता है जबकि स्वायत्त विनियोग बाह्य तत्वों से प्रभावित होता है। युद्धकालीन अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था में स्वायत्त विनियोग की मात्रा लाभ-प्राप्ति की आशा से निर्धारित ने होकर अन्य तत्वों द्वारा निर्धारित होती है। अर्थव्यवस्था में कुल विनियोग प्रेरित तथा स्वायत्त विनियोग का योगफल होने के कारण इसकी मात्रा, स्पष्ट रूप से, आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के तत्वों द्वारा निर्धारित होती है।

विनियोग की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व बचत को प्रभावित करने वाले तत्वों से सर्वथा भिन्न है। प्रो. केन्स के विचारानुसार अर्थव्यवस्था में विनियोग की दर मुख्यतः दो प्रधान शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है - ब्याज दर तथा पूंजी की सीमान्त क्षमता। ब्याज दर के संबंध में केन्स ने General Theory में स्पष्ट रूप से कहा है कि विनियोग इतना अधिक ब्याज सापेक्ष नहीं है जितना कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था। विशेष रूप से मंदीकाल में केवल ब्याज दर में कमी करके विनियोग को नहीं बढ़ाया जा सकता है। केन्स ने ब्याज दर की तुलना उस कुत्ते से की है जो जल की गहराई में फंसे हुए कलहस को पानी की सतह पर खींच लाने में असमर्थ सिद्ध होता है। केन्स के विचारानुसार, विनियोग के लिए पूंजी मांग को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व पूंजी की सीमान्त क्षमता ही है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि पूंजी की सीमान्त क्षमता के निर्धारण में व्यावसायिक आंशसाओं का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है। अल्पकालीन आंशसाएं मूल्य, लाभ, मांग, वेतन व ब्याज-दर आदि आंतरिक तत्वों द्वारा प्रभावित होती हैं, जबकि दीर्घकालीन आंशसाओं पर युद्ध, जनसंख्या की व द्धि, अविष्कार, नवीन प्रक्रिया, विदेशी व्यापार, राजनीतिक परिस्थिति, ऋतु आदि अनेक बाह्य कारणों का प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि विनियोग उन तत्वों से प्रभावित होता है जिनका बचत से कोई विशेष संबंध नहीं होता है।

बचत तथा विनियोग की समानता
(SAVING - INVESTMENT EQUALITY)

प्रो. केन्स ने General Theory में बताया है कि भले ही बचत तथा विनियोग की क्रियाएं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा की जाती हों और उनके उद्देश्य तथा निर्णय भी भिन्न-भिन्न हों, तो भी समाज में बचत और विनियोग एक-दूसरे के बराबर होते हैं। केन्स द्वारा बचत और विनियोग की दी गई परिभाषाओं से ही बचत तथा विनियोग की समानता स्पष्ट हो जाती है। विनियोग से अभिप्राय उपभोग वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर किये गये व्यय की राशि से है, इसलिए विनियोग (I) राष्ट्रीय आय (Y) तथा राष्ट्रीय उपभोग (c) के अन्तर के बराबर है, अर्थात् $I = Y-C$, चूंकि आय और उपभोग के अन्तर को बचत कहते हैं इसलिए $S = Y - C$। विनियोग तथा बचत दोनों ही Y-C के बराबर हैं। दूसरे शब्दों में ($Y = C+I$) यदि Y के स्थान पर C+I लिखा जाए, तो

$$S = (C+I) - C$$

$$S = C + I - C \qquad \therefore \ S = I$$

बचत और विनियोग की समानता को एक अन्य समीकरण के द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है।

$$Y = C + I$$

$$Y = C + S$$

$$\therefore \quad C + I = C + S$$

$$\therefore \quad I = S$$

इस प्रकार, केन्स के अनुसार बचत और विनियोग में न केवल एक-दूसरे के बराबर हैं बल्कि समरूप भी हैं। इस प्रकार की खाता संबंधी समानता यह बात स्पष्ट कर देती है कि भले ही व्यक्तिगत द ष्टिकोण से बचत तथा विनियोग असमान हों, किन्तु सारे देश के लिए यह सदा बराबर रहेंगे। उदाहरणार्थ, यदि किसी समय उपभोग कम होने से बचत बढ़ जाती है तो बहुत सारा माल गोदामों में रखा रहेगा। चूंकि इस प्रकार के माल को भी विनियोग में ही सम्मिलित किया जाता है, इसलिए इस माल को मिलाकर विनियोग बचत के बराबर हो जायेगा।

बचत तथा विनियोग की खाता-संबंधी समानता तो सदा रहेगी, परन्तु इनमें सदा संतुलन रहना आवश्यक नहीं है। यह समानता तब भी रहती है जब अर्थव्यवस्था संतुलन में नहीं होती और राष्ट्रीय आय में परिवर्तन हो रहे होते हैं। इस प्रकार की पारिभाषिक समानता जिसका संतुलन से कोई संबंध नहीं होता, व्यावहारिक द ष्टिकोण से महत्वपूर्ण नहीं हैं।

बचत और विनियोग की धारणाओं को प्रावैगिक (Dynamic) स्वरूप देते हुए प्रो. केन्स ने बचत तथा विनियोग की क्रियात्मक समानता का भी उल्लेख किया है। क्रियात्मक समानता संबंधी व्याख्या उस प्रक्रिया का वर्णन करती है। जिसके द्वारा बचत और विनियोग में समानता स्थापित होती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भी बचत तथा विनियोग की क्रियात्मक समानता को स्वीकार किया था। परन्तु उनका विश्वास था कि यह समानता ब्याज दर में परिवर्तनों के द्वारा स्थापित होती है। इसके विपरीत, केन्स ने यह बताया कि बचत एवं विनियोग की समानता ब्याज दर से नहीं, अपितु राष्ट्रीय आय के परिवर्तन से स्थापित होती है।

जैसा कि हम देख चुके है, बचत की मात्रा आय-स्तर पर आश्रित होती है। (S = f(y)) दूसरी ओर स्वायत्त विनियोग आय के स्तर पर निर्भर नहीं रहता। उपभोग-प्रव त्ति अल्पकाल में स्थिर रहती है, इसलिए बचत प्रव त्ति में भी स्थिरता बनी रही है। इसके विपरीत, विनियोग अस्थिर और अनिश्चित रहता है क्योंकि यह भविष्य की आंशसाओं से प्रभावित होता है जो कि अनिश्चित होती हैं। विनियोग की मात्रा में होने वाले परिवर्तन आय-स्तर को प्रभावित करते हैं। आय के विभिन्न स्तरों को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हैं कि इन स्तरों पर होने वाली बचतों के ठीक बराबर मात्रा में विनियोग किया जाए। बचत की अपेक्षा विनियोग कम होने पर आय-स्तर में कमी होने लगती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि बचत और विनियोग एक दूसरे के बराबर नहीं हो जाते हैं। इस प्रकार आय का संतुलन तभी प्राप्त किया जा सकता है जब बचत और विनियोग की राशियां बराबर हो जायें। इसलिए कहा जाता है कि आय के विश्लेषण के लिए प्रो. केन्स की बचत तथा विनियोग क्रियाएं उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी कि विश्लेषण में मार्शल द्वारा प्रतिपादित पूर्ति एवं मांग वक्र।

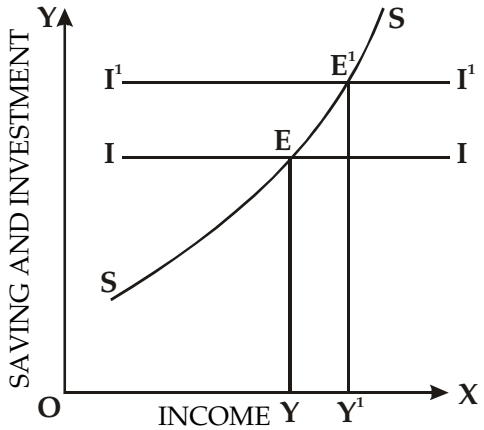

रेखाचित्र में X - अक्ष पर राष्ट्रीय आय तथा Y - अक्ष पर बचत और विनियोग दिखाये गये हैं। I I विनियोग की वक्र रेखा है। यह X - अक्ष के समान्तर सीधी रेखा है, क्योंकि यह मान लिया गया है कि विनियोग पर आय में परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि आय के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों के प्रभाव में विनियोग में व द्धि हो जाती है। तो I^1I^1 नई विनियोग रेखा होगी। SS बचत वक्र है जो यह दिखाता है कि आय बढ़ने पर बचत भी बढ़ती है। परन्तु बचत प्रव त्ति स्थिर रहने के कारण बचत-वक्र में कोई विर्वतन (Shifting) नहीं किया जाता। विनियोग तथा बचत वक्र E बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं। इस बिन्दु पर बचत विनियोग के बराबर (S=I) हैं तथा आय OY के बराबर है। विनियोग वक्र I^1I^1 हो जाने पर अब संतुलन E_1 बिन्दु पर स्थापित होता है, जहां विनियोग तथा बचत में पुनः समानता हो जाती है और OY_1 के बराबर हो जाती हें इस प्रकार आय के संतुलन में परिवर्तन होने पर भी आय के विभिन्न स्तरों पर S=I की स्थिति बनी रहती है। संतुलन की स्थापना के लिए S = I की स्थिति होना आवश्यक शर्त है। आय और बचत में समानता आय में परिवर्तनों के द्वारा प्राप्त की जाती है। इस प्रकार केन्स ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि संतुलन स्थापित करने वाला तत्व ब्याज दर नहीं, अपितु आय स्तर है।

बचत विनियोग विवाद
(SAVING INVESTMENT CONTROVERSY)

बचत और विनियोग का पारस्पारिक संबंध अर्थशास्त्रियों के लिए विवादपूर्ण विषय रहा है। केन्स ने तो बचत तथा विनियोग की परिभाषाएं ही इस प्रकार की हैं कि यह दोनों सदैव समान दिखायी पड़ती हैं। केन्स ने बचत तथा विनियोग के वास्तविक अथवा प्राप्त किये गये रूप की व्याख्या की है। वास्तविक बचत वास्तविक विनियोग के बराबर रहती है, क्योंकि दोनों ही का संबंध आय के उस भाग से है जो उपभोग पर व्यय नहीं किया है परन्तु कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने बचत व विनियोग की केन्स द्वारा दी गई परिभाषा को स्वीकार नहीं किया है और बताया है कि इनका समान रहना, अल्पकाल में, अनिवार्य नहीं है। इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय व्याख्याएं दी हैं : स्वीडन के अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई व्याख्या तथा Rabertson द्वारा दी गई व्याख्या।

स्वीडन के अर्थशास्त्री, जिन्हें स्टॉकहोम सम्प्रदाय के अर्थशास्त्री (stockholm School of Economist) कहा जाता है। यह बताते हैं कि बचत तथा विनियोग प्रत्याशित हो सकते हैं अथवा वास्तविक। प्रत्याशित अथवा अपेक्षित बचत तथा विनियोग वह है जिन्हें लोग प्राप्त करने की आशा करते हैं। इसके विपरीत, वास्तविक बचत व विनियोग वह है जिन्हें वास्तव में प्राप्त किया जा चुका है। केन्स ने तो बचत तथा विनियोग के वास्तविक रूप को ही अपनी व्याख्या का आधार बनाया है, परन्तु स्वीडन के अर्थशास्त्री बचत तथा विनियोग के प्रत्याशित रूप के आधार को अपनाते हैं, प्रत्याशित बचत भविष्य में बचतकर्त्ताओं के इरादों को व्यक्त करती हैं। जबकि प्रत्याशित विनियोग का संबंध भविष्य में विनियोगकर्त्ताओ की योजनाओं से है। दूसरे शब्दों में, प्रत्याशित बचत से अभिप्राय आज के उपभोग तथा बीते हुए कल की आय के अन्तर से है। प्रत्याशित विनिमय आज की आय तथा उपभोग में अन्तर है।

(Ex-ante saving has been defined as "the diffenece between the consumption of the current period & the income of the immediately preceding period, ex-ante, investment is difference between the income & consumption of the current period)

प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग में समानता होना आवश्यक नहीं है। एक प्रावैगिक (dynamic) अर्थव्यवस्था में जहाँ असंख्य बचतकर्त्ता तथा विनियोगकर्त्ता स्वतंत्र रूप से एक दूसरे से अलग रहकर बचत तथा विनियोग संबंधी निर्णय करते है। प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग में अन्तर होना स्वाभाविक है। परन्तु जब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए योजनाओ में परिवर्तन किये जाते हैं तो बचत तथा विनियोग में समानता होने की प्रव ति द ष्टिगोचर होती है तथा वास्तविक बचत की राशि वास्तविक विनियोग की राशि के बराबर हो जाती है। इस प्रकार, प्रत्याशित बचत प्रत्याशित विनियोग से भिन्न हो सकती है, परन्तु वास्तविक बचत तथा वास्तविक विनियोग में समानता होती है। केन्स की व्याख्या की तुलना में स्वीडन के अर्थशास्त्रियों की व्याख्या अधिक व्यावहारिक प्रतीत होती है क्योंकि इसमें परिवर्तन के क्रम की ओर भी ध्यान दिया जाता है।

Robertson ने आय, बचत और विनियोग के प्रावैगिक क्रम की व्याख्या के लिए काल विश्लेषण प्रणाली का सहारा लिया है। Robertson के विचारानुसार, जो भी आय प्राप्त होती है उसको तत्काल व्यय नहीं कर दिया जाता, इसमें कुछ समय लगता है। इस प्रकार, आय तथा व्यय के बीच एक समय अन्तर होता है। यह समय इतना कम अथवा अल्प हो सकता है कि इसमें कोई भी महत्वपूर्ण परिवर्तन न हो सके। यह समय एक 'दिन' का हो सकता है और इसकी विशेषता यह है कि आज के दिन प्राप्त की गई आय को अगले दिन ही व्यय किया जा सकता है। केन्स ने तो वर्तमान अथवा चालू आय को चालू व्यय का ही परिणाम माना था, परन्तु Robertson ने चालू आय को पहले के व्यय का परिणाम माना है और बताया है कि चालू व्यय भविष्य की आय का निर्धारण करता है जो आय कल प्राप्त हुई थी उसका व्यय आज किया जा रहा है और जो आय प्राप्त हुई है वह कल व्यय ही जाएगी। Robertson के अनुसार, बचत कल प्राप्त की गई आय तथा आज के उपभोग व्यय के बीच अन्तर है। इसके विपरीत केन्स के अनुसार बचत वर्तमान आय तथा वर्तमान उपभोग व्यय के बीच का अन्तर हें इस प्रकार, Robertson की बचत केन्स की बचत से कम होगी, क्योंकि कल की आय आज की आय से कम थी। विनियोग की परिभाषा Robertson ने भी वही दी है जो केन्स ने दी है।

Robertson की व्याख्या के अनुसार, अवधि विशेष के आरम्भ में विनियोग की मात्रा बचत की मात्रा से अधिक हो सकती है,(बैंकों से उपलब्ध साख, नई मुद्रा का स जन अथवा बचतकर्त्ताओं द्वारा धन का निसंचय इस प्रकार के असंतुलन

के मुख्य कारण हो सकते हैं) परिस्थितियाँ भिन्न होने पर ऐसा भी संभव है कि वर्तमान बचत वर्तमान विनियोग की तुलना में अधिक हो। स्पष्ट है कि आज की बचत तथा विनियोग में असमानता हो सकती है। परन्तु संतुलन की स्थिति में बचत तथा विनियोग एक दुसरे के बराबर हो जाते है। आज की बचत तथा विनियोग की समानता तभी संभव है जब आज की आय बीते हुए कल की आय के बराबर हो और यह संतुलन की स्थिति में ही संभव हो सकता है। इस प्रकार संतुलन की स्थिति में प्राप्त की गयी अथवा वास्तविक बचत वास्तविक विनियोग के बराबर हो जाती है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट होता है कि प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग अर्थात अवधि विशेष के आरंम्भ में बचत तथा विनियोग में असमानता हो सकती है। परन्तु वास्तविक बचत तथा वास्तविक विनियोग, अर्थात अवधि की समाप्ति पर बचत तथा विनियोग सदा एक दूसरे के समान होते है।

यह समानता आय में परिवर्तनों के माध्यम से स्थापित होती है। बचत तथा विनियोग की समानता संबंधी सभी प्रक्रिया को नीचे दी गयी एक काल्पनिक सारणी के द्वारा समझाया जा सकता है।

आय बचत तथा विनियोग समय अनुसार परिवर्तन

	1	2	3	4	5	X
उपभोग	120	120	127	131	134	140
प्रत्याशित विनियोग	60	70	70	70	70	70
कुल राष्ट्रीय आय (GNP)	180	190	197	201	204	210
प्रत्याशित बचत	60	63	66	67	68.5	70

समय अवधि 1 में बचत तथा विनियोग में समानता है क्योंकि दोनो ही 60 करोड़ रुपये की राशि के बराबर है। समय-अवधि 2 में विनियोग बढकर 70 करोड़ रुपये हो जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप कुल आय 180 करोड़ रुपये से बढ़कर 190 करोड़ रुपये हो जाती है और बचत भर बढ़कर 63करोड़ रुपये हो जाती है। अब विनियोग की तुलना में बचत कम है, परन्तु आय में परिवर्तनों के कारण प्रत्याशित बचत में व द्धि का यह क्रम तक चलता रहता है जब तक कि अवधि के अन्त में बचत बढ़कर 70 करोड़ रुपये नहीं हो जाती है जो विनियोग की राशि के समान हैं।

केन्स ने अपनी व्याख्या को Robertson की व्याख्या से भिन्न नहीं माना है। (Thus when Mr.Robertson says that there is an excess of saving over investment he means literally the same thing as I mean when I say that income is falling & the excess of saving in his sense is exactly equal to the decline of income in my sense. If it were true that current exceptations were always determined by yesterday's realised results today's effective demand would be equal to yesterday's income - Keynes) परन्तु आलोचकों का कहना है कि आय तथा व्यय के बीच समय-अन्तर की मान्यता के कारण Robertson की व्याख्या अधिक यर्थाथपूर्ण है। केन्स की व्याख्या की अपेक्षा यह अधिक प्रवैगिक भी है। बचत तथा विनियोग का प्रत्याशित तथा वास्तविक रूप में अध्ययन उस प्रक्रिया को स्पष्ट करने में सहायक होता है। जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था में बचत तथा विनियोग के मध्य संतुलन स्थापित होता है। दूसरी ओर केन्स के समर्थक केन्स द्वारा दी गई व्याख्या को ही अधिक संतोषजनक मानते हैं। Klien के विचार में, Robertson द्वारा दी गयी बचत तथा विनियोग की परिभाषाएं केवल नाममात्र की ही प्रवैगिक हैं और बचत तथा विनियोग को अलग-अलग मानना इनकी बहुत त्रुटि है। Robertson ने विनियोग तथा उपभोग संबंधी निर्णयों में परिवर्तनों के कारणों की व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है। जबकि केन्स ने इन तत्वों की ओर विशेष ध्यान दिया है। वास्तविकता यह है कि इन सभी व्याख्याओं में कोई विशेष अंतर नहीं है। कुछ बातों में केन्स की व्याख्या अधिक उपयुक्त कही जा सकती है और कुछ अन्य बातों में स्वीडन के अर्थशास्त्रियों द्वारा तथा Robertson द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या को अधिक संतोषजनक कहा जा सकता है। "In period analysis, the Robertson definitions are useful & indeed necessary. In Time-Rates of change analysis the Keynesion definitions are appropriate" — A.H. Hanson) यह बात तो सभी ने स्वीकार की है कि अर्थव्यवस्था में संतुलन की स्थापना के लिए बचत तथा विनियोग की समानता आवश्यक है।

अध्याय 4
उद्योग
(Industry)

कृषि-क्षेत्र के बाद अब हम देश की अर्थव्यवस्था के औद्योगिक क्षेत्र सम्बन्धी बातों को ले सकते हैं। इस अध्याय में हम ब्रिटिश काल एवं स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आयोजन-काल के दौरान औद्योगिक विकास के कुछ मुख्य पहलुओं का विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम, इस संदर्भ में औद्योगिकरण की आवश्यकता अथवा देश के आर्थिक विकास में इसका योगदान या भूमिका की जानकारी उपयोगी होगी।

औद्योगीकरण की आवश्यकता
(NEED FOR INDUSTRIALISATION)

भारत जैसे विकासशील देश के लिए औद्योगीकरण की आवश्यकता बहुत अधिक है और स्पष्ट भी। यह द्रुतगति से देश के आर्थिक विकास के लिए परमावश्यक है। वास्तव में विभिन्न प्रकार के उद्योगों के अभाव में देश के आर्थिक विकास का कार्य अधूरा ही रहेगा। उद्योगों के समुचित विकास के बिना लोगों की आय में अर्थपूर्ण एंव नियमित रूप से व द्धि लाना संभव नहीं है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर देश के लिए उद्योगों की आवश्यकता या महत्त्व की कल्पना आसानी से की जा सकती है, और साथ ही हम इस बात को भली प्रकार समझ सकेंगे कि वर्तमान समय मे इस ओर क्यों अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। औद्योगीकरण के विभिन्न आर्थिकेतर लाभों को, संक्षेप में, इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

(i) **सुद ढ़ एवं संतुलित अर्थव्यवस्था की स्थापना** - औद्योगिकरण देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने, उसके स्तर को ऊपर उठाने तथा उसमें सन्तुलन लाने में बहुत सहायक होगा। सच तो यह है कि इसके बिना यह कार्य भली प्रकार संभव ही नही है। भारत की अर्थव्यवस्था बहुत पिछड़ी हुई है और असंतुलित अवस्था में है। अभी कृषि ही यहां के लोगों का मुख्य धंधा है। इस प्रकार से इसी पर देश की सारी अर्थव्यवस्था टिकी हुई है, और यह तो सभी जानते हैं कि कृषि कितना अनिश्चित व्यवसाय हैं, विशेषतः भारत में जहां खेती मुख्यता वर्षा के सहारे की जाती है। आधार अनिश्चित होने से देश की आर्थिक स्थिति सदैव डांवाडोल रहती है। उत्पादन-मात्रा तथा व्यापार-व्यवसाय में और फलस्वरूप लोगों के जीवन-स्तर में भारी उतार-चढ़ाव आता रहता है। इसके अतिरिक्त, असंतुलित अर्थव्यवस्था से और भी मुसीबतें पैदा होती हैं। उद्योग-धंधों के अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था में होने के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या को ठीक प्रकार से काम नहीं मिल पाता। बहुत से लोग काम न मिलने के कारण बेकार रहते हैं या ऐसे कार्यों में लग जाते हैं जहां उनकी शक्ति या क्षमता के हिसाब से उत्पादिता या आय कम होती है। दोनों दशाओं में परिणाम यह होता है कि देश में गरीबी बढ़ती है। बढ़ती हुई गरीबी के प्रभाव में जनसंख्या में प्रायः और तेजी से व द्धि होने लगती है।

इस प्रकार यह कुचक्र निरन्तर चलता रहता है। यदि हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो इस कुचक्र को तोड़ना होगा। इसके लिए औद्योगिकरण अनिवार्य है। औद्योगिक विकास के सहारे विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के बीच संतुलन स्थापित हो सकता है तथा अर्थव्यवस्था को ऊंचे स्तर पर ले जाया जा सकता है। तभी देश में बेकारी तथा गरीबी की समस्याओं को स्थायी रूप से हल किया जा सकेगा।

(ii) **कृषि-विकास में सहायता** - कृषि-सुधार तथा उसके संगठन के लिए भी औद्योगिक विकास बहुत आवश्यक है। हमारी कृषि बहुत पिछड़ी हुई है। इसका एक मुख्य कारण हमारी कृषि-भूमि का निरन्तर विभाजन और उप-विभाजन है। जोतों के उत्तरोत्तर छोटे होते चले जाने के कारण भूमि पर जनसंख्या के अत्याधिक बोझ का पड़ना है। तेजी से बढ़ती हुई देश की जनसंख्या, अन्य कोई धंधा अथवा व्यवसाय न पा सकने के कारण, खेती में ही लगती जाती है। इसके फलस्वरूप

भूमि का भार बढ़ता जाता है जिसके प्रभाव से कृषि-जोत उ त्तरोतर छोटी होती चली जा रही है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जोतों के इस निरंतर विभाजन और उप-विभाजन को रोके बिना कृषि में उन्नति लाना प्रायः असंभव है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि देश में तरह-तरह के उद्योग स्थापित किए जाएं। उद्योग-धंधों के विकास से कृषि-भूमि पर जनसंख्या का असह्य भार कम होने लगेगा। इस प्रकार तीव्र गति से कृषि-उन्नति संभव हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि को रासायनिक खाद, बिजली, उन्नत औजारों आदि की महत्वपूर्ण सुविधाएं भी भली प्रकार मिल सकेंगी। कृषि-विकास के लिए इस प्रकार सुविधाएं कम आवश्यक नहीं हैं। अतः कृषि-विकास की द ष्टि से भी औद्योगिकरण का योगदान विशेष महत्व रखता है।

(iii) **उत्पादिता में व द्धि :** आर्थिक विकास के लिए प्रति व्यक्ति उत्पादिता में व द्धि लाना आवश्यक है। यह कार्य उद्योग-धंधों के सहारे अच्छी तरह पूरा किया जा सकता है। कारण, उद्योग-क्षेत्रों में मानवीय नियंत्रण का अपेक्षाकृत अधिक हाथ होता है और इस क्षेत्र में विशिष्टीकरण, मशीनों का इस्तेमाल या बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली का अधिक सहारा लिया जा सकता है। कृषि में यह सब इतना संभव नहीं है और फिर, एक सीमा के बाद कृषि-उत्पादिता उद्योगों के विकास पर निर्भर करती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कृषि-उत्पादिता में व द्धि लाने के लिए रासायनिक खाद, बिजली उन्नत किस्म के कृषि-उपकरण आदि की आवश्यकता पड़ती है। ये साधन औद्योगिक विकास के बिना देश के भीतर उपलब्ध नहीं हो सकते।

(iv) **अधिक रोजगार एवं श्रेष्ठतर व्यावसायिक ढांचा -** औद्योगिक उन्नति से देश में श्रम की मांग बढ़ेगी। इससे बेकारी दूर होगी और लोगों की आय में व द्धि होगी। उद्योग-धंधों में लोगों को कृषि की अपेक्षा अधिक काम मिल सकता हैं। ज्यों-ज्यों उद्योग-धंधों का विकास होगा, अधिकाधिक लोगों को काम दिलाना संभव हो जाएगा और खेती तथा अन्य अपेक्षाकृत कम लाभकारी कार्यों में लगे हुए फालतू लोग उद्योग, व्यापार, परिवहन, व्यवसाय, आदि की ओर खीचें आयेंगे। इस प्रकार औद्योगिकरण से यही नहीं कि रोजगार के अवसर बढ़ेंगे, बल्कि देश का व्यावसायिक ढांचा ठीक प्रकार का हो सकेगा। ऐसा होने से देश के साधनों का समुचित ढंग से उपयोग संभव बन जाएगा और फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में व द्धि होगी।

(v) **जीवन-स्तर में सुधार -** आर्थिक विकास का उद्देश्य लोगों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाकर उनके कल्याण में व द्धि लाना है। इसके लिए न केवल आय में व द्धि की आवश्यकता होती है, बल्कि उपभोग में विविधता की आवश्यकता होती है। उद्योग-धंधों का विकास इस द ष्टि से भी बहुत आवश्यक ठहरता है। इससे लोगों की आय में व द्धि होगी और साथ ही देश में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन संभव हो सकेगा। फलस्वरूप लोगों जीवन-स्तर ऊपर उठ सकेगा। यहां यह कहा जा सकता है कि कृषि-प्रधान देश अपना निर्यात बढ़ाकर दूसरे देशों से विभिन्न प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं आयात कर सकता है। लेकिन यहां महत्वपूर्ण बात निर्यात-व द्धि की है। भारत जैसे अल्पविकसित देशों में निर्यात में पर्याप्त लोचशक्ति नहीं है। अनेक सुपरिचित कारणों से यहां के निर्यात इच्छित गति से नहीं बढ़ाए जा सकते।

(vi) **बचत और निवेश में व द्धि -** औद्योगिकरण के एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ यह प्राप्त होगा कि इससे पूंजी-निर्माण में व द्धि होगी जो कि आर्थिक विकास के लिए एक आवश्यक शर्त है। पूंजी-निर्माण में आवश्यक व द्धि तभी संभव हो सकती है, जबकि बचत अधिक मात्रा में हो और उत्पादन में लाभप्रद ढंग से उसे लगाने के लिए क्षेत्र और अवसर अधिक हों। औद्योगिकरण इस द ष्टि से भी बहुत लाभकारी है। इससे आय बढ़ती है और आय-व द्धि के साथ-साथ सीमान्त बचत-प्रव त्ति (Marginal propensity to save) भी बढ़ती है। इसके अतिरिक्त, उद्योग-धंधों के विकास में पूंजी लगाने के लिए क्षेत्र और सुविधाएं भी बढ़ती हैं। इस प्रकार औद्योगिकरण पूंजी-निर्माण में भी सहायक हैं।

(vii) **देश की सुरक्षा -** साथ ही देश की सुरक्षा के लिए भी औद्योगिकरण की विशेष आवश्यकता है। वर्तमान युग में युद्ध के संबंध में अनेक प्रकार के साज-सामान और चीजों की आवश्यकता पड़ती है। यह सब सामग्रियां विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधों के विकास द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। इन आवश्यक पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना एक प्रकार से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना होगा। युद्ध छिड़ जाने पर बाहरी देशों से माल मंगाना कठिन हो जाता है। यही नहीं बल्कि युद्धकाल अथवा राजनीतिक संकट के समय आयात पर आवश्यक पूंजीगत साज-सामान की निर्भरता निवेश-कार्यक्रम में बाधा बनकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गतिहीन कर सकती है और तरह-तरह की कठिनाइयां पैदा कर सकती है।

(viii) **व्यक्ति और समाज का बहुमुखी विकास -** औद्योगिकरण व्यक्ति और समाज के संपूर्ण एवं बहुमुखी विकास के लिए भी आवश्यक है। इससे मनुष्य में अनेक आवश्यक गुणों के स जन में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है जैसे कि नियमितता, समय-निष्ठता, वैज्ञानिक द ष्टिकोण, आविष्कार कौशल, तकनीकी प्रगति के लिए तत्परता आदि। इन अनेक गुणों के विकास से मनुष्य विभिन्न दिशाओं में आगे बढ़ने के लिए समर्थ हो जाता है। डेनमार्क, आस्ट्रेलिया आदि देश काफी सीमा तक कृषि-प्रधान देश हैं, फिर भी यहां के लोगों में ये विशेषताएं पाई जाती हैं। लेकिन इससे इस बात का खण्डन नहीं होता। कारण, इन देशों में औद्योगिक क्षेत्र काफी बड़ा एवं विकसित दशा में है।

औद्योगिकरण से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ढांचे में व्यापक परिवर्तन आता है। इसके प्रभाव से उत्पादन-प्रक्रिया में परिवर्तनों का तांता लगा रहता है। फिर इन परिवर्तनों की सफलता के लिए परिवहन, चालन शक्ति, बैंकिंग, प्रबंध व व्यवस्था आदि अनेक क्षेत्रो में विकास लाया जाना आवश्यक बन जाता है। साथ ही औद्योगिकरण से सामाजिक मूल्यों तथा तौर-तरीकों में आवश्यक परिवर्तन लाने, शिक्षा व स्वास्थ्य की सुविधाओं की व्यवस्था तथा शहरीकरण की दिशा में विशेष सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बहुमुखी विकास में औद्योगिकरण का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण ठहरता है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि देश के विकास अथवा सुख-सम द्धि के लिए औद्योगिकरण कितना लाभप्रद और आवश्यक है। वैसे तो यह सदा ही वांछनीय है, किन्तु हमारी आज की परिस्थितियों में जबकि हमारी आय का स्तर बहुत नीचा है, देश में बेकारी फैली हुई है, कृषि पर असह्य बोझ लदा हुआ है और जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, यह और भी आवश्यक बन गया है। इससे देश की ठीक प्रकार से सुरक्षा हो सकेगी और अर्थव्यवस्था को ऊंचे स्तर पर ले जाकर उसमें उचित सन्तुलन लाना संभव हो सकेगा। वास्तव में हमारे जैसे विकासशील देश के लिए आर्थिक विकास और औद्योगिकरण बहुत बड़ी सीमा तक एक ही चीज ठहरते हैं। इसी कारण से स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से देश में औद्योगिकरण पर अधिक बल दिया जा रहा है।

परम्परागत उद्योगों का पतन
(Decline of Traditional Industries)

भारत आज एक बहुत पिछड़ा औद्योगिक क्षेत्र है, लेकिन औद्योगिक द ष्टि से इसका अतीत बहुत सम द्ध और गौरवपूर्ण था। आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति के उदय होने से काफी पहले भारत औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे था। यह अपने उद्योगों और कारीगरों की कला व कौशल के लिए दूर-दूर प्रसिद्ध था। यहां अनेक प्रकार के उद्योग, उस समय की परिस्थितियों के अनुसार, बहुत विकसित और उन्नत व्यवस्था में थे। उनकी ख्याति विश्व-भर में फैली हुई थी। कताई और बुनाई यहां के राष्ट्रीय उद्योग थे जो देश भर में फैले हुए थे। रंगाई-छपाई, सोने-चांदी के धागे व वस्त्र-निर्माण के कार्य भी कताई-बुनाई उद्योग से सम्बद्ध थे। वस्त्र-उद्योग के अलावा, भारत भवन-निर्माण, ईंट व चूना बनाने, पत्थर व लकड़ी की नक्काशी, चीनी नमक व नील के उत्पादन, कागज बनाने, सोने-चांदी व जवाहरात के कार्य, तांबा, पीतल कांसा आदि से सम्बन्धित विभिन्न उद्योगों के लिए भी विश्व-विख्यात था। लोहे की गलाई और ढलाई के काम में भी भारत उस समय काफी आगे बढ़ा हुआ था जिसका स्पष्ट प्रमाण दिल्ली के निकट स्थित प्रसिद्ध लौह-स्तम्भ से मिलता है। देश को समुद्री जहाज बनाने की कला की भी अच्छी जानकारी थी। बंगाल में बने जहाज लन्दन में माल ले जाया करते थे।

इन उद्योगों में केवल स्थानीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं होती थी, अपितु इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएं भारी मात्रा में विदेशों को भी निर्यात की जाती थीं। दक्षिण-पूर्वी एशिया, ईरान, अरब-देश, पूर्वी व पश्चिमी अफ्रीका, यूरोप और जापान भारतीय वस्तुओं के मुख्य ग्राहक थे। भारत प्रमुख रूप से सूती माल, रेशमी तथा ऊनी कपड़े, चीनी, नील, काली मिर्च, दाल चीनी, जरी व कला-वस्तुएं निर्यात करता था। भुगतान-शेष भारत के पक्ष में रहता था जिसका निपटारा सोने-चांदी के रूप में किया जाता था। इस प्रकार 17वीं और 18वीं शताब्दी तक भारत औद्योगिक द ष्टि से बहुत बढ़ा-चढ़ा था और इसके निर्यात-व्यापार में औद्योगिक वस्तुओं की प्रधानता थी। अनेक इतिहासकारों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। अठाहरवीं शताब्दी के अंत में भारत में औद्योगिक विकास के स्तर एवं यहां के लोगों की औद्योगिक दक्षता एवं प्राविधिक कुशलता का मोटा अनुमान टी.एच. हालैण्ड की अध्यक्षता आयोग के इन शब्दों से लगाया जा सकता है : "जिस समय

पश्चिमी यूरोप में, जो आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म-स्थान है, असभ्य जातियां निवास करती थीं, उस समय भारत अपने शासकों के वैभव एवं अपने शिल्पकारों की उच्च कलापूर्ण निपुणता के लिए विख्यात था। यही नहीं बल्कि काफी समय के बाद भी जब पश्चिम से साहसी व्यापारी भारत में पहली बार आए, तब भी देश का औद्योगिक विकास, किसी भी रूप में, यूरोपीय राष्ट्रों की तुलना में घटिया नहीं था।"

अठाहरवीं शताब्दी के अंत से देश के पुराने अथवा परम्परागत उद्योग, जो प्रधानतः हस्तशिल्प अथवा दस्तकारी उद्योग के रूप में थे, एक-एक करके नष्ट होने लगे। उद्योगों के उजड़ने की प्रक्रिया वस्त्र-उद्योग से शुरू हुई और धीरे-धीरे अन्य अनेक उद्योग भी इसकी लपेट में आ गए। इस प्रक्रिया के जोर पकड़ने से भारत औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ने लगा और अन्ततः औद्योगिक देश में एक कृषि-प्रधान देश बन गया। देश में उद्योगों के पतन में अनेक कारकों का हाथ था। इनमें मुख्य निम्नलिखित थे :

(i) **देशी राजाओं और नवाबों का अंत** - देश के राजे-महाराजे और नवाब आदि उद्योगों के बड़े हितैषी और संरक्षक थे। ये विभिन्न प्रकार से उद्योगों को बढ़ावा देते थे। अनेक कुशल कारीगरों को राज-दरबारों में आश्रय मिलता था। वे निश्चिंत होकर अपनी कला के विकास में लगे रहते थे। इसके अतिरिक्त, देश के राजे-महाराजे स्वयं अनेक वस्तुओं की मांग के प्रमुख स्रोत थे। दरबारों के साज-सज्जा के लिए तरह-तरह की वस्तुओं की निरंतर बड़ी मांग बनी रहती थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप देशी राज-दरबार समाप्त होने लगे। इससे एक तो उद्योगों को जो राजदरबारों से संरक्षण व सहारा मिलता था, वह छिन गया और दूसरे, अनेक औद्योगिक वस्तुओं की मांग लगभग खत्म हो गई। इस प्रकार देश के उद्योगों को गहरी ठेस लगी और उसका पतन होने लगा।

(ii) **मांग की कमी** - पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के प्रभाव से अनेक औद्योगिक वस्तुओं की मांग देश में तेजी से होने लगी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त एवं धनी वर्ग के लोग देशी वस्तुओं की बजाय विदेशी वस्तुएं पसंद करने लगे। विदेशी वस्तुओं का उपयोग प्रतिष्ठा, गौरव व बड़प्पन का चिन्ह समझा जाने लगा। इस प्रकार भारतीय वस्तुओं की मांग घटने लगी और फलस्वरूप उनसे सम्बन्धित उद्योगों को गहरी चोट लगी और वे नष्ट होने लगे।

(iii) **विदेशी व्यापारियों द्वारा कारीगरों का शोषण** - देशी शासकों की शक्ति क्षीण होने पर ब्रिटिश व्यापारी एवं भारत में स्थित उनके कमीशन एजेंट देश के कारीगरों पर इस बात के लिए अवैध दबाव डालने लगे कि वे बहुत नीची कीमत पर उन्हें प्राथमिकता के आधार पर माल दें। प्रायः कारीगर माल देने के संबंध में ऐसे ठेके करने पर विवश किए जाते थे जिनके लिए वे सामान्य परिस्थितियों में कभी भी तैयार नहीं हो सकते थे। ऐसे ठेकों का निभाना बहुत कठिन होता था। ठेका पूरा न हो सकने की दशा में कारीगरों को भारी दण्ड भुगतना पड़ता था और उनके साथ तरह-तरह के दुर्व्यवहार किए जाते थे। इस शोषण और दुर्व्यवहार के कारण अनेक कारीगर अपने धंधे छोड़कर दूर-दूर चले गए। ऐसी स्थिति में उद्योगों को क्षति पहुंचना स्वाभाविक था।

(iv) **मशीन से बनी वस्तुओं से प्रतियोगिता** - इस बीच औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप में बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा तरह-तरह की सस्ती वस्तुएं बनने लगीं। देश के परम्परागत उद्योगों के लिए पुराने तौर-तरीकों का व्यवहार करते थे, इस प्रतियोगिता में ठहरना कठिन बनता गया क्योंकि विदेशी उद्योग वैज्ञानिक मशीन, बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली एवं अन्य साधनों से परिपूर्ण थे। स्वेज नहर के निर्माण तथा देश में परिवहन व संचार साधनों के विस्तार से यह प्रतियोगिता और तेज हो गयी। इस प्रकार भारतीय उद्योगों की मुसीबतें और बढ़ीं और वे तेजी से खत्म होते गए।

(v) **विदेशी सरकार की दूषित औद्योगिक व व्यापारिक नीति** - देश में उद्योगों के पतन का सर्वप्रमुख कारण विदेशी सरकार की भारत विरोधी औद्योगिक व व्यापारिक नीति थी। पहले ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश सरकार ने जो औद्योगिक व व्यापारिक नीति देश के लिए अपनाई, वह स्पष्टतः बहुत अनुचित, अहितकर और देश के उद्योगों के लिए निश्चित रूप से घातक थी। आरम्भ में जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति ने जोर नहीं पकड़ा था, तब इंग्लैंड में भारतीय माल पर भारी शुल्क लगाने की व्यवस्था की गई और कुछ विशेष वस्तुओं के आयात और प्रयोग पर कड़ा प्रतिबंध लगाया गया। आगे चलकर औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से इंग्लैड के उद्योग जमकर चलने लगे और उनकी प्रतियोगिता में ठहरने की शक्ति बढ़ गयी। तब वही देश जो कुछ समय पहले तक संरक्षा-नीति का भारी सहारा ले रहा था, मुक्त अथवा निर्बाध व्यापार (free trade) की दुहाई देने लगा। निर्बाध व्यापार की नयी नीति ब्रिटिश हितों के अनुकूल थी। इसके सहारे ब्रिटिश

उद्योगों और जनसंख्या के लिए कच्चा माल तथा अनाज सस्ते भाव पर जुटाए जा सकते थे और निर्मित माल की खपत के लिए विस्त त बाजार उपलब्ध हो सकते थे। अतः इंग्लैंड के लिए इस नीति का अपनाना आवश्यक था। ब्रिटिश स्वार्थों की सिद्धि के लिए यह नीति भारत पर भी लाद दी गयी, यद्यपि भारत के हितों की द ष्टि से यह नीति बिल्कुल विरोधी थी। यदि भारत स्वतंत्र होता, तो उपयुक्त नीति अपनाकर बदला लेता। लेकिन परतंत्र होने के कारण ऐसा संभव न था। फलस्वरूप भारतीय परम्परागत उद्योगों के पतन की प्रक्रिया तीव्रतर होती रही।

इन अनेक कारणों से देश के विश्व-प्रसिद्ध उद्योग एक-एक करके नष्ट होने लगे और अन्ततः औद्योगिक देश से प्रमुखतः एक खेतिहर देश बन गया। इस औद्योगिक पतन से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और इसके विभिन्न अंगों के बीच जो तालमेल था, वह जाता रहा। इससे देश में बेकारी, गरीबी, भुखमरी आदि गंभीर रोगों को तेजी से बढ़ने का अवसर मिला।

आधुनिक उद्योगों का उदय और विकास
(RISE AND GROWTH OF MODERN INDUSTRIES)

प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक - काफी लंबी अवधि की औद्योगिक निष्क्रियता के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देश में आधुनिक उद्योगों की शुरूआत हुई। 1850-60 के दशक में वस्त्र और पटसन उद्योगों की स्थापना की गयी। इस बीच रेल-निर्माण का कार्य शुरू हुआ और कोयला-खनन उद्योग भी स्थापित किया गया। बागान-उद्योग भी बढ़े और रेल से सम्बन्धित मरम्मत व सुधार-कार्य के लिए कुछ छोटे-मोटे इन्जीनियरी कारखाने भी खोले गए। रेल-निर्माण के कार्य को छोड़कर, सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में कोई दिलचस्पी नहीं ली। यहां तक कि कुछ सामान्य सुविधाओं की व्यवस्था के लिए भी सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया। देश में आधुनिक उद्योगों की स्थापना का कार्य मुख्य रूप से निजी ब्रिटिश पूंजी और उद्यम के सहारे किया गया। इसके लिए व्यवसाय-संगठन की एक विशेष प्रणाली की अपनाया गया जिसे मैनेजिंग एजेंसी का नाम दिया गया। यह प्रणाली स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ समय बाद तक देश में बनी रही। मैनेजिंग एजेंटों ने तकनीकी जानकारी, वित्त और प्रबंध आदि की आवश्यक सेवाएं उपलब्ध करके आधुनिक उद्योगों की स्थापना और संचालन में महत्त्वपूर्ण हाथ बंटाया। उस समय की परिस्थितियों के संदर्भ में जबकि सरकारी उपेक्षा की नीति का पालन कर रही थी और देश में वित्त एवं तकनीकी जानकारी सम्बन्धी संस्थाओं का बड़ा अभाव था, मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया था।

देश में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आधुनिक उद्योगों की इस प्रकार शुरूआत तो हुई, लेकिन विदेशी पूंजी और उद्यम ने ऐसे उद्योगों को चुना जिनसे कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक लाभ कमाया जा सकता था अथवा जो विदेशी व्यापार की द ष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। साथ ही इस बात का भी ध्यान रख गया कि उद्योग ऐसे न हों जिनसे ब्रिटिश उद्योगों के लिए प्रतियोगिता की संभावना बने। फलस्वरूप देश में मुख्य रूप से हल्के किस्म के एवं उपभोग वस्तुओं से सम्बन्धित इने-गिने उद्योग ही स्थापित हो सके। यही नहीं बल्कि औद्योगिक विकास की गति बहुत ही धीमी और अनिश्चित थी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक देश आधुनिक उद्योगों के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं कर सका। उस समय तक भारत मुख्यतः कच्चे माल का निर्यात और तैयार माल का आयात करने वाला देश बना रहा।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ के साथ स्वदेशी आन्दोलन से औद्योगिक विकास को थोड़ा-बहुत बढ़ावा मिला। भारतीय पूंजी और उद्यमकर्त्ता, विशेष रूप से पारसी, गुजराती और मारवाडी उद्यमकर्त्ता औद्योगिक क्षेत्र में भाग लेने लगे। साबुन, दियासलाई, पैंसिल, चमड़ा, एल्युमिनियम आदि के अनेक छोटे-बड़े कारखाने देश में खुले। निःसंदेह इस बीच सबसे महत्त्वपूर्ण और दूरदर्शी उद्यम जमशेदपुर टाटा का रहा। विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद वह देश में इस्पात का सर्वप्रथम कारखाना 1907 में जमशेदपुर में खोलने में सफल हुए। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में कुछ विविधता तो नजर आने लगी। फिर भी उपभोग-वस्तुओं से सम्बन्धित हल्के उद्योग ही प्रमुख बने रहे। आधुनिक उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों का अधिकांश भाग वस्त्र और पटसन उद्योगों में ही लगा हुआ था। भारी और बुनियादी उद्योग के क्षेत्र में प्रगति न होने के बराबर थी। फलस्वरूप देश का औद्योगिक ढांचा कमजोर और खोखला बना रहा। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ होने तक देश में मुख्य रूप से हल्के उद्योगों का ही विकास हुआ और प्रगति बहुत धीमी व थोड़ी थी। सरकार की भारत-विरोधी

आर्थिक व औद्योगिक नीति, देश में पूंजी, तकनीकी श्रमिकों एवं कुशल व्यवस्थापकों की कमी आदि कारक इसके लिए जिम्मेदार थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के काल में देश में उद्योगों को बढ़ाने के लिए कुछ अवसर मिला। एक तो युद्ध-काल में औद्योगिक वस्तुओं का आयात बहुत कम हो गया। शत्रु-देशों से आयात तो बंद हुआ ही, मित्र-देश भी युद्ध सम्बन्धी सामान तैयार करने में लगे होने के कारण कम माल भेज सकने की स्थिति में थे। जहाज भी कम मिलते थे और माल के भेजने में खतरा भी बहुत बढ़ गया था। इस प्रकार युद्ध-काल में आयात में भारी कमी हुई और फलस्वरूप देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचकर पनपने का अच्छा अवसर मिला। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में लोहा व इस्पात, सूती वस्त्र, पटसन के पदार्थ, ऊनी व चमड़े के माल, साबुन आदि अनेक औद्योगिक वस्तुओं की मांग में भारी व द्धि हुई। बाजार की इस तेजी से देश के उद्योगों को विशेष बढ़ावा मिला और फिर युद्धकाल के दौरान उद्योगों के प्रति सरकार के रुख व नीति में कुछ अनुकूल परिवर्तन आया। औद्योगिक द ष्टि से पिछड़ा भारत युद्ध की तैयारी में अपना पूरा योगदान देने में असमर्थ था। उन दिनों विदेशी माल की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि संभव न थी क्योंकि आयात में भारी कटौती हो चुकी थी। औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण भारत इस कमी को पूरा नहीं कर सकता था। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा की द ष्टि से भारत एक कमजोर कड़ी सिद्ध हुआ। सरकार ने इस गलती को महसूस किया और देश के उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए कुछ कदम उठाए।

इन अनेक अनुकूल बातों के फलस्वरूप अनेक भारतीय उद्योगों, जैसे कि लोहा-इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र-उद्योग, पटसन उद्योग, चमड़ा उद्योग, कोयला-खनन आदि ने युद्ध काल के दौरान बड़ी तेजी से प्रगति की। उत्पादन-मात्रा और उद्योगों के लाभ में भारी व द्धि हुई। इस बीच औद्योगिक रोजगार की मात्रा भी काफी तेजी से बढ़ी। विभिन्न कारखानों में लगे श्रमिकों की संख्या 1919 में 11.7 लाख थी, जबकि 1909 में यह केवल 7.9 लाख के लगभग थी। फिर भी देश में कल-पुर्जों, मशीनों, रासायनिक वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक साज-सामान की कमी के कारण युद्ध-जनित अवसरों से पूरा-पूरा लाभ उठाया नहीं जा सका। इन सब चीजों के लिए हम विदेशों पर निर्भर थे। युद्ध-काल में इनका आयात कठिन बन गया था। फलस्वरूप अवसर मिलने पर भी मूल व भारी उद्योगों के अभाव में देश के उद्योग पर्याप्त तेजी से आगे न बढ़ सके।

दोनों विश्वयुद्धों के बीच का समय - प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश के औद्योगिक विकास के इतिहास में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। इस अवधि में देश के उद्योगों ने अपेक्षाकृत तेजी से प्रगति की। युद्धकाल में लोगों ने जो भारी लाभ कमाया, उससे प्रभावित होकर बड़ी मात्रा में पूंजी और उद्यम औद्योगिक क्षेत्र की ओर खिंचने लगे। राष्ट्रीय जाग ति से भी देश में औद्योगिक विकास को बढ़ावा मिला। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कारण जिससे औद्योगिक विकास की गति विशेष रूप से तेज हुई, वह था सरकार की औद्योगिक नीति में परिवर्तन। सामान्य तौर से सरकार अभी तक आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति अथवा मुक्त या निर्बाध व्यापार-नीति का व्यवहार कर रही थी। लेकिन युद्ध-काल की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए एवं सार्वजनिक दबाव के कारण सरकार ने अब उस रास्ते को छोड़कर उद्योगों के लिए संरक्षण की नीति को अपनाया। यही नहीं कि सरकारी स्टोर की क्रय नीति में भारतीय उद्योगों को सहायता देने के उद्देश्य से कुछ परिवर्तन किए गए, बल्कि 1921 में नियुक्त प्रथम भारतीय राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) की सिफारिश के आधार को पूरा करने पर उद्योग को सरकारी संरक्षण दिया जा सकता था। इसी कारण इस नीति को 'भेदमूलक संरक्षण नीति' (Discriminating Protection Policy) कहा जाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार की 'भेदमूलक संरक्षण' नीति बहुत संतोषजनक नहीं थी। इसकी अवधारणा और कार्य-प्रणाली अनेक द ष्टियों से दोषयुक्त थी। इसके अन्तर्गत विकास के द ष्टिकोण से नहीं, बल्कि विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकने के सीमित द ष्टिकोण से उद्योगों को संरक्षण देने की व्यवस्था की गई थी। संरक्षण देने की शर्तें बहुत कड़ी थीं और बड़ी कठोरता से इनको लागू किया जाता था। साथ ही इस नीति से विभिन्न बातों या कार्यवाहियों को पूरा करने में बहुत समय बीत जाता था और संरक्षण प्रदान करने के संबंध में शीघ्र निर्णय लेना संभव नहीं था। संरक्षण प्राप्त उद्योगों की देखभाल तथा तत्सम्बन्धी बातों पर निगरानी रखने एवं इस सम्बन्ध में व्यापक व दीर्घकालिक द ष्टिकोण अपनाने के लिए इस नीति के अन्तर्गत किसी स्थायी टैरिफ बोर्ड की व्यवस्था नहीं थी और फिर, यह नीति नए और बुनियादी उद्योगों की स्थापना और विकास की द ष्टि से बिल्कुल अनुपयुक्त थी।

इस प्रकार देश के उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने संरक्षण देने का जो कदम उठाया, वह बहुत अपर्याप्त और कमजोर था एवं बहुत देर में उठाया गया। लेकिन इन सबके बावजूद संरक्षण-नीति के अन्तर्गत पहले की तुलना में देश में कही तेजी से औद्यौगिक विकास हुआ। समय-समय पर नियुक्त टैरिफ बोर्ड ने 1923-39 की अवधि में उद्योगों के सम्बन्ध में कोई 51 जांच की और भिन्न-भिन्न मात्रा में अनेक उद्योगों को सरकार की ओर से संरक्षण दिया गया जैसे कि लोहा व इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, दियासलाई उद्योग, कागज उद्योग आदि। संरक्षण प्राप्त एवं कई अन्य उद्योगों ने इस अवधि में बड़ी तेजी से उन्नति की। उदाहरण के लिए 1992-39 के दौरान इस्पात का उत्पादन लगभग 700 प्रतिशत, सीमेंट का उत्पादन 500 प्रतिशत तथा कागज और सूती वस्त्र का उत्पादन क्रमशः 180 और 150 प्रतिशत बढ़ा। चीनी के उत्पादन में तो कहीं अधिक व द्धि हुई। इस बीच इसकी उत्पादन-मात्रा में लगभग 50 गुना व द्धि हुई। लोहा, साबुन, दियासलाई, बिजली के साज-सामान, कांच, वनस्पति आदि से सम्बन्धित उद्योगों ने भी प्रगति की।

इससे स्पष्ट है कि दोनों विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में उद्योगों के विकास की गति अपेक्षाकृत तेज थी और औद्योगिक ढांचे में कुछ विविधता भी दिखाई देने लगी। यह सब उस परिस्थिति में हुआ जबकि सरकार ने उद्योगों को थोड़ी मात्रा में और देर से सहायता दी। यदि समय पर और ठीक ढंग से भरपूर प्रयास सरकार द्वारा किये गये होते, तो देश में औद्योगिक विकास की कहानी दूसरी ही होती। तब तो भारत भी उस समय तक कुछ अन्य देशों की भांति औद्योगिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाने में सफल हो गया होता।

यह तो ठीक है कि इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में देश ने तेजी से प्रगति की, लेकिन यह प्रगति संतोषजनक नहीं थी। एक तो यह प्रगति अपने संसाधनों एवं अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बहुत अपर्याप्त थी। देश के विभिन्न फैक्टरी-उद्योगों में लगे श्रमिकों की कुल संख्या 1939 में 17.6 लाख थी, जो कुल कार्यशील जनसंख्या का लगभग 2 प्रतिशत थी। दूसरी बात, जो कम गंभीर नहीं है, यह है कि औद्योगिक विकास बहुत बड़ी सीमा तक एकांगी बना रहा। मोटे तौर पर अधिक प्रगति उपभोग-वस्तुएं तैयार करने वाले उद्योगों के क्षेत्र में हुई। दो-एक उद्योगों को छोड़कर, देश में उत्पादक वस्तुओं से सम्बन्धित भारी व मूल उद्योगों का अभाव बना रहा। फलस्वरूप हम इन आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि के लिए विदेशों पर निर्भर थे। इस प्रकार यही नहीं कि देश का औद्योगिक ढांचा अल्पविकसित था, बल्कि इसका आधार भी कमजोर था। यह कमजोरी द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में स्पष्ट रूप से सामने आई, जब आयात में कमी होने के कारण देश में जमे हुए उद्योगों को भी अपनी क्षमता को पूरी तरह इस्तेमाल करने तथा अपने काम को फैलाने में भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त बड़े उद्योग देश के कुछ विशेष भागों में ही केन्द्रित थे। शेष भाग आधुनिक उद्योगों से लगभग अछूते थे। साथ ही देश के औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूंजी और उद्यम तथा देश के इने-गिने उद्योगपति छाए हुए थे। उद्योगों के प्रबन्धन व संचालन का अधिकांश कार्य चंद बड़ी-बड़ी मैनेजिंग फर्मों के हाथ में था।

द्वितीय विश्वयुद्ध का काल और देश-विभाजन - द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में भारतीय उद्योगों के विकास को और बढ़ावा मिला। इस अवधि में इंग्लैंड, जापान, जर्मनी आदि अनेक देशों से आयात बहुत कम हो गया। एक तो इन देशों में उद्योग युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे हुए थे। दूसरे, इस बीच जहाजरानी की बड़ी कमी हो चली थी और माल भेजने में खतरा भी बढ़ गया था। आयात में इस प्रकार भारी कमी होने से देश के उद्योगों को अतिरिक्त संरक्षण मिला जिससे उनके विकास की गति और तेज हो गई। इसके अतिरिक्त, युद्धकाल के दौरान हमारे औद्योगिक माल की मांग में देश-विदेश की मंडियों में भारी व द्धि हुई। शीघ्र ही अनेक मध्य-पूर्व और सुदूर-पूर्व के देशों को माल भेजने का भारत मुख्य देश बन गया। मांग में इस भारी व द्धि से कीमतों और लाभ में व द्धि हुई जिससे उद्योगों के विस्तार में विशेष प्रोत्साहन व सहायता मिली।

इस तरह की अनुकूल बातों के प्रभाव से युद्धकाल के दौरान देश में तेजी से औद्योगिक विकास हुआ। इस अवधि में सीमेंट, कागज, लोहा व इस्पात, सूती वस्त्र और चीनी आदि उद्योगों ने भारी प्रगति की, इनकी उत्पादन-क्षमता बढ़ी और पूरी क्षमता इस्तेमाल होने लगी। कई उद्योगों में बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए दो या तीन पारियों में काम होने लगा। इसके फलस्वरूप देश में औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बढ़ने लगी। 1939 और 1945 के बीच सूती वस्त्र का उत्पादन 411 करोड़ गज से बढ़कर 471 करोड़ गज तथा कागज का उत्पादन 67 हजार टन से बढ़कर 106 हजार टन हो गया। अन्य औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन में भी तेजी से व द्धि हुई।

नियोजन काल में औद्योगिक विकास
(INDUSTRIAL DEVELOPMENT DURING THE PLANS)

भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तीव्र करने का प्रयास किया गया। अत्यन्त निम्नस्तरीय औद्योगिक ढांचे को योजनाकाल में सुविचारित प्रयासों से सुद ढ़ और विविधीकृत करने का प्रयास किया। नियोजनकाल की इस अवधि में जो औद्योगिक विकास हुआ है, उसके समक्ष इसके पूर्व हुए समस्त औद्योगिक विकास का स्तर हल्का पड़ जाता है। यहां विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में हुए औद्योगिक विकास और उसके लिये किये गये प्रयासों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना - नियोजन आरंभ के समय कृषि मोर्चे पर देश की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। इसलिए प्रथम योजना में कृषि पर विशेष बल दिया गया तथा यह लक्ष्य रखा गया कि वर्तमान उद्योगों को बढ़ाया जाये। उन उद्योगों के विकास हेतु विशेष प्रयास किया गया जो उद्योग उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। योजना में नवीन औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की भी सिफारिश की गयी। प्रथम येाजना में कुल सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय का लगभग 8 प्रतिशत, कुल 188 करोड़ रुपये, उद्योग एवं खनिज विकास हेतु व्यय किया जाना था। परन्तु उद्योग और खनिज विकास हेतु कुल व्यय लगभग 100 करोड़ रुपये ही रहा। योजना काल में वस्त्र, सीमेंट, चीनी एवं रासायनिक उद्योगों ने महत्वपूर्ण प्रगति की। कई नवीन मूल एवं भारी उद्योग स्थापित किये गए। आयात प्रतिस्थापन की दिशा में उल्लेखनीय प्रयास हुआ। कुल मिलाकर प्रथम योजनाकाल में समस्त औद्योगिक उत्पादन में 39 प्रतिशत की व द्धि हुई अथवा औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर प्रथम योजना में लगभग 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की द्योतक है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना - द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास को ऊँची प्राथमिकता दी गई। द्वितीय योजना के बड़े एवं लघु उद्योगों तथा खनिजों के विकास के लिए कुल योजनागत व्यय का 18.6 प्रतिशत भाग व्यय किया गया। द्वितीय योजना में औद्योगिक उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ा। इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन में 41 प्रतिशत की व द्धि हुई। उद्योगों की सूची में विविधता बढ़ी है। नवीन औद्योगिक इकाइयाँ भी बढ़ी। दूसरी पंचवर्षीय योजना के पांच वर्षों में हुई प्रगति विशेष उल्लेखनीय है। सरकारी क्षेत्र में तीन नये इस्पात कारखाने स्थापित किए गए और गैरसरकारी क्षेत्र में चल रहे दो इस्पात कारखानों की क्षमता बढ़ाकर दुगुनी कर दी गई। बिजली के भारी समान और भारी मशीनों, औजार उद्योगों तथा भारी मशीन निर्माण एवं भारी इंजीनियरी उद्योगों की अन्य शाखाओं में उद्योगों की स्थापना की गई। सीमेंट और कागज उद्योगों के लिए मशीन बनाना पहली बार शुरू किया गया। रासायनिक पदार्थों के उद्योग के क्षेत्र में भी व्यापक प्रगति हुई। इसके फलस्वरूप केवल नत्रजनयुक्त उर्वरकों, कास्टिक सोडा, सोडा ऐश और गन्धक अम्ल जैसे आधारभूत रासायनिक पदार्थों के बड़े कारखानों की स्थापना की गयी। इन पदार्थों के उत्पादन में व द्धि ही नहीं हुई, वरन् यूरिया, अमोनिया, फास्फेट, पेनिसिलीन, कृत्रिम रेशे, औद्योगिक रसायनों, पालीथिलीन और रंग-सामग्री जैसी नई वस्तुओं का उत्पादन भी आरम्भ हुआ। कई अन्य उद्योगों के उत्पादन में भी भारी व द्धि हुई जिनमें साईकिल, सिलाई मशीन, टेलीफोन तथा बिजली के सामान के उद्योग शामिल हैं। कर्मचारियों की दक्षता बढ़ी तथा औद्योगिक प्रबन्धकों के एक नए वर्ग का विकास हुआ।

त तीय योजना एवं वार्षिक योजनायें - त तीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी। लघु उद्योगों, बड़े उद्योगों और खनिजों के विकास के लिए इस योजना में 1784 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी जो इस योजना की कुल राशि का लगभग 24 प्रतिशत था। इस योजना में औद्योगिक विकास हेतु किये गये वास्तविक व्यय की राशि 1967 करोड़ रुपये थी। इस योजना में मूल व भारी उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया। इसी प्रकार औद्योगिक विकास हेतु त तीय योजना और वार्षिक योजनाओं (1966-69) सहित आठ वर्षों में औद्योगिक प्रकृति में बहुत घट बढ़ होती रही। पहले चार वर्षों में औद्योगिक पूंजी निवेश और विकास के लिए परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत अनुकूल रहीं और उल्लेखनीय प्रगति हुई। इसके बाद लगभग तीन वर्षों तक देश की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ और दबाव पड़ा जिससे औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर घटने लगी। धीरे-धीरे गतिहीनता की स्थिति आ गई। 1964-65 के बाद औद्योगिक विकास में गिरावट आने के कई कारण थे जिनमें सबसे प्रमुख यह था कि 1965-66 के संघर्ष और 1966-67 के दो वर्षों में निरन्तर सूखा पड़ने के कारण उद्योगों पर लगातार बुरा प्रभाव पड़ता रहा। 1965 मे कुछ समय के लिए विदेशी सहायता बंद होने के कारण से कच्चे माल व कल-पुर्जों की कमी से उद्योगों पर बहुत विपरीत प्रभाव पड़ा। परन्तु 1968-69 में कुछ सुधार

के लक्षण दिखाई दिये। तीसरी पंचवर्षीय योजना में अल्मूनियम, मोटर गाडियां, इलेक्ट्रिक ट्रांसफार्मर, सूती कपड़ा मिलों की मशीनरी, मशीन औजार, चीनी, पटसन का सामान, विद्युत-चलित पम्प, डीजल इंजन और पेट्रोलियम से बने पदार्थ के उत्पादन लक्ष्य प्राप्त कर लिए गये थे। दूसरी ओर इस्पात और उर्वरक जैसे महत्वपूर्ण उद्योगों के उत्पादन में भारी कमी हुई। बाद के वर्षों में उर्वरक, भारी रासायनिक पदार्थ एवं सीमेंट उद्योग में प्रगति हुई।

चतुर्थ योजना - चतुर्थ योजना में औद्योगिक क्षेत्र का कार्य-निष्पादन कुछ घटा। इस अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए प्रस्तावित 3050 करोड़ रुपये के व्यय के बदले विनियोग केवल 2700 करोड़ रुपये ही रहा। इस्पात और उर्वरक जैसे उद्योगों की विभिन्न इकाइयों में परिचालन समस्याओं के कारण उत्पादन स्थापित क्षमता से अत्यन्त कम रहा। चीनी और वस्त्र जैसे कृषि आधारित उद्योगों में भी खामियां बनी रहीं। विनियोग की मंद प्रगति ने औद्योगिक मशीनरी की मांग को अत्यन्त कम कर दिया। इसका पूंजीगत सामान उत्पन्न करने वाले उद्योगों पर अत्यन्त खराब प्रभाव हुआ। इसी प्रकार इस्पात और अलौह धातुओं की कमी ने अन्य इंजीनियरिंग उद्योगों के उत्पादन पर भी खराब प्रभाव डाला। दूसरी ओर मिश्रित और विशेष इस्पात, अल्मूनियम, मोटर गाड़ियों के टायर, पेट्रोलियम शोधनशालाओं के उत्पाद, इलेक्ट्रोनिक्स, मशीनरी, औजार, ट्रैक्टर तथा भारी बिजली उपकरण उद्योग जैसे बहुत से उद्योगों के उत्पादन में काफी व द्धि हुई। योजना के अंतिम वर्षों में सरकारी क्षेत्रों के उपक्रमों ने भी उत्पादन में उत्साहवर्द्धक प्रगति दिखाई। इसके अतिरिक्त औद्योगिक आधार का अधिक विस्तार किया गया और किस्म सुधार तथा आत्मनिर्भरता की दिशा में काफी प्रगति हुई।

पांचवी योजना - पांचवी योजना में महत्वपूर्ण उद्योगों की तेज बढ़ोत्तरी हुई और निर्यातोन्मुख माल तथा बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होने वाली वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया गया। संशोधित योजना में औद्योगिक क्षेत्र के विकास की औसत दर 7 प्रतिशत वार्षिक आंकी गई है। खाद्य, उर्वरक और तेल के मूल्यों में आशातीत व द्धि के कारण वे सभी अनुमान बुरी तरह गड़बड़ा गए जिनके आधार पर पॉचवी योजना का प्रारूप तैयार किया गया था। इन नई घटनाओं के कारण खाद्य और ऊर्जा के मामले में कुछ आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिए समयबद्ध कार्यक्रम बनाना भी आवश्यक हो गया। आगे की वार्षिक योजनाएँ इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर तैयार करनी पड़ी। पांचवी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के 39,222 करोड़ रुपये के संशोधित परिव्यय में उद्योग और खनिज क्षेत्र का भाग 7,362 करोड़ रुपये अर्थात् कुल परिव्यय का 18.7 प्रतिशत था। बड़े और मध्यम उद्योगों के लिए परिव्यय 6852 करोड़ रुपये और ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के लिए 510 करोड़ रुपये था। पांचवी योजना में औद्योगिक उत्पादन की अनुमानित 7.0 प्रतिशत औसत व द्धि दर के मुकाबले पांचवी योजना के प्रथम चार वर्षों में वास्तविक व द्धि दर इस प्रकार रही - 1974-75 में 2.6 प्रतिशत। 1975-76 में 6 प्रतिशत 1976-77 में 9.5 प्रतिशत और 1977-78 में 3.1 प्रतिशत। समग्र रूप से पांचवी योजना में औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर औसतन 5.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है जो योजना काल में औद्योगिक विकास की प्रस्तावित दर 7.0 प्रतिशत से कम रही है।

छठी पंचवर्षीय योजना - छठी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास के लिए 7.0 प्रतिशत प्रतिवर्ष औद्योगिक विकास का लक्ष्य रखा गया था। औद्योगिक क्षेत्र के पूर्व निष्पादन को देखते हुए यह दर अत्यन्त ऊंची थी। छठी योजना में लघु एवं व हद उद्योगों तथा खनिज सम्बन्धी विकास कार्यों के लिए कुल 22187 करोड़ रुपये की व्यय की व्यवस्था की गयी जो सम्पूर्ण योजनागत व्यय का लगभग 23 प्रतिशत था। अन्य किसी भी विकास मद के लिए इतनी अधिक राशि का आबंटन नहीं किया गया था। प्राथमिकता क्रम में सर्वोच्च स्थान देने के बाद भी छठी योजनाकाल में औद्योगिक व द्धि दर औसतन 5.9 प्रतिशत ही रही, जबकि इसके लिए लक्ष्य 7.0 प्रतिशत का निर्धारित किया गया था। योजनाकाल में परिवहन सुविधाओं की कमी, क्षमता उपयोग की नीची दर, विद्युत आपूर्ति में कमी और अन्य आधारिक आगतों की पूर्ति में कमी अल्प औद्योगिक निष्पादन के लिये उत्तरदायी रहे हैं।

सातवीं पंचवर्षीय योजना - सातवीं पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास की दर संतोषजनक रही है। सातवीं योजना अवधि में औद्योगिक उत्पादन व द्धि की वार्षिक दर 7.54 प्रतिशत रही है जो योजना के लक्ष्य 8.7 प्रतिशत से कुछ ही कम है। परन्तु सातवीं पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक उत्पादन की औसत व द्धि दर छठी योजना की औसत वार्षिक संव द्धि दर 5.9 प्रतिशत की तुलना में अधिक ऊंची रही है। सातवीं योजना में औद्योगिक उत्पादन व द्धि के कारण विनिर्माण क्षेत्र की उल्लेखनीय प्रगति रही है। वर्ष 1990-91 में भी औद्योगिक उत्पादन में 8.5 प्रतिशत की व द्धि हुई। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आठवीं योजना का आरम्भ औद्योगिक विकास के सम्यक् परिवेश में हुआ। निम्नलिखित तालिका 1 में योजना की अवधि में औद्योगिक उत्पादों की संव द्धि दर का विवरण दिया गया है।

आठवीं पंचवर्षीय योजना - आठवीं योजना परिवर्तित आर्थिक नीति के परिपेक्ष्य में लागू की गयी। आठवीं योजना में आर्थिक उदारीकरण की नीति का क्रियान्वयन किया गया है। आठवीं योजना के प्रथम वर्ष (1992&93) में औद्योगिक उत्पादन में व द्धि दर केवल 2.3 प्रतिशत रही। यह माना गया कि संरचनात्मक परिवर्तन लागू होने से उसके परिणाम आने में समय लगता ही है। परन्तु 1992-93 के बाद औद्योगिक उत्पादन बढ़ने लगा और 1995-96 में औद्योगिक उत्पादन में लगभग 12 प्रतिशत की व द्धि हुई। इसके बाद औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर में कमी होने लगी और 1997-98 में घटकर 4.2 प्रतिशत हो गयी। कुल मिलाकर आठवीं योजना में औद्योगिक उत्पादन की औसत वार्षिक व द्धि दर 7.24 प्रतिशत रही है।

तालिका 1

औद्योगिक उत्पादन की संव द्धि दर

(प्रतिशत में)

अवधि	औसत वार्षिक संव द्धि दर
प्रथम योजना	8.0
द्वितीय योजना	8.2
त तीय योजना	8.2
वार्षिक योजनायें	2.8
चतुर्थ योजना	4.4
पांचवी योजना	7.0
छठी योजना	5.9
सातवीं योजना	7.5
आठवीं योजना	7.2

Source : Plan Reports

औद्योगिक प्रगति की विशेषताएं

(Characteristics of industrial Progress)

भारत में योजनाकाल में हुए औद्योगिक विकास ने अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक परिवर्तन, विविधीकरण और आधुनिकीकरण तथा आत्मनिर्भरता की प्राप्ति में सहायता की है। आज औद्योगिक द ष्टि से सबसे अधिक विकसित राष्ट्रों में भारत का स्थान आठवाँ है। संयुक्त राज्य अमरीका और रूस के बाद भारत में ही सर्वाधिक प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ हैं, जबकि नियोजन आरम्भ के समय देश में मशीनों के आयात के साथ-साथ प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों को भी आयात करना पड़ता था। यद्यपि योजनाकाल में औद्योगिक क्षेत्र का अत्यन्त तीव्र विकास हुआ है, परन्तु यह प्रगति सम्पूर्ण योजनाकाल में समरूप नहीं रही। नियोजन के प्रथम 14 वर्षों तक औद्योगिक प्रगति की दर लगभग 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। इसके पश्चात् अधिक उतार-चढ़ाव की प्रव त्ति रही। 1966-68 की अवधि में औद्योगिक विकास लगभग अवरुद्ध रहा। 1976-77 में औद्योगिक विकास की दर अत्यधिक ऊंची 9.5 प्रतिशत रही। पुनः 1979-80 में यह घटकर 1.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गयी। औद्योगिक विकास के इस उतार-चढ़ाव की प्रकृति के लिए कई तत्व उत्तरदायी थे। आरम्भिक वर्षों का औद्योगिक विकास मुख्य रूप से आयात प्रतिस्थापन पर आधारित था। बाजार की पर्याप्त उपलब्धता थी। इस कारण औद्योगिक प्रगति की उच्च दर बनी रही। परन्तु बाद के वर्षों में निम्न औद्योगिक निष्पादन के लिए प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश, महत्वपूर्ण औद्योगिक आगतों (यथा ऊर्जा, परिवहन, कोयला सीमेंट) की प्राप्ति की कमी, जलवायु में तीव्र उतार-चढ़ाव आदि उत्तरदायी रहे हैं। परन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि योजनाकाल में औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति संतोषजनक रही है। योजनाकाल में हुई औद्योगिक प्रगति की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित रही हैं।

1. औद्योगिक उत्पादन में तीव्र व द्धि
(Rapid Growth in Industrial Production)

औद्योगिक प्रगति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचक तत्व विभिन्न उद्योगों के वार्षिक भौतिक उत्पादन में होने वाली व द्धि रही है। निम्नलिखित तालिका 2 से प्रतीत होता है कि कुछ औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन 1950-51 की तुलना में कई गुना अधिक हो गये हैं। विभिन्न औद्योगिक उत्पादन यथा कोयला, लोहा, सीमेंट, वस्त्र, कागज, पेट्रोलियम आदि के उत्पादन में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

तालिका 2

औद्योगिक उत्पादन की प्रगति

उद्योग	1950-51	1998-99
1. कोयला (मिलियन टन)	32.8	315.7
2. इस्पात (मिलियन टन)	1.0	23.8
3. कच्चा लोहा (मि.टन)	3.0	70.7
4. ट्रैक्टर (लाख)	- -	2.7
5. अल्यूमिनियम (लाख टन)	0.4	5.4
6. नत्रजनित उर्वरक (लाख टन)	0.1	10.1
7. कागज (लाख टन)	0.1	3.1
8. सीमेंट (मिलियन टन)	2.7	88.0
9. पेट्रोलियम उत्पादन (मि.टन)	0.2	63.7
10. जूट उत्पादन (लाख टन)	0.8	1.6
11. सूती वस्त्र (करोड़ मीटर)	421.5	1794.0
12. चीनी (लाख टन)	1.2	13.5
13. विद्युत (विलियन कि.वा.)	5.3	444.8

Source : Economic Survey 1999-2000

औद्योगिक उत्पादन की व द्धि का आकलन उद्योग समूहों की वार्षिक व द्धि दर से ज्ञात किया जा सकता है। निम्नलिखित तालिका 3 में विभिन्न समूहों के वार्षिक व द्धि दर प्रदर्शित की गयी है। 1984-85 से विभिन्न उद्योग समूहों की वार्षिक व द्धि दर में कमी आयी है। 1991-92 में वार्षिक व द्धि अत्यन्त कम रही है और विनिर्माण उद्योगों के लिए व द्धि दर 1991-92 में ऋणात्मक रही। सामान्य रूप से यह कहा गया है कि 1991-92 में औद्योगिक नीति में परिवर्तन हुआ। समग्र आर्थिक नीति उदारीकरण की ओर अग्रसर हुई। अतः समायोजन की स्थिति के इस संक्रमणीय अवस्था में संव द्धि दर का नीचा होना स्वाभाविक हो जाता है। 1991-92 के बाद मुख्य उद्योगों की संव द्धि दर में पुनः सुधार आया। 1994-95 में औद्योगिक उत्पादन की संव द्धि दर बढ़कर 8.8 प्रतिशत हो गयी और 1995-96 में औद्योगिक विकास की दर 12.8 प्रतिशत रही है। परन्तु इसके पश्चात् औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर घट गयी। नयी आर्थिक नीति औद्योगिक विकास पर जोर देती है। अतः यह अत्यंत खटकने वाली बात है।

तालिका 3
मुख्य उद्योगों में वार्षिक दर

वर्ष	खनन भार	विनिर्माण	विद्युत	सामान्य
1994-95	7.6	8.5	8.5	8.4
1995-96	9.6	13.8	8.1	12.8
1996-97	-2.0	6.7	4.0	6.6
1997-98	5.9	6.7	6.6	6.6
1998-99	-1.7	4.3	6.5	4.0

Source : Economic Survey 1999-2000

औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक विकास का एक वैकल्पिक मापक है। इसके द्वारा औद्योगिक उत्पादन के मूल्य में व द्धि की स्थिति स्पष्ट होती है। औद्योगिक उत्पादन सूचकांकों के आधार पर औद्योगिक प्रगति की स्थिति दिखायी जाती है। सूचकांकों से प्रतीत होती है कि 1951-73 की अवधि में विद्युत मशीनरी, गैर-विधुत मशीनरी, रासायनिक पदार्थ आदि के उत्पादन-सूचकांकों में भारी व द्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन के सामान्य सूचकांक 1951 के 54.8 से बढ़कर 1973 में 200.8 हो गये। विकासशील आर्थिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में सूचकांक की कोई प्रचलित श्रं खला कुछ समय बाद पुरानी पड़ जाती है। समय बीतने पर कुछ नवीन उद्योग जो सूचकांकों में नहीं थे, आरम्भ हो जाते हैं। पुराने उद्योग विभिन्न दरों पर विकसित होने लगते हैं। इस कारण प्रचलित श्रं खला अप्रचलित और अनुपयोगी हो जाती है। इसलिये सूचकांकों के आधार पर वर्ष में परिवर्तन किया जाता है। इसी आधार पर 1960-61 के आधार वर्ष के अनुसार चलने वाला सूचकांक औद्योगिक प्रगति के संदर्भ में अधिकाधिक गैर-निरूपक बन गया। परिणामतः अधिक व्यापक क्षेत्र तथा संशोधित भारित प्रणाली के साथ औद्योगिक उत्पादन का नवीन सूचकांक 1970-71 को आधार वर्ष मानकर बनाया गया है। औद्योगिक उत्पादन के भारित सूचकांक 1970-71 के 100 से बढ़कर 1979 में 149.5 हो गये। देश में 1980-81 के बाद पूंजीगत वस्तु उद्योग और आधारिक उद्योग में सर्वाधिक व द्धि हुई है। पूंजीगत वस्तु उद्योगों और आधारिक वस्तु उद्योगों के उत्पादन सूचकांक तीव्र गति से बढ़े। निम्नलिखित तालिका 4 से स्पष्ट है कि खनन निर्माण, विनिर्माण और विद्युत उत्पादन के सूचकांक तीव्र गति से बढ़ा है। औद्योगिक उत्पादन के सामान्य सूचकांक 1980-81 के 100 की तुलना में 1993-94 में 232.0 हो गये। 1993-94 से आधार वर्ष 1993-94 माना गया है। औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक 1993-94 — 100 की तुलना में 1998-99 में 143.1 हो गये।

तालिका 4
औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक
आधार वर्ष (1980-81 में 100)

वर्ष	खनन	निर्माण एव विनिर्माण	विद्युत	योग
1981-82	117.7	107.9	110.2	109.3
1990.91	221.2	207.8	236.8	212.6
1993-94	231.5	223.5	290.0	232.0
आधार वर्ष (1993-94 — 100)				
1994-95	107.6	108.5	108.5	108.4
1996-97	115.6	131.8	122.0	129.1
1997.98	122.4	140.6	130.0	137.6
1998-99	120.3	146.7	138.4	143.1

Source : Economic Survey 1999-2000

2. संरचनात्मक परिवर्तन
(Structural Change)

भारत में औद्योगिक उत्पादन में महत्त्वपूर्ण प्रगति के साथ-साथ औद्योगिक क्रियाओं में महत्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन भी हुए हैं। नियोजन काल में मूल एवं आधारिक उद्योग, विद्युत मशीनरी और उपकरण, विद्युत, धातु पदार्थ तथा परिवहन उपकरण, रासायनिक पदार्थ और खनिज पदार्थ तथा अन्य आधारिक वस्तुओं के उद्योग विकसित हुए हैं, जबकि सूती वस्त्र और जूट जैसे परम्परागत क्षेत्र के उद्योग अपेक्षाकृत कम विकसित हुए हैं। औद्योगिक क्षेत्र के इस संरचनात्मक परिवर्तन ने औद्योगिक क्षेत्र को अधिक आधुनिक और परिपक्व बनाने में सहायता की है। औद्योगिक क्षेत्र की यह संरचनात्मक प्रगति उस आयोजित विकास नीति का परिमणाम है जो मूल तथा आधारिक उद्योगों के विकास हेतु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद अपनायी गयी है। औद्योगिक संरचना में ऐसे विभिन्न उद्योग जुड़े जिनका नियोजन के आरम्भ में अस्तित्व ही नहीं था। नवीनतम प्रौद्योगिकी पर आधारित इन उद्योगों ने अर्थव्यवस्था को अधिक सक्ष बनाने में सहायता की है।

हाल के वर्षों में सूचना प्रौद्योगिकी और इलैक्ट्रानिक के क्षेत्र में क्रांतिक परिवर्तन आया है। सूचना क्रांति में भारत की स्थिति अत्यन्त शक्तिशाली हो रही है। यह अनुमान है कि इस क्षेत्र में भारत की स्थिति निकट भविष्य में 'महाशक्ति' की बन जायेगी। साफ्टवेयर उद्योग क्षेत्र की संव द्धि दर सर्वाधिक है। साफ्टवेयर क्षेत्र से 1998-99 में लगभग 2.6 बिलियन डालर का उत्पाद निर्यात किया गया। यह अनुमान है कि सन् 2008 तक लगभग 50 बिलियन डालर के साफ्टवेयर उत्पाद का निर्यात होने लगेगा। इसी प्रकार इलैक्ट्रानिक उद्योग की प्रगति अत्यन्त महत्वपूर्ण और तीव्र है। इलैक्ट्रानिक उद्याग की 1998-99 में संव द्धि दर 28 प्रतिशत रही है। साफ्टवेयर कम्पनियों के जोखिम और अनिश्चितता प्रबन्धन हेतु भारत सरकार ने 100 करोड़ रुपये से "सूचना प्रौद्योगिकी जोखिम फंड" स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। इसी क्रम में कृषि क्षेत्र में प्रक्रिया इकाइयों की तीव्र प्रगति हुई है। कृषि क्षेत्र में प्रक्रिया उद्योग का विकास कृषि उत्पादों के मूल्य संवर्धन और निर्यात की द ष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

3. राष्ट्रीय आय में बढ़ता योगदान
(Increasing Contribution in National Income)

राष्ट्रीय उत्पाद में औद्योगिक क्षेत्र का लगातार बढ़ता योदान इस तथ्य का द्योतक है कि अर्थव्यवस्था में औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक तीव्र गति से हुई है। नियोजन आरम्भ के समय औद्योगिक क्षेत्र का अंशदान अत्यन्त कम था। उदाहरण के लिए विनिर्माण, निर्माण, विद्युत, गैस, जलपूर्ति का राष्ट्रीय आय में योगदान 1950-51 में केवल 14.5 प्रतिशत था जो 1980-81 में बढ़कर 21.2 प्रतिशत हो गया। अब इसके अंशदान में अपेक्षाकृत अधिक व द्धि हो गयी हैं। सम्पूर्ण द्वितीयक क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में अंशदान बढ़ कर लगभग 32 प्रतिशत हो गया है। भारत में अब आधुनिक विकासजन्य औद्योगिक वस्तुयें सुदूर गांवों में सुगमतापूर्वक देखी जा सकती है। उपभोक्ता वस्तुओं और उत्पादन वस्तुओं, दोनों का उत्पादन बढ़ा है।

4. सार्वजनिक उद्यमों का विकास
(Growth of Public Enterprises)

नियोजन के पूर्व औद्योगिक क्रियाओं में निजी क्षेत्र का वर्चस्व था। इससे प थक् योजनाकाल में औद्योगिक क्षेत्र में एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन सार्वजनिक क्षेत्र का प्रसार रहा है। नियोजन काल में सार्वजनिक उद्योगों के रूप में नवीन उद्योगों का प्रसार हुआ है। 1950-51 में सार्वजनिक क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के उद्यमों की संख्या केवल 5 थी और इसमें कुल विनियोजित पूंजी 29 करोड़ रुपये थी। 1990-91 में सार्वजनिक उद्यमों की संख्या बढ़कर 236 और इनमें विनियोजित पूंजी 101702 करोड़ रुपये हो गयी। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रसार ने अर्थव्यवस्था में आधारिक संरचना स जित कर दिया है और अब यह निजी क्षेत्र के प्रसार का भी आधार बन गया है। औपनिवेशिक शासनकाल में सार्वजनिक उद्यम की भूमि नगण्य थी। यह प्रव त्ति समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्यों के अनुरूप है। समग्र रूप से यद्यपि रोजगार और उत्पादन व द्धि की द ष्टि से अब भी निजी क्षेत्र का वर्चस्व बना है, परन्तु सार्वजनिक उद्यमों में विनियोजित पूंजी भारतीय कारखाना उद्योग

में विनियोजित कुल पूंजी का 56 प्रतिशत से अधिक भाग है। वस्तुतः सार्वजनिक क्षेत्र का अधिकांश प्रसार मूल एवं भारी उद्योगों में हुआ है जो अत्यन्त पूंजी-प्रधान प्रकृति के हैं।

5. आयात प्रतिस्थापन और निर्यात में व द्धि (Import Substitution and Export Promotion)

योजना आरंभ के पूर्व देश का औद्योगिक आधार अत्यन्त जर्जर और निम्न स्तरीय था। इस कारण मशीनों के अतिरिक्त निर्मित सामान्य उपभोग वस्तुओं का भी आयात होता था। योजनाकाल में आयात प्रतिस्थापन की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। कई वस्तुओं के संदर्भ में आयातों पर निर्भरता अत्यन्त कम हो गयी है। भारत में 1950-51 में मशीनों के संदर्भ में आयातों पर निर्भरता 80 प्रतिशत थी। यह आयात निर्भरता 1977-78 में घटकर 15 प्रतिशत रह गयी। इस प्रकार उपर्युक्त अवधि में पेट्रोलियम की आयात निर्भरता 93 प्रतिशत से घटकर 60 प्रतिशत रह गयी है। लोहा एवं इस्पात के संदर्भ में लगभग आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली गयी है। औद्योगिक विकास के कारण निर्यातों के मूल्यों में तो व द्धि हुई है, साथ-साथ निर्यात संरचना में भी परिवर्तन आ गया है। पहले निर्यात संरचना में परम्परागत निर्यात वस्तुओं, यथा मसाले, चमड़ा, जूट, तिलहन आदि की ही प्रधानता थी जबकि अब गैर-परम्परागत वस्तुओं, यथा इंजीनियरिंग और रासायनिक वस्तुओं को योगदान बढ़ रहा है।

6. विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Science and Technology)

औद्योगिक क्षेत्र में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के नवीनतम प्रयोग और अन्वेषण सम्मिलित किये गये हैं। भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकीय अनुसंधानों ने पूर्वतः विद्यमान औद्योगिक समूहों के मात्रात्मक और गुणात्मक प्रसार के साथ-साथ औद्योगिक संरचना में नवीन उद्योगों का समावेश कर उसे विविधीकृत करने का भी प्रयास किया है। हाल के वर्षों में अत्याधिक जटिल और आधुनिक उद्योगों तथा मशीनरी पेट्रोलियम उत्पादन, रसायन और रासायनिक उत्पादन, धातु उत्पादन, इलेक्ट्रानिक, विद्युत और विद्युत मशीनरी एवं परिवहन उपकरण आदि तथा नितान्त नवीन उद्योगों के क्षेत्र में ट्रेक्टर, इलेक्ट्रानिक, रासायनिक उर्वरक आदि ऐसे उद्योग विकसित हुये हैं जिनका 1951 में अस्तित्व भी नहीं था। परन्तु योजनाकाल में इन उद्योगों का इस स्तर तक प्रसार हुआ कि इनके उत्पादों का आयात अब नाम का ही किया जाता है। औद्योगिक संरचना मे अब नितान्त विकसित प्रौद्योगिकी पर आधारित है। तथा औद्योगिक उत्पादन में रासायनिक और इंजीनियरिंग उद्योगों का अंशदान बढ़ता जा रहा है। सबसे महत्वपूर्ण तत्व यह है कि हाल के वर्षों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी शोध प्रयासों के परिणामस्वरूप आगामी औद्योगिक विकास के लिए आधारशिला निर्मित की जा चुकी है। प्रौद्योगिकी ने न केवल सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के बड़े उद्योग समूहों को प्रभावित किया है बल्कि इससे लघु और कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। इस क्षेत्र में परम्परागत वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों के साथ नवीन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले विभिन्न उद्योग स्थापित हो गये हैं। छठी पंचवर्षीय योजना में यह कहा गया है कि आगामी औद्योगिक विकास, प्रौद्योगिकी उत्तमता के विकास पर ही आधारित है।

7. कुटीर उद्योगों एवं पिछड़े क्षेत्रों का विकास (Cottage Industries and Development of Backward Areas)

भारत में लघु एवं कुटीर उद्योगों का सुद ढ़ विकेन्द्रित आधार एक ऐतिहासिक सत्यता है जिसे ब्रिटिश शासनकाल में विभिन्न प्रतिरोधक माध्यमों से नष्ट कर दिया गया था। योजनाकाल में इन लघु और कुटीर उद्योगों को विकसित करने का प्रयास किया गया। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में लघु एवं कुटीर उद्योगों को विकसित करने का प्रयास किया गया। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में लघु एवं कुटीर उद्योगों को विकसित करने के लिये आर्थिक, तकनीकी और बाजार सम्बन्धी सुविधाएं प्रसारित की गयीं। परिणामतः इस क्षेत्र में तेजी से प्रगति हुई हैं। लघु आकारीय पंजीकृत औद्योगिक इकाइयों की कुल संख्या 1950-51 में केवल 16 हजार थी। पंजीकृत औद्योगिक इकाइयों की यह संख्या 1994-95 में बढ़कर 25.7 लाख हो गयी। इनमें इस समय लगभग 14.6 मिलियन लोगों को रोजगार मिला है तथा इनसे 29399 करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन होता है।

औद्योगिक विकास किसी क्षेत्र के पिछड़ेपन को दूर करने का एक प्रमुख माध्यम है। संतुलित आर्थिक विकास की परिकल्पना यह अपेक्षा भी करती है कि पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाये। इस नीति के क्रियान्वयन हेतु नयी औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के लिये जो लाईसेंस दिये गये उनमें अधिकतर देश के पिछड़े क्षेत्रों के लिये दिये गये। संतुलित क्षेत्रीय विकास की द ष्टि से देश के पिछड़े राज्यों और क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्यमों को स्थापित किया गया।

औद्योगिक विकास की कमजोरियां
(WEAKNESS OF INDUSTRIAL DEVELOPMENT)

योजनाकाल में हुये औद्योगिक विकास ने देश के विकास मार्ग को अधिक गतिशील बनाया है। परन्तु औद्योगिक विकास कार्यक्रमों से समाज को अपेक्षित परिणाम नहीं मिल सके हैं। इस संदर्भ में औद्योगिक विकास में निहित निम्नलिखित प्रमुख कमियां हैं -

1. योजनाकाल में हुये औद्योगिक विकास का क्षेत्रीय वितरण अत्यन्त असमान है। देश की औद्योगिक क्रियायें मुख्य रूप से आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बंगाल में केन्द्रित हैं। यह अनुमान है कि इन राज्यों में ही देश की औद्योगिक क्रियाओं का लगभग 80 प्रतिशत भाग केन्द्रित है। इन राज्यों में ही देश के लगभग 75 प्रतिशत कारखाने केन्द्रित हैं। देश के कुल औद्योगिक उत्पादन में भी इन राज्यों का ही योगदान सर्वाधिक है। देश के अन्य राज्यों में औद्योगिक क्रियाओं का व्यापक प्रसार अपेक्षित है। लघु औद्योगिक इकाइयों का भी प्रसार सीमित क्षेत्रों में ही हुआ है।

2. औद्योगिक क्षेत्र की दूसरी अत्यन्त महत्वपूर्ण कमजोरी विभिन्न औद्योगिक इकाइयों में व्याप्त औद्योगिक रुग्णता की समस्या है। बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों के साथ लघु स्तरीय इकाइयों में भी औद्योगिक रुग्णता की समस्या विद्यमान है। समस्त रुग्ण औद्योगिक इकाइयों की संख्या 1991 में 223809 थी जिनमें अवरुद्ध पूंजी 19768 करोड़ रुपये थी। औद्योगिक रुग्णता के कारण उत्पन्न, रोजगार और आय स जन पर प्रतिकूल प्रभाव हो रहा है।

3. भारत में औद्योगिक विकास के साथ-साथ तदनुरूप रोजगार अवसरों में विकास नहीं हुआ। औद्योगिक क्रियायें क्रमशः पूंजी प्रधान होती गयी। 1981-91 की अवधि में जनसख्या में व द्धि की वार्षिक दर 2.1 प्रतिशत रही है। परन्तु इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार अवसरों की वार्षिक व द्धि दर इससे भी कम रही है। भारत में किसी भी विकास परियोजना से रोजगार स जन के पक्ष को अलग नहीं किया जा सकता है। रोजगार स जन की द ष्टि से औद्योगिक क्षेत्र का अल्प निष्पादन इसकी एक प्रमुख कमी रही है।

4. स जित क्षमता का विदोहन किसी उत्पादन संयंत्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है। भारत में विभिन्न औद्योगिक इकाइयां अपनी स जित क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पा रही हैं। कई क्षेत्रों में तो स्थापित क्षमता का 30-40 प्रतिशत भाग ही उपयोग हो पा रहा है। सीमेंट, लोहा-इस्पात, जूट, सूती वस्त्र और विविध इंजीनियरिंग इकाइयों में क्षमता के अल्प उपयोग की समस्या बनी है। इससे रोजगार और उत्पादन पर तो प्रतिकूल प्रभाव हो ही रहा है साथ-साथ स्वल्प पूंजीगत संसाधन भी अप्रयुक्त अवस्था में रह जाते हैं। कई उद्योगों का उत्पादन गुणवत्ता की द ष्टि से प्रतिस्पर्धी नहीं रह पाता है। इस कारण विदेशी बाजारों में उसकी मांग कम हो जाती है। क्षमता के अल्प उपयोग के कारण उत्पादित वस्तुओं की प्रति इकाई लागत अधिक हो जाती है। इसलिए कीमत की द ष्टि से भी वे विश्व बाजार में प्रतिस्पर्धी नहीं रह जाती हैं।

5. औद्योगिक प्रगति की एक अन्य मुख्य विसंगति यह रही है कि इसने जनसामान्य के उपभोग की वस्तुओं के प्रति अपेक्षाकृत कम सजगता प्रदर्शित की है। आज बाजार कीमती उपभोक्ता वस्तुओं से भरा है। परन्तु मोटा कपड़ा, उर्वरक, कृषि संयंत्र, चीनी एवं घरेलू उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन कम बढ़ा है। उनकी कमी पड़ जाती हैं। आज आवश्यकता जनसामान्य द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन बढ़ाने की है और उत्पादन प्रविधि इस प्रकार होनी चाहिए ताकि बहुसंख्यक लोगों को रोजगार अवसर उपलब्ध हो सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade)

व्यापार : राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
(Trade : National and International)

'व्यापार' शब्द का अर्थ प्रायः क्रय विक्रय के रूप में लिया जाता है। यह क्रय विक्रय अथवा वस्तुओं तथा सेवाओं का लेन-देन ऐसे व्यक्तियों में हो सकता है जो एक ही नगर के निवासी हों अथवा ऐसे व्यापारियों के मध्य हो सकता है जो विभिन्न नगरों में निवास करते हों। किन्तु एक ही राज्य की सीमा के अन्तर्गत आते हों अथवा कुछ ऐसे व्यक्तियों के बीच हो सकता है जो विभिन्न देशों में रहते हों। वास्तव में, प्रथम दो उदाहरणों में होने वाला व्यापार 'देशी व्यापार' या 'राष्ट्रीय व्यापार (Home Trade or National Trade)' कहलाता है जबकि अन्तिम उदाहरण के अन्तर्गत आने वाला व्यापार 'अन्तर्राष्ट्रीय (International Trade)' कहलाताा है। इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है।

उल्लेखनीय है कि 'राष्ट्र' अथवा 'देश' से आशय कुछ विद्वानों ने आर्थिक द ष्टि से लिया है जबकि कुछ ने राजनीतिक द ष्टि से। उदाहरणार्थ, बैजहॉट (Bagehat) के अनुसार, "राष्ट्र उत्पादकों का एक ऐसा समूह है, जिसके अंदर श्रम और पूंजी स्वतंत्र रूप से गतिशील (Mobile) होते हैं।" किन्तु फ्रीमैन (Freeman) के अनुसार, "राष्ट्र भूमि का वह भाग है, जिसके निवासी एक सी ही भाषा बोलते हैं और एक ही राज्यसत्ता के अधीन आते हैं।"

प्रायः एक देश की आर्थिक एवं राजनीतिक सीमाएं समान हुआ करती हैं, इसलिए दोनों परिभाषाओं के अंतर को कोई विशेष व्यवहारिक महत्व (Practical Importance) नहीं है। अतः जब व्यापार दो अलग-अलग देशों के बीच जल, थल और वायुमार्गों के द्वारा होता है, तब वह 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' कहलाता है। स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाने के लिए वस्तुओं व सेवाओं का राष्ट्र की सीमा से पार जाना आवश्यक है।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता
(Similarities between Home & International Trade)

ओहलिन के कथानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तक्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है वास्तव में, इस कथन में कुछ सत्यता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक या देशी व्यापार (जिसे अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार भी कहते हैं) में कुछ मूलभूत (basic) समानताएं हैं जो निम्नलिखित हैं।"

1. **दोनों ही प्रकार के व्यापारों का उद्देश्य विनिमय करना (Object of both Types of Trade is Exchange)** - देशी या आन्तरिक व्यापार का उद्देश्य यह है कि जिस स्थान पर जो वस्तु अधिक मात्रा (Surplus) में उत्पन्न या उपलब्ध होती है वहां से उसे उन स्थानों को भेजा जाए जहां वह कम (Scarce) मिलती है। इससे अधिक उत्पादन वाले क्षेत्रों का माल बिक जाता है और कमी वाले क्षेत्रों की पूर्ति हो जाती है। यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की है जिसके अन्तर्गत कमी वाले देशों (Deficit Countries) को अतिरिक्त उत्पत्ति वाले देशों (Surplus Countries) से माल उपलब्ध होता रहता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के व्यापार का उद्देश्य विनिमय होता है।

2. **अधिकतम संतुष्टि की प्राप्ति (Attainment of Maximum Satisfaction)** : देशी व्यापार के अन्तर्गत विभिन्न देशों में पारस्परिक लेन-देन (Mutual Exchange) इस द ष्टि से होता है कि कुछ स्थान अन्य वस्तुएं बनाने की बजाए प्रत्येक वस्तु का निर्माण वहीं होता है। जहां वह सस्ती और बढ़िया बनायी जा सकती है और उसे दूसरे स्थानों की बढ़िया और सस्ती वस्तुओं में बदला जा सकता है। इस प्रकार दोनों स्थानों की जनता को कम मूल्य पर सस्ती और बढ़िया वस्तुएं मिल जाती हैं जिससे उन्हें कम मूल्य पर अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है। यही स्थिति विभिन्न देशों की है। इंग्लैंड पक्का माल निर्मित करता है और उसे निर्यात कर देता है और कृषि तथा दूध आदि सम्बन्धी माल आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा डेनमार्क से आयात कर लेता है।

3. **लाभ कमाने का उद्देश्य (Profit Motive)** : देशी व्यापार में निर्यात करने वाला व्यापारी लाभ कमाने की द ष्टि से माल भेजता है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य भी महंगाई वाले क्षेत्रों को माल भेजकर उससे लाभ कमाना है। इस प्रकार आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार के व्यापार का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य लाभ कमाना होता है।

4. **पारस्परिक सम्बंधों में व द्धि (Strengthening of Metual Relationship)** : आन्तरिक व्यापार के फलस्वरूप व्यापारियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन होता है जिससे विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक सम्बन्धों (Social Relationships) में द ढ़ता आती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा भी विभिन्न देशों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध मजबूत होते हैं और पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ती है।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर
(Differences between Home and International Trade)

उपयुक्त तथ्यों से यह आभास होता है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल सीमा भेद (difference of Extent) है, उसमें कोई मौलिक अन्तर (Fundamental difference) नहीं है, परन्तु यह बात बहुत सही नहीं है, वास्तव में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा देशी व्यापार मे कुछ आधारभूत अन्तर हैं जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक अलग सिद्धांत की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अलग सिद्धांत क्यों?
(Why a Separate Theory for International Trade?)

1. **सीमानियम एवं प्रतिबंध (Frontier Rules and Regulations) :** अन्तर्देशीय या आन्तरिक व्यापार में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में माल भेजने पर कोई बंधन नहीं होते, क्योंकि विभिन्न क्षेत्र एक ही सीमा में होते हैं। इसके विपरीत, विभिन्न देशों में पारस्परिक व्यापार के अन्तर्गत उन देशों की सीमाओं को लांघना पड़ता हैं अतः माल पर कई प्रकार के सीमा शुल्क (Custom Duties) चुकाने पड़ सकते हैं। अनेक बार इन सीमा शुल्कों के कारण विभिन्न देशों का व्यापार बहुत सीमित (Limited) मात्रा में होता है।

कभी-कभी एक देश में भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में माल भेजने पर प्रतिबंध (Restrictions) लगा दिये जाते हैं किन्तु ऐसा केवल विशेष संकट की परिस्थितियों में ही किया जाता है।

2. **आयात-निर्यात नीति एवं लाइसेंस व्यवस्था (Import and Export Policies and Licensing System)** : एक देश की सरकार की व्यापारिक अथवा आर्थिक नीति (Commercial or Economic Policy) सब क्षेत्रों के लिए समान होती है क्योंकि आर्थिक नीति का निर्धारण प्रायः केन्द्रीय सरकार द्वारा होता है। किन्तु विभिन्न देशों में आर्थिक नीतियां भिन्न-भिन्न होती है। विकासशील देशों (developing countires) में प्रायः विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के आयात पर प्रतिबंध लगा दिये जाते हैं ताकि उनका व्यापार अथवा भुगतान संतुलन ठीक स्तर पर रह सके। इसके अतिरिक्त, दूसरे देशों से माल आयात करने अथवा माल भेजने के लिए लाइसेंस भी लेने पड़ते हैं। बहुत से देशों से माल आयात करने अथवा माल भेजने के लिए लाइसेंस भी लेने पड़ते हैं। बहुत से देशों में सरकार छः महीनें या वर्ष भर के लिए आयात-निर्यात की नीति घोषित करती है (भारत में हर छठे मास आयात-निर्यात नीति की घोषणा की जाती है) और उसी नीति के अनुसार विभिन्न वस्तुओं के आयात-निर्यात सम्बन्धी लाइसेंस दिये जाते हैं। आन्तरिक व्यापार में लाइसेंस आदि लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

3. **परिवहन की समस्या (Problem of Transport)** : एक ही देश के आन्तरिक व्यापार में प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाने में उस देश के सड़क, रेल अथवा जल मार्गों का सहयोग तत्काल उपलब्ध हो जाता है जबकि विदेशों में जब कोई 'जहाजी कम्पनी सम्बन्धित देशों के लिए माल भेजने वाली हो तो माल भेजने में अनेक बार उचित समय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कुछेक देशों में परिवहन के साधन बहुत विकसित नहीं है। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी असुविधा (inconvenience) रहती है।

4. **विभिन्न मुद्राएं एवं उनके परिवर्तन की समस्या (Different Currencies and their Conversion)** : आन्तरिक

व्यापार में सम्पूर्ण लेन-देन एक मुद्रा के माध्यम से होता है अतः मूल्याकंन (Value) करने तथा भुगतान करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती, क्योंकि माल सम्बन्धी बीजक सब जगह एक ही मुद्रा में बनाये जाते हैं। इसके विपरीत, विदेशी व्यापार के अन्तर्गत सबसे बड़ी कठिनाइयां भुगतान सम्बन्धी होती है क्योंकि विभिन्न देशों की मुद्राएं भिन्न होती हैं। उन मुद्राओं की विनियम - दरें (Exchange Rates) ज्ञात करना सरल नहीं होता और बहुत से देशों में विनियम नियन्त्रण कानूनों (Exchange Control Regulations) के कारण विदेशी भुगतान में कठिनाई रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) के सहयोग से यह समस्या बहुत कुछ सरल हो गयी है। परन्तु फिर भी विदेशी भुगतान में उतनी सरलता नहीं हैं जितनी कि आन्तरिक व्यापार में है।

5. **श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता दोनों व्यापारों में समान न होना (Mobility of Labour and Capital not Equal)**: विभिन्न देशों में श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता उतनी नहीं होती जितनी कि एक ही देश में होती है, क्योंकि विभिन्न देशों में श्रमिकों (श्रम सेवाओं, काम के घंटों तथा पारिश्रमिक और भत्तों) सम्बन्धी कानून (Labour Laws) समान नहीं होते और पूंजी विनियोग सम्बन्धी व्यवस्था (Capital Investment Procedure) भिन्न-भिन्न रहती है। अतः कभी-कभी तो जिन देशों का व्यपार संतुलन (Balance of trade) विपक्ष में होता है, वहाँ लोग सरकार की आज्ञा बिना दूसरे देशों में ऋण भी नहीं ले सकते और निर्यातक देश (Exporting Countries) आयातक देश में पूंजी विनियोग भी नहीं कर सकते। इसके विपरीत, आन्तरिक व्यापार में उधार माल खरीदने या बेचने तथा एक क्षेत्र के व्यक्तियों द्वारा दूसरे क्षेत्र में पूंजी लगाने में कोई कठिनाई नहीं होती उपर्युक्त अन्तर मौलिक अथवा गंभीर नहीं है। (The above differences are not fundamental or serious)

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जो अन्तर या असमानताएं बतायी गयी हैं वे आधारभूत (basic) नहीं हैं बल्कि उनमें केवल श्रेणी (degree) का अन्तर है क्योंकि

1. अनेक बार बहुत बड़े देशों (जैसे भारत, चीन, रूस, ब्राजील आदि) के अन्दर उनके विभिन्न क्षेत्रों (जैसे उत्तरप्रदेश और बिहार) की जलवायु, भूमि तथा खनिज उत्पत्ति में अंतर होते हैं।
2. इसके अतिरिक्त परिवहन एवं संचार के साधनों के विकास (Development of means of transport and communication) ने संसार के विभिन्न देशों को एक दूसरे के बहुत समीप (Close) ला दिया है और उनमें पारस्परिक लेन-देन में विशेष कठिनाई नहीं होती।
3. जहां तक सीमाओं का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएं (International boundaries) बंद होने के स्थान पर खुलती जा रही है। यूरोप, अफ्रीका, लेटिन अमरीका आदि में साझा बाजार (Common Markets) स्थापित किय गये हैं जिसके अनुसार विभिन्न देशों में व्यापारिक बंधन (Trade Restrictions) धीरे-धीरे समाप्त किय जाने की संभावना है। इसके विपरीत बड़े देशों में बहुत सी बार एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में माल भेजने पर रोक लगा दी जाती है।
4. आर्थिक नीतियां (Economic Policies) निर्धारित करते समय भी वर्तमान युग में अन्य देशों की व्यापारिक सुविधाओं का ध्यान रखा जाता है अतः यह समस्या विशेष गंभीर नहीं है।
5. श्रम की गतिशीलता में गत बीस वर्षों में पर्याप्त व द्धि हुई है। यूरोपीय देशों में तो प्रायः श्रमिक एक देश से दूसरे देश में बिना संकोच एवं रोक टोक आते जाते हैं। उदाहरण के लिए, स्विटरजरलैंड से जर्मनी जाना अधिक सरल एवं निकट है जबकि चण्डीगढ़ से मद्रास जाना अधिक कठिन है क्योंकि दूरी बहुत अधिक है।
6. जहाँ तक पूंजी की गतिशीलता का प्रश्न है, पूंजी का विनियेग भी अब सुविधाजनक हो गया है। क्योंकि प्रायः सभी देशों की सरकारों ने इस सम्बन्ध में उदार नीति अपना रखी है। बैकिंग सुविधाओं के विस्तार ने इस समस्या को अधिक सरल बना दिया है।
7. मौद्रिक नीतियों अथवा मुद्राओं की समस्या की भिन्नता भी अब बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह गयी है क्योंकि विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दरों को उचित स्तर पर बनाये रखने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष बहुत सहयोग देता है।

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कुछ अंशों में आन्तरिक व्यापार का ही एक विस्त त रूप है। इस द ष्टि से ओहलिन के यह शब्द कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्देशीय व्यापार का ही विशिष्ट रूप है" बहुत कुछ सत्य प्रतीत होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण
(Causes of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धांत (Classical Theory of International Trade) बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की क्या आवश्यकता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्या आधार (Basis) है। ये प्रश्न स्वाभाविक और सरल होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण है। अतः इनका उत्तर देना आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मौलिक आधार : श्रम विभाजन (Fundamental Basis of International Trade : Division of Labour) - सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान युग विशिष्टीकरण का युग (Age of specialisation) है और प्रत्येक देश केवल वही वस्तुएं निर्मित करना चाहता है जिन्हें वह कम मूल्य पर बढ़िया किस्म की बना सके। इस प्रकार की उत्पादन नीति के अन्तर्गत अधिकांश वस्तुएं कम से कम लागत पर बढ़िया किस्म की बनती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से सब देशों में पहुंचती है। इससे सब देशों को लाभ होता है। इस सम्बन्ध में खास बात यह है कि विनिमय (चाहे वह देश में हो या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर) द्वारा दोनों ही पक्षों को लाभ होता है।

लागतों में अंतर
(Differences in Costs)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक प्रमुख कारण यह है कि विभिन्न देशों में विभिन्न वस्तुओं की लागतों का अन्तर होता है और जो देश जिस वस्तु को कम लागत पर बना सकता है वह उसे बनाकर अन्य देशों को निर्यात करता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि लागतों के यह अन्तर तीन प्रकार के हो सकते हैं।

क) निरपेक्ष या पूर्ण अंतर (Absolute Differences)

ख) सापेक्ष या तुलनात्मक अन्तर (Relatic or Comparative Differences)

ग) समान अन्तर (Equal Differences)

इन पर अलग-अलग विचार करना उचित होगा।

क) पूर्ण या निरपेक्ष अंतर (Absolute Differences)

आशय - कभी-कभी किसी देश की किसी वस्तु के उत्पादन में विशेष सुविधाएं (Special Facilities) उपलब्ध होती हैं। यह सुविधाएँ बढ़िया भूमि, अच्छी जलवायु, खनिज अथवा शक्ति साधनों की उपलब्धि, योग्य मजदूरों की उपलब्धि, जल की प्रचुरता अथवा अन्य प्रकार की हो सकती है। इन सुविधाओं के कारण यह देश कुछ वस्तुएं सस्ती (Cheap) अथवा अधिक (More) बना सकते हैं। अतः अन्य देश वे वस्तुएं स्वयं निर्मित करने की बजाय उस देश से आयात करना उचित समझते हैं जहां से यह सस्ती मिल सकती हैं। लागतों के इस अंतर को पूर्ण अथवा निरपेक्ष अन्तर कहते हैं।

उदाहरण - पूर्ण अथवा निरपेक्ष अन्तर

देश	श्रम व पूंजी की मात्रा (इकाइयों में)	गेहूं का उत्पादन (इकाइयों में)	गन्ने का उत्पादन (इकाइयों में)
भारत	1	2	3
पाकिस्तान	1	3	2

उपयुक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि श्रम और पूंजी की 1 इकाई से भारत 2 इकाई गेहूं उत्पन्न करता है जबकि पाकिस्तान 3 इकाई। अतः विशिष्टकरण की द ष्टि से पाकिस्तान के लिए गेहूं उत्पन्न करना अधिक लाभदायक है।

दूसरी ओर 1 इकाई श्रम और पूंजी से भारत 3 इकाई गन्ना उत्पन्न करता है जबकि पाकिस्तान केवल 2 इकाई गन्ना उत्पन्न करता है अतः भारत के लिए गन्ना उत्पन्न करना अधिक लाभदायक होगा। अब दोनों वस्तुओं की तुलना कीजिए :

भारत - 1 इकाई गेहूं = 1.5 इकाई गन्ना

पाकिस्तान - 1 इकाई गेहूं = 0.7 इकाई गन्ना

व्यापार का स्वरूप - स्वाभाविक रूप में, भारत पाकिस्तान को 1 इकाई गेहूं के बदले 0.7 इकाई से अधिक गन्ना (या चीनी) दे सकता है और यह मात्रा 1.5 इकाई तक हो सकती है जो पाकिस्तान के उत्पादन से लगभग दुगुनी है। पाकिस्तान स्वयं गन्ना (चीनी) उत्पन्न करने के बजाय गेहूं का उत्पादन करेगा और सस्ता गन्ना या चीनी भारत से लेगा। इसी प्रकार पाकिस्तान भारत को 0.7 इकाई से कुछ अधिक गन्ना (या चीनी) के बदले 1 इकाई गेहूं दे सकता है जो भारत के लिए बहुत सस्ता है। लाभ - भारत और पाकिस्तान यह निश्चित कर लें कि भारत पाकिस्तान को 1 इकाई गेहूं के बदले 1 इकाई गन्ना देगा तो 2 इकाई श्रम और पूंजी से दोनों को निम्नलिखित लाभ होंगें।

	गेहूं	गन्ना
भारत का उत्पादन		6 इकाई
पाकिस्तान का उत्पादन	6 इकाई	

अब भारत पाकिस्तान को 2 इकाई गन्ना देकर 2 इकाई गेहूं ले लेता है। ऐसी स्थिति में दोनों के पास निम्नलिखित माल होगा।

	व्यापार के पश्चात स्थिति		व्यापार के पूर्व स्थिति	
	गेहूं	गन्ना	गन्ना	गेहूं
भारत	2 इकाई	4 इकाई	2 इकाई	3 इकाई
पाकिस्तान	4 इकाई	2 इकाई	3 इकाई	2 इकाई

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा भारत के पास गन्ने की 1 इकाई और पाकिस्तान के पास गेहूं की 1 इकाई अधिक है। यही दोनों देशों का लाभ है। परिवहन एवं अन्य व्यय - यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि प्रस्तुत उदाहरण में परिवहन एवं अन्य व्यय (Transport Charges) तथा अन्य खर्चों पर ध्यान नहीं दिया गया है। वास्तव में यह खर्च ही दोनों देशों का करने पड़ते हैं। अतः लाभ की मात्रा दोनों ही देशों के लिए कुछ कम हो जाती है। व्यवहारिक जीवन में यह खर्च बहुत अधिक नहीं होते और अधिक मात्रा में माल खरीदने पर इनका प्रतिशत बहुत कम होता है। अतः खर्चें जोड़ने पर भी माल की मात्रा या अनुपात में विशेष अन्तर आने की संभावना नहीं है।

ख) **सापेक्ष या तुलनात्मक अन्तर (Relative or comparative dfferencess)** आशय लागतों में निरपेक्ष अन्तर का तात्पर्य यह होता है कि कोई देश कुछ वस्तुओं का उपादन करने में लाभदायक स्थिति में है और कुछ वस्तुओं का उत्पादन करने में अलाभदायक स्थिति में। अतः वह लाभदायक स्थिति वाली वस्तु का ही उत्पादन करता है और निर्यात कर देता है तथा बदले में अन्य वस्तुएं (जिन्हें वह ऊँची लागत पर तैयार कर सकता है) आयात कर लेता है। यह अत्यन्त सरल एवं सामान्य बात है। कभी-कभी कोई देश कई (या सभी) वस्तुएँ कम लागत पर तैयार करने की स्थिति में होता है किन्तु उनमें भी वह कुछ वस्तुएँ बहुत कम लागत पर तैयार कर सकता है और शेष वस्तुएं मामूली कम लागत पर ऐसी स्थिति में उसके लिए यही उचित होता है कि वह अपने श्रम और पूँजी के साघनों को बहुत कम लागता वाली वस्तुओं के उत्पादन में विनियोजित करे और शेष वस्तुएं विदेशों से आयात कर लें। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

	श्रम की एक	गेहूँ	कपास
भारत	इकाई से	40 इकाई	20 इकाई
पकिस्तान	उत्पादन	20 इकाई	10 इकाई

प्रस्तुत उदाहरण में भारत पकिस्तान की तुलना में गेहूँ तथा कपास दोनों ही वस्तुँए अधिक या सस्ती उत्पन्न करने की स्थिति में है किन्तु तुलनात्मक द ष्टि से भारत कपास का उत्पादन करने में अधिक लाभदायक स्थिति मे है क्योंकिः

भारत में 1 इकाई कपास 2 इकाई गेहूँ,

पाकिस्तान में 1 इकाई कपास 3 इकाई गेहूँ

व्यापार का स्वरूप एवं लाभ, अतः सम्भावना यह है कि भारत केवल कपास उत्पन्न करेगा तथा पकिस्तान से 1 इकाई कपास के बदले मे 2 से अधिक इकाई गेहूँ प्राप्त कर लेगा। पाकिस्तान 1 इकाई कपास प्राप्त करने के लिए 3 इकाई तक गेहूँ दे सकता है। अतः यदि उसे 2, $2\frac{1}{2}$ या $2\frac{3}{4}$ इकाई गेहूँ के बदले। इकाई कपास की प्राप्ति हो जाए, तो भी उसे लाभ रहेगा। उधर भारत की 1 इकाई कपास के बदले 2 से अधिक इकाइँया गेहूँ मिलेगा। जो उसके लिए लाभदायक होगा।

(ग) समान अन्तर (Equal Differenes) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तभी सम्भव होता है। जबकि दो वस्तुओं की लागत में निरपेक्ष अथवा सापेक्ष अन्तर होते है। यदि लागतों में अन्तर समान हो तो उन वस्तुओं में व्यापार होने की कोई सम्भावना नहीं है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

	श्रम की एक	गेहूँ	कपास
भारत	इकाई से	40 इकाई	20 इकाई
पकिस्तान	उत्पादन	30 इकाई	15 इकाई

प्रस्तुत उदाहरण में, भारत में 1 इकाई कपास $-$ 2 इकाई गेहूँ

पाकिस्तान में 1 इकाई कपास 2 इकाई गेहूँ

व्यापार क्यों नहीं होगा? अतः यदि भारत केवल गेहूँ उत्पादन करता है। तो वह निश्चय ही पकिस्तान से अधिक उत्पादन करेगा। उदारहणतः वह श्रम की दोनों इकाइयाँ गेहूँ के उत्पादन पर लगा दे तो उसे 80 इकाई गेहूँ उपलब्ध होगा परन्तु 20 इकाई कपास प्राप्त करने के लिए 40 इकाई गेहूँ पकिस्तान की देना पड़ेगा। इस प्रकार उसके पास कुल 40 इकाई गेहूँ और 40 इकाई कपास होगी। यह स्थिति वही है जो बिना व्यापार के समय थी। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यापार में परिवाहन का कुछ व्यय भी होता है। अतः दोनों के व्यापार द्वारा गेहूँ या कपास प्राप्त करने से दोनों वस्तुएँ महँगी ही पडेगी। अतः इन वस्तुओं में व्यापार होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

व्यापार की वास्तविक दरें (Real Terms of Trade)

तुलनात्मक तथा निरपेक्ष लागतों में भिन्नता के कारण दो देशों में उन वस्तुओं का व्यापार तो होता है परन्तु प्रश्न यह उठता है कि वह व्यापार किस दर पर होगा? उदाहरणतः लागतो में निरपेक्ष अन्तर की दशा में भारत पाकिस्तान को 1 इकाई गेहूँ के बदले 1.5 इकाई तक गन्ना दे सकता है जबकि पाकिस्तान भारत से 1 इकाई गेहूँ के बदले 0.7 इकाई तक गन्ना लेने को तैयार हो सकता है। वास्तव में, इन दोनों देशों में गेहूँ के 0.7 तथा गन्ना की पारस्परिक मांग (Reciprocal Demand) द्वारा ही यह निर्धारण होगा कि भारत और पकिस्तान कीं 1 इकाई गेहूँ क बदले कितना गन्ना देगा। यह निश्चित है कि 1 इकाई के बदले में दिये जाने वाले गन्ने की मात्रा 0.7 इकाई से लेकर 1.5 इकाई के बीच होगी। यदि पकिस्तान में गन्ने की माँग अधिक है तो उसे 1 इकाई गेहूँ के बदले में वह 1 इकाई गेहूँ के बदले 1.5 इकाई तक गन्ना प्राप्त कर सकता है।

सापेक्षिक अन्तर की दशा में पाकिस्तान भारत की 1 इकाई कपास के बदले में 3 इकाई तक गेहूँ देने को तैयार हो जायेगा किन्तु दोनो की विनिमय दरे 2 और 3 इकाई गेहूँ के बीच निश्चित हो सकती है। यदि भारत में गेहूँ की माँग अधिक होगी तो दर 2 इकाई गेहूँ के निकट निकट निश्चित होगी तथा माँग कम होने पर वह पाकिस्तान से 1 इकाई कपास के बदले 3 इकाई तक गेहूँ ले सकेगा।

तुलनात्मक लागत का सिद्धांत (Theary of Comparative costs)

प्रतिष्ठित सिद्धांत (Classical Theary) ही तुलनात्मक या सापेक्षिक लागत का सिद्धांत कहलाता है। यह सिद्धांत प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो (Ricardo) द्वारा प्रतिपादित किया गया था। रिकार्डो का मत था कि एक ही देश में श्रम और पूंजी गतिशीलता के कारण विभिन्न उघोगों में समान लाभ रहने की सम्भावना रहती है। परन्तु विभिन्न देशों में श्रम और पूंजी गतिशील (Mobile) नही रहते अतः उनमें तुलनात्मक लागतें भिन्न होती हैं। इस भिन्नता के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उदय होता है।

प्रो. जे. एस.मिल (J.S. Mill) ने भी मत की पुष्टि की कि दो देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सापेक्षिक लागतों में अन्तर के कारण उत्पन्न होता है ओर दोनों में पारस्परिक विनिमय की दी एक दूसरे की माँग की तीव्रता के आधार पर निश्चित होती है।

वास्तव में, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार, विभिन्न देश उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें वह कम से कम लागत पर बना सकते हैं। इस नीति के परिणामस्वरूप ही विशिष्टीकरण की भावना को बल मिलता है और अन्तराष्ट्रीय व्यापार में व द्धि होती है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत की मान्यताएं
(Assumptions of the comparative cost theory)

रिकार्डो तथा मिल ने तुलनात्मक लागत सिद्धांत का प्रतिपादन करते समय कुध मान्यताओं का सहारा लिया जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैः

1. केवल श्रम ही उत्पादक (Labour alone Productive) इस सिद्धांत के प्रतिपादकों के मत के अनुसार केवल श्रम ही उत्पादक तत्व है, अतः लागत केवल श्रम की इकाइयों (units of labour) में बतायी गयी है।
2. समान लागत का नियम (Applicability of the law of constant returns) दूसरी मान्यता यह थी कि व्यापार करने वाले देशो में समान उत्पादन का नियम लागू होता है।
3. उत्पादन के साधनों की स्थिरता (Immobility of factors of production) सिद्धांत की तीसरी मान्यता यह थी कि उत्पादन के विभिन्न तत्व, (श्रम, पूँजी आदि) विभिन्न देशों में आ जा नहीं सकते।
4. परिवहन व्यय (Transport costs) परिवहन व्यय पर ध्यान नहीं दिया गया।
5. व्यापारिक प्रतिबन्धों का न होना (Absense of trade Restrictions) यह मान लिया गया कि विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।
6. समान अर्थिक महत्व की वस्तुएँ (Commodities of equal Economic importance) जिन वस्तुओं में व्यापार होता है। वे समान आर्थिक महत्व की होती हैं।
7. आर्थिक साम्य की दशा (Condition of economic equalibrium) यह सिद्धांत व्यापार करने वाले देशों में अर्थिक साम्य की स्थिति की कल्पना करता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत में सुधार (improvements in the comparative cost theory) आधुनिक अर्थशस्त्रियों ने तुलनात्मक लागत के सिद्धांत को स्वीकार किया है किन्तु इसमें तीन महत्वपूर्ण सुधार किये गये हैं।

(1) **लागतों को मुद्रा में व्यक्त करना (Expressing cost in Terms of Money)** प्रतिष्ठित अर्थशस्त्रियों ने तुलनात्मक लागतें केवल श्रम की इकाइयों में प्रकट की थीं परन्तु वर्तमान युग में यह स्वीकार कर लिया गया है। (और यह सत्य भी है) कि उत्पादन लागत में केवल श्रम ही सम्मिलित नहीं है, उसमें पूँजी तथा अन्य तत्वों को सम्मिलित करना भी आवश्यक है दूसरे, लागत को श्रम की इकाइयों में नापना भी उचित नहीं है क्योंकि न तो सब देशों में श्रम की इकाइयाँ समान होती है न उनकी कुशलता या मूल्य ही समान होता है। अतः लागत मूल्य को मुद्रा में व्यक्त करना ही उचित है जिससे लागतों की सही तुलना की जा सके। वास्तव में प्रत्येक देश उन वस्तुओं को आयात करता है जिनकी लागत उस देश में अधिक तथा निर्यात करने वाले देश में कम है। यह तुलना मुद्रा में ही ठीक प्रकार की जा सकती है

(2) **उत्पत्ति के ह्रास एंव व द्धि नियमों का महत्व (Importance of Laws of decreasing and Increaring returns)** प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने तुलानात्मक लागत सिद्धांत को इस मान्यता पर आधारित किया था कि उत्पादन में समान लागत का नियम (Law of constant Returns) लागू होता है। किंतु यह मान्यता भ्रामक एवं अनावश्यक (Misleading and unnecessary) है। आधुनिक अर्थशस्त्रियों का यह मत है कि उत्पादन में और इससे निर्यात होने वाले माल में लाभ की मात्रा कम हो जाती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निरूत्साहित होता है। इसके विपरीत, यदि उत्पादन में बढ़ती हुई उत्पत्ति का नियम लागू होता है तो अधिक माल का उत्पादन करने से लागत में कमी आती है जिससे माल

की बिक्री पर लाभ की मात्रा में व द्धि होती है। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ने की प्रव ति होती है। उपर्युक्त द ष्टिकोण से यह मानना उचित है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धांत सभी परिस्थितियों में लागू होता है चाहे उत्पादन में घटती हुई लागत का नियम लागू हो रहा है या मूल्य में निरन्तर व द्धि हो रही है।

(3) माँग की लोच का महत्व (Importance of Elasticity of demand)- तुलनात्मक लागत सिद्धांत का विवेचना करते समय रिकार्डो ने यह तो बताया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कौन कौन सी वस्तुओं मे होता है परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि उन वस्तुओं का वास्तविक विनिमय किस दर पर होता है। इसके साथ ही यह भी निश्चित नहीं किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की दर कैसे निर्धारित होती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि दो देशों में जिन वस्तुओं में लेने देन होता है उनकी पारस्परिक विनिमय दर उन वस्तुओं की माँग की लोच पर निर्भर करती है। जिस वस्तुओं की माँग लोचदार होती है उस पर लाभ की मात्रा अधिक होगी और व्यापार की शर्त भी उस देश के अनुकूल होगी।

वास्तव में, व्यापार में लाभ की मात्रा का निर्धारण विभिन्न देशों में विभिन्न वस्तुओं की माँग की तीव्रता (Intensity of demand) पर निर्भर करता है। जिस वस्तुओं की माँग की तीव्रता अधिक होगी, मूल्य या विनिमय दर उसी वस्तु के अनुकूल होगी तथा उसी वस्तु पर अधिक लाभ होगा।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का वर्तमान रूप

(Modern Version of the C-C theory)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक युग ने तुलानात्मक लागत सिद्धांत का क्षेत्र (Scope) अत्यंत व्यापक मान लिया गया है और उत्पादन की विभिन्न परिस्थितियों में इसकी क्रियाशीलता (applicability) को स्वीकार कर लिया गया है। यह बात तो स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल लागतों में अन्तर की स्थिति में ही संम्भव हो सकता है।

1. लागतों में निरपेक्ष अन्तर (Absolute difference in Costs) लागतों में निरपेक्ष अन्तर को मौद्रिक रूप में निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

	लागत प्रति किलोग्राम	
	चावल	**पटसन**
भारत	1रू	2रू
बांग्लादेश	2रू	1रू

अब भारत के लिए यह उचित है कि वह चावल का उत्पादन करे क्योंकि वह चावल का उत्पादन 1 रूपये प्रति किलोग्राम कर सकता है जबकि जूट का उत्पादन वह 2 रूपये प्रति किलोग्राम की दर पर करता है। इसके विपरीत, बंगलादेश को जूट का ही उत्पादन करने में लाभ है क्योंकि वह जूट का उत्पादन 1 रूपये प्रति किलोग्राम की दी पर करने में समर्थ है जबकि चावल का उत्पादन करने में उसकी लागत 2 रूपये प्रति किलोग्राम बैठती है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में यदि भारत केवल चावल का उत्पादन करता है, तो वह पटसन बंगलादेश उसे 2 रूपये प्रति किलोग्राम से कम भाव पर दे सकता है क्योंकि उसकी लागत केवल 1 रूपये प्रति किलोग्राम है। अब दोनों देशों में चावल तथा पटसन का व्यापार होगा और भारत में पटसन तथा बंगला देश में चावल का आयात किया जाएगा।

प्रश्न यह है कि पटसन तथा चावल की विनिमय दर क्या होगी। यह तो निश्चित है कि दोनों के भाव 1 रूपये किलों से ऊपर तथा 2 रूपये किलो से कम होगें, परन्तु वास्तविक दर इस बात पर निर्भर करेगी कि भारत में पटसन की माँग कितनी तीव्र या लोचदार है तथा बंगलादेश में चावल की मांग प्रभावशाली है। यदि दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की सामान्य माँग है तो दोनों वस्तुओं के मूल्य 1.5 रूपये किलो के आस पास निश्चित हो सकते हैं किन्तु चावल की मांग अधिक तीव्र होने पर चावल का मूल्य 2 रूपये किलों की अधिक होगा और पटसन की माँग अधिक तीव्र होने पर पटसन का मूल्य 2 रूपये किलो के समीप होगा। इस तीव्रता से ही दोनों देशों के लाभ की मात्रा निर्धारित होगी।

2. लागत में तुलनात्मक अन्तर (compartive Difference in costs) मौद्रिक द ष्टि से तुलनात्मक अन्तर निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाते है।

	(लागत प्रति किलोग्राम)	
	चावल	**पटसन**
भारत	1रू	2रू
बांग्लादेश	1.5रू	2.5रू

प्रस्तुत अंको के स्पष्ट है कि भारत चावल तथा पटसन दोनों ही वस्तुएं बंगलादेश की तुलना में सस्ती उत्पन्न कर सकता है, परन्तु भारत में 2 किलो चावल 1 किलो पटसन

बंगला देश 5/3 किलों चावल 1 किलो पटसन (2.5÷1.5)

अतः भारत के लिए चावल का उत्पादन करना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि वह बंगलादेश के 5/3 किलोग्राम (या कुछ अधिक किन्तु 2 किलोग्राम से कम) चावल के बदले 1 किलो पटसन प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार, बंगलादेश के लिए पटसन का उत्पादन करना श्रेष्ठ होगा। क्योंकि वह भारत से 1 किलोग्राम पटसन के बदले 5/3 किलोग्राम से अधिक (किन्तु 2 किलोग्राम से कम) चावल प्राप्त कर सकता है।

उपयुक्त सौदा 5/3 किलोग्राम और 2 किलोग्राम के बीच कहां निश्चित होगा वह इस बात पर निर्भर है कि

1. चावल और पटसन की माँग की लोच कितनी है?
2. भारत और बगंलादेश के बीच परिवहन की सुविधाएं तथा व्यय कितना है।
3. चावल और पटसन के उत्पादन में कौन सार उत्पति निमय (बढ़ती हुई या घटती हुई उत्पति का) लागू हो रहा है।

वास्तव मे यदि चावल की माँग अधिक तीव्र है तो 1 किलो पटसन के बदले लगभग 5/3 किलो चावल ही मिलेगा। परन्तु यदि पटसन की माँग अधिक तीव्र हो, तो 1 किलो पटसन के बदले मिलने वाले चालव की मात्रा 2 किलो के अधिक निकट होगी।

यदि दोनों देश में परिवहन की कठिनाईयां है या परिवहन व्यय अधिक है तो व्यापार की मात्रा बहुत अधिक सीमित रहेगी। परिवहन की सुविधा तथा कम व्यय होने पर चावल तथा पटसन का आवागमन निरन्तर चलता रहेगा।

यदि चावल के उत्पादन में बढ़ती हुई उत्पत्ति का नियम लागू होता है (जो अधिक समय तक सम्भव नहीं है) तो भारत बंगलादेश को अधिक सस्ता चावल दे सकेगा। जबकि पटसन में बढ़ती हुई उत्पत्ति का नियम लागू होने पर पटसन सस्ती दी जा सकेगी।

3. समान अन्तर (Equal Cost-differences) - तीसरी स्थिति ऐसी है जिसमें लागतों में समान अन्तर होते हैं। ऐसी परिस्थिति में दोनों देश दोनों वस्तुएं स्वयं निर्मित करेंगे क्योंकि उन्हें व्यापार में लाभ होने की कोई सम्भावना नहीं है। उदाहरणत

	सूत	**वस्त्र**
भारत	2 रुपये	3 रुपये
पाकिस्तान	2.4 रुपये	3.6 रुपये

इससे स्पष्ट है कि भारत और पाकिस्तान में सूत ओर कपड़े के उत्पादन व्यय का अनुपात 1 :1.5 है। अतः दोनों में से कोई भी केवल एक वस्तु के उत्पादन पर आश्रित नहीं रहेगा क्योंकि दूसरी वस्तु आयात करने में उसे कोई लाभ नहीं है, बल्कि परिवहन व्यय और देना पड़ेगा। अतः लागत में समान अंतर होने की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने की सम्भावना नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्राप्त लाभ को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors Affecting Profit from International Trade) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जो लाभ प्राप्त होता है उसे प्रभावित करने वाले निम्न तत्व हैं।

1. **व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)** - प्रो. टोजिंग (Taussing) के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उस देश को सर्वाधिक लाभ होता है जिसके माल की विदेशों में बहुत मांग है तथा जो स्वयं अन्य देशों के माल की कम से कम मांग करता है।" इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी देश में विदेशी माल की मांग कम होती है तो स्वाभाविक रूप से उस देश को माल सस्ता ही मिलेगा और इस क्रिया में निर्यातक देश को विशेष लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार, यदि किसी देश के माल की विदेशों में बहुत मांग हो, तो विदेशी लोग माल के लिए ऊंचे मूल्य देने को तैयार होंगें। जिसके फलस्वरूप वह अधिक लाभ कमा सकेगा। इसके साथ ही जिस देश के माल की मांग अधिक है। वह माल के बेचने में अपनी शर्तें पूरी करवा सकता है और मर्जबंद देश को वे शर्तें पूरी करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इसके विपरीत, जो देश ऐसी वस्तुएं तैयार करते हैं जिनमें बहुत स्पर्द्धा है, उन्हें सरल शर्तों पर माल बेचना पड़ेगा।

2. **लागतों में तुलनात्मक अन्तर** - यदि दो देशों में उत्पादित एक जैसी वस्तुओं के मूल्यों में अत्याधिक अन्तर है तो स्वाभाविक रूप में लाभों की मात्रा अधिक होगी। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि खरीदने और बेचने के मूल्यों में जितना अन्तर होगा, लाभ उतना ही अधिक होगा। यदि लागतों में अन्तर अधिक नहीं है तो लाभों की मात्रा कम होगी।

3. **विक्रय संगठन की क्षमता (Capacity of the selling Organisation)** - जिस देश की विक्रय व्यवस्था संगठित एवं सुव्यवस्थित है, विज्ञापन या माल बेचने की व्यवस्था अच्छी है और माल सरल व सुविधाजनक शर्तों पर बेचा जाता है, उस देश को निश्चित रूप से अधिक माल बेचने का अवसर मिलेगा और उसे व्यापार में भी अधिक लाभ होगा। इसके विपरीत यदि माल के विज्ञापन की व्यवस्था ठीक नहीं है, बेचने की शर्तें, असुविधाजनक है तथा माल भेजने की नियमित व्यवस्था नहीं है, तो न तो उस देश का माल बिक सकेगा और न ही उसे यथोचित लाभ हो सकेगा।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतों के तुलनात्मक अन्तर पर निर्भर करता है और विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा उन देशों के पारस्परिक मूल्यान्तर, व्यापार की दशा तथा विक्रय, संगठन की कुशलता पर निर्भर करती हैं

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ

(Advantages of International Trade)

1. **विशिष्टीकरण (Specialization)** - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप विभिन्न देश केवल उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें वे सस्ता तथा उत्तम बना सकते हैं। अतः विभिन्न क्षेत्रों में वस्तुओं के उत्पादन का विशिष्टीकरण हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप संघ वस्तुओं की उत्पत्ति अनुकूलतम परिस्थितियों में होती है। जो आर्थिक विकास के लिए श्रेष्ठ है।

2. **उत्पादन पद्धतियों में क्रान्ति (Revoluation in Production Methods)** - विशिष्टीकरण होने के कारण प्रत्येक देश अपने उत्पादन में नयी-नयी प्रणालियों एवं आविष्कारों का सहारा लेता है जिससे उत्पादन में नयी रीतियां अपनायी जाती हैं जो कम मूल्य पर अधिक और बढ़िया माल बनाने में सहायक होती हैं। उत्पादन की नयी रीतियों का संचार के अन्य भागों में प्रचार होने से उत्पादन के क्षेत्र में अनेक सुधार होने लगते हैं। वास्तव में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण लोगों को एक ही व्यवसाय में शक्ति केन्द्रित करने का अवसर मिलता है। जिससे आविष्कारों को प्रोत्साहन मिलता है।

3. **स्पर्द्धा तथा मूल्यों में कमी (Decrease in Competition and Prices)** - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों में पारस्परिक स्पर्द्धा होती है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक देश अपने माल की लागत में कमी लाने की चेष्ठा करता है और किस्म में सुधार लाने का प्रयत्न करता है। इसके फलस्वरूप उपभोक्ताओं को प्रायः सब प्रकार का माल सस्ता और बढ़िया मिलता है।

4. **एकाधिकारों से बचाव (Protection against Monpolise)** - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण माल एक देश से दूसरे देश में आता जाता रहता है। जिससे माल में प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है। इसके परिणामस्वरूप किसी देश में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती।

5. **अतिरिक्त माल का उपयोग (Utilisation of Surplus Production)** - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसके माध्यम से विभिन्न देश अपने (कच्चे या पक्के माल से सम्बन्धित) अतिरिक्त उत्पादन को

दूसरे देशों में बेच सकते हैं। इससे उन देशों का अतिरिक्त माल बिक जाता है जिससे इन्हें शीघ्र लाभ भी होता है। इसके अतिरिक्त माल के निर्यात के बदले वह देश दूसरे देशों से अन्य प्रकार का माल आयात कर सकते हैं। फलतः दोनों देशो के उपभोक्ताओं को विभिन्न प्रकार के माल उपयोग करने का अवसर मिल जाता है।

6. **आर्थिक सहयोग** (Economic Cooperations) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसके माध्यम से संसार के विभिन्न देशों में पारस्परिक सहयोग की भावना को बल मिलता है। जिन देशों में कच्चे माल या शक्ति साधनों की अधिकता होती है। उनमें विकसित देश पूंजी लगाकर वहां नये उद्योगों का विकास करने में सहयोग दे देते हैं। इसके अतिरिक्त सभी देशों में पारस्परिक हित के कार्यों में अधिकाधिक सहयोग होने लगता है। जिससे उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में अधिकाधिक विकास होता है।

7. **संकट में सहायता** (Helpful in Times of Crisis) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप आर्थिक द ष्टि से सम्पन्न देश दुर्बल एवं निर्धन देशों को आर्थिक संकट के समय सहायता प्रदान कर देते हैं। जिससे इन देशों को संकट से छुटकारा मिल जाता है। बदले में विकसित देशों को कच्चा माल, श्रम या अन्य वस्तुएं उपलब्ध हो जाती है जिससे उनके उद्योगों का कार्य चलता रहता है।

8. **सांस्कृतिक सम्बन्ध** (Cultural Ties) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप विभिन्न देशों के व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल एक देश से दूसरे देश में आते-जाते रहते हैं। इससे विभिन्न देशों के निवासियों की आपस में मिलने के अवसर प्राप्त होते रहते हैं। जिससे उनमें सांस्कृतिक सम्बन्धों की व द्धि होती है। इन देशों में राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर आदान-प्रदान व सद्भाव बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मधुरता आती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानियाँ

(Disadvantages of International Trade)

1. **राजनीतिक हस्तक्षेप** (Political Interference) - कभी-कभी किसी देश में इतना अधिक माल आयात होने लगता है कि उसको भुगतान करने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई के फलस्वरूप निर्यात करने वाला देश आयात करने वाले देश को ऋण तो दे देता है परन्तु उस देश की आर्थिक एवं प्रशासनिक नीतियों में हस्तक्षेप करने लगता है। कभी-कभी तो निर्यातक देश का प्रभुत्व आयातक देश की प्रशासन व्यवस्था पर इतना अधिक हो जाता है कि आयातक देश की स्थिति दास की सी हो जाती है। यह एक अत्यन्त गम्भीर स्थिति है जिससे बचने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर उचित निगाह रखना आवश्यक होता है।

2. **देशी उद्योगों की हानि** (Loss of Home Industries) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कभी-कभी विभिन्न देशों में विदेशों से माल बेरोक-टोक आयात होने लगता है। जिसके फलस्वरूप आयातक देश के निर्बल उद्योगों को भीषण स्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है और उन उद्योगों का बढ़ना कठिन हो जाता है। वास्तव में, विकासशील देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए आयातों पर कुछ बंधन लगाने पड़ते हैं ताकि देशी उद्योगों को पनपने का उचित अवसर मिल सके।

3. **विदेशों पर निर्भरता** (Dependence on Foreign Countries) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कभी-कभी विदेशों पर निर्भरता अत्यधिक बढ़ जाती है। कुछ वस्तुओं का देश में बिल्कुल उत्पादन नहीं किया जाता क्योंकि वे अन्य देशों में सस्ती एवं अच्छी बनायी जा सकती हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि उन देशों से सम्बन्ध बिगड़ने पर युद्ध सरीखी स्थिति में उत्पन्न होने पर वह माल मिलने में बहुत कठिनाई होती है। वास्तव में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप विदेशी माल पर निर्भरता की जो स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह कभी-कभी अत्यन्त घातक होती है।

4. **राष्ट्रीय साधनों का शोषण** (Exploitation of National Resources) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कच्चा माल उत्पन्न करने वाले देशों से खनिज तथा अन्य कच्चा माल बेरोक-टोक विकसित देशों को निर्यात होता रहता है। जिससे इन पदार्थों के भण्डार शीघ्र समाप्त होने का भय रहता है। दूसरे, इन देशों को अपने क्षेत्र में इन वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योग स्थापित करने का तनिक भी उत्साह नहीं रहता। इस प्रकार इन देशों का लगभग दोहरा, शोषण होता है। क्योंकि एक ओर इन देशों से सस्ता कच्चा माल ले लिया जाता है, दूसरी ओर इनको महंगा निर्मित माल बेचकर लाभ कमाया जाता है।

5. **कृषि प्रधान देशों को हानि** (Loss to Agricultural Countries) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रायः कृषि-प्रधान देशों को अपने माल का कम मूल्य मिलता है क्योंकि निर्मित माल उत्पन्न करने वाले देश प्रायः विकसित होते हैं और उनकी मोलभाव की शक्ति अधिक होती है। इसके अतिरिक्त कृषि-प्रधान देशों में घटती हुई उत्पत्ति का नियम लागू होता है। जबकि निर्मित माल का उत्पादन बढ़ती हुई उत्पत्ति के नियम के अन्तर्गत होता है। अतः कच्चे माल और निर्मित माल के विनिमय में अविकसित तथा कृषि प्रधान देशों को ही हानि होती है।

6. **देश में वस्तुओं का अभाव** (Scarcity of Commodities with in the Company) - कभी-कभी निर्यात व द्धि के लोभ में ऐसी वस्तुओं का निर्यात भी कर दिया जाता है जिनकी देशों में अधिकता नहीं है। इसके परिणामस्वरूप देश में उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव हो जाता है और उपभोक्ताओं को सामान्य वस्तुएं भी महंगी और कठिनाई से मिलती है। इसका एक उदाहरण भारत में मिलता है जबकि देश में चीनी का अभाव होने पर विदेशी विनिमय कमाने की द ष्टि से चीनी का निर्यात करने की नीति अपनाई जा रही है।

7. **राशि पतन** (Dumping) - कभी-कभी विकसित देश अल्पविकसित देशों में अपने माल को सस्ते दामों पर बेचना आरम्भ कर देते हैं ताकि इन देशों की मण्डियों पर अपना अधिकार जमाया जा सके। इस नीति को राशि पतन की नीति कहते हैं। इस नीति के द्वारा अविकसित देशों के उद्योगों को प्रतिस्पर्द्धा में पछाड़ दिया जाता है और उनकी अर्थव्यवस्था विकसित देशों पर निर्भर होने लगती है।

8. **अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष** (International Conflicts) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विभिन्न देशों में आपसी स्पर्द्धा होने लगती है। कभी-कभी अपना माल बेचने का लोभ इतना बढ़ जाता है कि कुछ देश अवांछनीय नीतियां अपनाने लगते हैं। जिससे पारस्परिक द्वेष भावना में व द्धि होने लगती है। यह आर्थिक संघर्ष ही कभी-कभी राजनीतिक संघर्ष का रूप धारण कर लेते हैं। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का रूप खतरा उत्पन्न हो जाता है।

9. **देश में एकागी विकास** (One sided development of the country) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनसे उसे अधिकाधिक लाभ प्राप्त होता है। अतः देश में विभिन्न उद्योग धन्धों का विकास होने के स्थान पर एक-दो व्यवसायों को ही प्रगति होती है। इस समिति का विकास देश की उन्नति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

10. **राष्ट्रीय चरित्र में गिरावट** (Fall in National Character) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप देश में विभिन्न प्रकार की गरीबी तथा विलास की सामग्रियां भी आयात होने लगती हैं क्योंकि विकसित देश विज्ञापन एवं प्रचार के द्वारा वस्तुओं की मांग पैदा कर लेते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि देश में अनावश्यक फैशन एवं विलासिता की व त्तियों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश के चरित्र में गिरावट आती है। विकासशील राष्ट्रों में प्रायः यह बात देखने को मिलती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और मजदूरी

(International Trade and Wages)

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जिन देशों में मजदूरी की दरें कम होती हैं उनमें निर्मित पदार्थों का लागत मूल्य कम होता है। अतः ऐसे देशों से दूसरे देशों को निर्यात अधिक होते हैं। यह विचार सामान्य रूप से सही प्रतीत होता है। परन्तु यह भ्रमपूर्ण है। अविकसित देशों में प्रायः मजदूरी की दरें कम होती हैं अतः उनकी कार्यक्षमता भी कम होती है। किन्तु वहाँ के मजदूर भी कम शिक्षित, कम अशिक्षित, अस्वस्थ एवं अकुशल होते हैं। अतः उनकी कार्यक्षमता भी कम होती है। परिणामस्वरूप वह कम माल का ही उत्पादन कर पाते हैं। इस प्रकार इन देशों में निर्मित माल की वास्तविक लागत निश्चय ही अधिक होती है, अतः इन देशों के निर्यात अधिक नहीं हो सकते।

कभी-कभी किसी देश में प्राविधिक ज्ञान की सुविधाएँ अधिक हो जाती हैं, रोजगार के साधन बढ़ जाते हैं और औद्योगिक विकास की गति तीव्र हो जाती है। ऐसे देशों में मजदूरी दर कम होने से निश्चय ही निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है, जापान इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है, जहां प्राविधिक कौशल एवं यंत्रों के सहयोग से उत्पादन खूब होता है और मजदूरी की दर कम होने से काम की लागत कम आती है। इसलिए जापानी माल सस्ता होता है तथा संसार भर में बिकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मजूदरी पर भी प्रभाव पड़ता है। जिन देशों का पारस्परिक व्यापार काफी मात्रा में होता है। उनको कभी-कभी बहुत लाभ होता है। इस लाभ का एक भाग मजदूरों को देना पड़ता है। ताकि उन्हें अधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिल सके और वे कम लागत पर श्रेष्ठ माल तैयार कर सकें। शिक्षित मजदूरों की मजदूरी पर निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ का प्रभाव पड़ता है।

प्रतियोगिता रहित समूह तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

Non-Competition Groups and International Trade

तुलनात्मक लागत सिद्धांत की यह मान्यता है कि एक देश में एक ही प्रकार का काम करने वाले श्रमिकों की मजदूरी समान होती है क्योंकि मजदूरी भिन्न होने पर कम मजदूरी वाले क्षेत्रों से मजदूर अधिक मजदूरी वाले क्षेत्रों में जाते हैं। इस प्रकार श्रमिकों में प्रतियोगिता के कारण मजदूरी का स्तर समान रहने की प्रव त्ति रहती है। किन्तु यह स्थिति सदा एवं सब स्थानों पर नहीं रहती। कभी-कभी कुछ क्षेत्रों के मजदूर सर्वथा स्थिर होते हैं एवं वह अधिक मजदूरी मिलने पर भी अपने घर या गांव से दूर रहना पसंद नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि देश में प्रतियोगिता रहित समूह विज्ञापन है।

प्रतियोगिता रहित समूहों की उपस्थिति में प्रायः ऐसा होता है कि किसी स्थान पर मजदूरी कम और कही अधिक होती है। कम मजदूरी वाले उद्योग में उत्पादन कम लागत पर होता है। अतः वहाँ से माल अधिक मात्रा में निर्यात किया जाता है। वास्तव में ऐसी स्थिति में लागतों में तुलनात्मक अंतर अधिक होता है और लाभ की मात्रा अधिक होती है और निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है।

जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस प्रकार से प्रतियोगिता-रहित समूह पाये जाते हैं तब उस देश के निर्यात अधिक होंगें व जिसमें उन समूहों की मजदूरी की दरों में अधिक अंतर है। यदि सभी देशों में मजदूरी अधिक अन्तर वाले समूह उपलब्ध हो तो उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। विकसित देशों में जहां परिवहन एंव संचार के साधनों का प्रचुर विकास हो जाता है, वहां प्रतियोगिता रहित समूहों का मिलना कठिना है। किन्तु विकासशील देशों में ऐसे समूह अवश्य मिलते हैं।

अध्याय 5
भुगतान संतुलन
(Balance of Payments)

"What the Periodic Table of Elements is to the Chemist, the Balance of Payments is to the International Economist" - Jevans

किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संबंधो के विश्लेषण के लिए 'भुगतान-संतुलन एक अत्यंत महत्वपूर्ण यन्त्र है। ("The most important tool for analysing the international monetory relations of a Country is the balance of Payments :- A.C.L. Day: outline of Monetary Economics P.363)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं का अन्य देशों से आयात करता है जिसका उसे भुगतान करना होता है तथा कुछ वस्तुओं का निर्याता करता है जिसके बदले में अन्य देशों से भुगतान प्राप्त करता है। विदेशी व्यापार से संबधिंत वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिए प्रत्येक देश को अपने आयातों तथा निर्यातों की कुल मात्रा तथा मूल्य का ज्ञान होना आवश्यक होता है। इस संबंध में व्यापार संतुलन तथा भुगतान संतुलन दो काफी महत्वपूर्ण शब्द हैं। इन्हीं के विश्लेषण से देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संभावनाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की स्थिति का अनुमान लगाया जाता है।

व्यापार संतुलन तथा भुगतान संतुलन का अर्थ

According to Benham :- "Balance of trade of a country is the relation, over a beried between the value of her exports and the value of her imports."

"एक देश का व्यापार संतुलन वह संबंध है जो एक निश्चित अवधि के भीतर उसके आयात और निर्यात के मूल्यों के बीच होता है।"

इस प्रकार व्यापार संतुलन किसी देश के आयातों तथा निर्यातों के अन्तर की ओर संकेत करता है। किसी देश में एक निश्चित अवधि में यदि आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है तो उस देश का व्यापार सतुंलन विपरीत अथवा प्रतिकूल कहलाता है। इसके विपरीत, आयात की अपेक्षा निर्यात का मूल्य अधिक होने की स्थिति में व्यापार संतुलन को अनुकूल कहा जाता है।

विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आयात-निर्यात के अतिरिक्त अन्य प्रकार के लेन-देन भी होते है जैसे-बीमा, जहाजी किराया, बैकों का शुल्क, ब्याज, लाभ, पूँजी का स्थानांतरण, सेवाओं के पुरस्कार इत्यादि। व्यापार संतुलन के अतिरिक्त जब अन्य सभी विदेशी लेन-देन भी सम्मिलित कर दिये जाते है तो यह भुगतान-संतुलन कहलाता है। इस प्रकार, भुगतान-संतुलन किसी देश में एक निश्चित समय में समस्त विदेशी लेन-देन का विवरण होता है।

According to Benham " Balance of payments of a contry is a reocrd of its monetary transactions over a period, with the rest of the world."

"एक देश का भुगतान एक निश्चित अवधि के भीतर उसके बाकी विश्व के साथ मौद्रिक सौदों का लेखा होता है।"

व्यापार-संतुलन तथा भुगतान संतुलन के अन्तर को समझने के लिए द श्य व्यापार तथा अद श्य व्यापार में अन्तर समझना आवश्यक है। वस्तुओं के आयात तथा निर्यात जिन्हें बन्दरगाहों पर लेखांकित कर लिया जाता है, उन्हें विदेशी व्यापार की द श्य मदें अथवा प्रत्यक्ष व्यापार कहा जाता है। अनेक प्रकार की सेवाओं (बैंकिग, बीमा, यातायात, विदेशों में शिक्षा, इलाज इत्यादि) के आयात-निर्यात, पर्यटन, ब्याज तथा लाभांश, सैनिक सहायता, विदेशी दान, जुर्माने अथवा मुआवजें तथा अन्य प्रकार के हस्तांतरण से संबधित आय एवं भुगतान की राशियाँ जिन्हें बन्दरगाहों पर लेखांकित नहीं किया जाता, विदेशी व्यापार की

अद श्य मदें अथवा अप्रत्यक्ष व्यापार कहलाती है।

व्यापार-संतुलन में विदेशी व्यापार की द श्य मदों अर्थात वस्तुओं के आयात-निर्यात की गणना होती है। इस प्रकार, भुगतान संतुलन के अंतर्गत व्यापार संतुलन भी सम्मिलित रहता है। भुगतान-सतुंलन व्यापार-संतुलन की अपेक्षा अधिक विस्त त धारणा है। यदि किसी देश की विदेशों से लेनदारियाँ देनदारियों से अधिक होती है तो उसका भुगतान संतुलन अनुकूल कहा जाता है। इसके विपरीत स्थिति में भुगतान संतुलन प्रतिकूल कहलाता है।

व्यापार-संतुलन तथा भुगतान संतुलन में एक अन्तर और भी है। व्यापार संतुलन में संतुलन से अभिप्राय अन्तर अथवा अतिरेक से है, क्योंकि कोई भी देश सदा अपने आयात तथा निर्यात बराबर नहीं रख पाता। इसके विपरीत, भुगतान संतुलन में संतुलन का अर्थ समानता से लिया जाता है। दूसरे शब्दों में, भुगतान संतुलन सदा सतुंलित रहता है। प्रतिकूल भुगतान संतुलन की स्थिति उत्पन्न होते ही वह देशी विदेशी ऋण अथवा विनियोजन प्राप्त करने के प्रयत्न करता है और यह उसे उन देशों से उपलब्ध हो जाते हैं जिनका भुगतान-संतुलन अनुकूल होता है। भुगतान की कठिनाई को स्वर्ण के निर्यात द्वारा भी पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार व्यापार संतुलन प्रतिकूल रहते हुए भी भुगतान संतुलन संतुलित हो सकता है।

According to Haberler " The term 'balance of payments' is then used in the sense of the whole demand & supply situations"

भुगतान-संतुलन शब्द का प्रयोग कई अर्थो में किया जाता है जिनसे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। विभिन्न अर्थ ये है (1) एक अवधि विशेष में विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय की मात्राएँ (2) विशेष समयावधि में विदशेों को किये गये और विदेशों से प्राप्त भुगतान (3) आय खाते पर भुगतान संतुलन तथा (4) अन्तर्राष्ट्रीय ऋण ग्रस्तता का संतुलन। Haberler के अनुसार भुगतान संतुलन का प्रयोग विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति संबंधी संपूर्ण स्थिति के लिए किया जाना चाहिए, क्योंकि इसी के द्वारा विनिमय दरें प्रभावित होती है।

व्यापार संतुलन तथा भुगतान संतुलन का सापेक्षिक महत्व

Mercantilist अर्थ शास्त्रियों का विचार था कि कोई भी देश-विदेशी व्यापार से तभी लाभ उठा सकता है जब व्यापार संतुलन उसके अनुकूल हो, क्योंकि अनुकूल व्यापार-संतुलन से देश को स्वर्ण तथा चाँदी की प्राप्ति होती है। किन्तु समस्या की गहराई में जाने से पता चलता है कि व्यापार संतुलन की अपेक्षा भुगतान संतुलन का अनुकूल होना अधिक महत्वपूर्ण होता है व्यापार-संतुलन जैसा कि ऊपर बनाया गया हैं, भुगतान संतुलन का ही एक प्रमुख अंग है। किसी देश का व्यापार-संतुलन अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी, परन्तु प्रतिकूल व्यापार संतुलन से सदा ही यह आशय नहीं होता कि देश की आर्थिक दशा असंतोषजनक है और न ही अनुकूल व्यापार-संतुलन सदा देश की आर्थिक स्थिति संतोषजनक होने का सूचक होता है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इंग्लैण्ड का व्यापार संतुलन-भारत के साथ प्रतिकूल रहता था परन्तु इंगलैण्ड भारत से विभिन्न प्रकार की सेवाओं तथा ऋणों आदि के बदले भुगतान प्राप्त करता था। परिणामस्वरूप व्यापार संतुलन प्रतिकूल रहते हुए भी इंगलैंण्ड की आर्थिक स्थिति द ढ़ थी और भारत का व्यापार-संतुलन अनुकूल होने पर भी भारत गरीब पिछड़ा हुआ देश था।

किसी देश का व्यापार-संतुलन प्रतिकूल होने पर भी उसका भुगतान संतुलन ठीक तथा साम्य की स्थिति में हो सकता है और इस साम्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक देश प्रयत्नशील भी रहता है। साथ में प्रत्येक देश इस बात का भी ध्यान रखता है कि उसे भुगतान-संतुलन का साम्य किस प्रकार प्राप्त हुआ है। यदि किसी देश की देनदारियाँ अथवा विकलन उसकी लेनदारियों अथवा समाकलन से कहीं अधिक हो और यह देश विदेशी ऋण लेकर अथवा अपने सुरक्षित कोष व्यय कर दोनों में संतुलन प्राप्त करता है तो यह भुगतान संतुलन की असाम्य की स्थिति है। यह स्थिति इस बात की सूचक है कि देश की आर्थिक दशा बिगड़ रही है, और यदि उसे सुधारा न गया तो दीर्घकाल में यह स्थिति उस देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देश के व्यापार संतुलन के अध्ययन की अपेक्षा उसके भुगतान-संतुलन का अध्ययन अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होता है।

भुगतान संतुलन के अध्ययन से देश की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। इससे हमें यह पता चलता है कि विदेशों से हम क्या प्राप्त करते हैं और उन्हें हम कितना भुगतान करते हैं। व्यापार की वस्तुओं और से सेवाओं को देखकर देश के आर्थिक विकास का पता लगाया जा सकता है। किसी देश की बदलती हुई आर्थिक स्थिति का अनुमान भी भुगतान-संतुलन के विवरणों पर आधारित होता हैं। किसी देश को प्राप्त विदेशी सहायता का अनुमान भी इसी से लगता है तथा

विदेशी विनिमय कोषों में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त होती है। भुगतान-संतुलन वास्तव में एक आर्थिक वैरोमीटर है जिससे किसी देश की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जाता है। भुगतान संतुलन किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित्त व्यवहारों का परिणात्मक सारांश होने के कारण उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के विभिन्न पहलूओं पर प्रकाश डालता है। इसीलिए जेबन्स ने कहा है "कि एक रसायन शास्त्री के लिए जो महत्व तत्वों की आवधिक तालिका (Periodic Table of Elements) का है, वही महत्व एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिए भुगतान-संतुलन का है।"

भुगतान संतुलन की मदें

किसी देश का भुगतान-संतुलन उसके संपूर्ण विदेशी लेन-देन का एक विवरण अथवा चिट्ठा होता है। इसके बार्यी ओर सभी लेनदारियाँ तथा दार्यी ओर देनदारियां दिखायी जाती हैं। बार्यी ओर की राशि तथा दार्यी ओर की राशि के अन्तर से भुगतान संतुलन का स्वरूप प्रकट हो जाता है।

भुगतान-संतुलन के विवरण में सम्मिलित विभिन्न मदों का वर्गीकरण 'League of Nationas' ने दो मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत किया था और अधिकांश देश इसी के आधार पर भुगतान-संतुलन का विवरण तैयार करते है। भुगतान-संतुलन का प्रमुख शीर्षक चालू खाता 'Current A/c' होता है, जिसमें व्यापार की द श्य तथा अद श्य मदें सम्मिलित होती है।

अमौद्रिक उद्देश्यों से विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का आयात-निर्यात तथा अनुमान में भूल-चुक की संभावनाएँ की मदें भी चालू खाते में सम्मिलित रहती हैं। दूसरा शीर्षक पूँजी खाता (Capital AC) होता है जिसके अन्तर्गत विदेशी पूँजी के विनियोजन तथा ऋण की राशियों को दिखाया जाता है।

India's Overall Balance of Payments-Current A/c

Items	Credits	Debits	Net
1. **माल** (Merchandise)			
(i) **निजी** (Private)			
(ii) **सरकारी** (Government)			
(2) **गैर-मौद्रिक स्वर्ण प्रवाह** Non-Monetary Gold Movements			
(3) **यात्रा** (Travel)			
(4) **परिवहन** (Transportation)			
(5) **बीमा** (Insurance)			
(6) **विनियोगो से आय** (Investment Income)			
(7) **सरकारी अन्यत्र सम्मिलित न किया गया** (Govt. not included else where)			
(8) **विविध** (Miscellaneous)			
(9) **हस्तांतरण भुगतान** (Transfer Payments)			
(i) **सरकारी** (Official)			
(ii) **निजी** (Private)			
(10) **कुल चालू लेन-देन** (Total Current Transaction)			
(11) **भूल-चुक** (Error & Ommissions)			

India's Over-all Balance of Payment-Capital A/c

Items	Credits	Debits	Net
1. **निजी पूँजी** (Private Capital)			
(i) **दीर्घकालीन** (Long-Term)			
(ii) **अल्पकालीन** (Short-Term)			
2. **बैंकिग पूँजी** Banking Capital			
3. **सरकारी पूँजी** (Official Capital)			
(i) **ऋण** (Loan)			
(ii) **परिशोधन** (Amortisation)			
(iii) **विविध** (Miscellaneous)			
(iv) **आरक्षण** (Reserves)			
कुल पूंजी एवं मौद्रिक स्वर्ण (Total Capital & Monetary Gold)			

चालू खाता तथा पूँजी खाता के अन्तर्गत सम्मिलित विभिन्न मदों का ब्यौरा निम्न प्रकार है

1. **Current Account माल की मद के अन्तर्गत वस्तुओं के आयात-निर्यात अथवा द श्य व्यापार के भुगतान सम्मिलित होते हैं। चूंकि इसी मद से व्यापार संतुलन की जानकारी प्राप्त होती है। इसलिए इसकी राशि भुगतान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राशि होती हैं।**

'अमौद्रिक उद्देश्यों के लिए स्वर्ग का आयात निर्यात' भी द श्य व्यापार की एक मद है। परन्तु भारत में स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध होने के कारण भुगतान-संतुलन के विवरण में यह मद खाली ही रहती है।

यात्रा, परिवहन, बीमा, ऋणों पर ब्याज तथा पूँजी पर लाभांश की मदें अद श्य व्यापार के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रकार के भुगतान प्रत्येक देश को अन्य देशों को करने पड़ते हैं तथा उसे अन्य देशों से प्राप्त भी होते हैं। इनका आधार विभिन्न देशों के बीच आर्थिक एंव व्यापारिक संबंधों का होना हैं। इन भुगतानों के अतिरिक्त किसी देश की सरकार सरकार द्वारा विदेशों में "दूतावासो पर व्यय" तथा इस देश में विदेशी सरकारों द्वारा अपने दूतावासों पर व्यय भी अद श्य के अन्तर्गत आते हैं कभी-2 एक देश को दूसरे देश से दण्ड मुआवजा अथवा युद्ध व्यय के रूप में राशि प्राप्त होती है। अथवा भुगतान करना पड़ता है। अद श्य व्यापार के अन्तर्गत उक्त मदों के अतिरिक्त अन्य 'विविध सेवाओं' के लिए लेन-देन भी सम्मिलित किया जाता है, जैसे एक देश से दूसरे देश को जाने वाले तकनीकी विशषज्ञों के वेतन तथा भत्ते, अध्ययन के लिए विद्याथियों को भेजी जाने वाली राशियाँ, एक देश से दूसरे देश में जाने वाले प्रतिनिधि मंडलों के व्यय, इलाज के लिए विदेशों में जाने वाले रोगियों के व्यय, विदेशी पत्रिकाओं आदि के चन्दे, फिल्मों के किराये आदि।

हस्तांतरण भुगतानों के अन्तर्गत नकद या वस्तु के रूप में भेंट अथवा दान, व्यक्तिगत व पारिवारिक भुगतान, प्रवासियों द्वारा किये गये अन्तरण (Transfer), पेंशन की प्राप्तियां तथा भुगतान, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के चंदे इत्यादि सम्मिलित किये जाते हैं। इनको भुगतान-संतुलन के विवरण में अलग से दिखाया जाता है।

2. **Capital Accounts जिस प्रकार वस्तुओं, सेवाओं तथा कुछ अन्य लेन-देनों से चालू खाता बनता हैं, भुगतान संतुलन के पूँजी खाते में विदेशी ऋण, विनियोग तथा मौद्रिक उद्देश्यों से स्वर्ग के आयात-निर्यात सम्मिलित रहते हैं। ऋण अल्पकालीन हो सकते हैं अथवा दीर्घकालीन और इन दोनों को अलग-2 दिखाया जाता है। कभी-2 देश में विदेशी ऋणों पूँजी का विनियोग होता है। विदेशी पूँजी प्राप्त करने वाले देश की स्थिति ऋणी के समान होती है तथा विदेशों में पूँजी का विनियोग करने वाले देश की ऋणदाता के समान स्थिति होती है। ऋण तथा पूँजी के लेन-देन व्यक्तिगत, बैकों के बीच अथवा सरकारी हो सकते हैं। प्रत्येक देश का यह प्रयास होता है कि चालू खाते में अन्तर को विदेशी ऋण तथा पूँजी के विनियोगों से पूरा किया जाए।**

चालू खाते तथा पूँजी खाते के कुल लेन-देन का योग करने के पश्चात् जो अन्तर रह जाता है उसे चुकता करने के लिए स्वर्ण का आयात-निर्यात किया जा सकता है। परन्तु वर्तमान युग में अधिकांश देशों के पास न केवल स्वर्ण का अभाव है, बल्कि जितना थोड़ा-सा स्वर्ण है उसे वे कोष में बनाये रखना उचित समझते हैं इसलिए सामान्यत स्वर्ण द्वारा कोई भी देश भुगतान नहीं करना चाहता है।

भुगतान संतुलन सदा संतुलित रहता है

बही खाते के सिद्धान्तों के आधार पर चूंकि समस्त विकलन (debits) समस्त समाकलन (credit) के बराबर होने आवश्यक हैं, अतः भुगतान-संतुलन में सदा लेन-देन साम्य (Equivalence) की स्थिति में रहते हैं। उदाहरण के लिए, जब किसी व्यक्ति का व्यय उसकी वर्तमान आय से अधिक है तो वह कहीं से ऋण लेकर अथवा अपनी पिछली बचत का प्रयोग करके अपने आय-व्यय को संतुलित करता है। इसी प्रकार, यदि किसी देश की देनदारियाँ लेनदारियों की अपेक्षा अधिक होती है तो वह देश इस घाटे की पूर्ति अनेक प्रकार से कर सकता हैं जैसे एकत्रित विदेशी मुद्रा देकर, विदेशी ऋण अथवा सहायता लेकर, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से सहायता लेकर अथवा स्वर्ण निर्यात कर। इनमें से कोई भी उपाय अलग से अथवा अन्य किसी उपाय के साथ मिलाकर अपनाया जा सकता है।

स्मरण रहे कि भुगतान-संतुलन के अन्तर्गत व्यापार-संतुलन अथवा चालू खाता संतुलन में सदा साम्य नहीं रहता। परन्तु व्यापार संतुलन अथवा चालू खाता प्रतिकूल होने की दशाओं में उसे पूँजी खातें में परिवर्तनों द्वारा साम्य में लाया जा सकता है। इस संबंध में यह भी याद रखना आवश्यक है कि भुगतान संतुलन में सदा संतुलित रहने का अभिप्राय यह नहीं है कि किसी देश का भुगतान संतुलन प्रत्येक अन्य देश के साथ, जिससे उसके व्यापारिक संबंध है अलग-2 साम्य की स्थिति में रहे। वास्तविक जीवन में उस देश का भुगतान-संतुलन एक देश के साथ अनुकूल हो सकता है, तो दूसरे देश के साथ प्रतिकूल भी हो सकता है। प्रत्येक देश का भुगतान संतुलन एक अवधि के भीतर संतुलित हो जाना चाहिए, परन्तु सभी देशों का भुगतान-संतुलन एक साथ अनुकूल नहीं हो सकता। यदि कुछ देशों का भुगतान-संतुलन अनुकूल होगा तो कुछ का प्रतिकूल होना स्वाभाविक है।

किसी देश के द्वारा एक निश्चित अवधि में चालू खाते की प्रतिकूल स्थिति का संतुलन पूँजी खाते में प्राप्त ऋणों आदि की रकमों से किया जा सकता है। किन्तु यह संतुलन क त्रिम है, वास्तविक संतुलन (साम्यावस्था) का द्योतक नहीं है। वास्तविकता यह है कि व्यापार-संतुलन अर्थात निर्यात-मूल्य में अन्तर (X-M) धनात्मक होने पर ही देश की प्राप्तियों में वास्तविक व द्धि होती है। पूँजी खाते में प्राप्त किये गये ऋणों आदि की राशि धनात्मक होने पर तो देश पर भुगतान (Net-Payment) करने का भार बढ़ता है। भुगतान-संतुलन की साम्यावस्था को स्पष्ट करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को दो वर्गो में बाँटा जा सकता है (1) स्वायत भुगतान (autonomous Payments) तथा (1) अनुग्रही भुगतान (accommodating payments) चालू लेन देन के परिणामस्वरूप जो भुगतान स्वयं होते हैं उन्हें 'स्वायत भुगतान' कहते है। किन्तु यदि स्वायत्त भुगतानों द्वारा 'देने' और 'पावने' का अन्तर पूरा नहीं हो पाता, तो उसे पूरा करने के लिए स्वर्ण निर्यात अथवा विदेशी विनिमय-कोष का प्रयोग किया जा सकता। किये जाने वाले 'भुगतान अनुग्रही' भुगतान कहलाते हैं। अनुग्रही भुगतानों के लिए स्वर्ण-निर्यात अथवा विदेशी विनिमय कोष का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु यह कोष पर्याप्त मात्रा में न हो तो दीर्घकालीन अथवा अल्पावधि विदेशी ऋणों का सहारा लिया जाता है। यदि ऋण लेना भी संभव न हो तो ऐसे द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये जा सकते हैं जिनके द्वारा लेनदार देश देनदार देश से आवश्यक मूल्य के बराबर माल खरीद सकता हैं।

अनुग्रही भुगतान की व्यवस्था हो जाने पर भी भुगतान-संतुलन साम्यावस्था का द्योतक नहीं होगा। अत भुगतान-संतुलन की साम्यावस्था वह स्थिति है जिसमें किसी देश के स्वायत भुगतानों द्वारा उसके अन्तर्राष्ट्रीय 'देने' व 'पावने' संतुलित हो जायें और अनुग्रही भुगतानों का सहारा लेने की आवश्यकता न पड़े। इस अर्थ में तो किसी देश का भुगतान संतुलन हर समय संतुलित नहीं रह सकता, क्योंकि अनेक प्रकार के अस्थायी अथवा चक्रीय प्रभावों के कारण असंतुलन उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार, स्वायत भुगतानों में पूर्ण साम्यावस्था की स्थिति ऐसी अवधि में ही प्राप्त की जा सकती है जिसमें देश के आर्थिक जीवन में उत्पन्न चक्रीय कारणों के विरोधी प्रभाव समायोजित हो जाये।

भुगतान संतुलन में असाम्यता

किसी देश के भुगतान-संतुलन में चालू खाते का संतुलित होना, अर्थात विदेशी ऋण, पूँजी अथवा स्वर्ण के आयात-निर्यात के बिना ही संतुलन स्थापित हो जाना, वास्तविक संतुलन समझना चाहिए। पूँजी खाते के अन्तर्गत पूँजी, ऋण तथा स्वर्ण के आयात निर्यात के द्वारा कुल लेन देन बराबर कर लिये जा सकते हैं, परन्तु ऐसा संतुलन अवास्तविक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत एक असाम्यता विद्यामान होती है। असाम्यता अल्पकालीन अथवा मौसमी हो सकती है और दीर्घकालीन भी। लगातार अथवा दीर्घकालीन असाम्यता किसी देश के लिए काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती है। यह वास्तव में इस बात की सूचक है कि देश की आर्थिक एवं वित्तीय व्यवस्था कमजोर अथवा असंतोषजनक है।

किसी देश के भुगतान-संतुलन में असाम्यता होने के क्या कारण हैं?

जैसा कि बताया जा चुका है, भुगतान-संतुलन की प्रमुख मदें है द श्य एवं अद श्य व्यापार, एकपक्षीय भुगतान एवं प्राप्तियाँ आदि। यदि किसी कारणवश इन मदों के अन्तर्गत किसी देश की देनदारियों तथा लेनदारियाँ की अपेक्षा देनदारियाँ अधिक है, तो भुगतान-संतुलन उस देश के प्रतिकूल है।

वस्तुओं का आयात-निर्यात अथवा द श्य व्यापार भुगतान-संतुलन की प्रमुख मद होती है। किसी देश के आयात उसके निर्यातों से अधिक होने पर व्यापार-संतुलन उसके प्रतिकूल हो जाता है, जिसका प्रभाव भुगतान संतुलन पर पड़ता है। निर्यातों में कमी के कई कारण हो सकते हैं, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन वस्तुओं की माँग में कमी, इनके मुल्य में व द्धि, देश में इनके उत्पादन में कमी इत्यादि। आयातो में व द्धि भी अनेक कारणों का परिणाम हो सकती हैं, जैसे-देश में निरन्तर कमी की स्थिति, औद्योगिक विकास की आवश्यकताएँ इत्यादि।

अद श्य मदों के अन्तर्गत यदि आय कम और व्यय अधिक हो तो भुगतान-संतुलन प्रतिकूल हो जाता है। विदेशों में भेजी जाने वाली ब्याज तथा लाभांश की राशि, यात्रा, परिवहन, बीमा, शिक्षा, चिकित्सा, दूतावासों आदि मदों के अन्तर्गत किये जाने वाले भुगतान प्राप्तियों की अपेक्षा कम होने पर चालू खाते में भुगतान-संतुलन प्रतिकूल हो सकता है। कुछ अन्य प्रकार के एकपक्षीय भुगतान जैसे विदशों को मुआवजा अथवा दण्ड का भुगतान, प्रवासियों द्वारा किये गये अन्तरण, विदेशों को दिये गये दान, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के चन्दे इत्यादि भी अत्यधिक होने की दशा में भुगतान-संतुलन को प्रतिकूल कर सकते हैं

स्पष्ट है कि भुगतान-संतुलन की स्थिति अनेक कारणों से प्रभावित होती हैं जिनमें से कुछ का संबंध आतंरिक अर्थव्यवस्था से होता है और कुछ अन्य उन देशों की स्थिति से संबधित होते हैं जिनके साथ किसी देश के व्यापारिक संबंध होते है। परन्तु चूकिं हमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के मौद्रिक पहलूओं का ही अध्ययन करना है, इसलिए हमें मुख्यता दो तत्वों की ओर विशेष ध्यान देना होगा। प्रथम, विभिन्न देशों में राष्ट्रीय आय के स्तर का अध्ययन तथा द्वितीय, अन्य देशो की तुलना में प्रत्येक देश में कीमत स्तर। वास्तव में, प्रत्येक देश में आयात की माँग उस देश में आय स्तर के द्वारा प्रभावित होती है और आयात की माँग तथा निर्यात करने की क्षमता, दोनों ही उस देश में अन्य देशों की तुलना में कीमतों की स्थिति के द्वारा प्रभावित होते हैं। इस प्रकार, भुगतान-संतुलन में असाम्यता की व्याख्या के लिए कीमत स्तर तथा आय स्तर से उत्पन्न होने वाले प्रभावों का अध्ययन करना आवश्यक है।

1. **कीमत स्तर का प्रभाव :-** अन्य देशों की तुलना में यदि किसी देश में लागत एवं कीमत-स्तर ऊँचा है तो उसका व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो सकता है। ऐसी स्थिति में विदेशी सस्ते माल की माँग बढ़ेगी और देश में उत्पादित महंगा माल विदेशों में अधिक नहीं बेचा जा सकेगा। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि भुगतान-संतुलन की असाम्यता स्वचालित रूप में अपने आप समाप्त हो जाती है। आयात की मात्रा निर्यात की अपेक्षा अधिक होने पर देश से स्वर्ण का वर्हिप्रवाह (Outflow) होगा। तथा विदेशी विनियम कोषों में कमी होगी। परिणामस्वरूप देश में मुद्रा की पूर्ति कम हो जाएगी जिससे कीमतों में कमी होगी। ऐसी स्थिति में एक ओर तो व्यापार-संतुलन अनुकूल होने के अवसर उत्पन्न होगें और दूसरी ओर ब्याज दर में व द्धि होगी जिससे विदेशी पूँजी के अन्तर्प्रवाह (inflow) को प्रोत्साहन मिलेगा।

प्रतिष्ठित विचारधारा त्रुटिपूर्ण है। यह पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है जबकि वास्तविक जीवन में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति पायी जाती है। सापेक्षिक कीमतों के अतिरिक्त अन्य कई तत्व भी भुगतान-संतुलन को प्रभावित करते हैं। कुछ वस्तुएं महंगी होने पर अन्य देशों से अनिवार्य रूप में आयात करनी पड़ती है। आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार स्वतंत्र बाजार में कीमतों की बजाय सरकार की नीति पर निर्भर करता है। प्रबन्धित मुद्रा-मान के अन्तर्गत देश में मुद्रा की पूर्ति पर स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय के कोषों में होने वाले परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भुगतान-संतुलन की साम्यावस्था स्वचालित रूप में प्राप्त नहीं की जाती, बल्कि इसके लिए एक निश्चित नीति के अंतर्गत सरकार अनेक उपाय अपनाती है। कीमत-स्तर का भुगतान-संतुलन की स्थिति पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य नहीं है, परन्तु कीमतों में बहुत अधिक परिवर्तन होना देश की अर्थव्यवस्था में आंतरिक संतुलन में गड़बड़ी उत्पन्न करता है और दीर्घकाल में इसका व्यापार की स्थिति तथा विनिमय दरों के माध्यम से भुगतान संतुलन की स्थिति पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।

2 **आय स्तर का प्रभाव :-** आधुनिक अर्थशास्त्री, मुख्यता लार्ड केन्स, भुगतान-संतुलन में असाम्यता की व्याख्या विभिन्न देशों में आय-स्तर के सापेक्षिक परिवर्तनों के आधार पर करते है। आयातों का संबंध आय से होता है (Imports are a function of Income)। यदि किसी देश में अन्य देशों की तुलना में आय में अधिक तेजी से व द्धि होती है तो इस देश के आयातों में भी तेजी से व द्धि होगी और भुगतान-संतुलन प्रतिकूल हो जाएगा। आयातों पर आय का सीमान्त प्रभाव (Marginal responsiveness) DM/DY के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। DM/DY का आकार उन देशों के लिए विशेष रूप से अधिक होगा जिनकी विदेशी व्यापार पर निर्भरता अधिक है। DM/DY शून्य से अधिक होने पर गुणक के आकार में कमी उत्पन्न करेगा। किसी देश द्वारा आयात पर किया गया व्यय एक प्रकार का क्षरण (Leabege) है जिससे राष्ट्र की आय-धारा में कमी हो सकती है। यह ठीक है कि आय में व द्धि होने पर देश की निर्यात क्षमता में भी व द्धि हो सकती है, परन्तु सीमान्त आयात प्रव ति (Marginal Propensity to Import) सापेक्षित रूप में अधिक होने पर प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न होंगे।

वास्तविकता यह है कि भुगतान-संतुलन की स्थिति का निर्धारण अकेले आय-स्तर में होने वाले परिवर्तनों के द्वारा नहीं होता। यदि ऐसा ही होता तो विकसित देश, जिनमें आय-स्तर तेजी से बढ़ा है। निरन्तर प्रतिकूल भुगतान-संतुलन की स्थिति में रहते और प्रवाह-हीन (Stagnant) अर्थ-व्यवस्थाएँ अनुकूल भुगतान-संतुलन के लाभ प्राप्त करती रहती। वास्तविक स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत रहती है। विकसित देशो के निर्यात जिस अनुपात में बढ़े हैं, उससे कम अनुपात में उनकी सीमान्त-आयात प्रव ति में व द्धि हुई है। देश में उत्पादन बढ़ने से ऐसी वस्तुओं का उत्पादन देश में ही किया जाने लगता है जो आयात की जाने वाली वस्तुओं का प्रतिस्थापन कर सकें। इस प्रकार, अकेले आय-सिद्धान्त के आधार पर स्थिति की व्याख्या पूरी तरह से नहीं की जा सकती है।

भुगतान-संतुलन की स्थिति का निर्धारण करने मे आय स्तर तथा कीमत-स्तर दोनों ही महत्वपूर्ण तत्व हैं और दोनों का प्रभाव एक-दूसरे पर पड़ता है। यदि मौद्रिक आय में व द्धि कीमतों में व द्धि का परिणाम है तो सामान्यत आयातों की मात्रा आय-प्रभाव से मुक्त रहती है। स्वदेशी वस्तुएँ महँगी हो जाने पर यदि प्रतिस्थापन वस्तुओं का आयात बढ़ता है तो यह कीमत-प्रभाव का परिणाम है। आय-प्रभाव केवल उसी दशा में कार्य करेगा जबकि मौद्रिक तथा वास्तविक आय मे समान अनुपात में व द्धि होती है और कीमतें अपरिवर्तित रहती हैं। परन्तु व्यवहारिक रूप में आय-प्रभाव अपने-आप कीमत प्रभाव को उत्पन्न कर लेता है। आय-प्रभाव से आयात बढ़ने पर देश में कीमत स्तर गिर जाता है जिससे कीमत प्रभाव कार्यशील हो जाता है। इसी प्रकार कीमतों में परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप जब देश के व्यापार की शर्ते अनुकूल हो जाती हैं तो वास्तविक आय में व द्धि होती है और आय प्रभाव के द्वारा आयात बढ़ने लगते हैं स्पष्ट है कि भुगतान संतुलन की स्थिति पर आय-स्तर तथा कीमत स्तर दोनों का ही प्रभाव पड़ता है। (In summary, autonomous increases in a country's income level do indeed have powerful international effect - But the 'real income effects' tell only a part of the story. Also relevant are changes in the money supplies of the various countries, change in price trends, & changes in interest rates L.V. chandler) यदि कीमत प्रभाव की शक्ति आय प्रभाव से अधिक होती है तो भुगतान-संतुलन अनुकूल होगा और इसके विपरीत स्थिति में प्रतिकूल होगा।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एक नियोजित अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप के द्वारा इस प्रकार के प्रयास किये जाते है कि जहाँ तक संभव हो सके देश की आंतरिक अर्थव्यस्था को अनतर्राष्ट्रीय व्यापार से उत्पन्न होने वाले प्रभावों से मुक्त रखा जाए। ऐसी स्थिति में आय-प्रभाव तथा कीमत प्रभाव स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर पाते हैं। वास्तविकता यह है कि भुगतान-संतुलन में असाम्यता विभिन्न प्रकार के कारणों का परिणाम होती है जो कि प्रायः एक साथ कार्य करते है।

अर्द्ध-विकसित देशों की समस्याएँ अलग प्रकार की है। इन देशों में भुगतान संतुलन का प्रतिकूल होना न केवल आय तथा कीमत प्रभावों का परिणाम होता है, बल्कि आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित होता है। आर्थिक विकास के प्रारभिक चरणों में आवश्यक मशीनों तथा पदार्थो आदि का बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ता है और निर्यात किये जाने वाले माल की खपत भी देश में बढ़ जाती है। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप भुगतान-संतुलन में उत्पन्न होने वाले घाटे का आकार अनेक बातों पर निर्भर करता हैं जैसे विनियोगो का आकार एवं रूप पहले से बनाये हुए विनिमय कोषों का आकार, विनिमय दर, वित्तीय नीतियाँ, निर्यात क्षमता में व द्धि का आकार, औद्योगिक उत्पादकता, खाद्यान्नों के उत्पादन की स्थिति, उद्योगों के लिए उपलब्ध देश में कच्चा माल, उपभोग स्तर, देश में जनसंख्या, भौगोलिक आकार तथा प्राक तिक साधनों का पूर्ति की स्थिति इत्यादि। अर्द्ध-विकसित देशों द्वारा निर्यातों में व द्धि करना एक कठिन समस्या होती है। यदि कुछ सफलता प्राप्त कर भी ली जाए तो प्रायः व्यापार की शर्ते इन देशों के प्रतिकूल रहती हैं। स्पष्ट है कि भुगतान-संतुलन की स्थिति विभिन्न प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के कारणों से प्रभावित होती है।

संक्षेप में भुगतान-संतुलन में असाम्यता के विभिन्न कारणों को दो भागों में बाटाँ जा सकता है :(1) रचना संबंधी कारण (Structural Causes) जो कि आयात तथा निर्यात की मात्राआं में असंतुलन उत्पन्न करते हैं, तथा (2) चक्रीय एवं मौद्रिक कारण (cyclical & monetary causes) जिनमें राष्ट्रीय आय, कीमत एवं लागत-स्तर, विनिमय दर आदि में होने वाले परिवर्तन सम्मिलित किये जाते हैं।

भुगतान-संतुलन में असाम्यता का उपचार

भुगतान संतुलन में असाम्यता अल्पकालिक हो सकती है अथवा दीर्घकालीक। भुगतान-संतुलन की प्रतिकूलता और अनुकूलता दोनों ही दीर्घकालिक होने पर विदेशी व्यापार के लिए हानिप्रद है। भुगतान-संतुलन की लगातार सक्रियता अथवा निष्क्रियता किसी भी देश के सर्वोत्तम हित में नहीं होती है। अत यह आवश्यक होता है कि असाम्यता के उपचार के लिए समुचित कदम उठाये जायें ताकि दीर्घकालिक संतुलन स्थापित किया जा सके।

भुगतान-संतुलन की स्थिति पर कीमत-स्तर के प्रभाव की व्याख्या करते समय यह बताया जा चुका है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि भुगतान-संतुलन में असाम्यता की स्थिति उत्पन्न होने पर उसका उपचार स्वचालित ढंग से हो जायेगा। सर्वप्रथम Hume ने व्यापार संतुलन का स्वकीय नियमन सिद्धान्त (Theory of Autometic Regulation of Balance of Trade) प्रस्तुत किया था। बाद में रिकार्डो ने एक देश से दूसरे देश को वस्तुओं के आयात-निर्यात तथा, इनकी विपरीत दिशा में, द्रव्य के प्रवाह को शासित करने वाले सिद्धान्तो का पता लगाया और बताया कि "धात्विक चलन वाले देश को धातु की वह राशि स्वतः ही प्राप्त हो जायेगी जिसकी उसे अपनी कीमतों को, विदेशों में प्रचलित कीमतों की तुलना में, एक ऐसे स्तर पर बनायें रखने की आवश्यकता है जिससे कि उसके आयातों और निर्यातों के मध्य साम्य बना रहे।" (Acountry with a metallic currency will automatically get the amount of bullion it needs to maintain its prices at such a level relative to the price prevailing abroad as to maintain an even balance between its exports & imports-Ricards) स्वर्णमान-व्यवस्था के अन्तर्गत भुगतान-संतुलन में असाम्यता स्वर्ण के आयात-निर्यात को प्रभावित करेगी जिसके परिणामस्वरूप देश में मुद्रा की पूर्ति तथा कीमत स्तर में परिवर्तन होगें। इन परिवर्तनों का प्रभाव वस्तुओं के आयात-निर्यात की मात्रा पर पड़ेगा। यह प्रक्रियाएँ स्वचालित ढंग से तब तक जारी रहेगी जब तक कि भुगतान-संतुलन में असाम्यता समाप्त नहीं हो जाती। नव-प्रतिष्ठित अर्थशस्त्रियों (Neo-Classicists) ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त में कुछ संशोधन किये। उन्होनें बताया कि भुगतान संतुलन में साम्य केवल स्वर्ण-प्रवाहों के द्वारा ही नहीं वरन् पूँजी के प्रवाहों के द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है।

प्रतिष्ठित विचारधारा की अवास्तविकता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। भुगतान-संतुलन में असाम्यता स्वचालित रूप में समाप्त नहीं हो पाती, क्योंकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त द्वारा मानी गयी दशाएँ वास्तविक जगत में विद्यमान नहीं हैं। आधुनिक विश्व में बाह्य स्थायित्व की अपेक्षा आतंरिक स्थायित्व को अधिक महत्व दिया जाता है, जबकि स्वर्णमान व्यवस्था में बाह्य स्थायित्व की प्राप्ति के लिए आंतरिक स्थायित्व का त्याग किया जा सकता था। आधुनिक अर्थ व्यवस्थाओं की विशेषता उनकी वेलोचता है। इसलिए ये स्वंय को शीघ्रता पूर्वक तथा स्वचालित रूप से समायोजित करने में असमर्थ हैं। वर्तमान युग में भुगतान-संतुलन की साम्यता को प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने के लिए सचेत एवं योजनाबद्ध प्रयास करने पड़ते हैं। इस उद्देश्य से अपनाये जाने वाले प्रमुख उपायों को दो भागों में बाँटा जा सकता है (1) मौद्रिक उपाय Monetary Measures

(2) **अमौद्रिक उपाय** (Non-Monetary Measures) **इन उपायों का संक्षिप्त अध्ययन प्रतिकूल असाम्यता** (Unfavourable Balance) **के संदर्भ में नीचे किया गया है। वास्तव में प्रतिकूल असाम्यता अनुकूल असाम्यता की अपेक्षा अधिक हानिप्रद होती है। भुगतान संतुलन प्रतिकूल अथवा विपक्ष में होने की दशा में कोई भी देश निम्नलिखित उपायों में से किसी एक अथवा अधिक उपायों को अपना सकता है।**

1. मौद्रिक उपाय (Monetary Measures) मौद्रिक उपायों में निम्नांकित उपायों को सम्मिलित किया जाता है।

(i) अवमुल्यन (Devaluation) देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य अर्थात् विदेशी मुद्राओं में रूप में मूल्य सरकार द्वारा जान-बुझकर कर घटाना मुद्रा का अवमुल्यन कहलाता है। जिस दर पर मुद्रा अधिकारी द्वारा विदेशी मुद्राएँ खरीदी और बेची जाती हैं उसे ऊँचा करके अवमुल्यन किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप अवमुल्यन करने वाले देश के निर्यात विदेशों में सस्ते हो जाते हैं, क्योंकि विदेशियों को इस देश से माल खरीदने पर पहले से कम मुद्रा देनी पड़ती है। इसके विपरीत, इस देश में आयात महँगें हो जाते हैं, क्योंकि इनके लिए विदेशियों को पहले से अधिक मुद्रा देनी पड़ती है। निर्यात प्रोत्साहन और आयात-प्रोत्साहन दोनों के सामूहिक प्रभावस्वरूप भुगतान-संतुलन की प्रतिकूलता का सुधार हो जातो है।

स्मरण रहे कि मुद्रा अवमुल्यन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि अन्य देशों द्वारा कोई जवाबी कार्यवाही नहीं की जाती। यदि एक देश की मुद्रा अवमुल्यन होने पर इसके प्रतिक्रियास्वरूप इस देश से व्यापारिक संबंध रखने वाले अन्य देश भी अपनी विनिमय दरों में कमी कर दें तो उक्त देश को अवमुल्यन से कोई लाभ प्राप्त नहीं हो सकेगा। अवमुल्यन की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि विदेशों में इस देश के निर्यातों की माँग की जाँच तथा इस देश में विदेशी माँग की लोच कितनी है। जब इसे वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है तो इसे यथा-मूल्य प्रशुल्क (Advalorem Duty) कहते हैं।

प्रशुल्क कई प्रकार के होते हैं जैसे (1) समान प्रशुल्क प्रणाली (Unilinear or Single column tariff System) जिसके अन्तर्गत सभी देशों की समान वस्तुओं पर समान दर से प्रशुल्क लगाये जाते हैं, (2) सामान्य या परम्परागत प्रशुल्क प्रणाली (General or Conventional Tariff System), जिसके अंतर्गत विशेष संधियों अथवा परम्पराओं वाले देशों को छोड़कर अन्य सब देशों के लिए समान प्रशुल्क लगाये जाते हैं, (3) अधिकतम एवं न्यूनतम प्रशुल्क प्रणाली (Tariff System with Maximum or Minimum Rates) जिसमें विशेष समझौते वाले देशों के लिए न्यूनतम तथा अन्य देशों के लिए अधिकतम दरों की व्यवस्था की जाती है, तथा (4) विशेषाधिकारी प्रशुल्क प्रणाली (Preferential Tariff System) जिसके अन्तर्गत घनिष्ठ रूप से संबंधित देशों के लिए विशेष रियायतें अथवा छूटें दी जाती हैं।

(b) आयात अभ्यंश (Import ouotas) अभ्यंश अथवा कोटा प्रणाली द्वारा भी आयातों को सीमित किया जाता है। इस प्रणाली के मुख्य रूप ये है :-

- **(i) लाइसेंस कोटा प्रणाली (Licensing Quota System)** इसके अन्तर्गत आयात केवल उन्हीं वस्तुओं का तथा उतनी ही मात्रा में किया जा सकता हैं, जिसके लिए सरकार द्वारा कुछ गिने-चुने व्यापारियों को लाइसेंस दिये गये हैं।
- **(ii) एक पक्षीय कोटा प्रणाली (Unilateral Quota System)** इसमें कोई देश अपने ही आयातों पर प्रतिबंध लगाता हैं विभाजित कोटा (Allocated Quota) के अन्तर्गत उन्हीं देशों और उतनी ही मात्राओं में आयात किया जा सकता है जिसे उस देश की सरकार ने निश्चित कर दिया है। परन्तु विश्व कोटा प्रणाली के अन्तर्गत निश्चित सीमा तक माल विश्व के किसी भी देश से मँगाया जा सकता है।
- **(iii) द्विपक्षीय कोटा प्रणाली (Bilateral Quota System)** इसमें सरकार किसी देश से केवल एक निश्चित सीमा तक आयात करने की अनुमति देती है और इस सीमा तक रियायती आयात कर वसूल किये जाते है। यदि व्यापारी इस निश्चित सीमा से अधिक आयात करते हैं तो उन्हें अतिरिक्त आयात पर दण्ड स्वरूप अधिक आयात-कर देना पड़ता है।

कोटा वस्तु की मात्रा के संदर्भ में निश्चित किया जा सकता है अथवा मुल्य के सदंर्भ में परन्तु मात्रा के बजाय मूल्य-सीमा को कोटा प्रणाली का आधार बनाना अधिक उचित प्रतीत होता हैं, क्योंकि आयात प्रतिबंध की नीति का उद्देश्य आयात-मूल्य में कमी करना होता है न कि आयात-मात्रा में कमी करना।

(ii) **मुद्रा के बाह्य मूल्य का ह्रास** (Depreciation) स्वतन्त्र विनिमय बाजार में जब विदेशों में एक देश की मुद्रा की माँग व पूर्ति में परिर्वतनों के स्वाभाविक परिणामस्वरूप इस मुद्रा का विदेशी मुद्राओं में मूल्य गिर जाता है तो इसे मूल्य में Depreciation की स्थिति कहते हैं। इसका प्रभाव भी अवमुल्यन के समान होता है और इसकी सफलता भी उन्हीं बातों पर निर्भर करती है जो अवमुल्यन को सफल बनाने में सहायक होती है।

(iii) **मुद्रा-संकुचन** (Deflation) अवमुल्यन तथा मूल्य ह्रास का सम्बन्ध मुद्रा के बाह्रा मूल्य में कमी से होता है। इसके विपरीत, मुद्रा-संकुचन की नीति का उद्देश्य आतंरिक कीमत स्तर में कमी (अर्थात मुद्रा के आन्तरिक मुल्य में व द्धि) करना होता है। वस्तुओं की कीमतें कम हो जाने पर निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा आयात हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार मुद्रा-संकुचन द्वारा प्रतिकूल भुगतान संतुलन ठीक किया जा सकता है। परन्तु मुद्रा संकुचन द्वारा भुगतान-संतुलन की प्रतिकूलता का उपचार कोई अच्छा उपाय नहीं है। क्योंकि देश में कीमतों को जान-बूझकर गिराने से आर्थिक संकट उत्पन्न होने का भय रहता है। कीमतें गिरने से उत्पादकों के लाभ गिर जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन में कमी होती है तथा बेकारी बढ़ती है। अत्याधिक मुद्रा-संकुचन देश में मन्दी की स्थिति उत्पन्न कर सकता है, इसलिए इस रीति का उपयोग बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

2. अमौद्रिक उपाय : अमौद्रिक उपायों द्वारा आयात तथा निर्यात अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं, परन्तु अमौद्रिक उपाय आयात-निर्यात को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। ये उपाय आयातों को हतोत्साहित तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करने से संबधिंत होते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।

(i) आयात प्रतिबन्ध (Import Restrictions) आयात प्रतिबन्ध की नीति का मुख्य उछेश्य अवांछनीय आयातों को घटाना अथवा समाप्त करना होता है। ऐसे आयात-स्थानापन्नों को, जिनका उत्पादन स्थानीय रूप से उपलब्ध उत्पति-साधनों की सहायता से किया जा सकता है, विदेशों से आयात करने की बजाय देश में ही उत्पन्न किया जाता है। केवल वही वस्तुएँ आयात की जाती है जो कि अर्थव्यवस्था के वर्तमान स्वरूप को बनाये रखने के लिए नितांत आवश्यक होती है अथवा जिनसे भविष्य में आयाता कम करने में सहायता मिल सकती हैं। आयात प्रतिबन्ध के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए जा सकते है।

(a) आयात प्रशुल्क (Import Duties or Traffis) आयात प्रतिबन्ध की सबसे प्राचीन तथा प्रचलित रीति यही है। इसके अन्तर्गत एक प्रशुल्क सारणी बना ली जाती है जिसमें सभी आयात-करों का उल्लेख रहता है। आयात की गई वस्तु की मात्रा पर लगाया गया कर परिमाण प्रशुल्क (Bpecifi Duty) कहलाता है,

(b) वैधानिक निषेध (Legal Prohibitions) कभी-2 कुछ विशेष परिस्थितियों में सरकार कानून द्वारा कुछ वस्तुओं के आयात का निषेध कर सकती है। 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पाश्चात्य यूरोपीय देशों ने इस रीति को अपनाया था। प्रथम महायुद्ध काल तथा उसके पश्चात् इस रीति को व्यापक रूप से अपनाया गया। आधुनिक काल में व्यापार नियन्त्रण की रीति के रूप में अनेक देश इसे अपनाये हुए हैं।

(c) विदेशी माल का बहिष्कार (Boycott of Foreign Goods) राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावनाओं से प्रेरित होकर कभी-2 देश की जनता द्वारा विदेशी माल का बहिष्कार कर दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप आयात अपने आप घट जाते है। यह कहना बहुत कठिन है कि आयात प्रतिबंध की कौनसी रीति सबसे अच्छी है। प्रत्येक रीति में अपने-2 गुण तथा दोष हैं। अन्य रीतियों की अपेक्षा आयात-प्रशुल्क तथा कोटा एवं लाईसेंस प्रणालियों का प्रयोग अधिक किया जाता है। परन्तु आयात-प्रशुल्क लगाते समय यह आशंका बनी रहती है कि कहीं अन्य देश भी प्रतिकारात्मक प्रशुल्क न लगा दें। कोटा प्रणाली का भी गलत प्रयोग होने की संभावना बनी रहती हैं। Haberler ने लिखा है कि आयात लाइसेंसों का वितरण व्यापारियों की व्यावसायिक कुशलता की बजाय उनकी रिश्वत देने की कुशलता के आधार पर किया जाता है। (The Import Licences may be distributed especially if the good is a Consumer's good among traders-- skill in trading ceares to be a principle of selection instead those who happened to be importing the good when the quota system came into force or those with the most influence or the greatest skill in bribing, are the ones selected-Haberler) स्पष्ट है कि आयात-प्रतिबंध की अनेक सीमाएं होती है।

(ii) **निर्यात-प्रोत्साहन** (Export Promotion) भुगतान सतुंलन की प्रतिकूलता को समाप्त करने के लिए निर्यातों में व द्धि करना अत्यंत आवश्यक होता हैं। निर्यात-प्रोत्साहन के लिए अनेक उपाय किये जा सकते हैंः जैसे - (a) कुछ वस्तुओं की माँग देश में सीमित करना तथा उनके कुल उत्पाद का एक निश्चित भाग निर्यात के लिए सुरक्षित रखना। (b) देश के बाहर नये बाजारों की खोज करना, विभिन्न वस्तुओं की निर्यात संभावनाओ का पता लगाना और प्रचार द्वारा माँग उत्पन्न करना (c) समुचित वार्ता द्वारा व्यापार की अधिक अनुकूल शर्तें प्राप्त करना। (d) द्वि-पक्षीय तथा बहु-पक्षीय समझौतो के आधार पर व्यापारिक संबंध स्थापित करना। (e) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की उत्पादन-लागत में कमी करने के प्रयास करना तथा निर्यात-मूल्यों में कमी करना। (f) निर्यात-करों में कमी करना अथवा छूट देना। (g) निर्यात वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को कच्चे मालों पर वसूल की गई चुंगी लौटाना तथा (i) एक निश्चित सीमा से अधिक निर्यात करने वाले व्यापारियों को विशेष सुविधाएँ देना इत्यादि।

(iii) **विनिमय नियन्त्रण** (Exchange Control) भुगतान संतुलन प्रतिकूल होने पर आयात प्रतिबन्ध तथा निर्यात प्रोत्साहन के द्वारा व्यापार-संतुलन अनुकुल करने के उपाय तो किय ही जाते हैं। साथ ही सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा विदेशी विनिमय बाजार पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया जाता हैं और फिर अनेक प्रतिबन्धों की सहायता से लेन-देन के बीच समता स्थापित की जाती है। विनिमय नियन्त्रण प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के सभी सौदे तथा लेन-देन केवल सरकार अथवा किसी अधिकार प्राप्त संस्था अथवा व्यक्ति द्वारा ही किये जा सकते हैं। निर्यातकर्ताओं को प्राप्त होने वाला विदेशी विनिमय सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाता है जिसका वितरण लाइसेंस प्राप्त आयातकर्ताओं के बीच आवश्यकतानुसार किया जाता है।

(iv) **विदेशी पूँजी तथा विनियोग (Foreign Capital & Investment)** भुगतान संतुलन की असाम्यता विदेशों से ऋण लेकर तथा विदेशी पूँजी के विनियोगों को प्रोत्साहित करके भी कम की जा सकती । चालू खाते में भुगतान-संतुलन ठीक करने के लिए विदेशी ऋण काफी सहायक होते हैं, क्योंकि इन ऋणों का भुगतान प्रायः दीर्घकाल में करना होता है। विदेशी पूँजी के विनियोग से औद्योगिक तथा आर्थिक विकास में सहायता मिलती है। परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि विदेशी पूँजी तथा विनियोगों पर बहुत अधिक मात्रा में निर्भर करना उचित नहीं होता है। विदेशी ऋणों का बोझ बढ़ने से उनके भुगतान की समस्या उत्पन्न होती है। यह भी देखना आवश्यक होता है कि ब्याज, लाभांश आदि के भुगतान करने के लिए ही विदेशों से निरन्तर ऋण लेता रहे और कभी आत्मनिर्भर न होने पाये।

उल्लेखनीय है कि भुगतान-संतुलन की असाम्यता के उपाचार के लिए विभिन्न मौद्रिक तथा अमौद्रिक उपाय अपनाते समय अनेक कठिनाईयाँ सामने आती हैं। मुद्रा-अवमूल्यन से देश के सम्मान को धक्का पहुँचता है और देनदारियाँ बढ़ जाती हैं, परन्तु इस बात की कोई गारंटी नहीं होती कि इससे समस्या हल हो ही जायेगी। मुद्रा-संकुचन से देश की आंतरिक अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है। व्यापार नियन्त्रण अन्य देशों द्वारा प्रतिकार को जन्म दे सकता है। विनिमय नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होता है तथा अनेक समस्याओं को जन्म देता है। इसलिए भुगतान-संतुलन के साम्य में सुधार करना कोई सरल कार्य नहीं होता, इसकी अनेक सीमाएँ होती हैं। भुगतान संतुलन की समस्या विशेष रूप से विकासशील देशों के लिए अत्यंत जटिल एवं गंभीर होती हैं क्योंकि औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्हें काफी मात्रा में आयात करने पड़ते हैं, परन्तु उनका भुगतान करने के लिए उनकी निर्यात करने की क्षमता अपेक्षाक त कम होती है। स्पष्ट है कि भुगतान-संतुलन की असाम्यता के उपचार के लिए एक साथ अनेक उपाय अपनाने पड़ते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि उनसे वांछित परिणाम मिल ही जायें। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं के माध्यम से सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है।

आंतरिक एवं बाहय संतुलन का परस्पर समायोजन

(Reconciliation of Internal and External Balances)

अनेक अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय आय में होने वाले परिवर्तनों को भुगतान-संतुलन की स्थिति के साथ संबधित करने का प्रयास किया है। निर्यात बढ़ने पर राष्ट्रीय आय बढ़ती है और विदेशों से आयात की माँग भी बढ़ जाती है। इस प्रकार आंतरिक तथा बाह्य संतुलन के बीच समायोजन स्थापित हो सकता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि निर्यात-व द्धि के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय आय में व द्धि के अनुपात से आयात में व द्धि का अनुपात अपेक्षाक त नीचा होता है क्योंकि राष्ट्रीय आय

का कुछ भाग बचत के रूप में रख लिया जाता है। (Export raise domestic income, but with a multiplier reduced by our induced imports. So long as some fraction of income at every stage is leaking into domestic saving, a new doller of exports will raise income, but can never lift it by enough to call forth a full dollar of new imports. Samuelson) ऐसी स्थिति में पूर्ण संतुलन तभी स्थापित हो पायेगा जब देश में प्रचलित कीमतों में अथवा विनिमय-दर में उचित प्रकार के परिवर्तन किये जाये। ("Variations in income generated by international trade will often go part way to effecting the needed adjustment, but they do not obviate the need for some price or exchange rate reductionbid)

स्वर्णमान व्यवस्था के अन्तर्गत भुगतानों के अन्तर्राष्ट्रीय सांमजस्य की स्थापना के लिए विदेशी विनिमय-दरों को स्थिर रखा जाता है और अर्थ-व्यवस्था के आंतरिक तत्वों (जैसे आय, व्यय तथा कीमत-स्तर आदि) में परिवर्तन किया जाता है। इसके विपरीत प्रबंधित मुद्रा-मान के अन्तर्गत आंतरिक तत्वों को यथावत् रखने का प्रयास किया जाता है। विनिमय- नियन्त्रण की व्यवस्था में इस प्रकार का सांमजस्य स्थापित करने का प्रयास किया जाता है कि राष्ट्रीय आय और धन की मात्रा आदि को यथावत् रखते हुए एक स्थाई विनिमय-दर बनायी रखी जा सके। इस प्रकार समायोजन संबंधी प्रयास तथा नीतियाँ परिस्थितियों के अनुससार बदलते रहते हैं।

वर्तमान अर्थशास्त्री समायोजन की प्रक्रिया की व्याख्या अर्थ-व्यवस्था में कुल व्यय (aggregate domestic expenditure) की मात्रा अथवा निवेश द ष्टिकोण (absorbtion approach) के आधार पर करते हैं। चूकिं आय तथा व्यय की धाराएँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में संबधित होती है। इसलिए सतुंलन स्थापित करने के लिए यह आवश्यक होता है। कि उचित प्रकार की नीतियों के द्वारा वास्तविक राष्ट्रीय आय तथा वास्तविक राष्ट्रीय व्यय के बीच समानता लायी जाए।

जब दो देश अपने आंतरिक तथा बाह्य संतुलनों में सांमजस्य बनाये रखना चाहते हों तो उनके समन्वित प्रयास के लिए Prof. Meade ने कुछ सुझाव दिये हैं। हैरिस ने इन्ही सुझावों को निम्न तालिका के रूप में प्रस्तुत किया है।

Conflicts of Criteria for Inflationary & Deflationary Finacial Policies

National Income in the Surplues Country	National Income in the deficit Country	External Balance	Internal Balance in the surplus Country	Internal Balance in the deficit Country
(a)	(b)	(c)	(d)	(e)
L	L	S+	S+	S+ (1)
		D-	D+	D+
	H	S+	S+	S- (2)
		D-	D+	D-
	L	S+	S-	S- (3)
H		D-	D-	D+
	H	S+	S-	S- (4)
		D-	D-	D-

उपरोक्त तालिका में L से अभिप्राय राष्ट्रीय आय बहुत कम होना है तथा H का अर्थ राष्ट्रीय आय का बहुत अधिक होना है। अन्तर्राष्ट्रीय खाते में अधिक्य वाले देश के व्यय में विस्तार S+ द्वारा दिखाया गया है। घाटे वाले देश के व्यय में विस्तार D+ द्वारा दिखाया गया है।

तालिका में प्रथम पंक्ति उन वैकल्पिक नीतियों की ओर संकेत करती है जो दोनों देशों में राष्ट्रीय आय बहुत नीची (L) होने की स्थिति में आंतरिक व बाह्य संतुलन प्राप्त करने के लिए अपनायी जानी चाहिए। आधिक्य वाले देश (S) को अपने व्यय में व द्धि (S+) करनी चाहिए। इसका प्रभाव आतंरिक व्यवस्था के अनुरूप ही होता है। यह नीति आतंरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के संतुलन के लिए एक सही नीति है। दूसरी ओर घाटे वाले देश (D) की बाह्य संतुलन प्राप्त करने के लिए व्यय का

संकुचन (D-) करना चाहिए ताकि आयातों में कमी हो सके। परन्तु घाटे वालो देश मंदी के चक्कर मे फँसा होने पर यदि संकुचन की नीति अपनाता है तो वह आंतारिक संतुलन की द ष्टि से गलत होगा। इसलिए घाटे वाले देश को बाह्य और आंतरिक संतुलन प्राप्त करने के लिए प्रायः आधिक्य वाले देश की सही नीतियों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार की नीतियों के अभाव में घाटे वाले देश को अपनी आंतरिक स्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करने के लिए विदेशी ऋणों तथा नियन्त्रणों पर निर्भर रहना पड़ेगा।

तीन अन्य दशाएँ (अर्थात हमें L तथा D में H,S मे H तथा D में L, और S में H तथा D में भी H) भी सामंजस्य के लिए गंभीर समस्याएँ उत्पन्न करती हैं। ये समस्याएँ दो दशाओं में तो यथोचित रूप से हल हो जाती है किन्तु तीसरी दशा (S में H तथा D में L) में नहीं। ऐसी दशा में बाह्य संतुलन की प्राप्ति के लिए आंतारिक व्यय को S में बढ़ाना और D में घटाना चाहिए (जैसे कि प्रथम पंक्तिमें है) किन्तु S में आतंरिक संतुलन स्थापित करने के लिए S और D दोनों को ही आंतरिक व्यय में कमी करनी चाहिए। दूसरी ओर घाटे वाले देश (D) में आतंरिक संतुलन की प्राप्ति के लिए दोनों देशों द्वारा आंतरिक व्यय में व द्धि करनी चाहिए ताकि D में आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिल सके। इस प्रकार S और D की बाह्य आवश्यकताओं के लिये जो नीति सही है वह उसकी आंतकिर स्थिति के लिए सही नहीं है।

आंतरिक व्यय में आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ी करने के लिए राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) मौद्रिक नीति तथा कीमत नीति की सहायता ली जा सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की होती है कि बाह्य एवं आंतरिक सतुंलन के उद्देश्यों में संभावित संघर्ष पर ध्यान रखा जाए। उदाहरणार्थ, संकुचन की नीति एक देश के लिये बाह्य-संतुलन को तो सुलझा सकती है किंतु आंतरिक संतुलन की समस्या की ओर अधिक उलझा देती है। इस देश में बेरोजगारी पहले से ही थी, किन्तु अब यह अधिक उग्र हो जाती है। स्पष्ट है कि बाह्य-संतुलन की स्थापना के लिए कोई भी नीति अपनाते समय अर्थव्यवस्था की आंतरिक स्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक होता है और उसी के अनुरूप नीति अपनाने से समस्या सुलझायी जा सकती है।

अध्याय 6
मुद्रा
(Money)

मुद्रा क्या है?

What is Money?

प्रो. क्राउथर के अनुसार ''मुद्रा क्या है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर बहुत कम लोग दे सकते हैं। यद्यपि लगभग प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि वह इसका उत्तर जानता है।''

What is Money? That is a question which few people can answer although nearly everybody thinks, he knows the answer-(Crowther).

प्रो. केन्ट का भी यह विचार था कि ''यद्यपि हमारे जीवन में मुद्रा का अत्याधिक महत्व है, तब भी इसकी सही और निश्चित रूप से व्याख्या करना कि वह क्या है, कठिन है।''

अंग्रेजी भाषा में मुद्रा को मनी कहा जाता है। अंग्रेज़ी भाषा का शब्द मनी लैटिन भाषा के शब्द मोनेटा से लिया गया है। मोनेटा रोम की देवी जूनों का ही दूसरा नाम है। रोम में पहली टकसाल देवी जूनो या मोनेटा के मन्दिर में खुली थी। रोमन सिक्कों पर एक ओर इस देवी का सिर अंकित रहता था, इस टकसाल के उत्पादन का नाम, इस देवी के नाम पर 'मनी' पड़ गया। मुद्रा की व्याख्या उसमें निहित पदार्थ के आधार पर नहीं की जा सकती। मुद्रा की व्याख्या उसके कार्यों के आधार पर की जा सकती है। प्रो. हाट्रे के अनुसार, ''मुद्रा उन धारणाओं में से एक है जिन्हें भूकम्प या बारकप के विपरीत एक चम्मच या छतरी के समान मुख्य रूप से उनके कार्यों या प्रयोगों के रूप में परिभाषित किया जाता है।''

Money is one of those concepts which, like a teaspoon or an umbrella, but unlike an earthquake or buttercup and definable primarly by the use or purpose which they serve-Howtrey.

मुद्रा मुख्य रूप से चार प्रकार के कार्य करती है : — (1) विनिमय का माध्यम (2) मूल्य का माप (3) धन का संचय तथा (4) ऋणों का भुगतान। अतएव मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जो सामान्य रूप से विनिमय के माध्यम, मूल्य के माप, धन के संचय तथा ऋणों के भुगतान के रूप में स्वीकार की जा सकती है।

Money is anything that is generally acceptable as a medium of exchange, measure of value, store of value and standard for deferred payment.

साधारणतया नोट, सिक्के तथा चैक मुद्रा कहलाते हैं। परन्तु आधुनिक समय में अर्थशास्त्रियों में इस सम्बन्ध में काफी मतभेद पाया जाता है। मनुष्य की आवश्यकताएं असीमित होने तथा आर्थिक साधन सीमित होने के फलस्वरूप हमें इन साधनों की प्राप्ति के लिए त्याग करना पड़ता है। एक सीमित साधन जैसे कपड़ा दूसरे सीमित साधन जैसे गेहूं अथवा मुद्रा के बदले में प्राप्त किया जा सकता है। पहले प्रकार के विनियम (गेहूं के बदले कपड़ा) को वस्तु विनिमय तथा दूसरे प्रकार के विनिमय (मुद्रा के बदले कपड़ा) को मुद्रा विनिमय कहा जाता है। मुद्रा का अविष्कार मुख्य रूप से वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया गया है। इसलिए मुद्रा की प्रक ति तथा कार्यों का ज्ञान प्राप्त करने से पहले वस्तु विनिमय का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

वस्तु विनिमय प्रणाली (Borter System)

स ष्टि के आरम्भ में मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत कम थी। वे अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं अपने पारिवारिक श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं के द्वारा कर लिया करते थे। अन्य शब्दों में वे आत्म निर्भर थे। परन्तु जैसे-जैसे उनकी आवश्यकताएं बढ़ती गईं उनकी पूर्ति के लिए उन्हें एक दूसरे पर आश्रित होना पड़ा। वे वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय करने लगे। उदाहरण के लिए मान लीजिए राम अपने खेत में गेहूं तो पैदा कर लेता था परन्तु वह कपड़ा नहीं बुन पाता था। मोहन कपड़ा बुन लेता था परन्तु गेहूं पैदा नहीं करता था। इस अवस्था में राम, मोहन से गेहूं के विनिमय में कपड़ा तथा मोहन, राम

से कपड़े के विनिमय में गेहूं प्राप्त कर सकता था। इस प्रणाली को जिसके द्वारा गेहूँ के बदले में कपड़ा तथा कपड़े के बदले में गेहूं प्राप्त कर सकता था अर्थात एक वस्तु के बदले में प्रत्यक्ष रूप से किसी दूसरी वस्तु का लेन देन किया जाता था वस्तु विनिमय प्रणाली कहा जाता था। अतएव वस्तु विनिमय प्रणाली वह प्रणाली है जिसमें वस्तुओं और सेवाओं के बदले में विनिमय या लेन देन किया जाता है।

A. **चैन्डलर के अनुसार,** ''आर्थिक वस्तुओं का एक दूसरे के लिए प्रत्यक्ष विनिमय वस्तु विनिमय कहलाता है।''
(The direct exchange of economic goods for one another is called barter-Chandler)

B. **आर. पी. कैन्ट के अनुसार**, ''मुद्रा का विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग किए बिना वस्तुओं में प्रत्यक्ष लेन देन वस्तु विनिमय कहलाता है।''
(Barter is the direct exchange of goods for goods without the use of money as a medium of exchange - R.P. Kent)

C. **एस० ई० थॉमस के अनुसार**, ''एक वस्तु का दूसरी वस्तु के लिए प्रत्यक्ष विनिमय वस्तु विनिमय कहलाता है।''
(Direct exchange of one commodity for another is termed batter- S.E. Thomas)

प्रो. म्यूलर के अनुसार वस्तु विनिमय प्रणाली के मुख्य गुण निम्नलिखित हैं:—

(i) अधिकतम सन्तुष्टि (Maximum Satisfaction)—वस्तु विनिमय प्रणाली के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यक या अधिक उपयोगिता वाली वस्तुएं प्राप्त करके अपनी संतुष्टि अधिकतम कर सकता है जेवन्स के अनुसार भी, ''वस्तु विनिमय अपेक्षाक त फालतू वस्तुओं की तुलना में अपेक्षाक त आवश्यक वस्तुओं का विनिमय है।''
(Barter is the exchange of comparatively superfluous with comparatively necessary goods- Jevons) वस्तु विनिमय के फलस्वरूप अधिक सन्तुष्टि या उपयोगिता प्राप्त हो सकती है।

(ii) अधिक उत्पादन (More production)—वस्तु विनिमय के कारण सरल श्रम विभाजन संभव होगा। इसलिए जो व्यक्ति जिस वस्तु के उत्पादन में कुशल होगा वह उसी वस्तु का उत्पादन करेगा। इसके फलस्वरूप उत्पादन अधिक होगा।

(iii) मांग तथा पूर्ति में संतुलन (Equilibrium between Demand and Supply)—वस्तु विनिमय प्रणाली में लोग वस्तुओं का उत्पादन या तो उनका स्वयं उपयोग करने के लिए करते थे या उनके बदले में दूसरी वस्तुएं प्राप्त करने के लिए करते थे। इसलिए वस्तुओं की उतनी ही पूर्ति की जाती थी जितनी उनकी मांग होती थी, अन्य शब्दों में मांग तथा पूर्ति में सन्तुलन पाया जाता था इसके फलस्वरूप अति उत्पादन तथा अल्प उत्पादन की समस्या भी उत्पन्न नहीं होती थी।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अधिक सुविधाजनक (More suitable for International Trade)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए वस्तु विनिमय अधिक सुविधाजनक है इसके कारण विदेशी विनिमय दर या भुगतान शेष के सन्तुलन से सम्बन्धित समस्याएं उत्पन्न नहीं होती। संसार के कई देश अब भी वस्तु विनिमय के आधार पर परस्पर व्यापार करते हैं।

(v) **सरल (Simple)**—एक सरल अर्थ व्यवस्था के लिए जिसमें बाजार का क्षेत्र बड़ा सीमित होता है। वस्तु मुद्रा विनिमय प्रणाली, विनिमय की एक सरल और उपयोगी प्रणाली है। इसके फलस्वरूप मुद्रा विनिमय प्रणाली के दोषों जैसे कि कीमतों में व द्धि, मंदी तथा बेरोजगारी आदि से बचाव होता है।

6. कम आर्थिक असमानता (Less economic Inequality)—वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं का पूंजी के रूप में संचय करना संभव नहीं होता क्योंकि वस्तुएं नाशवान होती हैं। इसके फलस्वरूप आर्थिक असमानता कम हो जाती है तथा धन का केन्द्रीयकरण नहीं हो पाता।

1. आवश्यकताओं के दोहरे संयोग की कठिनाई (Difficulty of Double Coincidence of wants)—वस्तु विनिमय प्रणाली में विनिमय तभी हो सकता है जब आवश्यकताओं का दोहरा संयोग पाया जाए। आवश्यकताओं के दोहरे संयोग से अभिप्राय यह है कि किसी एक व्यक्ति की वस्तु दूसरे की आवश्यकता को और दूसरे व्यक्ति की वस्तु पहले की आवश्यकता को पूरा करती है। अन्य शब्दों में, आवश्यकताओं के दोहरे संयोग से अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति जिस वस्तु का विनिमय करना चाहता है उसकी आवश्यकता किसी दूसरे व्यक्ति को तथा उस दूसरे व्यक्ति के पास विनिमय करने के लिए वह वस्तु हो जिसकी आवश्यकता पहले व्यक्ति को है, उदाहरण के लिए, यदि आपके

पास गेहूं हैं तथा आपको कपड़े की आवश्यकता है तो आपको ऐसा व्यक्ति खोजना पड़ेगा जिसके पास कपड़ा हो तथा जिसे गेहूं की आवश्यकता हो अर्थात जो कपड़ा देकर गेहूं प्राप्त करना चाहता हो। एक सरल अर्थव्यवस्था में जहां लोग एक दूसरे को पूरी तरह जानते हों, आवश्यकताओं का दोहरा संयोग शायद सम्भव हो परन्तु आधुनिक जटिल अर्थव्यवस्थाओं में यह सम्भव नहीं। सैम्युलसन के अनुसार, ''आवश्यकताओं के दोहरे संयोग के स्थान पर, संयोग के अभाव की अधिक संभावना है।''

(Instead of there being a double coincidence of wants: there is likely to be a want of coincidence - Samuelson.) अतएव वस्तु विनिमय में एक व्यक्ति को बहुत अधिक कठिनाई उठानी पड़ेगी तथा उसका बहुत अधिक समय और शक्ति नष्ट होगी। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है : अफ्रीका की यात्रा करते समय लेफ्टिनेन्ट केमेरोन को एक नाव की आवश्यकता हुई। उसके पास तार अधिक मात्रा में था। वह तार देकर नाव प्राप्त करना चाहता था। परन्तु जो व्यक्ति नाव का विनिमय करना चाहता था उसे हाथी दांत की आवश्यकता थी। जिस व्यक्ति के पास हाथी दांत था उसे कपड़े की आवश्यकता थी, जिस व्यक्ति के पास कपड़ा था उसे तार की आवश्यकता थी। इसलिए केमेरोन ने तार देकर कपड़ा लिया कपड़ा देकर हाथी दांत प्राप्त किया तथा हाथी दांत के बदले में नाव प्राप्त की थी। इस प्रकार केमेरोन को नदी पार करने के लिए काफी कठिनाई उठानी पड़ी। वस्तु विनिमय की इस कठिनाई को दूर करने के लिए मुद्रा का अविष्कार किया गया।

2. मूल्य के एक समान मापक की कठिनाई (Difficulty of a Common Measure of value)—वस्तु विनिमय प्रणाली में मूल्य का कोई समान मापक नहीं होता। इसके फलस्वरूप वस्तुओं के परस्पर विनिमय का कोई निश्चित अनुपात निर्धारित नहीं किया जा सकता।

मान लीजिए आपको वह व्यक्ति मिल जाता है जो गेहूं लेकर कपड़ा देने को तैयार है अर्थात् आवश्यकताओं के दोहरे संयोग की शर्त पूरी हो जाती है तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि कितना गेहूं देकर कितना कपड़ा प्राप्त किया जा सकता है। इस स्थिति में विनिमय का अनुपात मनमाने ढंग से दोनों पक्षों की मांग की तीव्रता के आधार पर तय किया जाएगा। यदि आपकी कपड़े की मांग अधिक तीव्र है तो आपको कपड़े की एक इकाई के बदले में अधिक गेहूं देना होगा। इसके विपरीत यदि कपड़े की मांग कम तीव्र है। तो कम गेहूं देना पड़ेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समान मूल्य मापक के अभाव में विभिन्न वस्तुओं के विनिमय का एक निश्चित अनुपात निर्धारित करना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस परिस्थिति में प्रत्येक वस्तु का बाजार मूल्य किसी एक वस्तु के रूप में निर्धारित न होकर उतनी ही वस्तुओं के रूप में निर्धारित होगा जितनी वस्तुएं बाजार में हैं। प्रो. क्लबर्टसन (Culbertson) ने वस्तु विनिमय प्रणाली में किसी वस्तु के विनिमय मूल्यों को ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र दिया है।

$$R = \frac{n(n-1)}{2}$$

(यहां R = एक वस्तु की विनिमय दरें या मूल्य अनुपात; m =वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल संख्या) यदि बाजार में केवल तीन वस्तुएं हैं तो किसी वस्तु के केवल $\frac{3(3-1)}{2} = \frac{8}{2} = 4$ ही मूल्य निर्धारित होंगे, यदि 10 वस्तु हैं तो $\frac{10(10-1)}{2}$ = 45, मूल्य निर्धारित होंगे। यदि 1000 वस्तुएं हैं तो मूल्य निर्धारित होंगे। इस स्थिति में हिसाब किताब रखना संभव नहीं होगा।

3. कुछ वस्तुओं की अविभाज्यता (Indivisibility of certain Goods)—वस्तु-विनिमय की तीसरी कठिनाई उन वस्तुओं से सम्बन्धित है जिनका विभाजन करने से उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। अन्य शब्दों में ये वस्तुएं अविभाज्य (Indivisible) होती हैं। उदाहरण के लिए यदि एक घोड़े का मूल्य, 2 भेड़ या 2 बकरी हैं तथा घोड़े का मालिक एक भेड़ और एक बकरी प्राप्त करना चाहता है तो उसे आधा घोड़ा बकरी वाले को देना पड़ेगा। परन्तु घोड़े का विभाजन संभव नहीं है क्योंकि घोड़े को दो भागों में बांट देने से उसकी उपयोगिता ही समाप्त हो जाएगी। यदि घोड़े का मालिक घोड़ा देकर एक ही बकरी या एक ही भेड़ प्राप्त करता है तो उसे हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि इस स्थिति में उसे भेड़ या बकरी में से किसी एक के उपयोग से वंचित रहना पड़ेगा। वह घोड़े की आधी ही कीमत प्राप्त कर सकेगा। अतः अविभाज्य वस्तुओं के वस्तु-विमिमय के सम्बन्ध में कई प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

4. धन या मूल्य के संचय की कठिनाई (Difficulty of store of wealthor value)—वस्तु-विनिमय प्रणाली में

मुद्रा के अभाव में धन या मूल्य का संचय वस्तुओं या पशुओं के रूप में ही किया जा सकता है। परन्तु इनके रूप में निम्नलिखित चार कारणों से धन का संचय करना संभव नहीं होता। (1) कुछ वस्तुएं जैसे अनाज, सब्जियां आदि तथा पशु नाशवान होते हैं। इनका अधिक समय तक संचय नहीं किया जा सकता। यदि इनके रूप में धन का संचय नहीं किया जाएगा तो वह कुछ समय बाद नष्ट हो जाएगा। (2) कई वस्तुओं की किस्म तथा गुण समय के साथ-साथ खराब होते जाते हैं इस प्रकार उनका मूल्य कम हो जाता है। (3) वस्तुओं तथा पशुओं का संचय करने के लिए बहुत अधिक लम्बे-चौड़े स्थान की आवश्यकता होती है। (4) पशुओं को जीवित रखने के लिए उन पर धन खर्च करना पड़ता है अतएव वस्तु विनिमय प्रणाली में धन का संचय करना संभव नहीं होता। जेवन्स (Jevans) ने वस्तु-विनिमय प्रणाली की इस कठिनाई का वर्णन पैरिस की एक गायिका के अनुभव के आधार पर किया है। यह गायिका अफ्रीका के सोसाइटी नामक द्वीप में अपना संगीत कार्यक्रम देने गई। वहां वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित होने के फलस्वरूप इस गायिका को पशुओं तथा अनाज के रूप में धन दिया गया। अनाज को पशु खा जाते थे तथा गायिका के लिए कुछ भी नहीं बचता था बल्कि उन पशुओं को जीवित रखने के लिए उसे प्रतिदिन संगीत का कार्यक्रम देना पड़ता था। अपना कार्यक्रम समाप्त करने के पश्चात जब वह जहाज से पैरिस वापिस आ रही थी तो पशुओं में बीमारी फैल गई और वे सब मर गए। इस प्रकार उसे धन का कोई संचय किए बिना ही खाली हाथ लौटना पड़ा इससे सिद्ध हो जाता है कि वस्तु विनिमय प्रणाली में धन का संचय करना कठिन हो जाता है।

5. **स्थगित भुगतानों में कठिनाई (Difficulty of Deferred payments)**—स्थगित भुगतानों से अभिप्राय उन भुगतानों से है जिन्हें तत्काल न करके भविष्य में कुछ समय पश्चात किया जाता है। उदाहरण के लिए ब्याज, मजदूरी आदि के भुगतान सम्बन्धी जो इकरार (Contract) किए जाते हैं उन्हें स्थगित भुगतान कहा जाता है। उधार लेन-देन भी स्थगित भुगतानों के सम्बन्ध में कई कठिनाइयां आती हैं चैन्डलर (Chandler) ने इस सम्बन्ध में तीन कठिनाइयों का वर्णन किया है—(1) स्थगित भुगतान में वस्तु के गुण के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो सकता है कि कौन सी किस्म के गेहूं के रूप में भुगतान किया जाए। (2) दोनों पक्षों में भुगतान के लिए प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। (3) स्थगित भुगतान के इकरार की अवधि में भुगतान की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने के कारण किसी एक पक्ष को हानि उठानी पड़ सकती है इसलिए वस्तु विनिमय प्रणाली में स्थगित भुगतान तथा उधार लेन देन करना कठिन हो जाता है। इसके फलस्वरूप साख का निर्माण सम्भव नहीं होता तथा राष्ट्रीय आय का मजदूरी, ब्याज आदि के रूप में वितरण कठिन हो जाता है।

6. **मूल्य हस्तांतरण की कठिनाई (Difficulty of Transfer of value)**—वस्तु-विनिमय प्रणाली में वस्तुओं के मूल्य का हस्तांतरण करना अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना बहुत कठिन है। मान लीजिए एक व्यक्ति अपना मकान बेचकर दूसरी जगह जाना चाहता है। उसे मकान के बदले में वस्तुएं तथा पशु ही प्राप्त होंगे। भारी वस्तुओं जैसे अनाज आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना काफी कठिन होगा। मार्ग में पशु बीमार हो सकते हैं तथा मर भी सकते हैं। इसलिए मूल्य हस्तांतरण करना संभव नहीं होगा। इसके फलस्वरूप साधनों की गतिशीलता कम हो जाती है तथा बाजार का विस्तार संकुचित हो जाता है।

7. **विशिष्टीकरण की कठिनाई (Difficulty of Specialisation)**—वस्तु विनिमय प्रणाली में विशिष्टीकरण तथा जटिल श्रम विभाजन करना कठिन होता है। विशिष्टीकरण के लिए वस्तुओं का अधिक मात्रा में उत्पादन होना आवश्यक है। उत्पादन अधिक मात्रा में तभी किया जाता है जब वस्तु के बाजार का विस्तार अधिक होता है परन्तु वस्तु विनिमय प्रणाली एक सरल अविकसित अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है। इसके अन्तर्गत बाजार का विस्तार बहुत कम होता है। बाजार का विस्तार कम होने के कारण उत्पादन कम होता है तथा विशिष्टीकरण की संभावना बहुत कम हो जाती है। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादन भी कम होता है तथा आर्थिक विकास नहीं हो पाता।

वस्तु विनिमय किन परिस्थितियों में सम्भव है?
(Conditions under which Barter is Possible?)

वस्तु विनिमय प्रणाली की उपरोक्त कठिनाइयों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु विनिमय व्यापार का अत्यन्त दोषपूर्ण ढंग है। इसका प्रयोग केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही संभव हो सकता है। इसके लिए निम्न दिशाओं का होना आवश्यक है :—

1. **सरल अर्थव्यवस्था (Simple Economy)**—एक सरल अर्थव्यवस्था आर्थिक द ष्टि से अविकसित होती है। इस

अर्थव्यवस्था में मनुष्यों की आवश्यकताएं सीमित होती हैं। उनकी पूर्ति वस्तु विनिमय द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार एक सरल अर्थव्यवस्था में वस्तु विनिमय प्रणाली सम्भव हो सकती है।

2. **विनिमय का सीमित क्षेत्र (Limited Area of Exchange)**—विनिमय का क्षेत्र सीमित होने पर लोगों को यह आसानी से पता चल जाता है कि किस व्यक्ति को कौन सी वस्तुओं की आवश्यकता है तथा वह उसके बदले में कौन सी वस्तु दे सकता है। इस प्रकार एक सीमित क्षेत्र में आवश्यकताओं का दोहरे संयोग प्राप्त करना सम्भव होता है। इसके फलस्वरूप वस्तु विनिमय प्रणाली सम्भव हो जाती है।

3. **यातायात की सुविधाओं का अभाव Lack of the Means of Transport**—जिस अर्थव्यवस्था में यातायात के साधनों का अभाव होता है। उसमें आत्मनिर्भरता की प्रव त्ति पाई जाती है। लोगों की आवश्यकताएँ सरल तथा कम होती हैं उन्हें स्थानीय उत्पादन से ही पूरा कर लिया जाता है। ऐसी स्थिति में वस्तु विनिमय प्रणाली सम्भव होती है।

आधुनिक अर्थव्यवस्था तथा वस्तु विनिमय प्रणाली
(Barter System and Modern Economy)

Or

क्या आधुनिक समाज में वस्तु विनिमय प्रणाली अप्रचलित हो गई है?
(Has Barter System become obsolete in Modern Society)?

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में वस्तु विनिमय का स्थान मौद्रिक विनिमय ने ले लिया है यद्यपि वस्तु विनिमय का केवल एक ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है परन्तु इसका प्रचलन पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ है। आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में भी वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन निम्नलिखित परिस्थितियों में पाया जाता है—

1. **ग्रामीण क्षेत्रों में (In the Rural Areas)**—संसार के अल्पविकसित देशों जैसे भारत में आज भी कई गांव में लोग अपने उपभोग की वस्तुएं, अनाज जैसी सामान्य स्वीक ति वाली वस्तुओं के बदले में प्राप्त करते हैं। कई स्थानों पर क षि मजदूरों को मजदूरी अनाज के रूप में ही दी जाती है।

2. **शहरी क्षेत्रों में (In the Urban Areas)**—विकसित देशों के शहरी क्षेत्रों में भी कई परिस्थितियों में आज भी वस्तु विनिमय प्रणाली पाई जाती है। उदाहरण के लिए कई नई वस्तुओं जैसे कार, टेलीविजन आदि का आंशिक भुगतान पुरानी कार, पुराने टेलीविजन आदि के रूप में भी स्वीकार किया जाता है।

3. **आर्थिक संकट में (In Economic Crisis)**—आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक संकट के समय वस्तु विनिमय प्रणाली को अपनाया गया है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात यूरोप के देशों में अति मुद्रास्फीति (Hypher Inflation) के कारण मुद्रा के मूल्यों में बहुत अधिक कमी हो गई है। इसके फलस्वरूप इन देशों में वस्तु का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से किया जाने लगा था। अमेरिका में सन् 1932-33 की महामन्दी (Great Depression) के कारण छोटे-छोटे वस्तु विनिमय समाज बन गए थे। वाल्टर यूकिन के अनुसार द्वितीय महायुद्ध के पश्चात जर्मनी में बर्तन बनाने वाले कारखानों में श्रमिकों को बर्तनों के रूप में वेतन दिया जाने लगा जिनके बदले में वे अन्य लोगों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त करते थे।

4. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में (In International Trade)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में वस्तु विनिमय का महत्वपूर्ण स्थान है। विदेशी विनिमय की कमी के कारण कई देश द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते कर लेते हैं। इनके अन्तर्गत एक देश अपनी वस्तुएं देकर दूसरे देश की वस्तुएं प्राप्त करता है। भारत ने रूस आदि कई देशों से इस प्रकार के समझौते किए हुए हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आजकल की अर्थव्यवस्थाओं में जो वस्तु विनिमय प्रचलित भी हैं उसमें मुद्रा ही हिसाब-किताब का कार्य करती है तथा मूल्य के मापदंड में मुद्रा का ही प्रयोग होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि सभ्यता के प्रारम्भिक काल की विशुद्ध वस्तु विनिमय प्रणाली तो आजकल कहीं भी प्रचलित नहीं है। परन्तु कुछ परिस्थितियों में संशोधित वस्तु विनिमय प्रणाली (मुद्रा पर अप्रत्यक्ष रूप से आधारित) अवश्य प्रचलित है। जैकसन ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है, ''वाणिज्य वस्तु विनिमय से आरम्भ होता है तथा उसका वस्तु विनिमय पर ही अन्त होता है। परन्तु वस्तु विनिमय का अंतिम रूप उसके प्रारम्भिक रूप से बिल्कुल अलग होता है। इसका कारण मुद्रा के रूप में वस्तु विनिमय के अनुमान की सम्भावना है।''

मुद्रा का विकास (Evolution of Money)—शताब्दियों पूर्व वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए मुद्रा का जन्म हुआ। मुद्रा के जन्म से सम्बन्धित दो मुख्य सिद्धान्त हैं—

1. **मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त (Theory of Spontaneous Growth of Money)**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्य रूप से प्रो. स्पाल्डिंग ने किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी व्यक्ति ने मुद्रा की विशेष रूप से खोज नहीं की है। यह तो मनुष्य को संयोगवश ही मिल गई है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जैसे-जैसे विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। इस वस्तु को ही मुद्रा मान लिया गया, परन्तु समय के साथ-साथ जैसे ही कोई दूसरी वस्तु की तुलना में विनिमय का अधिक उपयुक्त माध्यम सिद्ध हुई तो उसका मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार मुद्रा अपने आप ही अस्तित्व में आ गई थी। इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

2. **मुद्रा का विकास सिद्धान्त (Theory of Evolution of Money)**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्य रूप से क्राउथर (Crowther) ने किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए मुद्रा का अविष्कार मनुष्य द्वारा स्वयम किया गया। क्राउथर के अनुसार ''मुद्रा मनुष्य के मौलिक अविष्कारों में से एक महत्वपूर्ण अविष्कार है। सरल वस्तु विनिमय से मौद्रिक लेखे की दिशा में आगे बढ़ने के लिए चेतन तर्क शक्ति की आवश्यकता पड़ी थी।''

"Money is one of the most fundamental of all man's inventions. It needed the conscious reasoning power of man to make the step from simple barter to money accounting -Crowther. वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए, मूल्य के सामान्य मापक तथा विनिमय के माध्यम का कार्य करने के लिए मनुष्य के अपने सतत् प्रयत्नों के फलस्वरूप मुद्रा का विकास किया।

मुद्रा के विकास से सम्बन्धित उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों के पक्ष तथा विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु इस सम्बन्ध में किए जाने वाले तर्क का कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होगा। हमारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि मनुष्य बहुत ही प्राचीन काल से मुद्रा का प्रयोग कर रहा है, परिस्थितियों के अनुसार इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मुद्रा का वर्तमान रूप निम्नलिखित चरणों में से विकसित हुआ है—

1. **वस्तु मुद्रा (Commodity Money)**—मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल में वस्तुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता था। शिकार युग (Hunting Age) में लोगों ने पशुओं की खालों, तीर कमानों आदि का मुद्रा के रूप में प्रयोग किया। पशु पालन अवस्था में पशुओं जैसे भेड़, बकरी, गाय, बैल आदि का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ। क षि अवस्था में अनाज का मुद्रा के रूप में उपयोग हुआ। इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग वस्तुओं जैसे शंक, कौडी, पशु, अनाज आदि का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ।

वस्तु मुद्रा के मुख्य दोष निम्नलिखित थे—(1) सभी पशु अथवा वस्तुएं एक समान नहीं होती थी। प्रभावीकरण के अभाव में मूल्य निर्धारण में कठिनाई होती थी। (2) वस्तुओं की पूर्ति में अचानक परिवर्तन होते थे। (3) इन वस्तुओं के रूप में धन का संचय करना सम्भव नहीं था। (4) इन वस्तुओं में वहनीयता (Portability) के गुण का भी अभाव था। इसलिए वस्तुओं का हस्तांतरण करना काफी कठिन था। वस्तुओं के उपविभाजन में कठिनाई होती थी।

2. **धातु मुद्रा (Metallic Money)**—वस्तु मुद्रा की कठिनाइयों को दूर करने के लिए धातु मुद्रा का प्रयोग आरम्भ किया गया। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने धातुओं की खोज की और लोहा, तांबा, सोना, चांदी इत्यादि धातुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग होने लगा। प्रारम्भ में इन धातुओं के टुकड़ों के एक समान वजन के सम्बन्ध में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था परन्तु धीरे-धीरे इन टुकड़ों के वजन का विचार विकसित हुआ। इसके पश्चात् उन पर मोहर लगाने और मूल्य लिखने का विचार विकसित हुआ। इस प्रकार धातु के सिक्कों का विकास हुआ। यह कहा जाता है कि धातु के सिक्कों का प्रयोग सबसे पहले ईसा से आठवीं शताब्दी पूर्व लिडिया के राजा मिडास (Midas) ने किया था परन्तु लिडिया से कई शताब्दियों पूर्व भारत तथा मिश्र में सिक्कों का प्रचलन था। धातु मुद्रा के मुख्य दोष निम्नलिखित थे—(1) इसकी पूर्ति में आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करना सम्भव नहीं था इसलिए व्यापार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को धातु मुद्रा द्वारा पूरा नहीं किया जा सका। (2) धातु मुद्रा भारी होती थी इसलिए उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने ले जाने में कठिनाई होती थी। (3) यह खर्चिली प्रणाली थी। धातु के सिक्कों का लगातार प्रचलन करने से वे काफी घिस जाते थे।

3. **पत्र मुद्रा (Paper Money)**—धातु मुद्रा का हस्तांतरण असुविधाजनक तथा असुरक्षित था। इसके चोरी होने का डर बना रहता था। इसलिए प्राचीन काल में व्यापारी दूर-दूर के स्थानों पर धातु मुद्रा ले जाने के स्थान पर उन्हें अपने

शहर के प्रतिष्ठित सर्राफों के पास जमा करा देते थे तथा उनसे मुद्रा जमा कराने के प्रमाण के रूप में पत्रों के आधार पर वे दूसरी जगह धन प्राप्त कर सकते थे। इन प्रमाण पत्रों का मुद्रा की तरह प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार पत्र मुद्रा का विकास आरम्भ हुआ यद्यपि यह कहना कठिन है कि मुद्रा कब आरम्भ हुई परन्तु कुछ इतिहासकारों का यह विचार है कि पत्र मुद्रा सबसे पहले चीन में 807 A.D. में प्रारम्भ हुई। आजकल पत्र मुद्रा केवल देश का केन्द्रीय बैंक या सरकार ही जारी करती है। आरम्भ में पत्र मुद्रा को स्वर्ण मुद्रा या स्वर्ण के रूप में परिवर्तित किया जा सकता था। परन्तु आजकल सभी देशों में पत्र मुद्रा अपरिवर्तनीय है। पत्र मुद्रा के कई लाभ हैं जैसे—(1) यह सस्ती मुद्रा प्रणाली है। (2) इसकी पूर्ति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। (3) इसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर हस्तांतरित करना सुविधाजनक होता है। परन्तु इसका मुख्य अवगुण यह है कि इसकी पूर्ति में बहुत अधिक व द्धि किए जाने की सम्भावना होती है। इसके फलस्वरूप कीमत स्तर बढ़ जाता है तथा पत्र मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। लोगों का इसमें विश्वास कम हो जाता है।

4. **साख मुद्रा (Credit Money)**—व्यापार के विस्तार के फलस्वरूप बैंकिंग प्रणाली का विकास हुआ। बैंकों के साख मुद्रा को जन्म दिया। इसके अन्तर्गत चैक, विनिमय पत्र, प्रतिज्ञापत्र ड्राफ्ट आदि को शामिल किया जाता है। यह मुद्रा का एक सरल, सुविधाजनक, सुरक्षित तथा कम खर्चीला रूप है।
5. **निकट मुद्रा (Near Money)**—मुद्रा के विकास का पांचवा चरण निकट मुद्रा है। निकट मुद्रा उन पत्रों को कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं को तुरन्त नहीं खरीदा जा सकता परन्तु जिन्हें मुद्रा के रूप में बड़ी सरलता से परिवर्तित किया जा सकता है तथा जिनका मूल्य मुद्रा के रूप में ही प्रकट किया जाता है। निकट मुद्रा के अन्तर्गत ट्रेजरी बिल, विनिमय बिल, बांड, सरकारी प्रतिभूतियों, बैंकों में निश्चित काल के लिए जमा राशि (Fixed Deposits) बीमा पॉलिसी आदि को शामिल किया जाता है। अतएव निकट मुद्रा में पत्र मुद्रा की तुलना में तरलता कम होती है। परन्तु इनके संचय से आय की प्राप्ति होती है।

4. मुद्रा की प्रक ति

Nature of Money

प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अन्य वस्तुओं की तरह मुद्रा की भी मांग करता है। परन्तु मुद्रा की प्रक ति अन्य वस्तुओं जैसे—भोजन, कपड़ा आदि से भिन्न होती है। मुद्रा एक साधन (Means) है। इसके विपरीत अन्य वस्तुएं जैसे—कपड़ा भोजन आदि साध्य है। इसका अभिप्राय यह है कि हम मुद्रा के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। हम न ही मुद्रा को खा सकते हैं न ही पहन सकते हैं। परन्तु हम मुद्रा के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाली अन्य वस्तुओं और सेवाओं को खरीद सकते हैं। अतः मुद्रा विनिमय का साधन (Meaning of Exchange) मात्र है। केवल मुद्रा की पूर्ति का अधिक होना किसी देश के धनी होने का प्रतीक नहीं है। इसके विपरीत किसी भी देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति का अधिक होना उसके धनी होने का प्रतीक है। यदि किसी व्यक्ति के पास अधिक मुद्रा है तो इसका अभिप्राय केवल यह हुआ कि अन्य बातें समान रहने पर वह व्यक्ति अधिक वस्तुएं व सेवाएं प्राप्त कर सकता है। मुद्रा में क्रय शक्ति क्यों होती है। इसलिए मुद्रा के रूप में धन का संचय (Stores of Wealth) भी किया जा सकता है। परन्तु मुद्रा में आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट करने की शक्ति नहीं होती। इसलिए मुद्रा में जो धन संचय किया जाता है। उसका उपयोग भविष्य में वास्तविक धन (Real Wealth) अर्थात वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है। संक्षेप में, मुद्रा केवल एक साधन है। यह साध्य नहीं है। प्रत्येक देश की सरकार का यह कर्त्तव्य है कि मुद्रा की मात्रा को इस प्रकार नियन्त्रित करें कि न तो वह इतनी अधिक हो कि कीमत स्तर बढ़ जाए और न ही इतनी कम हो कि आर्थिक विकास के लिए बाधा बन जाए।

मुद्रा का आधार उसकी सर्वमान्यता होती है। इसके लिए कानूनी स्वीक ति का होना आवश्यक नहीं। कानूनी रूप से स्वीक त मुद्रा को चलन मुद्रा (currency) कहा जाता है जबकि सर्वमान्य मुद्रा में साख मुद्रा (Credit Money) भी शामिल होती है। मुद्रा में तरलता (Liquidity) का गुण आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि मुद्रा के द्वारा हर समय किसी भी वस्तु या सेवा को खरीदा जा सकता है जबकि अन्य सम्पत्तियों को तरल बनाने के लिए उन्हें मुद्रा के रूप में बेचना पड़ता है। वास्तव में, तरलता के गुण के कारण ही मुद्रा विनिमय का माध्यम और मूल्य का मापक है। वर्तमान समय में कई ऐसे साधन प्रचलित हो गए हैं जिनमें तरलता दूसरी वस्तुओं की तुलना में अधिक होती है। इस संदर्भ में तरलता से अभिप्राय किसी साधन को बिना किसी

विलंब कठिनाई या हानि के नकद मुद्रा में बदलने की क्षमता से है जिसके फलस्वरूप उसका इच्छानुसार प्रयोग किया जा सके। ब्रिटिश सरकार द्वारा 1957 में मौद्रिक प्रणाली की जांच करने के लिए रैड क्लिफ समिति की नियुक्ति की गई थी, इस समिति के अनुसार भी मुद्रा में तरलता का गुण होना आवश्यक है। तरलता के आधार पर कुछ अन्य साधनों जैसे बैंकों में जमा की गई रकम, अल्पकालीन ऋण, अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों तथा ऋण पत्रों को भी जिन्हें निकट मुद्रा (Near Money) कहा जाता है मुद्रा में शामिल किया जाता है। क्राउथर ने ठीक ही कहा है कि चलन मुद्रा तथा बैंक मुद्रा दोनों को ही मुद्रा में शामिल किया जाना चाहिए।

मुद्रा की परिभाषाएं

Definitions of Money

मुद्रा की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती। साधारणतयाः मुद्रा को निम्नलिखित दो विधियों में से किसी एक प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है–

(1) मुद्रा वह कोई भी वस्तु है जिसे वस्तुओं या सेवाओं के भुगतान या ऋण के भुगतान के रूप में स्वीकार किया जाता है।
(Money is anything acceptable in payments of goods and services or in settlement of a debt.)

(2) मुद्रा वह कोई भी वस्तु है जो मुद्रा के कार्य जैसे विनिमय का माध्यम, मूल्य का माप, मूल्य का संचय आदि करती है।
(Money is defined as anything which performs the function of money, that is medium of exchange, measure of value and store of value).

जी. ई. डैनिस (G.E. Dennis) के अनुसार मुद्रा को परिभाषित करने की उपरोक्त दी गई कोई सी भी विधि संतोषजनक नहीं है। पहली प्रकार की परिभाषाओं का दोष यह है कि स्वीक ति (acceptability) का कोई सामान्य माप दण्ड नहीं है।

उदाहरण के लिए भारत में कई लोग चैक को मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरी प्रकार की परिभाषाओं का दोष यह है कि यह कहना कठिन होगा कि कौन-कौन सी वस्तुएं वास्तव में मुद्रा के कार्य करती हैं। इस प्रकार की परिभाषाओं को सही रूप में मुद्रा की परिभाषा नहीं कहा जाना चाहिए। यह तो मुद्रा के कार्यों की सूची मात्र है। मुद्रा की परिभाषा सम्बन्धी उपरोक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए प्रो. जॉनसन (Johnson) ने अपनी पुस्तक "Essays of Monetary Economics" में मुद्रा की परिभाषा से सम्बन्धित द ष्टिकोणों को चार भागों में बांटा है।

(1) परम्परागत द ष्टिकोण (Conventional Approach)
(2) शिकागो द ष्टिकोण (Chicago Approach)
(3) गरले और शॉ द ष्टिकोण (Gurley and Shaw Approach)
(4) केन्द्रीय बैंकिंग या रैडक्लीफ द ष्टिकोण (Central Banking or Redcliffe Approach)

1. परम्परागत द ष्टिकोण
(Conventional Approach)

मुद्रा की परिभाषा के परम्परागत द ष्टिकोण के अनुसार मुद्रा की परिभाषा उसके मुख्य कार्यों जैसे–विनिमय का माध्यम, मूल्य का माप, मूल्य का संचय आदि के आधार पर दी जानी चाहिए। हिक्स (Hicks) के अनुसार मुद्रा की परिभाषा उसके कार्यों के आधार पर की जाती है। ''कोई भी वस्तु जिसका मुद्रा की तरह प्रयोग किया जाता है मुद्रा है : मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है।-

Money is defined by its functions : anything is money which is, used as money : Money is what money does. मुद्रा की कुछ महत्वपूर्ण परम्परागत परिभाषाएं निम्नलिखित है।

(i) **केन्ट के अनुसार,** ''मुद्रा कोई भी वस्तु हो सकती है जिसे विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मापदण्ड के रूप में सामान्यतया उपयोग किया जाता है तथा साधारणतया स्वीकार किया जाता है।''
(Money is anything that is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value — R.P. Kent.)

(ii) **क्राउथर के अनुसार,** ''मुद्रा की परिभाषा किसी भी वस्तु के रूप में दी जा सकती है जिसे साधारणतः विनिमय का माध्यम स्वीकार किया जाता हो और इसके साथ ही जो मूल्य के मापक और मूल्य के संचय का भी कार्य करती हो।''

(Money can be defined as anything that is generally accepted as a means of exchange and at the same time acts as a measure and as a store of value—Geoffrey Crowther.)

(iii) **प्रो. मार्शल के अनुसार,** ''मुद्रा में उन सभी वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जो (किसी समय और स्थान पर) बिना किसी प्रकार के सन्देह अथवा विशेष जांच के वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदने और खर्च को चुकाने के साधन के रूप में साधारणतः प्रयोग की जाती है।''

(All those things which are (cat any time and place) generally accepted without doubt or special enquiry as a as means of purchasing commodities and services and defraying expenses are included in the definition of money—Marshall.

(iv) जे. एम. केन्ज के शब्दों में, ''मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण और मूल्य सम्बन्धी समझौतों का भुगतान किया जाता है और जिस के रूप में सामान्य क्रय शक्ति संचित की जाती है।''

(Money is that by delivery of which debt contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held—J.M. Keynes.)

(v) वाकर तथा हार्टले विदर्स के अनुसार, ''मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे।''

Money is what money does—Walker and Hartley withers.

मुद्रा की परम्परागत परिभाषाओं के अनुसार मुद्रा के अन्तर्गत नोट, सिक्के अर्थात करेन्सी तथा बैंकों में मांग जमा (Bank Deposites) को शामिल किया जाता है। मांग जमा उस जमा को कहते हैं। जिसे चैक द्वारा किसी भी समय बैंक से निकलवाया जा सकता है। अतएव

Money = Notes + Coins + Demand Deposits

इस द ष्टिकोण के अनुसार मुद्रा में समय जमा (Time Deposits) को शामिल नहीं किया जाता। समय जमा से अभिप्राय बैंकों में जमा की गई उस रकम से है। जिसे एक निश्चित समय के बाद ही बैंक से निकलवाया जा सकता है। समय जमा को मुद्रा में शामिल न किए जाने का मुख्य कारण यह है कि इन्हें मुद्रा के रूप में प्रयोग करने से पहले या तो करेन्सी में या मांग जमा के रूप में बदलना पड़ेगा।

2. शिकागो द ष्टिकोण
(Chicago Approach)

इस द ष्टिकोण का प्रतिपादन ''शिकागो स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स'' के नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री प्रो. फ्रीडमैन ने किया है। मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार, ''मुद्रा क्रय शक्ति का अस्थायी निवास है।'' (Money is a temporary abode of purchasing power - Milton Friedman)।

इसका कारण यह है कि मौद्रिक अर्थव्यवस्था में प्रत्येक सौदे (Transaction) को दो भागों में बांट दिया गया है, एक मुद्रा के रूप में क्रय तथा दूसरे मुद्रा के रूप में विक्रय, जबकि वस्तु विनिमय में यह एक ही क्रिया थी। वस्तुओं के क्रय तथा विक्रय में समय का अन्तर हो सकता है इसलिए मुद्रा के रूप में क्रय शक्ति को अस्थायी रूप में संचय किया जाना चाहिए। क्रय शक्ति के अस्थायी निवास के रूप में कार्य करने के लिए मुद्रा के अन्तर्गत करेन्सी तथा मांग जमा के साथ-साथ समय जमा (Time Deposits) को भी शामिल किया जाना चाहिए समय जमा को नकद मुद्रा में बिना किसी हानि, असुविधा तथा विलम्ब के बदला जा सकता है इसलिए इस द ष्टिकोण के अनुसार –

Money = Currency + Demand Deposits + Time Deposits

यह परिभाषा मुद्रा की परम्परागत परिभाषा से अधिक विस्त त है परम्परागत परिभाषा में मुद्रा के अन्तर्गत समय जमा को शामिल नहीं किया जाता। परन्तु शिकागो द ष्टिकोण के विनिमय के माध्यम (Medium of Exchange) कार्य को अधिक महत्व दिया गया है जबकि इस द ष्टिकोण में मूल्य के संचय (Store of Value) कार्य को अधिक महत्व दिया गया है। इसके दो कारण है : —(1) राष्ट्रीय आय तथा मुद्रा की कुल पूर्ति जिसमें करेन्सी, मांग जमा तथा समय जमा शामिल है में घनिष्ठ सम्बन्ध है। (2) मुद्रा में उन सब वस्तुओं को शामिल किया जाना चाहिए जो पूर्ण प्रतिस्थापन (Perfect Substitute) है। समय जमा मुद्रा का पूर्ण प्रतिस्थापन है। प्रो. जेम्स टाबिन (James Tobin) ने इस द ष्टिकोण की आलोचना करते हुए कहा है कि, ''मुद्रा में समय जमा शामिल करना नीति निष्कर्ष की अनिर्णयात्मक भूमिका है।'' (To include Time Deposites is an unconvincing prelude to policy conclusion).

इस द ष्टिकोण ने मुद्रा के क्षेत्र को विस्त त कर दिया है।

3 गरले तथा शॉ द ष्टिकोण
(Gurley and shaw Approach)

इस द ष्टिकोण का प्रतिपादन जे. जी. गरले (J.G. Gurley) तथा ई. एस. शॉ (E.S. Shew) ने अपनी पुस्तक ("Money in a Theory of Finance." में किया है। इस द ष्टिकोण के अनुसार मुद्रा में उन सब वस्तुओं को शामिल किया जाना चाहिए जो उसके निकट प्रतिस्थापन (Close Substitutes) है। मुद्रा में करेन्सी तथा मांग जमा के अतिरिक्त उनके प्रतिस्थापन समय जमा, बचत बैंक जमा, साख पत्र शेयर, बांड इत्यादि शामिल किए जाने चाहिए। इन सब परिसम्पत्तियों (Assets) में करेन्सी की तरह तरलता का गुण पाया जाता है ये परिसम्पत्तियां भी वित्तीय मध्यस्थों (Financial Intermediaries) द्वारा जारी की जाती हैं। वित्तीय मध्यस्थ दो प्रकार के होते हैं एक बैंक तथा दूसरे गैर बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थ (Non Banking, Financial Intermedraries) इनके अन्तर्गत बचत तथा साख समितियां, जीवन बीमा निगम, बचत बैंक आदि को शामिल किया जाता है, इन संस्थाओं के साख पत्रों में भी तरलता (Liquidity) का गुण पाया जाता है। इसलिए इन्हें भी मुद्रा में शामिल किया जाना चाहिए। अतएव इस द ष्टिकोण के अनुसार —

Money = Currency + Demand Deposits + Time Deposits + Saving Bank Deposites + Shares + Bonds + ...

इस द ष्टिकोण में माना गया है कि मुद्रा के अन्तर्गत शामिल की जाने वाली विभिन्न परिसम्पत्तियों में पाई जाने वाली तरलता की श्रेणी (Degree of Liquidity) में अन्तर होता है चैट्टी (Chetty) ने इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न परिसम्पत्तियों को उनकी तरलता के आधार पर भार (weight) दिये हैं। जो वस्तुएं अंतरल हैं उन्हें शून्य (Zero) भार दिया गया है जबकि समय जमा को 100% भार दिया गया है बचत बैंक जमाओं को 88% तथा बाण्ड्स तथा ऋण पत्रों को 65% भार दिया गया है।

मुद्रा के शिकागो द ष्टिकोण तथा गरले एवं शॉ (Gurley and Shaw) द ष्टिकोण में दो मुख्य अन्तर हैं (i) शिकागो द ष्टिकोण में मुद्रा के अन्तर्गत करेन्सी, मांग जमा तथा समय जमा को शामिल किया गया है। जबकि गरले तथा शॉ के इस द ष्टिकोण में इन तीनों के अतिरिक्त गैर बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थों के ऋणपत्रों, बचत, जमा, शेयर तथा बाण्ड्स आदि को भी शामिल किया गया है। (2) शिकांगो द ष्टिकोण में करेंसी, मांग जमा, समय जमा को समान महत्व दिया गया है तथा मुद्रा की पूर्ति ज्ञात करने के लिए इन तीनों को जोड़ लिया जाता है। परन्तु गरले तथा शॉ के द ष्टिकोण में मुद्रा के सभी तत्वों को समान महत्व नहीं दिया गया है उन्हें तरलता के आधार पर भार (Weight) दिए गए हैं। इस द ष्टिकोण का मुख्य दोष यह है कि भार देने की कोई प्रमाणिक विधि नहीं है।

4. केन्द्रीय बैंकिंग या रैडक्लिफ द ष्टिकोण
(Central Banking or Redcliffie Approach)

इस द ष्टिकोण के अनुसार मुद्रा से अभिप्राय विभिन्न स्रोतों द्वारा दी गई साख से है। (Money is the credit extended by a wide variety of sources). इस द ष्टिकोण के अनुसार, मुद्रा के अन्तर्गत, करेन्सी, मांग जमा, समय जमा, गैर बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थों तथा असंगठित संगठनों द्वारा जारी की गई कुल साख को शामिल किया जाता है। अर्थात :—

Money = Currency + Demand Deposites + Time Deposits + Saving Bank Deposits + Shares + Bonds + Securities + Credit from Un-organised Sector.

रेडक्लिफ द ष्टिकोण के अनुसार मुद्रा तथा अन्य वित्तीय साधनों में समानता पाई जाती है। इसलिए कुल साख को मुद्रा में शामिल किया जाता है। इस समानता को मापा (Measurable) भी जा सकता है तथा नहीं भी मापा जा सकता है। आर्थिक क्रियाओं पर कुल साख का प्रभाव पड़ता है। वास्तव में मुद्रा का भी आर्थिक क्रियाओं पर इसी कारण प्रभाव पड़ता है क्योंकि बैंक साख कुल साख का ही एक भाग है तथा कुल साख को मापा जा सकता है। रेड क्लिफ कमेटी के अनुसार कुल साख को मुद्रा में इसलिए शामिल किया जाना चाहिए क्योंकि इसमें भी तरलता (Liquidity) पाई जाती है, परन्तु तरलता को मापा नहीं जा सकता।

संक्षेप में मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न द ष्टिकोण पाए जाते हैं। फ्रीडमैन तथा श्वारिज के अनुसार, ''मुद्रा की परिभाषा देने का प्रयत्न सिद्धांत के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि आर्थिक सम्बन्धों के विषय में हमारे ज्ञान में व द्धि करने के लिए उपयोगी होने की द ष्टि से किया जाना चाहिए।''

(The definition of money is to be sought for not on grounds of principle but on grounds of usefulness in organising our knowledge of economic relationship —Friedman and Schwartz.)

मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में इस द ष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए प्रो. पाल डेविडन ने मुद्रा की एक आधुनिक परिभाषा दी है। यह परिभाषा गत्यात्मक संसार की अनिश्चिताओं (Uncertainnity of Dynamic World) को ध्यान में रखती है। पाल डेविडसन के अनुसार मुद्रा वह कोई भी वस्तु है जिसमें तीन मुख्य विशेषताएं पाई जाती हों—(1) उत्पादकता लोच शून्य हो (2) स्थानापन्न की लोच शून्य हो (3) मुद्रा के विनिमय माध्यम कार्य से मुद्रा संचय कार्य में हस्तांतरण किए जाने की लागत शून्य हो। हस्तांतरण लागत के न्यूनतम या शून्य होने से अभिप्राय यह है कि अर्थव्यवस्था में तीन मुख्य संस्थाएं क्रियाशील हैं, वे हैं ऋण सम्बन्धी समझौता (Debt. Contract) इस समझौते को लागू करने के लिए कानून (Enforcement) तथा निजी ऋणों के भुगतान (Clearing) के अवसर। संक्षेप में मुद्रा की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में उपरोक्त सभी द ष्टिकोण तरलता की विशेषता पर आधारित है। परम्परावादी विचारधारा के अनुसार मुद्रा में केवल उन्हीं वस्तुओं को शामिल किया जाना चाहिए जिनमें विशुद्ध तरलता पाई जाती है, अर्थात जिनके रूप में हम अन्य वस्तुओं का किसी भी समय बिना विशेष प्रयत्न के क्रय विक्रय कर सकते हैं। इसके अन्तर्गत करेन्सी तथा बैंक मांग जमा को मुद्रा माना जाना चाहिए। इसके विपरीत अन्य द ष्टिकोणों के अनुसार मुद्रा के अन्तर्गत उन सभी परिसम्पतियों को भी शामिल किया जाना चाहिए जिनमें उच्च श्रेणी की तरलता पाई जाती है जैसे समय जमा आदि। वैनट्रोब ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि सामाजिक द ष्टिकोण से मुद्रा से अभिप्राय उन्हीं तरल परिसम्पत्तियों अर्थात करेन्सी और बैंकों की मांग जमा से है जो किसी स्थान पर विनिमय के माध्यम के रूप में चलन में है।

(Money may be defined as those liquid assets which serve the nation as circulating Media- R.E. Neintrub.)

मुद्रा के मुख्य लक्षण (Main Characteristics of Money)

मुद्रा के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं। इन लक्षणों के कारण मुद्रा तथा दूसरी वस्तुओं में विभिन्नता पाई जाती है:—

(i) **सामान्य स्वीक ति (General Acceptability):**—मुद्रा का एक प्रमुख लक्षण यह है कि इसे लोग बिना किसी संदेह तथा संकोच के सौदों तथा ऋणों के भुगतान के लिए स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। प्रो. न्यूटन के अनुसार, ''भुगतान के साधन के रूप में सामान्य स्वीक ति एक आवश्यक कार्य है जो हमें मुद्रा की पहचान में सहायता देती है।''
(The essential function which enables us to identify money is that, it is generally accepted as a means of payments - Newlyn.)

(ii) **स्वैच्छिक स्वीक ति (Voluntary Acceptability):**—मुद्रा का यह एक महत्वपूर्ण लक्षण है कि जन साधारण उसे प्राप्त करने के लिए लालयित रहता है। इसकी स्वीक ति के लिए किसी पर दबाव डालने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि व्यक्ति उसे स्वेच्छा से स्वीकार करता है।

(iii) **विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange):**—मुद्रा के द्वारा अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय किया जा सकता है। मुद्रा विनिमय का माध्यम है।

(iv) **मूल्य मापक (Measure of Value):**—मुद्रा की सहायता से सभी प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को मापना संभव होता है।

(v) **मुद्रा साधक है, साध्य नहीं है (Money is a Means and not an End):**—मुद्रा हमारे लिए अप्रत्यक्ष रूप से उपयोगी है। मुद्रा के द्वारा हम वे वस्तुएं तथा सेवाएं खरीद सकते हैं जिनसे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और हमें सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इसलिए मुद्रा आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मात्र है। मुद्रा का अपने आप में कोई महत्व नहीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा एक साधन है, साध्य नहीं।

(vi) **सरकारी नियंत्रण (Government Control):**—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सभी आर्थिक समस्याओं का सम्बन्ध मुद्रा से है। आधुनिक युग में सरकार का कार्य केवल प्रशासन करना ही नहीं रहा है बल्कि सरकार सामाजिक कल्याण के कार्यों में अधिक से अधिक भाग लेने लगी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है मौद्रिक व्यवस्था सरकार के नियन्त्रण में रहे। मुद्रा स्फीति, विस्फीति इत्यादि समस्याओं पर काबू पाने के लिए भी मुद्रा पर सरकारी नियन्त्रण आवश्यक है। साधारणतः सरकार की ओर से देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा के नियन्त्रण का कार्य करता है।

(vii) **तरल सम्पत्ति (Liquid Asset):**—मुद्रा को सबसे अधिक तरल माना जाता है। तरलता से अभिप्राय यह है कि हम उस वस्तु का बिना कठिनाई, विलम्ब अथवा क्षति के इच्छानुसार निवेश अथवा व्यय कर सकें। अन्य प्रकार की सम्पत्ति जैसे मकान, भूमि, फर्नीचर इत्यादि तरल नहीं है। उन्हें पहले बेच कर ही हम अन्य वस्तुएं खरीद सकते हैं। तरलता के गुण के परिणामस्वरूप ही मुद्रा मूल्य का मापक और विनिमय का माध्यम मानी जाती है।

(viii) **मुद्रा का आवरण नहीं है (Money is not a veil):**—परम्परावादी अर्थशास्त्री मुद्रा को एक आवरण समझते थे। उनका मत था कि मुद्रा केवल वस्तुओं और सेवाओं के क्रय विक्रय का साधन है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा केवल आवरण नहीं है। यह तो अर्थव्यवस्था का एक सक्रिय तत्व हैं। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में वास्तविक उत्पादन की प्रक्रिया प्रारंभ करने से पूर्व ही मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। मुद्रा की मांग, पूर्ति तथा मूल्य में होने वाले परिवर्तन का विभिन्न आर्थिक क्रियाओं तथा समस्याओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसलिए मुद्रा एक आवरण मात्र नहीं है।

मुद्रा के कार्य
(Functions of Money)

आधुनिक युग को मौद्रिक युग कहा जाता है। इस युग के विकास में मुद्रा के कार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रो. किनले (Kinely) ने मुद्रा के कार्यों को तीन वर्गों में बांटा हैं।

(1) प्राथमिक अथवा मुख्य कार्य (Primary or Main functions)
(2) गौण अथवा सहायक कार्य (Secondary of subsidiary functions)
(3) आकस्मिक कार्य (Contingent functions)

(1) **प्राथमिक कार्य अथवा मुख्य कार्य (Primary or Main functions):**—इस वर्ग में मुद्रा के वे कार्य आते हैं जो प्रत्येक देश और काल में मुद्रा द्वारा किए जाते हैं। इनमें निम्नलिखित दो कार्य आते हैं:—

(i) **विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)**—मुद्रा का एक महत्वपूर्ण कार्य विनिमय का माध्यम है। इसका अभिप्राय यह है कि मुद्रा के रूप में एक व्यक्ति अपनी वस्तुओं को बेचता है तथा दूसरी वस्तुओं को खरीदता है। मुद्रा क्रय तथा विक्रय दोनों में ही एक मध्यस्थ का कार्य करती है।

(Medium of exchange means to act as an intermediary that can be used in exchange for goods and services in an exchange transaction.) विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा ने वस्तु विनिमय की मुख्य कठिनाई अर्थात आवश्यकतानुसार के दोहरे संयोग का अभाव (Lack of Double coincidence of wants) को समाप्त कर दिया है। मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहले भाग में वस्तुओं को बेचकर मुद्रा प्राप्त की जाती है दूसरे भाग में इस मुद्रा की सहायता से अन्य वस्तुओं को खरीदा जाता है।

इसके फलस्वरूप विनिमय का कार्य सरल और सुगम हो गया है तथा समय और परिश्रम की बहुत अधिक बचत हुई है। मुद्रा के इस कार्य ने सौदों का समय और स्थान के आधार पर बंटवारा कर दिया है क्योंकि आज किसी वस्तु के विक्रेता को एक निश्चित समय और स्थान पर ही अपनी वस्तु बेचकर तुरन्त ही उसी मूल्य की दूसरी वस्तु खरीदने की आवश्यकता

नहीं है। अब वह मुद्रा के रूप में अपनी वस्तु बेच सकता है तथा उस मुद्रा के द्वारा अन्य कोई भी वस्तु किसी भी समय तथा किसी भी स्थान पर खरीद सकता है इसके फलस्वरूप उचित निर्णय ले सकता है।

वस्तु विनिमय की स्थिति में मनुष्य को अपनी आवश्यकता की वस्तु प्राप्त करने के लिए विनिमय की एक लम्बी श्रंखला में से गुजरना पड़ता है। इसके फलस्वरूप समय और शक्ति का बहुत अपव्यय होता है। परन्तु विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का प्रयोग किए जाने के फलस्वरूप लोगों को अपनी आवश्यकता की वस्तु प्राप्त करने के लिए विनिमय की लम्बी श्रंखला में से गुजरने की आवश्यकता नहीं रही। इसके फलस्वरूप समय और शक्ति की बहुत बचत हुई है।

मुद्रा के विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करने का अभिप्राय यह है कि इसे लोग सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं। इसलिए मुद्रा के द्वारा वे अपनी इच्छा की विभिन्न वस्तुएं खरीद सकते हैं अर्थात् बहुपक्षीय व्यापार (Multilateral trade) कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा लोगों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है तथा बाजार का विस्तार तथा प्रतियोगिता बढ़ाकर बाजार संयंत्र को निपुण बनाती है।

(ii) मूल्य का मापदण्ड (Measure of Value):—मुद्रा का दूसरा कार्य वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य के रूप में मूल्य की मापना है मुद्रा लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में मूल्य का मापदण्ड करती है। लेखे की इकाई से अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु तथा सेवा का मूल्य मुद्रा के रूप में मापा जाता है। (unit of account means that the value of each goods or services is measured in the monetary Unit.)

वस्तु विनिमय की मुख्य कठिनाई मूल्य मापने का अभाव था मुद्रा के द्वारा इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु और सेवा की कीमत मुद्रा के रूप में व्यक्त की जा सकती है, जब हम यह कहते हैं कि एक किलो चीनी की कीमत 8 रुपये है तो यह चीनी का मुद्रा में व्यक्त किया गया मूल्य है। क्राउथर के अनुसार, ''यह लेखे की ईकाई का कार्य करती है, यह मूल्य के मापदण्ड अथवा प्रमाणिक मापक जिससे अन्य सभी वस्तुओं की तुलना की जा सकती है, का कार्य करती है।''

(It serves as a unit of account. It acts as a gardstick of standard measure of value to which all otherthings can be compared - Crowther)

मुद्रा के द्वारा सभी वस्तुओं के मूल्य को मापा जा सकता है तथा व्यक्त किया जा सकता है।

मुद्रा के ईकाई के रूप में कार्य करने के फलस्वरूप कीमतों की संख्या जिनका अनुपात वस्तु विनिमय प्रणाली में $n(n-1)$ सूत्र की सहायता द्वारा लगाया जाता था वह अब (n - 1) सूत्र की सहायता से लगाया जाने लगा।

प्रत्येक वस्तु का मूल्य आंकने के पश्चात मुद्रा विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच ऐसा अनुपात निर्धारित करती है जिसके आधार पर वस्तुओं तथा सेवाओं में परस्पर विनिमय सम्भव होता है। इसके फलस्वरूप हिसाब-किताब (Accounting) रखना सरल हो जाता है। आय तथा व्यय की विभिन्न मदें, परिसम्पत्तियां (Assets) दायित्व (Liabilities) आदि को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। मुद्रा के इस कार्य के फलस्वरूप व्यापारिक फर्में अपनी लागतों, आय, लाभ, हानि का अनुमान लगा सकती है। देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की गणना की जा सकती है तथा योजनाओं का निर्माण किया जा सकता है। मुद्रा के सामान्य मूल्य मापक कार्य के फलस्वरूप समाज में आर्थिक सूचनाएं प्रसारित करना सम्भव हो गया है। कीमत संयत्र (Price Mechnism) की सहायता से, उपभोक्ता अपनी मांग तथा उत्पादक पूर्ति का निर्धारण कर सकते हैं। योजनाओं के निर्माण में छाया कीमतों (Shadow Price) की धारणा भी मुद्रा के इसी कार्य पर आधारित है।

2. गौण अथवा सहायक कार्य

(Secondary or Subsidiary Functions):—

इस वर्ग में हम उन कार्यों को सम्मिलित करते हैं जो प्राथमिक कार्यों के सहायक हैं। जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था विकसित होती है इन कार्यों का महत्व बढ़ता है। इनमें निम्नलिखित तीन कार्य शामिल किए जाते हैं :—

(i) स्थगित भुगतानों का मान (Standard of Deferred Payments):—जिन लेन-देनों का भुगतान तत्काल न करके भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता है उन्हें स्थगित भुगतान कहा जाता है। ऋणों के भुगतान को भी स्थगित भुगतान कहते हैं। मुद्रा के फलस्वरूप स्थगित भुगतानों अथवा उधार लेन-देन की क्रिया सरल बन गई है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में किसी न किसी प्रकार के ऋण के लेन-देन की आवश्यकता रहती है। जब हम किसी व्यक्ति से कर्ज लेते हैं तो हमें उसकी मूलधन तथा ब्याज दोनों देने पड़ते हैं। ऋण तथा ब्याज का वस्तुओं के रूप में लेन-देन करना एक कठिन कार्य है। मान लीजिए आपने किसी व्यक्ति से गेहूँ के रूप में ऋण लिया है। जब आप ऋण वापिस करेंगे

तो उसी क्वालिटी का गेहूँ देना सम्भव नहीं होगा। अतः हमें एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता है जिसके द्वारा ऋण की लेन-देन तथा ब्याज का निर्धारण सरलता तथा सुविधा से किया जा सके। यह कार्य मुद्रा के द्वारा अधिक सरलता से किया जा सकता है। मुद्रा को स्थगित भुगतानों का मान इसलिए माना गया है क्योंकि (i) अन्य किसी वस्तु की तुलना में इसका मूल्य स्थिर रहता है, (ii) इसमें सामान्य स्वीक ति का गुण पाया जाता है, (iii) अन्य वस्तुओं की तुलना में यह अधिक टिकाऊ (Durable) है। मुद्रा के इस कार्य के फलस्वरूप ही व्यापार का इतना अधिक विकास सम्भव हो सका है। मुद्रा के फलस्वरूप उत्पादकों, उपभोक्ताओं तथा सरकार द्वारा ऋण लेना सरल हो गया है। शेयरों, ऋण पत्रों तथा प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सकता है। स्थगित भुगतानों के मान के रूप में कार्य करके मुद्रा पूंजी निर्माण में सहायक होती है। मुद्रा के इस कार्य के फलस्वरूप ही मुद्रा बाजार (Money Market) तथा पूंजी बाजार (Capital Market) का विकास संभव हो सका है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि स्थगित भुगतानों के मान के रूप में मुद्रा में कुछ दोष भी पाए जाते हैं मुद्रा का मूल्य कम होने पर जब कीमतें बढ़ जाती हैं तो ऋणदाताओं (Creditors) को हानि होती है और ऋणियों को लाभ होता है। इसके विपरित कीमतों के गिर जाने से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है तो इसके फलस्वरूप ऋणदाताओं को लाभ होता है तथा ऋणियों को हानि उठानी पड़ती है।

(ii) **मूल्य का संचय (Store of Value):**—मुद्रा मूल्य के संचय के रूप में भी कार्य करती है। मुद्रा का मूल्य संचय से अभिप्राय यह है कि मुद्रा को वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए खर्च करने का तुरन्त कोई विचार नहीं है। (As a store of value, money is held without plans for imminent exchange for a good or services.) प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग भविष्य के लिए बचाता है। इसे ही मूल्य का संचय कहा जाता है। वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत मूल्य का संचय करना संभव नहीं था क्योंकि वस्तुएं नाश्वान होती हैं। वस्तुओं को भुगतान के रूप में सभी व्यक्ति स्वीकार नहीं करते। परन्तु मुद्रा के रूप में मूल्य का संचय करना संभव होता है क्योंकि (1) मुद्रा को सब लोग स्वीकार कर लेते हैं। (2) मुद्रा के मूल्य में अधिक कमी या व द्धि नहीं होती है। (3) मुद्रा का संग्रह सरलता से किया जा सकता है। (4) मुद्रा के रूप में बचत करने में बहुत कम स्थान की आवश्यकता होती है मुद्रा के रूप में की गई बचतें वस्तुओं के रूप में की गई बचतों की तुलना में अधिक सुरक्षित हैं। न्यूलन (Newlyn) ने मुद्रा के इस कार्य को मुद्रा का परिसम्पत्ति कार्य (Assets Function of Money) कहा है। न्यूलन के अनुसार मुद्रा के अतिरिक्त मूल्य का संचय किसी भी मूल्यवान परिसम्पत्ति जैसे, बाण्डॅस, प्रतिज्ञा-पत्र, शेयर, भूमि, मकान आदि के रूप में किया जा सकता है। इनके रूप में मूल्य का संचय करने से ब्याज, लगान, लाभ आदि के रूप में आय की भी प्राप्ति होती है। परन्तु कुछ हानियां भी होती हैं जैसे—(1) इनके संचय पर लागत अधिक खर्च करनी पड़ती है। (2) मुद्रा के रूप में इनके मूल्य में गिरावट हो सकती है। (3) इनमें तरलता की कमी पाई जाती है। इन्हें मुद्रा के रूप में बदलने के लिए हानि भी उठानी पड़ सकती है। इसलिए मूल्य का संचय करने के लिए मुद्रा ही अधिक उपयुक्त है। लार्ड केन्ज (Keynes) ने मुद्रा के इस कार्य को बहुत अधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार लोग कई कारणों से अपनी सम्पत्ति को मुद्रा के रूप में संचय करना चाहते हैं।

(iii) **मूल्य का हस्तांतरण (Transfer of Value):**—मुद्रा के कारण मूल्य का हस्तांतरण सुविधाजनक बन गया है। आज के इस युग में लोगों की आवश्यकताएं बढ़ गई हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूर-दूर से वस्तुएं खरीदी जाती हैं। मुद्रा में तरलता तथा सामान्य स्वीक ति का गुण होने के कारण इसका एक स्थान से दूसरे स्थान पर हस्तांतरण सम्भव है। इसके अतिरिक्त मुद्रा के रूप में कोई भी व्यक्ति एक स्थान पर अपनी सम्पत्ति बेचकर दूसरे स्थान पर खरीद सकता है। इसके परिणामस्वरूप पूंजी की गतिशीलता में सहायता मिलती है। मुद्रा के इस कार्य के फलस्वरूप ही लोग अपने अतिरिक्त धन को अन्य व्यक्तियों को उधार देकर ब्याज के रूप में आय प्राप्त कर सकते हैं तथा जो लोग धन को उधार लेते हैं। वे इसका प्रयोग अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने तथा उत्पादक कार्य के लिए कर सकते हैं।

3. आकस्मिक कार्य
(Contiongent Functions)

प्रो. किनले द्वारा दिए गए मुद्रा के कार्यों में से आकस्मिक कार्य वे हैं जो किसी देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ बढ़ते जाते हैं। यह कार्य निम्नलिखित हैं:—

6. **साख का आधार (Basis of Credit):**—मुद्रा के प्रचलन से पूर्व साख का निर्माण सम्भव नहीं था। आज लगभग सभी देशों में चैक, ड्राफ्ट, विनिमय पत्र इत्यादि साख पत्रों का प्रयोग किया जाता है। इन साख पत्रों का आधार मुद्रा ही है। लोग अपनी आय में से कुछ राशि अर्थात मुद्रा बैंकों में जमा करवाते हैं। इस जमा को ही वे चैकों द्वारा मुद्रा के रूप में निकलवा सकते हैं। इस जमा राशि के आधार पर ही बैंक साख का निर्माण करते हैं।

7. **अधिकतम सन्तुष्टि (Maximum Satisfaction):**—मुद्रा के रूप में धन व्यय करके उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि तथा उत्पादकता अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकता है। एक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं के उपभोग से अधिकतम सन्तुष्टि तभी प्राप्त कर सकता है। जब इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। मुद्रा के माध्यम द्वारा एक उपभोक्ता किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) को बराबर करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। सभी वस्तुओं की कीमतें मुद्रा के रूप में व्यक्त की जाती है। एक उपभोक्ता मुद्रा के रूप में अपनी निश्चित आय विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय कर सकता है कि उनसे मिलनेवाली सीमान्त उपयोगिता तथा उनकी कीमत का अनुपात बराबर हो जाए। इस प्रकार मुद्रा के उपयोग के फलस्वरूप वह अधिकमत सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है।

एक उत्पादक भी मुद्रा के द्वारा उत्पादन के विभिन्न साधनों का इस अनुपात में प्रयोग करता है कि सभी साधनों में प्राप्त होने वाली सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) बराबर हो जाए। इस प्रकार उत्पादन करने से उसे अधिकतम लाभ (Maximum Profit) प्राप्त होंगे। अन्य शब्दों में एक उत्पादक, उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकता तथा उनकी कीमतों के अनुपात को बराबर करके अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में मुद्रा महत्वपूर्ण कार्य करती है। क्योंकि साधनों की सीमान्त उत्पादकता को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है।

8. **राष्ट्रीय आय का वितरण (Distribution of National Income):**—वस्तु विनिमय में उत्पादन के विभिन्न साधनों के बीच राष्ट्रीय आय का का माप व वितरण करना कठिन था। मुद्रा के प्रचलन के पश्चात राष्ट्रीय आय का वितरण बड़ा सरल हो गया है। अब प्रत्येक साधन को उसके द्वारा किए गए कार्य का उचित भाग मुद्रा के रूप में मिल जाता है। किनले के अनुसार, ''मुद्रा या उसके समान वस्तु के अभाव में, विशिष्टतम श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु का विभिन्न उत्पादकों में वितरण असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक को उत्पादन में अपनी सहायता के बदले उन वस्तुओं के रूप में ही अपना भाग लेना पड़ेगा जिन्हें उत्पादन करने में उन्होंने मदद की थी।'' (Without money or its equivalent the appropriate distribution of the product among the various producers would be impossible in a state of highly specialised labour, for otherwise each would have got in kind his proportion of everything which he helped to produce : Kinley)

मुद्रा के मूल्य का मापक होने के कारण ही राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना सम्भव हो सका है। राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाये बिना उसका वितरण नहीं किया जा सकता। मुद्रा द्वारा लगान, मजदूरी, लाभ तथा ब्याज के रूप में राष्ट्रीय आय का वितरण किया जाता है।

9. **निर्णय का वाहक (Bearer of Option):**—प्रो. गाहम ने मुद्रा के इस कार्य को विशेष महत्व दिया है। इस कार्य से अभिप्राय यह है कि मुद्रा के रूप में धन का संचय करके हम परिस्थितियों के अनुसार वस्तुओं को खरीदने के सम्बन्ध में अपने निर्णय में परिवर्तन कर सकते हैं। मान लीजिए आपने एक रंगीन टी. वी. खरीदने के लिए मुद्रा का संचय किया है। परन्तु आप को अपने भाई की बीमारी के लिए धन की आवश्यकता है तो आप रंगीन टी. वी. के स्थान पर बीमारी की मुद्रा के रूप में संचय किया गया धन खर्च कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा का प्रयोग आप किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर सकते हैं। मुद्रा आपके निर्णय का वाहक है।

10. **शोधन क्षमता की गारन्टी (Gurarantee of Solvency):**—आर. पी. केन्ट के अनुसार किसी व्यक्ति या संस्था के पास मुद्रा उसकी शोधन क्षमता की गारन्टी है। आधुनिक युग में मुद्रा के इस कार्य का बहुत अधिक महत्व है। जब कोई व्यक्ति या फर्म मुद्रा के रूप में अपने दायित्वों (Liabilities) का भुगतान नहीं कर पाती तो उसे दिवालियाघोषित कर दिया जाता है, यद्यपि यह सम्भव है कि फर्म की परिसम्पत्ति (Assets) उसके दायित्वों से अधिक हो इसलिए अपनी शोधन क्षमता बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति फर्म, बैंक या बीमा कम्पनी को मुद्रा के रूप में कुछ न कुछ धन अवश्य जमा रखना पड़ता है। इस प्रकार उसकी शोधनक्षमता सुरक्षित रहता है।

(ii) **पूंजी की तरलता में व द्धि (Increase in the liquidity of Capital):**—केन्ज का विचार है कि मुद्रा में सामान्य स्वीक ति का गुण होने के कारण यह पूंजी को तरल बनाए रखने का कार्य करती है। हम मकान, दुकान या भूमि इत्यादि के रूप में पूंजी को लेने से मना कर सकते हैं। मुद्रा के रूप में पूंजी लेने से कोई मना नहीं करता। केन्ज के अनुसार तीन उद्देश्यों के लिए पूंजी की तरलता या मुद्रा के रूप में मांग रहती है। (i) सौदा उद्देश्य (Transaction Motive) अर्थात दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए (2) सुरक्षा उद्देश्य (Precautionary Motive) अर्थात आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा (3) सट्टा उद्देश्य (Speculative Motive) अर्थात ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तन के कारण लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से मुद्रा पूंजी को तरलतम रूप प्रदान करती है।

अगत्यात्मक तथा गत्यात्मक कार्य

(Static and Dynamic Functions)

प्रो. डब्लयु. आर. एल. कोलबोर्न (W.R.L. Coulborn) तथा पालइन्जिग (Paul Einzing) ने मुद्रा के सभी कार्यों को केवल दो वर्गों में बांटा है : —(i) अगत्यात्मक कार्य (ii) गत्यात्मक कार्य

(i) **अगत्यात्मक कार्य (Static Function) :**—मुद्रा के अगत्यात्मक कार्यों की परम्परागत स्थिर, तकनीकी तथा निष्क्रिय कार्य भी कहते हैं इन कार्यों से अभिप्राय ऐसे कार्यों से हैं जो अर्थव्यवस्था का केवल संचालन करते हैं और उसमें गति अथवा वेग उत्पन्न करने में कोई सहायता नहीं करते। इन कार्यों में मुख्यतः मुद्रा के प्राथमिक और गौण कार्य अर्थात विनिमय के माध्यम, मूल्य मापक, मूल्य के संचय, मूल्य के हस्तांतरण एवं स्थगित भुगतानों का मान इत्यादि कार्य आते हैं।

(ii) **गत्यात्मक कार्य (Dynamic Function)**—गत्यात्मक कार्यों से अभिप्राय ऐसे कार्यों से हैं जो अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करते हैं। अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करने से अभिप्राय यह है कि अर्थव्यवस्था में मूल्य स्तर में स्थायित्व लाना, रोजगार, आय, उत्पादन एवं व्यापार व द्धि करना आदि इस के साथ-साथ पूंजी को तरलता प्रदान करना तथा साख के आधार का कार्य करना भी गत्यात्मक कार्यों में आते हैं। इन सभी कार्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुद्रा एक गत्यात्मक शक्ति (Dynamic Force) है। विस्फीति (Deflation) तथा मुद्रा स्फीति (Inflation) जैसी बुराइयों को दूर करने के लिए सरकार या केन्द्रीय बैंक नीति निर्धारित करते समय गत्यात्मक कार्यों को ध्यान में रखते हैं। मुद्रा के मुख्य गत्यात्मक कार्य इस प्रकार हैं—(a) मुद्रा कीमतों के माध्यम से स्फीति (Inflation) तथा विस्फिति (Deflation) की स्थिति उत्पन्न कर देती है। (b) मुद्रा के माध्यम द्वारा प्राक तिक तथा मानवीय साधनों का पूर्ण उपयोग सम्भव होता है। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में व द्धि होती है। (c) मौद्रिक अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप ही सरकारें अपनी आय से अधिक व्यय कर सकी हैं अर्थात घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) सम्भव हो सकी है। (d) मुद्रा के माध्यम से ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत अधिक विस्तार हो सका है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) द्वारा जारी किया गया विशेष प्राप्ति अधिकार (SDR) मुद्रा के माध्यम पर ही आधारित है। (e) मौद्रिक नीति का प्रयोग करके सरकार आर्थिक विकास, कीमत स्थिरता आदि उद्देश्यों की प्राप्ति करती हैं।

अध्याय 7

मुद्रा का महत्व

(Importance of Money)

आधुनिक युग मौद्रिक युग है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में मुद्रा इतने अधिक कार्य करने लगी है कि कोई भी आर्थिक व्यवहार मुद्रा के बिना नहीं हो सकता। आधुनिक युग में मुद्रा का अत्यन्त महत्व है। प्रो. क्राउथर के अनुसार, ''ज्ञान की प्रत्येक शाखा में एक ना एक आधारभूत आविष्कार है, जैसे यन्त्रकला में चक्र, विज्ञान में अग्नि, राजनीतिशास्त्र में वोट, इसी प्रकार अर्थशास्त्र में मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व के सम्पूर्ण व्यापारिक पक्ष में, मुद्रा एक आवश्यक आविष्कार है जिस पर बाकी सब कुछ आधारित है।''

मुद्रा तथा आर्थिक क्रियाएं

आर्थिक क्रियाओं में मुद्रा के योगदान तथा महत्व के सम्बन्ध में तीन विचारधाराएं हैं :—(1) परम्परावादी विचारधारा (2) केन्जीयन विचारधारा (3) मौद्रिक अर्थशास्त्रियों की विचारधारा।

(1) **परम्परावादी विचारधारा :**—परम्परावादी अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को विशेष महत्व नहीं दिया। वे मुद्रा को एक महत्वहीन वस्तु समझते थे। अर्थशास्त्र के पिता एडम स्मिथ के अनुसार, 'मुद्रा एक ऐसी सड़क है जिस पर से जिले पर की उत्पत्ति बाजार में पहुँचाई जाती है। किन्तु जो स्वयं किसी वस्तु का अंश मात्र भी उपलब्ध नहीं करती है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम है। मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में समय तथा श्रम की बचत तो अवश्य करती है परन्तु इसके अतिरिक्त उसका कोई और महत्व नहीं है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जान स्टुअर्ट के अनुसार, ''समाज में मुद्रा एक महत्वहीन तत्व है जो श्रम तथा समय की बचत करती है। वैसे मुद्रा के बिना भी विनिमय का काम हो सकता है परन्तु मुद्रा इस काम को शीघ्र तथा आसानी से करने में सहायता करती है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा का केवल यही कार्य है कि मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का सामान्य कीमत स्तर पर प्रभाव पड़ता है। इसी के आधार पर नव परम्परावादी अर्थशास्त्रियों जैसे—फिशर, मार्शल, रार्बटसन आदि ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(2) **केन्जीयन विचारधारा:**—लार्ड केन्ज के अनुसार मुद्रा तटस्थ नहीं है। मुद्रा विनिमय के माध्यम के अतिरिक्त मुद्रा के संचय का कार्य भी करती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा की मांग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने से ब्याज की दर में परिवर्तन होता है। अन्य बातें समान रहने पर ब्याज की दर में कमी होने से निवेश में व द्धि होती है। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में व द्धि होती है। रोजगार, आय तथा उत्पादन बढ़ाने में मुद्रा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। परन्तु केन्ज ने आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए मौद्रिक नीति को विशेष महत्व नहीं दिया था।

(3) **मौद्रिक अर्थशास्त्रियों की विचारधारा:**—मौद्रिक अर्थशास्त्रियों जैसे फ्रीडमेन आदि के अनुसार केवल राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में ही मुद्रा का महत्वपूर्ण योगदान नहीं है बल्कि देश की विभिन्न आर्थिक समस्याओं के समाधान में मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। फ्रीडमेन के अनुसार मुद्रा का आर्थिक नीतियों के महत्व निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है। (1) राष्ट्र आय का सबसे महत्वपूर्ण निर्धारक मुद्रा की पूर्ति है। (2) मुद्रा की मांग का फलन स्थिर है। (3) व्यापार चक्रों की स्थिरता के लिए मुद्रा की पूर्ति में नियन्त्रण करना चाहिए। (4) मौद्रिक नीति का आधार व्यापार की दर न होकर मुद्रा की पूर्ति होना चाहिए। संक्षेप में आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा को एक क्रियाशील गत्यात्मक शक्ति मानते हैं। आधुनिक युग में यह निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि मुद्रा प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था के संचालन तथा प्रगति के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा महत्वपूर्ण है। आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए मौद्रिक नीति को काफी महत्व दिया जाता है।

मुद्रा के लाभ या महत्व :–

प्रो. डे के अनुसार, ''मुद्रा इतनी महत्वपूर्ण व सार्थक हो गई है कि मुद्रा के कार्यों और दुष्कार्यों का अध्ययन ही अर्थशास्त्र का प्रमुख अंश बन गया है।'' मुद्रा के महत्व की व्याख्या तीन भागों में की जा सकती है।

(i) आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का प्रत्यक्ष महत्व
(ii) आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का अप्रत्यक्ष महत्व
(iii) अनार्थिक क्षेत्र में मुद्रा का महत्व

आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का प्रत्यक्ष महत्व :–

अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र के लिए मुद्रा का बहुत अधिक उपयोग है। डा. मार्शल ने ठीक ही कहा है कि ''मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण आर्थिक विज्ञान चक्कर लगाता है। मुद्रा का विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में निम्नलिखित महत्व है।

(i) **उपभोग क्षेत्र में महत्व :**–एक उपभोक्ता को आय मुद्रा के रूप में प्राप्त होती है। वह मुद्रा के द्वारा अपनी इच्छानुसार वस्तुएं सरलता से खरीद सकता है। मुद्रा की सहायता से उपभोक्ता अपनी आय को सम-सीमान्त उपयोगिता नियम या कल्याण प्राप्त कर सकता हैं। एक उपभोक्ता को अपनी आय इस प्रकार व्यय करनी चाहिए कि उनसे मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता तथा उनकी कीमतों का अनुपात बराबर हो जाये अर्थात

$$\frac{MU_1}{P_1} = \frac{MU_2}{P_2} = \frac{MU_3}{P_3} = \ldots \frac{MU_n}{P_n}$$

मुद्रा के कारण उपभोक्ता को वस्तुओं के चुनाव की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। प्रो. राबर्टसन के अनुसार, ''मुद्रा प्रत्येक व्यक्ति को यह अवसर प्रदान करती है कि मनोरंजन के जिन साधनों तक उसकी पहुंच है उनसे वह अधिकमत सन्तुष्टि प्राप्त करे। एक उपभोक्ता के लिए मुद्रा के रूप में बचत करना अधिक लाभदायक होता है। फ्रीडमेन के अनुसार, मुद्रा के रूप में बचत करने से उपभोक्ता में सुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। डॉन पैटिन्कन मुद्रा को उपभोक्ता वस्तु मानते हैं जो उसके उपयोगिता फलन में शामिल होती है।

2. **उत्पादन के क्षेत्र में महत्व :**–मुद्रा का उत्पादन के क्षेत्र में बहुत अधिक महत्व है। प्रत्येक उत्पादक उसी वस्तु का उत्पादन करना चाहेगा जिससे अधिकतम लाभ प्राप्त हो, परन्तु लाभ का निर्णय तब तक नहीं लिया जा सकता जब तक कि विभिन्न वस्तुओं के मूल्य, उनकी वर्तमान पूर्ति तथा उनका लागत व्यय न मालूम हो।

मुद्रा के कारण बड़े पैमाने का उत्पादन सम्भव हो सका है। अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए साधनों की सीमान्त उत्पादकता एवं उनको मुद्रा में दी जाने वाली साधन कीमत के अनुपात को बराबर किया जाता है। अर्थात्

$$\frac{MU_1}{P_1} = \frac{MU_2}{P_2} = \frac{MU_3}{P_3} = \ldots \frac{MU_n}{P_n}$$

एच. जी. मोल्टन के शब्दों में, ''उत्पादन के विभिन्न साधनों को एकत्रित करने के लिए मुद्रा निश्चित रूप से आवश्यक है। मुद्रा से ही मनुष्य आवश्यक सामग्री खरीदता है। मुद्रा की सहायता से ही वह आवश्यक श्रमिकों, प्रबन्धकों की सेवाएं प्राप्त करता है। रोबर्टसन के अनुसार, ''मौद्रिक अर्थव्यवस्था का अस्तित्व समाज को यह पता लगाने में सहायक हुआ है कि लोग क्या और कितनी मात्रा में चाहते हैं इसलिए यह निर्णय करना सम्भव हो सका है कि किन वस्तुओं का तथा कितनी मात्रा में उत्पादन करना चाहिए जिससे समाज की सीमित उत्पादन शक्ति का उपयोग हो सके।'' यदि उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए अधिक मुद्रा देने को तैयार होते हैं तो उसका उत्पादन अधिक होता है। इसके विपरीत उपभोक्ता जिन वस्तुओं के लिए कम मुद्रा देना चाहते हैं उनका उत्पादन कम किया जाता है।

3. **विनिमय के क्षेत्र में महत्वः**–मुद्रा ने वस्तु विनिमय के दोषों को दूर करके विनिमय की प्रक्रिया को सरल कर दिया है। मुद्रा के रूप में लागत तथा आय का अनुमान लगाया जाता है। मुद्रा की सहायता से भावी सौदे सम्भव हो सके हैं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक व द्वि हुई है। मुद्रा के फलस्वरूप ही व्यापार का इतना अधिक विस्तार सम्भव हो सका है। मुद्रा आधुनिक बाजार व्यवस्था का आधार है।

4. **व्यापार के क्षेत्र में महत्वः**—मुद्रा के कारण आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों में ही बहुत अधिक व द्धि हुई है। वस्तु विनिमय की कठिनाइयों के कारण व्यापार का क्षेत्र बहुत सीमित था। परन्तु मुद्रा के अविष्कार के फलस्वरूप ऊँचे पैमाने पर उत्पादन किया जाने लगा है। उत्पादन की अधिक मात्रा को बेचने के लिए बाजार का विस्तार भी आवश्यक हो जाता है। व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए मुद्रा बाजार की स्थापना मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सकी है।
5. **वितरण के क्षेत्र में महत्वः**—मुद्रा के कारण राष्ट्रीय आय में से उत्पादन के साधनों को उनका भाग आसानी से दिया जा सकता है। भूमि को लगान, पूंजी को ब्याज, श्रम को मजदूरी तथा उद्यमी को लाभ मुद्रा के रूप में देना सरल होता है। वस्तु विनिमय में उत्पादन के साधनों का पुरस्कार निर्धारित करना कठिन था। मुद्रा के प्रचलन के पश्चात उत्पादन के प्रत्येक साधन के उत्पादन में उसके द्वारा दिए सहयोग के अनुसार पुरस्कार दिया जा सकता है।
6 **राजस्व के क्षेत्र में महत्वः**—आधुनिक युग में कल्याणकारी राज्य के लिए राजस्व का अत्याधिक महत्व है। सार्वजनिक आय के प्रमुख साधन कर, सार्वजनिक ऋण घाटे का बजट है, जो मुद्रा के रूप में ही प्राप्त किए जा सकते हैं। आधुनिक सरकारें अपनी आय तथा व्यय का अग्रिम बजट बनाती है। सरकार अपनी आय तथा व्यय का अनुमान मुद्रा के रूप में ही लगा सकती है। अतएव बजट निर्माण में मुद्रा का बहुत अधिक महत्व है।
7. **पूंजी निर्माणः**—वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं के रूप में बचत तथा निवेश करना सम्भव नहीं था। मुद्रा के कारण बचत तथा निवेश करना सरल तथा सम्भव हो गया है। व्यक्ति की आय का वह भाग जो व्यय नहीं होता, बचत कहलाता है। बचत को निवेश करके पूंजी निर्माण किया जाता है। पूंजी निर्माण के फलस्वरूप देश की उत्पादन क्षमता बढ़ती है, उत्पादन अधिक होता है, तथा आर्थिक विकास की सम्भावना बढ़ जाती है।

आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का अप्रत्यक्ष महत्वः—

परोक्ष रूप में मुद्रा ने व्यक्ति के जीवन को प्रभावित किया है। ट्रैसकाट के अनुसार, यदि मुद्रा हमारी आर्थिक प्रणाली का हृदय नहीं तो यह निश्चित रूप से रक्त स्रोत तो माना जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का परोक्ष महत्व निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध हो सकता है।

(1) **वस्तु विनिमय की असुविधाओं से छुटकाराः**—मुद्रा के प्रचलन से हमें वस्तु विनिमय की असुविधाओं जैसे आवश्यकताओं के दोहरे संयोग, मूल्य मापक तथा संचय का अभाव इत्यादि से छुटकारा मिल गया है। वस्तु विनिमय के कारण जो समय तथा धन नष्ट होता था वह मुद्रा के कारण बचने लगा है। मुद्रा के कारण ही बाज़ार का विस्तार हो सका परस्पर निर्भरता बढ़ गई तथा आर्थिक कुशलता में व द्धि हुई है।

(2) **केन्द्रीय आर्थिक समस्याओं का समाधान :**—मुद्रा के कारण केन्द्रीय आर्थिक समस्याओं जैसे क्या पैदा करना है। कैसे पैदा करना है? कहां पैदा करना है? का उचित समाधान सम्भव हो गया है। मुद्रा के कारण देश में वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रवाह निरन्तर चलता रहा है। राबर्टसन के अनुसार, ''मौद्रिक अर्थव्यवस्था के अस्तित्व से समाज को यह ज्ञात करने में सहायता मिलती है कि लोग क्या चाहते हैं, तथा कितनी मात्रा में चाहते हैं। इसलिये यह निर्णय लिया जा सकता है कि कौन-सी वस्तुओं का उत्पादन किया जाए तथा कितनी मात्रा में किया जाए।

(3) **साख का आधार :**—आधुनिक युग में अधिकतर व्यापार साख पर निर्भर करता है। मुद्रा के अभाव में साख व्यापार असम्भव था। मुद्रा में स्थायित्व का गुण होने के कारण तथा मुद्रा के रूप में बैंक जमा के कारण साख का निर्माण हो सका। प्रो. हाम के अनुसार, ''ऋण का श्रेष्ठतम माध्यम मुद्रा है क्योंकि इसके मूल्यों में अन्य वस्तुओं से कम उतार चढ़ाव होते हैं। मुद्रा के बिना साख व्यवस्था का अन्त हो जायेगा।

4. **आर्थिक विकास का सूचकांकः**—आर्थिक विकास के कुछ मूलभत तत्व हैं। जैसे राष्ट्रीय आय, प्रतिव्यक्ति आय का वितरण इत्यादि। इन सब तत्वों की जानकारी मुद्रा की सहातया से ही सम्भव है। यदि देश में राष्ट्रीय आय, प्रतिव्यक्ति आय बढ़ रही है और आय के वितरण में समानता है तो हम सब कह सकते हैं कि आर्थिक विकास हो रहा है। इसलिए कहा जाता है कि मुद्रा विकास का सूचकांक है।

5. **पूंजी की गतिशीलता में व द्धिः**—मुद्रा के अभाव में पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक उद्योग से दूसरे उद्योग में ले जाना कठिन था। मुद्रा ने पूंजी को गतिशीलता दी। मुद्रा की सहायता से पूंजी को कम आवश्यक उद्योगों और क्षेत्रों से निकाल कर अधिक आवश्यक क्षेत्रों में ले जाया जा सकता है इसके फलस्वरूप पूंजी की उत्पादकता बढ़ती है। देश में उत्पादन अधिक होता है।

6. **भौतिक प्रगति के लिए प्रेरणा:**—मुद्रा के प्रचलन के कारण अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों जैसे—उद्योग, क षि, यातायात, व्यापार इत्यादि में निवेश की सम्भावनाएं बढ़ गई हैं। निवेश से जब मौद्रिक आय में व द्धि होती है तो प्रत्येक क्षेत्र में लोगों को अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार मुद्रा भौतिक विकास में सहायक सिद्ध होती हैं तथा लोगों का जीवन स्तर ऊंचा उठता है।

7. **सामाजिक कल्याण का मापक:**—आधुनिक युग में प्रत्येक देश की सरकार का लक्ष्य अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त करना है। मुद्रा की सहायता से यह मापना सरल हो गया है कि किसी देश की सरकार कुल राष्ट्रीय आय का कितना भाग सामाजिक कल्याण के कार्यों जैसे शिक्षा, बिजली, पानी, आवास, मनोरंजन आदि पर व्यय कर रही है।

8. **राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय एकता:**—मुद्रा के प्रचलन के परिणामस्वरूप लोगों का एक देश के विभिन्न राज्यों में व्यापार के लिए आना-जाना तथा इसी प्रकार एक देश से दूसरे देश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने से आपस में निकटता और एकता की भावना में व द्धि होती है। मुद्रा के कारण ही पूंजी का निवेश भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने लगता है। मुद्रा के प्रयोग से ही एक देश को अन्य देशों से आर्थिक सहयोग और सहायता भी प्राप्त हो जाती है।

9. **आर्थिक विकास की अवस्थाओं का आधार :**—प्रो. रोस्टोव द्वारा प्रतिपादित आधुनिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं जैसे परम्परागत समाज, उड़ान से पूर्व की अवस्था, उड़ान की अवस्था आदि का उदय मुद्रा के प्रयोग के कारण ही सम्भव हो सका है। पिछले दो सौ सालों में तीव्र गति से होने वाली तकनीकी प्रगति, औद्योगिक विशिष्टीकरण, जटिल श्रम विभाजन के आधार पर उत्पादन का संगठन, निवेश की बढ़ती हुई दर आदि का आधार मुद्रा का कुशलतम उपयोग है।

10. **श्रम विभाजन तथा बाजार का विस्तार :**—मुद्रा के कारण बाजार के आकार का विस्तार हुआ है। ऊंचे पैमाने पर उत्पादन किया जाने लगा है। ऊंचे पैमाने के उत्पादन के कारण मशीनरी का अधिक प्रयोग किया जाने लगा है। मशीनों का प्रयोग अधिक होने के कारण श्रम विभाजन की सम्भावना बढ़ गई है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन किया जाने लगा है।

अनार्थिक क्षेत्रों में मुद्रा का महत्व:—

मुद्रा का प्रभाव केवल आर्थिक मुद्रा तक ही सीमित नहीं है। मुद्रा ने सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रो. डेवनपोर्ट के अनुसार, ''लगभग सभी महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रकारण, सभी प्रचलित सामाजिक समस्याएं, तथा अन्तर्राष्ट्रीय जटिलाएं मौद्रिक मान पर निर्भर करती है।

अनार्थिक क्षेत्रों में मुद्रा का महत्व निम्न तथ्यों से सिद्ध हो जाता है।

1. **सामाजिक क्षेत्र में महत्व:**—मुद्रा के फलस्वरूप लोगों को सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। मौद्रिक अर्थव्यवस्था से पूर्व सामन्तवादी युग के लोग बड़े जमींदारों के सेवकों के रूप में कार्य करके अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। वे अपनी के इच्छानुसार अपने व्यवसाय में परिवर्तन नहीं करते थे। मुद्रा के प्रचलन के पश्चात् पूंजीवाद का उदय हुआ। इससे लोगों को अपने व्यवसाय चुनने में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और इस प्रकार लोगों को सामाजिक और आर्थिक दासता से छुटकारा मिला।

2. **राजनैतिक क्षेत्र में महत्व:**—मुद्रा के आविष्कार के पश्चात सरकार ने मुद्रा के रूप में कर एकत्रित करना प्रारम्भ किया। मुद्रा के रूप में कर देने से लोगों में राजनैतिक चेतना जाग त हुई। कर देने के परिणामस्वरूप लोग सरकार में अपने प्रतिनिधित्व की मांग करने लगे। भारत के नेताओं ने भी अंग्रेजी शासनकाल में 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' का नारा लगाया था। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा राजनैतिक स्वतन्त्रता की शक्तियों को बल प्रदान करती है तथा राजनैतिक चेतना को जन्म देती है।

3. **कला के क्षेत्र में महत्व:**—मुद्रा कला के विकास को प्रोत्साहन देती है तथा कला के मूल्यांकन के मापदण्ड का कार्य भी करती है। प्रत्येक कल्याणकारी राज्य तथा कला प्रेमी पूंजीपति मुद्रा के रूप में कलाकारों को प्रोत्साहन देते हैं तथा उन्हें अपनी कला को विकसित करने के लिए सुविधायें प्रदान करते हैं। एक कलाकार की कला का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाता है कि उसे अपनी कलाक तियों से कितनी आय होती है।

मुद्रा की हानियाँ या बुराइयाँ

बर्नाड शॉ का जहां यह विचार उचित है कि मुद्रा का अभाव सब बुराइयों की जड़ है वहाँ इसके विपरीत यह भी ठीक है कि मुद्रा की अधिकता संसार की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अस्थिरताओं और जटिलताओं के लिए काफी हद तक उत्तरदायी है। मुद्रा एक अच्छा सेवक है परन्तु बुरा स्वामी है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक मुद्रा एक नौकर की तरह नियमित रहती है वह समाज तथा व्यक्ति को महत्वपूर्ण सेवाएं प्रदान करती है। परन्तु जब मुद्रा पर उचित नियन्त्रण नहीं रहता तो यह अनेक समस्याओं का कारण बन जाती है। **प्रो. रोबर्टसन** ने ठीक ही कहा है कि मुद्रा जो मानव जाति के लिए अनेक वरदानों का स्रोत है नियन्त्रण के अभाव में संकट और भ्रम का कारण बन जाती है।

आर्थिक बुराइयाँ

मुद्रा के कारण निम्नलिखित आर्थिक बुराइयां उत्पन्न होती हैं–

(1) **मूल्य में अस्थिरता:**–मुद्रा के मूल्य में स्थिरता नहीं रहती। इसमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। पत्र मुद्रा और बैंक मुद्रा के प्रचलन के पश्चात यह अस्थिरता और भी बढ़ गई है। मुद्रा के मूल्य में अस्थिरता दो प्रकार की हो सकती है:–

(i) **मुद्रा स्फीति:**–इस स्थिति में कीमतों में बहुत अधिक व द्धि होती जाती है। इसका समाज के निर्धन तथा मध्यम वर्ग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। धनी अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होते जाते हैं। जब मुद्रा स्फीति की दर बहुत बढ़ जाती है तो लोगों का मुद्रा में ही विश्वास समाप्त हो जाता है।

(ii) **मुद्रा विस्फीति:**–इस स्थिति में कीमतें इतनी कम हो जाती हैं कि उनका उत्पादन तथा रोजगार पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके फलस्वरूप बेरोजगारी फैलती है तथा निर्धन वर्ग की कठिनाइयां और अधिक हो जाती हैं।

(2) **व्यापार चक्र:**–मुद्रा व्यापार चक्रों को जन्म देती है। व्यापारिक उतार-चढ़ाव एक मुख्य कारण मुद्रा ही है। केन्ज का यह मत है कि व्यापारिक उतार-चढ़ाव बचत और निवेश सम्बन्धी निर्णयों में असन्तुलन का परिणाम होते हैं। बचत और निवेश का सम्बन्ध मुद्रा से है। मुद्रा ही व्यापारिक उतार-चढ़ाव का कारण है इनके फलस्वरूप सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

(3) **अति पूंजीकरण:**–मुद्रा के आविष्कार के कारण साख सुविधायें उपलब्ध हुई हैं और इसके फलस्वरूप लोगों ने उद्योगों में अधिक पूंजी लगानी प्रारम्भ कर दी है। अधिक पूंजीकरण के कारण अति-उत्पादन होता है, अति उत्पादन के फलस्वरूप देश में मन्दी, बेरोजगारी तथा अनिश्चिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका उत्पादकों पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वे निवेश कम करते हैं तथा आर्थिक विकास की गति ऋणात्मक हो जाती है।

(4) **आर्थिक हानि:**–मुद्रा के कारण ऋण लेने की सुविधा बहुत अधिक बढ़ती है इसके फलस्वरूप व्यक्ति आवश्यकता न होते हुए भी ऋण लेने को लालायित रहता है। इस प्रकार मुद्रा को वह उत्पादक व्यवसाय में न लगाकर अनुत्पादक कार्यों में खर्च कर देता है और सारी आयु ऋण में दबा रहता है। भारतीय किसान के लिए अब तक यह प्रसिद्ध था कि, ''वह ऋण में जन्म लेता है, ऋण में जीवन चलाता है और ऋण में ही मर जाता है।

(5) **धन का असमान वितरण:**–मुद्रा के कारण धन का असमान वितरण होने लगा। कुछ लोगों के हाथ में धन का केन्द्रीयकरण हो जाता है तथा एकाधिकारी प्रव त्ति में व द्धि होती है। इसके फलस्वरूप आय तथा धन की असमानता में व द्धि होती है। धनी तथा प्रभावशाली व्यक्ति पूंजीवादी व्यवस्था का अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए उपयोग करते हैं। अधिकतर उद्योगों तथा व्यापार पर उनका एकाधिकार हो जाता है। मुद्रा वर्ग संघर्ष को जन्म देती है। धनी वर्ग द्वारा निर्धन वर्ग का शोषण किया जाता है।

(6) **काले धन की समस्या:**–मुद्रा के फलस्वरूप ही काले धन की समस्या उत्पन्न होती है। लोगों के लिए मुद्रा के रूप में अपनी आय में से करों की चोरी करना सरल होता है। सरकार मुद्रा के रूप में प्रगतिशील करों की दर इतनी अधिक तय कर देती है कि लोगों के लिए करों में चोरी करना एक बहुत बड़ा प्रलोभन बन जाता है। काले धन की उपस्थिति सरकार की मौद्रिक तथा राजस्व सम्बन्धी नीतियों को असफल कर देती है।

सामाजिक बुराइयां :–मुद्रा के सामाजिक दोष निम्नलिखित हैं–

(1) **भौतिकवाद को प्रोत्साहनः**—मुद्रा के कारण भौतिकवादी प्रव त्तियों को प्रोत्साहन मिला है। आज मनुष्य जीवन की सफलता और असफलता को मुद्रा के मापदण्ड से मापा जाता है। आज मुद्रा का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि अभौतिक गुणों जैसे मित्रता, अच्छाई, सदाचार, प्रेम, विश्वास इत्यादि को भी मुद्रा में ही मापा जाने लगा है। जिस व्यक्ति के पास पैसा है उससे सब मित्रता चाहते हैं और सब प्रकार के दोष ढक जाते हैं। जिस व्यक्ति के पास धन नहीं है उसके गुण भी दोषों में बदल जाते हैं।

(2) **शोषण की प्रव त्तिः**—आज प्रत्येक व्यक्ति किसी ना किसी प्रकार से उचित या अनुचित ढंग से अधिक से अधिक पैसा कमाना चाहता है। धन प्राप्ति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए वह दूसरों का शोषण करने में भी लज्जा नहीं करता। डेवनपोर्ट के अनुसार, ''इसने शक्तिशाली राष्ट्रों को इस योग्य बना दिया है कि पिछड़े समाजों को वित्तीय सहायता से अपने पक्ष में जीत कर उनका विनाश कर दें।

(3) **अनैतिक प्रव त्तियों में व द्धिः**—मुद्रा की प्राप्ति के लिए मनुष्य ने जीवन के नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे दी है। चोरबाजारी, ठग्गी, बेइमानी आदि सब बुराइयां रुपये के कारण ही पैदा होती हैं। माईसेज के अनुसार, ''मुद्रा चोरी, हत्या और धोखे का कारण मानी जाती है। यह मुद्रा का ही दोष है जबकि एक वेश्या अपना शरीर बेचती है और एक रिश्वतखोर न्यायधीश कानून के विरुद्ध चलता है। वास्तव में मुद्रा के प्रेम का दूसरा नाम लालच है और यह सब बुराइयों की जड़ है।

राजनैतिक दोषः—

राजनैतिक दोषों का मुख्य कारण मुद्रा ही है। धन के लालच में लोग अपने विचार बदल लेते हैं। इसके अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन आने के परिणामस्वरूप भी राज्यों में बड़ी भारी उथल-पुथल आ जाती है? जर्मनी में मुद्रा स्फीति के परिणामस्वरूप जर्मनी की करेन्सी मार्क पर से लोगों का विश्वास उठ गया था। वस्तुओं की कीमतों में अत्याधिक व द्धि होने के कारण लोगों के लिए जीवन की आवश्यक वस्तुओं को खरीदना भी कठिन हो गया था। इसके कारण राज्यों में राजनैतिक क्रान्ति आई और हिटलर जैसे तानाशाह का जर्मनी के राजनैतिक मंच पर उदय हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा के कारण बहुत से राजनैतिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

संक्षेप में मुद्रा एक आवश्यक बुराई है। मुद्रा का उचित उपयोग जहां आर्थिक विकास की आधारशिला है वहां इसका अनुचित प्रयोग मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मुद्रा को नियमित किया जाए। मुद्रा को नियमित करने के लिए कई उपाय काम में लाये जा सकते हैं जैसे (1) मुद्रा के केन्द्रीयकरण को रोकना। (2) मुद्रा की पूर्ति में आवश्यकता से अधिक व द्धि को रोकना। (3) घाटे की वित्त व्यवस्था का कम से कम प्रयोग करना। (4) साख व द्धि पर आवश्यक नियन्त्रण रखना। मुद्रा को नियमित करके अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

विभिन्न आर्थिक प्रणालियों में मुद्रा का महत्वः—

विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में मुख्यतः तीन प्रकार की आर्थिक प्रणालियां प्रचलित हैं। (1) पूंजीवाद (2) समाजवाद (3) मिश्रित अर्थव्यवस्था।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्वः—

पूंजीवाद से अभिप्रायः उत्पादन की उस प्रणाली से है जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी क्षेत्र का स्वामित्व होता है। लोगों की निजी सम्पत्ति रखने की स्वतन्त्रता होती है। उत्पादन लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है। आर्थिक अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याओं का समाधान कीमत संयंत्र के द्वारा किया जाता है। उत्पादकों में प्रतियोगिता होती है और वस्तुओं का उत्पादन उपभोक्ताओं की इच्छानुसार होता है। सरकार आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करती। पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं का जन्म तथा विकास मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका है। पूंजीवाद में मुद्रा का महत्व निम्न तथ्यों से पता चलता हैः—

(1) **पूंजी का संचयः**—पूंजी का अधिक मात्रा में संचय करना मुद्रा के आविष्कार के फलस्वरूप ही सम्पन्न हो सका है। मुद्रा के रूप में लोग पूंजी का संचय करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। इसका उपयोग वे उत्पादन क्षमता बढ़ाने में, व्यापार का विस्तार करने में तथा अन्य प्रकार से निवेश करके आय प्राप्त करने में करते हैं। पूंजी को अधिक मात्रा में बिना मुद्रा के संचित नहीं किया जा सकता। अतः मुद्रा प्रत्येक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है। मुद्रा के रूप में पूंजीपति पूंजी का निर्माण करते हैं तथा उत्पादन के साधनों को उत्पादन में उनका प्रतिफल जैसे मजदूरी, ब्याज, लगान आदि चुकता करते हैं।

(2) **कीमत संयंत्रः**—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मुख्यतः कीमत संयंत्र पर आधारित होती है। कीमत संयंत्र मुद्रा के माध्यम द्वारा ही कार्य करता है। इसका अभिप्राय यह है कि अर्थव्यवस्था में कीमतें बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के मांग और पूर्ति की शर्तों द्वारा निर्धारित की जाती हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में केन्द्रीय समस्याओं जैसे—क्या उत्पादन करना है, कितनी मात्रा में करती है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में केन्द्रीय समस्याओं जैसे—क्या उत्पादन करना है, कितनी मात्रा में उत्पादन करना है, कैसे उत्पादन करना है तथा उत्पादन का वितरण किन में किया जाता है आदि का समाधान कीमत संयंत्र की सहायता से ही किया जाता है। उदाहरण के लिए उन वस्तुओं का अधिक उत्पादन किया जाएगा जिनकी उपभोक्ता अधिक कीमत देने को तैयार होते हैं। इसी प्रकार यदि किसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा के रूप में पूंजी की कमी है अथवा ब्याज की दर अधिक है तो उत्पादन श्रम प्रधान तकनीकों द्वारा किया जाएगा। मुद्रा के माध्यम से ही कीमत संयंत्र द्वारा मांग और पूर्ति में संतुलन स्थापित किया जाता है। यदि असन्तुलन की स्थिति में मांग, पूर्ति से अधिक है तो कीमतें बढ़ जाएंगी। इसके फलस्वरूप पूर्ति बढ़ेगी तथा मांग कम हो जाएगी तथा सन्तुलन की स्थिति प्राप्त हो जायेगी। इसके विपरीत यदि पूर्ति, मांग से अधिक है तो कीमतें कम होगी। इसके फलस्वरूप पूर्ति कम होगी मांग में व द्धि होगी तथा सन्तुलन स्थापित किया जा सकेगा।

(3) **व्यवसाय की स्वतन्त्रताः**—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में लोगों को व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता होती है। वे अपनी इच्छानुसार कोई भी व्यवसाय आरम्भ कर सकते हैं। व्यवसाय उनकी निजी सम्पत्ति होती है। प्रत्येक व्यवसाय के लिए पूंजी तथा उत्पादन के साधनों की आवश्यकता होती है। एक उद्यमी पूंजी का संचय मुद्रा के रूप में ही करता है। प्रत्येक व्यवसाय के लिए साख की भी आवश्यकता होती है। साख संस्थाएं जैसे बैंक मुद्रा के रूप में ही साख प्रदान करते हैं अतएव पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यवसाय की स्वतन्त्रता का आधार मुद्रा का प्रचलन ही है।

(4) **उपभोक्ता की सार्वभौमिकताः**—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता को सार्वभौमिक माना जाता है। उपभोक्ता की सार्वभौमिकता का आधार भी मुद्रा ही है। वह मुद्रा देकर अपनी मनपसन्द वस्तु जब चाहे और जिससे चाहे खरीद सकता है। उपभोग के क्षेत्र में वह एक राजा के समान है, जिस उत्पादक की वस्तु को उपभोक्ता पसन्द नहीं करेगा उसे हानि उठानी पड़ेगी। मुद्रा के कारण उपभोक्ता विभिन्न प्रकार की वस्तुएं अपनी इच्छानुसार खरीद कर अपने कल्याण में व द्धि कर सकता है। परन्तु उपभोक्ता की शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि उसके पास खर्च करने के लिए कितनी मुद्रा है। अतएव मुद्रा के कारण ही उपभोक्ता की सार्वभौमिकता निर्धारित होती है।

(5) **लाभ प्राप्ति का उद्देश्यः**—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से उत्पादन किया जाता है। परन्तु लाभ अधिक तभी हो सकता है जब उत्पादन की लागत कम हो, कीमतें लागत की तुलना में अधिक हों तथा वस्तु की पूर्ति तथा मांग में सन्तुलन हो। यह लक्ष्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब वस्तुओं की लागत, कीमत, मांग तथा पूर्ति आदि को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाए। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में लाभ अधिक प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वस्तुओं का ऊंचे पैमाने पर उत्पादन किया जाए जिससे दूसरे उत्पादकों से प्रतियोगिता की जा सके। इसके लिए विशिष्टीकरण, श्रम विभाजन तथा बाजार के अधिक विस्तार की आवश्यकता है। मुद्रा के अभाव में इनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लाभ अधिक होने के कारण मुद्रा में निजी सम्पत्ति का भी अधिक संचय किया जा सकेगा।

(6) **आर्थिक प्रणाली का नियन्त्रणः**—मुद्रा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को केवल जीवन ही प्रदान नहीं करती बल्कि उसका संचालन भी करती है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सभी गतिविधियों जैसे उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण इत्यादि का संचालन मुद्रा के द्वारा ही होता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की कमियों जैसे व्यापार चक्र मंदी, बेरोजगारी, मुद्रा स्फीति, अति उत्पादन की समस्याओं का समाधान मुद्रा को नियंत्रित करके किया जा सकता है। फ्रीडमैन के अनुसार पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक प्रणालियों का बहुत महत्व है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्वः—

समाजवादी अर्थव्यवस्था से अभिप्राय उस आर्थिक प्रणाली से है जिसमें उत्पादन के साधनों पर पूर्णतः सरकार का नियन्त्रण रहता है उत्पादन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक कल्याण में व द्धि करना होता है। इसका उद्देश्य लाभ प्राप्त करना नहीं होता। इसमें केन्द्रीय समस्याओं का समाधान कीमत संयंत्र द्वारा नहीं किया जाता बल्कि केन्द्रीय नियोजन अधिकारी द्वारा किया जाता है। इसमें लोगों को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय करने तथा उपभोग करने की स्वतन्त्रता नहीं होती निजी सम्पत्ति अधिक

मात्रा में नहीं होती तथा आय के वितरण में समानता होती है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत दूसरे मत के अनुसार समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

(1) **मुद्रा अनावश्यक है :**—साम्यवादी दर्शन के जन्मदाता कार्ल मार्क्स मुद्रा को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की वस्तु मानते हैं। उनका विश्वास था कि पूंजीवाद की समाप्ति पर मुद्रा स्वयं समाप्त हो जाएगी। कार्ल मार्क्स का विश्वास था कि श्रमिकों के शोषण का मुख्य कारण मुद्रा है। समाज में वर्ग भेद, वर्ग संघर्ष तथा शोषण का मूल कारण लाभ की भावना है जिसका उदय मुद्रा के कारण होता है। मुद्रा को समाप्त ही कर देना चाहिए। इसलिए समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका मत था कि समाजवाद अर्थव्यवस्था बिना मुद्रा के चल सकती है और समाज को मुद्रा की बुराइयों से छुटकारा मिल सकता है। कार्ल मार्क्स तथा अन्य साम्यवादी विचारकों के विश्वास के आधार पर साम्यवादी रूस में सन् 1917 की क्रांति के पश्चात् वोल्शेविको ने मुद्रा के प्रयोग को समाप्त करने का निश्चय किया परन्तु वे अपने प्रयोग में सफल न हो सके। उन्हें मुद्रा का प्रचलन जारी रखना पड़ा।

(2) **मुद्रा आवश्यक है**—जब समाजवादियों को मुद्रा के उन्मूलन में असफलता प्राप्त हुई तो उन्हें यह मानना पड़ा कि एक समाजवादी अर्थव्यवस्था के संचालन में भी मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है अक्टूबर 1921 में रूस के समाजवादी शासक लेनिन ने अपनी नई आर्थिक नीति में स्वीकार किया कि, ''वोल्शेवकों का यह विश्वास करना उनके जीवन की सबसे बड़ी भूल थी कि समाजवादी गणना और नियन्त्रण की प्रक्रिया में से निकले बिना साम्यवाद की पूर्ण सीमा तक पहुंच सकते हैं।'' महान साम्यवादी विचारक ट्राटस्की ने भी मुद्रा की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए लिखा कि, ''सरकारी कार्यालय द्वारा तैयार की गई योजनाओं को व्यापारिक हिसाब के द्वारा अपना आर्थिक औचित्य प्रमाणित करना चाहिए। जब तक कोई सुद ढ़ मौद्रिक इकाई प्रयोग नहीं की जाएगी तब तक व्यापारिक हिसाब के प्रयास में अधिक गड़बड़ी ही उत्पन्न होगी। मुद्रा के अभाव में एक समाजवादी अर्थव्यवस्था भी उचित रूप से कार्य नहीं कर सकती। इसलिए आज भी साम्यवादी देशों में मुद्रा का महत्व है। समाजवादी देशों में मुद्रा का महत्व निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है।

(1) **पूंजी निर्माणः**—समाजवादी अर्थव्यवस्था में पूंजी प्रधान तकनीकों का प्रयोग करके ऊंचे पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। पूंजी प्रधान तकनीक को लागू करने के लिए पूंजी निर्माण की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। पूंजी निर्माण के लिये बचत तथा निवेश मुद्रा के रूप में सरलता से किया जा सकता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी पूंजी निर्माण के कई साधन वहीं हैं जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में है। इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा लगाए गए कर, सार्वजनिक उद्योगों के लाभ, क षि उत्पादन पर लगाए गए कर, विदेशी व्यापार से प्राप्त आय आदि शामिल किए जा सकते हैं। इन सबको मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है। अतः पूंजी निर्माण के लिए भी मुद्रा का काफी महत्व है।

(2) **मुद्रा आय के वितरण के लिये आवश्यक हैः**—समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मजदूरों में आय के बंटवारे के लिये मुद्रा की आवश्यकता है। मुद्रा के अभाव में वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में आय का बंटवारा बहुत कठिन होगा। मुद्रा के रूप में आय प्राप्त करके उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तुएं तथा सेवायें अधिक सुविधा से प्राप्त कर सकेंगे।

(3) **मुद्रा साधनों के बंटवारे के लिए आवश्यक हैः**—समाजवादी अर्थव्यवस्था में एक योजना अधिकारी को उत्पादन के साधनों का विभिन्न क्रियाओं में बंटवारा करना पड़ता है। इस बंटवारे को उचित ढंग से कुशलतापूर्वक करने के लिए मुद्रा की आवश्यकता है। मुद्रा के रूप में योजना अधिकारी विभिन्न उपयोगों में साधनों की सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय की तुलना करते रहते हैं तथा इस बात का अनुमान लगाने की चेष्टा करते हैं कि कौन से उपयोगों में साधनों का कुशलतम बंटवारा किस मात्रा में किया जाना चाहिए।

(4) **मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में अनिवार्य है :**—समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी उत्पादन तथा लेन-देन के लिये मुद्रा की आवश्यकता है। इसके द्वारा वस्तुओं का थोक तथा परचून व्यापार सरल तथा सुविधाजनक हो जाता है। अतः समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है।

(5) **आर्थिक नियोजन के लिये आवश्यकः**—समाजवादी अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय नियोजन अधिकारी योजनाओं को दो भागों में तैयार करते हैं (1) भौतिक योजना (2) वित्तीय योजना।

भौतिक योजना के द्वारा भौतिक लक्ष्य जैसे उत्पादन, वास्तविक राष्ट्रीय आय, रोजगार आदि निर्धारित किये जाते हैं। इसके विपरीत वित्तीय योजना में वित्तीय लक्ष्य जैसे—कीमत निर्धारण, उत्पादन के साधनों की आय का निर्धारण, सरकारी ऋण, व्यय आदि मुद्रा के रूप में निर्धारित किये जाते हैं। अतएव आर्थिक नियोजन में भी मुद्रा का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

(6) **विदेशी व्यापारः**—समाजवादी अर्थव्यवस्थाएं अपना समस्त विदेशी व्यापार वस्तु विनिमय के आधार पर नहीं करती। उन्हें विदेशी व्यापार के लिये विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है। अतः समाजवादी अर्थव्यवस्था को भी विदेशी व्यापार के लिये मुद्रा की आवश्यकता होती है।

संक्षेप में समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का उतना महत्व नहीं होता जितना पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में होता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी राष्ट्रीय आय को मापने, श्रमिकों तथा प्रबन्धकों को उनके कार्य का भुगतान करने, तथा आर्थिक साधनों का कुशलतम बंटवारा करने के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है। परन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में गत्यात्मक आर्थिक क्रियाओं जैसे—कीमतों में परिवर्तन, व्यापार-चक्र रोजगार आदि पर मुद्रा का प्रभाव नहीं पड़ता। यह ठीक है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा एक स्वामी तथा साध्य का रूप धारण कर लेती है, जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा सेवक तथा साधन के रूप में कार्यरत रहती है परन्तु स्वामी का कार्य नहीं करती।

मिश्रित और विकासशील अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्वः—

मिश्रित अर्थव्यवस्था से अभिप्राय उस अर्थव्यवस्था से है जिसमें निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों मिलकर देश के आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इस अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र में आर्थिक समस्याओं का समाधान कीमत संयंत्र द्वारा होता है। तथा उत्पादन लाभ के उद्देश्य से होता है। परन्तु इन पर सरकार का नियन्त्रण रहता है। सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील रहती है कि लोगों के शोषण को रोका जा सके। सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन मुख्य रूप से सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से किया जाता है। भारत की अर्थव्यवस्था एक अल्पविकसित मिश्रित अर्थव्यवस्था है इनका मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करना है। इन अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रा का महत्व निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है।

(1) **आर्थिक विकासः**—आर्थिक विकास के लिए देश के वास्तविक साधनों जैसे खनिज, वन, जल, भूमि, श्रम आदि का पूर्ण उपयोग होना आवश्यक है। वास्तविक साधनों के पूर्ण उपयोग पर मुद्रा दो प्रकार से प्रभाव डाल सकती है। (1) साख निर्माण (2) उपयोगिता और कुशलता में व द्धि द्वारा। मुद्रा के अभाव में वस्तु विनिमय की स्थिति में साधनों का उधार लेना तथा देना उनकी बचत की मात्रा पर निर्भर करता है। इसके विपरीत मौद्रिक अर्थव्यवस्था में साख का निर्माण सम्भव होता है। साख का निर्माण करके वर्तमान वास्तविक बचत की मात्रा से अधिक निवेश किया जा सकता है। **डानपैटन्कीन** ने मुद्रा को उपभोग की वस्तु माना है। उनके अनुसार मुद्रा के द्वारा लोग अपनी उपयोगिता में व द्धि करके अपने जीवन-स्तर को ऊंचा उठा सकता है? इस प्रकार मुद्रा आर्थिक विकास के लिए अधिक पूंजी संचय करने तथा जीवन-स्तर ऊंचा उठाने में सहायक होती है।

(2) **योजनाओं का निर्माणः**—मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में योजनाओं के निर्माण में मुद्रा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। योजना अधिकारी को यह तय करना पड़ता है कि निश्चित समय में आर्थिक विकास के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कितनी मुद्रा की आवश्यकता होगी। यह मुद्रा कौन से साधनों से प्राप्त की जाएगी। मुद्रा की उपलब्धि पर ही काफी सीमा तक योजना का आकार निर्भर करता है।

(3) **कीमत स्थिरताः**—प्रत्येक अल्पविकसित देश के लिए अपनी आर्थिक योजनाओं के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कीमत स्थिरता आवश्यक है। कीमतें बहुत अधिक बढ़ जाने के फलस्वरूप, योजनाओं को लागू करना कठिन हो जाएगा क्योंकि उनकी मौद्रिक लागत बढ़ जाएगी। इसलिए प्रत्येक देश की सरकार मुद्रा को नियमित करके कीमत स्थिरता के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती है।

(4) **विदेशी विनिमय की आवश्यकताः**—प्रत्येक विकासशील देश को अपने आर्थिक विकास के लिए काफी मात्रा में विदेशी विनिमय का प्रबन्ध करना पड़ता है क्योंकि विदेशों में किये जाने वाले मशीनरी, कच्चे माल, तकनीकी जानकारी आदि के आयात का भुगतान विदेशी मुद्रा में ही करना पड़ता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि विदेशी मुद्रा पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती रहे। इसके लिए मुद्रा का उचित नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है।

(5) **अमौद्रिक क्षेत्र का मौद्रिकीकरणः**—विकासशील देशों को अपने अमौद्रिक ग्रामीण क्षेत्र का मौद्रिकीकरण करने के लिए काफी मुद्रा की आवश्यकता होती है। क षि के व्यापारीकरण के फलस्वरूप मुद्रा की मांग बढ़ जाती है। मुद्रा का प्रयोग होने के फलस्वरूप देश में बिक्री योग्य आधिक्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मुद्रा का महत्व बढ़ जाता है।

(6) **देश के साधनों का पूर्ण उपयोगः**—अल्पविकसित देशों में काफी साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता। उनका पूर्ण

उपयोग करने के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है। यह मुद्रा करों, ऋणों, बचतों तथा कई अन्य स्थानों से प्राप्त की जाती हैं। इन साधनों से प्राप्त कुल धन के बावजूद भी यदि धन की कमी रहती है तो वह घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा पूरी की जाती है घाटे की वित्त व्यवस्था मुद्रा के रूप में ही सम्भव हो सकती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था के लिए मुद्रा एक आवश्यक तत्व है।

मुद्रा का चक्रीय प्रवाहः—

मुद्रा का एक मुख्य कार्य विनिमय का माध्यम है। विनिमय का माध्यम होने के कारण मुद्रा का प्रवाह चक्रीय होता है। इस प्रवाह का न तो कोई आरम्भ होता है न ही कोई अन्त होता है। इसलिए इसे चक्रीय प्रवाह कहा जाता है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में कई क्षेत्र होते हैं जैसे घरेलू क्षेत्र, व्यावसायिक क्षेत्र, सरकारी क्षेत्र तथा विदेशी क्षेत्र अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर होने वाले प्रवाह को चक्रीय प्रवाह कहा जाता है। एक व्यक्ति को जो मुद्रा प्राप्त होती है उसे वह भुगतान के लिए प्रयोग करता है, जो किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्त होता है और दूसरा व्यक्ति प्राप्त मुद्रा को तीसरे व्यक्ति को भुगतान में देता है। इस प्रकार मुद्रा का यह प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। इस प्रवाह की विशेषता यह है कि मुद्रा के साथ-साथ वस्तुओं और सेवाओं का भी आदान-प्रदान होता रहता है।

हम मुद्रा के चक्रीय प्रवाह का अध्ययन दो मॉडल में करेंगे।

(1) पहले मुद्रा के चक्रीय प्रवाह का एक सरल अध्ययन दो क्षेत्रों, घेरलू क्षेत्र तथा उत्पादक क्षेत्र में करेंगे (2) चक्रीय प्रवाह का अध्ययन एक वास्तविक चार क्षेत्रीय मॉडल में करेंगे।

(1) दो क्षेत्रीय मॉडल में मुद्रा का चक्रीय प्रवाहः—मुद्रा के चक्रीय प्रवाह को दो क्षेत्रीय मॉडल की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए अर्थव्यवस्था में दो क्षेत्र हैंः—(1) उत्पादक क्षेत्र (2) घरेलू क्षेत्र। उत्पादक क्षेत्र को वस्तुओं तथा सेवाओं की बिक्री से जो मौद्रिक आय प्राप्त होती है वह घरेलू क्षेत्र का वस्तुओं और सेवाओं की कीमत के रूप में किया गया व्यय है। इस प्रकार मुद्रा का प्रवाह घरेलू क्षेत्र से उत्पादक क्षेत्र की ओर होता है। इसी प्रकार घरेलू क्षेत्र को उत्पादन के साधनों की सेवाओं की बिक्री से जो साधन आय, ब्याज, मजदूरी, लाभ तथा लगान के रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार घरेलू क्षेत्र से उत्पादक क्षेत्र तथा उत्पादक क्षेत्र से घरेलू क्षेत्र की ओर होने वाला मुद्रा का प्रवाह एक चक्रीय रूप से निरन्तर होता रहता है।

मुद्रा का यह प्रवाह इस मान्यता पर आधारित है कि कुल आय तथा कुल व्यय बराबर है। अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार की बचत या निवेश नहीं हो रहा है। इस प्रकार के प्रवाह के फलस्वरूप सन्तुलन की स्थिति बनी रहती है। परन्तु यदि इस प्रवाह में कमी हो जाती है तो राष्ट्रीय आय की मात्रा कम हो जाएगी। यदि निवेश के फलस्वरूप मुद्रा के प्रवाह में व द्धि हो जाती है तो मौद्रिक राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है।

यदि कोई क्षेत्र सब धन व्यय करने की बजाए कुछ मुद्रा की बचत कर लेता है तो इतनी रकम चक्रीय प्रवाह से बाहर हो जाती है। मान लीजिए चक्रीय प्रवाह में 100 करोड़ रुपये थे। दूसरे शब्दों में, फर्मों के उत्पादन का कुल मूल्य 1000 करोड़ रु. था तथा घरेलू क्षेत्र की आय का योग भी 1000 करोड़ रु. ही था। अब यदि घरेलू क्षेत्र अपनी कुल आय व्यय न करके 900 करोड़ रु. ही व्यय करे तथा 100 करोड़ रु. की बचत कर लें तो इसका अर्थ यह होगा कि उत्पादक क्षेत्र दूसरे चक्र में इतना ही भुगतान साधनों की सेवाओं के लिए कर सकेंगे, अतः वे घरेलू क्षेत्र से 100 करोड़ रु. मूल्य के कम साधन खरीदेंगे।

इसी प्रकार यदि उत्पादक क्षेत्र 100 करोड़ रु. के अधिक उत्पादन के साधन खरीदता है तो प्रवाह में 100 करोड़ रुपये की बजाए उससे अधिक मुद्रा आ जायेगी तथा घरेलू क्षेत्र की कुल आय तथा उत्पादक क्षेत्र का कुल उत्पादन बढ़कर 1,100 करोड़ रु. हो जायेगा। संक्षेप में मुद्रा के चक्रीय प्रवाह में से की जाने वाली बचत चक्रीय प्रवाह की रकम को कम कर देती है। इसके विपरीत निवेश चक्रीय प्रवाह की रकम को बढ़ा देता है यदि किसी समय चक्रीय बचत तथा निवेश बराबर होते हैं तो चक्रीय प्रवाह का सन्तुलन बना रहता है।

मुद्रा के चक्रीय प्रवाह का चार क्षेत्रीय मॉडलः—

वास्तव में प्रत्येक अर्थव्यवस्था में चार क्षेत्र परिवार क्षेत्र, उत्पादक क्षेत्र, सरकारी क्षेत्र तथा शेष विदेशी क्षेत्र होते हैं। वास्तविक जीवन में परिवार क्षेत्र, उत्पादक क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र मुद्रा के रूप में बचत भी करते हैं। ये बचत पूंजी बाजार में जमा होती है। उत्पादक क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र पूंजी बाजार से आवश्यकता के अनुसार मुद्रा को उधार भी लेते हैं इस प्रकार

पूंजी बाजार में भी मुद्रा का चक्रीय प्रवाह होता है। पूंजी बाजार से अभिप्राय है वित्तीय संस्थाएं जैसे बैंक, बीमा कम्पनियां, चिट फण्ड्स आदि चार क्षेत्रों में होने वाले आय के चक्रीय प्रवाह को इस चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

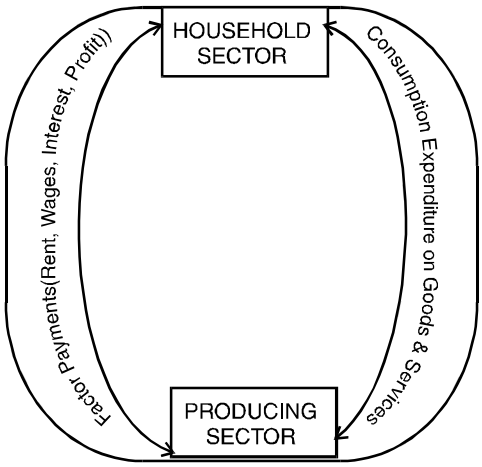

इस चित्र से पता चलता है कि मुद्रा का प्रवाह एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में होता रहता है। विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले मुद्रा के चक्रीय प्रवाह को निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया जा रहा है।

1. **परिवार क्षेत्रः**—उत्पादक क्षेत्र से परिवार क्षेत्र की ओर उत्पादन के साधनों की सेवाओं के बदले मुद्रा का प्रवाह लगान, ब्याज, मजदूरी तथा लाभ के रूप में होता है। इस क्षेत्र को सरकारी क्षेत्र से हस्तांतरण भुगतान जैसे पैंशन, वजीफे आदि भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार साधन आय तथा हस्तांतरण भुगतान के रूप में मुद्रा का प्रवाह परिवार क्षेत्र की ओर होता है। परिवार क्षेत्र अपनी आवश्यकता की उपभोक्ता वस्तुएं तथा सेवाएं खरीदने के लिए उत्पादक क्षेत्र को उपभोग व्यय के रूप में भुगतान करता है। यह क्षेत्र सरकार को प्रत्यक्ष करों का भुगतान करता है। इस क्षेत्र की बचत का प्रवाह पूंजी बाजार की ओर होता है।
2. **उत्पादक क्षेत्रः**—उत्पादक क्षेत्र को परिवार क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र से वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले में मुद्रा प्राप्त होती है। शेष विश्व क्षेत्र से निर्यात के बदले मुद्रा प्राप्त होती है तथा पूंजी बाजार से आवश्यकतानुसार कर्जा प्राप्त होता है। उत्पादक क्षेत्र को सरकारी क्षेत्र से उत्पादन बढ़ाने के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। अतः वस्तुओं की कीमत,

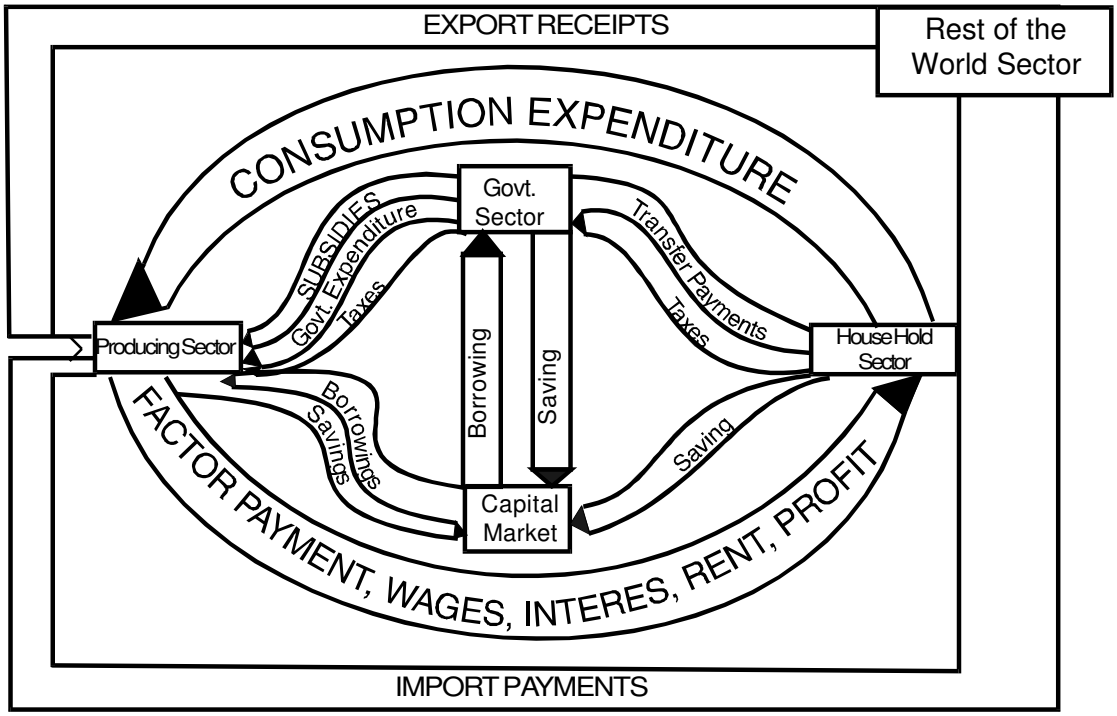

निर्यात की कीमत, सरकारी सहायता तथा पूंजी बाजार से ऋण के रूप में मुद्रा का प्रवाह विभिन्न क्षेत्रों से उत्पादक क्षेत्र की ओर होता है। उत्पादक क्षेत्र साधन की सेवाओं के लिए परिवार क्षेत्र को भुगतान करता है सरकार को कर देता है, शेष विश्व को आयात के लिए भुगतान किया जात है तथा जो बचत होती है उसे पूंजी बाजार में जमा कर दिया जाता है।

(3) **सरकारी क्षेत्रः**—सरकारी क्षेत्र को परिवार क्षेत्र से प्रत्यक्ष कर तथा उत्पादक क्षेत्र से अप्रत्यक्ष कर और निगम कर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार करों के रूप में मुद्रा का प्रवाह सरकारी क्षेत्र की ओर होता है सरकारी क्षेत्र परिवार क्षेत्र को साधन सेवाओं के लिए भुगतान करता है। उत्पादक क्षेत्र को वस्तुओं के लिए भुगतान किया जाता है तथा आर्थिक सहायता भी दी जाती है। यदि सरकारी क्षेत्र की आय उसके व्यय से अधिक है तो वह बाजार में बचत जमा कर सकता है। अतएव साधन कीमत वस्तुओं की कीमत तथा आर्थिक सहायता और बचत के रूप में सरकारी क्षेत्र से मुद्रा का प्रवाह क्रमशः परिवार, क्षेत्र उत्पादक क्षेत्र और पूंजी बाजार को होता है।

(4) **विदेशी क्षेत्रः**—इस क्षेत्र से उत्पादक क्षेत्र को जो सेवायें आयात की जाती हैं उनके बदले में उत्पादक क्षेत्र द्वारा भुगतान किया जाता है। इस प्रकार विदेशी क्षेत्र से उत्पादक क्षेत्र की ओर मुद्रा का प्रवाह होता है। विदेशी क्षेत्र उत्पादक क्षेत्र के द्वारा किये गये निर्यात के लिए भुगतान करता है इस स्थिति में विदेशी क्षेत्र से निर्यात कीमत के रूप में उत्पादक क्षेत्र की ओर मुद्रा का प्रवाह होता है।

(5) **पूंजी बाजारः**—वास्तविक जीवन में परिवार, उत्पादक और सरकारी क्षेत्र मुद्रा की बचत भी करते हैं। परिवार अपनी सारी आय को वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च नहीं करते। वे कई कारणों से जैसे कठिनाइयों के समय के लिए, सम्पत्ति इकट्ठी करने के लिए, टिकाऊ उपभोग वस्तुएं खरीदने के लिए बचत करते हैं। इस प्रकार उत्पादक क्षेत्र भी बचत करता है। वे सारे लाभ को हिस्सेदार में नहीं बांटते। वे घिसावट की लागत को पूरा करने के लिए, उत्पादन के पैमाने को बढ़ाने के लिए लाभों का एक भाग बचत के रूप में अपने पास रख लेते हैं। ये बचत पूंजी बाजार में जमा होती है। यदि पूंजी बाजार से उत्पादक क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र इन बचतों को निवेश के लिए उधार ले लेते हैं इस प्रकार पूंजी बाजार से बचत का प्रवाह उत्पादक क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र की ओर होता है।

मुद्रा के चक्रीय प्रवाह का महत्वः—

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में अधिकांश वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन बाजार में मुद्रा के रूप में विनिमय करने के लिए किया जाता है। इन अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रा के चक्रीय प्रवाह का महत्व निम्न तथ्यों से सिद्ध हो जाता हैः—

(1) **परस्पर सम्बन्धः**—मुद्रा के चक्रीय प्रवाह से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र के विभिन्न क्षेत्र अर्थात् परिवार क्षेत्र, उत्पादक क्षेत्र, सरकारी क्षेत्र तथा विदेशी क्षेत्र एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। एक क्षेत्र की आय दूसरे क्षेत्र का व्यय है। एक क्षेत्र में परिवर्तन होने का अन्य क्षेत्रों पर भी प्रभाव पड़ता है। उत्पादक क्षेत्र मुद्रा के रूप में सेवाएं खरीदता है, सरकार को कर देता है तथा विदेशों से वस्तुओं का आयात करता है। इसी प्रकार घरेलू क्षेत्र मुद्रा के रूप में उत्पादक क्षेत्र से वस्तुएं तथा सेवायें खरीदता है तथा सरकार को कर देता है।

(2) **सन्तुलन की स्थिति :**—मुद्रा के चक्रीय प्रवाह से अर्थव्यवस्था में सन्तुलन की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। एक अर्थव्यवस्था उस समय सन्तुलन की स्थिति में होती है जब एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में तथा दूसरे क्षेत्र से पहले क्षेत्र में होने वाले प्रवाह का मौद्रिक मूल्य बराबर होता है। इसके विपरीत यदि घरेलू क्षेत्र बचत करता है तो सन्तुलन की स्थिति के लिए यह आवश्यक है कि सारी बचत निवेश कर दी जाये।

(3) **सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकताः**—मुद्रा के चक्रीय प्रवाह से आर्थिक क्रियाओं में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। जब निवेश कम होता है तो आय, उत्पादन और रोजगार कम होगा, देश में बेरोजगारी बढ़ेगी तथा मन्दी फैलेगी। इस स्थिति में सुधार करने के लिए निजी क्षेत्र निवेश में व द्धि नहीं करेगा क्योंकि लाभ की आशा कम है। अतएव अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को कम करने तथा उत्पादन में व द्धि करने के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। सरकार स्वयं निवेश करेगी मुद्रा की पूर्ति बढ़ेगी, उत्पादन बढ़ेगा तथा रोजगार के अवसर बढ़ जायेंगे। इसके विपरीत यदि निवेश अधिक होता है तो मुद्रा स्फीति की सम्भावना बढ़ जायेगी। इसके रोकने के लिए भी सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। सरकार मौद्रिक नीति तथा राजस्व नीति के द्वारा अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करती है।

(4) **चक्रीय प्रवाह में असन्तुलन के प्रभावः**—मुद्रा के चक्रीय प्रवाह में पाये जाने वाले असन्तुलन की प्रव त्ति बढ़ते रहने की होती है। किसी अर्थव्यवस्था में बचत अधिक होने के कारण मुद्रा में चक्रीय प्रवाह की मात्रा कम हो जायेगी। इससे

आय में कमी होगी। आय कम होने के कारण बचत में और अधिक कमी होगी। इसके विपरीत यदि निवेश के अधिक होने के कारण निवेश बढ़ता जायेगा तथा आय में प्रारम्भिक निवेश की तुलना में कई गुणा व द्वि होगी।

(5) **राष्ट्रीय आय का अनुमानः**—मुद्रा का चक्रीय प्रवाह राष्ट्रीय आय का कोषों के प्रवाह लेखे के आधार पर अनुमान लगाने में सहायक होता है। कोषों के प्रवाह लेखे का सम्बन्ध अर्थव्यवस्था में होने वाले सभी मौद्रिक हस्तांतरणों से है। राष्ट्रीय आय का अनुमान व्यावसायिक क्षेत्र से घरेलू क्षेत्र की ओर मजदूरी + लाभ + ब्याज + लगान के रूप में होने वाली मौद्रिक प्रवाह की मात्रा के द्वारा लगाया जा सकता है। इसके विपरीत राष्ट्रीय व्यय का अनुमान घरेलू क्षेत्र से व्यावसायिक क्षेत्रों की ओर वस्तुओं की कीमत के रूप में होने वाले प्रवाह से लगाया जा सकता है। सन्तुलन की स्थिति में मौद्रिक राष्ट्रीय आय तथा मौद्रिक राष्ट्रीय व्यय बराबर होते हैं।

अध्याय 8
मुद्रा का वर्गीकरण
(Classification of Money)

(1) मुद्रा का वर्गीकरण –मुद्रा के वर्गीकरण द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि मुद्रा कितने प्रकार की होती है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न आधारों पर मुद्रा का वर्गीकरण किया है। मुद्रा के वर्गीकरण के मुख्य आधार निम्नलिखित हैं।

(1) मुद्रा की प्रक ति (Nature of Money)
(2) मुद्रा की वैधानिकता (Legality of Money)
(3) मुद्रा पदार्थ (Money Material)

मुद्रा के उपरोक्त वर्गीकरण का विस्त त अध्ययन निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है:–

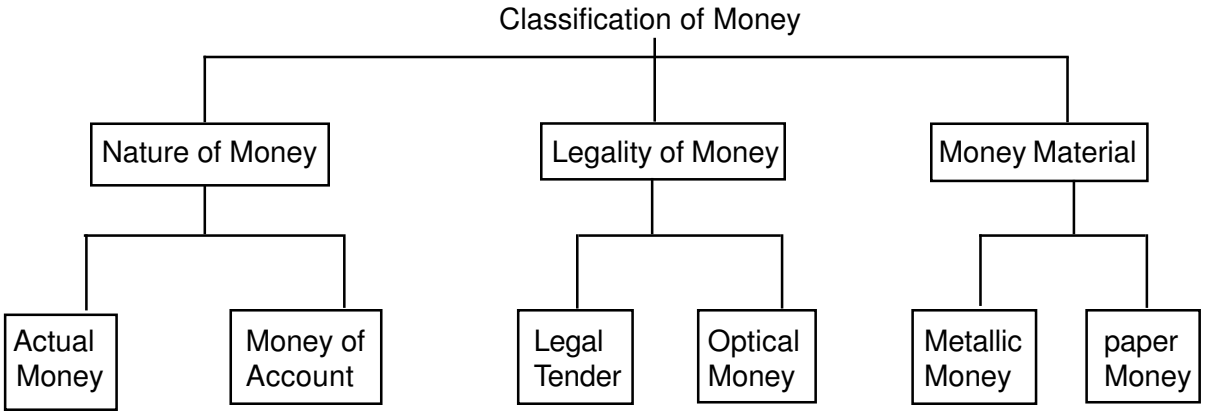

(i) प्रक ति के आधार पर वर्गीकरण

(Classification on the Basis of Nature)

प्रक ति के आधार पर प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **जे. एम. केन्ज** ने अपनी पुस्तक "A Treatise on Money' में मुद्रा का वर्गीकरण निम्नलिखित दो भागों में किया है :–

(i) वास्तविक मुद्रा (Actual Money) तथा (ii) हिसाब की मुद्रा (Money of Account)

(i) वास्तविक मुद्रा

वास्तविक मुद्रा वह मुद्रा है जो किसी देश में वास्तविक रूप में प्रचलित होती है। यह विनिमय का वास्तविक माध्यम होती है। (It is the actual medium of exchange) यह मुद्रा ही विनिमय में प्रयोग की जाती है तथा मूल्य के माप और मूल्य के संचय का कार्य करती है। **केन्ज** के अनुसार, ''वास्तविक मुद्रा वह है जिसको देकर सब प्रकार के भुगतानों को निपटाया जाता है और जिसके रूप में सामान्य-क्रय शक्ति का संचय किया जाता है।'' (Actual Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged, and in the shape of which a store of general purchasing power is held, -Keynes)। इस मुद्रा की सहायता से ही बाजार में वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है। भारत में रुपये तथा पैसे के रूप में सब सिक्के एवं प्रचलन में भिन्न-भिन्न प्रकार के कागजी नोट वास्तविक मुद्रा हैं। बैन्हम (Benham) ने इस प्रकार की मुद्रा को 'चलन की इकाई' (Unit of currency) तथा सेलिनामैन (Seligman) ने 'यथार्थ मुद्रा' (Real or concrete Money) कहा जाता है।

लार्ड केन्ज ने वास्तविक मुद्रा को दो उपभागों में बांटा है :—

(1) **वस्तु मुद्रा (Commodity Money):**—यह वह मुद्रा है जिसका वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) उसके अंकित मूल्य (Face Value) के बराबर अथवा लगभग बराबर होता है। इसको पूर्णकाय मुद्रा (Full Bodied Money) भी कहा जाता है। सोने-चाँदी तथा अन्य धातुओं के बने सम्पूर्ण सिक्के जिनका आन्तरिक (Intrinsic) और बाहरी (Face) मूल्य लगभग बराबर हो, पूर्णकाय मुद्रा कही जाती है।

(2) **प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money):**—प्रतिनिधि मुद्रा वह मुद्रा है जिसके अंकित मूल्य तथा वास्तविक मूल्य बराबर नहीं होते। ऐसी मुद्रा को वस्तु-मुद्रा में बदलने की सुविधा दी जाती है। यह मुद्रा की सूचक अथवा प्रतिनिधि होती है। पत्र-मुद्रा (Paper Money) प्रतिनिधि मुद्रा का उदाहरण है। यह भी दो प्रकार की होती है, परिवर्तनशील (Convertible) तथा अपरिवर्तनशील (Inconvertible) । परिवर्तनशील मुद्रा (जैसे भारत में एक रुपए के ऊपर के सभी कागजी नोट) को वस्तु मुद्रा में बदला जा सकता है, परन्तु अपरिवर्तनशील मुद्रा (जैसे भारत में एक रुपये का नोट) को निर्गमन करने वाली संस्थाएं अथवा सरकार परिवर्तन के लिए बाध्य नहीं होती। इसे प्रदिष्ट मुद्रा (Fiat Money) भी कहते हैं।

(ii) **हिसाब की मुद्रा (Money of Account):**—हिसाब की मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसमें सभी प्रकार के हिसाब-किताब या लेखे (Account) रखे जाते हैं। अन्य शब्दों में जिस मुद्रा का प्रयोग सामान्य कीमत स्तर एवं ऋण की मात्रा को प्रकट करने के लिए किया जाता है, उसे हिसाब की मुद्रा कहते हैं। केन्ज के अनुसार, ''हिसाब की मुद्रा वह है जिसमें ऋणों, कीमतों तथा सामान्य क्रय-शक्ति को व्यक्त किया जाता है।'' (Money of Account is that in which debts and general purchasing power are expressed—Keynes) जैसे रुपया भारत की हिसाब की मुद्रा है जबकि इसका रूप अनेक बार बदल चुका है अर्थात् पहले चांदी का रुपया प्रचलन में था अब गिल्ट का रुपया या एक रुपये का नोट प्रचलन में है। इस प्रकार की मुद्रा को सेलिगमैन (Seligman) ने 'आदर्श मुद्रा' (Ideal or Abstract Money) और बैन्हम ने 'हिसाब की इकाई' (Unit of Account) कहा जाता है।

साधारण परिस्थितियों में वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा में भेद नहीं किया जाता, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में लेखे या हिसाब की मुद्रा तथा वास्तविक मुद्रा अलग-अलग हो सकती है। जर्मनी में प्रथम युद्ध के पश्चात् (सन् 1923 में) वास्तविक मुद्रा तो मार्क (Mark) थी परन्तु मार्क की क्रय-शक्ति में अस्थिरता के कारण हिसाब-किताब फ्रेंक (Franc) तथा डालर में किए जाते थे। इसी प्रकार सन् 1933 में अमेरिका में हिसाब-किताब की मुद्रा 'स्वर्ण डालर' थी, किन्तु वास्तविक मुद्रा के रूप में कागजी मुद्रा एवं ताम्बे तथा गिल्ट के सिक्कों का उपयोग किया जाता था। भारत में रुपया वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा दोनों ही है। इसका अभिप्राय यह है कि हिसाब की मुद्रा एक सैद्धान्तिक रूप है और वास्तविक मुद्रा व्यावहारिक रूप है। मुद्रा के व्यावहारिक रूप में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं जबकि सैद्धान्तिक रूप स्थिर रहता है।

(2) वैधानिकता के आधार पर वर्गीकरण
(Classification on the Basis of Legality)

वैधानिकता के आधार पर मुद्रा को तीनों भागों में विभाजित किया जाता है:—

(i) विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money) (ii) ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money) (iii) बाहरी तथा आन्तरिक मुद्रा (Outside Money and Inside Money)

(1) **विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money)**—विधिग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा है जिसे भुगतान के साधन के रूप में देश की सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और लोगों को कानून के अनुसार इसे विभिन्न प्रकार के भुगतानों के लिए स्वीकार करना होता है। इस मुद्रा को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। यदि कोई व्यक्ति इसको लेने से इन्कार करता है तो उसे कानून के द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। रोबर्टसन ने इसे सामान्य मुद्रा (Common Money) कहा है। भारत में रुपये का सिक्का, व अन्य प्रकार के सिक्के विधिग्राह्य मुद्रा है। विधिग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की होती है :—

(a) **सीमित विधिग्राह्य मुद्रा (Limited Legal Tender):**—इस प्रकार की मुद्रा किसी भी सीमा तक एक ही समय में किसी भुगतान के लिए कानून न स्वीकार की जाती है। कोई भी व्यक्ति असीमित मात्रा में इस प्रकार की मुद्रा को लेने

से इन्कार नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए भारत में 50 पैसे तथा 1 रुपये के सिक्के तथा सभी प्रकार के कागजी नोट असीमित विधिग्राह्य मुद्रा है। असीमित विधिग्राह्य मुद्रा भी दो प्रकार की होती है।

(i) **बहुविधिग्राह्य प्रणाली (Multiple Legal Tender System):**—इसमें दो या दो से अधिक तरह के धातु के सिक्के प्रमाणित (Standard) रूप में चलन में होते हैं और इनका असीमित मात्रा में भुगतान किया जा सकता है।

(ii) **मिश्रित अथवा तालिका प्रणाली (Composite or Tabular System):**—इसमें मुद्रा, वस्तुओं के मूल्य स्तर के आधार पर लेन-देन में स्वीकार की जाती है।

(iii) **ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money)**—ऐच्छिक मुद्रा वह मुद्रा है जो साधारणतय जनता द्वारा स्वीकार तो की जाती है, परन्तु कानून न इसके लिए किसी व्यक्ति को विवश नहीं किया जा सकता। अन्य शब्दों में इस प्रकार की मुद्रा को कानूनी मुद्रा का पद प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार की मुद्रा को भुगतान के रूप में स्वीकार करना या न करना व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर करता है। चैक, ड्राफ्ट, हुण्डी, विनिमय बिल, प्रतिज्ञा पत्र आदि ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण हैं। रोबर्टसन ने इसे बैंक मुद्रा (Bank Money or Customary Money) कहा है। इस प्रकार की मुद्रा की स्वीक ति बहुत कुछ भुगतान वाले व्यक्ति की बाजार में साख (Credit) पर निर्भर करती है।

विधिग्राह्य एवं ऐच्छिक मुद्रा में अन्तर
(Difference between Legal Tender and optional Money)

(1) विधिग्राह्य मुद्राओं को स्वीकार करना जनता के लिए अनिवार्य (compulsory) है जबकि ऐच्छिक मुद्राओं को स्वीकार करना उसकी सुविधा और इच्छा पर निर्भर है। (ii) निश्चित विधान के अनुसार निकाली जाने के कारण विधिग्राह्य मुद्रा की पूर्ति कम पड़ने पर भय है जबकि ऐच्छिक मुद्रा बैंकों में कराई गई जमाओं के आधार पर निकाली जाती है, जिससे इसकी पूर्ति में कमी पाने का डर नहीं होता। (iii) विकसित देशों में ऐच्छिक मुद्रा महत्वपूर्ण भुगतानों का माध्यम बनी हुई है परन्तु अल्पविकसित देशों में विधिग्राह्य मुद्रा ही विनिमय का मुख्य माध्यम है। (iv) लाने ले जाने की द ष्टि से ऐच्छिक मुद्रा जोखिम रहित है जबकि विधिग्राह्य मुद्रा में जोखिम रहता है। (v) विधिग्राह्य मुद्रा के भुगतान के स्वरूप रसीद लेना आवश्यक हो जाता है परन्तु ऐच्छिक मुद्रा अर्थात् चैक, ड्राफ्ट, आदि के द्वारा भुगतान रसीद लेना आवश्यक नहीं है। (vi) थोड़ी रकम का भुगतान करने के लिए विधिग्राह्य मुद्रा उचित रहती है। परन्तु बड़ी रकम का भुगतान करने के लिए यह अधिक सुविधाजनक नहीं होती क्योंकि इसको गिनने में कठिनाई होती है। बड़ी रकमों का भुगतान करने के लिए ऐच्छिक मुद्रा अर्थात् चैक, ड्राफ्ट अधिक उपयुक्त हैं

(iii) बाहरी मुद्रा तथा आन्तरिक मुद्रा
(Outside and Inside Money)

गरले एवं शॉ (Gurley and Shaw) ने मुद्रा के उद्‌गम के आधार पर उसका दो भागों में वर्गीकरण किया है:—

(1) **बाहरी मुद्रा (Outside Money)**—बाहरी मुद्रा वह मुद्रा है जिसका उद्‌गम सरकार द्वारा किए जाने वाले क्रय और विक्रय के कारण होता है। अन्य शब्दों में बाहरी मुद्रा उस परिसम्पत्ति को कहा जाता है जो सरकार वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने तथा हस्तांतरण भुगतान (Transfer Payment) के लिए खर्च करती है। (Outside Money is that monetary asset which has its origin in tha act of the government purchase of goods and services or transfer payments) यह परिसम्पत्ति निजी क्षेत्र का सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति दावा (Claim) है। जब सरकार की आय, व्यय तथा हस्तांतरण भुगतान में परिवर्तन होता है तो बाहरी मुद्रा के स्टॉक में परिवर्तन होता है।

(2) **आन्तरिक मुद्रा (Inside Money):**—आन्तरिक मुद्रा वह मुद्रा है जिसका उद्‌गम वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रतिभूतियों के खरीदने के फलस्वरूप होता है। इसका निर्माण बैंकों द्वारा किया जाता है। आन्तरिक मुद्रा उस परिसम्पत्ति को कहा जाता है जो निजी क्षेत्र की वित्तीय संस्थायें प्रतिभूतियां आदि खरीदने पर खर्च करती हैं। (Inside Money is that Monetary asset which has its origin in the act of financial institutions purchases of securities) अतएव निजी क्षेत्र के खर्चों के फलस्वरूप जिस मुद्रा की पूर्ति होती है उसे आन्तरिक मुद्रा कहा जाता है आन्तरिक मुद्रा के स्टॉक में उस समय व द्धि होती है जब वित्तीय संस्थाएं जैसे व्यापारिक बैंक प्रतिभूतियों को खरीदते हैं।

(3) मुद्रा पदार्थ के आधार पर वर्गीकरण
(Classification on the basis of Money Material)

मुद्रा का यह वर्गीकरण उस वस्तु के आधार पर किया गया है जिसकी वह बनी हुई होती है। मुद्रा पदार्थ की प्रक ति के आधार पर मुद्रा को दो वर्गों में बांटा जा सकता है :

(1) धातु मुद्रा (Metallic Money)

धातु मुद्रा वह मुद्रा है जो किसी धातु (सोना, चांदी आदि) की बनी होती है। इस प्रकार की मुद्रा को पूर्ण मुद्रा भी कहा जाता है। भारत में चलने वाला रुपए का सिक्का तथा पैसे के सब सिक्के धातु मुद्रा है। आरम्भ में धातुओं के टुकड़े अथवा सलाखें ही मुद्रा के रूप में प्रयोग किए जाते थे। परन्तु इनको तोलना और परखना पड़ता था और इनकी शुद्धता की भी कोई गारन्टी नहीं थी। इन असुविधाओं से बचने के लिए जब निश्चित वजन एवं मूल्य के धातु के टुकड़ों पर चिन्ह् अंकित किए जाने लगे तो सिक्कों का चलन आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे सिक्के ढालने की कला का विकास हुआ और सुन्दर, समरूप तथा सुद ढ़ सिक्के ढालने लगे। धातु-मुद्रा अथवा सिक्के तीन प्रकार के होते हैं:—

(A) प्रमाणिक अथवा प्रर्णकाय सिक्के
(Standard or Full-Bodied Coins)

प्रमाणिक सिक्का वह सिक्का है जिसका वस्तु रूप में मूल्य तथा मुद्रा के रूप में मूल्य बराबर होता है। (Standard coins is that coin whose value as commodity is equal to its value as money) ये सिक्के सोने अथवा चांदी के बने हुए होते हैं। ये सिक्के एक निश्चित वजन एवं शुद्धता (Definite Weight and Fineness) के होते हैं। इनका अंकित मूल्य इनके आन्तरिक मूल्य के बराबर होता है। प्रमाणिक सिक्कों की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं:—

(1) यह देश का प्रधान सिक्का होता है और विनिमय माध्यम के साथ-साथ हिसाब की इकाई का भी कार्य करता है। यह सिक्का सोने अथवा चांदी का बनाया जात है। इस सिक्के का जितना मूल्य होता है उतने ही मूल्य की इसमें चांदी या सोना होता है। यदि चाहे तो इसे गलाकर सोने या चांदी के रूप में भी बेच सकते हैं।

(2) प्रमाणिक मुद्रा की मुफ्त ढलाई (Free Coinage) होती है अर्थात् जनता सोने अथवा चाँदी को टकसाल ग ह में ले जाकर बिना किसी शुल्क के सिक्के ढलवा सकती है। इसका परिणाम यह होता है कि मुद्रा की मांग और पूर्ति में अपने आप सन्तुलन बना रहता है और किसी प्रकार के सरकारी प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(3) प्रमाणिक मुद्रा का अंतिक मूल्य (Face Value) तथा आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) बराबर होता है। अन्य शब्दों में इस सिक्के पर जो मूल्य अंकित रहता है, इसमें लगी धातु उतने मूल्य के बराबर अवश्य होती है जितने मूल्य का वह सिक्का है। भारत में 1893 से पहले भारतीय रुपया प्रमाणिक सिक्का था। इसमें इसके अंकित मूल्य के बराबर ही चांदी डाली जाती थी।

(4) यह असीमित विधिग्राह्मा (Unlimited Legal Tender) होता है। चूंकि यह मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होती है, अतः असीमित मात्रा में विधिग्राह्म होती है अर्थात् इस मुद्रा में असीमित मात्रा में भुगतान (लेन-देन) किए जा सकते हैं।

प्रमाणिक सिक्कों के गुण (Merits of Standard Coins):—प्रमाणिक सिक्कों के अनेक गुण हैं जैसे (1) विस्त त क्षेत्र प्रमाणिक सिक्कों के प्रयोग का क्षेत्र विस्त त होता है, क्योंकि अंकित मूल्य और धातु मूल्य में कोई फर्क न होने के कारण ये न केवल देशी भुगतानों में भी स्वीकार किए जाते हैं बल्कि विदेशी भुगतानों में भी स्वीकार किए जाते हैं।

(ii) मुद्रा स्फीति से बचाव:—ऐसे सिक्कों की निकासी के लिए शत-प्रतिशत धातु की जरूरत पड़ती है, जिससे मुद्रा स्फीति का भय नहीं रहता है।

(ii) अधिक बचत—शुद्ध धातु की मात्रा अधिक रहने के कारण प्रमाणिक सिक्कों के रूप में बचत करने और क्रय शक्ति के संचय को प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) अधिक विश्वास—प्रमाणिक सिक्कों में पर्याप्त धातु मूल्य होने के कारण इन्हें जनता का विश्वास सहज ही प्राप्त हो जाता है।

(iv) विदेशों में मान्यता—विदेशों में भुगतान करने के लिए भी इन्हें स्वीकार कर लिया जाता है।

(vi) **विनिमय दर**—ये सिक्के शुद्ध धातु के बने होते हैं। इसके फलस्वरूप दो देशों की प्रमाणिक मुद्राओं की विनिमय दर का निर्धारण करना आसान रहता है।

प्रमाणिक सिक्कों के अवगुण (Demerits of Standard Coins):—

(i) **महंगे**—प्रमाणिक सिक्के महेंगे होते हैं, क्योंकि इनके निर्माण के लिए मूल्यवान धातु खानों से विशाल मात्रा में निकालनी पड़ती है और फिर सिक्कों की घिसावट से धातु की हानि भी होती है।

(ii) **लोच का अभावः**—इनके लोच का अभाव पाया जाता है अर्थात् मुद्रा की मांग बढ़ने पर पूर्ति आसानी से नहीं बढ़ाई जा सकती।

(iii) **अनावश्यक प्रयोग**—इन सिक्कों में बहुमूल्य धातुएं अनावश्यक रूप से घिरी रहती हैं।

(iv) **कम उपयोगी**—अल्पविकसित देश इस प्रकार की मुद्रा के द्वारा अपनी विकास योजनाओं के लिए पर्याप्त धन नहीं जुटा पाते।

(v) **जालसाजी**—इन सिक्कों में धातु का अंश अधिक होने के कारण जालसाजी के लिए बहुत प्रलोभन रहता है।

(B) सांकेतिक अथवा प्रतीक सिक्के

(Token Coins)

सांकेतिक सिक्के वे सिक्के हैं जिनका वस्तु के रूप में मूल्य उनके मुद्रा के रूप में मूल्य से कम होता है। (Token coins are these coins whose value as commodity is less than its value as money) इस मुद्रा के अन्तर्गत वे सब सिक्के आ जाते हैं जिनका अंकित मूल्य (Face Value) उनके आन्तरिक मूल्य (Intrinic Value) से अधिक होता है। इनका उपयोग छोटे-छोटे भुगतानों के लिए किया जाता है। यह मुद्रा प्रायः हल्की किस्म की धातु जैसे तांबा, गिलट, निकल आदि की बनी होती है, यह प्रमाणिक सिक्कों के लिए सहायक का काम देती है। इनके निम्नलिखित लक्षण प्रमाणिक सिक्कों से पूर्णतया भिन्न होते हैं : (i) इनका अंकित मूल्य धातु मूल्य से अधिक होता है। (ii) इनकी स्वतन्त्र ढलाई नहीं होती है अर्थात् जनता को यह स्वतन्त्रता नहीं होती कि वह टकसाल-ग ह में जाकर सिक्के ढलवा सकें। इसलिए सरकार केवल एक निश्चित मात्रा में इन्हें जारी करती है। (iii) ऐसे सिक्कों का मूल्य उनमें पाई जाने वाली धातु के ऊपर निर्भर नहीं होता बल्कि सरकारी आदेश के द्वारा निश्चित किया जाता है। (iv) ये सिक्के देश की प्रमुख मुद्रा नहीं होते और इन्हें केवल प्रमाणिक मुद्रा की सहायता के लिए चलाया जाता है। (v) इस प्रकार के सिक्के केवल एक निश्चित सीमा तक ही विधिग्राह्म होते हैं अर्थात् ये सीमित विधिग्राह्म होते हैं।

सांकेतिक सिक्कों के गुण (Merits of Token Coins)

(i) **बचतपूर्ण**—इनमें धातु की बचत होती है तथा उसका अपव्यय नहीं होता।

(ii) **लोचपूर्ण**—ये लोचपूर्ण होते हैं क्योंकि इन में प्रयोग की जाने वाली धातु सस्ती एवं सुलभ होती है इसलिए इनकी मात्रा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

(iii) **छोटे सौदे**—इनका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि इनके द्वारा छोटे सौदों का भुगतान सम्भव होता है।

(iv) **अधिक उपयोगी**—इनकी मात्रा को आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है जिसके कारण विकास योजनाएं सहज ही कार्यान्वित की जा सकती हैं और धनाभाव के कारण रोकनी नहीं पड़ती।

(v) **जालसाजी का कम भय**—इस प्रकार के सिक्कों में जालसाजी का भय नहीं होता क्योंकि हल्के और सस्ते होने के कारण इनमें धातु को कम करने के विशेष लाभ नहीं होता।

सांकेतिक सिक्कों के अवगुण (Demerits of Token Coints) :

(1) **मुद्रा स्फीति**—इन सिक्कों का कारण मुद्रा स्फीति का भय रहता है, क्योंकि सस्ती धातु से बनाए जाने के कारण इन सिक्कों की मात्रा बढ़ाना कठिन नहीं होता।

(ii) **कम विश्वसनीय**—ये प्रमाणिक सिक्कों की तरह विश्वसनीय नहीं होते क्योंकि ये प्रर्णकाय सिक्के नहीं होते।

(iii) **संकुचित क्षेत्र**—इनका चलन क्षेत्र देश की सीमा तक ही होता है, विदेशी भुगतानों में इनको स्वीकार नही किया जाता।

(iv) **संचय के लिए कम उपयुक्त**—ये सिक्के क्रय शक्ति के संचय के लिए उपयुक्त नहीं होते क्योंकि इनका बाह्य मूल्य वास्तविक मूल्य से कम होता है।

(v) **विनिमय दर के निर्धारण में कठिनाई**—विभिन्न देशों में सांकेतिक सिक्कों का प्रचलन होने की दशा में उनकी विनिमय की दरें निर्धारित करना कठिन होता है, क्योंकि ऐसे सिक्कों में शुद्ध धातु का अंश मामूली रहता है।

क्या भारतीय रूपया प्रमाणिक सिक्का है अथवा सांकेतिक सिक्का?
(Is Indian Rupee a Standard coin or a Token coin?)

आजकल जो भारतीय रुपया प्रचलित है उसके विषय में यह कहना कठिन है कि वह एक प्रमाणिक सिक्का है या सांकेतिक सिक्का है। इसमें इन दोनों के ही गुण पाए जाते हैं। सन् 1893 से पहले भारतीय सिक्का पूर्ण रूप से प्रमाणिक सिक्का था। यह चांदी का बना हुआ था। इसका आन्तरिक मूल्य तथा अंकित मूल्य बराबर था। इसकी ढलाई करने की स्वतन्त्रता थी। परन्तु अब रुपये की यह स्थिति नहीं है। एक सांकेतिक सिक्के की तरह रुपये का।

(i) आन्तरिक मूल्य उसके अंकित मूल्य से कम है।

(ii) यह चांदी का बना हुआ नहीं होता।

(iii) इसकी ढलाई भी स्वतन्त्र तथा खुले रूप में नहीं होती। परन्तु इसमें प्रमाणिक सिक्के के भी गुण पाये जाते हैं। जैसे (i) रुपया देश की प्रधान मुद्रा है। (ii) रुपया विनिमय का माध्यम तथा लेखे की इकाई है। सभी वस्तुओं के मूल्य कर, आदि इसी के रूप में निर्धारित होते हैं। (iii) रुपया असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender) है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भारतीय रुपया मानक प्रतीक सिक्का (Standard Token Coin) है। आज संसार के सभी देशों के सिक्कों की यही स्थिति पाई जाती है।

(c) सहायक या गौण सिक्के
(Subsidiary Coins)

गौण सिक्के वे सिक्के हैं जिनका आन्तरिक मूल्य उनके अंकित मूल्य से कम है। ये सिक्के अल्प मूल्य के होते हैं जैसे 2 पैसे, 5 पैसे, 10 पैसे आदि के सिक्के। ये सिक्के हल्की तथा सस्ती धातु के बनाए जाते हैं। इनका प्रयोग छोटे-छोटे भुगतानों को करने के लिए किया जाता है। ये सीमित विधिग्राह्य (Limited Legal Tender) होते हैं। इनकी ढलाई स्वतन्त्रता नहीं होती। ये सांकेतिक सिक्के होते हैं। प्रमाणिक सिक्कों से इनका सम्बन्ध सरकार द्वारा कानूनी आधार पर तय किया जाता है। वास्तव में रेजगारी (Change) को गौण सिक्के कहा जाता है।

(ii) पत्र मुद्रा
(Paper Money)

पत्र मुद्रा एक विशेष प्रकार के कागज पर छपा हुआ वचन पत्र (Promissory Note) है, जिसके द्वारा निर्गमन अधिकारी (केन्द्रीय बैंक व सरकार) उसमें लिखित राशि देने की प्रतिज्ञा करता है। पत्र मुद्रा का उपयोग सबसे पहले नौवीं शताब्दी में चीन में किया गया। यहां से धीरे-धीरे इसका विस्तार अन्य देशों में हुआ। परन्तु पत्र मुद्रा का बड़े पैमाने पर उपयोग 17वीं शताब्दी तथा 18वीं शताब्दी से ही होने लगा है। भारत में कागजी मुद्रा का प्रयोग 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से किया जाने लगा। सन् 1806 में बैंक ऑफ बंगाल ने सबसे पहले पत्र मुद्रा का निर्गमन किया।

पत्र मुद्रा के प्रकार
(Types of Paper Money)

पत्र मुद्रा चार प्रकार की होती है:—

(1) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper Money)

(2) परिवर्तनशील पत्र मुद्रा (convertible Paper Money) तथा

(3) अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Inconvertible Paper Money) तथा

(4) प्रदिष्ट पत्र मुद्रा (Fiat Paper Money)

(1) **प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper Money):**—जब किसी पत्र मुद्रा के पीछे उसके मूल्य के बराबर, अर्थात् शत-प्रतिशत, सोना अथवा चांदी सुरक्षित रखे जाते हैं, तब इस प्रकार की पत्र मुद्रा को प्रतिनिधि कागजी मुद्रा कहा जाता है। (Representative Paper Money is that money which is fully backed up by gold and silver) शुरू में नोट जारी करने का मुख्य उद्देश्य मूल्यवान धातुओं की घिसावट के कारण होने वाली हानि को रोकना था और पत्र मुद्रा केवल सुरक्षित कोष (Reserve fund) में रखे सोने व चांदी के प्रतिनिधि के रूप में काम करती थी। जनता को यह विश्वास दिलाया जाता था कि वास्तविक मुद्रा सोना और चांदी ही है, पत्र मुद्रा तो केवल उसकी प्रतिनिधि है। पत्र मुद्रा में जनता का विश्वास बनाए रखने के लिए तथा अत्याधिक निर्गमन को रोकने के लिए नोटों के पीछे उनके मूल्य के बराबर सोना व चांदी सुरक्षित कोष में रखा जाता था। इसे प्रतिनिधि मुद्रा इस लिए कहा जाता था क्योंकि यह सुरिक्षत कोष में रखे सोने व चांदी का प्रतिनिधित्व करती थी। प्रतिनिधि पत्र मुद्रा पूर्णतया सोने व चांदी में परिवर्तनशील होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होता था कि वह अपनी मुद्रा के बदले में सोना व चांदी प्राप्त कर सके। कुछ समय तक अमेरीका में प्रतिनिधि मुद्रा के रूप में सोने और चांदी के प्रमाण पत्र (Gold and Silver Certificate) चलाए गए थे। अमेरिकन सरकार इन प्रमाण पत्रों के मूल्यों के बराबर सोना व चांदी सुरक्षित कोष में रखती थी और उन्हें किसी भी समय सोने व चांदी में बदलने की गारण्टी देती थी। भारत में भी सन् 1925 में हिल्टन यंग कमीशन (Hilton young Commission) ने स्वर्ण धातु पत्रों (Gold Bullion Certificate) के रूप में इसी प्रकार की मुद्रा अपनाने का सुझाव दिया था, परन्तु इसे अपनाया नहीं गया।

गुण (Merits)—इस मुद्रा के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं:—

(i) **जनता का विश्वास**—इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें जनता का विश्वास रहता है क्योंकि सभी लोग यह जानते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर इस प्रकार के नोटों को सोने अथवा चांदी में बदला जा सकता है।

(ii) **बहुमूल्य धातुओं की बचत**—जब सोने अथवा चांदी के सिक्के प्रचलन में नहीं होते हैं तो इनमें घिसावट के कारण बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है।

(iii) **मुद्रा स्फीति की कम सम्भावना**—इस प्रकार की प्रणाली में मुद्रा की मात्रा को बढ़ाने के लिए ठीक उतने ही मूल्य का सोना अथवा चांदी सुरक्षित कोष में रखनी पड़ती है। इससे मुद्रा की मात्रा सीमित होती है। इस प्रकार इस प्रणाली से मुद्रा स्फीति का भय नहीं रहता।

दोष (Demerits):—इस मुद्रा के कुछ प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—

(i) **बेलोचदार**—इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली में लोच का गुण नहीं पाया जाता। मुद्रा की आवश्यकता बढ़ने पर अधिक मुद्रा जारी करना सम्भव नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक जारी किए जाने वाले नोट के पीछे उसके मूल्य के बराबर का सोना अथवा चांदी रखना होता है। संकटकाल में इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली का हट जाना अनिवार्य है, क्योंकि ऐसे समय में अधिक सोना और चांदी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

(ii) **अमितव्ययी (Uneconomical)**—यह प्रणाली मितव्ययितापूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें बहुत व्यय करना पड़ता है। नोटों की पीछे शत-प्रतिशत सुरक्षित कोष रखने के लिए सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में सोना और चांदी बन्द करके रखना होता है, जिन्हें किसी अन्य उपयोग में नहीं लाया जा सकता।

(iii) **निर्धन देशों के लिए अनुपयुक्त (Incovenient for poor countries)**—यह प्रणाली निर्धन देशों के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे देशों में सोने और चांदी का अभाव पाया जाता है। इसलिए वे इस प्रणाली को चलाने में असमर्थ हैं।

(2) **परिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Convertible paper Money)**—जब किसी देश में नोट इस प्रकार जारी किए जाएं कि उनको जनता किसी भी समय प्रमाणित सिक्कों में बदल सके, तब इस प्रकार की पत्र मुद्रा को परिवर्तनशील पत्र मुद्रा कहते हैं। (Convertible paper Money is that money which is convertible into standard coins at the option of the holder) इसमें सरकार पत्र मुद्रा के बदले में एक निश्चित दर से सोना या चांदी देने की गारन्टी देती है। प्रतिनिधि पत्र मुद्रा की मुख्य विशेषताएं ये हैं—(i) इस प्रकार की पत्र मुद्रा के बदले सोना अथवा चांदी कोष में रखा जाता है किन्तु शत-प्रतिशत नहीं। क्योंकि इस प्रणाली में यह मानकर चला जाता है कि जनता पत्र मुद्रा की कुल मात्रा के बदले में एक ही समय सोचना अथवा चांदी मांगने नहीं आएगी।

(ii) सुरक्षित कोष का एक भाग प्रर्णकाय अथवा प्रमाणिक सिक्कों एवं प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता है।
(iii) सरकार द्वारा लोगों को यह आश्वासन दिया जाता है कि वे जब चाहें, अपने नोटों के बदले में सरकार से सोना या चांदी ले सकते हैं।
(iv) विदेशी भुगतानों के लिए एक अलग कोष रखा जाता है जिससे सरकार पत्र मुद्रा के बदले में सोना व चांदी देती है।
(v) सरकार सोना व चांदी का क्रय-विक्रय एक पूर्व निश्चित दर पर करती है।

गुण (Merits)—

(i) जनता का विश्वास—चूंकि इस प्रकार की पत्र मुद्रा के पीछे बहुमूल्य धातुओं का कोष (Metallic Reserve) रहता है तथा सरकार नोट के बदले में सोना एवं चांदी देने का आश्वासन देती है, अतएव इसमें जनता का विश्वास रहता है।

(ii) लोचदारः—यह प्रणाली बहुत लोचदार है। आवश्यकता पड़ने पर नोटों की मात्रा को आसानी से बढ़ाया जा सकता है। इस प्रणाली में थोड़े से धात्विक कोष के आधार पर कई गुणा अधिक पत्र मुद्रा जारी की जा सकती है।

(iii) बहुमूल्य धातुओं की बचत—इस प्रणाली में बहुमूल्य धातुओं की काफी बचत होती है। पत्र मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत धातुकोष नहीं रखा जाता और नोटों की कीमत से बहुत कम का सोना व चांदी सुरक्षित कोष में रहता है। इस प्रकार बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बहुत बचत होती है।

(iv) मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण—इस प्रणाली से मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण रहता है क्योंकि यह अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा की तुलना में अधिक सुरक्षित है। इस सम्बन्ध में क्राउथर ने कहा है कि ''जब तक परिवर्तनशीलता का दायित्व रहता है, यह पत्र मुद्रा जारी करने वाली संस्था पर कठोर नियन्त्रण रखता है'' (So long as the obligation to convert remains, it imposes a serious restraont upon the not issuing authority-crowther)

(v) विदेशी व्यापार में सहायक—चूंकि इस प्रणाली में नोटों के बदले सोना अथवा चांदी विदेशी व्यापार के लिए प्राप्त होता है, अतः विदेशी व्यापार की व द्धि में यह प्रणाली सहायक होती है।

अवगुण (Demerits)—

(i) मुद्रा स्फीति का भय—इस प्रणाली में प्रचलित नोटों के पीछे शत-प्रतिशत सोना या चांदी कोष में नहीं रखा जाता इसलिए नोटों के अधिक जारी किए जाने की सदैव सम्भावना बनी रहती है। इसके फलस्वरूप मुद्रा स्फीति का डर बना रहता है।

(ii) जनता का तुलनात्मक द ष्टि से कम विश्वास—इस प्रणाली में जारी किए जाने वाले नोटों के बदले में शत-प्रतिशत सोना अथवा चांदी नहीं रखा जाता। अतः प्रतिनिधि पत्र मुद्रा की तुलना में जनता का इस मुद्रा में कम विश्वास रहता है।

(3) अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Inconvertible Paper Money)—अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा उस पत्र मुद्रा को कहते हैं जिससे बदले में सोना, चांदी अथवा कोई भी अन्य धातु देने का सरकार आश्वासन नहीं देती है। अन्य शब्दों में नोटों को धातु या सिक्कों में बदलने की सरकार कोई गारन्टी नहीं देती है। अन्य शब्दों में नोटो को धातु या सिक्के में बदलने की सरकार कोई गारन्टी नहीं देती है। इस पत्र मुद्रा के पीछे किसी भी धातुओं के सुरक्षित कोष नहीं रखे जाते हैं। यह पत्र मुद्रा पूर्ण रूप से सरकार की साख पर प्रचलित रहती है। इस मुद्रा की मुख्य विशेषताएं ये हैं :—

(i) इसके पीछे साधारणतयः प्रतिभूतियों (Securities), बॉण्ड्स, ट्रैजरी बिल तथा विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) सुरक्षित कोष में रखे जाते हैं। धातुएं कोष में रखी ही नहीं जाती अथवा सीमित मात्रा में रखी जाती है।
(ii) सरकार पत्र मुद्रा को सोने अथवा चांदी में बदलने का कोई आश्वासन नहीं देती।
(iii) पत्र मुद्रा प्रमाणिक मुद्रा के रूप में कार्य करती है तथा असीमित विधिग्राह्य होती है।
(iv) विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए मुद्रा की विदेशी विनिमय दर निर्धारित कर दी जाती है। आजकल संसार भर के सभी देशों में अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा प्रचलित है।

गुण (Merits)

(1) **मितव्ययी**—इसमें मितव्ययिता का गुण पाया जाता है। नोटो के पीछे किसी प्रकार की धातु को सुरक्षित नहीं रखना पड़ता, जिसके कारण बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में काफी बचत हो जाती है।

(ii) **लोचदार**—यह प्रणाली बहुत अधिक लोचदार है। पत्र-मुद्रा के अपरिवर्तनशील हो जाने पर आवश्यकता के अनुसार किसी भी मात्रा में नोट चलाए जा सकते हैं। इस प्रणाली में नोटो की मात्रा का सुरक्षित कोष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता और मुद्रा का विस्तार बड़ी आसानी से किया जा सकता है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए इस प्रकार की मुद्रा विशेष रूप से उपयुक्त है क्योंकि इसके द्वारा लोगों की बढ़ती हुई मांग को पूरा किया जा सकता है और विकास सम्बन्धी योजनाओं को आसानी से कार्यान्वित किया जा सकता है।

दोष (Demerits)

(i) **मुद्रा स्फीति का अत्याधिक भयः**—चूंकि नोटों के जारी करने में कोई ठोस रूकावट या नियन्त्रण नहीं रहता तथा बिना धात्विक कोष के ही इनको जारी कर दिया जाता है। अतः सम्भावना यह रहती है कि नोटों का निर्गमन (Issue) आवश्यक अथवा उचित मात्रा से अधिक हो जाए। इस स्थिति का बुरा प्रभाव पड़ता है, देश में कीमत व द्धि आदि की समस्या जटिल हो जाती है। क्राउथर के अनुसार, ''मौद्रिक इतिहास में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का लगभग प्रत्येक अनुभव मौद्रिक अस्थिरता के साथ सम्बन्धित रहा है।'' (Nearly every experience of inconvertible bank notes known in monetary history has been associated with monetary instability—Crowther)

(ii) **जनता का कम विश्वास**—चूंकि इस प्रणाली में नोटों के बदले सोना या चांदी देने का कोई आश्वासन नहीं रहता है और नोटों के बदले चांदी पर सोना दिया भी नहीं जाता, अतः स्वाभाविक रूप से जनता का विश्वास इस पत्र-मुद्रा में कम रहता है। थामस (Thomas) का कहना है कि ''अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें ऐसा कोई निश्चित तथा स्वयं संचालित तरीका नहीं होता जिससे कि वर्तमान मांग को पूरा करने के लिए केवल पर्याप्त मुद्रा ही जारी की जाए और मुद्रा स्फीति को दूर रख कर समाज को अपनी आर्थिक क्रियाओं एवं प्रगति के लिए पर्याप्त मुद्रा दी जा सके।'' (The great disadvantage of an inconvertible paper currency is that there is no certain autonomous method of ensuring that only sufficient money is issued to satisfy current demand and that while inflation is avoided the community is provided with sufficient money for its normal economic activity and progress —S.E. Thomas) इस पत्र मुद्रा के दोष होते हुए भी आजकल यह पत्र मुद्रा ही प्रचलन में पाई जाती है।

(4) **प्रादिष्ट पत्र मुद्रा (Fiat Paper Money)**—यह पत्र मुद्रा अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा का ही एक रूप है। प्रादिष्ट पत्र मुद्रा वह पत्र मुद्रा है जो सरकार के आदेश के कारण प्रचलित है। (Fiat money is the money which circulates on the authority (i.e. Fiat) of the government) केन्ज के अनुसार, ''प्रादिष्ट मुद्रा वह मुद्रा है जो सरकार द्वारा निर्मित होती है तथा निर्गमित की जाती है परन्तु कानून इसे किसी धातु या मुद्रा में परिवर्तित नहीं किया जाता।'' (Fiat Money is that money which is created and issued by the state but is not convertible by law into anything other than itself—Keynes) इसे 'संकटकालीन मुद्रा' (Emergency Money) भी कहते हैं क्योंकि इसका निर्गमन संकटकालीन परिस्थितियों में बिना कोई रक्षित कोष रखे किया जाता है। (Fiat money is that money which is not backed up by any reserves). इस मुद्रा के पीछे न तो धातु के रूप में (सोना, चांदी) कोई सुरक्षित कोष रखा जाता है और न किसी अन्य प्रकार की कागजी आड़ (Fiduciary Cover) ही रखी जाती है। इस मुद्रा को धातु-सिक्कों में बदलने की सरकार कोई गारण्टी नहीं देती। वास्तव में यह मुद्रा एक असाधारण प्रकार की मुद्रा (Extra Ordinary Money) है और केवल विशेष परिस्थितियों में ही सरकार इसे जारी करती है। परन्तु इस मुद्रा की कोई आड़ नहीं होती, इसलिए सरकार इसे केवल सीमित मात्रा में ही जारी करती है। प्रादिष्ट पत्र मुद्रा की मुख्य विशेषताएं (Characteristics) ये हैं—

(i) यह मुद्रा संकटकालीन स्थिति में जारी की जाती है।

(ii) इसका निर्गमन सीमित मात्रा में होता है।

(iii) इसके पीछे किसी प्रकार का कोष जमानत के रूप में (Rserve) नहीं रखा जाता है।

गुण (Merits)

प्रादिष्ट मुद्रा के कुछ मुख्य गुण इस प्रकार हैं :

(i) यह प्रणाली अत्यन्त लोचदार है। सरकार विकास सम्बन्धी अथवा किसी संकट सम्बन्धी मुद्रा की बड़ी हुई आवश्यकता को बिना किसी कठिनाई के पूरा कर सकती है।

(ii) इस मुद्रा के द्वारा अल्पकालीन वित्त की समस्या को आसानी से हल किया जा सकता है।

दोष (Demerits)—इस प्रकार की मुद्रा के मुख्य दोष ये हैं।

(i) इसके प्रचलन से अत्याधिक मुद्रा प्रसार सम्भव होता है और मुद्रा स्फीति (Inflation) को प्रोत्साहन मिलता है जिससे न केवल आन्तरिक व्यवस्था बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी प्रभावित होता है।

(ii) इस मुद्रा के पीछे कोई कोष नहीं होता। प्रायः इस मुद्रा में जनता का विश्वास न होना अथवा बहुत कम होना स्वाभाविक है। फ्रांस की क्रान्ति के अवसर पर जारी किए गए ऐसाइनेटस (Assignats) तथा अमेरिकन ग ह युद्ध काल में जारी किए गए ग्रीनबैक्स (Greenbacks) प्रादिष्ट पत्र मुद्रा के उदाहरण हैं। प्रथम महायुद्ध में जारी किए गए जर्मन मार्क (German Mark) तथा दूसरे महायुद्ध में चलाई गई सम्पूर्ण पत्र मुद्रा एक प्रकार से प्रादिष्ट मुद्रा ही थी। अपरिवर्तनशील मुद्रा तथा प्रादिष्ट मुद्रा में मुख्य अन्तर यह है कि अपरिवर्तनशील मुद्रा के पीछे एक रक्षित कोष होता है परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा के पीछे केवल सरकार की आज्ञा होती है। यह मुद्रा एक संकटकालीन मुद्रा है जिसका निर्गमन सीमित मात्रा में किया जाता है।

(2) निकट मुद्रा (Near Money)—निकट मुद्रा की धारणा को समझने के लिए धन की प्रक ति को समझना आवश्यक है। धन दो प्रकार का होता है।

(1) वास्तविक धन (Real Wealth)—इसके अन्तर्गत भौतिक धन जैसे मकान, जमीन, मशीनें, धातुयें आदि को शामिल किया जाता है।

(2) वित्तीय धन (Financial Wealth)—यह भौतिक धन के दावे (Claim) को प्रकट करते हैं। इसके अन्तर्गत नोट, सिक्के, बैंकों की मांग जमा, समय जमा आदि शामिल होते हैं। इनमें नोटो, सिक्कों, बैंकों की मांग जमा को मुद्रा (Money) कहा जाता है। इनका नकदी के रूप में वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने के लिए तुरन्त प्रयोग किया जा सकता है। यह तरल (liquid) होते हैं। इसके विपरीत समय जमा (Time Deposit) ट्रेजरी बिल, विनिमय बिल, बान्डस, डिबेचर, शेयर, जीवन बीमा पॉलिसी आदि को निकट मुद्रा (Near Money) कहा जाता है। इन्हें मुद्रा में बिना समय तथा धन की हानि उठाये बड़ी सरलता के बदला जा सकता है। अतएव निकट मुद्रा उन वस्तुओं को कहते हैं जिनके द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं को तुरन्त नहीं खरीदा जा सकता परन्तु जिन्हें मुद्रा के रूप में बड़ी सरलता से परिवर्तित किया जा सकता है तथा जिनका मूल्य मुद्रा के रूप में ही प्रकट किया जाता है। (Near money referes to those assets which cannot be used immediately to buy goods and services, but which can be converted into money very easily and their value are known in terms of money) निकट मुद्रा के तरल सम्पत्ति (liquid Wealth) भी कहा जाता है। जो परिसम्पत्तियां (Assets) बहुत तरल होती है परन्तु मुद्रा नहीं होती, उसे निकट मुद्रा कहा जाता है। निकट मुद्रा में निम्नलिखित परिसम्पत्तियां शामिल की जाती हैः—

(1) समय जमा (Time or Fixed Deposits):—समय जमा बैंकों में जमा की गई वह रकम है जो एक निश्चित समय के लिए जमा की जाती है। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इस रकम को निश्चित समय से पहले भी निकलवाया जा सकता है।

(2) विनिमय पत्र (Bill of Exchange):—विनिमय पत्र वे साख पत्र हैं जिनमें उधार लेने वाले को एक निश्चित समय जैसे 90 दिन बाद रूपया ब्याज समेत वापिस करने का आदेश दिया जाता है। परन्तु यदि निश्चित समय से पहले धन की आवश्यकता होती है तो इनके प्रमाण पत्र पर बैंकों से रुपया प्राप्त किया जा सकता है। उसमें केवल ब्याज की हानि उठानी पड़ती है।

(3) ट्रेजरी बिल (Treasury Bills):—ट्रेजरी बिल वे साख पत्र हैं जो सरकार को अल्पकाल के लिए ऋण देने के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। इन्हें भी मुद्रा के रूप में सरलता से बदला जा सकता है।

(4) बाण्डस (Bonds):—बाण्डस वे ऋणपत्र हैं जो दीर्घकालीन ऋण के लिए दिये जाते हैं। इन पर सरकार तथा

फर्म दोनों ही रुपया उधार लेते हैं। फर्मों तथा उद्योगों के बाण्डस को डिबेन्चर (Debenture) कहा जाता है। इन्हें मुद्रा बाजार में बेचकर मुद्रा प्राप्त की जा सकती है।

(5) **शेयर (Shares):**—कम्पनियों के हिस्सों को शेयर कहा जाता है। इन शेयरों को आवश्यकता के समय शेयर बाजार में बेचा जा सकता है।

(6) **जीवन बीमा पॉलिसी तथा यूनिटस (Policies of life Insurance Companies and Units):**—जीवन बीमा पॉलिसी की साख पर आवश्यकता पड़ने पर बीमा कम्पनियों से रुपया उधार लिया जा सकता है। यूनिट ट्रस्ट द्वारा जारी किए गए यूनिटस (Units) को भी सरलता से मुद्रा में बदला जा सकता है।

संक्षेप में, निकट मुद्रा धन का वह भाग है जो मुद्रा के बहुत निकट है। इसमें मुद्रा की विशेषतायें पाई जाती हैं। परन्तु फिर भी यह मुद्रा नहीं है, लेकिन यह शीघ्रता से बिना किसी पूंजीगत हानि के मुद्रा में बदली जा सकती है। (Near Money is that part of wealth that comes very near to money. But it can be readily converted in money without capital loss.) इनका आर्थिक क्रियाओं पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

निकट मुद्रा तथा मुद्रा के अन्तर
(Difference between Near Money and Money)

निकट मुद्रा तथा मुद्रा दोनों ही वित्तीय परिसम्पत्तियां हैं। परन्तु इन दोनों में अन्तर पाया जाता है। इनके मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं:—

(1) मुद्रा में नोट, सिक्कों तथा बैंकों की मांग जमा को शामिल किया जाता है जबकि निकट मुद्रा के अन्तर्गत ट्रेजरी बिल, विनिमय बिल, बांड, सरकारी प्रतिभूतियों, बैंकों में निश्चित काल के लिए जमा राशि (Fixed Deposits), बीमा पॉलिसी आदि को शामिल किया जाता है।

(2) निकट मुद्रा में मुद्रा की तुलना में कम तरलता होती है।

(3) मुद्रा को कानूनी तथा सामान्य स्वीक ति होती है, निकट मुद्रा को इस प्रकार की स्वीक ति नहीं होती है।

(4) निकट मुद्रा के संचय से आय की प्राप्ति होती है, मुद्रा में आय की प्राप्ति नहीं होती है।

(5) मुद्रा का उपयोग प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय करने के लिए किया जा सकता है। परन्तु निकट मुद्रा को पहले मुद्रा में बदलना पड़ता है तब उसका उपयोग विनिमय के लिए किया जा सकता है।

(3) अच्छी मुद्रा पदार्थ के गुण
(Qualities of Goods Money Material)

प्रत्येक पदार्थ मुद्रा के लिए उपयुक्त नहीं होता। मुद्रा बनाने के लिए किसी पदार्थ में विशेष गुण होने चाहिए। ये विशेष गुण सोना, चांदी जैसी धातुओं में अधिकतर पाये जाते हैं। इसलिए इन्हें मुद्रा का सबसे उचित एवं उत्तम पदार्थ माना जाता है। जेवन्स (Jevons) ने मुद्रा पदार्थ के विभिन्न गुणों की निम्नलिखित विवेचना की है :—

(1) **पिघलाने का गुण (Melleability):**—मुद्रा पदार्थ में यह गुण होना चाहिए कि वह सरलता से पिघल सके तथा उसे ढाला जा सकें। सोने और चांदी में यह गुण विशेष रूप में पाया जाता है। क्राउथर (Crowther) का कहना है कि मुद्रा के बाद मनुष्य की सबसे बड़ी खोज सिक्कों की ढलाई है। हर बार मनुष्य को धातु के सिक्के तोलने न पड़े, वे चलन में आसानी से घिसे नहीं इसलिए उन पर निश्चित चिन्ह अंकित कर दिए जाते हैं तथा उनके किनारों की चूड़ीदार कर दिया जाता है।

(2) **स्वीक ति (Acceptability):**—मुद्रा पदार्थ ऐसी धातु होनी चाहिए कि जिसे लोग बिना हिचकिचाहट के स्वीकार कर लें। यह तभी होता है जब उस धातु में लोगों का विश्वास होता है। अन्य शब्दों में लोग किसी वस्तु को उसी दशा में स्वीकार करेंगें जबकि वे या तो यह जानते हैं कि अन्य व्यक्ति भी उसे बिना विशेष संकोच स्वीकार कर लेंगें अथवा उन्हें यह पता होता है कि उस वस्तु के अन्य लाभदायक उपयोग हो सकते हैं। इस द ष्टि से सोना और चांदी अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं।

(3) **टिकाऊपन (Durability):**—मुद्रा पदार्थ टिकाऊ होना चाहिए। क्योंकि मुद्रा को अनेक हाथों से गुजरना होता है और लोगों ने उनका संचय भी करना होता है, केवल टिकाऊ पदार्थ द्वारा ही यह सम्भव है। जेवन्स (Jevons) के अनुसार, ''जिस पदार्थ से मुद्रा बनी है, वह अल्कोहल की तरह से न उड़े, न जानवरों के मांस की तरह सड़कर दुर्गन्ध करे, न

लकड़ी की तरह घुने और न ही लोहें की तरह जंग खाए।'' सोना और चांदी के सिक्कों में यह गुण पाया जाता है। कागजी मुद्रा के लिए भी अच्छी प्रकार का कागज प्रयोग किया जाता है, जिससे कि वह शीघ्र फटे नहीं।

(4) **पहचान (Congnisibility)**—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिस की पहचान आसान हो। चूंकि मुद्रा का प्रयोग समाज के सभी लोगों द्वारा होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि साधारणतया सभी व्यक्ति चाहे वह शिक्षित हैं अथवा अशिक्षित ग्रामीण है अथवा शहरी, बिना प्रयत्न अथवा कुशलता के मुद्रा पदार्थ को पहचान सकें। सोना, चांदी के सिक्के ही ऐसे हैं जिन्हें आसानी से परखा जा सकता है, यह कारण है कि इन्हें मुद्रा के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

(5) **उपयोगिता (Utility)**—मुद्रा पदार्थ उपयोगी होना चाहिए। उसका वास्तविक अर्थात धात्विक मूल्य होना चाहिए। सोने और चाँदी में यह गुण भी पाया जाता है।

(6) **वहनीयता (Portability)**—चूंकि मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना पड़ता है इसलिए मुद्रा पदार्थ ऐसी धातु का होना चाहिए जिसका वजन कम और मूल्य अधिक (Large value in small bulk) हो। इसलिए सोना, चाँदी जैसी मूल्यवान धातुएं ही उपयुक्त पदार्थ हैं। वैसे तो मुद्रा का सबसे बड़ा गुण उसकी वहनीयता है, परन्तु उसका अपना मूल्य न होने के कारण, उसकी स्वीक ति का क्षेत्र सीमित है।

(7) **विभाजकता (Divisibility)**—मुद्रा पदार्थ ऐसी धातु का होना चाहिए कि उसे सफलता से छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटा जा सके। परन्तु इस प्रकार बांटने पर भी टुकड़ों का सम्मिलित मूल्य बड़े टुकड़े के मूल्य के बराबर होना चाहिए। सोना, चाँदी आदि धातुओं में यह गुण है। परन्तु हीरा अति मूल्यवान होने पर भी इस गुण से रहित है, क्योंकि टुकड़े कर देने पर उसकी कीमत बहुत घट जाती है।

(8) **नाशहीनता (Indestructibility)**—मुद्रा पदार्थ के रूप, रंग में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यदि उसकी अवस्था में परिवर्तन हो जाएगा। तो इस प्रकार की मुद्रा का संचय नहीं किया जा सकेगा।

(9) **स्थिरता (Stability)**—मुद्रा पदार्थ का मूल्य स्थिर रहना चाहिए या उसमें कम से कम परिवर्तन आना चाहिए। यदि उसके मूल्य में उतार-चढ़ाव होता रहेगा तो ऐसी मुद्रा के रूप में लोग न तो धन संचय करेंगे न ही स्थगित भुगतानों (Deferred Payment) को दे सकेंगे और न ही मुद्रा द्वारा वस्तुओं के मूल्य को माप सकेंगे। वह मीटर कपड़े को क्या मापेगा जिसकी अपनी लम्बाई घटती-बढ़ती रहे।

(10) **एकरूपता (Homogeneity)**—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके सभी टुकड़ों में एकरूपता हो, अर्थात समान मूल्यों के सब टुकड़ों का वजन एवं मूल्य एक समान होना चाहिए। ऐसा न हो कि रुपये का एक टुकड़ा बड़ा और दूसरा छोटा हो। सोने चांदी के बने सिक्कों में एकरूपता पाई जाती है। कागजी मुद्रा में भी यह होता है, परन्तु अन्न, पशु आदि पदार्थों में इस गुण का अभाव होता है।

उपरोक्त गुणों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सोना एवं चांदी में उपरोक्त सभी गुण, अन्य पदार्थों की अपेक्षा, अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। यही कारण है कि इनका प्रयोग लम्बे समय से मुद्रा के रूप में किया जा रहा है। तांबा एवं गिल्लट का प्रयोग भी मुद्रा के रूप में बहुत समय से किया जाता रहा है किन्तु इन धातुओं में मुद्रा पदार्थ के सभी गुण पर्याप्त मात्रा में नहीं पाए जाते, अतः इनका प्रयोग मुख्यतः सांकेतिक सिक्कों के रूप में ही होता आया है। उपयोगिता, टिकाऊपन आदि गुणों का अभाव होने पर भी पत्र मुद्रा ही सभी देशों में प्रचलित है। पत्र मुद्रा का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसकी मात्रा मांग के अनुसार नियन्त्रित की जा सकती है ताकि यह मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं को तो पूरा कर सके परन्तु अनावश्यक मुद्रा प्रसार द्वारा अनिश्चितता एवं अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न न करे। क्राउथर के अनुसार इसका सबसे बड़ा गुण उसकी सापेक्ष दुर्लभता (Relative Searcty) ही है।

अध्याय 9

मुद्रा का मूल्य—मुद्रा परिमाण सिद्धान्त

(Value of Money)

मुद्रा का मूल्य क्या है?

मुद्रा के मूल्य से सम्बन्धित सिद्धान्तों को मुद्रा का सिद्धान्त कहा जाता है। प्रो. क्राउथर के अनुसार, ''मुद्रा के मूल्य से अभिप्राय उसकी क्रय शक्ति से होता है।'' मुद्रा की एक इकाई के बदले में जितनी वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त होती हैं वह ही उसका मूल्य है। यदि एक रुपए के बदले में दो रसगुल्ले खरीदे जा सकते हैं, तो एक रुपये का मूल्य दो रसगुल्ले होगा। राबर्टसन के शब्दों में, ''मुद्रा के मूल्य से अभिप्रायः वस्तुओं की उस मात्रा से है जो सामान्य रूप से मुद्रा की एक इकाई से बदले में प्राप्त होती है।''

मुद्रा का मूल्य एवम् कीमत स्तर—

विभिन्न वस्तुओं का मूल्य मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है, परन्तु मुद्रा का मूल्य मुद्रा के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि मुद्रा का मूल्य वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में व्यक्त किया जाएगा तो मुद्रा के लाखों मूल्य हो जाएंगें। क्योंकि संसार में लाखों वस्तुएँ तथा सेवाएँ हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हम मुद्रा का सामूहिक मूल्य निकाल लेते हैं। इसके लिए हम कुछ ऐसी प्रतिनिधि वस्तुओं तथा सेवाओं को चुनते हैं जिन्हें हम नित्य प्रतिदिन के जीवन में उपयोग करते हैं। इनका औसत मूल्य निकाल लेते हैं, जिसे सामान्य मूल्य स्तर कहा जाता है। मुद्रा का मूल्य तथा वस्तुओं और सेवाओं के सामान्य कीमत स्तर में विपरीत सम्बन्ध होता है। जब सामान्य कीमत स्तर घटती है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। अतएव मुद्रा का मूल्य (Value of Money) = $\frac{1}{P}$ (यहाँ P = Price Level)

इस सम्बन्ध में प्रो. इरविन फिशर ने ठीक ही कहा है कि, ''मुद्रा की क्रय शक्ति कीमत स्तरों के ठीक विपरीत होती है। अतः इसका अध्ययन कीमत स्तर के अध्ययन के समान ही होता है।''

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन—

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन को कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तन के रूप में प्रकट किया जाता है। मुद्रा के मूल्य में 2 प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं:—

(i) मुद्रा के मूल्य में कमी या मुद्रा स्फीति—
मुद्रा के मूल्य में कमी से अभिप्राय है कीमत स्तर में होने वाली व द्धि या मुद्रा स्फीति। मुद्रा के मूल्य में कमी का मुख्य कारण है (i) मुद्रा की माँग में व द्धि (ii) मुद्रा की पूर्ति में कमी।

(ii) मुद्रा के मूल्य में व द्धि या कीमत विस्फीति—
मुद्रा के मूल्य में व द्धि से अभिप्रायः है कीमत स्तर में होने वाली कमी या मुद्रा विस्फीति। मुद्रा के मूल्यों में व द्धि का मुख्य कारण है। (1) मुद्रा की माँग में कमी तथा (2) मुद्रा की पूर्ति में व द्धि।

मुद्रा के मूल्य का निर्धारण—

मुद्रा के मूल्य से सम्बन्धित 2 मुख्य सिद्धान्त हैं:—

(1) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त—इस सिद्धान्त से संबंधित 2 मुख्य समीकरण हैं (1) नकद व्यवसाय समीकरण या फिशर का समीकरण (2) नकद शेष समीकरण या कैम्ब्रिज समीकरण या मुद्रा का नवपरम्परावादी परिमाण सिद्धान्त।

(2) केन्ज़ का परिमाण सिद्धान्त—हम पहले मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे। इसके पश्चात केन्ज़ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का वर्णन करेंगे।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

'मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त' मुद्रा के मूल्य के निर्धारण का सबसे पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् 1566 में फ्रेंच अर्थशास्त्री जीन बोडीन ने किया था। सन् 1588 में इटली के अर्थशास्त्री दावनजन्ती, अंग्रेजी अर्थशास्त्री जॉन लॉक ने सन् 1691 में तथा सन् 1752 में डेविस ह्यूम ने इस सिद्धान्त की अधिक स्पष्ट व्याख्या की थी। बीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त की विस्त त व्याख्या इरविंग फिशर, मार्शल पीगू, रोबर्टसन आदि अर्थशास्त्रियों ने की है।

''मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार एक अर्थव्यवस्था में सौदों की औसत कीमत चुनने में मुद्रा की मात्रा के आनुपातिक होती है।''

इस सिद्धान्त से ज्ञात होता है कि मुद्रा के परिमाण में व द्धि होने से कीमत स्तर बढ़ जाता है तथा मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। इसके विपरीत मुद्रा के परिमाण में कमी होने से कीमत स्तर कम हो जाता है तथा मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।

परिभाषाएँ—

(i) **जे. एस. मिल के अनुसार**, ''यदि अन्य बातें समान रहे तो मुद्रा का मूल्य उसकी मात्रा की विपरीत दिशा में परिवर्तित होता है। इसलिए मुद्रा के परिमाण में प्रत्येक व द्धि मुद्रा के मूल्य को उसी अनुपात में घटाती है तथा मुद्रा की मात्रा की प्रत्येक कमी उसे उसी अनुपात में बढ़ाती है।''

(ii) **प्रो. टॉजिंग के अनुसार**, ''अन्य बातों के समान रहने पर, मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर देने से कीमतें पहले से दुगुनी हो जाएगीं और मुद्रा का मूल्य आधा रह जाएगा। अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा की मात्रा आधी कर देने से कीमतें आधी रह जाएगीं और मुद्रा का मूल्य पहले से दुगुना हो जाएगा।''

(3) **आर. एस. सेयसे के अनुसार,** ''मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने से मुद्रा के मूल्य में विपरीत और कीमत स्तर में प्रत्यक्ष परिवर्तन होता है।''

(4) **फिशर के अनुसार**, ''मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार अन्य बातें स्थिर रहने पर जब चलन में मुद्रा का परिमाण बढ़ता है तो कीमत स्तर भी प्रत्यक्ष अनुपात में बढ़ता है तथा मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है।''

मुद्रा के परिमाण सिद्धांत के समीकरण—

मुद्रा की परिमाण सिद्धान्त के मुख्य 2 समीकरण हैं:—

(i) नकद व्यवसाय या फिशर का समीकरण

(ii) नकद शेष या कैम्ब्रिज समीकरण

(i) नकद व्यवसाय द ष्टिकोण या फिशर समीकरण—

प्रो. इरविंग ने 1911 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ''The Purchasing Power of Money'' में मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के नकद व्यवसाय द ष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। फिशर के अनुसार, ''मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का यह कथन सत्य है कि मुद्रा के चलन वेग तथा व्यापार की मात्रा के स्थिर रहने पर कीमत स्तर में प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन होते हैं।'' फिशर के अनुसार मुद्रा की मांग क्रय विक्रय करने के उद्देश्य से की जाती है। मुद्रा का मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्य की तरह मुद्रा की मांग तथा पूर्ति पर निर्भर करता है। अतएव मुद्रा का मूल्य या कीमत स्तर वहाँ निर्धारित होता है जहाँ मुद्रा की माँग तथा मुद्रा की पूर्ति एक-दूसरे के = हो जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की माँग केवल वर्तमान-सौदों की पूर्ति का भुगतान करने के लिए की जाती है। जब मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है तो लोगों को जितनी मुद्रा की वर्तमान सौदों के भुगतान के लिए जरूरत होती है उससे अधिक मुद्रा उनके पास एकत्रित हो जाती है। वे मुद्रा की मात्रा में होने वाले इस व द्धि को खर्च करने का प्रयत्न करते हैं। इसके फलस्वरूप वस्तुओं की माँग तो बढ़ जाती है परन्तु पूर्ण रोजगार तथा सौदों की स्थिर स. के कारण उत्पादन में व द्धि न होकर कीमतों में व द्धि हो जाती है। इसके फलस्वरूप मुद्रा की मांग बढ़ जाती है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक मुद्रा की मांग तथा पूर्ति दोबारा नहीं हो जाती। अतएव

मुद्रा की मांग = मुद्रा की पूर्ति

$$PT = MV + M^1 + V^1$$

$$Cr\ P = \frac{MV + M^1v^1}{T}$$

$$Cr \quad \frac{1}{P}\ (\text{Value of Money}) = \frac{T}{MV + M^1\ V^1}$$

— eneb M = प्रचलन में मुद्रा या करेन्सी की मात्रा

V = प्रचलन में मुद्रा या करेन्सी की चलन की गति

M^1 = बैंक मुद्रा या साख मुद्रा की मात्रा

V1 = साख मुद्रा की चलन गति

T = वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा जिसका मुद्रा के माध्यम से विनिमय होगा।

P = कीमत स्तर, $\frac{1}{P}$ = मुद्रा का मूल्य

उपरोक्त समीकरण से ज्ञात होता है कि मुद्रा का परिमाण $(M + M^1)$ तथा इसके प्रचलन वेग $(V + V^1)$ का गुणन $(MV + M^1V^1)$ एक निश्चित समयावधि में मुद्रा की कुल पूर्ति को प्रकट करता है तथा समय की निश्चित अवधि में वस्तुओं तथा सेवाओं के सौदों की मात्रा (T) तथा कीमत स्तर (P) का गुणन (PT) मुद्रा की मांग को प्रकट करता है।

फिशर के अनुसार एक निश्चित समयावधि में M^1 V^1 V तथा T स्थिर रहते हैं। इस स्थिति में कीमत स्तर तथा मुद्रा के परिमाण में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अर्थात् मुद्रा के परिमाण $(M + M^1)$ में व द्धि होने से कीमत स्तर में व द्धि होती है तथा मुद्रा के मूल्य $\frac{1}{P}$ में कमी होती है। इसको एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है :—

~~800 - 800~~
~~400 400~~

मान लो M = 100 रुपये V = 8

M = 200 रुपये V = 4

T = 400

$$P = \frac{MV + M^1v^1}{T} = \frac{100 \times 8 + 200 \times 4}{400} =$$

= 4 रुपये प्रति वस्तु

तथा मुद्रा का मूल्य $\frac{1}{P} = \frac{1}{4}$ वस्तु

यदि M दुगुनी हो जाए तो फिशर के अनुसार M^1 भी इसी अनुपात में बढ़ेगी अर्थात दुगुना हो जाएगा तो —

M = 200 रु. V = 8

M^1 = 400 रुपये V^1 = 4

T = 400

$$P = \frac{200 \times 8 + 400 \times 4}{400} = \frac{3200}{400} = 8 \text{ रुपये प्रति वस्तु}$$

मुद्रा का मूल्य $\frac{1}{P} = \frac{1}{8}$ वस्तु

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा के परिमाण के दुगुना होने पर कीमत भी दुगुनी अर्थात् 4 रु. प्रति वस्तु हो गई तथा मुद्रा का मूल्य पहले से आधा अर्थात 1/8 वस्तुएं रह गया।

फिशर के समीकरण को विनिमय समीकरण भी कहा जाता है। प्रो. फिशर के सिद्धान्त की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने के लिए मुद्रा की मांग तथा पूर्ति की धारणाओं का समझना आवश्यक है :—

1. **मुद्रा की पूर्ति**—मुद्रा की पूर्ति 2 तत्वों पर निर्भर करती है। (ii) मुद्रा की मात्रा तथा (iii) मुद्रा की चलन गति।

(i) **मुद्रा की मात्रा**—मुद्रा की मात्रा प्रचलन मुद्रा तथा बैंकों की साख मुद्रा का जोड़ है अतएव $M + M^1$ = (Notes + Coins) करेन्सी + (Credit Money) साख मुद्रा

अतएव मुद्रा की मात्रा से अभिप्रायः मुद्रा की उस कुल मात्रा से होता है जो वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय करने के लिए उपलब्ध होती है। मुद्रा की जो मात्रा चलन में नहीं होती उसे मुद्रा की मात्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता।

(ii) **मुद्रा की चलन गति**—''मुद्रा की चलन गति से अभिप्रायः यह है कि मुद्रा की एक इकाई एक वर्ष में कितनी बार विनिमय के माध्यम के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाती है।'' मुद्रा की चलन गति का अर्थ है कि मुद्रा की एक इकाई निश्चित समय में कितनी वस्तुएं तथा सेवाएं खरीदती हैं। मान लो, राम के पास एक रुपया है। वह श्याम से एक रुपये का पैन खरीद लेता है। श्याम, मोहन से एक रुपये की मिठाई खरीद लेता है। मोहन 1 रु. की सोहन से आइसक्रीम खरीद लेता है। इस प्रकार समय की निश्चित अवधि में एक रु. के नोट ने 4 बार विनिमय के सौदों को निपटाया है। अर्थात 1 रु के नोट ने 4 रु. का काम किया है। इसलिए एक रुपये की चलन गति 4 कहलाएगी। एक देश में मुद्रा की चलन गति निकालने के लिए एक वर्ष की कुल राष्ट्रीय आय को मुद्रा की प्रचलन मात्रा से भाग दिया जाता है:—

$$\text{चलन गति } (V) = \frac{\text{कुल राष्ट्रीय उत्पाद}}{\text{प्रचलन में मुद्रा}}$$

अतएव $\boxed{\text{मुद्रा की कुल पूर्ति} = MV + M^1V^1}$

मुद्रा की माँग—

मुद्रा की मांग इसलिए की जाती है क्योंकि मुद्रा के माध्यम द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं की प्राप्ति की जा सकती है। अतः किसी समय विशेष में मुद्रा की मांग समाज में किए जाने वाले विनिमय की मात्रा पर निर्भर करती है। विनिमय की मात्रा 2 बातों पर निर्भर करती है :—

(i) **व्यापारिक सौदे**—व्यापारिक सौदों से अभिप्रायः एक निश्चित समय में निश्चित क्षेत्र में बिक्री के लिए आने वाली सब वस्तुओं, सेवाओं तथा प्रतिभूतियों की मात्रा से है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु जिसकी बिक्री की जाती है शामिल की जाती है। एक वस्तु की निश्चित समय में जितनी बार बिक्री की जाएगी, उसे उतनी ही बार व्यापारिक सौदों में शामिल किया जाएगा।

(ii) **कीमत स्तर**—फिशर के समीकरण में P से अभिप्रायः एक निश्चित समय में T की प्रत्येक इकाई की औसत कीमत से है। विस्त त अर्थों में इसे सामन्य कीमत स्तर कहा जाता है। अतएव

मुद्रा की मांग PT

मुद्रा परिमाप सिद्धान्त की मान्यताएँ—

(i) **करेन्सी तथा बैंक मुद्रा की चलन गति में स्थिरता**—मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की यह मान्यता है कि करेन्सी तथा बैंक मुद्रा की चलन गति स्थिर रहती है। मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तन का V तथा V^1 पर प्रभाव नहीं पड़ता।

(ii) **पूर्ण रोजगार**—अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाती है।

(iii) **व्यापार की स्थिर मात्रा**—पूर्ण रोजगार की स्थिति के कारण फिशर की यह मान्यता भी है कि एक निश्चित समय में व्यापार की मात्रा अर्थात् वस्तुओं, सेवाओं तथा प्रतिभूतियों की सं० स्थिर रहती है।

(iv) **बैंक मुद्रा तथा करेन्सी का अनुपात स्थिर रहना चाहिए**—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि बैंक मुद्रा की मात्रा में प्रत्येक परिवर्तन करेन्सी की मात्रा के अनुपात में ही होते हैं। जब करेंसी की मात्रा बढ़ती है तो बैंक मुद्रा में विस्तार होता है। इसके विपरीत जब करेन्सी का संकुचन होता है तो बैंक मुद्रा का उसी अनुपात में संकुचन होता है। क्योंकि लोग बैंकों से जमा वापिस लेने लगते हैं। फलस्वरूप बैंक मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। इस सिद्धान्त की यह भी मान्यता है कि मुद्रा की पूर्ति सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित की जाती है।

(ii) **मुद्रा की पूर्ति सक्रिय है**—फिशर ने मुद्रा की मात्रा में केवल उसी मुद्रा को शामिल किया है जिसका लेन-देन में प्रयोग होता है अर्थात् जो सक्रिय होती है जमा या संग्रहित को मुद्रा की मात्रा में शामिल नहीं किया गया है।

(iv) **कीमत स्तर निष्क्रिय तत्व है**—फिशर की यह भी मान्यता थी कि कीमत स्तर एक निष्क्रिय तत्व है। यह स्वयं समीकरण के दूसरे तत्वों द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु दूसरे तत्वों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(vii) **दीर्घकाल**—फिशर का सिद्धान्त दीर्घकाल की मान्यता पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार दीर्घकाल में मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर में उचित समन्वय स्थापित हो जाता है।

फिशर के समीकरण की व्याख्या—

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर फिशर के समीकरण से ज्ञात होता है कि कीमत स्तर पर मुद्रा की मात्रा के साथ प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक सम्बन्ध है तथा मुद्रा के मूल्य तथा मुद्रा की मात्रा में आनुपातिक किन्तु विपरीत सम्बन्ध है।

आलोचनाएँ—(i) एक साधारण सत्य या समानार्थक धारणा—केन्ज़ के अनुसार, ''मुद्रा परिणाम सिद्धान्त एक स्वयं सिद्ध सत्य है जो तमाम परिस्थितियों में लागू होता है लेकिन इस सिद्धान्त का महत्व कुछ भी नहीं है।'' यह कोई ऐसी बात नहीं बताता जिसे लोग पहले से नहीं जानते हो। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि क्रेताओं के कुछ मौद्रिक व्यय की मात्रा विक्रेताओं की कुल मौद्रिक आय के बराबर है। दूसरे शब्दों में, जितनी वस्तुएँ तथा सेवाएँ बाजार में बेची गई उतनी ही खरीदी गई। यह एक ऐसा सत्य है कि जिसे अनपढ़ आदमी भी जानता है। इसके द्वारा यह भी ज्ञात नहीं होता कि मुद्रा की पूर्ति या परिमाण में परिवर्तन क्यों होते हैं? यह तो केवल एक समानता का बोध कराता है?

(ii) **अवास्तविक धारणाएँ**—फिशर का सिद्धान्त इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि कीमत स्तर पर केवल मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है। वास्तविक जीवन में ये तत्व स्थिर नहीं रहते तथा इनमें होने वाले परिवर्तन का कीमत स्तर पर प्रभाव पड़ता है।

(iii) **चर स्वतन्त्र नहीं है**—प्रो. फिशर की यह मान्यता पर भी गलत है कि परिणाम के विभिन्न चर एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इनका एक दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु वास्तविक जीवन में ये चर एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं है।

(iv) **एक पक्षीय या पूर्ति को अधिक महत्व**—इस सिद्धान्त में मुद्रा के केवल विनिमय के मध्यम कार्य को महत्व दिया गया है तथा मूल्य के संचय कार्य की अवहेलना की गई है। अतएव यह एकपक्षीय सिद्धान्त है।

(v) **कीमत स्तर एक निष्क्रिय तत्व नहीं है**—इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी गलत है कि कीमत स्तर एक निष्क्रिय तत्व है। वास्तव में कीमत स्तर एक सक्रिय तत्व है। कीमत में होने वाले परिवर्तनों के कारण व्यापार पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि कीमत बढ़ने पर लाभ की मात्रा में व द्धि होती है। इसके फलस्वरूप व्यापार में व द्धि होती है तथा मुद्रा की मात्रा में व द्धि होती है। इसलिए कीमतों में होने वाली व द्धि के कारण मुद्रा की मात्रा में व द्धि होती है तथा कीमतें कम होने के कारण मुद्रा की मात्रा कम होती है।

(vi) **केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति में लागू होता है**—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति में लागू होता है। परन्तु केंज़ के अनुसार अधिकतर अर्थव्यवस्थाओं में अपूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाती है। अपूर्ण रोजगार की स्थिति में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने पर उत्पादन में व द्धि होगी तथा कीमतें नहीं बढ़ेगी। अतएव यह सिद्धान्त अपूर्ण रोजगार की स्थिति में लागू नहीं होता।

(vii) **व्यापार चक्रों की व्याख्या करने में असफल**—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त व्यापक चक्रों की मन्दी तथा तेजी की व्याख्या करने में असफल रहा है। इस सिद्धान्त से यह ज्ञात नहीं हो पाता कि मन्दी के दिनों में मुद्रा की मात्रा में बिना कोई व द्धि किए हुए भी कीमतों में तेजी से व द्धि क्यों हो जाती है। परन्तु यह सिद्धान्त तो चलन गति को स्थिर मान लेता है जोकि वास्तव में स्थिर नहीं होती। मुद्रा की चलन गति में परिवर्तन आता रहता है।

(viii) **ब्याज के प्रभाव की अवहेलना**—यह सिद्धान्त कीमतों पर ब्याज की दर के प्रभाव की अवहेलना करता है। वास्तव में मुद्रा में होने वाला परिवर्तन ब्याज की दर को प्रभावित करता है तथा ब्याज की दर में होने वाला परिवर्तन कीमत स्तर में परिवर्तन उत्पन्न करता है। यह सिद्धान्त ब्याज की दर की अवहेलना करता है।

(ix) **चलनगति को मापना कठिन है**—फिशर द्वारा दिए गए समीकरण में मुद्रा की चलनगति को मापना अत्यन्त कठिन है। मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित समय में कितने हाथ बदलती है यह पता लगाना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त मुद्रा की कुल मात्रा जानने के लिए निजी कोषों में संचित मुद्रा का जानना आवश्यक है। भारत जैसे देश में काला धन भी चलन में होता है। अल्पकाल में तो चलनगति को स्थिर माना जा सकता है, परन्तु दीर्घकाल में इसमें परिवर्तन आता रहता है।

(x) **अमौद्रिक तत्त्वों के प्रभावों की अवहेलना**—इस सिद्धान्त ने कीमत स्तर को प्रभावित करने वाले अमौद्रिक तत्वों की अवहेलना की है। कीमत स्तर पर मुद्रा की मात्रा का ही नहीं बल्कि कई अन्य अमौद्रिक तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। परन्तु इस सिद्धान्त में इन तत्वों का अध्ययन नहीं किया गया।

(xi) **केवल नकद सौदों का मापक**—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय शक्ति का माप करने के स्थान पर केवल नकद व्यवसाय का माप करता है। मुद्रा का सम्बन्ध सामान्य कीमत स्तर से होता है तथा सामान्य कीमत स्तर सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं पर आधारित होता है। सामान्य कीमत स्तर में उपभोग तथा उत्पादकता दोनों प्रकार की वस्तुएं सम्मिलित होती हैं। अतः इस द ष्टिकोण से मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अत्यन्त असन्तोषजनक है।

नकद शेष समीकरण या कैम्ब्रिज समीकरण—

नकद शेष समीकरण का प्रतिपादन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्रियों जैसे मार्शल, पीगू, रोबर्टसन ने किया है। इसलिए इसे कैम्ब्रिज समीकरण भी कहा जाता है। नकद शेष समीकरण के अनुसार, मुद्रा का मूल्य मुद्रा की पूर्ति तथा मांग द्वारा निर्धारित होता है। समय के एक निश्चित बिंदु पर मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहती है। इसलिए मुद्रा की मांग में होने वाले परिवर्तनों का मूल्य स्तर पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यह सिद्धान्त मुद्रा की पूर्ति की तुलना में मुद्रा की मांग को अधिक महत्व देता है। इसलिए इस सिद्धान्त को मुद्रा की मांग का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस समीकरण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए मुद्रा की मांग तथा पूर्ति सम्बन्धी धारणाओं का अध्ययन आवश्यक है।

(i) **मुद्रा की पूर्तिक**—नकद शेष समीकरण के अनुसार, ''मुद्रा की पूर्ति एक निश्चित समय बिंदु पर जनता के पास उपलब्ध नोटों, सिक्कों तथा बैंकों में मांग जमा का जोड़ है।''

मुद्रा की पूर्ति—नोट + सिक्के + मांग जमा

(ii) **मुद्रा की मांग**—नकद शेष समीकरण के अनुसार मुद्रा की मांग मुद्रा को नकद शेष के रूप में रखने के लिए की जाती है। जबकि फिशर के अनुसार मुद्रा की मांग विनिमय के माध्यम के रूप में की जाती है। नकद शेष समीकरण के अनुसार मुद्रा केवल विनिमय माध्यम का ही कार्य नहीं करती बल्कि मूल्य के संचय का कार्य भी करती है। अतएव लोग नकद कोषों के रूप में मूल्य का संचय करते हैं जिसका प्रयोग वे अपनी सुविधानुसार विनिमय के माध्यम के रूप में कर सकते हैं। एक अर्थव्यवस्था में सभी लोग अपनी वास्तविक आय का जितना भाग नकद रूप में रखना चाहते हैं उसे ही मुद्रा की मांग कहा जाता है।

लोग मुख्य रूप से दो उद्देश्यों के लिए मुद्रा अपने पास नकदी के रूप में रखना चाहते हैं। ये उद्देश्य हैं—(1) लेनदेन उद्देश्य (2) सावधानी उद्देश्य

मुद्रा की नकद शेष की मांग मुख्य रूप से दिन प्रतिदिन की लेन-देन के लिए तथा भविष्य की अनिश्चितताओं को दूर करने के लिए की जाती है। लोग अपनी वास्तविक आय को नकद कोषों के रूप में इसलिए रखना चाहते हैं क्योंकि मुद्रा में क्रय शक्ति होती है।

लोग मुद्रा को नकद रूप में इसलिए भी रखना चाहते हैं क्योंकि आय तथा व्यय की समय अवधि में अन्तर होता है। जब आय की प्राप्ति नहीं होती तो नकद कोषों में से ही लोग व्यय करते हैं। इस समीकरण के अनुसार यदि मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहती है तो मुद्रा की मांग या नकद कोषों में व द्धि होने से कीमत कम होगी क्योंकि लोग अपनी आय के अधिक भाग को मुद्रा के रूप में रखना चाहेगें तथा वस्तुओं और सेवाओं को कम खरीदेंगे।

इसके विपरीत यदि मुद्रा की मांग कम होती है तो वस्तुओं और सेवाओं की मांग बढ़ जाएगी तथा कीमत स्तर बढ़ जाएगा। अतएव मुद्रा की मांग या नकद कोषों तथा कीमत स्तर में विपरीत सम्बन्ध होता है। नकद शेष विचारधारा से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण समीकरण निम्नलिखित हैं—

विभिन्न नकद शेष समीकरण—विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित निम्नलिखित नकद शेष समीकरणों का प्रतिपादन किया है :—

(i) **मार्शल का समीकरण**—डॉ. मार्शल से मुद्रा के मूल्य से सम्बन्धित निम्नलिखित समीकरण दिया है।

$$M = KY + K_1A$$

M = मुद्रा की मात्रा, Y = मौद्रिक आय

K = आय का वह भाग जो लोग नकद रूप में रखना चाहते हैं।

A = सम्पत्ति

K_1 सम्पत्ति का वह भाग जो नकद रूप में रखा जाता है।

मार्शल के अनुयायियों ने सम्पत्ति के भाग को महत्वहीन मानकर छोड़ दिया है। उन्होंने निम्नलिखित समीकरण दिया है :—

$$M = KY$$

चूंकि मौद्रिक आय (Y), कुल उत्पादन (O) तथा कीमत स्तर (P) का गुणनफल है, इसलिए $Y = P \times O$

$$\boxed{M = K \times P \times O \text{ or } P = \frac{M}{KO}}$$

मान तो M = 100 करोड़ रुपये, 0 = 5000 ईकाइयां

$$K = \frac{1}{5} \text{ तो } P = \frac{M}{KO} = \frac{100}{\frac{1}{5} \times 500} = \frac{100}{100} = 1$$

रुपया प्रति इकाई यदि लोग नकद कोष अर्थात् K को से कम करके $\frac{1}{10}$ कर दें तो कीमत स्तर बढ़कर

$\frac{100}{\frac{1}{10} \times 500} = 2$ रु. प्रति इकाई हो जाएगा।

$P = \frac{KR}{M}[(c + h(1-c)]$ $P = \frac{1}{5}$

पीगू का समीकरण —

प्रो. पीगू ने नकद कोष समीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है।

$$P = P = \frac{KR}{M}$$

यहां M = मुद्रा की कुल मात्रा

K = कुल वास्तविक आय

K = वास्तविक आय का वह भाग जो नकद मुद्रा के रूप में रखा जाता है।

P = मुद्रा का मूल्य

नया समीकरण इस प्रकार है :—

$$P = P = \frac{KR}{M}[c + h(1-c)]$$

या

$$M = \frac{KR}{P}[c + h(1-c)]$$

C = जनता के पास नकदी 1 - C = बैंक जमा h = बैंक जमा का वह भाग जो बैंक अपने पास नकदी के रूप में रखते हैं।

मान लो $K = \frac{1}{4}$, $c = \frac{1}{2}, h = \frac{1}{10}$, $R = 2000$ टन चावल, $M = 500$ रु., (मालूम करना है)

$$\Rightarrow \frac{\frac{1}{4}\times 2000}{550}\left[\frac{1}{2}+\frac{1}{10}+\frac{1}{2}\right]$$

$$\Rightarrow \frac{500}{550}\left[\frac{1}{2}+\frac{1}{10}\times\frac{1}{2}\right] \Rightarrow \frac{500}{550}\left[\frac{1}{2}+\frac{1}{20}\right]$$

$$\Rightarrow \frac{10}{11}\times\frac{11}{20}=\frac{1}{2}$$ क्विंटल चावल

मुद्रा की एक इकाई का मूल्य (P) = $\frac{1}{2}$ क्विंटल चावल

$$M=\frac{\frac{1}{4}\times 2000}{\frac{1}{2}}\left[\frac{1}{2}+\frac{1}{10}+\frac{1}{2}\right]$$

$$\Rightarrow \frac{500}{\frac{1}{2}}\left[\frac{1}{2}+\frac{1}{10}+\frac{1}{2}\right] \Rightarrow 500\times 2\left[\frac{1}{2}+\frac{1}{20}\right]$$

$$\Rightarrow 1000\times\frac{11}{20}=550$$ रुपये

पीगू के अनुसार K, R, C, & h को स्थिर मान लिया जाए तो मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तन के कारण मुद्रा के मूल्य में आनुपातिक परिवर्तन होगा।

रोबर्टसन का समीकरण—प्रो. रोबर्टसन ने निम्न समीकरण का प्रतिपादन किया है :—

$M = RKT$ या

यहां पर P = कीमत स्तर, M = मुद्रा की मात्रा T= एक वर्ष में खरीदी हुई वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा, K = T का वह भाग जो लोग अपने पास नकदी के रूप में रखना चाहते हैं। रोबर्टसन का समीकरण पीगू के समीकरण से अच्छा समझा जाता है, क्योंकि यह सरल है।

केन्ज़ का समीकरण—केन्ज़ ने अपने समीकरण में उपभोग वस्तुओं पर अधिक बल दिया है। उनका मत था कि लोग उपभोग वस्तुएं खरीदने के लिए नकद राशि रखना चाहते हैं। केन्ज़ का समीकरण इस प्रकार है :—

$n = p\left(k + rk^1\right)$ या

n = मुद्रा की कुल मात्रा, P = कीमत स्तर k = उपभोग वस्तुओं का वह भाग जो लोग मुद्रा के रूप में रखना चाहते है।

r = बैंक में नकद कोष तथा जमाराशि का अनुपात

K^1 = उपभोग वस्तुओं की वह मात्रा जोकि जनता बैंक जमा के रूप में रखना चाहती है।

आलोचनाएँ—

(i) **अवास्तविक मान्यताएँ**—इस सिद्धान्त में कुछ तत्वों जैसे— K और T को स्थिर माना गया है। परन्तु वास्तविक जीवन में K तथा T या U या R स्थिर नहीं रहते हैं। इसमें परिवर्तन होता रहता है।

(ii) **सट्टा उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग की अवहेलना**—इस सिद्धान्त में मुद्रा की मांग की पूर्ण व्याख्या नहीं की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मुद्रा की मांग केवल लेन-देन तथा सावधानी उद्देश्यों के लिए की जाती है। परन्तु वास्तव में इस सिद्धान्त में सट्टा उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग की अवहेलना की गई है।

(iii) **अपूर्ण सिद्धान्त**—नकद शेष सिद्धान्त एक अपूर्ण सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त नकद कोषों को प्रभावित करने वाले एक तत्व अर्थात् वर्तमान आय को महत्व देता है। परन्तु नकद कोष कई अन्य तत्वों जैसे—कीमत स्तर, मौद्रिक आदतें, व्यावसायिक ढांचे आदि पर निर्भर करता है। इस सिद्धान्त में इन तत्वों की अवहेलना की गई है।

(iv) **ब्याज की दर के प्रभाव की अवहेलना**—नकद कोष सिद्धान्त की यह मान्यता गलत है कि मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों को कोई महत्व नहीं दिया गया है। जबकि वास्तव में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने के कारण ब्याज की दर में परिवर्तन होने के कारण ब्याज की दर में परिवर्तन होता है। ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तन का निवेश पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु इस सिद्धान्त में ब्याज के कीमतों पर पड़ने वाले प्रभाव को कोई महत्व नहीं दिया गया है।

(v) **वास्तविक तत्वों के प्रभाव की अवहेलना**—इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन मुद्रा की मांग में होने वाले परिवर्तनों के कारण ही होता है। परन्तु मुद्रा के मूल्य को कई अन्य वास्तविक तत्व जैसे—बचत, निवेश, आय आदि भी प्रभावित करते हैं। इस सिद्धान्त में वास्तविक तत्वों की अवहेलना की गई है।

(vi) **व्यापार चक्रों की व्याख्या करने में समर्थ**—यह सिद्धान्त व्यापार चक्रों की व्याख्या करने में असमर्थ रहा है। इस सिद्धान्त से यह ज्ञात नहीं होता कि अर्थव्यवस्था में मन्दी या तेजी की स्थिति क्यों उत्पन्न होती है। यह सिद्धान्त दीर्घकालीन परिवर्तनों की व्याख्या तो करता है परन्तु अल्पकालीन परिवर्तनों की व्याख्या नहीं कर सकता।

(vii) **मूल्य सिद्धान्त तथा मुद्रा सिद्धान्त के समन्वय का अभाव**—इस समीकरण ने मूल्य सिद्धान्त तथा मुद्रा सिद्धान्त को एक दूसरे से बिल्कुल अलग कर दिया है। परन्तु वास्तव में इन दोनों में परस्पर निर्भरता पाई जाती है। इसका प्रभाव वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति पर भी पड़ता है। इसके फलस्वरूप सापेक्ष कीमतों पर भी प्रभाव पड़ता है। अतएव वासतविक शेष कोष द्वारा कीमत सिद्धान्त तथा मुद्रा सिद्धान्त में समन्वय स्थापित किया जाता है। परन्तु इस सिद्धान्त में इस समन्वय की अवहेलना की गई है।

संक्षेप में, नकद कोष समीकरण के उपरोक्त दोष होते हुए भी, यह सिद्धान्त कीमत स्तर के निर्धारण की, फिशर के समीकरण से अधिक विस्त त और वैज्ञानिक व्याख्या है।

नकद व्यवसाय तथा नकद शेष समीकरणों की तुलना—

1. **समानताएँ**—दोनों समीकरण निम्न द ष्टि से समान हैं।

(i) **समान निष्कर्ष**—दोनों समीकरण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कीमत स्तर में उसी अनुपात में परिवर्तन होते हैं जिस अनुपात में मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होते हैं।

(ii) **समान समीकरण**—फिशर के समीकरण $P = \frac{MV}{T}$ तथा रोबर्टसन के समीकरण $P = \frac{M}{KT}$ में लगभग समानार्थक चिन्हों का प्रयोग किया गया है। इनमें केवल दो चिन्ह V तथा K विभिन्न हैं। ये चिन्ह एक दूसरे के विपरीत हैं अर्थात् $V = \frac{1}{K}$ or $K = \frac{1}{L}$ साधारण शब्दों में यदि लोग नकद मुद्रा K अधिक रखना पसन्द करेंगे तो मुद्रा का चलन वेग कम हो जाएगा। अतः हम कह सकते हैं कि K

असमानताएँ—

(i) **मुद्रा के कार्य**—फिशर के सिद्धान्त में मुद्रा को मुख्यतः विनिमय का माध्यम ही माना गया है, जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में धन संचय के कार्य पर भी बल दिया गया है।

(ii) **संचालन वेग**—फिशर के सिद्धान्त में मुद्रा के संचालन वेग को अधिक महत्व दिया गया है। जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में कुल मुद्रा के उस भाग पर जो नकदी के रूप में रखा जाता है, अधिक बल दिया गया है।

(iii) **कीमत स्तर**—फिशर ने अपने सिद्धान्त में सभी वस्तुओं और सेवाओं के सामान्य कीमत स्तर पर संचार किया है। जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में केवल उन अन्तिम या उपयोग वस्तुओं की कीमतों का विचार किया गया है जो बाजार में बिकने के लिए आती हैं।

(iv) **मुद्रा की मांग**—फिशर के अनुसार मुद्रा की मांग व्यापार के लिए अर्थात् तुरन्त व्यय करने के लिए की जाती है। जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त के अनुसार यह मुद्रा के नकद रखने के लिए की जाती है।

(v) **प्रक ति**—फिशर का सिद्धान्त मुख्यतः यान्त्रिक है क्योंकि इसके अन्तर्गत मुद्रा की चलन गति का अध्ययन किया जाता है जोकि एक यान्त्रिक क्रिया है। जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है। इसमें मनुष्य के स्वभाव का अध्ययन किया जाता है।

(vi) **मांग अथवा पूर्ति पर बल**—कीमत स्तर के निर्धारण में फिशर ने मुद्रा की गति पर अधिक बल दिया है। जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में मुद्रा की मांग को अधिक महत्व दिया गया है।

(vii) **व्यवसाय की मात्रा**—फिशर के सिद्धान्त में व्यवसाय की मात्रा सभी प्रकार की मध्यवर्ती तथा अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय विक्रय पर निर्भर करती है। जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में यह केवल अन्तिम या उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय पर निर्भर करती है।

कैम्ब्रिज द ष्टिकोण की श्रेष्ठता—कैम्ब्रिज समीकरण की श्रेष्ठता निम्नलिखित तत्वों से स्पष्ट हो जाती है:—

(i) **अधिक वास्तविक**—फिशर का सिद्धान्त चलन की गति पर आधारित है। इसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरण उन उद्देश्यों पर आधारित है जो मुद्रा की मांग को निर्धारित करते हैं। ये उद्देश्य मनुष्य के व्यवहार तथा सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इसलिए यह समीकरण अधिक वास्तविक है।

(ii) **कारण-परिणाम सम्बन्ध**—फिशर का सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य कीमत स्तर के कारण परिणाम सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं करता। परन्तु कैम्ब्रिज सिद्धान्त में यह स्पष्ट किया जाता है कि मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर भी मुद्रा की मांग में परिवर्तन कीमतों में परिवर्तन का कारण बन जाता है। यह एक पक्षीय सिद्धान्त नहीं है।

(iii) **तरलता अधिमान सिद्धान्त का आधार**—कैम्ब्रिज सिद्धान्त के आधार पर ही तरलता अधिमान सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। जो आय तथा रोजगार के निर्धारण तथा आर्थिक संकटों को नियन्त्रित करने की सीमाओं को स्पष्ट करने में सहायक हैं।

(iv) **सरल गणना**—कैम्ब्रिज समीकरण में K तथा R की गणना, फिशर के समीकरण में V तथा T की तुलना में सरल है। क्योंकि यह बताना अत्यन्त सरल है कि लोग नकदी के रूप में कितनी मुद्रा अपने पास रखते हैं।

(v) **व्यापक चक्रों की व्याख्या**—फिशर का समीकरण व्यापक चक्रों की व्याख्या नहीं करता जबकि कैम्ब्रिज समीकरण नकद रूप में मुद्रा रखने की प्रव त्ति पर आधारित है जिसका प्रभाव वस्तुओं की कीमतों में होने वाले चक्रीय परिवर्तनों पर पड़ता है। K में परिवर्तन होने के कारण कीमतों में चक्रीय परिवर्तन होते हैं।

(vi) **मुद्रा की मांग का विस्त त वर्णन**—फिशर के समीकरण की तुलना में कैम्ब्रिज समीकरण का मुद्रा की मांग का विचार अधिक विस्त त तथा उपयुक्त है। वास्तव में मुद्रा की मांग विनिमय के माध्यम तथा मूल्य संचय दोनों रूपों में की जाती है।

(vii) **अल्पकालीन**—कैम्ब्रिज समीकरण अल्पकालीन तत्वों का अध्ययन करता है इसलिए यह अधिक उपयुक्त है। इसके विपरीत फिशर का समीकरण दीर्घकालीन तत्वों का अध्ययन करता है परन्तु दीर्घकालीन का हमारे जीवन में अधिक उपयोग नहीं है।

(viii) **रोजगार की सभी स्थितियों में लागू**—फिशर का समीकरण केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति में लागू होता है। क्योंकि तभी T स्थिर रहता है। इसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरण में ऐसी कोई मान्यता नहीं है इसलिए यह रोजगार की सभी परिस्थितियों में लागू होता है। नकद शेष विचारधारा, पूर्ण रोजगार तथा बेरोजगार दोनों ही स्थितियों के लिए समान रूप से उपयोगी है।

(ix) **व्यष्टिगत तत्वों पर आधारित**—कैम्ब्रिज समीकरण की श्रेष्ठता का एक और कारण यह भी है कि यह विचारधारा

व्यष्टिगत तत्वों अर्थात् व्यक्तिगत निर्णयों तथा व्यवहारों पर आधारित है। इसके विपरीत फिशर के समीकरण की आलोचना इसलिए की गई है कि यह विचारधारा केवल समष्टिगत तत्वों के बीच ही सम्बन्ध स्थापित करती है।

परिमाण सिद्धान्त का महत्व–

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की कई आलोचनाओं के बावजूद भी यह सिद्धान्त मूल्य निर्धारण का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं:–

(i) **कीमतों के परिवर्तनों के मुख्य कारण की व्याख्या**–कीमत स्तर के परिवर्तनों के कई कारण हैं, परन्तु इनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण मुद्रा की मात्रा है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि मुद्रा की पूर्ति में व द्धि होने के कारण मूल्य में व द्धि हो जाती है। यह तथ्य ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा प्रमाणित होता है जैसे–(i) स्वीडन के खोजकर्ताओं ने जब अमेरिका में चांदी की खाने खोजीं और इसका आयात यूरोप के कई देशों में किया गया, तब इससे चांदी के सिक्कों की मात्रा बढ़ी और कीमत स्तर भी ऊंचा हो गया। (ii) सन् 1820 तथा 1840 के मध्य में इंग्लैंड में उत्पादन की मात्रा तो बढ़ गई पर मुद्रा की मात्रा न बढ़ सकी, इससे कीमतें गिर गईं। (iii) सन् 1844 के आसपास आस्ट्रेलिया से सोने का निर्यात स्वर्णमान देशों को अधिक मात्रा में हुआ, इससे वहां मुद्रा की मात्रा बढ़ने के कारण कीमतें बहुत बढ़ गईं। (iv) प्रथम विश्वयुद्ध के तथा युद्ध के बाद में जर्मनी में पत्र मुद्रा के अधिक प्रसार के कारण कीमतें बहुत अधिक बढ़ गईं। (v) दूसरे महायुद्ध में भी पत्र मुद्रा के अधिक प्रसार के कारण कीमतों में काफी व द्धि हुई।

(ii) **कीमतों पर नियन्त्रण**–इस सिद्धान्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुद्रा की मात्रा को बढ़ाकर कीमतों को बढ़ाया जा सकता है तथा मुद्रा की मात्रा कम करके कीमतों को घटाने का प्रयत्न किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा द्वारा कीमतों पर नियन्त्रण करना काफी सम्भव हो जाता है।

केन्ज़ का मुद्रा सिद्धान्त–

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड जे. एम. केन्ज़ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों 'A Treatise on Money' तथा 'The General Theory of Employment, Interest and money' में मुद्रा तथा कीमतों के सम्बन्ध में एक वास्तविक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त को ''सुधरा हुआ मुद्रा परिमाण सिद्धान्त'' कहा जाता है। इस सिद्धान्त ने मुद्रा, उत्पादन तथा कीमतों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तन का कीमत स्तर पर प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत केन्ज़ के अनुसार मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों का कीमत स्तर पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने के कारण ब्याज की दर, निवेश, उत्पादन लागत आदि पर प्रभाव पड़ता है। इसमें होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप कीमत स्तर में परिवर्तन होता है। पूर्ण रोजगार की स्थिति से पहले मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर उत्पादन उसी अनुपात में बढ़ता है। परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात कीमत स्तर उसी अनुपात में बढ़ता है। **केन्ज़** के अनुसार, ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप बचत तथा निवेश में परिवर्तन होता है। इसके कारण उत्पादन की लागत तथा कीमत स्तर में परिवर्तन होता है। **केन्ज़** के अनुसार मुद्रा की पूर्ति में व द्धि होने पर लोगों के नकद शेष या नकदी बढ़ जाती है। वे इस नकदी का तीन प्रकार से प्रयोग कर सकते हैं। (1) मुद्रा का निष्क्रिय रूप में संचय करने के लिए (2) प्लांट तथा मशीनरी खरीदने के लिए तथा (3) बोन्डस खरीदने के लिए। लोग पहला विकल्प पसन्द नहीं करेंगे क्योंकि मुद्रा का संचय करने से उन्हें ब्याज की हानि होगी। अधिकतर लोग दूसरे विकल्प को भी पसन्द नहीं करेंगे। साधरणतया लोग मुद्रा में होने वाले व द्धि का प्रयोग बाण्डस खरीदने के लिए करेंगे। इसके फलस्वरूप बाण्डस की कीमत बढ़ जाएगी तथा ब्याज की दर कम हो जाएगी। ब्याज की दर कम होने से निवेश में व द्धि होगी, आय में व द्धि होगी, उत्पादन बढ़ेगा तथा पूर्ण रोजगार स्तर के पश्चात उत्पादन बढ़ने के स्थान पर कीमतें बढ़ने लगेगी।

केन्ज़ का आधारभूत समीकरण–केन्ज़ ने अपने विचारों का प्रतिपादन निम्नलिखित समीकरण के रूप में किया है। इसे केन्ज़ का आधारभूत समीकरण कहा जाता है।

(i) राष्ट्रीय आय (Y) उत्पादन के साधनों को किए जाने वाले भुगतान (E) तथा आकस्मिक लाभ (Q) का जोड़ है। आकस्मिक लाभ का अनुमान वास्तविक बिक्री में से उत्पादन के साधनों को किए जाने वाले भुगतान को घटाकर लगाया जाता है। यदि इनका अन्तर शून्य होता है अर्थात् Q = 0 तो केवल सामान्य लाभ प्राप्त होते हैं।

केन्ज़ के अनुसार

$$Y = E + Q \text{ .....}$$

Y = राष्ट्रीय आयQ= आकस्मिक लाभ
E = उत्पादन के साधनों को किया गया भुगतान
(ii) कुल उत्पादन (O) उपभोग वस्तुओं (R) तथा पूंजीगत वस्तुओं (C) का जोड़ है।

$$C = R + C \text{ .....}$$

O = कुल उत्पाद, R = उपभोग वस्तुएं, C = पूंजीगत वस्तुएं
(3) उत्पादन के साधनों के भुगतान (E) तथा उपभोग व्यय के अन्तर को बचत (S) कहा जाता है। उपभोग व्यय का अनुमान उपभोग वस्तुओं, (R) का उनके कीमत स्तर (P) से गुणा (PR) करके लगाया जा सकता है।

$$S = E — PR \text{ or } PR = E - S$$

S = बचत PR = उपभोग व्यय
(iv) निवेश (I) का अनुमान पूंजीगत वस्तुओं (C) को उनके मूल्य स्तर (P1) से गुणा (P_1C) करके लगाया जा सकता है।

$$I = P_1C$$

यहां I = निवेश P_1C = पूंजीगत वस्तुओं का व्यय

(v) सामान्य कीमत स्तर (K) का अनुमान कुल व्यय (उपभोग व्यय + पूंजीपगत व्यय) को कुल उत्पादन से भाग देकर लगाया जा सकता है।

$TT = \frac{PR + P_1C}{O}$	$PR = E - S$
$TT = \frac{E - S + 1}{o}$	$P_1C = 1$
$TT \quad \frac{E}{o} + \frac{1 - S}{o}$	

ब्याज की ब्याज दर—ब्याज की ब्याज दर वह दर है जिस पर बाजार में रुपया उधार लिया और दिया जाता है।
निवेश तथा बचत के अन्तर की 3 अवस्थाएं हो सकती हैं:—

(1) निवेश तथा बचत में समानता (I = S) : जब ब्याज की प्राक तिक दर तथा ब्याज दर = होती है तो निवेश तथा बचत में समानता होती है। इस स्थिति में कीमत स्तर स्थिर रहता है।

(ii) निवेश, बचत से अधिक (I > S)—जब ब्याज की दर प्राक तिक दर से कम होती है, तो निवेश अधिक होती है तथा बचत कम होती है। निवेश अधिक होने से उत्पादन लागत बढ़ती है तथा कीमत स्तर बढ़ जाता है। ब्याज की दर उस समय कम होती है जब मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है। मुद्रा की पूर्ति अधिक होने के कारण ब्याज की दर कम हो जाती है। इसके फलस्वरूप निवेश में व द्धि तथा बचत में कमी होती है। निवेश में कमी होने के कारण कीमत स्तर बढ़ जाता है।

(iii) **निवेश बचत से कम (I <S)**—जब ब्याज की ब्याज दर प्राक तिक दर से अधिक होती है तो निवेश कम हो जाता है। निवेश कम होने के कारण उत्पादन लागत कम होती है। उत्पादन लागत कम होने के कारण कीमत स्तर कम हो जाता है। ब्याज की दर उस समय अधिक होती है जब मुद्रा की पूर्ति कम होती है। मुद्रा की पूर्ति कम होने के कारण ब्याज की दर में व द्धि होती है। ब्याज की दर बढ़ने से निवेश कम होता है। जिसके फलस्वरूप कीमत स्तर कम हो जाता है।

मान्यताएं—केन्ज़ का सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है:—

(1) **उत्पादन के साधनों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है:**—केन्ज़ के अनुसार बेरोजगारी की अवस्था में उत्पादन के साधनों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है, इसका अभिप्राय: यह है कि उत्पादन के साधनों की मांग के बढ़ने से साधनों की पूर्ति आवश्यकतानुसार बढ़ाई जा सकती है।

(2) **बेरोजगारी की स्थिति में उत्पादन की पूर्ति के लोच इकाई हैं:**—जब तक अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी है, मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर उत्पादन में उसी अनुपात में परिवर्तन होता है अर्थात् उत्पादन की पूर्ति इकाई के बराबर है।

(3) **पूर्ण रोजगार की अवस्था में साधनों की पूर्ति बेलोचदार**—पूर्ण रोजगार की अवस्था में उत्पादन के साधनों की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार होती है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन के साधनों की मांग बढ़ने पर उत्पादन के साधनों की पूर्ति बिल्कुल नहीं बढ़ाई जा सकती।

(4) **मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन प्रभावपूर्ण मांग में आनुपातिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं**—अपूर्ण रोजगार की स्थिति में मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन प्रभावपूर्ण मांग में आनुपातिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं।

(5) **समान प्रतिफल का नियम**—समान प्रतिफल के पैमाने के नियम के अन्तर्गत उत्पादन किया जाता है। इसलिए जब तक उत्पादन में व द्धि होती है कीमतें स्थिर रहती हैं। अन्य शब्दों में पूर्ण रोजगार की स्थिति तक श्रम लागत तथा अन्य लागतें स्थिर रहती हैं।

केन्ज़ के सिद्धान्त की व्याख्या—

केन्ज़ के मौद्रिक सिद्धान्त के 2 मौलिक तत्व इस प्रकार हैं:—

(1) मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर में अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

(2) जब तक अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी रहेगी उत्पादन में व द्धि का अनुपात मुद्रा की मात्रा के और जब पूर्ण रोजगार होगा तो कीमतों में व द्धि का अनुपात मुद्रा की मात्रा के अनुपात में होगा।

मुद्रा की मात्रा तथा कीमत में अप्रत्यक्ष सम्बन्ध—

लार्ड केन्ज़ के अनुसार, मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने के फलस्वरूप पहले ब्याज की दर में परिवर्तन होता है। इसके बाद निवेश, उत्पादन, लागत तथा कीमतों में परिवर्तन होता है। अतएव मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर में अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

केन्ज़ के अनुसार मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन सामान्य कीमत स्तर को इस क्रम के अनुसार प्रभावित करते हैं:—

(1) मुद्रा के परिमाण में परिवर्तनों का प्रारम्भिक प्रभाव ब्याज की दर पर पड़ता है, जब मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया जाता है, तब यदि सट्टा उद्देश्य के लिए तरलता अधिमान में कोई अन्तर न आए तो ब्याज की दर कम हो जाती है।

(2) ब्याज की दर के कम होने पर तथा पूंजी की सीमान्त उत्पादकता तथा उपभोग की सीमान्त प्रव त्ति में परिवर्तन न आने पर निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। निवेश में व द्धि के परिणामस्वरूप गुणक प्रभाव के कारण आय में व द्धि निवेश से कई गुणा अधिक होती है।

(3) निवेश के बढ़ने से आय, रोजगार व उत्पादन में व द्धि होती है।

(4) जैसे-जैसे आय, रोजगार व उत्पादन में व द्धि होती है तो उत्पादन के साधनों की मांग तथा उनकी मांग बढ़ने लगती है और जब उद्योगपति उत्पादन के साधनों को बड़ी हुई कीमत पर खरीदते हैं तो लागतों में व द्धि हो जाती है। लागतों में व द्धि हो जाने से निर्मित वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ जाती हैं।

(5) जब पूर्ण रोजगार की अवस्था पहुँच जाती है तो रोजगार में व द्धि नहीं हो सकती ऐसी दशा में मुद्रा की मात्रा में व द्धि होने के कारण कीमतों में व द्धि हो जाती है, उत्पादन में व द्धि नहीं होती है।

(6) पूर्ण रोजगार की स्थिति से पहले भी मुद्रा की मात्रा के बढ़ने पर कीमतें बढ़ सकती हैं।

मुद्रा की मात्रा, उत्पादन तथा कीमतें–

लार्ड केन्ज़ के मुद्रा सिद्धान्त ने मुद्रा, उत्पादन तथा कीमतों में समन्वय करने का प्रयत्न किया है। केन्ज़ के अनुसार जब तक अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की स्थिति कायम है तब तक मुद्रा की व द्धि के कारण उत्पादन तथा बेरोजगारी में व द्धि होती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात मुद्रा की मात्रा में व द्धि होने के कारण उत्पादन में व द्धि नहीं होती बल्कि कीमतें उसी अनुपात में बढ़ने लगती हैं।

लार्ड केन्ज़ का यह भी विचार था कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में पहले भी मुद्रा की मात्रा में व द्धि होने पर उत्पादन तथा कीमत दोनों में व द्धि हो सकती है। इसका अभिप्रायः यह है कि अल्प पूर्ण रोजगार की स्थिति में भी मुद्रा की मात्रा में व द्धि होने के साथ-साथ कई कारणों से कीमतें बढ़ने लगती हैं। ये कारण है :–

(1) घटते प्रतिफल के नियम का लागू होना
(2) सीमान्त लागत का बढ़ जाना।
(3) बाजार की अपूर्णताएं
(4) मजदूरों की सौदा करने की शक्ति में व द्धि

केन्ज़ के सिद्धान्त की श्रेष्ठता–केन्ज़ का सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की तुलना में निम्न कारणों से अधिक श्रेष्ठ है:–

(1) **मौद्रिक सिद्धान्त तथा मूल्य सिद्धान्त का एकीकरण**–केन्ज़ के सिद्धान्त की एक विशेषता यह है कि इस सिद्धान्त ने मौद्रिक सिद्धान्त या सामान्य कीमत स्तर के सिद्धान्त तक मूल्य-सिद्धान्त या सापेक्षिक कीमत सिद्धान्त का एकीकरण करने का प्रयत्न किया है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार सामान्य कीमत स्तर तथा वस्तुओं और सेवाओं की अलग-अलग कीमतों का निर्धारण विभिन्न प्रकार से होता है। सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तन मुद्रा के परिमाण से होने वाले परिवर्तनों के कारण होता है। अतः इसे मुद्रा सिद्धान्त कहा गया है। परन्तु इसके विपरीत सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन वस्तु की मांग तथा पूर्ति में होने वाले परिवर्तन के कारण होता है, अतएव इसे मूल्य सिद्धान्त कहा गया है।

(2) **अधिक वास्तविक सिद्धान्त**–मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल पूर्ण रोजगार की अवस्था में लागू होता है। परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति एक दुर्लभ स्थिति है। अधिकतर देशों में अल्प रोजगार की अवस्था पाई जाती है। अल्प रोजगार की अवस्था में मुद्रा की मात्रा के बढ़ने पर कीमत स्तर बढ़ता है। केन्ज़ यह भी मानता है कि अपूर्ण रोजगार की स्थिति में भी कई कारणों से उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ कीमत स्तर भी बढ़ सकता है।

(3) **मौद्रिक सिद्धान्त तथा उत्पादन सिद्धान्त में एकीकरण**–लार्ड केन्ज़ ने मुद्रा के सिद्धान्त को उत्पादन के सिद्धान्त से भी जोड़ा है। मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन ब्याज की दर पर प्रभाव डालकर निवेश की मात्रा में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होता है। उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होने के फलस्वरूप उत्पादन की लागत में परिवर्तन होता है। जिसके परिणामस्वरूप कीमत स्तर में परिवर्तन होता है।

(4) **कारणात्मक क्रियाओं का उचित सिद्धान्त**–यह सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा कारणात्मक क्रियाओं के सम्बन्धों की अधिक वैज्ञानिक व्याख्या करता है। केन्ज़ के अनुसार मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का यह दोष है कि इसमें मुद्रा की मात्रा के उन प्रभावों को जो ब्याज की दर, निवेश, उत्पादन तथा रोजगार पर पड़ते हैं बिल्कुल भुला दिया गया है। इस सिद्धान्त में केवल मुद्रा की कुल मात्रा तथा कीमतों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। परन्तु **केन्ज़** के इस सिद्धान्त में इन सभी तत्वों को ध्यान में रखा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति मांग से अधिक होने पर ब्याज की दर को कम करती है। इसके फलस्वरूप निवेश में व द्धि होती है। निवेश में व द्धि होने से आय में कई गुणा अधिक व द्धि होती है। इसके फलस्वरूप वस्तुओं की मांग बढ़ती है तथा उनकी उत्पादन लागत बढ़ जाने के कारण कीमतें बढ़ जाती हैं। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा का कीमतों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। यह व्याख्या अधिक वैज्ञानिक है।

(5) **आर्थिक नीतियों का अच्छा पथ-प्रदर्शक**–केन्ज़ का सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की तुलना में अधिक व्यावहारिक है तथा आर्थिक नीतियों का अच्छा पथ-प्रदर्शक है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा की प्रत्येक व द्धि मुद्रा स्फीति अर्थात् कीमत व द्धि का कारण बनेगी। परन्तु केन्ज़ के अनुसार मुद्रा की मात्रा में व द्धि होने के कारण स्फीति का भय केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात ही उत्पन्न होता है। यदि किसी देश में

बेरोजगारी तथा मन्दी है तो उसमें घाटे की वित्त व्यवस्था की नीति अपनाकर या साख का विस्तार करके आर्थिक स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की तुलना में यह सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक तथा युक्ति संगत है।

आलोचनाएँ–

(1) **अनिश्चित कारणात्मक सम्बन्ध**–इस सिद्धान्त का एक प्रमुख दोष यह है कि इसके अनुसार मुद्रा की मात्रा के बढ़ने पर ब्याज की दर में कमी तथा निवेश में व द्धि तभी होती है जब पूंजी की सीमान्त उत्पादकता और सीमान्त उपभोग प्रव त्ति स्थिर रहे। यह निश्चितता से नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों तत्व स्थिर रहेंगे। इसलिए यह कारणात्मक प्रक्रिया सन्देहजनक या अनिश्चित है।

(2) **संरचनात्मक त्रुटि**–केन्ज़ के आधारभूत समीकरण में एक संरचनात्मक त्रुटि रह गई है। केन्ज़ के समीकरण में अर्थात्

$$O = R + C$$

अर्थात् कुल उत्पादन (O) उपभोक्ता वस्तुओं (R) तथा पूंजीगत वस्तुओं (C) का जोड़ है। इन दोनों वस्तुओं की इकाईयों को इस प्रकार चुना गया है कि आधार वर्ष में प्रति इकाई उत्पादन लागत बराबर होगी। परन्तु हेन्सन के अनुसार तकनीकी सुधारों के कारण यह आवश्यक नहीं है कि दोनों की उत्पादन लागत प्रत्येक वर्ष में बराबर हो। प्रत्येक वर्ष उपभोक्ता वस्तुओं तथा पूंजीगत वस्तुओं की लागत का एक समान रहना आवश्यक नहीं है। इसलिए आधारभूत समीकरण आधार वर्ष में लागू हो सकते हैं परन्तु अन्य वर्षों में उनकी तुलना सन्देहजनक होगी।

(3) **ब्याज की दर को अधिक महत्व**–ब्याज की दर को दर अधिक महत्व दिया गया है। जबकि (General Theory) में उन्होंने बताया है कि निवेश पर ब्याज की तुलना में पूंजी की सीमान्त उत्पादकता पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

(4) **अपूर्ण सिद्धान्त**–केन्ज़ का समीकरण अन्य समीकरणों की तरह कीमत को प्रभावित करने वाले सभी तत्वों की विवेचना नहीं करता है। इसलिए यह भी अपूर्ण सिद्धान्त है।

(5) **वास्तविक शेष प्रभाव की अवहेलना**–

डॉन पैटिन्कन के अनुसार, ''वास्तविक शेष प्रभाव की सहायता से कीमत सिद्धान्त तथा मौद्रिक सिद्धान्त का एकीकरण करके मुद्रा के परिमाप सिद्धान्त के तार्किक निष्कर्ष को स्वीकार किया जा सकता है परन्तु केन्ज़ ने वास्तविक शेष प्रभाव की अवहेलना करके मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को समाप्त करने का प्रयत्न किया है जो उचित नहीं है।

(6) **मुद्रा का कम महत्व**–नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमेन के अनुसार केन्ज़ के सिद्धान्त ने आर्थिक क्रियाओं में मुद्रा के महत्व को कम कर दिया है। उनके अनुसार मुद्रा का कोई महत्व नहीं है।

संक्षेप में, उपरोक्त दोष होते हुए भी केन्ज़ का सिद्धान्त अधिक वास्तविक तथा तर्कसंगत है, परन्तु मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त विशेष अवस्थाओं में अपना महत्व रखता है। वास्तव में, मुद्रा के इन दोनों सिद्धान्तों का अलग-अलग क्षेत्रों में महत्व है।

अध्याय 10
सार्वजनिक वित्त
(Public Finance)

संस्क त शब्द 'राजस्व' दो अक्षरों से बना है—'राजन् + स्व' जिसका अर्थ है 'राजा का धन।' अतः राजस्व या सार्वजनिक वित्त के अंतर्गत हम राजा के धन का अध्ययन करते हैं, अर्थात् यह अध्ययन करते हैं कि राजा धन कहाँ से और किस प्रकार लाता है और उस धन को किस प्रकार व्यय करता है।

अंग्रेजी के 'Public Finance' शब्द का अर्थ सार्वजनिक या जनता वित्त से होता है। किंतु हम इसके अंतर्गत जनता के वित्त का अध्ययन नहीं करते, अपितु जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं के आय-व्यय संबंधी कार्यों का अध्ययन करते हैं।

अतः सार्वजनिक वित्त राजकीय संस्थाओं जैसे—केंद्रीय, राज्य या स्थानीय सरकारों के वित्त संबंधी मामलों का अध्ययन है।

Public Finance deals with revenue and expenditure activities of Central, state or local governments.

Definitions :-

प्रो. एम. डाल्टन के अनुसारः—''सार्वजनिक वित्त सरकारी सत्ताओं के आय-व्यय तथा उनके पारस्परिक समायोजन और समन्वय का अध्ययन करता है।''

प्रो. गांगुली के शब्दों मेंः—

''राजस्व आर्थिक सिद्धांत की वह शाखा है जो राजकीय आय-व्ययों प्रक्रियाओं से उत्पन्न विषयों का अध्ययन करती है।''

बैस्टेबलकेन के अनुसार ''लोक-वित्त राज्य की सार्वजनिक संस्थाओं की आय तथा व्यय और उनके पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करता है जिसमें वित्तिय प्रशासन एवं नियंत्रण भी सम्मिलित है।''

परन्तु लोक वित्त की एक अधिक विस्त त व वैज्ञानिक परिभाषा हैरोल्ड ग्रोव्स द्वारा दी गई है। हैरोल्ड ग्रोव्स के अनुसारः—

''लोक-वित्त जांच या खोज का वह क्षेत्र है जो सरकारों की आय एवं उनके व्यय से संबंध रखता है। वर्तमान समय में, से लोक वित्त के अंतर्गत चार तत्व सम्मिलित किए जाते हैं। वे हैं—(i) सरकारी आय (ii) सरकारी व्यय (iii) सरकारी ऋण (iv) समस्त राज्य में राजकोषीय व्यवस्था की कुछ समस्याएं जैसे—राजकोषीय प्रशासन तथा राजकोषीय नीति।''

सार्वजनिक वित्त सार्वजनिक संस्थाओं एवं शासन की उन वित्तीय क्रियाओं के सिद्धांतों एवं तरीकों का अध्ययन है, जिनके द्वारा वे आय जुटाते हैं, विभिन्न कार्यों में व्यय करते हैं, उन पर नियंत्रण एवं परस्पर सामंजस्य स्थापित करते हैं।

Scope of Public Finance :-

सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र को दो भागों में बांटा जा सकता है—

(A) सार्वजनिक वित्त की विषय वस्तु

(B) सार्वजनिक वित्त का स्वरूप या प्रक ति

(A) Subject Matter of Public Finance:-

राजवित्त की विषय-वस्तु के संबंध में अर्थशास्त्रियों की विचारधारा को दो भागों में बांटा जा सकता हैः—

(क) परम्परागत विचारधारा

(ख) आधुनिक विचारधारा

(क) परम्परागत विचारधारा—परम्परावादी अर्थशास्त्री सार्वजनिक वित्त की विषय-वस्तु में निम्नलिखित बातें शामिल करते हैं:—

(1) **सार्वजनिक आय**—इस भाग में विभिन्न सरकारो (जैसे—केंद्र, राज्य, स्थानीय) की आय के विभिन्न साधनों जैसे कर, फीस, जुर्माने आदि का अध्ययन किया जाता है। करों के सिद्धांत तथा उनसे संबंधित अन्य समस्याओं, जैसे करदेय क्षमता, करों का प्रभाव, करों की चोरी, कराभार आदि का अध्ययन किया जाता है।

(2) **सार्वजनिक व्यय**—इस भाग में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि विभिन्न सरकारें किस प्रकार अपनी आय को खर्च करती है? सार्वजनिक व्यय के कौन-कौन से सिद्धांत हैं तथा इसके क्या उद्देश्य हैं? इनका देश की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है? व्यय पर किस प्रकार नियंत्रण रखा जा सकता है? आदि।

(3) **सार्वजनिक ऋण**—जब सरकार की आय कम और व्यय अधिक होता है तो उसे पूरा करने के लिए आंतरिक साधनों व विदेशों से ऋण लेने पड़ते हैं। सार्वजनिक वित्त के इस भाग में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि सरकार द्वारा लिए जाने वाले ऋण क्यों और कहां से लिए जाते हैं व उनका भुगतान कैसे किया जाता है? ऋणों का क्या प्रभाव पड़ता है? आदि।

(4) **वित्तीय प्रशासन**—इस भाग में सरकार द्वारा बजट बनाना, लोकसभा द्वारा उसकी स्वीक ति लेना, लेखों का अंकेक्षण करवाना इत्यादि कार्य किए जाते हैं। प्रो. बैस्टेबल के सार्वजनिक वित्त के इस भाग के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''कोई भी वित्त की पुस्तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब तक कि वह वित्तीय शासन व बजट की समस्याओं का अध्ययन नहीं करती।''

(5) **संघीय वित्त**—इस भाग में संघीय और राज्य सरकारों के बीच वित्तीय संबंधों का अध्ययन किया जाता है अर्थात इनके बीच वित्तीय साधनों का बंटवारा किस प्रकार होता है।

(6) **आर्थिक स्थिरीकरण**—इस भाग में राजनीतिक वित्त की सहायता से आर्थिक स्थिरता लाने का प्रयास किया जाता है, क्योंकि राजकोषीय नीति द्वारा अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

(ख) आधुनिक विचारधारा—आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक वित्त की विषय-वस्तु को तीन भागों में बांटा है—

(i) आबंटन शाखा

(ii) वितरण शाखा

(iii) स्थिरीकरण शाखा

(i) **आबंटन शाखा**—इस शाखा में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि साधनों को निजी क्षेत्र में किस प्रकार हस्तांतरित किया जाए, सामाजिक वस्तुओं के लिए कितने साधन रखें जाएं और इन साधनों की लागत को पूरा करने के लिए कराधान के किस सिद्धांत को कार्य में लाया जाए। इस शाखा में कराधान के दो सिद्धांतों (a) लाभ का सिद्धांत (b) योग्यता या सामर्थ्य के सिद्धांत का अध्ययन किया जाता है।

(2) **वितरण शाखा**—इस शाखा में सरकार की आय व व्यय का अध्ययन आर्थिक कल्याण के उद्देश्य को प्राप्त करने की द ष्टि से किया जाता है। सरकार की कर व व्यय नीति इस प्रकार की होनी चाहिए ताकि देश में आय का समान वितरण हो सकें।

(3) **स्थिरीकरण शाखा**—इस शाखा का मुख्य उद्देश्य बजट के माध्यम द्वारा देश में आर्थिक स्थिरता व कीमत स्थिरता प्राप्त करना है। उल्लेखनीय है कि सार्वजनिक वित्त के उपयुक्त विभाग अलग-अलग नहीं है, बल्कि इनमें घनिष्ठ संबंध है। संक्षेप में, सार्वजनिक वित्त से अभिप्राय सरकार की आय, व्यय व ऋण संबंधी उस नीति से है जिसके द्वारा आर्थिक विकास, पूर्ण रोजगार, कीमत स्थिरीकरण एवं आय के समान वितरण इत्यादि के उद्देश्य प्राप्त हो सकते हैं।

(B) Nature of Public Finance : –

सार्वजनिक वित्त की प्रक ति के संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। इससे संबंधित विचारों को भी दो भागों में बांटा जा सकता है–

(क) सार्वजनिक वित्त का वास्तविक भाग

(ख) सार्वजनिक वित्त का आदर्श विज्ञान

(क) सार्वजनिक वित्त एक वास्तविक विज्ञान के रूप में–सेलिगमैन व कई दूसरे अर्थशास्त्रियों के अनुसार, सार्वजनिक वित्त एक वास्तविक विज्ञान है। इसमें केवल सार्वजनिक आय-व्यय व सार्वजनिक ऋण के सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है। इसमें किसी प्रकार की सलाह या फैसले नहीं किए जाते। इसमें इस बात का अध्ययन नहीं किया जाता कि कौन-सा कर अच्छा है या कौन-सा कर बुरा। सार्वजनिक व्यय कैसा होना चाहिए। सार्वजनिक वित्त का अध्ययन तो केवल यह बताता है कि "What is?" "What ought to be?" इसका पता नहीं चलता। यह एक वास्तविक विज्ञान है, आदर्शात्मक विज्ञान नहीं है।

(ख) सार्वजनिक वित्त एक आदर्श विज्ञान के रूप में :–कुछ अर्थशास्त्रियों जैसे एजबर्थ, पीगू इत्यादि के अनुसार सार्वजनिक वित्त का उद्देश्य सलाह देना भी है। इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि कौन-से कर अच्छे हैं और कौन-से बुरे। हम इसमें आदर्श स्थापित कर सकते हैं कि आय का समान बंटवारा होना चाहिए। सरकार की राजकोषीय नीति द्वारा धनी और निर्धनों में आय की असमानता को दूर किया जाना चाहिए। केन्ज ने तो New Economics में राजकोषीय नीति को बड़ा महत्व दिया है। उनके अनुसार देश में मंदी व बेरोजगारी जैसी समस्याओं का समाधान करने के लिए सार्वजनिक व्यय को बढ़ा दिया जाना चाहिए।

प्रो. प्लेहन के अनुसार, राजस्व एक वास्तविक विज्ञान है पर यह एक आश्रित विज्ञान है, जो दो महत्वपूर्ण विज्ञानों अर्थशास्त्र व राजनीतिशास्त्र पर आधारित है। उन्होंने राजस्व के विज्ञान होने के पक्ष में निम्न कारण दिए हैं–

(i) यह संपूर्ण मानवीय ज्ञान का अध्ययन नहीं करता, बल्कि ज्ञान के एक विशेष भाग तक ही सीमित है।

(ii) इसके सिद्धांतों का निर्माण करते हुए तथ्यों को नियमित रूप से एकत्रित किया जाता है।

(iii) इसके अध्ययन एवं अन्वेषण में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है।

(iv) यह विशेष प्रकार के तथ्यों के संबंध में निश्चित विवेचना प्रदान करता है और उसके बारे में पूर्वानुमान भी लगा सकता है।

Public -Finance is an Art Also:-

सार्वजनिक वित्त विज्ञान होने के साथ-साथ कला भी है। किसी कार्य को करने के लिए व्यवहारिक नियमों को बनाना ही कला है। राजस्व कला इसलिए है, क्योंकि जब किसी देश की सरकार विभिन्न स्त्रोतों से आय प्राप्त करती है तो यह ध्यान रखती है कि इससे जनता को न्यूनतम कष्ट हो तथा राज्य को पर्याप्त आय भी प्राप्त हो सके और इस आय को व्यय करते समय इस बात का ध्यान रखती है कि इससे अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त हो सकें।

इस तरह लोक वित्त विज्ञान एवं कला दोनों ही है। उदाहरण के लिए, जब राजस्व में सार्वजनिक आय व व्यय के सिद्धांतों एवं नीतियों का अध्ययन किया जाता है, तो यह एक वैज्ञानिक अध्ययन है, किंतु जब सरकार इन सिद्धांतों एवं नीतियों का अपनी वित्तीय समस्याओं को हल करने के लिए प्रयोग करती है तो यह कलात्मक रूप होता है।

Conclusion :

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सार्वजनिक वित्त विज्ञान व कला दोनों ही हैं। सार्वजनिक वित्त का विज्ञान ईंटों के ढेर को ठीक एक मकान के रूप में बनाने का नक्शा, दिखाता है, तो इसकी कला उस मकान को रूप प्रदान करती है।

Comparison between Public Finance and Private Finance:-

सार्वजनिक वित्त के सिद्धांतों को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक वित्त और निजी वित्त का

अंतर स्पष्ट कर लिया जाए। सार्वजनिक वित्त का संबंध सरकार की आय तथा व्यय से है, जबकि निजी वित्त का संबंध एक व्यक्ति विशेष की वित्त संबंधित समस्याओं से है। सार्वजनिक वित्त तथा निजी वित्त में कुछ समानताएँ व कुछ असमानताएँ पाई जाती हैं–

(A) Similarities:- सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में निम्नलिखित समानताएं हैं:–

(1) **आय तथा व्यय में संतुलन**–राज्य और व्यक्ति दोनों ही आय और व्यय में संतुलन स्थापित करना चाहते हैं। थोड़े समय के लिए उनके बजट असंतुलित हो सकते हैं लेकिन किसी न किसी स्थिति में पहुंचकर आय और व्यय में संतुलन स्थापित करना पड़ता है।

(2) **अधिकतम संतुष्टि**–दोनों ही अपनी-अपनी आय इस प्रकार व्यय करना चाहते हैं जिससे अधिकतम संतोष प्राप्त हो सके। एक व्यक्ति अपनी आय को इस प्रकार व्यय करना चाहेगा कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो सके और सरकार अपनी आय इस प्रकार व्यय करना चाहेगी ताकि उसे अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दोनों ही समसीमांत तुष्टिगुण के नियम के अनुसार व्यय करते हैं।

(3) **आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव**–आर्थिक परिवर्तनों का भी दोनों के अर्थ प्रबंध पर लगभग समान प्रभाव पड़ता है। यदि देश में महंगाई व मुद्रा-स्फीति की स्थिति पाई जाती है तो इसका प्रभाव व्यक्ति तथा राज्य दोनों के व्यय पर ही पड़ेगा। दोनों का व्यय पहले से अधिक बढ़ जाएगा।

(4) **उधार की क्षमता**–जब उनका व्यय तो आय से बढ़ जाता है तो व्यक्ति और सरकार दोनों को ऋण लेना पड़ता है। सरकार तथा व्यक्ति दोनों ही किसी न किसी साधन से रुपया उधार लेने की क्षमता रखते हैं। दोनों को ही उधार लिया गया ऋण चुकाना पड़ता है।

(5) **दुरुपयोग की संभावना**–सार्वजनिक तथा निजी दोनों प्रकार के वित्तों के दुरुपयोग की संभावना रहती है।

(B) Dissimilarities:–इन समानताओं के होते हुए भी सार्वजनिक वित्त और निजी वित्त में भौतिक अंतर है। केन्ज के अनुसार, ''एक व्यक्ति के लिए जो सत्य है वह संपूर्ण राज्य के लिए सत्य हो भी सकता है और नहीं भी।'' What is true of an individual may or may not be true of the state as a whole. प्रो. डाल्टन के मतानुसार, ''व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक वित्त में आय और व्यय दोनों द ष्टियों में अंतर है।'' इन दोनों में निम्नलिखित असमानताएं पाई जाती हैं :–

(1) **आय व व्यय के समायोजन में अंतर:**–एक व्यक्ति अपनी आय के अनुसार व्यय को निश्चित करने की कोशिश करता है, किंतु सरकार अपनी आय को व्यय के अनुसार निश्चित करती है। एक प्रसिद्ध कहावत है कि ''तेते पॉव पसरिए जेती लंबी सौर'' Cut your Coat according to th size of Cloth. अतः व्यक्ति चादर देखकर पांव पसारता है जबकि सरकार आवश्यकतानुसार अपनी चादर बनाती है। इसलिए बैस्टेबल ने कहा है, ''व्यक्ति यह कहता है कि मैं इतना खर्च कर सकता हूं, जबकि वित्त मंत्री यह कहता है कि मुझे इतना धन प्राप्त करना है।'' The individual says," I can spend so much," the finance minister says," I have to raise so much."

(2) **आय की प्रक ति में अंतर :**–सरकार द्वारा आय प्राप्त करने के अधिकार कानून द्वारा निर्धारित होते हैं। इसलिए सरकारी आय की प्रक ति अनिवार्य होती है। सरकार लोगों को कर देने तथा ऋण देने के लिए बाध्य कर सकती है, परन्तु किसी भी व्यक्ति को इस प्रकार के अधिकार नहीं होते। राज्य द्वारा आय प्राप्त करने का क्षेत्र विस्त त होता है। वह विदेशों से ऋण ले सकता है, जबकि व्यक्तिगत वित्त के संबंध में ये सुविधाएं उपलब्ध नहीं होती।

(3) **आय की लोच में अंतर**–एक व्यक्ति की आय बेलोच होती है अर्थात् वह अपनी आय को आवश्यकतानुसार बहुत अधिक घटा या बढ़ा नहीं सकता। उसमें परिवर्तन धीरे-धीरे ही किए जा सकते हैं। इसके विपरीत, सरकार अपनी आय में सरलता तथा शीघ्रता से कमी या व द्धि कर सकती है।

(4) **व्यय की प्रक ति में अंतर**–एक व्यक्ति अपने व्यय से अधिकतम लाभ या तुष्टिगुण प्राप्त करना चाहता है, परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में कई ऐसे व्यय करने पड़ते हैं जिनसे सरकार को प्रत्यक्ष रूप से कोई लाभ नहीं होता या दीर्घकाल तक कोई आय प्राप्त नहीं होती। व्यक्तिगत व्यय पर आदतों व रीति-रिवाजों का काफी प्रभाव पड़ता है, परन्तु सार्वजनिक व्यय सरकार द्वारा निर्धारित नीति; जैसे बेरोजगारी दूर करने, आर्थिक विकास आदि के द्वारा नियमित होता है अर्थात् सार्वजनिक व्यय

सामाजिक संतुष्टि और सामाजिक लाभ से प्रेरित होता है।

(5) **उद्देश्यों में अंतर**—एक व्यक्ति सदैव निजी लाभ की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है, जबकि राज्य सामाजिक कल्याण एवं सुरक्षा की भावना से प्रेरित होता है। एक व्यक्ति अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं की संतुष्टि से मतलब रखता है, क्योंकि वह मानता है कि ''दीर्घकाल में तो हम सब जाएंगे'', जबकि राज्य वर्तमान व भविष्य में जनता के हितों में संतुलन बनाए रखता है।

(6) **गोपनीयता**—हर व्यक्ति इस बात का प्रयत्न करता है कि वह किसी को भी अपनी वास्तविक आय-व्यय का पता न होने दे, क्योंकि वह मानता है कि ''बंधी मुट्ठी लाख की, खुल गई तो खाक की'' परन्तु सरकार अपनी आय तथा व्यय संबंधी सूचना का काफी प्रचार करती है।

(7) **बजट की प्रक ति में अंतर**—एक व्यक्ति साधारण तौर पर अल्पकाल अर्थात् एक महीने के लिए बजट बनाता है। वह अधिकतर बचत के बजट को बनाए रखना चाहता है, जबकि सार्वजनिक बजट हमेशा एक वर्ष की अवधि के लिए बनाए जाते हैं। सरकार के लिए बचत का बजट बनाए रखना जरूरी नहीं। सरकार का बजट घाटे का बजट भी हो सकता है। निजी व्यक्ति अपने बजट में अधिक परिवर्तन नहीं कर सकता, जबकि सरकारी बजट में युद्ध काल में अत्यधिक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

(8) **भविष्य की आवश्यकताओं में अंतर**—एक व्यक्ति अपनी भविष्य की आवश्यकताओं की तुलना में वर्तमान आवश्यकताओं को अधिक महत्व देता है। निजी वित्त में अल्पकाल को दीर्घकाल की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। सरकार अपनी आय का काफी भाग दीर्घकालीन योजनाओं, बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना, बांध आदि बनवाने कार्यों पर खर्च करती है।

(9) **दिवालियापन**—एक व्यक्ति दिवालिया हो सकता है। उसके दायित्व उसकी परिसंपत्तियों से अधिक हो सकते हैं। परन्तु राज्य कभी दिवालिया नहीं हो सकता। एक राज्य की परिसंपत्तियों की कोई सीमा नहीं होती।

(10) **साधनों का बंटवारा**—प्रो. न्यूमेन के अनुसार, ''निजी वित्त का आबंटन बाजार में प्रचलित कीमतों के आधार पर किया जाता है, जबकि सार्वजनिक वित्त का बंटवारा सरकार के बजट संबंधी निर्णयों पर निर्भर करता है।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निजी वित्त एवं लोकवित्त दोनों में काफी अंतर है। अतः निजी वित्त का संचालन करने वाले सिद्धान्त वैसे-के-वैसे ही लोकवित्त पर लागू नहीं होते। इसलिए लोकवित्त के लिए प थक सिद्धांत की आवश्यकता होती है।

Principle of Public Finance OR Doctrine of Maximum Social Advantage:-—

प्रत्येक अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक वित्त का विशेष महत्व होता है। इसका प्रमुख उद्देश्य समाज में अधिकतम लाभ की प्राप्ति करना है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रो. डाल्टन ने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसे 'अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत' कहा जाता है। प्रो. पीगू ने इस सिद्धांत को 'अधिकतम कुल कल्याण का नियम' तथा भारतीय अर्थशास्त्री प्रो. आर. एन. भार्गव ने इसे 'सार्वजनिक वित्त का नियम' कहा है।

Explanation of Principle—इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए प्रो. डाल्टन ने कहा है, ''सार्वजनिक वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिससे राज्य अपने कार्यों द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति कर सकता है।'' The best system of Public Finance is that which secures the maximum Social advantage from the operation is conducts.

दूसरे शब्दों में, इस सिद्धांत का आशय है कि यदि सरकार इस सिद्धांत के अनुसार आय प्राप्त करती है या व्यय करती है तो सरकार के इन कार्यों से समाज को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त होना चाहिए।

Activities:—सरकार की सार्वजनिक वित्त संबंधी दो मुख्य क्रियाएं हैं—(i) आय प्राप्त करना (ii) उसे खर्च करना। इस सिद्धांत के अनुसार सरकार को अपनी आय व व्यय इस प्रकार समायोजित की जानी चाहिए ताकि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सकें।

Effects :-

(1) **सामाजिक त्याग**— जब सरकार कर, दण्ड, ऋण आदि के माध्यम से जनता से आय प्राप्त करती है तो कर के रूप में समाज को त्याग करना पड़ता है या कष्ट उठाना पड़ता है। इसे अर्थशास्त्रियों ने सामाजिक त्याग कहा है। प्रत्येक अतिरिक्त कर के भार से मिलने वाले त्याग की मात्रा को सीमांत सामाजिक त्याग कहा जाता है।

(2) **सामाजिक लाभ**—जब सरकार प्राप्त आय को सुरक्षा, सड़क, रेल यातायात, सार्वजनिक निर्माण कार्य या सामाजिक उत्थान संबंधी क्रियाओं पर व्यय करती है तो इससे समाज को लाभ या उपयोगिता प्राप्त होती है। सरकार को अपनी आय व व्यय में इस प्रकार संबंध स्थापित करना चाहिए कि समाज को सार्वजनिक व्यय से होने वाला लाभ या उपयोगिता सार्वजनिक आय से प्राप्त होने वाली अनुपयोगिता या असंतोष से अधिक हो। प्रो. डाल्टन के शब्दों में, ''सार्वजनिक व्यय प्रत्येक दशा में उस सीमा तक बढ़ते रहना चाहिए जब तक कि इस व्यय से उत्पन्न होने वाला संतोष राज्य द्वारा लगाए गए करों से उत्पन्न होने वाले असंतोष के बराबर न हो जाए। यह सीमा ही सार्वजनिक आय व व्यय में व द्धि करने की आदर्शतम सीमा है।''

अधिकतम सामाजिक कल्याण का आधार

Basis of Maximum Social Welfare–

अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धांत मुख्य रूप से 'सीमान्त उपयोगिता नियम' और 'सीमांत उत्पादकता नियम' पर आधारित है। कर के रूप में लोगों को कष्ट झेलना या त्याग करना पड़ता है। ज्यों-ज्यों जनता पर कर भार में व द्धि होती जाती है त्यों-त्यों करों के सीमांत त्याग में भी व द्धि होती जाती है। इसप्रकार, प्रत्येक अतिरिक्त कर भार से असंतोष में व द्धि होती है। परिणामस्वरूप सीमांत सामाजिक त्याग वक्र का आकार बाएं से दाएं ऊपर की ओर होता है। इसके विपरीत, सार्वजनिक व्यय के द्वारा लोगों को उपयोगिता व संतुष्टि प्राप्त होती है व उनके कल्याण में व द्धि होती है। परन्तु ज्यों-ज्यों सार्वजनिक व्यय की इकाईयों में व द्धि होती है त्यों-त्यों सामाजिक कल्याण या सामाजिक संतुष्टि में कमी आती जाती है। परिणामस्वरूप सीमांत सामाजिक लाभ वक्र ऋणात्मक ढाल वाली बाएं से दाएं नीचे की ओर गिरती हुई होती है।

Economic Tests of the measurement of Social Advantage:—सार्वजनिक वित्त के सिद्धांत में सीमांत लाभ और सीमांत त्याग की मात्रा को मापना अत्यंत कठिन है फिर भी किसी भी आर्थिक व्यवस्था में किसी प्रकार से अधिकतम सामाजिक कल्याण को ज्ञात किया जा सकता है। इसके लिए प्रो. डाल्टन ने तीन मुख्य कसौटियां दी हैं:—

(1) **बाह्य सुरक्षा व आंतरिक शांति:**—प्रो. डाल्टन के अनुसार सामाजिक लाभ की सबसे पहली कसौटी राज्य की बाह्य आक्रमणों व आंतरिक झगड़ों से सुरक्षा करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला प्रत्येक सार्वजनिक व्यय उचित व न्यायसंगत है।

(2) **आर्थिक कल्याण में व द्धि**—सामाजिक लाभ अधिकतम करने के लिए दूसरी महत्वपूर्ण बात इस देश में आर्थिक कल्याण में व द्धि करना है। यदि सार्वजनिक वित्त के फलस्वरूप देश का आर्थिक कल्याण बढ़ता है तो यह अधिकतम सामाजिक कल्याण का सूचक है। आर्थिक कल्याण में व द्धि मुख्य रूप से तीन बातों पर निर्भर करती है—

(i) उत्पादन में व द्धि (ii) धन के वितरण में सुधार (iii) आर्थिक स्थिरता व रोजगार के अवसरों में व द्धि

(i) **उत्पादन में व द्धि**—सरकार अपनी सार्वजनिक नीतियों को इस प्रकार से निर्धारित करे जिससे कि उत्पादन की मात्रा और गुणात्मक पक्ष, दोनों में व द्धि हो सके। यदि किसी भी अर्थव्यवस्था की सार्वजनिक नीतियां उत्पादन बढ़ाने में सहायक हैं तो सामाजिक कल्याण में व द्धि हो रही है।

(ii) **धन के वितरण में सुधार**—समाज में आय और संपत्ति के वितरण में सुधार लाना भी सार्वजनिक वित्त का मुख्य कार्य है। धन व संपत्ति के समान वितरण से आर्थिक कल्याण में व द्धि होती है। इससे उपभोग स्तर बढ़ेगा व आर्थिक विकास में व द्धि होगी।

(3) **भावी पीढ़ी पर प्रभाव**—प्रो. डाल्टन का कहना है कि सार्वजनिक वित्त की क्रियाओं का भावी पीढ़ी के हितों पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि राज्य न केवल वर्तमान पीढ़ी के लिए जिम्मेदार हैं, बल्कि भावी पीढ़ी के लिए भी जिम्मेदार हैं। प्रो. डाल्टन के शब्दों में, ''राजनीतिज्ञ वर्तमान से, अधिक भविष्य का संरक्षक है। व्यक्ति मर जाते हैं परन्तु समाज, जिसके वे अंग होते हैं, सदा जीवित रहता है। इसलिए राजनीतिज्ञ को वर्तमान में कम सामाजिक लाभ की तुलना में भविष्य में अधिक सामाजिक लाभ को महत्व देना चाहिए।''

Limitations and Practical Difficulties of the Principle:-

प्रो. डाल्टन के अनुसार, ''यह सिद्धांत स्पष्ट, सरल एवं विस्त त है किंतु व्यवहार में इसका प्रयोग बहुत ही कठिन है।''

(1) **सामाजिक अनुपयोगिता व उपयोगिता के भाव को मापना कठिन:**—करारोपण के सामाजिक त्याग व सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सामाजिक लाभ को मापना कठिन है। कोई भी व्यक्ति निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि उसने कर देकर कितनी मात्रा में त्याग किया है।

(2) **विभिन्न करों का भार जानना कठिन**—यह सिद्धांत इसलिए भी अव्यवहारिक है कि करारोपण से होने वाले मिश्रित हानियों या लाभों का ठीक-ठीक माप कठिन है क्योंकि करों के कारण उत्पादन, उपभोग व बचत के अच्छे व बुरे प्रभावों को जानना कठिन है।

(3) **सार्वजनिक ऋण**—जब सरकार व्यय के लिए करों से धन एकत्र करती है तो सामाजिक असंतोष फैलता है, किंतु यह सब सार्वजनिक ऋणों से धन एकत्र करती है तो देश में कोई असंतोष नहीं फैलता। अतः यह सिद्धांत सार्वजनिक ऋण के संबंध में लागू नहीं होता।

(4) **दीर्घकालीन द ष्टिकोण**—उनके परिस्थितियों में सार्वजनिक व्यय दीर्घकालीन द ष्टिकोण को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। इसप्रकार भविष्य में प्राप्त होने वाले अनिश्चित लाभ व वर्तमान में किए गए त्याग के मध्य समन्वय स्थापित करना अत्यंत कठिन है।

Importance of Public Finance:–

(1) **राज्य के बढ़ते हुए कार्य**—सार्वजनिक वित्त के बढ़ने का मुख्य कारण राज्यों के कार्यों में होने वाली व द्धि है। प्राचीनकाल में इसका संबंध केवल देश में आंतरिक शक्ति बनाए रखना ही होता था। लेकिन बाद में कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि राज्य के कार्य केवल पुलिस कार्य ही नहीं होने चाहिए, बल्कि राज्य को कल्याणकारी क्रियाओं में भी भाग लेना चाहिए। समाजवादी अर्थशास्त्री कार्ल मार्क्स का तो यह कहना था कि सभी कार्य सरकार को ही करने चाहिए तभी प्रत्येक देश में आर्थिक न्याय हो सकता है व निर्धनों का शोषण रोका जा सकता है।

(2) **सार्वजनिक जीवन पर गहरा प्रभाव**—प्रत्येक देश को कीमत स्थिरता, पूर्ण रोजगार, व्यापार चक्र, आर्थिक विकास, आय वितरण आदि समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के समाधान के लिए राज्य की आय-व्यय संबंधी नीतियों का महत्व बढ़ गया है। देश में मंदी व बेरोजगारी को समाप्त करने के लिए सरकार को अपनी आय में व द्धि करनी चाहिए। सरकार अपनी कर नीति के द्वारा आय व धन के वितरण में समानता ला सकती है।

(3) **अल्पविकसित देशों में सार्वजनिक वित्त का महत्व**—जैसे कि—

- (i) **पूंजी निर्माण**—अल्पविकसित देशों में पूंजी निर्माण कम होता है। सरकार अपनी कर व व्यय संबंधी नीति में इस प्रकार के परिवर्तन कर सकती है जिससे पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन मिले। नर्कसे के अनुसार, ''मेरा विश्वास है कि अल्पविकसित देशों में पूंजीनिर्माण की समस्या के कारण सार्वजनिक वित्त का महत्व बढ़ गया है।''
- (ii) **बचत व निवेश**—अल्पविकसित देशों में सार्वजनिक वित्त बचत व निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए काफी महत्वपूर्ण होता है।
- (iii) **राष्ट्रीय आय में व द्धि**—अल्पविकसित देशों में सार्वजनिक वित्त के द्वारा राष्ट्रीय आय में व द्धि व उसके वितरण में समानता लाई जा सकती है।
- (iv) **बेरोजगारी का समाधान**—अल्पविकसित देशों में सार्वजनिक वित्त का उद्देश्य बेरोजगारी को दूर करना भी है।

(4) **विकसित देशों में सार्वजनिक वित्त का महत्व**—तीसरी सदी की महामंदी के बाद विकसित देशों में सार्वजनिक वित्त का महत्व अत्याधिक हो गया है। उनमें राजकोषीय नीति का आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यापक प्रयोग होने लगा है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड केन्ज ने अर्थव्यवस्था को व्यापार चक्रों के बुरे प्रभावों से बचाने के लिए तथा पूर्ण रोजगार स्थिति को प्राप्त करने के लिए आर्थिक क्रियाओं में सरकारी हस्तक्षेप का सुझाव दिया है।

अतः अल्पविकसित देशों में सरकारें उचित राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति द्वारा न्याय के साथ विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने में काफी सीमा तक सफल हो सकती है।

अध्याय 11
भारत में कीमतें
(Prices in India)

योजनाबद्ध विकास तथा सामान्यजन के हित के लिए निरन्तर बढ़ती हुई कीमतों से हानिकारक और कुछ भी नहीं हो सकता। सन् 1949 की तुलना में रुपये का मूल्य 15 पैसे रह गया। योजनाओं की पैंतीस साल की अवधि में राष्ट्रीय आय में तीन गुना व द्धि हुई है। परन्तु मुद्रा पूर्ति के दस गुना बढ़ जाने के कारण कीमतें लगभग छः गुना बढ़ गई है। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास के फलस्वरूप कीमतों में कुछ व द्धि होनी आवश्यक ही है। परन्तु कीमतों में होने वाली अधिक व द्धि का देश के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। समाज के मध्यम तथा निर्धन श्रेणी के लोगों को बढ़ती हुई कीमतों के कारण कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव भारत जैसे देशों के लिए विकास के साथ-साथ स्थिरता का उद्देश्य प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

कीमत प्रव त्तियां (Trends in Prices)

भारत में द्वितीय महायुद्ध के समय से ही कीमतों के बढ़ने की प्रव त्ति पाई जा रही है। स्वतन्त्रता के बाद अर्थव्यवस्था में ऐसे कई लम्बे दौर आए हैं जब कीमतें तेजी से बढ़ी है। 1947 से 1952 तक, 1959 से 1961 तक, 1964 से 1967 तक, 1972 से 1975 तक तथा फरवरी 1979 से प्रारम्भ हुए वर्तमान काल को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। योजनाओं की अवधि में प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि, 1962-63, 1975-76 तथा 1977-78 के दौरान कीमतों पर नियन्त्रण रहा है। दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पैंतीस वर्षों में से 19 वर्ष भयंकर महंगाई और बढ़ती हुई कीमतों के वर्ष रहे हैं। भारत की कीमतों में होने वाले परिवर्तनों की प्रव त्ति को आगे दी गई तालिका से प्रगट किया जा सकता है।

Table I Trend in Prices

Year	Trend in Price
1939-49	Sprialing Price
1949-51	Moderate rise
1951-56	Decline Phase
1956-64	Moderate rise
1956-64	Spiraling Phase
1964-68	Disinflationary Phase
1968-71	Galloping Prices
1971-74	Galloping Prices
1974-75	Disinflating Phase
1975-76	Moderate rise
1976-77	Disinflationary Phase
1978-79	Galloping Prices
1979-80	Galloping Prices
1980-81	Galloping Prices
1981-82	Moderate Prices
1982-83	Moderate rise
1983-84	Moderate rise
1984-85	Moderate rise
1985-86	Moderate rise

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि भारत में कीमतों की प्रव त्ति काफी अस्थिर रही है। यह निम्नलिखित तालिका से भी स्पष्ट हो जाता है।

Year	Index No. Base - Year (1970-71)	Index Number (Base Year (1952-53)
1947	36	81
1950-51	45.5	108
First Plan (1955-56)	40.8	92.5
Second Plan (1960-61)	55	125
Third Plan (1965-66)	73	165
Fourth Plan (1973-74)	140	318
Fifth Plan (1977-78	186	421
(1979-88)	232	493
Sixth Plan (1980-81)	270	540
(1981-82)	277	544
(1982-83)	295	598
(1983-84)	322	608
1985-86	357	624

तालिका नं. 2 योजनाओं की अवधि में कीमत स्तर में होनेवाले परिवर्तनों की प्रव त्ति दो आधार वर्षों (1970-71) तथा (1952-53) के आधार पर प्रकट की गई है। उदाहरण के लिए 1970-71 के आधार वर्ष से ज्ञात होता है कि 1970-71 की तुलना में 1950-51 में कीमतें लगभग छः गुना अधिक है। भारत में कीमतों में होने वाले परिवर्तनों का विस्त त अध्ययन निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है।

(1) **स्वतन्त्रता से पहले कीमतें**—सन् 1939 में जब द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ तब से कीमतें बढ़ रही हैं। 1939 में कीमत सूचकांक 100 था। यह 1945-46 में बढ़ कर 445 हो गया। युद्ध के दौरान कीमतों में होने वाली व द्धि का कारण मित्र देशों को आवश्यक वस्तुओं का निर्यात अधिक होना, आदि।

(2) **स्वतन्त्रता के पश्चात् 1951 तक कीमत व द्धि**—युद्ध के पश्चात् यह अनुमान लगाया जा रहा था कि कीमतों में काफी कमी होगी परन्तु मूल्य ने अपने बढ़ने की प्रव त्ति में कोई रूकावट नहीं आने दी। सन् 1951 से कीमत सूचकांक बढ़कर 461 तक पहुंच गया। इसके कई कारण थे, जैसे देश के विभाजन के कारण लाखों लोगों का भारत आना, राशनिंग व्यवस्था तथा कण्ट्रोलों की समाप्ति कोरिया युद्ध।

(3) **प्रथम योजना में कीमतों में कमी**—प्रथम योजना की अवधि (1951 से 1956) में कीमतों में लगभग 17 प्रतिशत की कमी हुई। सन् 1984 की तुलना में 1956 में कीमतें छः गुना कम थीं इसका अभिप्राय यह है कि 1984 की तुलना में 1956 में एक रुपये का मूल्य छः रुपये के बराबर था। प्रथम योजना में कीमतों में होने वाली कमी के कारण थे जैसे क षि उत्पादन में व द्धि, कोरिया युद्ध की समाप्ति, बैंक दर में व द्धि, सरकारी बजट में बचत आदि।

(4) **दूसरी योजना में कीमतों में व द्धि**—इस योजना के दौरान कीमतें फिर बढ़ने लगी दूसरी योजना की अवधि में कीमतों में 35 प्रतिशत की व द्धि हुई। परन्तु 1984 तुलना में कीमतें पांच गुना कम थी। इस अवधि में कच्चे माल तथा निर्मित वस्तु की कीमतों में अधिक व द्धि हुई।

(5) **तीसरी योजना में कीमतों में व द्धि**—तीसरी योजना में कीमतों में बढ़ने की प्रव त्ति जारी रही। इस योजना की अवधि में कीमतों में लगभग 32 प्रतिशत की व द्धि हुई अनाज की कीमतों में सबसे अधिक अर्थात् 40 प्रतिशत की व द्धि हुई इसके कारण थे, जैसे चीन में युद्ध, जनसंख्या में व द्धि, अनाज के उत्पादन में कमी मुद्रा पूर्ति में व द्धि तथा घाटे की वितव्यवस्था

आदि। सन् 1984 की तुलना में तीसरी योजना के अन्तिम वर्ष में कीमतें चार गुना कम थी।

(6) **चौथी योजना में कीमतों में व द्धि**—चौथी योजना में कीमतों के बढ़ने की प्रव त्ति जारी रही है। इस योजना की अवधि में तीसरी योजना की तुलना में कीमतें 48 प्रतिशत बढ़ गई। परन्तु सन् 1984 की तुलना में चौथी योजना के अन्त में कीमतें लगभग आधी थी।

(7) **पांचवीं योजना में कीमतों में व द्धि**—पांचवीं योजना के चार वर्षों की अवधि में चौथी योजना की तुलना में कीमतों में लगभग 25 प्रतिशत की व द्धि हुई है। 1975-76 में कीमतें 1974-75 की तुलना में 8 प्रतिशत कम हुई थी। परन्तु बाकी सभी वर्षों में कीमतों में व द्धि है। 1981-82 में कीमतों में केवल 207 प्रतिशत की व द्धि हुई। छठी योजना में कीमतें 28 प्रतिशत बढ़ी हैं।

(8) **छठी योजना में कीमतों में व द्धि**—योजना की इस अवधि में कीमतों के बढ़ने की प्रव त्ति जारी है। 1980-81 में 17 प्रतिशत की व द्धि हुई है। 1980-81 में कीमतें बढ़ने का मुख्य कारण पैट्रोलियम की कीमती तथा औद्योगिक कच्चे माल की कीमतों में होने वाली व द्धि है। 1981-82 में कीमतों में केवल 2.7 प्रतिशत की व द्धि हुई।

(9) **सातवीं योजना में कीमत व द्धि**—योजना के पहले वर्ष 1985-86 में कीमतों में 3 प्रतिशत की व द्धि का अनुमान है।

कीमत व द्धि के परिणाम (Effects of Rise in Prices)

भारत में कीमत व द्धि काफी हानिकारक सिद्ध हुई है। कीमत व द्धि के मुख्य प्रतिकूल परिणाम निम्नलिखित है—

(i) **आर्थिक विकास पर प्रभाव**—कीमतों का बहुत तेजी से बढ़ना भारत के आर्थिक विकास के लिए उचित नहीं है। इसका निवेश तथा बचत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। निवेश पर इसका दीर्घकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाता है और इसके लिए कीमत स्थिरता की आवश्यकता होती है। यदि कीमतों में व द्धि होती रहती है। तो लोग जायदाद, सोने आदि में निवेश करना पसन्द करते हैं। परन्तु इस प्रकार का निवेश विकास के लिए उपयुक्त नहीं होता। कीमतों में होने वाली व द्धि का बचत पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। जब मुद्रा स्फीति की दर ब्याज की दर से अधिक हो जाती है तो लोगों के लिए बचत करना हानिकारक हो जाता है।

(2) **व्यापार की शर्तों पर प्रभाव**—भारत में मुद्रा स्फीति के फलस्वरूप क षि पदार्थों की कीमतों में गैर क षि पदार्थों की कीमतों की तुलना में अधिक व द्धि हुई है। इसके फलस्वरूप व्यापार की शर्तें क षि क्षेत्र के अनुकूल हो गई हैं। धनी किसानों की आय में अपेक्षाक त अधिक व द्धि हुई हैं। परन्तु ये किसान अपनी बढ़ती हुई आय का निवेश करने के स्थान पर उसको विलासता की वस्तुओं या अनुत्पादक कार्यों पर खर्च करते हैं। इसका आर्थिक विकास पर उचित प्रभाव नहीं पड़ता।

(3) **मजदूरी का दुष्चक्र**—कीमत व द्धि के फलस्वरूप मजदूर अधिक मजदूरी की मांग करते हैं। इसके फलस्वरूप कीमतों में और अधिक व द्धि होती है। कीमतों में व द्धि होने के कारण मजदूरी में व द्धि होती है। इस प्रकार मजदूरी तथा कीमत व द्धि का दुष्चक्र आरम्भ हो जाता है।

(4) **निश्चित आय वाले व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव**—मुद्रा स्फीति का निश्चित आय वाले व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कीमत स्तर में व द्धि होने के कारण उनकी मौद्रिक आय का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है। वे पहले की तुलना में कम वस्तुयें खरीद सकते हैं। उनका जीवन स्तर नीचा हो जाता है। मध्यम श्रेणियों के व्यक्तियों, पेन्शनरों, क्लर्कों, अध्यापकों आदि के जीवन स्तर पर कीमत व द्धि का बुरा प्रभाव पड़ता है।

(5) **लागत में व द्धि**—कीमत व द्धि के कारण सार्वजनिक तथा नीची दोनों क्षेत्रों की परियोजनाओं का लागत मूल्य बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप लगभग प्रत्येक योजना का व्यय उसके लक्ष्य से बढ़ जाता है। परन्तु भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति कम होती है।

(6) **धन का असमान वितरण**—मुद्रा स्फीति का लाभ उत्पादकों तथा व्यापारियों को होता है। इसके फलस्वरूप धनी अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होते जाते हैं। देश में धन का केन्द्रियकरण बढ़ता जा रहा है तथा धन के वितरण की असमानता कम होने के स्थान पर बढ़ रही है।

(7) **विदेशी निवेश पर बुरा प्रभाव**—कीमत व द्धि का विदेशी निवेश पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। विदेशी निवेशकर्ता उस

देश में निवेश नहीं करते। जिसमें मुद्रा का मूल्य कम हो रहा हो। कीमत व द्धि के कारण मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है तथा निवेशकर्ता को हानि उठानी पड़ती है।

(8) **प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन**—भारत में मुद्रा की कीमत में व द्धि होने के कारण निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। आयात पर तथा निर्यात का अन्तर बढ़ गया है। इसके फलस्वरूप भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो गया है। कीमत व द्धि के कारण निर्यात महंगे हो जाते हैं तथा वे दूसरे देश की सस्ती वस्तुओं की प्रतियोगिता नहीं कर पाते। इसका निर्यात पर बुरा प्रभाव पड़ता है। निर्यात में आवश्यकतानुसार व द्धि न होने के कारण भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता बढ़ती जाती है।

(9) **सट्टेबाजी तथा जमाखोरी**—बढ़ती हुई कीमतें सट्टे बाजी तथा जमाखोरी की प्रव त्ति की बढ़ावा देती है। इसके फलस्वरूप समाज को कठिनाई उठानी पड़ती है तथा जमाखोरी के कारण कीमतें और भी अधिक बढ़ जाती हैं।

(10) **भ्रष्टाचार तथा नैतिक पतन**—भारत में कीमत व द्धि ने भ्रष्टाचार तथा नैतिक पतन को बढ़ावा दिया है। कीमत में व द्धि के कारण नौकरी पेशा लोग विशेष रूप से सरकारी नौकर अपनी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर पाते। वे रिश्वत और अनैतिक क्रियाओं द्वारा अपनी आय बढ़ाते हैं। इसके फलस्वरूप भ्रष्टाचार पनपता है तथा नैतिक मूल्यों का पतन होता है।

कीमत में व द्धि के कारण (Causes of Increase in Price)—अर्थशास्त्र का सामान्य नियम है कि कीमत व द्धि मांग तथा पूर्ति के असन्तुलन का परिणाम है। भारत में कई कारणों से वस्तु की मांग, पूर्ति की तुलना से अधिक रही है कीमत व द्धि के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं।

(i) **मुद्रा में व द्धि**—मुद्रा की पूर्ति से अभिप्रायः उस कुल राशि से है जो लोगों के पास नकदी के रूप में तथा बैंकों में मांग जमा के रूप में जमा होती है। मुद्रा के परिणाम सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य स्तर में प्रयत्न सम्बन्ध है। यद्यपि केन्ज तथा दूसरे वर्तमान अर्थशास्त्री इस बात को नहीं मानते। उसके अनुसार यदि मुद्रा पूर्ति की व द्धि के साथ-साथ उत्पादन में भी उतनी ही व द्धि हो जाए तो कीमत स्तर नहीं बढ़ता। परन्तु उत्पादन में भी उतनी ही व द्धि हो जाए तो कीमत स्तर नहीं बढ़ता। परन्तु उत्पादन में भी उसी अनुपात में व द्धि न होने पर मुद्रा की पूर्ति बढ़ने पर कीमतें बढ़ जाती हैं। प्रो. मिल्टन फिडमैन के अनुसार अर्धविकसित देशों में यह सिद्धान्त अब भी लागू होता है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की मांग में व द्धि होने के फलस्वरूप यदि राष्ट्रीय आय में उसके बराबर व द्धि नहीं होती अर्थात् वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन उसी अनुपात में नहीं बढ़ता तो मूल्य स्तर बढ़ने लगता है। Infiation=Growth rate of money supply>Growth rate of National Income. भारत में मुद्रा प्रसार की व द्धि दर औसतन 14 प्रतिशत रही है। जबकि विकास की दर 3.5 प्रतिशत से अधिक नहीं रही। अतएव 10.5 प्रतिशत की दर से अतिरिक्त मुद्रा का निर्माण मूल्य व द्धि का कारण रहा है।

Table 3. Money-Supply and Price Level

	Percentage change in money supply	Percentage change in National Income	Percenetage change in prices
पहली पंचवर्षीय योजना	14%	+18	–17.3%
दूसरी पंचवर्षीय योजना	41%	+21	+35%
तीसरी पंचवर्षीय योजना	57%	+11.4	+32%
चौथी पंचवर्षीय योजना	90%	+18.4	+48%
पांचवी पंचवर्षीया योजना	72%	+18.4	+25%
1978-79	18%	+46	Nil
1979-80	19%	–4.9	+22%
छठी पंचवर्षीय योजना			
1980-81	17%	6.5	+17%

1981-82	12%	5.2	+2.7%
1984-85	18.9%	3.7	+7%
सातवीं पंचवर्षीय योजना			
1985-86	13.3%	5%	+3%

संक्षेप में, उपरोक्त तालिका से सिद्ध हो जाता है कि भारत में मुद्रा की मात्रा, वास्तविक राष्ट्रीय तथा मूल्य स्तर में प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत में मुद्रा की मात्रा में होने वाली व द्धि कीमत स्फीतिक रही है।

(2) **जनसंख्या में होने वाली व द्धि**—भारत की जनसंख्या 1921 से बढ़ रही है। 1951 से जनसंख्या में होने वाली व द्धि की दर बहुत अधिक हो गई। 1951 से 1961 में जनसंख्या 21.5% की दर से बढ़ी है। 1951 में जनसंख्या 34.5 करोड़ थी। 1961 में यह जनसंख्या बढ़कर 43.9 करोड़ हो गई। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या बढ़कर 54.8 करोड़ 1981 में 68 करोड़ तथा 1985 में 76 करोड़ लाख हो गई। जनसंख्या में व द्धि हो जाने के फलस्वरूप वस्तुओं की मांग काफी बढ़ जाती है। यद्यपि इस अवधि में पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप क षि उत्पादन में 78 प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन में 81 प्रतिशत तथा राष्ट्रीय आय में 70 प्रतिशत की व द्धि हुई है और यह व द्धि वास्तव में जनसंख्या की व द्धि से अधिक है। परन्तु एक तो जनसंख्या पहले से ही बहुत अधिक है। दूसरे जनसंख्या में प्रतिवर्ष 2.2 प्रतिशत की व द्धि हो रही है। इन कारणों से यह मानना पड़ता है कि कीमतों में होने वाली व द्धि पर जनसंख्या के दबाव का काफी प्रभाव पड़ा है।

(3) **निवेश की मात्रा में व द्धि**—भारत एक अल्पविकसित देश है। इसके आर्थिक विकास के लिए भारी निवेश करना बहुत आवश्यक है। 1984-85 की अवधि में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में 41348 करोड़ रुपये का निवेश किया गया। यह निवेश अधिकतर पूंजी पदार्थों पर किया जाता है। उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर अपेक्षाक त कम निवेश किया गया है। तीसरी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में 8577 करोड़ रुपये का निवेश हुआ तीसरी एक वर्षीय योजनाओं में 6625 करोड़ रुपये का निवेश हुआ चौथी योजना की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र में 15,779 करोड़ रुपये का निवेश किया गया है। पांचवी योजना के चार वर्ष की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र में 39,303 करोड़ रुपये का निवेश किया गया। इस निवेश के कारण पूंजी पदार्थों और अर्धनिर्मित वस्तुओं के मूल्य बढ़ गए। इसके फलस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों में काफी व द्धि हुई। निवेश बढ़ने के फलस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों में काफी व द्धि हुई। निवेश बढ़ने के फलस्वरूप मजदूरी में व द्धि हुई। लागत मूल्य बढ़ने से कीमतें बढ़ गई।

(4) **घाटे की वित्त व्यवस्था**—घाटे की वित्त व्यवस्था का अर्थ होता है। नए नोट छापकर सरकार के खर्च में होने वाले घाटे को पूरा करना। इन नोटों की संख्या बढ़ जाने के कारण मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। यदि उत्पादन तेजी से नहीं बढ़ता तो इसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ती हैं भारत की पहली पंचवर्षीय योजना में घाटे की वित्त व्यवस्था 333 करोड़ रुपये की गई। परन्तु उत्पादन में अधिक व द्धि हो जाने के फलस्वरूप कीमतों में व द्धि नहीं हो गई। दूसरी योजना में 955 करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था की गई। इसके फलस्वरूप कीमतों में 35 प्रतिशत की व द्धि हुई। तीसरी योजना में घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा कम रखी गई। इस योजना में 550 करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था का लक्ष्य रखा गया। परन्तु वास्तव में 1133 करोड़ रुपये की घाटे की वित्तव्यवस्था की गई। इसके फलस्वरूप कीमतों में 32 प्रतिशत की व द्धि हुई है। इसी प्रकार 1966-69 तक की एक वर्षीय योजना में 688 करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था की गई है। इसका प्रभाव भी कीमतों से होने वाली व द्धि पर ही पड़ा। चौथी योजना में 2750 करोड़ रुपये के घाटे की वित्त व्यवस्था की गई है। इस योजना की अवधि में कीमतों में 48 प्रतिशत की व द्धि हुई। पांचवी योजना की अवधि में 3560 करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था की गई। इस अवधि में कीमतें लगभग 25 प्रतिशत बढ़ी है। छठी योजना में 10,203 करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था की गई। इस योजना की अवधि में कीमतों में लगभग 20 प्रतिशत की व द्धि हुई है। इसके 1985-86 में 449 करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था की गई है। इसके फलस्वरूप कीमत स्तर में काफी व द्धि होने की सम्भावना है। संक्षेप में, भारत में कीमतों के बढ़ने पर घाटे की वित्त व्यवस्था का काफी प्रभाव पड़ा है।

(5) **सरकारी व्यय में व द्धि**—सरकार प्रतिवर्ष जो खर्च करती है उससे सामान्य जनता की आय बढ़ती है। अतएव सरकारी व्यय के बढ़ने का अर्थ होता है। जनता की आय में व द्धि और वस्तुओं तथा सेवाओं की अधिक मांग। पिछले वर्षों से केन्द्रीय

व राज्य सरकारों का व्यय बढ़ता जा रहा है। सन् 1961-62 से सन् 1983-84 की अवधि में ही सरकारी व्यय में 500 प्रतिशत की व द्धि हुई। सन् 1960-61 में कुल सरकारी व्यय (केन्द्रीय राज्य व केन्द्रशासित) 12,917 करोड़ रुपया था जो 1979-80 से बढ़कर 31,670 करोड़ रुपये तथा 1986-87 से बढ़कर 52862 करोड़ रुपये हो गया। सरकार के द्वारा किए जाने वाले कुल खर्चे का लगभग 40 प्रतिशत अविकास कार्यों जैसे रक्षा प्रशासन, शरणार्थी सहायता आदि पर होता है। 1960-61 में सरकारी व्यय किया जाता है। अतएव अविकास कार्यों पर बढ़ता हुआ सरकारी व्यय भी कीमत व द्धि का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ है।

(6) **क षि उत्पादन की कम व द्धि दर**—जब भी क षि का उत्पादन कम हो जाता है कीमतों में तेजी से व द्धि होती है। 1974-75 में अनाज के उत्पादन में 5 प्रतिशत की कमी हुई। इस वर्ष कीमतों में 25 प्रतिशत की व द्धि हुई। इसके विपरीत 1975-76 में अनाज के उत्पादन में 22 प्रतिशत की व द्धि हुई। इस वर्ष कीमतों में एक प्रतिशत की कमी हो गई। सन् 1978-79 में यद्यपि मुद्रा की पूर्ति में 18 प्रतिशत व द्धि हुई घाटे की वित्त व्यवस्था भी 2145 करोड़ रुपये की हो गई। परन्तु अनाज के उत्पादन में 4 प्रतिशत की व द्धि हुई। इस वर्ष कीमतें लगभग स्थिर रहीं। इसके विपरीत 1979-80 में क षि उत्पादन में लगभग 15 प्रतिशत की कमी हुई। इस वर्ष कीमतें 22 प्रतिशत बढ़ गईं। परन्तु 1980-81 में क षि उत्पादन में 15 प्रतिशत की व द्धि हुई है। परन्तु फिर भी कीमतें 17 प्रतिशत बढ़ गई हैं। इसका मुख्य कारण क षि पदार्थों की सरकार द्वारा निश्चित अधिक न्यूनतम कीमतें हैं। किसान अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करके भी कीमतों को अधिक रखने में सफल हो गए हैं। 1985-86 में क षि उत्पादन में केवल 3 प्रतिशत की व द्धि होने पर कीमतों में 5 प्रतिशत की व द्धि हुई।

(7) **उपभोग्य वस्तुओं का कम उत्पादन**—भारत में कई कारणों से जैसे बिजली की कमी, हड़तालों कच्चे माल की बढ़ती हुई कीमतों आदि के कारण उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन की व द्धि दर कम होने पर कीमतों में काफी व द्धि हो गई। 1981-82 में चीनी, सिमेन्ट, तिलहन, दालों का उत्पादन कम होने के कारण कीमतों में बहुत अधिक व द्धि हुई है। 1982-83 में अनाज की कीमतें 18 प्रतिशत, खनिज पदार्थों की 2.5 प्रतिशत, ईंधन की 19 प्रतिशत, फल और सब्जियों की 18 प्रतिशत तथा कपड़े की 16 प्रतिशत बढ़ गई है। परन्तु 1984-85 में इन वस्तुओं का उत्पादन अधिक होने के कारण कीमतों में केवल 1 प्रतिशत की व द्धि हुई।

(8) **वेतन व द्धि**—भारत में हर मूल्य व द्धि के बाद सरकारी कर्मचारी तथा संगठित मजदूर वेतन व द्धि की मांग करते हैं। यह मांग अक्सर स्वीकार कर ली जाती है। मगर इससे समस्या का समाधान नहीं होता हर वेतन व द्धि नई अधिक मूल्य व द्धि को प्रोत्साहन देती है जो निश्चित ही वेतन व द्धि की मात्रा से कहीं अधिक होती है। सरकार ने कई बार कर्मचारियों को बोनस तथा महंगाई भत्ता देने का निर्णय लिया है इससे भी मुद्रा की पूर्ति में व द्धि हुई है।

(9) **हड़ताले तथा तालाबन्दी**—उद्योग धन्धों में प्रायः होने वाली हड़तालों तथा तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों में उत्पादन में काफी कमी हुई है। 1972-73 से 190 लाख मनुष्य दिनों का हड़तालों तथा तालाबन्दी के कारण नुकसान हुआ। मई 1975 में रेल हड़ताल के फलस्वरूप देश को लगभग 500 करोड़ रुपये की हानि होने का अनुमान है। सन् 1979-80 में हड़तालों के फलस्वरूप 300 लाख मनुष्य दिनों की हानि हुई है। इसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन की व द्धि-दर 1978-79 की तुलना में 1.4 प्रतिशत कम हो गई। 1982-83 में 331 लाख मनुष्य दिनों की हानि हड़ताल के कारण हुई 1984-85 में यह हानि बढ़कर 415 लाख मनुष्य दिन हो गई। औद्योगिक झगड़ों के कारण उत्पादन कम होता है तथा कीमतें बढ़ गईं।

(10) **काला धन**—देश में महंगाई बढ़ाने में काले धन का काफी महत्व है। इस धन के कारण हमारे देश में एक समानान्तर अर्थव्यवस्था चल रही है। जिस पर सरकार का कोई नियन्त्रण नहीं है। वाचू समिति के अनुसार, भारत में 1969-70 में 7000 करोड़ रुपये का काला धन होने का अनुमान था। सन् 1984-85 में इसके 69000 करोड़ रुपये से अधिक होने का अनुमान है काले धन के कारण लोग विलासता तथा दिखावे की वस्तुओं पर बहुत धन खर्च करते हैं यह कीमत व द्धि का एक महत्वपूर्ण कारण बन जाता है।

(11) **राष्ट्रीयकरण की प्रक ति**—भारत में राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप भी कीमतें बढ़ी हैं। सरकारी उद्यम अपने घाटे को पूरा करने के लिए अपने उत्पादन की कीमतें बढ़ा देते हैं।

(12) **प्रबन्धित कीमतें**—भारत में सरकार द्वारा प्रबन्धित कीमतों जैसे रेल भाड़ा, डाक व्यय, कोयले, स्टील, लोहे, एल्यूमीनियम

तथा राष्ट्रीय उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतों में व द्धि किए जाने के फलस्वरूप भी देश में कीमत स्तर बढ़ गया है।

(13) **सरकारी प्रोत्साहन**—उद्योगपति कई वस्तुओं का उत्पादन कम करके उसकी पूर्ति कम कर देते हैं। बाजार में कीमतें तेजी से बढ़ जाती हैं। सरकार स्वयं उन उद्योगपतियों को पहले से अधिक परन्तु वर्तमान से कुछ कम कीमतें बढ़ा देने की अनुमति दे देती है। इस प्रकार कीमतों में क त्रिम रूप से की गई व द्धि स्थायी बन जाती है। इस समय चीनी की कीमतों में इसी कारण बहुत अधिक व द्धि हुई है।

(14) **नए तथा पुराने टैक्स**—मूल्य व द्धि के पीछे टैक्सो का महत्वपूर्ण हाथ होता है। यह एक स्पष्ट सत्य है कि फरवरी में बजट पेश करने से पहले अनेक वस्तुएं बाजार से गायब हो जाती हैं या अकारण उनकी मूल्य व द्धि हो जाती है। वास्तव में उपभोग्य वस्तुओं पर टैक्स की अधिक गुंजाइश नहीं रह गई है। 1986-87 के बजट में 1524 करोड़ के नए टैक्स वस्तुओं पर लगाए गए हैं इसके फलस्वरूप कीमतों में अवश्य व द्धि होगी।

(15) **जमाखोरी**—भारत में पिछले दो वर्षों में कीमतों में बहुत अधिक व द्धि होने का मुख्य कारण जमाखोरी है व्यापारी वर्ग कई आवश्यक वस्तुओं का स्टॉक कर लेते हैं मुद्रा की गिरती हुई कीमतों के कारण लोग अपनी पूंजी वस्तुओं के रूप में रख रहे हैं। लोगों की जमाखोरी की प्रव त्ति काफी बढ़ गई है। उपभोक्ताओं पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ रहा है। वे भी अधिक से अधिक वस्तुओं का संग्रह करने लगे हैं।

(16) **विदेशों में कीमत व द्धि का प्रभाव**—संसार के लगभग सभी देशों में कीमतें बढ़ रही हैं इन बढ़ती हुई कीमतों का भी हमारे देश भी कीमत व द्धि पर काफी प्रभाव पड़ा है। सन् 1980 में पैट्रोलियम तथा उन पर आधारित उत्पादन की कीमत कई गुना बढ़ गई है। विदेशो से आयात किए जाने वाले लगभग सभी कच्चे माल की कीमतें कई गुना बढ़ गई हैं।

(17) **युद्ध का प्रभाव**—सन् 1972 में बंगला देश की समस्या एवं पाकिस्तानी युद्ध के फलस्वरूप देश का सुरक्षा व्यय बहुत अधिक बढ़ गया सरकार को बंगला देश से आने वाले शरणार्थियों की सहायता तथा पाकिस्तान के युद्ध बन्दियों पर करोड़ों रुपये की धन राशि खर्च करनी पड़ी। 1970-71 से सुरक्षा पर किए जाने वाला कुल व्यय 1100 करोड़ रुपये था। 1986-87 से यह बढ़करी 8728 करोड़ रुपये हो गया। केन्द्रीय सरकार का बजट पर 15 प्रतिशत भाग रक्षा पर खर्च किया जाता है। इस प्रकार का अनुत्पादक खर्च कीमतों में व द्धि का कारण बनता है।

(18) **साख विस्तार**— डा. ब्रह्मानन्द के अनुसार भारत में कीमत व द्धि होने का मुख्य कारण साख विस्तार भी है। सन् 1980 में कुल बैंक साख 30,180 करोड़ रुपये थी। 1985 में यह बढ़कर 55506 करोड़ रुपये हो गई है। साख का इतनी अधिक मात्रा में विस्तार होना भी मुद्रा स्फीति का एक मुख्य कारण है।

(19) **विदेशी विनिमय विधि**—पिछले तीन वर्षों में विदेशी विनिमय कोष में काफी मात्रा में व द्धि हो गई है। 1974-75 में विदेशी विनिमय कोष में काफी मात्रा में व द्धि हुई है। 1985-86 में यह बढ़कर 6816 करोड़ रुपये हो गया।

संक्षेप में, भारत में पूर्ति की कमी तथा मांग में व द्धि, प्रशासन की असफलता, स्वार्थी तत्वों के असमाजिक कार्यों का कार्यक्रम सफल रहा है।

कीमत व द्धि को रोकने के सम्बन्ध में सुझाव (Suggestion to check Rise in prices)

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा. के एन. राज के अनुसार, ''भारत के आर्थिक तथा राजनैतिक भविष्य के विषय में शायद इतनी अधिक निराशा किसी और कारण से नहीं हुई है। जितनी कीमत के तीव्र गति से बढ़ने के फलस्वरूप हुई है।'' देश के आर्थिक विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति, योजनाओं की सफलता, 'गरीबी हटाओ' की व्यावहारिकता तथा सामाजिक और राजनैतिक स्थिरता के लिए आवश्यक है कि कीमतों में होने वाली व द्धि को रोका जा सके। इसके लिए कई प्रकार के उपाय अपनाने पड़ेंगें। भारत में बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) **मुद्रा की पूर्ति पर नियंत्रण**—कीमतों में व द्धि को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाने नहीं दिए जाए। मुद्रा की पूर्ति को स्थिर कर देना चाहिए यह दो प्रकार से किया जा सकता है—(i) व्यावसायिक क्षेत्र को दी जाने वाली बैंक साख की वर्तमान दर कम कर दी जाए। इसके लिए रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंक की 50 प्रतिशत नई जमा अपने पास सुरक्षित रख लेनी चाहिए। (ii) बैंक द्वारा सरकार को एक वर्ष के लिए कोई साख नहीं दी जानी चाहिए। सरकार की साख आवश्यकता को कम करने के लिए सब प्रकार के सरकारी खर्चों में 7.5 प्रतिशत की एक वर्ष के लिए कमी कर

देनी चाहिए। प्रो. वकील ने इस सम्बन्ध में यह सुझाव दिया है कि बैंकों तथा जनता के पास जितनी मुद्रा है उसकी 30 प्रतिशत कम कर दी जाए। इसके बदले में लोगों को कटौती के मूल्य के बराबर सर्टीफिकेट दिए जाएं जिन्हें स्थिति ठीक होने पर नकद मुद्रा में बदल दिया जाए। राज्य सरकारों को ओवर ड्राफ्ट की कम सुविधा दी जाए।

(2) **घाटे की वित्त व्यवस्था में कमी**—देश में घाटे की वित्त व्यवस्था में कमी की जानी चाहिए। सरकार अपने लक्ष्य में तभी सफल हो सकती है जब घाटे की वित्त व्यवस्था को कम किया जाए तथा धन एकत्रित करने के नए साधन अपनाए जाएं। क षि क्षेत्र पर कर लगाकर तथा बेकार के खर्चों में कमी करके घाटे की वित्त व्यवस्था को कम कर सकती है।

(3) **क षि उत्पादन में व द्धि**—भारत के लगभग सभी प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि अत्यधिक कीमत व द्धि को रोकने के लिए क षि उत्पादन की व द्धि दर को बढ़ाना बहुत आवश्यक है। क षि उत्पादन भारत में मुख्य मजदूरी वस्तुयें हैं इनकी कीमतों के स्थिर होने का बाकी कीमतों पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। डा. के. एन. राज के अनुसार, ''देश में मोटे अनाज तथा चावल के उत्पादन को बढ़ाने के विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिएं, क्योंकि 75 प्रतिशत के लगभग खाद्य पदार्थ इन्हीं अनाजों से प्राप्त होते हैं।'' डॉ. मिन्हास ने यह सुझाव दिया है कि डीजल तथा आयात की गई खादों की कीमतों में व द्धि होने के फलस्वरूप, क षि उत्पादन को बढ़ाने के लिए देश में प्राप्त साधनों पर ही अधिक निर्भर रहना चाहिए। छोटे किसानों को क षि उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में विशेष सहायता दी जानी चाहिए। अनाज के उत्पादन के साथ-साथ कपास, गन्ना और पटसन के उत्पादन में व द्धि के लिए विशेष उत्पादन किए जाने आवश्यक हैं।

(4) **औद्योगिक उत्पादन में व द्धि**—भारत में बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिए औद्योगिक उत्पादन कम लागतों पर बढ़ाना बहुत आवश्यक है। इसके लिए अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों प्रकार के उपाय अपनाए जाने चाहिएं। अल्पकाल में बिजली की कमी, कच्चे माल की कम मात्रा आदि को ध्यान में रखते हुए अनावश्यक वस्तुओं उत्पादन के प्रयोग में किए जाने वाले साधनों का आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए अधिक प्रयोग किया जाना चाहिए। सरकार को आम जनता के प्रयोग उपभोग की वस्तुएं, जैसे वनस्पति, सूती कपड़ा, चीनी के उत्पादन की पूर्ण क्षमता के प्रयोग के सम्बन्ध में उचित नीति बनानी चाहिए। इस उत्पादन नीति को कुशलतापूर्वक लागू किया जाना चाहिए। सरकार उद्योगों की उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग किया जाना आवश्यक है। औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में कई दीर्घकालीन उपाय भी अपनाए जाने चाहिएं—(i) आम उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के लिए नये कारखानें स्थापित करना। (ii) उद्योग की स्थापना में स्थानीय साधनों का अधिक प्रयोग करना तथा आयतों की निर्भरता कम करना। (iii) पैट्रोल उत्पादन पर आधारित खाद के कारखानों और डीजल से चलने वाले कारखानें में कोयले का अधिक प्रयोग करना लघु तथा कुटीर उद्योग-धन्धों का तीव्र गति से विकास करना।

(5) **राष्ट्रीय मजदूर नीति**—देश में उत्पादन बढ़ाने तथा कीमतों को रोकने के लिए श्रमिकों के सहयोग की बहुत अधिक आवश्यकता है एक वर्ष की अवधि के लिए हड़ताले तथा तालाबन्दी बिल्कुल बन्द कर दी जाए। प्रो. दांतवाले ने इस सम्बन्ध में विचार दिया था कि यदि श्रमिक हड़ताल करते हैं तो हड़ताल के समय की मजदूरी श्रमिकों को दिए जाने की बजाए एक अलग फंड में कर दी जाने चाहिए। इसका उपयोग छंटनी तथा बेरोजगारी के समय की जानी चाहिए। देश में राष्ट्रीय मजदूरी नीति लागू की जानी चाहिए। जिसमें मजदूरी को उत्पादक से सम्बन्धित किया जाए। मजदूरी में की जाने वाली आन्तरिक व द्धि बन्द कर दी जानी चाहिए।

(6) **राजकोषिय नीति**—कीमत व द्धि को रोकने के लिए राजकोषीय नीति भी सहायक सिद्ध हो सकती है। राजकोषीय नीति के दोनों पहलुओं अर्थात् सरकारी आय तथा सरकारी व्यय का उचित प्रयोग करके कीमत व द्धि हो रोकने का प्रयोग किया जा सकता है। सरकार को क षि क्षेत्र पर अधिक कर लगाने चाहिए। इस समय कुल क षि उत्पादन का 0-82 प्रतिशत करों के रूप में प्राप्त किया जाता है। जबकि 1960-61 में यह 1.6 प्रतिशत था। इसके विपरीत अक षि उत्पादन पर करों का भार 44 प्रतिशत से बढ़कर 22 प्रतिशत हो गया। अतः क षि क्षेत्र से अधिक आय प्राप्त करने की काफी सम्भावनाएं हैं। इसका एक लाभ यह होगा की बड़े किसान की उपभोग प्रवति कम हो जाएगी और दूसरा लाभ यह होगा कि अक षि क्षेत्र पर करों का भार कम होने के फलस्वरूप वे इसे कीमत व द्धि के रूप में जनता पर डालने का प्रयत्न नहीं करेंगे। राजकोषीय नीति का दूसरा पहलू आवश्यक सरकारी व्यय को कम करना है। राज्य सरकारों को अपने आय के साधनों को कुशलतापूर्वक बढ़ाकर अनावश्यक खर्चें कम करने चाहिए। केन्द्रीय सरकार को भी अविकासात्मक व्ययों को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। राजकोषीय नीति का प्रयोग करके सरकार को निवेश तथा बचत को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(7) **उचित कीमत दुकानों द्वारा वितरण**—डा. के. एन. राज का यह मत है कि कीमतों में होने वाली व द्धि को रोकने के लिए

उचित कीमत दुकानों द्वारा निर्धन जनता को उचित मात्रा में सस्ती कीमतों पर आवश्यक वस्तुओं का वितरण करना चाहिए इन दुकानों को गांवों, कस्बों और पिछड़े हुए क्षेत्रों में अधिक संख्या में खोलना चाहिए।

(8) **जमाखोरी की रोकथाम**—सरकार द्वारा आवश्यक वस्तुओं की जमाखोरी की रोकथाम के लिए सख्त कदम उठाये जाने चाहिए। जमाखोरी की रोकथाम केवल मौद्रिक उपायों से सम्भव नहीं है। केवल बैंकों द्वारा दी जाने वाले साख को कम करके तथा ब्याज की दर को बढ़ाकर ही जमाखोरी को नहीं रोका जा सकता, क्योंकि जब लाभ की सम्भावना होती है तब जमाखोरी को नहीं रोका जा सकता, क्योंकि जब लाभ की सम्भावना होती है। तब जमाखोर ऊंचे ब्याज पर भी संगठित मौद्रिक से काफी धन प्राप्त कर लेते हैं। जमाखोरी को तभी कम किया जा सकता है। जब इसे लाभप्रद न रहने दिया जाए। यदि सरकार भविष्य में होने वाली मूल्यों में व द्धि को अपने स्टॉक को बेचकर अथवा अधिक आयात द्वारा रोक सके तो जमाखोरी की प्रव त्ति को कम करने में सहायता मिलेगी।

(9) **काले धन की समस्या**—जिन लोगों के पास काला धन है वे कीमत बढ़ाने के लिए काफी सीमा तक जिम्मेदार हैं एक ओर तो काला धन बढ़ती हुई कीमतों के साथ बढ़ता जाता है और दूसरी ओर काला धन हर कीमतों पर वस्तुएं प्राप्त किए जाने के लिए खर्च किया जाता है। इसलिए वह बढ़ती हुई कीमतों पर भी कीमत पर भी मांग को कायम रखता है। काले धन की समस्या को हल करने के लिए सुझाव तो यह दिया जाता है कि देश की मुद्रा का विमुद्रीकरण कर दिया जाए, जैसे कि जर्मनी में किया गया था। इसके लिए दूसरा सुझाव यह दिया जा सकता है कि जिन लोगों के पास काला धन है उन्हें स्वेच्छा से इसकी जानकारी देने पर कोई दण्ड न दिया जाये तथा उस काले धन की राशि को रकम के दीर्घकालीन बाँड दे दिए जाए जिससे काले धन को प्रचलन से हटाया जा सके।

(10) **उपभोक्ताओं का संगठन**—उपभोक्ता भी संगठित होकर बढ़ती हुई कीमतों का विरोध कर सकते हैं। यदि उपभोक्ता कीमतों के बढ़ने पर अपनी मांग कर दें तथा व्यापारियों और उत्पादकों का विरोध करे तो कीमतों में आसानी से व द्धि न हो सकेगी। नई दिल्ली में अखिल भारतीय उपभोक्ता कौंसिल तथा बम्बई में उपभोक्ता सलाहकार समिति की स्थापना इसी उद्देश्य के लिए की गई।

(11) **अनार्थिक उपाय**—भारत जैसे प्रजातंत्रात्मक देशों में जहां राजनैतिक पार्टियों को चुनाव लड़ने के लिए बहुत अधिक धन खर्च करना पड़ता है कीमतों में होने वाली व द्धि केवल आर्थिक उपायों द्वारा ही नहीं रोकी जा सकती। जब राजनीतिक दल चुनाव लड़ने के लिए पूंजीपतियों से धन एकत्रित करते हैं, तो वे उन्हें और अधिक चोरबाजारी, जमाखोरी आदि के द्वारा अधिक धन प्राप्त करने में सहायता देते हैं। अतः देश के राजनैतिक वातावरण में तथा चुनाव प्रणाली में सुधार करने की बहुत आवश्यकता है।

(12) **योजनाओं का कार्यकरण**—पंचवर्षीय योजनाओं को लक्ष्यों तथा वित्तीय साधनों की द ष्टि से एक-एक वर्ष के पांच भागों में लागू करना चाहिए। प्रत्येक वर्ष खर्च तथा उत्पादन के लक्ष्यों को प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि योजना के अन्तिम वर्ष में जो अधिक धन खर्च किया जाता है तथा उत्पादन के लक्ष्यों की प्राप्ति को ध्यान में नहीं रखा जाता उसे रोका जा सकेगा। इसके फलस्वरूप मुद्रा की पूर्ति के बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन भी बढ़ेगा तथा कीमतों को स्थिर रखा जा सकेगा।

(13) **जनसंख्या पर नियंत्रण**—भारत में जनसंख्या की व द्धि दर को कम किया जाना चाहिए। जनसंख्या की व द्धि दर कम होने के कारण मांग में कमी होगी। मांग में कमी होने के फलस्वरूप कीमत व द्धि को रोका जा सकेगा।

(14) **मौद्रिक तथा राजकोषीय मिश्रण**—कीमत व द्धि को रोकने के लिए मौद्रिक तथा राजकोषीय नीति के निम्नलिखित मिश्रण का प्रयोग करना चाहिए—(a) मुद्रा की व द्धि को कम कर देना चाहिए। (b) ब्याज की दर बढ़ानी चाहिए। (c) स्मग्लिंग को रोकना चाहिए। (d) साख का संकुचन करना चाहिए। (e) राज्य सरकार के स्तर पर करो को बढ़ा देना चाहिए। (f) सार्वजनिक व्यय को कम किया जाना चाहिए।

(15) **आवश्यक उपभोग वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध**—जनता के उपभोग में आने वाली वस्तुओं जैसे प्याज, सब्जियां, चीनी, सीमेंट आदि का निर्यात नहीं किया जाना चाहिए।

(16) **आवश्यक उपभोग वस्तुओं का आयात**—भारत की विदेशी विनिमय विधि में अब काफी व द्धि हो गई है। इसलिए कीमत व द्धि को रोकने के लिए आवश्यक वस्तुओं का आयात किया जाना चाहिए। इसके फलस्वरूप कीमतों में होने वाली व द्धि को रोका जा सकेगा।

(17) **शक्ति तथा यातायात का विकास**—भारत में बिजली, कोयले तथा शक्ति के अन्य साधनों की पूर्ति में व द्धि की जानी

चाहिए। इसके फलस्वरूप उत्पादन अधिक किया जा सकेगा। यातायात के साधनों के विकास के फलस्वरूप भी उद्योगों को कच्चा माल उचित समय पर मिल सकेगा।

(18) **प्रशासकीय कीमतों में बढ़ने पर नियन्त्रण**—सरकार को आधारभूत कच्चे माल जैसे—लोहे, कोयले, एल्यूमिनियम की कीमत कम निर्धारित करनी चाहिए। प्रशासकीय कीमतों के कम होने के कारण बाकी कीमतें भी स्थिर हो सकेगी।

संक्षेप में, कीमत व द्धि की समस्या ने सारे संसार के अर्थशास्त्रियों को परेशानी में डाल दिया है। परन्तु यह केवल एक आर्थिक समस्या ही नहीं, बल्कि राजनैतिक, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्या भी है। जिसका उपचार सभी सम्बन्धित व्यक्तियों ने मिलकर करना है। यदि कीमत में होने वाली इस व द्धि को रोका न गया तो केवल भारत का नहीं बल्कि सारे पूंजीवाद का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। अब हमें मूल्य-व द्धि को रोकने अथवा नष्ट हो जाने के विकल्पों में से एक को चुनना है। श्री एस. एस. अय्यर के अनुसार, ''कीमतों के नियंत्रण के लिए बढ़ती हुई पूर्ति आवश्यक है परन्तु केवल यही काफी नहीं है हमें मौद्रिक नियंत्रण, कीमत नियंत्रण, कुशल सार्वजनिक निवेश तथा संतुलित आयात की नीतियों को विशेष रूप से अपनाना चाहिए।'' (Increased supplies are no doubt important for controlling prices but they are not enough. We must also have monetary discipline, pricing discipline, effecient public investment and balance imports)

कीमत संयंत्र का कार्यकरण
(Working of Price Mechanism)

एक स्वतन्त्र उद्यम अर्थव्यवस्था या पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आधारभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान कीमत संयंत्र की सहायता से किया जाता है। कीमत संयंत्र से अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के मांग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है किसी निश्चित समय में किसी वस्तु के विक्रेता उस वस्तु की विभिन्न मात्राएं विभिन्न कीमतों पर बेचने को तैयार होते हैं। इसके विपरीत वस्तु के क्रेता विभिन्न कीमतों पर वस्तु की विभिन्न मात्रा खरीदने को तैयार होते हैं। वस्तु की अधिक कीमत पर वे उसकी कम मात्रा खरीदने को तैयार होते हैं, तथा कम कीमत पर अधिक मात्रा खरीदना चाहते हैं बाजार में वस्तु की वह कीमत निर्धारित होगी जिस पर वस्तु की मांग तथा पूर्ति बराबर होती है। इस कीमत को संतुलन कीमत कहते हैं। यदि किसी कारणवश मांग तथा पूर्ति में असंतुलन हो जाता है अर्थात् मांग तथा पूर्ति एक दूसरे के बराबर नहीं होते तो कीमत में स्वयं इस प्रकार परिवर्तन होता है कि मांग तथा पूर्ति में फिर से सन्तुलन स्थापित हो जाता है। फर्गूसन के शब्दों में, ''कीमत संयंत्र से अभिप्राय विभिन्न बाजारों में मांग तथा पूर्ति की अन्तक्रिया द्वारा वस्तुओं, सेवाओं तथा साधनों की कीमत निर्धारण करना है। कीमत वह राशि है जो किसी वस्तु या साधन की निश्चित मात्रा तथा गुणवत्ता को प्राप्त करने के लिए दी जाती है।''

यह ध्यान रखना चाहिए कि कीमत संयंत्र के सम्बन्ध में बाजार शब्द का प्रयोग किसी एक विशेष स्थान, स्थिति या क्षेत्र जैसे चांदनी चौक या सदर बाजार के लिए किया जाता है। बाजार शब्द से अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत क्रेता एवं विक्रेता सामान्यता मुद्रा के माध्यम के द्वारा वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय करते हैं। कीमत संयंत्र द्वारा अर्थव्यवस्था में तुलनात्मक कीमतें निर्धारित होती है। एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में तुलनात्मक कीमतों द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि क्या (What), कैसे (How) तथा किसके लिए (for whom) उत्पादन किया जाना है बाजार में तुलनात्मक कीमतों का निर्धारण दो प्रकार की शक्तियों द्वारा किया जाता है। एक तो क्रेताओं और उपभोक्ताओं की किसी वस्तु की प्रचलित कीमत पर उसकी विभिन्न मात्राएं खरीदने की इच्छा, दूसरी ओर विक्रेताओं की किसी वस्तु की विभिन्न अनुमानित कीमतों पर इसकी विभिन्न मात्राओं की पूर्ति करने की इच्छा। कीमत संयंत्र का मुख्य कार्य क्रेताओं और विक्रेताओं की इच्छाओं में सन्तुलन स्थापित करना है।

संक्षेप में, कीमत संयंत्र बाजार में मांग और पूर्ति की शक्तियों से संबंधित संयंत्र है। किसी अर्थव्यवस्था में जहां मांग और पूर्ति की शक्तियों को करने की स्वतन्त्रता होती है। केवल वे वस्तुएं ही उत्पादित की जाएगी जिनकी सापेक्ष कीमत अधिक होने की प्रव त्ति के कारण उत्पादकों को मिलने वाले लाभ अधिक होने की सम्भावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार उत्पादन के उन्हीं साधनों को अधिक रोजगार प्राप्त होगा जिनकी तुलनात्मक कीमतें कम होने के कारण उत्पादकों को न्यूनतम उत्पादन लागत खर्च करनी पड़ती है इसके साथ-साथ उत्पादन के साधनों की आय अर्थात विभिन्न साधनों का आय में भाग साधनों की कीमतों पर निर्भर करता है। जिनको निर्धारण मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है।

कीमत संयंत्र का कार्यकरणः—

एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के वस्तु बाजार में कीमत संयंत्र को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस चित्र में OY अक्ष पर वस्तु की कीमत तथा OX अक्ष पर वस्तु की मांग तथा पूर्ति अर्थात् मात्रा को प्रकट किया गया है। जब वस्तु की कीमत OP है तथा क्रेता वस्तु की OL मात्रा खरीदने को तैयार है तथा विक्रेता OK मात्रा बेचने को तैयार है। अतएव OP कीमत पर वस्तु की पूर्ति OK उसकी मांग OL से अधिक होगी। OK > OL अर्थात् LK पूर्ति अधिक्त होगा। इस स्थिति में कीमत कम होने की प्रव त्ति प्रकट करेगी क्योंकि विक्रेताओं में प्रतिस्पर्धा हो जाएगी। इसके विपरीत जब कीमत OT होगी, वस्तु की मांग ON होगी तथा पूर्ति OM होगी इस प्रकार वस्तु की मांग उसकी पूर्ति से अधिक होगी ON > OM अर्थात MN मांग अधिक होगी।

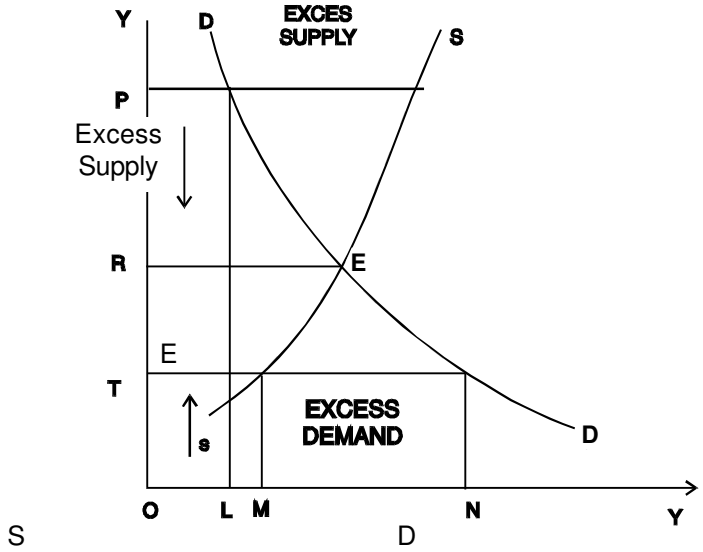

इस अवस्था में क्रेताओं में वस्तु खरीदने के लिए प्रतिस्पर्धा के कारण कीमत अधिक होने की प्रव त्ति प्रकट होगी यदि कीमत OR निर्धारित होती है। तो मांग तथा पूर्ति एक दूसरे के बराबर होगी। इस कीमत पर वस्तु के विक्रेता जितनी पूर्ति करना चाहेंगे क्रेता उतनी ही मांग करेंगे। अतएव कीमत में किसी प्रकार के परिवर्तन की प्रव त्ति नहीं पाई जाएगी। यदि कीमत OR से अधिक या कम हो जाती है तो वह वापस लौटकर OR के बराबर हो जाएगी। यदि कीमत OR कीमत को सन्तुलन कीमत कहा जाएगा। इस कीमत पर वस्तु की मांग तथा पूर्ति में समानता अर्थात् संतुलन पाया जाता है।

कीमत संयंत्र, साधन बाजार में उत्पादन के साधनों जैसे भूमि, श्रम, पूंजी आदि की मांग तथा पूर्ति में उसी प्रकार संतुलन स्थापित करता है जिस प्रकार वस्तु बाजार में करता है साधनों की कीमतें अर्थात् लगान, ब्याज, मजदूरी तथा लाभ साधनों की आय होती है। विभिन्न साधनों की पूर्ति विभिन्न ग हस्थ करते हैं तथा उनकी मांग उत्पादक करते हैं इन साधनों की मांग तथा पूर्ति द्वारा ही इनकी कीमत निर्धारित होती है तथा इनकी मांग तथा पूर्ति में असमानता हो जाने पर साधन कीमतों में होने वाले परिवर्तनों द्वारा फिर से समानता स्थापित हो जाती है या संतुलन की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

विक्रेता के लिए कीमत एक पुरस्कार है तथा क्रेता के लिए कीमत उसके द्वारा किया जाने वाला भुगतान। पुरस्कार तथा भुगतान की इस प्रणाली को ही कीमत संयंत्र कहा जाता है। प्रत्येक विक्रेता तथा क्रेता बाजार में प्रचलित कीमतों के आधार पर ही वस्तु की मांग तथा पूर्ति सम्बन्धी निर्णय लेते हैं। वस्तु की मांग तथा पूर्ति सम्बन्धी निर्णय बाजार में लिए जाते हैं। बाजार में ही क्रेता और विक्रेताओं में परस्पर सौदे होते हैं। जब कोई उपभोक्ता किसी उत्पादक से कोई वस्तु खरीदता है तब वह मुद्रा में भुगतान करता है। प्रति इकाई भुगतान को ही वस्तु की कीमत कहा जाता है। सभी वस्तुओं, सेवाओं तथा उत्पादन के साधनों की अपनी कीमतें होती है। वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण वस्तु बाजार में होता है तथा उत्पादन के साधनों जैसे श्रम की कीमतों का निर्धारण साधन बाजार में होता है। अतः एक बाजार दो प्रकार का होता है।

(1) वस्तु बाजार—वह बाजार है जहां वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय विक्रय होता है।
साधन बाजार—वह बाजार है जहां उत्पादन के साधनों जैसे—श्रम की सेवाओं का क्रय विक्रय होता है। कीमत संयंत्र की क्रिया विधि को निम्नलिखित चित्र 2 की सहायता से व्याख्या की जा सकती है।

(1) ग हस्थ उत्पादक बाजार, वस्तु बाजार और साधन बाजार के द्वारा परस्पर संबंधित है ग हस्थ, वस्तु बाजार में खरीदार के रूप में तथा साधन बाजार में विक्रेता के रूप में कार्य करते हैं। इसके विपरीत उत्पादक वस्तु बाजार में विक्रेता के रूप में तथा साधन बाजार में क्रेता के रूप में कार्य करते हैं।

(2) ग हस्थ—ग हस्थ अपने व्यय के द्वारा आवश्यकताओं के बारे में उत्पादकों फर्मों को अवगत करा देते हैं। उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें उपभोक्ता खरीदना चाहते हैं क्योंकि उन वस्तुओं की बाजार में ऊंची कीमतें मिलती हैं। इस प्रकार कीमत संयंत्र उत्पादकों का यह मार्गदर्शन करता है कि उन्हें क्या और कैसे उत्पादन करना चाहिए।

(3) उपभोक्ता—वस्तु बाजार में विभिन्न वस्तुओं को खरीदने में अपनी आय का व्यय इस प्रकार से करते हैं कि उन्हें अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो।

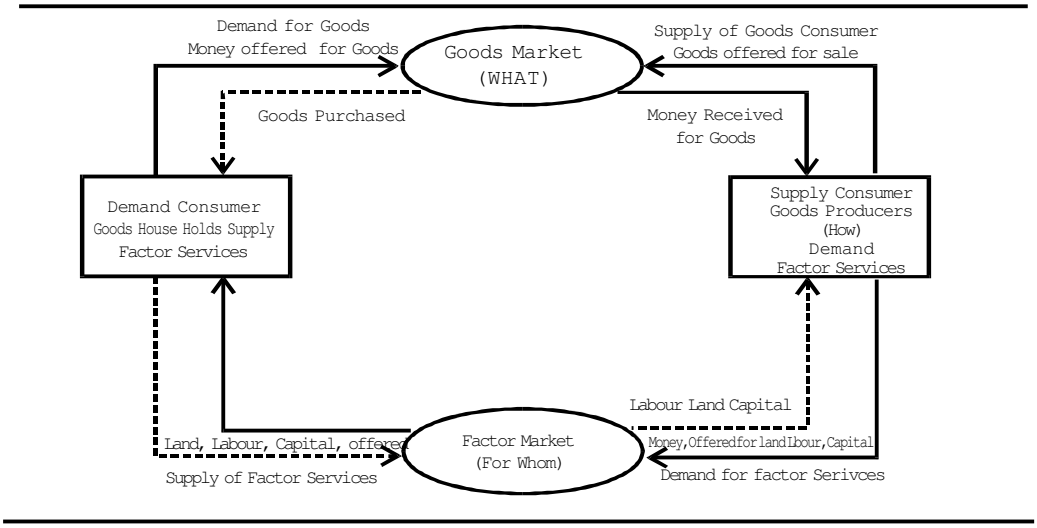

(4) उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार करने का प्रयत्न करते हैं कि उत्पादन लागत न्यूनतम हो इसके लिए वे न्यूनतम उत्पादन लागत वाली विधि को अपनाते हैं। उत्पादन लागत में उत्पादन के साधनों की कीमतें शामिल होती हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे उन वस्तुओं की पूर्ति करेंगे जिनकी उपभोक्ता वस्तुओं की मांग की जाती है। वह अवस्था जिसमें वस्तुओं की मांग वस्तुओं की पूर्ति के बराबर हो जाए सन्तुलन अवस्था कहलाती है।

(5) साधन बाजार में मांग तथा पूर्ति शक्तियां ही उत्पादन के साधनों की कीमतों जैसे श्रम की कीमत, मजदूरी, पूंजी की कीमत ब्याज, भूमि की कीमत लागत का निर्धारण करती है। यदि किसी साधन की मांग अधिक मात्रा में होती है तो उसकी कीमत बढ़ जाती है। इसके विपरीत जिन साधनों की मांग कम होती है। उनकी कीमतें भी अपेक्षाक त कम होती हैं साधन बाजार में भी सन्तुलन की स्थिति उस समय होती है। जब साधनों की मांग तथा पूर्ति बराबर हो जाती है।

(6) आय के वितरण की समस्या अर्थात किसके लिए उत्पादन किया जाए, का समाधान भी कीमत संयंत्र द्वारा हो जाता है। उद्यमी के लाभ उनके स्वामियों की आय होती है। इसी प्रकार श्रमिकों को उनकी सेवाओं के बदले में जो मजदूरी प्राप्त होती है यह उनकी आय है अन्य शब्दों में, उत्पादन के साधनों को उनकी सेवाओं के बदले में प्राप्त होने वाले कीमत उनकी आय प्रदर्शित करती है। अतः आय के वितरण की प्रक ति कीमत संयंत्र द्वारा निर्धारित होती है।

संक्षेप में, एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत संयंत्र वस्तु बाजार एवं साधन बाजार में सन्तुलन स्थापित करता है।

कीमत संयंत्र द्वारा आधारभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान–

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आधारभूत समस्याओं का समाधान कीमत संयंत्र की सहायता से किया जाता है। इस कथन की सत्यता निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जाती है।

(1) **क्या उत्पादन करना है कितनी मात्रा में करना है**–एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्या है कि क्या उत्पादन करना है, का समाधान कीमत संयंत्र की सहायता से किया जाता है। वास्तव में विक्रेता उन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करते हैं जिनकी क्रेताओं द्वारा मांग की जाती है। क्रेता अपनी आवश्यकता का प्रदर्शन किसी वस्तु की एक निश्चित कीमत पर उस वस्तु की एक निश्चित मात्रा की मांग के रूप में करते हैं। यदि उपभोक्ता कॉफी की तुलना में चाय अधिक खरीदना पसन्द करते हैं। तब उत्पादन के साधनों को कॉफी उत्पादन से चाय के उत्पादन में लगा दिया जाएगा। उपभोक्ताओं की इस इच्छा की सूचना कीमत संयंत्र द्वारा उत्पादकों को प्राप्त हो जाती है यदि उपभोक्ता चाय अधिक और कॉफी कम लेना पसन्द करते हैं। तब चाय की कीमत बढ़ जाएगी और कॉफी की कीमत कम हो जाएगी। इससे उत्पादक अपने साधन को कॉफी उत्पादन से हटाकर चाय के उत्पादन में लगा देंगे क्योंकि चाय अब कॉफी की तुलना में महंगी हो जाएगी। इस प्रकार कीमत संयंत्र द्वारा केवल यह ही निर्धारित नहीं होता कि क्या उत्पादन किया जाएगा बल्कि यह भी निर्धारित किया जाता है कि उत्पादन कितनी मात्रा में किया जाएगा। वस्तुओं की ऊंची कीमतें उत्पादकों को अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा देती है तथा उन वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की ऊंची प्राथमिकता को प्रकट करती है। इसके विपरीत वस्तुओं की नीची कीमतें एक ओर उन वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की नीची प्राथमिकता को प्रकट करती है तो दूसरी ओर विक्रेताओं को उन वस्तुओं की पूर्ति कम करने के लिए मजबूत करती है।

(2) **उत्पादन कैसे करना है**–पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में दूसरी केन्द्रीय समस्या कि उत्पादन कैसे करना है। अर्थात् उत्पादन की तकनीक का समाधान भी कीमत संयंत्र द्वारा किया जाता है। कीमत संयंत्र की पुरस्कार तथा भुगतान का प्रयोग करेगा। जिसके फलस्वरूप उत्पादन लागत को न्यूनतम तथा लाभ को अधिकतम किया जा सके। यदि किसी अर्थव्यवस्था मजदूरी की कम दर पर अधिक श्रमिक उपलब्ध है तो उत्पादन की ऐसी तकनीक अपनाई जाएगी जिसमें श्रमिकों का अधिक प्रयोग किया जाए अर्थात् उत्पादन श्रम प्रधान तकनीकी के द्वारा किया जाएगा। इसके विपरीत यदि श्रम महंगा है तो उत्पादन के लिए इस प्रकार की तकनीक का प्रयोग किया जाएगा। जिसमें श्रम का कम प्रयोग किया जाए अर्थात् पूंजी प्रधान तकनीक का प्रयोग किया जाएगा। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है मान लीजिए किसी अर्थव्यवस्था में श्रम की प्रति इकाई लागत 5 रुपये है तथा पूंजी की प्रति इकाई लागत 10 रुपये है 15 मीटर कपड़े के उत्पादन की श्रम प्रधान तथा पूंजी प्रधान तकनीकी द्वारा उत्पादन लागत को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है।

15 मीटर कपड़े की उत्पादन लागत

तकनीक	श्रम लागत	पूंजी लागत	कुल लागत
1. श्रम प्रधान	5 × 5 = 25 रु.	2× 10= 20 रु.	45 रु.
2. पूंजी प्रधान	2 × 5 = 10 रु.	5 × 10 = 50 रु.	60 रु.

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि 15 मीटर कपड़े की श्रम प्रधान तकनीकी से उत्पादन करने की लागत 45 रु. है इसके अन्तर्गत श्रम की 5 इकाईयां तथा पूंजी की 2 इकाईयों का प्रयोग किया जाता है तथा पूंजी प्रधान तकनीकी से उत्पादन करने की लागत 60 रु. है इसके अन्तर्गत श्रम की 2 इकाइयों तथा पूंजी की 5 इकाइयों का प्रयोग किया जाता है इस स्थिति में श्रम प्रधान तकनीकी द्वारा उत्पादन किया जाएगा।

इसके विपरीत यदि श्रम की प्रति इकाई लागत बढ़ाकर 15 रुपये हो जाती है तथा पूंजी की प्रति इकाई लागत पहले के बराबर ही 10 रुपये रहती है तो 15 मीटर कपड़े की उत्पादन लागत को तालिका 3 द्वारा प्रकट किया जा सकता है।

15 मीटर कपड़े की उत्पादन लागत

तकनीक	श्रम लागत	पूंजी लागत	कुल लागत
1. श्रम प्रधान	5 × 15 = 75 रु.	2× 10= 20 रु.	95 रु.
2. पूंजी प्रधान	2 × 15 = 30 रु.	5 × 10 = 50 रु.	80 रु.

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि श्रम की कीमत बढ़ने के फलस्वरूप श्रम प्रधान तकनीक का प्रयोग करने से पूंजी प्रधान तकनीक की तुलना 15 मीटर कपड़े की उत्पादन लागत अधिक आएगी अर्थात् 95 रु. आएगी। इसलिए अब पूंजी प्रधान तकनीक का प्रयोग किया जाएगा। अब उपभोक्ताओं द्वारा किसी वस्तु की अधिक मांग की जाएगी तो वे उसके लिए अधिक कीमत देने को तैयार होंगे। उत्पादक उस वस्तु का अधिक उत्पादन करने के लिए उत्पादन के साधनों को उनकी सेवाओं के लिए अधिक कीमत देना पसन्द करेंगें। इस प्रकार यह निर्धारित हो सकेगा कि उत्पादन के साधनों का किस वस्तु के उत्पादन में कितना प्रयोग किया जाएगा। कीमत संयंत्र द्वारा यह भी तय होता है कि जो वस्तुएं उत्पादित की जानी हैं उनका उत्पादन कौन से उत्पादकों को करना है स्वतन्त्र प्रतियोगिता के फलस्वरूप बाजार में नहीं टिक सकेगा।

(3) **उत्पादन किसके लिए किया जाना है**—अर्थव्यवस्था की तीसरी केन्द्रीय समस्या अर्थात् ''उत्पादन कौन से लोगों के लिए किया जाना है,'' का सम्बन्ध वास्तव में कुल उत्पादन के वितरण से है। कीमत संयंत्र द्वारा किसी वस्तु का ग हस्थों में वितरण उनकी कीमत देने की योग्यता तथा इच्छा के आधार पर किया जाता है जो उपभोक्ता अधिक कीमत देने के योग्य है तथा इच्छुक है उनके लिए अधिक उत्पादन किया जाएगा। ग हस्थों की वस्तुओं को प्राप्त करने की योग्यता उनकी आय पर निर्भर करती है उनकी आय उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली उत्पादन सेवाओं जैसे श्रम, भूमि, पूंजी आदि की कीमतें जैसे मजूदरी लगान, ब्याज, लाभ द्वारा निर्धारित होती है उनकी आय के आधार पर कुल उत्पादन में उनका भाग निर्धारित होता है यदि किसी साधन की मांग उसकी पूर्ति से कम है उसकी कीमत या आय भी कम होगी वे साधन कम वस्तुएं प्राप्त कर सकेंगे। उनके लिए उत्पादन भी कम किया जाएगा। इस प्रकार इस समस्या का समाधान भी कीमत संयंत्र की सहायता से ही किया जाता है।

(4) **पूर्ण रोजगार**—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार का निर्धारण भी कीमत संयंत्र द्वारा किया जाता है। पूर्ण रोजगार की मात्रा, उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है। उत्पादन की मात्रा, निवेश की मात्रा पर निर्भर करती है। बचत तथा निवेश में समानता पूंजी की कीमत अर्थात् ब्याज की दर द्वारा निर्धारित होती है। यदि किसी समय कुल बचते अधिक है तथा बेरोजगारी की स्थिति पाई जाती है तो ब्याज की दर कम होगी। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि मांग बढ़ेगी तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकेगी। अतएव कीमत संयंत्र में होने वाले परिवर्तनों द्वारा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त कर सकेगी।

(5) **आर्थिक विकास**—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने का कार्य भी कीमत संयंत्र द्वारा ही किया जाता है। आर्थिक विकास के लिए उत्पादन की नई तकनीकों की आवश्यकता होती है। शुम्पीटर के अनुसार, इन अर्थव्यवस्थाओं में पूंजी को एकत्रित करने तथा नई तकनीकों को लागू करने का कार्य स्वतन्त्र उद्यमियों द्वारा किया जाता है। ये उद्यमी अपनी आय लाभ के रूप में प्राप्त करते हैं ये अपने लाभ का अधिक भाग पूंजी निर्माण में लगा देते हैं। इस प्रकार पूंजी की मात्रा में व द्धि होती है। पूंजी की अधिक मात्रा द्वारा नई तकनीकों का प्रयोग सम्भव हो जाता है। परम्परागवादी अर्थशास्त्रियों जैसे—एडम स्मिथ, मार्क्स आदि के अनुसार पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में पाई जाने वाले प्रतियोगिता भी उद्यमियों को नई तकनीकों अपनाने के लिए मजबूर कर देती है इसके फलस्वरूप आर्थिक विकास की सम्भावना बढ़ जाती है।

कीमत संयंत्र की सीमाएं या दोष (Limitation or Defects of Price Mechanism)—

(1) **प्रतियोगिता की समाप्ति**—कीमत संयंत्र की मुख्य विशेषता प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करना था इसके फलस्वरूप ही कीमत संयंत्र साधनों का कुशल उत्पादन एवं वितरण कर पाता। परन्तु आलोचकों के अनुसार कीमत संयंत्र के फलस्वरूप प्रतियोगिता का अन्त हो रहा है उत्पादकों में अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए एकाधिकार को अपनाने की प्रव त्ति बढ़ती जा रही है इसके अतिरिक्त उत्पादक आधुनिक तकनीक का प्रयोग करने के लिए बहुत बड़े स्तर पर उत्पादन करने लगे हैं। इसके फलस्वरूप छोटे उत्पादक उनसे प्रतियोगिता नहीं कर पा रहे हैं। अतएव अधिक संख्या में छोटे-छोटे उत्पादकों द्वारा उत्पादन किए जाने के स्थान पर थोड़ी संख्या में उत्पादकों द्वारा अधिकतर उत्पादन किया जा रहा है इसके कारण भी प्रतियोगिता समाप्त होती जा रही है।

(2) **अपव्ययपूर्ण तथा अकुशल उत्पादन**—कीमत संयंत्र का उद्देश्य उत्पादकों को अधिकतम लाभ प्राप्त कराना है। इसकी पूर्ति के लिए वे उत्पादन धन व्यय करते हैं वे उपभोक्ताओं को उन वस्तुओं को खरीदने के लिए प्रेरित करते हैं जिन्हें वे अधिक

मात्रा में बेचना चाहते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता की प्रभुता समाप्त होने लगी है। उत्पादन में अपव्यय तथा अकुशलता बढ़ गई है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता का स्थान एकाधिकार तथा एकाधिकार प्रतियोगिता ने लेना शुरू कर दिया है।

(3) **बाह्य प्रभावों की अपेक्षा**—बाह्य प्रभावों से अभिप्राय उन लाभों तथा लागतों से है जो बाजार में बाह्य होते हैं और जिनकी प्राप्त तत्काल संबंधित क्रेताओं और विक्रेताओं को न होकर अन्य लोगों को होती है बाह्य प्रभावों को स्पिल ओवर भी कहा जाता है। कीमत संयंत्र उन बाह्य प्रभावों की अपेक्षा करता है।

(4) **सामाजिक वस्तुओं की अपेक्षा**—कीमत संयंत्र मुख्य रूप से व्यक्तिगत आवश्यकता को ध्यान में रखता है। किन्तु शिक्षा, चिकित्सा आदि सामाजिक पदार्थों की उचित मात्रा में पूर्ति नहीं करता यदि कोई भी समाज, शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, संचार, पानी तथा बिजली का उत्पादन कीमत संयंत्र द्वारा निर्धारित होने दे तो इन वस्तुओं का देश में अभाव हो जाएगा।

(5) **साधनों की अगतिशीलता**—कीमत संयंत्र की मुख्य विशेषता उसका स्वचालक होना है परन्तु वास्तविक जीवन में अर्थव्यवस्था में कई कारणों से साधनों की अगतिशीलता पाई जाती है। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको परिवर्तित नहीं कर पाती।

(6) **आय का असमान वितरण**—कीमत संयंत्र के फलस्वरूप आय का असमान वितरण होता है। इसका कारण यह है कि श्रम की तुलना में उद्यमी, भूमिपति को उनको साधनों की कीमत अधिक मिलती है इसके फलस्वरूप श्रमिक और उद्यमी की आय में काफी अन्तर उत्पन्न हो जाता है यह आय की असमानता का कारण बनता है।

(7) **बेरोजगारी**—कीमत संयंत्र के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में मन्दी तथा बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि आय की असमानता तथा प्रतियोगिता की समाप्ति के कारण धनी व्यक्तियों को राष्ट्रीय आय का अधिक भाग प्राप्त होता है परन्तु उनकी उपभोग प्रव त्ति कम होती है इसका अभिप्राय यह है कि वे अपनी आय में होने वाली व द्धि के कम भाग का व्यय करते हैं तथा अधिक भाग की बचत करते हैं। इस प्रकार कुल मांग कुल पूर्ति की तुलना में कम हो जाती है कुल मांग के कम होने के कारण अर्थव्यवस्था में मन्दी और बेरोजगारी फैलती है।

संक्षेप में, कीमत संयंत्र की उपरोक्त सीमाओं तथा दोषों के कारण प्रत्येक अर्थव्यवस्था में सरकार किसी न किसी सीमा तक अवश्य हस्तक्षेप करने लगी है। इसलिए संसार की अधिकतर मुक्त अर्थव्यवस्थाओं में शुद्ध पूंजीवादी नहीं पाया जाता बल्कि नियमित पूंजीवाद पाया जाता है।

अध्याय 12
भारत के आर्थिक विकास की बाधाएँ एवं दूर करने के उपाय
(Impediments to Economic Growth of India and Measures of Economic Growth)

स्वतन्त्रता के पश्चात भी भारतीय अर्थव्यवस्था एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है। पिछले 50 वर्षों में (1951-2002) में भारत की प्रति व्यक्ति आय में 2.1% की वद्धि (1993-94 की कीमतों पर) हुई है। इस अवधि में जनसंख्या में 2.2% की व द्धि हुई है। क षि उत्पादन में 2.8% तथा औद्योगिक उत्पादन में 4.5% की व द्धि हुई है। संसार के अन्य विकासशील देशों जैसे चीन, बर्मा, ब्राजील आदि की तुलना में यह व द्धि काफी कम है। नौ पंचवर्षीय योजनाओं के पश्चात् भी लगभग 26% जनसंख्या निर्धनता रेखा से नीचे रह रही है। भारत के आर्थिक विकास के लिए कई आर्थिक तथा अनार्थिक बाधाएं जिम्मेदार हैं।

भारत के आर्थिक विकास में बाधाएं–

भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं के कारण उनके आर्थिक विकास में कई प्रकार की बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं। प्रो. नर्कसे के अनुसार, ''इन बाधाओं का मुख्य आधार 'निर्धनता का दुष्चक्र (Vicious Circle of Poverty) है, जबकि हार्बे लेबिन्स्टाइन के अनुसार, इन बाधाओं का मुख्य आधार निम्नस्तरीय सन्तुलन (Low Level of Equilibrium) है। इन बाधाओं को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है:–

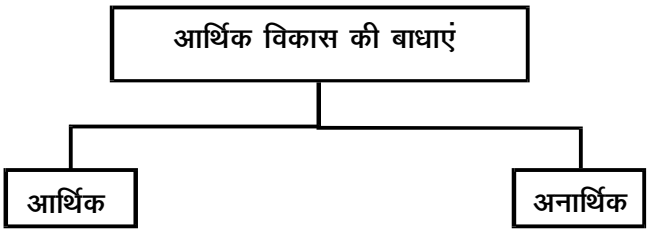

1. **आर्थिक बाधाएँ**–भारत के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण आर्थिक बाधाएँ निम्नलिखित हैं–

1. निर्धनता का दुष्चक्र (Vicious Circle of Poverty)–भारतीय अर्थव्यवस्था निर्धनता के दुष्चक्र में फंसी हुई हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आर्थिक विकास में सबसे बड़ी बाधा निर्धनता है। नर्कसे का कहना है कि ''देश इसलिए निर्धन है क्योंकि वह निर्धन है। (A country is a poor because it is poor) इसका अभिप्राय यह है कि भारत में लोगों की आय कम होती है। आय कम होने के कारण एक ओर मांग कम होती है तथा दूसरी ओर बचत कम होती है। मांग तथा बचत कम होने के कारण निवेश की प्रेरणा तथा क्षमता दोनों ही कम होती है। इसके फलस्वरूप भौतिक तथा मानवीय पूंजी में निवेश कम होता है निवेश कम होने के कारण उत्पादकता कम होती है। उत्पादकता कम होने के कारण प्रतिव्यक्ति आय कम होती है। इसके फलस्वरूप भारत निर्धनता के दुष्चक्र में फंसा हुआ है। जैसा कि चित्र नं. 1 द्वारा ज्ञात होता है।

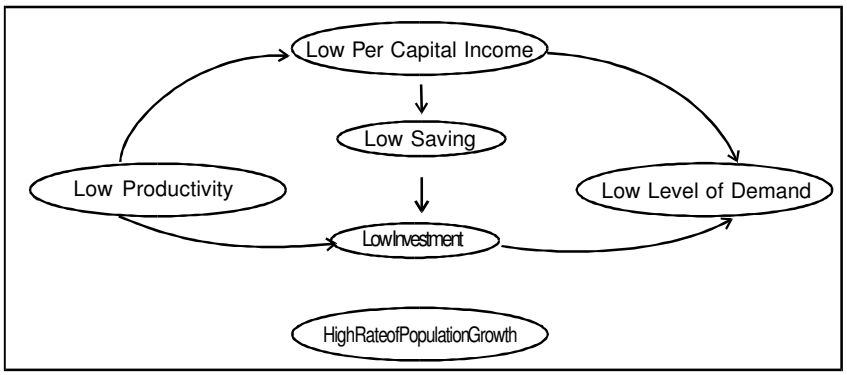

भारत निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने में समर्थ नहीं हो पाया। इसका कारण यह है कि भारत में सामान्यतः उत्पादन के सम्बन्ध सामन्तवादी तथा अल्पविकसित पूंजीवादी है। अधिकतर जनता निर्धन है। अतः उनमें बचत की शक्ति नहीं होती। जमींदारों तथा धनी व्यक्तियों की आमदनी किसानों का शोषण करने के कारण अधिक होती है। परन्तु वे अपनी आय को निवेश करने की अपेक्षा विलासिता के पदार्थों पर खर्च कर देते हैं। इस कारण पूंजी निर्माण में बाधा पड़ती है पूंजी निर्माण की दर कम होने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ना कठिन होता है।

2. **पूंजी निर्माण की कम दर (Low Rate of Capital formation)**—भारतीय अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में पूंजी निर्माण की दर का कम होना तथा पूंजी उत्पाद अनुपात का अधिक होना एक बहुत बड़ी बाधा है। भारत के आर्थिक विकास के लिए नई पूंजी निर्माण की बहुत आवश्यकता है। पूंजी निर्माण की दर के कम होने का एक कारण तो यह है कि लोगों की बचत करने की शक्ति बहुत कम है और दूसरी ओर जो कुछ भी बचाया जाता है उसके निवेश करने के उचित अवसर नहीं होते। इसलिए बचत करने की इच्छा भी कम होती है। भारत में अधिक आय वाले लोग जिनमें बचत करने की शक्ति अधिक होती है, बहुत कम होते हैं। ये लोग भी अपनी बचत का निवेश न कर उसे मकान, जवाहरात, सोना, चांदी तथा विलासिता की वस्तुएं खरीदने में लगा देते हैं। इसलिए भारत में वास्तविक पूंजी निर्माण की दर बहुत कम रहती है। भारत में पूंजी-उत्पाद अनुपात भी अधिक है पूंजी उत्पाद अनुपात का अर्थ है कि उत्पादन की एक इकाई उत्पन्न करने के लिए पूंजी की कितनी इकाइयों की आवश्यकता है। (Capital output Ratio = $\frac{K}{4}$ यहां K = पूंजी Y = आय या उत्पादन) मान लीजिए पूंजी उत्पाद अनुपात 4 : 1 है। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करने के लिए पूंजी की चार इकाईयां चाहिएं। भारत में पूंजी उत्पाद अनुपात 4.5 :1 है। इसके अधिक होने के कारण पूंजी निर्माण की दर बढ़ने पर भी उत्पादन में व द्धि नहीं हो पाती। भारत में पूंजी निर्माण की दर कम होने के कारण प्रति श्रमिक पूंजी की प्राप्ति कम होती है। पूंजी की प्रति श्रमिक कम दर के कारण श्रम प्रधान तकनीकों को अपनाना पड़ता है। इसके फलस्वरूप आर्थिक क्रियाओं के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादकता के स्तर की दर कम की जाती है। उत्पादकता स्तर की दर कम होने के कारण आय का स्तर कम होता है जिसके फलस्वरूप बचत कम होती है तथा पूंजी की दर कम हो जाती है। इस प्रकार भारत में निर्धनता, अल्पविकसितता का कारण तथा परिणाम दोनों हैं।

3. **जनसंख्या की समस्या (Problem of Population)**—भारत के आर्थिक विकास में जनसंख्या के तीव्र गति से होने वाली व द्धि एक बहुत बड़ी बाधा है। भारत संसार में चीन के बाद जनसंख्या की द ष्टि से दूसरा बड़ा देश है। भारत में स्वास्थ्य की दशा में सुधार होने के फलस्वरूप म त्यु दर पहले की तुलना में काफी कम हो गई है। परन्तु जन्म दर को अधिक कम नहीं किया जा सका है। इसलिए जनसंख्या की व द्धि दर 18% प्रतिशत है। भारत की जनसंख्या पहले भी बहुत अधिक है। बीसवीं सदी के अन्त तक इसके 102 करोड़ को भी पार कर चुकी है। जनसंख्या में होने वाली व द्धि के फलस्वरूप उपभोग की मात्रा बढ़ जाती है तथा बचत कम हो जाती है। भारत की जनसंख्या में बच्चों का प्रतिशत अपेक्षाक त अधिक है। इसके फलस्वरूप भी उत्पादन की अपेक्षा उपभोग बढ़ता है तथा बचत और पूंजी पर बुरा प्रभाव पड़ता है। भारत में आधी से अधिक जनसंख्या अनपढ़ है। इसके फलस्वरूप उनकी कार्यकुशलता भी काफी कम होती है। श्रमिकों की कार्यकुशलता की कमी भी भारत के आर्थिक विकास में बहुत बड़ी बाधा है।

4. **अपर्याप्त आधुनिक उद्यम तथा प्रबन्ध (Inadequate Modern Enterprise and Management)**—भारत में आधुनिक उद्यम तथा प्रबन्ध की काफी कमी है। प्रो. शुम्पीटर योग्य उद्यम तथा प्रबन्ध की कमी को आर्थिक विकास की एक बहुत बड़ी बाधा मानते थे। भारत में इनकी अपर्याप्त उपलब्धि का मुख्य कारण अनुकूल आर्थिक सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। वर्तमान समय में आर्थिक विकास के लिए कुशल प्रबन्ध अति आवश्यक है। इसके बिना उत्पादन क्रियाओं का प्रतियोगी ढंग से संचालन नहीं किया जा सकता। अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में योग्य तथा उच्च शिक्षा प्राप्त प्रबन्धकों की कमी है। कुशल उद्यमियों तथा प्रबन्धकों की कमी भी आर्थिक विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा बन जाती है।

5. **क षि का पिछड़ापन (Backward Agriculture)**—भारत के आर्थिक विकास की बहुत बड़ी बाधा क षि का पिछड़ापन है। भारत की लगभग 64% जनसंख्या प्रत्यक्ष रूप से क षि पर निर्भर करती है। परन्तु राष्ट्रीय आय का केवल 27% प्रतिशत भाग क षि से प्राप्त हो जाता है। क षि के पिछड़ेपन के कारण क षि पदार्थों की उत्पादकता कम होती है। प्रति श्रमिक उत्पादन भी कम होता है। अधिकतर किसान निर्धन होते हैं तथा निर्धन ही रह जाते हैं। क षि के पिछड़ेपन के कई कारण

हैं जैसे खेतों का छोटा होना, उत्पादन की पुरानी तकनीक, सिंचाई की कमी, मानसून पर निर्भरता तथा रासायनिक खाद तथा उन्नत बीजों की कम पूर्ति, साख की कम उपलब्धि आदि। क षि का पिछड़ापन भारत के आर्थिक विकास की मुख्य बाधा है।

6. **अपर्याप्त आधारिक संरचना (Inadequate Infrastructure)**—भारत के आर्थिक विकास की एक मुख्य बाधा आधारिक संरचना का अपर्याप्त होना है आधारिक संरचना से अभिप्राय है बिजली, चालक शक्ति, यातायात के साधन, बैंकिंग व्यवस्था, प्रशिक्षण की सुविधाएं आदि। लिप्सी के अनुसार, ''एक विश्वसनीय अधोसंरचना का प्रभाव आर्थिक विकास के लिए तीव्र बाधा सिद्ध हो सकती है।'' अधोसंरचना के महत्वपूर्ण साधनों का अपर्याप्त विकास क षि, उ़द्योग तथा व्यापार के विकास की गति को कम कर देता है। अधोसंरचना की अपर्याप्त उपलब्धि आर्थिक विकास के मार्ग में महत्वपूर्ण बाधा सिद्ध होती है। भारत में बिजली की पूर्ति आवश्यकता से बहुत कम है। पेट्रौल तथा अच्छे कोयले की पूर्ति अपर्याप्त है। पैट्रोल के लिए हमें विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। भारत जैसे विकासशील देश के यातायात के साधनों जैसे—रेले, सड़क, जल तथा वायु यातायात की वर्तमान स्थिति को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इन साधनों के आवश्यकता से कम होने का देश के लोगों तथा वस्तुओं की गतिशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है विकसित देशों की तुलना में भारत में रेलवे लाइनें लगभग 50 गुना और सड़कें लगभग 10 गुना कम है।

7. **अपर्याप्त औद्योगीकीकरण (Inadequade Industrialisation)**—भारत के आर्थिक विकास में उद्योगों की अपर्याप्त प्रगति एक महत्वपूर्ण बाधा है। आर्थिक नियोजन के लगभग 52 वर्ष के बाद भी औद्योगिक उत्पादन के विकास की दर केवल 4.5% प्रतिवर्ष रही है।

देश में कई महत्वपूर्ण उद्योगों का अभाव है। यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् कई उपभोग वस्तु उद्योग जैसे—मशीन उद्योग, रसायन उद्योग, खाद उद्योग आदि का विकास हो सका है। इसके कई कारण हैं जैसे—अनुसंधान की कमी, पूंजी की अपर्याप्त पूर्ति, पिछड़ी तकनीकी, श्रमिकों की कम कार्यकुशलता आदि।

8. **तकनीकी बाधा (Technical Impediments)**—भारत के आर्थिक विकास में उद्योगों की अपर्याप्त प्रगति के साथ-साथ तकनीकी बाधा भी काफी सीमा तक उत्तरदायी है। उत्पादन की आधुनिक तकनीकों के कम उपयोग के कारण क षि तथा औद्योगिक उत्पादकता विकसित देशों की तुलना में काफी कम है। इसके फलस्वरूप सपनों का इष्टतम उपयोग नहीं होने पाता। क षि में प्रति हेक्टेयर उत्पादन कम होता है। औद्योगिक उत्पादन की औसत लागत अधिक होती है। खनिज साधनों का इष्टतम उपयोग नहीं होने पाता। भारत के अधिकतर उद्योगों तथा क षि के बहुत बड़े क्षेत्र में निम्नस्तर की पुरानी तकनीकों का ही प्रयोग किया जा रहा है। देश के कई उद्योगों जैसे—कपड़ा, चीनी आदि में पुरानी तथा घटिया किस्म की मशीनें हैं। इनके द्वारा उत्पादन करने से उत्पादन लागत अधिक होती है तथा घटिया किस्म का उत्पादन होता है। यही कारण है कि जिसके फलस्वरूप हमारे देश को उत्पादन करने से उत्पादन विदेशी व्यापार से दूसरे देशों के उत्पादन से प्रतियोगिता नहीं कर पाता। इसका हमारे निर्यातों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। क षि के क्षेत्र में भी आधुनिक यन्त्रों उन्नत बीजों आदि का प्रयोग बहुत कम क्षेत्रों में किया जा रहा है। निम्नस्तरों की तकनीकों के कारण उत्पादकता कम होती है तथा साधनों का उचित प्रयोग नहीं होने पाता।

9. **श्रमिकों की कम कार्यकुशलता (Low efficiency of Labour)**—भारत में श्रमिकों का कम कार्यकुशल होना उसके आर्थिक विकास में बाधा है। भारतीय अर्थव्यवस्था का कम विकसित होना श्रमिकों की कार्यकुशलता के घटिया होने का कारण भी है और उसका परिणाम भी है। भारत के अल्पविकसित होने के कारण यहां के श्रमिकों का जीवन स्तर नीचा है उनका स्वास्थ्य खराब होता है। वे या तो अशिक्षित रह जाते हैं या उनके प्रशिक्षण का स्तर कम होता है। इसके फलस्वरूप उनकी कार्यकुशलता कम होती है। कार्यकुशलता कम होने के कारण उत्पादन की लागत अधिक होती है। परन्तु गुणवत्ता खराब होती है। इसके फलस्वरूप श्रमिकों की आय कम होती है। इस प्रकार वे निर्धनता के चक्कर में फंसे रहते हैं।

10 **अन्तर्राष्ट्रीय बाधाएं (International Impediments)**—भारत के आर्थिक विकास में कई अन्तर्राष्ट्रीय बाधाओं का भी प्रभाव पड़ा है। विदेशी पूंजी के निवेश के फलस्वरूप भारत में मुख्य रूप से या तो उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है जिनका निर्यात किया जाता है या उपभोग वस्तुओं जैसे—कोकोकोला, पेप्सी कोला, टी. वी., कार, विडियो, कपड़े धोने की मशीनों आदि का उत्पादन बढ़ा है। इसके फलस्वरूप देश की उत्पादन संरचना असन्तुलित हो गई है। देश में दोहरी अर्थव्यवस्था

उत्पन्न हो गई है। एक ओर विकसित निर्यात क्षेत्र है तो दूसरी और घरेलू उत्पादन क्षेत्र अविकसित तथा पिछड़ा हुआ रह गया है। विदेशी व्यापार के कारण होने वाले निवेश के फलस्वरूप देश से निर्यात किए जाने वाले प्राक तिक साधनों का तो विकास हुआ है परन्तु बाकी अर्थव्यवस्था विकसित रह गई है। घरेलू उत्पादन क्षेत्र की उत्पादकता कम रह गई है। देश में दोहरी अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप निर्यात उत्पादन क्षेत्र में आधुनिक पूंजीगत तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। इसलिए इसमें रोजगार के अवसर कम होते हैं। जनसंख्या बढ़ने के फलस्वरूप देश के अधिकतर लोगों को अविकसित उत्पादन क्षेत्र पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस क्षेत्र में मुख्य रूप से क षि, लघु तथा कुटीर उद्योग आदि शामिल होते हैं। इस क्षेत्र में भी रोजगार की एक सीमा होती है। विदेशी व्यापार के कारण जो पूंजी प्राप्त होती है वह इस क्षेत्र में कम मात्रा में निवेश की जाती है। इसके फलस्वरूप देश में छिपी बेरोजगारी फैलने लगी है, जिससे लोगों का जीवन स्तर नीचा हो गया है।

निर्यात क्षेत्र के विकसित होने का यह भी प्रभाव हुआ है कि बहुराष्ट्रीय निगमें एकाधिकार प्राप्त कर लेती है। इस एकाधिकार के कारण वे देश के लोगों से कच्चा माल तथा क षि पदार्थ सस्ती कीमतों पर खरीदती हैं। इसलिए देश के किसानों तथा दूसरे उत्पादकों को अपना माल सस्ती कीमतों पर बेचना पड़ता है परन्तु उन्हें आयात की कई वस्तुएं अधिक कीमतों पर खरीदनी पड़ती है। इन वस्तुओं की बिक्री का कुछ ही फर्मों में एकाधिकार होता है। इसलिए देश के उत्पादकों को सस्ता बेचना तथा महंगा खरीदना पड़ता है। प्रो. सिंगर के अनुसार, ''विदेशी व्यापार के कारण जो आय प्रभाव होता है। उसके फलस्वरूप भारत जैसे अल्पविकसित देशों में आय कम बढ़ती है, इसके विपरीत विकसित देशों में आय अधिक बढ़ती है। इसके कई कारण हैं जैसे—1. भारत से लाभ तथा ब्याजों के रूप में काफी धन विकसित देशों को चला जाता है। 2. निर्यात के कारण जो आय प्राप्त होती है उसका अधिक भाग विदेशों से मशीनरी आदि आयात करने में खर्च हो जाता है। मायर के अनुसार, ''इसका अभिप्राय यह हुआ है कि एक निर्धन देश में किए गए निवेश से, विकसित देशों में उतनी ही पूंजी के किए गए निवेशों की तुलना में कम आय प्राप्त होगी।''

11. **प्रतिकूल प्रदर्शन प्रभाव (Adverse Demonstration Effect)**—भारत के आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिकूल प्रदर्शन प्रभाव भी एक महत्वपूर्ण बाधा है। भारत के लोग जब पश्चिम के विकसित देशों के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें अपने और पश्चिमी देशों के लोगों के जीवन स्तर के बीच असमानता की जानकारी होती है। इसके फलस्वरूप भारत के अमीर लोग विकसित देशों में उपयोग की जाने वाली वस्तुएं जैसे—टेलीविजन, रेफ्रीजरेटर, विडियो, फैशन के सामान आदि का अधिक प्रयोग करने लगते हैं। भारत जैसे अल्पविकसित देशों के लोगों की मांग पर पड़ने वाले इस प्रभाव को ही प्रदर्शन प्रभाव कहा जाता है अतएव प्रदर्शन प्रभाव से अभिप्राय उपभोग प्रव त्ति में होने वाली उस व द्धि से है जो बढ़िया उपभोग वस्तुओं तथा उन्नत जीवन स्तर से सम्पर्क बढ़ने के कारण बढ़ती है। इसके फलस्वरूप भारत के लोगों का उपभोग पर खर्चा बढ़ जाता है बचत कम होती है। बचत कम होने के कारण पूंजी निर्माण कम होता है। पूंजी निर्माण में होने वाली कमी के फलस्वरूप आर्थिक विकास में बाधा पड़ती है। प्रो. मिर्डल ने अधिक उपभोग की इच्छा को प्रत्यस्त प्रभाव कहा है, इसके कारण लोगों का विलासिता के उपभोग पर अधिक खर्च होता है। इनके फलस्वरूप बचत तथा निवेश कम हो जाते हैं।

2. अनार्थिक बाधाएं (Non-Economic Impediments)—

भारत के आर्थिक विकास में मुख्य अनार्थिक बाधाएं निम्नलिखित हैं—

1. **सामाजिक बाधाएं (Social Impediments)**—भारत के सामाजिक रीति-रिवाज तथा परम्पराएं उनके आर्थिक विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हुई है। भारत में पाए जाने वाले जातिवाद श्रम की गतिशीलता को कम करता है। लोगों में परस्पर भेदभाव, झगड़ों का मुख्य कारण होता है। जातिवाद के फलस्वरूप कुछ विशेष उद्योगों तथा शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है तथा ऊंच-नीच और छुआछूत की भावनाएं पनपती है। इन सबके फलस्वरूप विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न होती है। लोग देश के आर्थिक विकास के प्रति उदासीन होते हैं। संयुक्त परिवार प्रथा के फलस्वरूप लोगों के काम करने की प्रव त्ति कम होती है। इसका बचत शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अधिकतर लोगों में जोखिम उठाने की प्रव त्ति नहीं पाई जाती। आलस्य की भावना उत्पन्न हो जाती है। भारत में पाए जाने वाले उत्तराधिकार के नियम क षि के विकास में बाधक होते हैं। इनके कारण उपविभाजन तथा विखण्डन की समस्या उत्पन्न होती है। लोग पुरानी

परम्पराओं तथा रूढ़ियों में इस प्रकार फंसे होते हैं कि पुराने विचारों के स्थान पर वैज्ञानिक व आधुनिक विचारों को अपनाना पसन्द नहीं करते।

2. **धार्मिक बाधाएं (Religious Impediments)**—भारत में धर्म लोगों को भौतिकता के विरुद्ध तथा आध्यात्मिकता के पक्ष में करने का कार्य करता है। धर्म लोगों को भाग्यवादी बनाता है। वे अपनी निर्धनता को भाग्य का फल मानते हैं और उसे दूर करने के प्रयत्नों के प्रति उदासीन रहते हैं। धर्म लोगों को सन्तोषी तथा आर्थिक प्रगति के प्रति उदासीन बना देता है। समाज में अनेक ऐसे धार्मिक रीति-रिवाजों का चलन पाया जाता है जिनके पालन में धन का अपव्यय होता है। निर्धन व्यक्ति कर्जदार हो जाते हैं। इस प्रकार पूंजी निर्माण क्षेत्र में बाधा उत्पन्न होती है।

प्रो. गुन्नर मिडल के अनुसार, अल्पविकसित देशों में लोगों के अन्धविश्वास का मुख्य कारण उनकी वैज्ञानिक धारणाओं तथा विचारों की धार्मिक स्वीक ति है। लोगों की धार्मिक प्रव त्ति उन्हें धर्म के ऊपर बिना सोचे-समझे विश्वास करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार उनके विचार वैज्ञानिक नहीं रह पाते क्योंकि विज्ञान में हर निर्णय तर्क के आधार पर लिया जाता है, विश्वास के आधार पर नहीं।''

3. **राजनीतिक बाधाएँ (Political Impediments)**—भारत के आर्थिक विकास में राजनीतिक बाधाएं भी बहुत महत्व रखती है। भारत ने 50 वर्ष पूर्व ही उपनिवेशवाद से मुक्ति प्राप्त की है भारत के पिछड़ेपन का एक मुख्य कारण अंग्रेजों द्वारा किया गया आर्थिक शोषण था। अतः अपनी स्वतन्त्रता के समय भारत आर्थिक द ष्टि से विकसित देशों पर निर्भर था। ये विकसित देश भारत की अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करते रहे हैं। इसके फलस्वरूप भी भारत में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई है। अस्थिर सरकारें आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने में रूचि लाने के स्थान पर अपनी गद्दियों पर कायम रहने में अधिक रुचि रखती हैं। भारत में राजनीतिक अस्थिरता के फलस्वरूप भविष्य के सम्बन्ध में अनिश्चिता उत्पन्न हो गई है। देश के उद्यमी अपनी पूंजी या तो दूसरे देशों में निवेश करने लगे हैं या व्यापार आदि में निवेश करते हैं जिसके फलस्वरूप तुरन्त लाभ उत्पन्न होने लगे। इसलिए इन देशों में दीर्घकालीन निवेश की बहुत कम योजनाएं फलीभूत होती है। राजनीतिक अस्थिरता के कारण विदेशी पूंजी भी भारत में पर्याप्त मात्रा में नहीं आने पाती। विदेशी पूंजी का अभाव आर्थिक विकास की प्रक्रिया की गति को तीव्र करने के मार्ग में बाधा बन जाता है। भारत को पड़ोसियों से झगड़ों के कारण प्रतिरक्षा सम्बन्धी कार्यों पर काफी धन व्यय करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप आर्थिक विकास के लिए उपलब्ध धन बहुत कम हो जाता है। जून 1998 में परमाणु विस्फोट करने के राजनैतिक निर्णय के फलस्वरूप यू. एस. ए., जापान आदि विकसित देशों ने भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बन्द कर दी। इसका देश के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।

4. **प्रशासनिक बाधाएँ (Administration Impediments)**—भारत में कुशल, योग्य और ईमानदार प्रशासनिक सेवाओं का अभाव आर्थिक विकास की एक बहुत बड़ी बाधा है। भारत अंग्रेजों के शासन में रहा है, इसलिए भारत की जनता तथा प्रशासन का अभाव बना हुआ है। देश के नेताओं के भ्रष्ट होने के फलस्वरूप योजनाएं ठीक प्रकार से लागू नहीं हो पाती, सरकारी नीतियों में बार-बार परिवर्तन होता रहता है, सरकारी क्षेत्र में स्थापित जनउपयोगी सेवाएं अकुशल हो जाती हैं, लागतें बढ़ती हैं और इसका सारे आर्थिक विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था।

संक्षेप में, भारतीय अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में बहुत सी आर्थिक तथा अनार्थिक बाधाएं हैं। ये बाधाएं भारत के आर्थिक विकास की दर को कम रखती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत आर्थिक द ष्टि से निर्धन ही रह गया है।

भारत के आर्थिक विकास के उपाय—भारत के आर्थिक विकास के मुख्य उपाय निम्नलिखित हैं—

1. **बचत व निवेश की दर में व द्धि**—भारत के आर्थिक विकास के लिए बचत एवं निवेश की दरों में व द्धि लाने के प्रयास किए जाने चाहिए। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्रीय आय बढ़ाने का यह सबसे उत्तम उपाय है। हैरोड तथा डोमर ने अपने विकास मिडल में आर्थिक विकास की एक निश्चित दर प्राप्त करने के लिए बचत तथा निवेश की दरों का अनुमान लगाने का सूत्र दिया है। निवेश बढ़ने तथा पूंजी उत्पाद कम होने के फलस्वरूप आर्थिक विकास की गति स्वयंमेव तीव्र हो जाएगी। नौवीं योजना का लक्ष्य राष्ट्रीय आय में व द्धि दर को बढ़ाकर 7% करना है। इसके लिए निवेश में दर को 27% से बढ़ाकर 29% करना है। भारत में घरेलू बचत तथा निवेश को बढ़ाने के लिए कई सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) ब्याज की दर में व द्धि (2) प्रोवीडेन्ड फण्ड योजना का विस्तार (3) प्रोविडन्ड फण्ड की दर में व द्धि (4) जीवन बीमा विस्तार (5) अनिवार्य जमा योजना (6) छोटी-छोटी बचतों को आर्कषित करने के लिए नई योजनाएं आरम्भ की जानी चाहिए। (7) सार्वजनिक क्षेत्र में अपने लाभ की दर बढ़ानी चाहिए। (8) प्रत्यक्ष करों की कम दर। (9) निवेश की अधिक सुविधाएं (10) शेयर बाजार का विकास।

पूंजी निर्माण के लिए बचत या साधनों का एकत्रीकरण करके उनका निवेश करना भी आवश्यक है। साधनों का एकत्रीकरण वित्तीय संरचनाओं जैसे—बैंकों, सहकारी समितियों, संयुक्त पूंजी कम्पनियों आदि पर निर्भर करता है। आर्थिक विकास की दर कुशल वित्तीय संरचनाओं पर काफी सीमा तक निर्भर करती है। पूंजी निर्माण बचत और निवेश पर निर्भर करता हैं बचत का देश की क षि, उद्योगों तथा अधोसंरचना में सन्तुलित ढंग से निवेश किया जाना चाहिए। आर्थिक विकास के लिए निवेश भौतिक साधनों के साथ-साथ मानवीय साधनों में भी किया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि मशीनों, इमारतों, यातायात तथा संचार के साधनों, बिजली, सिंचाई आदि के साथ-साथ शिक्षा, ट्रेनिंग, स्वास्थ्य आदि में भी निवेश किया जाना चाहिए।

2. **जनसंख्या व द्धि पर नियन्त्रण रखा जाए**—पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित आर्थिक विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जनसंख्या की व द्धि पर नियन्त्रण रखना होगा। अतः सरकार को परिवार नियोजन कार्य की गति और भी तीव्र करनी होगी ताकि जनसंख्या की तीव्र गति में होने वाली व द्धि पर रोक लगाई जा सके।

3. **क षि का विकास किया जाए**—क षि हमारे आर्थिक विकास की एक मुख्य स्रोत है, अतः आर्थिक विकास बढ़ाने के लिए क षि का शीघ्रातिशीघ्र विकास करना होगा इसके लिए आवश्यक है कि बेकार भूमि प्रयोग में लाई जाए, अधिक क षि क्षेत्र में सिंचाई की व्यवस्था की जाए। उत्तम खाद व उर्वरक, उत्तम बीज, उत्तम किस्म के औजार उत्तम किस्म की क षि विधियों का प्रयोग करके उत्पादकता को बढ़ाने चाहिए। क षि का यन्त्रीकरण किया जाना चाहिए तथा बहु फसलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल को बढ़ाना चाहिए। क षि की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए संरचनागत उपायों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। भूमि सुधार को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाना चाहिए। काश्तकारी प्रथा में सुधार किया जाना चाहिए। क षि वस्तुओं की बिक्री व्यवस्था में सुधार किए जाने चाहिए। क षि के निर्यातों को बढ़ाने में प्रयत्न किए जाने चाहिए। क षि क्षेत्र में बागान (Horticulture) तथा फल और सब्जियों फूलों तथा पशुपालन तथा डायरी, फार्मिंग का विकास किया जाना चाहिए।

4. **उद्योगों का विकास किया जाए**—उद्योगों की स्थापना पर अधिक बल दिया जाए। देश के आर्थिक विकास में आशातीत व द्धि के लिए छोटे एवं बड़े उद्योगों का विकास किया जाए। बड़े उद्योगों में उपभोग पदार्थ उद्योगों की तुलना में भारी एवं आधारभूत उद्योगों की ओर अधिक ध्यान दिया जाए, छोटे उद्योगों की ओर अधिक ध्यान दिया जाए क्योंकि छोटे उद्योगों में थोड़े ही समय में उत्पादन बढ़ाया जा सकता है तथा रोजगार के अधिक अवसर होते हैं। भारत में औद्योगिककरण के विकास के लिए निम्नलिखित उपाए किए जाने चाहिएं—

(1) सार्वजनिक क्षेत्र की कार्यकुशलता में व द्धि की जानी चाहिए।

(2) निजी क्षेत्र का नये उद्योग स्थापित करने तथा पुराने उद्योगों के नवीनीकरण के लिए सुविधाएं दी जानी चाहिएं।

(3) विदेशी पूंजी के निवेश को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(4) उद्योगों के लिए अनुसंधान तथा प्रवर्तन की सुविधाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिएं।

(5) **यातायात व संदेशवाहन के साधनों का विकास किया जाए**—यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों का विकास किया जाए ताकि देश की आर्थिक प्रगति की गति में तीव्रता लायी जा सके। ये साधन देश में व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। इनके विकसित होने का आर्थिक विकास पर अप्रत्यक्ष रूप से अनुकूलन प्रभाव पड़ेगा।

(6) **बिजली तथा चालन शक्ति के अन्य स्रोतों का विकास**—देश के आर्थिक विकास के लिए बिजली तथा चालन शक्ति के अन्य स्रोत जैसे—कोयला, पैट्रोल तथा डीजल, आदि का विकास किया जाना चाहिए। कोयले के उत्पादन को अधिक लाभप्रद बनाया जाना चाहिए। पैट्रोल के भी नए-नए स्रोतों का पता लगाया जाना चाहिए। सारे देश में वितरण की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। ऊर्जा के गैर परम्परावादी स्रोतों जैसे—सौर ऊर्जा आदि का भी विकास किया जाना चाहिए।

(7) पूंजी उत्पाद अनुपात में कमी—भारत में आठवीं योजना में पूंजी उत्पाद अनुपात 4.25 हैं, इसे कम किया जाना चाहिए। पूंजी उत्पाद अनुपात में कमी किए जाने के फलस्वरूप कम पूंजी का निवेश करने से भी अधिक उत्पादन किया जा सकता है। भारत में व द्धि पूंजी अनुपात उत्पाद को कम करने के लिए निम्न सुझाव दिए गए हैंः—

(i) बढ़ा हुआ उत्पाद पूंजी के अधिक प्रयोग के स्थान पर श्रम के अधिक प्रयोग से प्राप्त होना चाहिए। (ii) परियोजनाओं को पूरा करने तथा उनसे उत्पादन आरम्भ करने में प्राप्त होना चाहिए अर्थात् समय कम लगना चाहिए। (iii) उत्पादन क्षमता का अधिक प्रयोग किया जाना चाहिए। (iv) श्रमिक शिक्षित, कुशल, स्वस्थ्य तथा काम करने के इच्छुक होने चाहिए। (v) मशीनों तथा उत्पादन विधि की उत्पादकता अधिक होनी चाहिए। (vi) उपयुक्त स्थानों पर ही उद्यम स्थापित किए जाने चाहिए। (vii) उत्पादन इकाइयों तथा समस्त अर्थव्यवस्था का कुशल प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

8. मानवीय पूंजी या कौशल निर्माण—मानवीय पूंजी से अभिप्राय जनसंख्या के दिमागों तथा हाथों में निहित ज्ञान तथा हुनर। मानवीय पूंजी का तब निर्माण होता है जब लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य, ट्रैनिंग आदि की सुविधाएं प्रदान करने के लिए निवेश किया जाता है। इस निवेश से भौतिक निवेश की तुलना में अधिक प्रतिफल प्राप्त होता है। मानवीय पूंजी के कई रूप हैंः—

(1) **श्रमिकों का अच्छा स्वास्थ्य तथा लम्बी आयु**—इसके फलस्वरूप श्रम की उत्पादकता में व द्धि होती है उनकी अनुपस्थिति कम होती है तथा उनकी बीमारी पर खर्च कम होने के कारण उनका जीवन स्तर ऊंचा होता है। (ii) **श्रमिकों को शिक्षा तथा प्रशिक्षण**—इसके फलस्वरूप श्रमिकों की कार्य कुशलता तथा उत्पादकता में व द्धि होती है। वे आधुनिक मशीनों का प्रयोग करने में समर्थ हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप आधुनिकीकरण की प्रव त्ति में व द्धि होती है। (iii) नवप्रवर्तन-मानवीय पूंजी का एक रूप श्रमिकों की नर्वप्रवर्तन करने की योग्यता में व द्धि करना है। नव प्रवर्तन का अर्थ है नये अविष्कारों का प्रयोग। इसके फलस्वरूप उत्पादकता तथा उत्पादन क्षमता में व द्धि होती है। उत्पादन लागत कम होती है तथा नई वस्तुओं का उत्पादन होता है। अतएव मानवीय पूंजीकरण आर्थिक विकास की आधारशिला है। शुल्ज के अनुसार, ''मानवीय पूंजी का विकास हमारी आर्थिक प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य है। इसके बिना निर्धनता से मुक्ति नहीं मिल सकती।'' भारत में आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने के लिए मानवीय पूंजी अर्थात् शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशिक्षण आदि का विकास किया जाना चाहिए।

(9) देश के समस्त क्षेत्रों का सन्तुलित विकास किया जाए—विकास के द ष्टिकोण से यह भी आवश्यक है कि देश के सभी क्षेत्रों, उनके साधनों, उनकी सम्पत्तियों तथा मानवशक्ति का उचित प्रयोग किया जाए ताकि देश के समस्त क्षेत्रों का सन्तुलित विकास हो सके। सन्तुलित विकास होने से समस्त क्षेत्रों में यह प्रयास रहेगा कि वे अधिक से अधिक परिश्रम करके देश की आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने में योगदान दे सकें। यद्यपि दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारत के आर्थिक विकास के लिए असन्तुलित विकास की नीति को उचित माना गया था। इसके अन्तर्गत भारी उद्योगों के विकास को अधिक महत्व दिया जाता था। परन्तु अब सन्तुलित विकास की नीति को ही अधिक महत्व दिया जा रहा है।

10. वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति—आर्थिक विकास के लिए वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति भी काफी आवश्यक है। जापान तथा पश्चिमी जर्मनी के तीव्र आर्थिक विकास का मुख्य कारण वहां की वैज्ञानिक तथा तकनीकी उन्नति है। औद्योगिक विकास तथा क षि की उन्नति के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। तकनीकी विकास के बिना देश का आर्थिक विकास तीव्र गति से नहीं हो सकता। प्रो. शुम्पीटर ने आर्थिक विकास के लिए नए अविष्कारों को बहुत आवश्यक माना है। भारत को अपने आर्थिक विकास की गति तीव्र करने के लिए अविष्कारों तथा नवप्रवर्तनों के विकास को महत्व दिया जाना चाहिए।

11. वित्तीय सहायता—भारत को आर्थिक विकास की दर में व द्धि करने के लिए वित्तीय स्थिरता की स्थिति को भी प्राप्त करना चाहिए। इससे अभिप्राय यह है कि देश में संगठित तथा कार्यकुशल बैंकिंग व्यवस्था होनी चाहिए, संगठित मुद्रा बाजार तथा पूंजी बाजार दोनों होने चाहिए। जिनके द्वारा उद्योग तथा क षि को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन कर्जे उचित ब्याज पर प्राप्त हो सकें। देश की मौद्रिक नीतियां देश के आर्थिक विकास के अनुकूल होनी चाहिएं। इनका अभिप्राय यह है कि मुद्रा की पूर्ति आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिएं। तथा ब्याज की दरों में भी कमी होनी चाहिए। आर्थिक विकास के फलस्वरूप कीमतों में व द्धि होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि कीमतों में होने वाली व द्धि को एक सीमा तक ही रखा जाए, वास्तव में वित्तीय स्थिरता आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण निर्धारक है।

12. **संरचनात्मक परिवर्तन**—भारत को अपने आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त संरचनात्मक परिवर्तन करने चाहिए। संरचनात्मक परिवर्तन से अभिप्राय देश के व्यवसायिक ढांचे में होने वाले परिवर्तन से है। देश के व्यवसायों को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है—(a) प्राथमिक क्रियाएं-इन क्रियाओं के अन्तर्गत क षि, पशुपालन, वन, खाद्यान्न आदि से सम्बन्धित व्यवसाय सम्मिलित होते हैं। (b) माध्यमिक क्रियाएं—इन क्रियाओं में उद्योग, निर्माण आदि क्रियाएं शामिल होती हैं। (c) त तीयक क्रियाएं—इन क्रियाओं में व्यवसाय, बैंकिंग, यातायात आदि क्रियाएं शामिल होती हैं। अल्पविकसित देशों में 70% से भी अधिक लोग प्राथमिक क्रियाओं में लगे हुए होते हैं। आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश में माध्यमिक व त तीयक व्यवसायों में अधिक लोगों को रोजगार प्राप्त हों। इन व्यवसायों को बढ़ाने के लिए फलस्वरूप देश के कुल उत्पादन में अधिक तीव्र गति से व द्धि हो सकेगी। लोगों की आय तथा जीवन स्तर बढ़ेगा तथा आर्थिक विकास की दर अधिक तीव्र हो जाएगी। प्रो. शुल्टज के अनुसार, ''अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाना चाहिए। एक तो पुनः उत्पादित वस्तुओं की मात्रा में व द्धि करके, दूसरा उत्पादन के साधनों के रूप में लोगों के गुणों का विकास करके, तीसरे, उत्पादकता कला के स्तर को ऊंचा उठाकर, इस प्रकार देश के संरचनात्मक ढांचे में आवश्यक परिवर्तन हो सकेगा।

13. **प्राक तिक साधनों का उचित प्रयोग**—आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि देश में प्राक तिक साधनों का उचित प्रयोग किया जाए। प्रो. लुईस के अनुसार, ''प्राक तिक साधन देश के आर्थिक विकास की सीमा को निर्धारित करते हैं। यू. एन. ओ. के अनुसार, ''प्राक तिक साधन वह कोई भी वस्तु है जो मनुष्य को अपने प्राक तिक वातावरण में प्राप्त होती है तथा जिसे वह किसी प्रकार से अपने लाभ के लिए प्रयोग कर सकता है।'' इसके अन्तर्गत भूमि, जलवायु, पानी, वन, खनिज पदार्थ, ऊर्जा के साधन जैसे—पैट्रोल, गैस आदि शामिल गिए जाते हैं। देश की भूमि की प्रक ति तथा जलवायु पर क षि तथा लोगों की कार्यक्षमता निर्भर करती है। देश के धरातल तथा जलमार्गों पर यातायात के विभिन्न साधनों का विकास निर्भर करता है। नदियों से सिंचाई, बिजली तथा परिवहन की सुविधायें प्राप्त होती हैं। वनों से ईंधन, ईमारती लकड़ी, कई उद्योगों जैसे कागज, आदि को कच्चा माल प्राप्त होता है। पैट्रोल, कोयला, गैस आदि के रूप में ऊर्जा प्राप्त होती है। इसी प्रकार खनिज पदार्थों जैसे—लोहा, तांबा, टीन, सोना, चांदी, जवाहरात आदि का देश के औद्योगिक विकास तथा आर्थिक विकास के लिए बहुत अधिक महत्व है। जिन देशों में प्राक ति साधन अधिक होते हैं वे देश अपना आर्थिक विकास आसानी से कर सकते हैं। सौभाग्य से भारत में काफी मात्रा में प्राक तिक साधन पाए जाते हैं। इनका उचित उपयोग देश के आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

14. **विकासात्मक नियोजन**—भारत ने अपने आर्थिक विकास के लिए विकासात्मक नियोजन की नीति अपनाई है। विकासात्मक नियोजन वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय योजना अधिकारी देश में उत्पादन के साधनों की उपलब्धि को ध्यान में रखते हुए एक निश्चित समय में निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए योजना बनाता है। इस योजना को सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों ही लागू करते हैं। विकासात्मक नियोजन के फलस्वरूप देश के साधनों का उचित उपयोग होता है तथा राष्ट्रीय आय में तीव्र गति से व द्धि सम्भव होती है। विकासात्मक नियोजन की सफलता पर देश का आर्थिक विकास काफी सीमा तक निर्भर करता है।

    भारत अभी तक आठ पंचवर्षीय योजनाएं लागू कर चुका है तथा नौवीं योजना (1997-2002) लागू की जा रही है। विकासात्मक योजनाओं को प्रभावशाली ढंग से लागू करके भारत अपने विकास के लक्ष्य को पूरा कर सकेगा।

15 **विदेशी व्यापार का विस्तार**—भारत को अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी व्यापार का विस्तार करना चाहिए। इसके लिए निर्यातों को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा आयात प्रस्थिापन के प्रयत्न किए जाने चाहिए। आयात प्रतिस्थापन का अर्थ है आयात की जाने वाली वस्तुओं के समान उपयोगिता वाली वस्तुओं का देश में उत्पादन किया जाना। विदेशी व्यापार की व द्धि अर्थात निर्यातों के प्रोत्साहन से देश के आर्थिक विकास की दर को तीव्र किया जा सकेगा। रोबर्टसन के अनुसार, ''विदेशी व्यापार आर्थिक विकास का ईंधन है।'' विदेशी व्यापार के कारण भारत अपने प्राक तिक साधनों का उचित उपयोग कर सकता है तथा अपने अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात कर सकता है। विदेशों से तकनीकी प्राप्त कर सकता है। प्राक तिक संकट के समय अनाज व अन्य वस्तुएं प्राप्त कर सकता है। विदेशी व्यापार के द्वारा औद्योगिकीकरण के लिए आवश्यक पूंजी, मशीनें तथा कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है। विदेशी व्यापार के उचित नियन्त्रण एवं संचालन द्वारा रोजगार, उत्पादन, कीमत, औद्योगिकीकरण तथा देश के आर्थिक विकास पर उचित प्रभाव डाला जा सकता है। विदेशी व्यापार

द्वारा ही दूसरे देशों से आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सहायता तथा अन्य उपकरण प्राप्त किए जा सकते हैं। यही कारण है कि भारत के योजना आयोग ने पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी व्यापार के विकास को बहुत अधिक महत्व दिया है।

16 **अर्थव्यवस्था का उदारीकरण**—भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर को तेज करने के लिए उसका अधिक उदारीकरण किया जाना आवश्यक है। इसके फलस्वरूप उत्पादक क्षेत्र की कुशलता तथा उत्पादकता में व द्धि होगी। विदेशी पूंजी तथा तकनीक का प्रयोग बढ़ेगा। देश में अधिक निवेश होगा। 1991 से देश में उदारीकरण की नीति अपनाई गई है। उसका अधिकतर विस्तार किया जाना चाहिए। निजीकरण की प्रव त्ति को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

संक्षेप में, भारत सरकार ने अपनी आर्थिक नीति में आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने के लिए क षि, लघु तथा कुटीर उद्योग धन्धों, बड़े उद्योगों, सेवा क्षेत्रों तथा निर्यात के विकास पर विशेष महत्व दिया है। नौवीं योजना की विकास दर 7% की व द्धि का लक्ष्य रखा गया है। आर्थिक विकास की दर में व द्धि करने के लिए योजनाओं को और अधिक कुशल ढंग से क्रियान्वित करने, निजी क्षेत्र का विकास करने तथा अर्थव्यवस्था का उदारीकरण और विश्वीकरण करने की आवश्यकता है।

अध्याय 13
बेरोजगारी
(Unemployment)

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की समस्या एक अत्यन्त ही जटिल तथा गम्भीर समस्या है। इन देशों में बेरोजगारी व्यापक रूप से प्रचलित है तथा समय के साथ-साथ बेरोजगारी बढ़ती जा रही है। भगवती समिति के अनुसार, ''बेरोजगारी की समस्या गम्भीर रूप धारण कर चुकी है और भविष्य में इसके और गम्भीर होने की आशंका है'' बेरोजगारी एक अभिशाप है कि यह व्यक्ति के लिए निर्धनता, समाज के पतन तथा राष्ट्र के मानवीय साधनों की हानि का प्रतीक है। अल्पविकसित देशों की लगभग 8 प्रतिशत श्रम शक्ति बेरोजगार है। यदि इनमें अल्परोजगार तथा छिपे बेरोजगार लोगों का प्रतिशत भी जोड़ दिया जाये तो यह बढ़कर श्रम शक्ति का लगभग 33% हो जाएगा। अल्परोजगार की दर और भी अधिक है। दुःख की बात यह है कि इन देशों में बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की व द्धि दर कम होने के स्थान पर बढ़ती जा रही है। एम. पी. टोडारो के अनुसार, वर्तमान अल्पविकसित देशों की बेरोजगारी की समस्या तीन कारणों से काफी जटिल हो गई है–

(i) अल्पविकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की समस्या श्रम शक्ति के बहुत अधिक अनुपात को निरंतर तथा दीर्घकालीन रूप से प्रभावित करती है। विकसित देशों में महामन्दी अवधि में पाई जाने वाली बेरोजगारी की समस्या से भी यह अधिक जटिल है।

(ii) अल्पविकसित देशों की बेरोजगारी की समस्या के कारण, विकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोजगारी से कहीं अधिक जटिल है। इसलिए अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या का समाधान केन्ज के द्वारा बताए गए उपाय अर्थात् प्रभावपूर्ण मांग को बढ़ा कर नहीं किया जा सकता।

(iii) अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या निर्धनता तथा नीचे जीवन स्तर से सम्बन्धित है। इसका अल्पविकसित देशों द्वारा शीघ्र ही समाधान करना चाहिए। इसके लिए विकसित देशों को भी बड़े पैमाने पर अल्पविकसित देशों की सहायता करनी चाहिए।

बेरोजगारी के अर्थ–

अर्थशास्त्री बेरोजगारी से अभिप्रायः एक ऐसी अवस्था से लेते हैं जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार है परन्तु उन्हें काम नहीं मिलता। किसी देश में बेरोजगारी की अवस्था वह अवस्था है जिसमें देश में बहुत से काम करने योग्य व्यक्ति हैं तथा वे वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने के लिए तैयार हैं परन्तु उन्हें कई कारणों से काम नहीं मिल रहा है। अतएव बेरोजगारी का अनुमान लगाते समय केवल उन्हीं व्यक्तियों की गणना की जाती है जो

(a) काम करने के योग्य हैं।

(b) काम करने के इच्छुक हैं तथा

(c) वर्तमान मजदूरी पर काम करने को तैयार हैं। उन व्यक्तियों को जो काम करने के योग्य नहीं है जैसे–बीमार, बूढ़े, बच्चे, विद्यार्थी आदि को बेरोजगारों में शामिल नहीं किया जाता। इसी प्रकार जो लोग काम करना ही पसन्द नहीं करते उनकी गणना भी बेरोजगारों में नहीं की जाती है। बेरोजगारी के सम्बन्ध की उपरोक्त धारणा 'श्रम शक्ति धारणा' कहलाती है। इस धारणा में श्रमिक को व्यक्तिगत इकाई के रूप में लिया जाता है तथा रोजगार को काम करने के घण्टों के अनुसार मापा जाता है।

बेरोजगारी दर–वह दर है जिसका अनुमान बेरोजगार लोगों की संख्या को श्रम शक्ति से भाग देकर लगाया जात है।

$$\text{बेरोजगारी की दर} = \frac{\text{बेरोजगारों की संख्या}}{\text{श्रम शक्ति}}$$

परिभाषायें

(1) प्रो. पीगू के अनुसार, ''एक व्यक्ति को उस समय ही बेरोजगार कहा जाएगा जब उसके पास कोई रोजगार का साधन नहीं है परन्तु वह रोजगार प्राप्त करना चाहता है। (A man is unemployed only when he is both without a job or not employed and also desires to be employed-Pigou)"

(2) बायरस तथा स्टोन के अनुसार, ''बेरोजगारी तब होती है जब लोग काम करने के योग्य होते हैं तथा अपनी योग्यता वाले लोगों को दी जाने वाली वर्तमान मजदूरी की दर को इच्छापूर्वक स्वीकार करने को तैयार होते हैं परन्तु उन्हें रोजगार नहीं मिल जाता।

(3) राफिन तथा ग्रेगोरी के अनुसार, ''एक बेरोजगार व्यक्ति वह व्यक्ति है जो (i) वर्तमान समय में काम नहीं कर रहा। (2) जो सक्रिय ढंग से कार्य की तलाश में है। (3) जो वर्तमान मजदूरी पर काम करने के लिये उपलब्ध है।''

बेरोजगारी के प्रकार

बेरोजगारी मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रकार की हो सकती है–

(1) ऐच्छिक बेरोजगारी–जब श्रमिक मजदूरी को वर्तमान दर पर काम करने के लिए तैयार न हो अथवा काम होने पर भी अपनी इच्छा से काम न करना चाहे तो ऐसी बेरोजगारी, ऐच्छिक बेरोजगारी कहलायेगी। बेरोजगारी का अनुमान लगाते समय ऐच्छिक बेरोजगारी को शामिल नहीं किया जाता।

(2) अनैच्छिक बेरोजगारी–अनैच्छिक बेरोजगारी वह स्थिति है जिसमें श्रमिक मजदूरी की वर्तमान दर पर काम करने को तैयार हो परन्तु उन्हें काम नहीं मिले इसे खुली बेरोजगारी भी कहते हैं। बेरोजगारी से हमारा अभिप्राय अनैच्छिक बेरोजगारी से है।

(3) घर्षात्मक बेरोजगारी–गार्डनर के अनुसार, ''घर्षात्मक बेरोजगारी वह बेरोजगारी है जिसका संबंध एक गतिशील अर्थव्यवस्था में कार्य या नौकरी को बदलने से होता है।''

श्रम बाजार की अपूर्णताओं के कारण लोग अस्थायी रूप से बेरोजगार हो जाते हैं यह अस्थायी बेरोजगारी घर्षात्मक बेरोजगारी कहलाती है। यह बेरोजगारी श्रम की गतिहीनता, कच्चे माल की कमी, रोजगार के अवसरों के विषय में जानकारी न होना, बिजली की कमी, मशीनों की टूट-फूट, लोगों की रोजगार बदलने की प्रव त्ति, अच्छे रोजगार की तलाश आदि के कारण पाई जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी अस्थायी होती है।

(4) संरचनात्मक बेरोजगारी–गार्डनर के अनुसार, ''संरचनात्मक बेरोजगारी वह बेरोजगारी है जो कुछ उद्योगों के दीर्घकालीन हास के कारण उत्पन्न होती है।'' यह बेरोजगारी अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक ढांचे से सम्बन्धित है। यह बेरोजगारी उस स्थिति में उत्पन्न होती है जब (i) उत्पादन के अन्य साधनों जैसे–पूंजी, भूमि आदि की कमी होती है। (ii) श्रमिक पुराने उद्योगों में प्रशिक्षित होते हैं परन्तु उनके पास कोई निपुणता नहीं होती। इसलिये जिस प्रकार के श्रमिकों की आवश्यकता है वे नहीं मिलते। (iii) देश का सामाजिक तथा आर्थिक ढांचा पिछड़ा हुआ होता है इसलिए श्रमिकों की पूर्ति की तुलना में रोजगार की मात्रा कम होती है। (iv) जब देश की उत्पादन विधि तथा उत्पादित वस्तुओं की प्रक ति में परिवर्तन होता है। (v) कुछ उद्योग बंद हो जाते हैं। भारत जैसे अल्पविकसित देश में इसी प्रकार की बेरोजगारी पाई जाती है। यह बेरोजगारी दीर्घकालीन होती है। इसका मुख्य कारण देश की अर्थव्यवस्था का अल्पविकसित ढांचा है।

(5) चक्रीय बेरोजगारी–गार्डनर के अनुसार, ''चक्रीय बेरोजगारी वह बेरोजगारी है जो सामान्यतया अर्थव्यवस्था की मन्दी की अवस्था के कारण उत्पन्न होती है। यह बेरोजगारी देश में चक्रीय परिवर्तनों अर्थात मंदी तथा तेजी के कारण उत्पन्न होती है। मंदी के दिनों में देश की प्रभावपूर्ण मांग कम हो जाती है। व्यापारियों के पास बिना बिके हुए माल के स्टॉक इकट्ठे हो जाते हैं। अतः उत्पादन की मात्रा में कमी होती है इसके फलस्वरूप रोजगार का स्तर भी कम हो जाता है तथा बेरोजगारी फैलने लगती है।

(6) मौसमी बेरोजगारी–गार्डनर के अनुसार, ''मौसमी बेरोजगारी वह बेरोजगारी है जो इस कारण उत्पन्न होती है कि कुछ व्यवसायों में श्रमिक की मांग वर्ष के कुछ समय के लिए होती है। इस प्रकार की बेरोजगारी में लोग वर्ष के कुछ विशेष मौसम में बेरोजगार रहते हैं परन्तु बाकी समय उन्हें रोजगार मिलता रहता है। अधिकतर क षि क्षेत्र के कई कारणों से एक फसल उत्पन्न होती है। इसलिए क षक, वर्ष के बाकी महीनों में बेरोजगार रहते हैं। चीनी के कारखानों, बर्फ बनाने के कारखानों तथा इसी प्रकार के कई उद्योग मौसमी होती हैं। इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूर मौसमी बेरोजगार होते हैं।

(7) **तकनीकी बेरोजगारी**—गार्डनर के अनुसार, ''तकनीकी बेरोजगारी वह बेरोजगारी है जो तकनीकी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है।'' यह बेरोजगारी तकनीकी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है। आधुनिक तकनीकी ''पूंजी प्रधान'' है। इसके फलस्वरूप श्रम का स्थान मशीनें ले रही हैं। स्वचलित मशीनों के कारण यह प्रक्रिया और भी तेज हो गई है। तकनीकी परिवर्तनों के कारण श्रमिकों की भारी संख्या में छंटनी की जाती है। इसके फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ जाती है।

(8) **खुली बेरोजगारी**—इस प्रकार की बेरोजगारी में श्रमिक के पास कोई काम नहीं होता है। उसे थोड़ा बहुत काम भी नहीं मिलता। काम के अभाव में श्रमिक पूरी तरह बेकार रहते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी अधिकतर शहरी क्षेत्रों में औद्योगिक बेरोजगारी तथा शिक्षित बेरोजगारी के रूप में पाई जाती है।

(9) **छिपी बेरोजगारी**—अर्थशास्त्र में छिपी बेरोजगारी शब्द का प्रयोग सबसे पहले श्रीमती जोन रॉबिन्सन ने किया था। उनके अनुसार, छिपी बेरोजगारी वह अवस्था है जिसमें श्रमिक को अपनी योग्यता से कम उत्पादक कार्यों में काम करना पड़ता है। छिपी बेरोजगारी के बारे में श्रीमती रोबिन्सन की परिभाषा को विकसित देशों में लागू किया जाता है। अल्प विकसित देशों में छिपी बेरोजगारी का मतलब है, ''ऐसी स्थिति जिसमें जितने श्रमिक काम पर लगे हुए हैं उनसे कम ही आवश्यकता होती है अर्थात जब किसी काम पर जितने श्रमिकों की वास्तव में आवश्यकता होती है। उससे अधिक लोग काम पर लगे हुए हों तो इन लोगों की बेरोजगारी को छिपी हुई बेरोजगारी कहा जाता है।''

(10) **शिक्षित बेरोजगारी**—शिक्षित बेरोजगारी से अभिप्राय उन लोगों की बेरोजगारी से है जो सामान्य रूप से शिक्षित होते हैं शिक्षित बेरोजगारी खुली बेरोजगारी तथा अल्प बेरोजगारी दोनों प्रकार की होती है। कुछ शिक्षित लोग पूर्ण रूप से बेरोजगार होते हैं। उन्हें कोई काम नहीं मिलता इसके विपरीत कुछ शिक्षित व्यक्तियों को जो काम मिला हुआ है वह काम या तो उनकी शिक्षा के अनुसार नहीं होता या फिर उनकी क्षमता से कम होता है। इन व्यक्तियों को अल्प बेरोजगार कहा जायेगा।

अल्परोजगार के अर्थ—

अल्पविकसित देशों में केवल बेरोजगारी ही नहीं बल्कि अल्परोजगार की समस्या भी पाई जाती है। अल्परोजगार की अवस्था वह अवस्था है जिसमें एक श्रमिक को जितने समय काम करना चाहिए उससे कम समय काम मिलता है। अर्थात उसे वर्ष के कुछ महीनों या प्रत्येक दिन कुछ घण्टे बेकार रहना पड़ता है। राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे के आंकड़ों के अनुसार, यदि एक व्यक्ति प्रति सप्ताह 28 घण्टे काम करता है तो यह अति अल्प रोजगार कहलायेगा। इसके विपरीत वह प्रति सप्ताह 29 से 42 घण्टे तक काम करता है तो इस अवस्था को सीमित अल्परोजगार कहा जायेगा। International Conference of Labour Statisticians के अनुसार, ''अल्परोजगार की अवस्था एक तो उस समय पाई जाती है जब अंशकालीन काम में लगे हुए व्यक्ति वास्तव में जिसने समय काम कर रहे होते हैं उससे अधिक काम करने के लिए तैयार होती है। दूसरी यह अवस्था उस समय पाई जाती है जब एक व्यवसाय में काम कर रहे व्यक्तियों को दूसरे व्यवसाय में काम पर लगाये जाने से उनकी उत्पादकता तथा आय में व द्धि होती है।

अल्परोजगार दो प्रकार का होता है।

1. **द श्य अल्परोजगार**—इस अवस्था में लोगों को काम करने के सामान्य घण्टों से कम काम मिलता है। जैसे भारत में एक व्यक्ति सामान्यतः 8 घंटे काम करता है। यदि उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध केवल 4 घंटे काम करना पड़े तो इस अवस्था के द श्य अल्परोजगार कहा जाएगा।
2. **अद श्य अल्परोजगार**—इस अवस्था में लोग काम तो पूरा समय पर करते हैं परन्तु उनकी आय बहुत कम होती है अथवा उन्हें ऐसे काम करने पड़ते हैं जिनमें कि उनकी योग्यता का पूरा उपयोग नहीं हो पाता जैसे—एम. ए. पास व्यक्ति को चपड़ासी का काम करना पड़े तो वो अद श्य अल्परोजगार कहलाएगा।

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की प्रक ति

अल्पविकसित देशों में दीर्घकालीन संरचनात्मक बेरोजगारी पाई जाती है। इसका मुख्य कारण देश में पूंजी की कमी है। विकसित देशों की तरह अल्पविकसित देशों में अल्पकालीन बेरोजगारी जैसे—संघर्षात्मक बेरोजगारी या चक्रीय बेरोजगारी बहुत

कम पाई जाती है। इन देशों में खुली बेरोजगारी भी कम पाई जाती है। अधिकतर लोगों को वर्ष में कुछ समय के लिये तो काम मिल ही जाता है। इसलिये अल्परोजगार की समस्या एक गम्भीर समस्या है। इन देशों में अधिकतर बेरोजगारी ग्रामीण क्षेत्र में पाई जाती है। क्योंकि देश की अधिकतर श्रम शक्ति क षि में लगी हुई है। क षि क्षेत्र में छिपी हुई बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की समस्यायें मुख्य रूप से पाई जाती हैं। ये ही अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी के मुख्य रूप हैं। शहरी क्षेत्र में अधिकतर शिक्षित बेरोजगारी पाई जाती है। परन्तु इनका प्रतिशत कुल बेरोजगारी में लगभग 12 प्रतिशत है। प्रो. ई. ओ. एडवर्डस के अनुसार अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की प्रक ति निम्नलिखित पांच प्रकार की होती है।

(1) **खुली बेरोजगारी**—यह ऐच्छिक तथा अनैच्छिक बेरोजगारी दोनों प्रकार की हो सकती है। अल्पविकसित देशों में अधिकतर बेरोजगारी अनैच्छिक प्रकार की है।

(2) **अल्परोजगार**—अल्पविकसित देशों में काफी लोग अल्परोजगार हैं अर्थात वे जितने समय काम करने के लिये तैयार हैं उन्हें उससे कम समय के लिये काम मिलता है या उन्हें अपनी योग्यता से कम योग्यता वाले काम करने पड़ते हैं।

(3) **द श्य रूप से सक्रिय परन्तु अल्परोजगार**—अल्पविकसित देशों में काफी लोग ऐसे हैं जो न तो खुले रूप से बेरोजगार प्रतीत होते हैं न ही अल्परोजगार प्रतीत होते हैं परन्तु वे वास्तव में अल्परोजगार होते हैं जैसे—

(a) **छिपी हुई बेरोजगारी**—अल्पविकसित देशों में क षि क्षेत्र में तथा सरकारी नौकरियों में किसी काम को करने के लिए जितने लोगां की आवश्यकता है उससे अधिक लोग काम में लगे हुए हैं यदि इन लोगों को काम पर से हटा दिया जाए तो काम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ऐसे लोग छिपे रूप से बेरोजगार होते हैं।

(b) **गुप्त बेरोजगारी**—गुप्त रूप से बेरोजगार वे लोग हैं जो कि अपनी रुचि या योग्यता का काम नहीं कर पाने के कारण दूसरे विकल्प का कार्य कर रहे हैं जैसे एक व्यक्ति ग्रेजुएट होने के बाद रोजगार प्राप्त करना चाहता है परन्तु अभी वर्तमान योग्यता के आधार पर रोजगार नहीं मिलने के कारण उसे लाइब्रेरी साइन्स या होटली मैनेजमेन्ट का डिप्लोमा करने के लिये मजबूर होना पड़ता है। किसी महिला को अपनी वर्तमान योग्यता के आधार पर रोजगार नहीं मिलने के कारण अपनी ग हस्थी का ही घरेलू काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता है तो इस प्रकार की स्थिति को गुप्त बेरोजगार कहा जाएगा।

(c) **समय पूर्व सेवानिव त्त**—वर्तमान युग में जीवन अवधि बढ़ जाने के कारण लोग काफी लम्बी आयु तक काम करने के योग्य होते हैं। परन्तु सरकारी नीति के अनुसार उन्हें एक निश्चित आयु के बाद सेवानिव त्त कर दिया जाता है। जिससे दूसरे लोगों का प्रमोशन हो सके। परन्तु इन सेवानिव त्त लोगों को क्या करने के योग्य तथा इच्छुक होते हुए भी अपने वर्तमान रोजगार का त्याग करना पड़ता है तथा बेरोजगार रहना पड़ता है।

(d) **अक्षम**—अल्पविकसित देशों में काफी श्रमिक जो पूर्णकालीन रोजगार पर लगे हुए होते हैं। अपनी अक्षमता के कारण कुशलतापूर्वक उत्पादन नहीं कर पाते हैं। यह अक्षमता उनकी अशिक्षा, कौशलता की कमी खराब स्वास्थ्य आदि कई कारणों से हो सकती है।

5. **अनुत्पादक**—अल्पविकसित देशों में ऐसे श्रमिक भी पाये जाते हैं जिनकी उत्पादकता अधिक होती है परन्तु जिनका अधिकतर समय अनुत्पादक पूरक कार्यों में व्यर्थ हो जाने के कारण इतनी आय भी नहीं होती कि वे अपनी आवश्यकताओं की ठीक ढंग से सन्तुष्ट कर सके। उदाहरण के लिए देहली में काम करने के लिए गाजियाबाद या सोनीपत से जो कुशल श्रमिक आते हैं उनके काम पर आने तथा घर वापिस जाने पर ही काफी समय व्यर्थ चला जाता है तथा उसका उपयोग नहीं हो पाता।

उपरोक्त विवरण से अल्पविकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की प्रक ति स्पष्ट हो जाती है।

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी का वर्गीकरण–

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है–

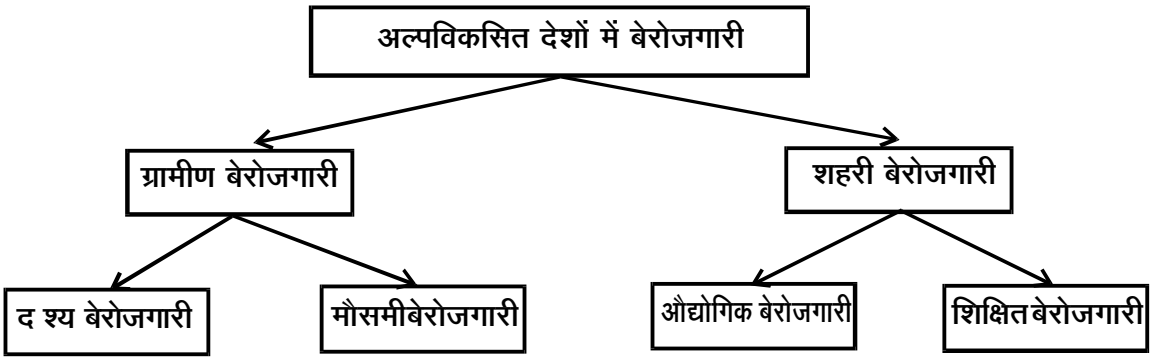

ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी तथा अल्परोजगार–

भारत के गांवों में 80% से भी अधिक श्रमिक क षि के कार्यों में लगे हुए हैं। अक षि क्षेत्र में लगे हुए अधिकतर ग्रामीण श्रमिक घरेलू उद्योगों जैसे लोहार, बढ़ई आदि तथा विभिन्न प्रकार की सेवाओं में लगे हुए हैं। यह अनुमान लगाया जाता है कि दो तिहाई से भी अधिक ग्रामीण श्रमिक अपने कार्यों में लगे हुए हैं केवल एक तिहाई श्रमिक दूसरों के लिए कार्य करते हैं। गांवों में अनैच्छिक बेरोजगारी की समस्या अधिक नहीं है। वास्तव में इन देशों में ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या मुख्य रूप से अल्परोजगार की समस्या है। लोगों को कुछ सप्ताहों या कुछ महीनों के लिये कुछ काम मिल जाता है, परन्तु वर्ष के शेष भाग में वे फिर मजबूरी के कारण बेरोजगार रहते हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में मुख्य समस्यायें अल्परोजगार अथवा अद श्य बेरोजगारी तथा मौसमी बेरोजगारी की है।

(i) **अद श्य बेरोजगारी**–ग्रामीण क्षेत्र में काम करने वाली जनसंख्या का 25% से 30% भाग अप्रत्यक्ष रूप से बेरोजगार है। यहां छिपी या अद श्य बेरोजगारी पाई जाती है। छिपी बेरोजगारी का अभिप्राय यह है कि किसी कार्य करने के लिए जितने व्यक्ति चाहिए उससे अधिक व्यक्ति काम पर लगे हुए हैं यदि कुछ व्यक्तियों को काम पर से हटा दिया जाए तो कुल उत्पादन में कमी नहीं होगी। इस प्रकार इन श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है जैसे–एक हैक्टेयर खेत की जुताई करने के लिये केवल दो व्यक्तियों की आवश्यकता है। यदि उसी खेत में पांच व्यक्ति काम पर लगे हुए हैं तो तीन व्यक्ति छिपी बेरोजगारी को व्यक्त करते हैं। भारत में छिपी या अद श्य बेरोजगारी की समस्या बहुत गम्भीर है।

(ii) **मौसमी बेरोजगारी**–ग्रामीण क्षेत्र में दूसरी किस्म की बेरोजगारी मौसमी बेरोजगारी है। क्योंकि क षि एक मौसमी उद्योग है अर्थात क षि में मौसम के अनुसार फसलें बोई जाती हैं खाली मौसम में अकसर क षि में काम करने वाले किसान बेकार रहते हैं। इस बेरोजगारी की मात्रा कितनी है यह इस बात पर निर्भर करती है कि खेती-बाड़ी करने की विभिन्न राज्यों में क्या दशाएं अथवा विधियां हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आमतौर पर जो किसान साल में एक फसल बोता है वह 5 से 7 महीने तक बेरोजगार रहता है।

शहरी क्षेत्र में बेरोजगारी–

इन देशो में शहरी क्षेत्र में बेरोजगारी की समस्या ग्रामीण क्षेत्र से भिन्न है। शहरी क्षेत्रों में पाई जाने वाली बेरोजगारी को दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. **औद्योगिक क्षेत्र में बेरोजगारी**–इस क्षेत्र में उन अशिक्षित व्यक्तियों को शामिल किया जा सकता है जो उद्योगों, खनिज, यातायात, व्यापार निर्माण आदि व्यवसायों में काम करने के इच्छुक हैं। औद्योगिक क्षेत्र में भी बेरोजगारी की समस्या जनसंख्या में तीव्र व द्धि के कारण हुई है। इसके अतिरिक्त पिछले कई वर्षों से शहरों में उद्योगों की व द्धि के कारण जनसंख्या गांवों से निकलकर शहरों में आकर बसने लगी है। इससे शहरों में, विशेषकर औद्योगिक क्षेत्रों में, श्रमिकों की पूर्ति बढ़ गई है। आमतौर पर गांवों के लोग शहरो में तब रोजगार ढूंढ़ने आते हैं जब उनकी खेतीबाड़ी में काम खत्म हो जाता है। परन्तु (1) इन देशों में अभी इतने उद्योग स्थापित नहीं हुए हैं कि इस सारी बढ़ी हुई श्रम शक्ति को अपने में

खपा सके। अतः सबको रोजगार के अवसर प्राप्त न होने के कारण औद्योगिक क्षेत्र में बेरोजगारी की मात्रा में व द्धि होती है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी देशों की भांति भारत में भी कई उद्योगों ने श्रम बचत विधियों का उपयोग करना शुरू कर दिया है तथा उद्योगों का आधुनिकीकरण भी कर लिया है इससे भी औद्योगिक क्षेत्र में तकनीकी बेरोजगारी की मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। वैसे भी उद्योग प्रत्येक चाहने वाले व्यक्ति को काम नहीं दे सकता। उद्योग तो केवल उन्हीं व्यक्तियों को काम दे सकता है जो इस उद्योग में बनने वाले पदार्थों की किस्म तथा मात्रा को बढ़ाने के लिए उपयुक्त हैं।

(2) **शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी**—अल्पविकसित देशों में शिक्षित वर्ग में भी बेरोजगारी की समस्या काफी गम्भीर है। यह बेरोजगारी देश की स्थिरता तथा सुरक्षा के लिये बड़ा भारी खतरा है। यह सारे अल्पविकसित देशों की समस्या है। इस बेरोजगारी के उदय होने के कारण, पिछले कई वर्षों से, स्कूल तथा कॉलेज स्तर पर अधिक शिक्षा सुविधाओं का बढ़ जाना है। डा. राधाक ष्णन ने इस शिक्षित बेरोजगारी के सम्बन्ध में कहा है कि, ''शिक्षित वर्ग में सामूहिक रूप से निर्धनता तथा बेरोजगारी तोड़-फोड़ की क्रिया को जन्म देती है यह व्यक्ति को निर्धन ही नहीं बनाती बल्कि बुरा भी बना देती है।''

बेरोजगारी की समस्या के प्रभाव—

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है। इसके निम्नलिखित बुरे प्रभाव हो सकते हैं—

(1) **मानवीय साधनों की हानि**—बेरोजगारी के फलस्वरूप देश के मानवीय साधनों की हानि होती है। देश की श्रम शक्ति का समय, रोजगार के अभाव में, व्यर्थ चला जाता है। उसका कोई रचनात्मक लाभ नहीं उठाया जाता यदि मानवीय साधनों का उचित उपयोग किया जाएगा तो देश में आर्थिक विकास की दर में व द्धि हो सकेगी।

(2) **निर्धनता में व द्धि**—बेरोजगारी की अवस्था में मनुष्य की आय का कोई साधन नहीं होता। वे निर्धन होते हैं। बेरोजगारी के बढ़ने पर निर्धनता भी बढ़ती है। लोग कर्जदार हो जाते हैं उनकी आर्थिक समस्याएं बढ़ती हैं।

(3) **सामाजिकसमस्याएँ**—बेरोजगारी के फलस्वरूप कई प्रकार की सामाजिक समस्याएंजैसे—बेईमानी, अनैतिकता, शराबखोरी, जुएबाजी, चोरी-डकैती उत्पन्न होती है। इसके फलस्वरूप सामाजिक सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाता है। देश में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। सरकार को शान्ति और व्यवस्था कायम रखने पर काफी धन खर्च करना पड़ता है।

(4) **राजनीतिक अस्थिरता**—बेरोजगारी के फलस्वरूप देश में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। बेरोजगार व्यक्ति तोड़-फोड़ तथा अन्य आतंकवादी कार्य करने लगते हैं। उनका प्रजातन्त्रात्मक मूल्यों तथा शान्तिपूर्ण उपायों पर से विश्वास खत्म हो जाता है। वे उस सरकार को निकम्मी समझने लगते हैं जो उन्हें रोजगार प्रदान न करा सके। वे उसे बदलने का प्रयत्न करने लगते हैं। राजनीतिक अस्थिरता के कारण देश का आर्थिक विकास कठिन हो जाता है।

(5) **औद्योगिक संघर्ष**—संघर्षात्मक बेरोजगारी तथा इसी प्रकार की अन्य बेरोजगारियों के कारण औद्योगिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं इसका श्रमिकों व मालिकों के सम्बन्धों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। औद्योगिक झगड़ों के कारण बेरोजगारी कम होने के स्थान पर और बढ़ जाती है। देश में वस्तुओं का उत्पादन कम होता है तथा कीमतों में व द्धि होती है।

(6) **मजदूरों का शोषण**—बेरोजगारी के कारण सभी श्रमिकों का शोषण होता है जिन श्रमिकों को रोजगार मिलता भी है उन्हें भी कम मजदूरी व प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण काम करना पड़ता है इनका श्रमिकों की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

संक्षेप में, बेरोजगारी आर्थिक शोषण, सामाजिक अव्यवस्था तथा राजनीतिक अस्थिरता का कारण है प्रत्येक सरकार का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह बेरोजगारों को कम करके अधिक से अधिक लोगों को रोजगार उपलब्ध करायें।

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या के कारण—

अल्पविकसित देशों में बढ़ती हुई बेरोजगारी के मुख्य कारण निम्नलिखित है।

(1) **धीमा आर्थिक विकास**—इन अर्थव्यवस्थाओं की आर्थिक विकास की गति भी धीमी रही है। इसलिए बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये धीमा आर्थिक विकास रोजगार के अधिक अवसर प्रदान न कर पाता है अतः उपलब्ध रोजगार की तुलना में यहां श्रम की पूर्ति अधिक रही है।

(2) **जनसंख्या में तीव्र व द्धि**—इन देशों में जनसंख्या में निरन्तर व द्धि सदा से ही गम्भीर समस्या बनी हुई है। जनसंख्या में अधिक व द्धि बेरोजगारी का एक मुख्य कारण है। इसलिए बेरोजगारों की संख्या घटी नहीं, बल्कि बढ़ी है।

(3) **कषि एक मौसमी उद्योग**—क षि न केवल अविकसित है, अपितु यह एक मौसमी काम-धन्धा देने वाला व्यवसाय है। बेशक क षि इन देशों का सबसे मुख्य व्यवसाय है और इस पर देश की अधिकांश जनसंख्या निर्भर है परन्तु इसकी मौसमी विशेषता होने के कारण यह किसानों को सारा वर्ष काम नहीं दे पाते और इसलिए क षि में भी व्यक्ति तीन महीने तक खाली बैठे रहते हैं छिपी या अद श्य बेरोजगारी की संख्या कुल क षि में कार्यशील जनसंख्या का 15% भाग है।

(4) **विश्वविद्यालय का अधिक विस्तार**—पिछले कई वर्षों से विश्वविद्यालयों की संख्या बहुत बढ़ गई है। इसके फलस्वरूप शिक्षित बेरोजगारी या सफेद कालर बेरोजगारी अधिक मात्रा में बढ़ी है। इसलिए प्रति वर्ष इन शिक्षित बेरोजगारी की संख्या भी बढ़ जाती है।

(5) **बड़े उद्योगों का धीमा विकास**—इन देशों में उद्योगों का विकास भी धीमा है। उद्योगों की स्थापना पर विशेष बल देने के बावजूद भी इतने उद्योग-धन्धे नहीं है जितने कि लोग उनमें काम करना चाहते हैं।

(6) **कम बचत तथा कम निवेश**—इन देशों में पूंजी की कमी है जो थोड़ी बहुत पूंजी है भी उसका निवेश भी ठीक प्रकार से नहीं किया जाता है। निवेश, बचत पर निर्भर करता है। यहाँ पर बचतें भी कम हैं। इसलिए बचत और निवेश में कमी के कारण श्रमिकों के लिए रोजगार के पर्याप्त अवसर पैदा नहीं किये जा सकते हैं।

(7) **श्रमिकों की गतिहीनता**—इन देशों में श्रमिक अधिकांश रूप से गतिहीन है क्योंकि आमतौर पर लोगों की घर पर रहने की प्रव त्ति बन चुकी है कि वे घर से बाहर निकल कर काम तलाश करने का बहुत कम कष्ट करते हैं। भाषा, धर्म, जलवायु, रीति-रिवाज, पारिवारिक मोह आदि बातें उनकी गतिशीलता में रूकावट बन जाती हैं। श्रम की गतिहीनता बेरोजगारी की मात्रा को और भी बढ़ाती है। क्योंकि कई स्थानों पर काम उपलब्ध होता है पर लोग अपना घर छोड़कर वहाँ जाना पसन्द नहीं करते।

(8) **श्रमिकों की स्थिर होकर काम न करने की प्रव त्ति**—इन देशों में अधिकतर उद्योग शहरों में स्थित है और गांवों के लोग इन उद्योगों में काम समाप्त करने के बाद जल्दी से जल्दी घर भागते हैं और वहाँ इस कमाए हुए पैसे को खूब खुले रूप से खर्च करते हैं। जब पैसा खत्म हो जाता है, वे फिर काम की तलाश में शहरों की ओर भागते हैं पर मालिक उनको जल्दी काम नहीं देते क्योंकि वे इस प्रकार अपना विश्वास खो बैठते हैं और मालिक उन्हें फिर स्थायी रूप से कभी नहीं लगातार इस प्रकार ये फिर बेकारों की संख्या में आ जाते हैं।

(9) **अल्परोजगार के कारण**—इन देशों में अल्परोजगार का मुख्य कारण उत्पादन के साधनों की अपर्याप्त मात्रा में उपलब्धि है। उदाहरण के लिए क षि में सिंचाई की कमी के कारण भूमि का पूरे वर्ष उपयोग नहीं हो पाता। बिजली, कोयले तथा कच्चे माल की कमी के कारण भी लोगों को पूरे वर्ष रोजगार नहीं मिल पाता। अतएव साधनों की कमी अल्परोजगार का बहुत बड़ा कारण है।

बेरोजगारी को दूर करने के उपाय—बेरोजगारी को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए जाने चाहिएं—

(1) **निवेश के ढांचे में परिवर्तन**—निवेश की प्रव त्ति में परिवर्तन लाया जाना चाहिए तथा आधारभूत उद्योगों में निवेश करने के साथ-साथ उपभोग्य पदार्थ उद्योगों में भी निवेश में व द्धि की जानी चाहिए इससे पर्याप्त बेरोजगार श्रमिकों को रोजगार मिल पाएगा तथा वस्तुओं की पूर्ति में व द्धि हो सकेगी इससे आर्थिक तथा सामाजिक स्थिरता के लक्ष्यों को भी प्राप्त किया जा सकेगा। संगठित क्षेत्र में ऐसा उत्पादन मिश्रण तथा तकनीकी मिश्रण चुना जाये जो उत्पादन तथा निवेश की प्रति इकाई के अनुसार अधिक श्रम का प्रयोग करता है।

(2) **छोटे उद्योगों का विकास**—छोटे उद्योगों के विकास की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। छोटे उद्यम अधिक श्रमिकों को रोजगार दे सकते हैं। लघु उद्योगों में उतनी ही पूंजी लगाने से लघु उद्योग, बड़े उद्योग की तुलना में पांच गुणा अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करता है।

(3) **नए केन्द्र**—गांवों तथा शहरों में नए विकास केन्द्रों में व द्धि की जाए। ऐसा देखा गया है कि अब तक निवेश का प्रवाह बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित रहा है। यदि छोटे कस्बों में नए विकास केन्द्र खोले जाऐंगे तो इससे औद्योगिक ढांचे का विकेन्द्रीकरण होगा और अर्थव्यवस्था अधिक आत्मनिर्भर बन सकेगी।

(4) **अनुदान तथा प्रेरणा**—अब तक अनुदान तथा प्रेरणा केवल उत्पादन के आधार पर दी जाती रही है अब इस आधार को बदलने की आवश्यकता है। अब अनुदान तथा प्रेरणा अधिक रोजगार के अवसर प्रदान करने वाले आधार पर दी जानी चाहिए। इससे काफी मात्रा में रोजगार के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी।

(5) **शैक्षणिक प्रणाली में परिवर्तन**—इन देशों में शिक्षा प्रणाली को पूर्ण रूप से बदलने की आवश्यकता है। कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे केवल उन्हीं छात्रों को प्रवेश दे जो वास्तव में कोई भावी लक्ष्य सामने रख कर अपनी शिक्षा को जारी रखना चाहते हैं। शुरू से ही शिक्षा प्रणाली से व्यवसायिक शिक्षा पर बल दिया जाना चाहिए। गांवों में शिक्षित व्यक्तियों को अध्यापक, डॉक्टर, आदि के रूप में काम करने की भावना अपने अंदर जाग त करनी होगी इन्जीनियरों के लिये सरकारी सहायक से लघु उद्योग स्थापित करने की व्यवस्था होनी चाहिए। विद्यालय रोजगार सूचना एवं निर्देशन संस्थाओं को सुद ढ़ करके उन्हें रोजगार एजेन्सियों के समीप लाना चाहिए।

(6) **क षि का विकास**—रोजगार बढ़ाने के लिए क षि का समुचित विकास किया जाए। बेकार पड़ी भूमि को क षि के अधीन लाया जाए। इससे निश्चित ही ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार की मात्रा में व द्धि होगी। हरित क्रान्ति के कारण देश में अच्छे बीजों, खाद तथा यन्त्रों की मांग बढ़ गई है। इनकी पूर्ति तथा बिक्री के कामों में काफी लोगों को रोजगार प्राप्त हो सकता है।

(7) **परिवहन का विकास**—परिवहन के साधनों का विशेष रूप से ग्रामीण सड़कों पर विकास किया जाना चाहिए। इससे व्यवसाय तथा रोजगार दोनों में व द्धि होगी।

(8) **जनसंख्या पर नियंत्रण**—इन देशों में बढ़ती हुई जनसंख्या को अवश्य रोकना होगा क्योंकि जनसंख्या में व द्धि अधिक बेरोजगारी को बढ़ाती है। इसलिए परिवार नियोजन की गति को देश में और तीव्र करना होगा।

(9) **ग्रामीण बेरोजगारी को प्रशिक्षण**—ग्रामीण क्षेत्र के विभिन्न वर्गों के बेरोजगारों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इनके मुख्य रूप से तीन वर्ग हो सकते हैं—

(1) **किसान**—इन्हें खेती बागवानी, पशु पालन, पेड़ लगाने, क षि यन्त्रों की मरम्मत करने आदि के सम्बन्ध में आधुनिक तकनीकी का सामान्य प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

(2) **दस्तकार**—इन्हें बुराई, मैकेनिक, आपरेटरी, हस्तशिल्प आदि का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

(3) **ग्रामीण उद्यमी**—इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो छोटे पैमाने पर निजी उद्योग-धन्धों की स्थापना कर सकते हैं। इस वर्ग के लिए कौशल आधारित प्रशिक्षण मुख्य रूप से औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए।

(10) **रोजगार दफ्तरों का विकास**—इन देशों में रोजगार दफ्तरों की कमी के कारण कई लोगों को रोजगार प्राप्त करने के उचित अवसर नहीं मिल पाते। इसलिये देश में अधिक मात्रा में रोजगार दफ्तर खोले जाने चाहिएं और सब काम देने वाली संस्थाओं को इन रोजगार दफ्तरों की सेवा का अधिक उपयोग करना चाहिए। रोजगार दफ्तर अधिकारियों को चाहिए कि बेरोजगार व्यक्तियों के साथ अच्छा व्यवहार करें और उनको रोजगार सम्बन्धी सही सूचना देकर देश की सेवा में अपना योगदान दें।

(11) **ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों का विस्तार**—गांवों में सड़क निर्माण, सिंचाई, मकान, डाकखाने आदि निर्माण कार्यों को बढ़ावा देना चाहिए। इससे मौसमी बेरोजगारी दूर करने में सहायता मिलेगी यह कार्य ऐसे समय में किए जाने चाहिएं जब किसान खेती बाड़ी के काम से खाली हो।

(12) **सामाजिक सेवाओं का विस्तार**—सामाजिक सेवा का विस्तार करना चाहिए। इन सेवाओं में शिक्षा, चिकित्सा आदि सम्मिलित है। इनकी व द्धि होने से जन-कल्याण में व द्धि के साथ-साथ बेरोजगारी का भी निवारण हो सकेगा। संक्षेप में, बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की समस्या अल्पविकसित देशों की एक जटिल समस्या है। इन देशों की सरकारें इस समस्या के समाधान के लिये काफी प्रयत्नशील हैं।

अध्याय 14
भारत में गरीबी
(Poverty in India)

उन सभी अल्प-विकसित देशों में जहां प्रतिव्यक्ति आय बहुत कम है, आप की असमानताओं ने कई बुराईयों को जन्म दिया है। जिनमें से सबसे गम्भीर बुराई गरीबी है। भारत में आज लगभग 42 वर्ष के आयोजन के बाद भी जनसंख्या का करीब 40% भाग गरीबी से ग्रस्त है और भयानक अभावों में जी रहा है।

गरीबी की अवधारणा

अक्सर यह माना जाता है कि वे लोग गरीब हैं जो एक निश्चित न्यूनतम उपभोग का स्तर प्राप्त करने में असफल रहते हैं। परन्तु जिन विशेषज्ञों ने गरीबी की समस्या का अध्ययन किया है। वे इस बात पर एक मत नहीं है कि कितनी आय न्यूनतम उपभोग स्तर प्रदान करने के लिए काफी हैं। जुलाई 1962 में योजना आयोग द्वारा गठित एक समिति ने इस बात का अनुमान लगाने का प्रयास किया था कि राष्ट्रीय आधार पर गरीबी को परिभाषित करने के लिए न्यूनतम उपभोग स्तर कितना लिया जाए। इस समिति ने सुझाव दिया था कि प्रचलित कीमतों के आधार पर न्यूनतम जीवन स्तर के लिए प्रतिव्यक्ति निजी उपभोग पर 20 रु. मासिक व्यय होना चाहिए। समिति किस आधार पर इस राशि तक पहुंची थी, यह स्पष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त, समिति ने शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अलग-अलग व्यय की राशियां न बतलाकर एक ही राशि की सिफारिश की थी जो सही नहीं है। इसका कारण यह है कि शहरी क्षेत्रों में रहन-सहन की लागतें ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में अधिक होती है। क्योंकि न केवल शहरों में कीमतें अधिक होती हैं। बल्कि शहरों में रहने वाले लोगों को कुछ ऐसे खर्च भी करने पड़ते हैं। जो ग्रामीण लोगों को नहीं करने पड़ते। परन्तु फिर भी योजना आयोग ने पहले समिति की इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया था जहां तक विभिन्न अर्थशास्त्रियों का संबंध है, बी.एस. मिन्हास और ए.वैद्यनाथन ने ग्रामीण गरीबी के अपने अध्ययनों में इसी परिभाषा को अपनाया है जबकि पी.के. वर्धन, दांडेकर व रथ, तथा एम.एव.आहलूवालिया ने अपनी-अपनी गरीबी रेखाऐं स्वयं परिभाषित की हैं।

योजना आयोग ने अब एक वैकल्पिक परिभाषा अपनाई हैं। जिसमें आहार संबंधी जरूरतों को ध्यान में रखा गया है। ऐसी परिभाषा अपनाई है। जिसमें आहार संबंधी जरूरतों को ध्यान में रखा गया है। इस परिभाषा के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में एक व्यक्ति के प्रतिदिन के भोजन 2400 कैलोरी तथा शहरी क्षेत्र में एक व्यक्ति के प्रतिदिन के भोजन में 2100 कैलोरी होनी चाहिए। आहार संबंधी इन जरूरतों को ध्यान में रखकर, 1979-80 की कीमतों पर ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा 76 रुपये तथा शहरी क्षेत्र में 88 रुपये होती है।

गरीबी का अनुमान

भारत में गरीबी के अनुमान लगाने के लिए कोई सीधे व उपयुक्त आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि अभी तक आप के वितरण से संबन्धित जानकारी इकट्ठा करने की कोशिश नहीं की गई है। हां, इतना अवश्य है कि राष्ट्रीय सेंपिल सर्वेक्षण में उपभोग व्यय से सम्बन्धित जो जानकारी उपलब्ध है उसके आधार पर शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी का अनुमान लगाने का प्रयास किया जा सकता है। अर्थशास्त्रियों ने इसी स्त्रोत का अधिकतर प्रयोग किया है। हालांकि दांडेकर व रथ, मिन्हास, वर्धन और आहलूवालिया ने आंकड़ों के एक ही स्त्रोत का प्रयोग किया है परन्तु गरीबी की अलग-अलग संकल्पना लेने के कारण गरीबी-सम्बन्धी उनके अनुमान अलग-अलग हैं।

दांडेकर व रथ के अनुमान : गरीबी का अनुमान लगाने के लिए दांडेकर व रथ योजना आयोग की समिति द्वारा दी गई गरीबी रेखा को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार वह उपभोग व्यय वांछनीय है जो कैलोरी के रूप में कम से कम न्यूनतम आवश्यक आहार उपलब्ध करा सकें। 1960-61 में यह ग्रामीण क्षेत्रों में 170 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रति वर्ष तथा शहरी क्षेत्रों में 271 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष था। इस प्रकार योजना आयोग की तुलना में, दांडेकर व रथ का ग्रामीण क्षेत्रों के लिए

अनुमान काफी कम था। जबकि शहरी क्षेत्रों के लिए कुछ अधिक था। गरीबी का अनुमान लगाने के लिए दांडेकर व रथ न्यूनतम ग्रामीण व्यय को थोड़ा बढ़ाकर 180 रुपये प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति (अर्थात 15 रुपये प्रतिमास) लेते हैं और न्यूनतम शहरी व्यय को 270 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष (अर्थात 22.5 रुपये प्रतिमास) लेते हैं। इस आधार पर दांडेकर व रथ के अनुसार, 1960-61 में लगभग 40 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या और 50 प्रतिशत शहरी जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे हैं। 1960-61 में गरीबी का अनुमान लगाने के बाद दांडेकर व रथ ने यह जानने का प्रयास किया है कि विकास से होने वाले लाभों का वितरण सातवें दशक के दौरान जनसंख्या के विभिन्न वर्गों को कितना हो पाया हैं। इस संबंध में उनका अनुमान है कि 1960 से 1968-69 के बीच के आठ वर्षों में औसत उपभोग में वास्तविक रुप में 4.8 प्रतिशत की व द्धि है। निश्चय ही यह बहुत कम है। इससे भी निराशाजनक बात यह है कि इतनी कम व द्धि का वितरण भी सभी वर्गों के बीच समान रूप से नहीं हुआ है।

पी.के.वर्धन के अनुमान : वर्धन के द्वारा परिभाषित गरीबी की रेखा दांडेकर व रथ की अपेक्षा कम है। 1960-61 की कीमतों पर वर्धन ने गरीबी की रेखा ग्रामीण क्षेत्रों में 15 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिमास और शहरी क्षेत्रों में 18 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिमास ली है। राष्ट्रीय सेंपिल सर्वेक्षण में दिए गए उपभोग व्यय के आकडों तथा खेतिहार मजदूरों के उपभोक्ता कीतम सूचकांक का प्रयोग करके वर्धन इस अनुमान पर पहुंचते है कि 1968-69 में 55 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या गरीबी की रेखा से से नीचे थी। इस वर्ष शहरी क्षेत्रों में 41 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे थी। यदि बर्धन योजना आयोग द्वारा परिभाषित गरीबी की रेखा लेते तो ग्रामीण व शहरी क्षेणों मे गरीबी अनुमान और भी ज्यादा होते ।

बी.एस. मिन्हास के अनुसारः- मिन्हास ने 1956-57 से 1967-68 की अवधि के लिए गरीबी की रेखा की परिभाषा को दो अनुमानों में प्रस्तुत किया है। एक अनुमान में योजना आयोग द्वारा स्वीक त गरीबी की रेखा की परिभाषा ली गई। जबकि दूसरे अनुमान में उन्होने अपनी गरीबी की रेखा ली है। (जो 1960-61 की कीमतों पर 200रू प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष थी) मिन्हास का यह तर्क ठीक लगता हैं कि यदि 1960-61 की कीमतों पर शहरी क्षेत्रों मे न्यूनतम वांछनीय जीवन स्तर 240 रूपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लिया जाए तो यही जीवन स्तर ग्रामीण क्षेत्रों में 200 रू प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति को प्राप्त होता है। मिन्हास के अनुसार यदि गरीबी की रेखा को 1960-61 की कीमतों पर 240 रूपयें प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लिया जाता है। तो गरीबो की संख्या में 1956-57 से 1967-68 के बीच कोई खास अन्तर दिखाई नही देता। हां इतना आवश्यक है कि सूखे के वर्षो में इससे कुछ व द्वि तथा अच्छी फसलों के वर्षो में इसमें कुछ कमी अवश्य दिखाई देती है। परन्तु अनुपात के रूप में गरीबी से नीचे लोगों की संख्या गिरी है। जहां 1956-57 में 65.0 प्रतिशत लोग इस रेखा के नीचे थे। वहाँ 1967-68 में 50.6 प्रतिशत लोग इस रेखा के नीचे थे। यदि गरीबी की रेखा 1960-61 की कीमतों पर 200 रूपये प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष रखी जाए (जैसा कि मिन्हास ने परिभाषित की है) तो गरीबी की रेखा से नीचे न केवल लोगों का अनुपात 1956-57 में 52.4 प्रतिशत से गिरकर 1967-68 में 37.1 प्रतिशत रह जाता है। परन्तु गरीबो की कुल संख्या में काफी कमी नजर आती है। यद्यपि 1968-69 व 1968-69 वे 1969-70 के लिए मिन्हास ने गरीबी के अनुमान प्रस्तुत नहीं किए है परन्तु उनका विश्वास हैं कि इन दोनों परिभाषाओं के आधार पर 1970 में भी गरीबी की रेखा से नीचे लोगों की संख्या 1967-68 की तुलना मे कम नहीं होगी।

एम.एस. आहलूवालिया के अनुसार : आहलूवालिया ने 1960-61 की कीमतों पर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए गरीबी की रेखा को 15 रूपये प्रति मास परिभाषित किया है तथा प्रत्येक बर्ष बदलती कीमतों के प्रभाव के अनुरूप गरीबी की रेखा को समायोजित (adjust) करने के लिए खेतिहर मजदूरों के उभोक्ता कीमत सूचकांको का प्रयोग किया है। आहलूवालिया के अनुसार, 1956-57 में ग्रामीण जनता का 54.1 प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे था। यह प्रतिशत 1960-91 में कम होंकर 38.9 रह गया। इसके बाद 1966-67 तक न केवल गरीबी की रेखा से नीचे लोगों की संख्या बढ़ती अपितु उनकी प्रतिशत संख्या की बढ़ी। इसके बाद गरीबी में फिर गिरावट हुई और 1973-74 में ग्रामीण जनसंख्या का 46.1 प्रतिशत गरीबी भी रेखा से नीचा था। आहलूवालिया का अध्ययन महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें सबसे लम्बी अवधि (1957-58 से 1973-74) के लिए अनुमान प्रस्तुत किए गए हैं। इस अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती हे कि ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी की कोई दीर्घकालीन प्रव ति नही थी, अपितु उतार चढ़ाव होते रहते थे और इन उतार चढ़ावों का सीधा सम्बन्ध क षि उत्पादन से था। जिस वर्ष वर्षा अच्छी होती थी और उत्पादन अधिक होता था, उस वर्ष खाद्यानों की कीमत गिरती थी तथा गरीबी की रेखा से नीचे लोगों की संख्या भी कम हो जाती थी। कम वर्षा वाले वर्षो में इससे उल्टी प्रव ति देखने को मिलती थी।

ऊपर दिए गए सब अनुमान अब पुराने हो चुके है। ये अनुमान काफी अलग-अलग निष्कर्ष भी देते है। उदाहरण के लिए, जहां मिन्हास के अनुसार 1967-68 में ग्रामीण जनसंख्या का केवल 37.1 प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे था वहां बर्धन के अनुसार 54 प्रतिशत तथा आहलूवलिया के अनुसार 56.5 प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे था। दांडेकर व रथ के अनुसार 1968-69 में ग्रामीण जनता का 40 प्रतिशत गरीबी की रेखा से नीचे था। आहलूवालिया बर्धन, तथा दांडेकर व रथ ने गरीबी की रेखा को मिन्हास की तुलना में कम स्तर पर परिभाषित किया है। परन्तु गरीबी के उनके अनुमान मिन्हास की तुलना में अधिक है। इसका कारण यह है। कि यद्यपि उनके आंकडो के स्त्रोत एक ही है, यथापि गणना की उनकी रिति अलग अलग है। एक बात जिस पर कोई मतभेद नही हो सकता यह है कि देश में गरीबी काफी बड़े पैमाने पर विद्यमान है और जनसंख्या का काफी बड़ा अंश अत्यंत दयनीय हालत में जिन्दगी बसर कर रहा है। बी.एस. मिन्हास, एल.आर. जैन ओर एस.डा. तेन्दुलकर योजना आयोग के इन अनुमानों को गढ़े हुए तथ्य (arte facts) बताते है। इनकी राय मे योजना आयोग ने गरीबी की व्यापकता का अनुमान लगाने के लिए गलत रीतियों को प्रयोग किया है। वी.एम. दांडेकर की राय में भी योजना आयोग के गरीबों की व्यापकता के बारे में अनुमानों पर मिन्हास, जैन और तेंदुलकर को आपत्ति सही है। वी.एम. दांडेकर की राय में भी योजना आयोग के गरीबी की व्यापकता के बारे में अनुमानों पर मिन्हास, जैन और तेन्दुलकर ने गरीबी की रेखा के नीचे लोगों के जो अनुमान दिए है वे सही सांख्यिकीय रीतियों के प्रयोग द्वारा प्राप्त किए गए है। इन अुनमानों से स्पष्ट है कि 1987-88 में भी ग्रामीण क्षेत्रों में 48.69 प्रतिशत और शहरी क्षेत्रों 37.76 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे था। और संपूर्ण देश में दोनों क्षेत्रों को मिलाकर देखने पर 45.85 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे थी। इस तरह गरीबी की व्यापकता में कमी के बारे में योजना आयोग का दावा ठीक नहीं है।

योजना आयोग ने उसके द्वारा गरीबी का व्यापकता के 1987-88 के अनुमानों की आलोचनाओ को ध्यान में रखकर इस मुद्दे पर पुनर्विचार की आवश्यकता महसूस की और गरीबी की व्यापकता का फिर से अनुमान लगाने के लिए एक विशेषज्ञ दल की नियुक्ति की। इस विशेषज्ञ दल ने जो रिपोर्ट 1993 में प्रस्तुत की उसमें माना गया कि यद्यपि 1973-74 से 1987-88 के बीच गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों का अनुपात कम हुआ। लेकिन फिर भी 1987-88 में देश की 39.3 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी के रेखा के नीचे थी। इस रिपोर्ट के अनुसार 1987-88 में जहां ग्रामीण जनसंख्या का 39.1 प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे था। वहां 41.1 प्रतिशत शहरी जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे थी।

निर्धनता का आकार (Size of Poverty)

भारत में 1980 के पश्चात् से निर्धनता रेखा से नीचे निवास करने वाली शहरी तथा ग्रामीण जनसंख्या के आकार में निरन्तर व द्धि हुई है। इसके पश्चात् के वर्षों में इसमें कुछ कमी द ष्टिगत हुई है। वर्तमान में लगभग 26.1 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे अपना जीवनयापन कर रही है। भारत में 1993-94 की कीमतों पर 229 रुपये ग्रामीण क्षेत्र में तथा 264 रुपये शहरी क्षेत्र में प्रतिमास उपयोग को निर्धनता रेखा माना गया है। जिन लोगों का प्रतिमाह उपभोग व्यय इससे कम है उन्हें निर्धन माना जाता है।

गरीबी का अनुमान

वर्ष	गरीबी अनुपात			गरीबों की संख्या (करोड़ में)		
	ग्रामीण	शहरी	संयुक्त	ग्रामीण	शहरी	संयुक्त
1973-74	56.4	49.0	54.9	26.1	6.0	32.1
1977-78	53.1	45.2	51.3	26.4	6.5	32.9
1983	45.7	40.8	44.5	25.2	7.1	32.3
1987-88	39.1	38.2	38.9	23.2	7.5	30.71
1993-94	37.3	32.4	36.0	24.4	7.6	32.0
1999-2000	27.1	23.6	26.1	19.3	6.7	26.0

Source: Ninth five Year Plan Vo. I economic Survey 2001 & 2002

'गरीबी रेखा' की सीमाऐं

(Limitation of 'Poverty Line' Approach)

ऊपर दिए गए गरीबी के सभी अनुमान गरीबी की रेखा पर आधरित है। एक बार गरीबी रेखा को परिभाषित करने के बाद फिर इस बात पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता कि इस रेखा से नीचे जीने वाले लोगो के अलग अलग वर्गो की वास्तविक दशा क्या है।

उदाहरण कि लिए:-मान ले कि हम गरीबी रेखा को ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 1979-80 की कीमतों पर 77 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रति-मास परिभाषित करते हैं। एक बार गरीबी की रेखा को इस प्रकार परिभाषित करने के बाद, 77 रुपये से कम पाने वाले सभी व्यक्ति गरीब कहलाऐंगे, हालांकि 75 रुपये पाने वाले और मात्र 25 रुपए पाने वाले दो व्यक्तियों की स्थिति नितान्त भिन्न होगी। स्पष्ट है कि मात्र 25 रुपये पाने वाला व्यक्ति गरीबी के अत्यन्त भयावह दौर से गुजर रहा होगा। परन्तु यह बात गरीबी की रेखा की परिभाषा में व्यक्त नहीं हो पाएगी।

इस संदर्भ मे अमर्त्य सेन का यह कथन महत्वपूर्ण है कि गरीब कोई एक आर्थिक वर्ग नहीं है। गरीबी बहुत सी आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। इसलिए गरीबी की समस्या का हल करने के लिए स्वयं गरीबी की संकल्पना से परे जाना होगा।

इस आधार पर विभिन्न लोगों के बीच अन्तर करना आवश्यक है। **अमर्त्य सेन के अनुसार :-** गरीबी के विश्लेषण में दो चरण होने चाहिए पहले चरण में तो यह पता लगाना चाहिए कि अलग-अलग लोगों को कितना मिला और इस आधार पर प्रतिव्यक्ति आय के किसी मापदण्ड के सहारे गरीबी का पता लगाना चाहिए। दूसरे चरण में हमें इस बात का पता लगाना चाहिए कि स्थिति वास्तव में कितनी "खराब" है और एक खराब स्थिति दूसरी खराब स्थिति से कितनी भयावह है। यह जानना काफी नहीं कि कितने लोग गरीब हैं। यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि गरीब लोग "कितने" गरीब हैं।

गरीबी का वर्ग आधार

(Class Base of the Poor)

गरीबी की समस्या के समाधान के लिए नीति बनाने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि गरीब "कौन" है। अर्थात् गरीबों का वर्ग आधार क्या है। परन्तु दुर्भाग्यवश सरकार ने इस दिशा में कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया है। राष्ट्रीय सैंपिल सर्वेक्षण के आंकड़ों का सहारा लेकर मिन्हास, वर्धन, दांडेकर व रथ तथा कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने की कोशिश की है। उनके अनुसार, गरीबों में अधिकतर भाग निम्नलिखित लोगों का है :-

1. खेतिहर मजदूरों के परिवार जिनके पास भूमि बिल्कुल नहीं है और जो कुल खेतिहर मजदूरों के परिवारों का लगभग 60 प्रतिशत है।
2. खेतिहर मजदूरों के परिवार जिनके पास बहुत थोड़ी सी भूमि है और जो कुल खेतिहर मजदूरों के परिवार का लगभग 40 प्रतिशत है।
3. ऐसे ग्रामीण श्रमिकों के परिवार जो खेती नहीं करते और जिनके पास भूमि भी नहीं है। इनमें गांवों में काम करने वाले वे दस्तकार (Village artisans) परिवार भी शामिल हैं जिनके परम्परागत रोजगार अब समाप्त हो रहे हैं।
4. भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों पर खेती करने वाले लोग (इसमें वे किसान शामिल हैं जो 2 हैक्टयर से कम भूमि पर खेती करते हैं और विशेष रूप से वे किसान शामिल है जो 1 हैक्टेयर से कम भूमि पर खेती करते हैं।)

जहां तक शहरी क्षेत्र के गरीबों का प्रश्न हैं, दांडेकर व रथ के अनुसार : ये लोग भी ग्रामीण क्षेत्रों से ही आए हैं ओर इनकी जड़ें भी गांवों में ही हैं। इसलिए वे सभी उसी वर्ग विशेष का हिस्सा हैं जिसका हिस्सा ग्रामीण लोग हैं। लेकिन लम्बे अरसे तक शहरों में रहने के कारण इन लोगों की कुछ स्पष्ट विशेषताऐं बन जाती हैं। बढ़ते हुए और फैलते हुए शहरों के माहौल में इन लोगों की जिन्दगी के बारे में कोई खास जानकारी उपलब्ध नहीं है।

ग्रामीण गरीबी के निर्धारक
(Determinants of Rural Poverty)

अधिकतर लोग दांडेकर व रथ के इस कथन से सहमत होंगे कि शहरी क्षेत्रों में रहने वाले गरीब मूल रूप से ग्रामीण क्षेत्रों से आए हैं। हालांकि अब उन्होंने अपनी विशेषताऐं प्राप्त कर ली हैं। यदि औद्योगिकरण की गति तेज होती तो शहरी क्षेत्र के ये गरीब लोग निश्चय ही गरीबी की रेखा को पार कर चुके होते। परन्तु औद्योगिकरण की धीमी गति के कारण ये लोग गरीब बने रहे हैं।

क्योंकि गरीबी का मूल आधार ग्रामीण क्षेत्रों में है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि गरीब की समस्या का समाधान करने के लिए अधिकतर कदम इन्हीं क्षेत्रों में उठाए गए हैं। भारत में ग्रामीण गरीबी का मूल कारण कृषि के अर्द्ध-सामंती (Semi & Feudal) उत्पादन संबंधों का होना है। स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधारों के लिए जो कदम उठाए गए वे अपर्याप्त थे और वे उत्पादन संबंधों मे बहुत अधिक परिवर्तन नहीं ला सके। इसलिए लगभग सभी खेती हर मजदूरों के परिवार-काफी संख्या में छोटे व सीमांत किसान तथा भूमिहीन-गैरकृषि क्षेत्रों में काम करने वाले श्रमिकों के परिवार गरीब हैं। अक्सर ग्रामीण गरीबी के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या को दोषी ठहराया जाता है। इस तर्क के अनुसार जहां एक और जनसंख्या लगातार बढ़ती जा रही है। वहां दूसरी ओर भूमि उतनी ही रहती है जिससे श्रम उत्पादकता गिरती है और श्रम की वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय कम होती है। यह तर्क भारतीय संदर्भ में काफी कुछ सही है परन्तु भारत की विद्यमान सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियों में न तो कृषि संबंधों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आशा की जा सकती है और न ही जनसंख्या की व द्धि दर कम होने की। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि दो परस्पर सम्बंधित गत्यात्मक शक्तियों (dynamic forces) कृषि में तकनीकी परिवर्तन तथा परिवर्तनशील खाद्य कीमतों पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिय जा रहा है।

परन्तु आनुभाविक तथ्यों (empirical evidences) के आधार पर कीय ग्रिफिन ने तर्क दिया है कि ऐसी कृषि व्यवस्था में जहां भूमि का अत्यन्त असमान वितरण हो तथा वित्त व अन्य कृषि लागतों (जैसे उर्वरक, उन्नत किस्म के बीज आदि) पर कुछ लोगों का अपेक्षाकृत मजबूत अधिकार हो। वहां नई कृषि को अपनाने से न केवल आय असमानताएं बढ़ती है अपितु अत्यन्त निर्धन लोगों के अनुपात में भी व द्धि होती है। परन्तु जॉन डब्ल्यू मीलौर का द ष्टिकोण अलग है। उनके अनुसार नई तकनीक से खाद्यान्नों की उत्पादन लागत गिरती है। जिससे खाद्यान्नों की कीमतें कम होती है तथ श्रम के लिए मांग बढ़ती है। क्योंकि गरीबों की मुख्य उपभोज्य वस्तु खाद्यान्न है और क्योंकि रोजगार ही उनका मुख्य आय-स्रोत है इसलिए नई कृषि तकनीकों का गरीबों के ऊपर अत्यन्त अनुकूल प्रभाव पड़ता है। मीलौर के द ष्टिकोण को धर्म नारायण के अध्ययनों से भी समर्थन मिलता है। धर्म नारायण ने भारत की दीर्घकालीन आंकड़ों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि बढ़ते हुए कृषि उत्पादन और खाद्यान्नों की गिरती हुई कीमतों से गरीबी में कमी होती है उनके अध्ययन लागत कम करने वाली नई तकनीकों को अपनाने का समर्थन करते हैं।

परन्तु हम ऐसी स्थिति को अनदेखा नहीं कर सकते जिसमें लागत कम करने वाली तकनीकों को अपनाने से गरीब की मात्रा में व द्धि हो जाए। कुछ क्षेत्रों में जहां कृषि के बाहर रोजगार के अवसरों में तेजी से व द्धि नहीं हो रही है जबकि जनसंख्या लगातार बढ़ती जा रही है जनसंख्या में व द्धि नई तकनीक से होने वाले सम्भावित लाभों को प्रभावहीन बना सकती है मीलौर के अनुसार इस समस्या से निपटने के लिए बहुत तेजगति से तकनीकी परिवर्तन करने होंगे। ताकि जनसंख्या व द्धि से होने वाले दुष्प्रभावों पर विजय पाई जा सके। परन्तु वर्तमान में विभिन्न कारणों के परिणामस्वरूप ऐसा लगता है कि सभी क्षेत्रों में तकनीकी परिवर्तनों की गति को तेज नहीं किया जा सकेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को पशुपालन, वानिकी व सहायक उद्योगों की स्थापना करके अधिक विविधीकृत करने का प्रयास किया जाए। इसके अलावा भविष्य में औद्योगिकरण की गति को और ज्यादा तेज करने की आवश्यकता होगी।

गरीबी के कारण
(Causes of Povery)

भारत में निर्धनता की समस्या तथा उसके कारणों की विवेचना दीर्घकाल से अलग-अलग लोगों द्वारा अलग-अलग

प्रकार से की जाती रही है। सन् 1870 में दादाभाई नौरोजी ने भारत की निर्धनता के कारणों की विवेचना की थी। इसके मुख्य कारणों को दो भागों में बांटा जा सकता है।

(अ) आर्थिक कारक

(ब) गैर आर्थिक कारक

(अ) **आर्थिक कारक (Economic Factors)** : निम्नलिखित आर्थिक कारण भारत में गरीबी की विद्यमानता हेतु प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं।

1. **राष्ट्रीय उत्पाद का निम्न स्तर (Low Level of National Product)** :- भारत का कुल राष्ट्रीय उत्पाद जनसंख्या की तुलना में काफी कम है इस कारण देश के नागरिकों की प्रतिव्यक्ति आय का स्तर अत्यन्त निम्न है। भारत का शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन 2000-2001 में उसी वर्ष की कीमतों के आधार पर 16,79,982 करोड़ रुपये था तथा प्रतिव्यक्ति आय केवल 16,047 रुपये थी, इस द ष्टि से भारत जो यू.एन.ओ. द्वारा निर्धारित बहुत अधिक निर्धन देशों की कसौटी में आता है।
2. **विकास की कम दर (Low Rate of Growth)** :- भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में विकास की दर बहुत कम रही है। योजनाओं की अवधि में विकास की दर 4.1 प्रतिशत रही है। इसके विपरीत जनसंख्या 1.8 प्रतिशत की दर से बढ॰ रही है। अतएव जनसंख्या व द्धि दर की तुलना में विकास की दर बहुत कम बढ़ रही है। विकास की दर में कम व द्धि होने के फलस्वरूप निर्धनता को दूर नहीं किया जा सकता है।
3. **कीमतों में व द्धि (Increase in Prices)** :- भारत में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आंरभ से ही कीमतों में जो बढ़ने की प्रव ति आरम्भ हुई है वह अभी तक जारी है। इस तीव्र गति में होने वाली कीमत व द्धि का देश की निर्धन जनता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके फलस्वरूप निर्धनता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।
4. **जनसंख्या का अधिक दबाव (Heavy Pressure of Population)** : भारत में जनसंख्या अत्यन्त द्रुतगति से बढ़ रही है भारत में जनंसख्या का आकार न केवल बड़ा है वरन् इसमें तेजी से व द्धि हो रही हे। इस व द्धि के कारण पिछले कई वर्षो से म त्यु दर का कम हो जाना पर जन्म दर का लगभग स्थिर रहना है। जनसंख्या की व द्धि की यह दर, जो 1941-51 से 1.0 प्रतिशत थी, बढ़कर 1981-91 में 2.1 प्रतिशत हो गई है। जनसंख्या 2000-2001 में बढ़कर 102.70 करोड़ हो गई, जबकि 1991 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या 84.63 करोड़ थी। जनसंख्या का यह दबाव विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा रही। भारत में जनसंख्या इस गति से बढ़ रही है कि कुल उत्पादन बढ़ने पर प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में अधिक धन नहीं हो पाता, जिससे जीवन-स्तर ऊंचा नहीं हो पाता। प्रतिव्यक्ति भूमि भी कम होकर 0.13 हैक्टेयर रह गई है।
5. **निरन्तर रहने वाली बेरोजगारी (Chronic Unemployment and Under Employment)** :- भारत में बेरोजगारी के विभिन्न प्रकारों प्रच्छन्न अल्प रोजगार, मौसमी आदि में प्रत्येक प्रकार की बेरोजगारी पाई जाती है। जनसंख्या के निरन्तर बढ़ने से यहां चिरकालीन बेरोजगारी व अर्द्धबेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो गई हैं। भारत में शिक्षित बेरोजगारी से भी बढ़कर कृषि में अद श्य बेरोजगारी की समस्या है। बेरोजगारी की समस्या निर्धनता का मुख्य कारण है। भारत में 2000-2001 में लगभग 90 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। बेरोजगारी के कारण राष्ट्र की श्रमशक्ति का उत्पादक कार्यों में पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त कार्यशील जनसंख्या पर आश्रितों की संख्या भी बढ़ रही है। इससे आप तथा उपभोग का स्तर भी कम हो रहा है।
6. **पूंजी की अपर्याप्तता (Capital Deficiency)** - यद्यपि पूंजी का सभी कार्यों में महत्व होता है किन्तु उद्योग, परिवहन, सिंचाई तथा विकास के अन्य साधनों की स्थापना में पूंजी का विशेष स्थान होता है। इसलिए किसी देश के आर्थिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण वहां पर पूंजी का अभाव हुआ करता है। भारत में भी ऐसी स्थिति विद्यमान है। भारत में लोगों की बचत का स्तर अत्यन्त निम्न है।
7. **कुशल श्रम व तकनीकी ज्ञान की कमी (Lack of Skilled Labour and Technical Knowledge)** :- भारत में औद्योगिक शिक्षा तथा प्रशिक्षण (Training) का भी उचित प्रबंध नहीं है। इस अभाव में जनसंख्या का आकार अधिक होने के कारण श्रम की पूर्ति तो बहुत अधिक है परन्तु व प्रशिक्षित श्रम का अभाव है।

8. **योग्य व निपुण उद्यमकर्त्ताओं का अभाव (Paucity of Able and Efficient Enterpreneurs)** - अल्प-विकसित देशों में औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में साहस और कल्पना शक्ति रखने वाले, जोखिम उठाने की योग्यता रखने वाले तथा अपने कार्य में दक्ष, निपुण एवं चतुर उद्यमकर्त्ताओं का अभाव होता है भारत में भी ऐसे उद्यमकर्त्ताओं का नितान्त अभाव है। फलस्वरूप, देश में मुख्यतः उन्हीं उद्योगों का विकास हो सका है जिनमें बहुत कम जोखिम है।

9. **उचित औद्योगीकरण का अभाव (Lack of Proper Industrialisation)** - औद्योगिक द ष्टि से भारत अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। भारत की गिनती पिछड़े हुए राष्ट्रों में की जाती है। यह इस तथ्य से प्रमाणित हो जाता है कि आज भी बड़े स्तर के उद्योगों में भारत की कुल कार्यशील जनसंख्या का केवल 3 प्रतिशत भाग ही लगा हुआ है। यद्यपि उपभोक्ता वस्तु उद्योग जैसे साबुन, कपड़ा, चीनी, चमड़ा, तेल आदि उद्योगों का काफी सीमा तक विकास सम्भव हुआ है किन्तु पूंजीगत एवं उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों का विकास अभी तक समुचित प्रकार से नहीं हो पाया है। इसके लिए आज भी भारत को विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है।

10. **पुरानी सामाजिक संस्थाए (Outdated Social Institutions)** - भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल सामाजिक आधार आज तक भी पुरानी सामाजिक संस्थाएं तथा रूढ़ियां हैं। यह वर्तमान समय के अनुकूल नहीं है। ये संस्थाएं हैं - जातिप्रथा, संयुक्त परिवार प्रथा और उत्तराधिकार के नियम आदि। ये सभी भारतीय अर्थव्यवस्था में तेजी से होने वाले परिवर्तनों में बाधा उपस्थित करते हैं।

11. **प्राकृतिक साधनों का उचित प्रयोग न होना (No Proper Use of Natural Resources)** - भारत प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धि की द ष्टि से अत्यन्त ही सम्पन्न देश हैं। यहां लोहा, कोयला, मैगजीन, अभ्रक जैसे बहुमूल्य खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं तथा सम्पूर्ण वर्ष बहने वाली नदियां विद्युत शक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। भारत में विभिन्न प्रकार की मिट्टी पाई जाती है जो भिन्न-भिन्न किस्म की फसलें उपजा सकती हैं तथा मानव शक्ति भी अन्य देशों से बहुत अधिक हैं। परन्तु इन सब साधनों का हमारे देश में ठीक प्रकार से प्रयोग नहीं हुआ है।

12. **आधारिक संरचना के समुन्नत साधनों का अभाव (Lack of Well Developed Infrastructure)** - भारत के विशाल क्षेत्र के अनुसार यहां यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों का समुचित विकास नहीं हो सका है। सड़क और रेल यातायात के समुचित रूप से उन्नत न होने के कारण कृषि विपणन दोषपूर्ण है। उद्योगों में समय पर कच्चा माल नहीं पहुंच पाता तथा उत्पादित वस्तुओं का सही वितरण नहीं हो पाता।

13. **स्फीतिदारी दबाब (Inflationary Pressures)** - भारत में विशेषकर आम जरूरत की वस्तुओं की लगातार बढ़ती हुई कीमतों के कारण गरीब एवं मध्यम वर्ग पर दबाब बढ़ता जाता है। निरन्तर बढ़ती हुई कीमतों के कारण गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाली जनसंख्या के आकार में निरन्तर व द्धि हो रही है।

(ब) **गैर-आर्थिक कारण (Non-Economic Factors) :** भारत में गरीबी की विकराल स्थिति की विद्यमानता हेतू केवल आर्थिक ही नहीं वरन् अनेक सामाजिक कारण भी समान रूप से उत्तरदायी रहे हैं। गरीबी के लिए प्रमुख उत्तरदायी कारण निम्नलिखित हैं :

1. **ब्रिटिश शासन की विरासत (Legacy of British Rule)** - अंग्रेजों ने अपने उपनिवेशी शासन के दौरान भारत में जमकर शोषण किया, यहां के परम्परागत उद्योग धंधों को नष्ट किया और इस देश के आर्थिक विकास के प्रतिकूल नीतियां अपनाई। इन सभी का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था इस प्रकार से छिन्न-भिन्न हुई की अभी तक संभल नहीं पाई है।

2. **जनसंख्या में तेजी से व द्धि (Rapid Increase in Population)** - भारत की जनसंख्या का आकार बड़ा है साथ ही इसमें बहुत तेजी से व द्धि होती जा रही है। इसके कारण राष्ट्र की कुल आय में व द्धि के बावजूद भी प्रतिव्यक्ति आय एवं उपभोग के स्तर में कोई खास व द्धि नहीं हो पा रही है।

3. **सामाजिक कारण (Social Factors)** - अशिक्षा, अज्ञानता, भाग्यवाद, पुरातनपंथी, पिछड़े-विरोधी ढाँचे, विचारों, मान्यताओं एवं परम्पराओं के कारण भी देश को विकास पथ अनेक बाधाओं से झुझना पड़ा है। इसके अतिरिक्त

सरकार की कराधान और व्यय नीतियों का भी धनवान और गरीब के बीच के अंतराल को पटाने में ठीक प्रकार से अपनी उपयुक्त भूमिका का निर्वाह नहीं किया जा सकता है।

भारत में गरीबी-उन्मुलन के उपाय (Measures for Removal of Poverty In India)

गरीबी मानव सभ्यता में एक अभिशाप है जिसे दूर करना राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्राथमिकता एवं अनिवार्य आवश्यकता है। गरीबी दूर किए बिना न तो देश के समस्त व्यक्तियों को आर्थिक विकास में सहभागी ही है और न ही देश के आम आदमी को सम्मानजनक ढंग से जीवन जीने का अवसर ही प्रदान किये जा सकते है। इसलिए गरीबी उन्मूलन भारत की पंचवर्षीय योजनाओं का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है। गरीबी हटाने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित उपायो को अपनाना श्रेयस्कर होगाः

1. **जनंसख्या नियन्त्रण (Populaton control)** - सम्भवतः किसी राष्ट्र में गरीबी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारण आवांछनीय जनसंख्या में व द्धि रहा है। भारत में राष्ट्रीय आय एवं राष्ट्रीय आय एवं राष्ट्रीय उत्पादन में जिस दर से व द्धि हुई है, प्रति व्यक्ति आय एवं प्रति व्यक्ति उत्पादन में उस दर से व द्धि नहीं हो सकी है। गरीबी में व द्धि यहीं से प्रारम्भ हुई है। कुल उत्पादन में बढ़ोत्तरी होने से बावजूद भी आम आदमी के उपभोग स्तर में व द्धि नहीं हो सकी और गरीबों की संख्या बढ़ती गई। अतः भारत में गरीबी, उन्मूलन के लिए जनसंख्या पर नियन्त्रण स्थापित करना आवश्यक है। इसके लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्रभावी रूप से लागू करना होगा।
2. **आय का पुनर्वितरण (Redistribution of Income)** - आय और धन के वितरण की असमानता गरीबी को स्थायी बना देती है। यह नागरिकों की कार्यकुशलता को भी विपरीत रूप से प्रभावित करती है। जब देश की अर्थव्यवस्था का ढांचा इस प्रकार का हो कि विकास के प्रयत्नों के कारण बढ़ी हुई आय को अमीर लोग ही हड़प जाते हों तो विकास के सारे प्रयत्न ही बेकार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे गरीबी घटने की बजाय और अधिक बढ़ जाती है। भारत में बहुत कुछ हद तक ऐसा ही हो रहा है। अतः यहां गरीबी उन्मूलन के लिए आय इस प्रकार पुनर्वितरण कराना आवश्यक है जिससे गरीब वर्ग की आय व उपभोग का स्तर ऊंचा उठ सके। इसके लिए राष्ट्रीय साधन, सम्पत्ति एवं आय के प्रवाह को अमीरों से गरीबों की ओर मोड़ना होगा।
3. **विकास की ऊंची दर (High Rate of Growth)** - गरीबी उन्मूलन के लिए आय का पुनर्वितरण, जनसंख्या नियन्त्रण आदि उपायों का महत्व है, किन्तु इनकी कुछ सीमाएं हैं। अतः यह आवश्यक है कि गरीबी के स्थायी उपचार हेतु आर्थिक विकास की दर बढ़ाने पर ही सर्वाधिक ध्यान देना होगा। यद्यपि आय के पुनर्वितरण के द्वारा वर्तमान वस्तुओं आपस में बंटवारा तो सम्भव है। किन्तु देश की वस्तुओं के कुल भंडारों में व द्धि करने के लिए तो उत्पादन में व द्धि करनी होगी। अतः भारत में गरीबी-उन्मूलन की द ष्टि से तीव्र आर्थिक विकास सर्वप्रथम अनिवार्य शर्त हैं तीव्र आर्थिक विकास के लिए हमें उत्पादकता एवं कार्यकुशलता बढ़ाने, तकनीकी ज्ञान के स्तर में सुधार लाने, देश के मानवीय व प्राकृतिक साधनों का पूरा-पूरा उपयोग करने जैसे उपाय करने होंगे।

   यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि विकास की ऊँची दर गरीबी हटाने की द ष्टि से एक अनिवार्य शर्त तो है किन्तु पर्याप्त शर्त नहीं। यह भी सम्भव है कि उत्पादन बढ़ने पर गरीबों के उपभोग-स्तर में सुधार न हो। ऐसा जनसंख्या के बढ़ने अथवा बढ़े हुए उत्पादन को देश के गिने-चुने अमीर लोगों द्वारा हड़प जाने के कारण हो सकता है। अतः तीव्र आर्थिक विकास के साथ-साथ ही जनसंख्या के नियंत्रण एवं आय के पुनर्वितरण के उपाय भी आवश्यक हैं। वास्तव में ये सभी उपाय एक दूसरे के पूरक हैं।
4. **कृषि का विकास (Development of Agriculture)** - भारत मूल रूप से एक कृषि प्रधान देश है और भारत की खेती पिछड़ी हुई है। भारत में गरीबों का काफी बड़ा भाग कृषि क्षेत्र में ही पाया जाता है। अतः कृषि के विकास पर ध्यान देना प्रथम प्राथमिकता होना चाहिए। भूमिहीन किसानों व सीमान्त किसानों की स्थिति में सुधार लाने हेतु विशेष प्रयास किये जाने चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र की गरीबी को दूर करने के लिए भूमि का पुनर्वितरण भी काफी उपयोगी उपाय है।
5. **कुटीर व लघु उद्योगों का विकास (Development of Cottage and Small scale Industreis)** - भारत में बेरोजगार लोगों को रोजगार प्रदान करने की द ष्टि से कुटीर व लघु उद्योगों का विकास किया जाना आवश्यक है। इससे न केवल बेरोजगार गरीब लोगों को काम मिलेगा वरन् आय व असमानता भी घटेगी।

6. **सामाजिक भागीदारी (Social Participation)** - यदि गरीब लोग विकास के कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी प्रारम्भ कर दे तो गरीबी को दूर किया जाना सरल हो जाएगा। इसके लिए गरीबों को स्वयं को गरीबी-उन्मूलन और आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में शामिल करना होगा। इस कार्य में पंचायती राज संस्थानों, स्वैच्छिक संगठनों और स्व-सहायता समूहों की भागीदारी को बढ़ाना आवश्यक होगा।

7. **छिपी हुई बेरोजगारी की समाप्ति और रोजगार में व द्धि (Eradication of Disguised Unemployment and Increase in Employment)** - निर्धनता दूर करने के लिए रोजगार, अर्द्धरोजगार तथा छिपी हुई बेरोजगारी को दूर करने के लिए विशेष प्रयत्न किये जाने आवश्यक हैं। ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार बढ़ाने के अधिक अवसर हैं उनका पूरा लाभ उठाना चाहिए। कृषि का विकास करके भूमि पर एक से अधिक फसल उगाने के फलस्वरूप अर्द्धबेरोजगारी तथा छिपी बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में कुटीर उद्योग, निर्माण आदि के कार्यों का विकास किया जाना चाहिए। शहरों में लघु उद्योग, यातायात आदि का अधिक विकास किया जाना चाहिए। शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन करके शिक्षित बेरोजगारों को रोजगार प्रदान किया जाना चाहिए।

8. **उत्पादन की तकनीकों में परिवर्तन (Change in Technique of Production)** - प्रो. गुन्नर मिर्डेल के अनुसार भारत के लिए पश्चिमी पूंजी प्रधान तकनीक अपनाई जानी चाहिए। भारतीय अर्थव्यवस्था में इस प्रकार का तकनीकी विकास करना चाहिए जिससे श्रम का पूरा उपयेाग हो सके। वास्तव में, भारत के लिए मध्यम तकनीकें, जो श्रम प्रधान तथा पूंजी प्रधान तकनीकों के मध्य का मार्ग हैं, अपनाई जानी चाहिए। इसके फलस्वरूप रोजगार की मात्रा बढ़ेगी तथा निर्धनता को दूर किया जा सकेगा।

9. **पिछड़े क्षेत्रों पर विशेष ध्यान (Special Attention on Backward Regions)** - भारत में कुछ क्षेत्र जैसे उड़ीसा, नागालैंड, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में आज भी निर्धनों का अनुपात दूसरे प्रदेशों से अधिक है। सरकार को पिछड़े इलाकों में विशेष सुविधायें प्रदान करनी चाहिए जिससे निजी पूंजी उन प्रदेशों में निवेश किया जाना सम्भव हो सकें। इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्रों का भी विकास किया जाना चाहिए।

10. **न्यूनतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि (Provision for Minimum Needs of the Poor)** - सरकार को निर्धनों की न्यूनतम आवश्यकताओं जैसे पीने का पानी, प्राथमिक चिकित्सा, प्राथमिक शिक्षा आदि को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न करने चाहिए। इसके लिए यदि सरकार को अधिक से अधिक राशि व्यय करनी पड़े तो कोई बुराई नहीं है।

11. **निर्धनों की उत्पादकता में व द्धि (Increase in the Productivity of the Poor)** - डॉ. वी.के.आर.वी.राव के अनुसार निर्धनता को दूर करने के लिए निर्धनों की आर्थिक उत्पादकता को बढ़ाना आवश्यक है। निर्धनों को स्वयं सतर्क होकर रोजगार की अवस्था को प्राप्त करने के प्रयत्न करने चाहिए। सरकार को इसके लिए सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में अधिक निवेश करना चाहिए। निर्धन वर्ग को रोजगार विन्मुख प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए तथा उनकी उत्पादकता बढ़ाने के प्रयत्न किये जाने चाहिए।

आर्थिक संव द्धि का गरीबी पर प्रभाव

(Effect of Economic Growth on Poverty)

कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क दिया है कि आर्थिक संव द्धि का लाभ स्वतः रिस-रिसकर जनसंख्या के सभी वर्गों को प्राप्त हो जाता है। जिससे गरीबी अपने आप कम हो जाती है। इसे "रिसाव-प्रभाव कहा जाता है। भारतीय कृषि संदर्भ में रिसाव-प्रभाव का अर्थ यह लिया जाता है कि भूमि सुधारों के बिना भी कृषि उत्पादन में व द्धि लाकर गरीबी के स्तर को कम किया जाता सकता है। एम.एस. आहलूवालिया के अनुसार भारत में इस तरह का रिसाव-प्रभाव काम कर रहा है। इसलिए कृषि उत्पादन में व द्धि व प्रति व्यक्ति आय में व द्धि होने से ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी अवश्य कम होगी। परन्तु विद्यमान तथ्यों के आधार पर आहलूवालिया यह सिद्ध करने में सफल नहीं होते कि इस तरह का रिसाव-प्रभाव सफल हुआ है। उनके अनुसार, "आर्थिक संव द्धि दर इतनी कम रही है कि गरीबी के स्तर में कोई कमी नहीं हो पाई है। 1956-57 से 1977-78 के बीच वास्तविक कृषि आय केवल 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ही बढ़ पाई थी। जो ग्रामीण जनसंख्या में व द्धि की दर

से जरा-सा ही अधिक थी। इसलिए ग्रामीण जनसंख्या के लिए प्रतिव्यक्ति कृषि शुद्ध घरेलू उत्पाद कोई स्पष्ट प्रव ति नहीं दिखाता। इन तथ्यों के आधार पर टी.एन.श्रीनिवासन ने यह तर्क दिया है कि संव द्धि की दर इतनी कम थी कि रिसाव-प्रभाव का गरीबी पर कोई असर नहीं पड़ा। आहलूवालिया का अध्ययन उन लोगों के लिए उपयुक्त है जो संस्थागत परिवर्तनों में या तो विश्वास नहीं रखते या फिर इन परिवर्तनों को राजनैतिक कारणों से ठीक नहीं समझते। ये लोग यह तर्क दे सकते हैं कि यदि कृषि में विकास की दर को काफी तेजी से बढ़ाने में सफलता मिल जाए तो रिसाव-प्रभाव अवश्य काम करेगा और संव द्धि से गरीब जनता को भी लाभ मिलेगा।

परन्तु रिसाव-प्रभाव की संभाव्यता (Potential) पर कई अर्थशास्त्रियों ने अपनी शंकाऐं व्यक्त की हैं। इस संदर्भ में यह कहा जाता है कि हरित क्रान्ति से पूर्व की अवधि में (अर्थात् 1965-66तक) कृषि में प्रसार का गरीब जनता के लिए स जन के साथ हो सकता है। कुछ सम्बन्ध रहा हो क्योंकि कृषि में विकास मुख्य रूप से कृषि के अधीन और क्षेत्र लाने के कारण हुआ था। जिससे रोजगार के अवसर बढ़े और गरीब लोगों को फायदा हुआ। परन्तु 1965-66 के बाद नई कृषि क्रान्ति के आने से गुणात्मक परिवर्तन हुआ। अब कृषि उत्पादन में व द्धि और अधिक भूमि के कारण नहीं बल्कि गहन खेती (Intensive Cultivation) के कारण होने लगी। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ऐसे परिवर्तन हुए जो गरीबों के लिए हितकर नहीं थे। इसलिए रिसाव-प्रभाव कारगर नहीं रहे। वर्धन ने इस प्रकार के परिवर्तनों की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है :-

1. मशीनरी द्वारा श्रम का प्रतिस्थापन जिसके कारण रोजगार के अवसर बढ़ नहीं पाए।
2. कई बड़े भू-स्वामियों ने अपने खेतों पर काम करने वाले छोटे-छोटे काश्तकारों को जमीन से बेदखल कर दिया और नई कृषि तकनीकों से लाभ कमाने के लिए स्वयं खेती करने लगे।
3. कृषि आगतों पर बढ़ती हुई निर्भरता के कारण नई कृषि तकनीक अपेक्षाकृत अधिक महंगी थी। इससे साधन-विहीन सीमांत व छोटे किसानों को खेती से धीरे-धीरे अलग होना पड़ा और ये लोग खेतिहर मजदूरों की श्रेणी में शामिल हो गए।
4. हरित क्रान्ति के कारण एक सम द्ध धनी कृषक वर्ग का विकास हुआ जो शहरों में बनी वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हुआ। इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों के स्थानीय दस्तकारों व कारीगरों द्वारा बनाई गई वस्तुओं की मांग गिरी और ये लोग और ज्यादा गरीब हो गए।
5. कुछ चुने हुए क्षेत्रों में कृषि विकास के कारण पिछड़े हुए क्षेत्रों से खेतिहर मजदूर इन क्षेत्रों की ओर आकृष्ट होने लगे।
6. धनी किसानों द्वारा पम्पसेटों के व्यापक प्रयोग के कारण भूमि के नीचे जल का स्तर गिर गया। जिससे गरीब किसानों द्वारा अपनाई जाने वाली पानी खींचने की विधियां कम प्रभावी हो गई। इसके अलावा, अब बड़े किसान पुरानी सिंचाई सुविधाओं के विकास में रुचि नहीं रखते और इन सुविधाओं को बनाए रखना गरीब किसानों के बस की बात नहीं है।
7. नई तकनीक के कारण स्त्रियों की कृषि श्रम-शक्ति में हिस्सेदारी कम हुई है। जिससे अपेक्षाकृत गरीब परिवारों की आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।
8. धनी किसानों की बढ़ती हुई राजनैतिक शक्ति के कारण खाद्यान्नों की निर्देशित कीमते (administered prices) लगातार बढ़ती गई है जबकि खेतिहर मजदूरों की मजदूरी बहुत पीछे रह गई है। (अर्थात् खाद्यान्नों की कीमतों में व द्धि की तुलना में मजदूरी में व द्धि बहुत कम हुई हैं)

वर्धन इस बात को स्वीकार करते है कि ऊपर लिखित सभी प्रव तियाँ समान शक्ति से काम नहीं करती और न ही इनका अस्तित्व नई तकनीक के खिलाफ कोई तर्क है। उनका आशय केवल इतना सिद्ध करना है कि आमूल संस्थागत परिवर्तन लाए बिना (अर्थात् भूमि सुधार लागू किए बिना) कृषि में नई तकनीकी को लागू करने के प्रयासों से गरीबों की हालत को सुधारने में कठिनाई होगी।

वर्धन के अनुसार यद्यपि पंजाब, हरियाणा जैसे कुछ राज्यों में कृषि क्षेत्र में प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में व द्धि हुई

है, तथापि इन राज्यों में गरीबी में कोई खास कमी नहीं हुई है। उनके अनुसार यह द श्य रिसाव-प्रभाव को गलत सिद्ध करता है। हालांकि मोनटेक एस.आहलूवालिया उन लोगों के तर्कों को स्वीकार नहीं करते जो रिसाव-प्रभाव के अस्तित्व को नकारते हैं फिर भी वे केवल रिसाव-प्रभाव को पर्याप्त नहीं मानते। उनके अनुसार, आर्थिक संव द्धि की युक्ति के पूरक के रूप में ऐसे कार्यक्रमों को अपनाए जाने की आवश्यकता है। जो गरीबी पर सीधा प्रहार करे। केवल रिसाव पर ही आश्रित रहने से गरीबी निवारण में बहुत ज्यादा समय लगेगा।"

गरीबी का दुष्चक्र
(Vicious Circle of Poverty)

अल्पविकसित देशों के आर्थिक पिछड़ेपन तथा उनकी निर्धनता के संबंध में कई सिद्धांत प्रतिपादित किय गये हैं। इनमें से एक सिद्धांत "निर्धनता के दुष्चक्र" (The Vicious Circle of Poverty) का सिद्धांत है। इस सिद्धांत को मुख्य रूप से प्रो. नर्कसे ने अपनी पुस्तक "Problem of Capital Formation in Underdevelped Countries" में प्रतिपादित किया था।

एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के निर्धन होने के प्राथमिक कारणों में इतनी अधिक परस्पर निर्भरता पाई जाती है कि वे एक दूसरे को शक्ति प्रदान करने के लिए चक्रीय रूप धारण कर लेते हैं। निर्धनता के कारणों के इस चक्र को ही निर्धनता का दुष्चक्र (Vicious circle of Poverty) कहते हैं। अल्पविकसित देशों की इस विशेषता के आधार पर ही प्रो. नर्कसे का प्रसिद्ध कथन है कि, "एक देश निर्धन इसलिए है क्योंकि वह निर्धन है।" (A Country is poor because it is poor) इसका अभिप्राय है कि निर्धनता स्वयं ही ऐसी दशाएं उत्पन्न कर देती है कि अर्थव्यवस्था निर्धनता के चक्र में फंसी रहती है।

निर्धनता के दुष्चक्र के अर्थ
(Meaning of Vicious Circle of Poverty)

निर्धनता के दुष्चक्र से अभिप्राय है कि निर्धनता स्वयं ही निर्धनता को जन्म देती है अर्थात् निर्धनता का कारण तथा परिणाम स्वयं निर्धनता है। निर्धनता का दुष्चक्र एक ऐसी व त्ताकार क्रिया है जिसका प्रारंभ भी निर्धनता है तथा अन्त भी निर्धनता है। यह एक ऐसे रोगी के समान है जो अपनी शारीरिक कमजोरी के कारण रोगी है तथा रोगी होने के कारण शारीरिक रूप से कमजोर हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में प्रतिव्यक्ति आय कम होती है तथा जनसंख्या की व द्धि दर अधिक होती है। प्रतिव्यक्ति आय के कम होने के कारण एक ओर तो बचत कम होती है तथा दूसरी ओर मांग कम होती है। बचत कम होने के कारण निवेश के लिए कम साधन उपलब्ध होते हैं तथा मांग कम होने के कारण निवेश की प्रेरणा कम होती है। अतएव बचत तथा मांग की कमी के कारण भौतिक तथा मानवीय निवेश कम होता है। इसके फलस्वरूप एक ओर प्रतिव्यक्ति पूंजी कम होती है तथा दूसरी ओर श्रमिक का स्वास्थ्य खराब रहता है तथा उसमें शिक्षा की कमी होती है। इनके फलस्वरूप श्रम की उत्पादकता कम होती है। उत्पादकता कम होने के कारण उत्पादकता कम होती है इस प्रकार निर्धनता का यह दुष्चक्र चलता रहता है। जैसा कि चित्र द्वारा दिखाया गया है।

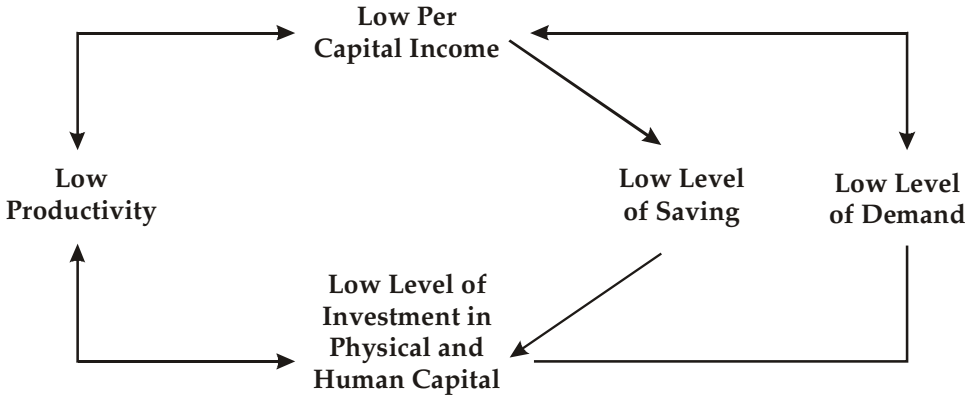

प्रो. नर्कसे के अनुसार, "निर्धनता के दुष्चक्र क अर्थ नक्षत्रमण्डल के समान शक्तियों का इस प्रकार से घूमना है कि वे परस्पर क्रिया प्रक्रिया करती हुई निर्धन देश को निर्धनता की अवस्था में ही रखें।" ("It implies circular constellation of forces tending to act and react upon one another in such a way as to keep a poor country in a state of poverty" — Nurkse) प्रो. नर्कसे ने एक निर्धन व्यक्ति के उदाहरण द्वारा निर्धनता के दुष्चक्र के अर्थों को स्पष्ट किया है। उसके अनुसार, निर्धन मनुष्य को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता, कम भोजन के कारण वह निर्बल हो जाता है, निर्बल होने के कारण उसकी कार्यकुशलता कम हो जाती है, इसके फलस्वरूप उसकी आय कम हो जाती है, अर्थात् वह निर्धन हो जाता है। निर्धन होने के कारण उसे पर्याप्त खाना नहीं मिलेगा तथा यह चक्र चलता रहेगा। एक देश के संबंध में इस प्रकार की स्थिति को सामान्यतः इस कथन से व्यक्त किया जा सकता है कि, "एक देश इसलिए निर्धन है क्योंकि वह निर्धन है" (A country is poor because it is poor.) प्रो. वाल्टर क्राज के अनुसार, "अल्पविकसित देशों के वातावरण के संबंध में दुष्चक्र शब्द से अभिप्राय कारण तथा परिणाम के उस आन्तरिक संबंध से है जो अल्पविकसित देश को उसकी कमियों से बांधे रखता है।" (The term vicious circle as it applies to the environment in underdeveloped countries refers to an interrelativonship of cause and effect that operates so as to keep the economy in its own short comings. — Walter Krause)

प्रो. केन्ज ने इस विवाद को पहले अण्डा विवाद (Hen first or egg first controversy) कहा है। 1951 में विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) के अधिवेशन में प्रो. विनस्लो (Winslow) ने The cost of sickness and Price of Health' विषय पर बोलते हुए 'दुष्चक्र' शब्द को इस प्रकार स्पष्ट किया, "निर्धनता एवं बीमारी से एक दुष्चक्र बना। पुरूष और स्त्रियां इसलिए बीमार थी कि वे लोग गरीब थे, वे इसलिए गरीब हो गए क्योंकि वे बीमार थे। वे और अधिक गरीब इसलिए होते गए क्योंकि वे बीमार थे और उनकी निरन्तर बीमारी का कारण उनकी गरीबी थी" ("That poverty and disease formed a vicious circle. Men and women were poor, they become poorer because they were sick because they were sick, and sicker because they were poorer" — Winslow)

निर्धनता के दुष्चक्र की विशेषताएं (Features of Vicious Circle of Poverty)

निर्धनता के दुष्चक्र की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

1. निर्धनता के कारण तथा परिणाम स्वयं निर्धनता हैं।
2. निर्धनता व त्ताकार ढंग (Circular Form) के एक बिन्दु से प्रारंभ होकर, क्रिया-प्रक्रिया करती हुई उसी बिन्दु पर वापिस लौट आती है।
3. निर्धनता का प्रभाव संचयी (Cumulative) होता है अर्थात् निर्धनता का अगला स्तर अपने पहले स्तर से भी अधिक घातक होता है।
4. निर्धनता का दुष्चक्र एक ऐसी निरन्तर प्रक्रिया है जो संबंधित तत्वों को सदैव नीचे की ओर धकेलती है।
5. निर्धनता के दुष्चक्र का आरम्भ एक ऋणात्मक तत्व (Negative Factor) अर्थात् कम आय से होता है। यह तत्व अगले ऋणात्मक तत्व का कारण भी है तथा परिणाम भी है।

निर्धनता के दुष्चक्र के विभिन्न पक्ष

(Different Aspects of Vicious circle of Poverty)

निर्धनता के दुष्चक्र के मुख्य पक्ष निम्नलिखित हैं :-

1. **निर्धनता का पूर्ति पक्ष अथवा कम बचत का दुष्चक्र (Supply side of Vicious Circle or Vicious Circle of Low Saving)** :- निर्धनता के दुष्चक्र के पूर्ति पक्ष से ज्ञात होता है कि अल्पविकसित देशों में लोगों की आय इतनी कम होती है कि वे बचत करके पूंजी निर्माण करने में असमर्थ होते हैं। प्रो. सैम्युअलसन के शब्दो में, "अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाएं अपना सिर पानी के ऊपर नहीं उठा सकती क्योंकि उनका उत्पादन इतना कम है कि पूंजी निर्माण के लिए कुछ भी नहीं बचा सकती जिससे कि उनका जीवन स्तर ऊंचा उठ सके।" (They (the backward nations) cannot get their heads above water because their production is so low that they can spare nothing for

capital formation by which their standard of living could be raised —Samualson) प्रो. नर्कसे ने निर्धनता के दुष्चक्र के पूर्ति पक्ष को इस प्रकार व्यक्त किया है कि "अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में बचत करने की शक्ति कम होती है। इसका कारण यह है कि इन अर्थव्यवस्थाओं में आय का स्तर नीचा जाता है। वास्तविक आय का नीचा स्तर उत्पादकता की कमी को प्रकट करता है। उत्पादकता की कमी का कारण पूंजी निर्माण की कमी है। पूंजी निर्माण की कमी के कारण बचत की शक्ति का कम होना है। इस प्रकार यह चक्र पूरा हो जाता है।" (On the supply side there is the small capacity to save, resulting from low level of national income. The low real income is a reflection of low productivity, which in turn is due largely to the lack of capital. The lack of capital is a result of the small capacity to save, and so the circle is complete — Nurkse)

दुष्चक्र का पूर्ति पक्ष (Supply Side)

कम आय → कम बचत → कम निवेश → कम पूंजी निर्माण → कम उत्पादकता → कम आय → .....

निर्धनता के दुष्चक्र के पूर्ति पक्ष को आगे दिए गए रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

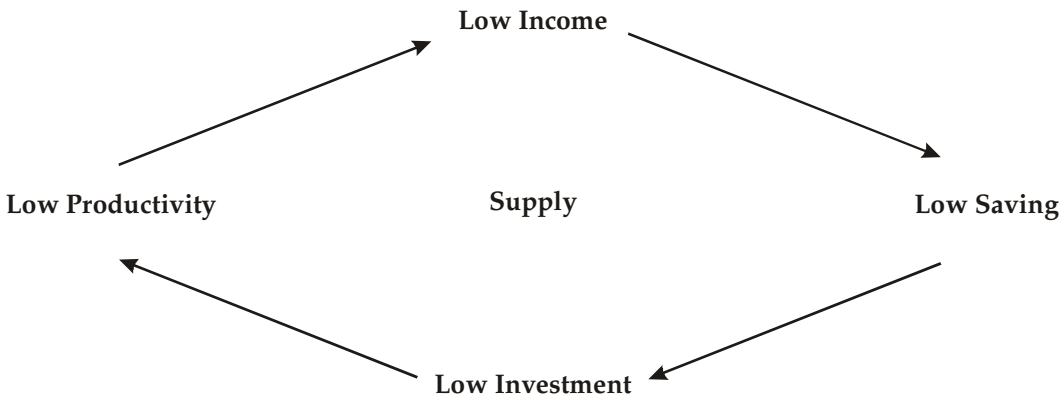

रेखाचित्र से यह ज्ञात होता है कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाएं निर्धन होती है। निर्धनता का अर्थ वास्तविक आय का कम होना है। वास्तविक आय इसलिए कम होती है क्योंकि उत्पादकता कम होती है। उत्पादकता इसलिए कम होती है क्योंकि पूंजी की कमी होती है पूंजी की कमी का कारण निवेश का कम होना है निवेश इसलिए कम होता है क्योंकि बचत कम होती है। बचत इसलिए कम होती है क्योंकि आय कम होती है। उपरोक्त विवरण से सिद्ध हो जाता है कि निर्धनता अथवा आय मे कमी का एक मुख्य कारण बचत में होने वाली कमी है। इसके फलस्वरूप उत्पादन कार्यों में निवेश नहीं हो पाता। किसी व्यक्ति के पास बचत तभी होती है जब उसकी वास्तविक आय उपभोग से अधिक हो। अल्पविकसित देशों में समाज दो वर्गों में बंटा होता है एक निर्धन वर्ग दूसरा धनी वर्ग। उदाहरण के तौर पर, अधिकतर किसान निर्धन वर्ग में शामिल किये जा सकते हैं। कृषक वर्ग की आय बहुत कम होती है। इसका कारण यह है कि इन देशों में अधिकतर किसान जीवन निर्वाह खेती (Subsistence Farming) में लगे होते हैं, कृषि करने का ढंग पुराना एवं अकुशल होता है। अकुशल श्रम, छिपी हुई बेरोजगारी तथा श्रम की गतिहीनता के कारण श्रम की उत्पादकता भी कम होती है। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय उत्पादन का अधिकतर भाग उपभोग संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही व्यय हो जाता है। इस प्रकार इन देशों में बचत का अभाव पाया जाता है। इसके फलस्वरूप निवेश कम होता है। निवेश कम होने के कारण पूंजी का निर्माण कम होता है। इसके फलस्वरूप उत्पादकता कम रहती है तथा आय के स्तर को कम बनाये रखती है।

यद्यपि इन देशों में समाज का धनी वर्ग बचत की स्थिति में होता है। परन्तु यह वर्ग अपनी बचत का अधिकांश भाग निवेश करने के स्थान पर विलासित तथा वैभवी वस्तुएं खरीदने पर खर्च कर देता है अर्थात् प्रदर्शन प्रभाव से प्रभावित रहता है। ये लोग विदेशी वस्तुओं को अधिक पसन्द करते हैं। इस प्रकार इनकी मांग में व द्धि के फलस्वरूप भी देशी बाजार का विस्तार नहीं हो पाता। वे अपनी बचत को निवेश करने की अपेक्षा भूमि, जायदाद, हीरे जवाहरात आदि पर खर्च कर देते हैं। किसी अर्थव्यवस्था में किये जाने वाला निवेश बचत पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि निवेश की सुविधा तथा निवेश करने की इच्छा पर निर्भर करता है। इन देशो में मांग कम होने के कारण निवेश की सुविधाऐं कम होती हैं। निवेश की मात्रा योग्य उद्यमियों पर भी निर्भर करती है तथा परिश्रम करना पड़ता है। धनी वर्ग का सामाजिक वातावरण ऐसा होता है कि जोखिम

उठाने तथा सख्त परिश्रम की भावना को निरूत्साहित करता है। एक धनी जमींदार का लड़का परिश्रम करके नया उद्योग स्थापित करने की अपेक्षा मजदूरों से खेती का काम कराते रहना अधिक पसंद करता है। इन देशों में हाथ से काम करने वाले तथा शारीरिक परिश्रम करने वाले व्यक्तियों को नीचे स्तर का व्यक्ति माना जाता है।

अल्पविकसित देशों में मध्यम आय वर्ग के लोग भी पाये जाते हैं। वह वर्ग व्यापार, व्यवसाय तथा विभिन्न प्रकार की सेवाओं के कार्य करना पसन्द करता है। इसके कई कारण हैं। जैसे : (1) बड़े उद्योगों में निवेश करने के लिए पूंजी का अभाव (ii) संयुक्त पूंजी कम्पनियों का कम प्रचार (iii) औद्योगिक वित्त की कमी (iv) कुशल श्रमिकों की कमी (v) यातायात आदि सामाजिक उपरि ढांचे (Social Overhead) की कमी आदि। इस प्रकार इन देशों में बड़े स्तर के उद्योगों की स्थापना में कई प्रकार की रूकावटें होती हैं। इनके फलस्वरूप जो उद्यमी जोखिम उठाना भी चाहते हैं वे भी पूंजी की पूर्ति के अभाव में ऐसा नहीं कर पाते।

2. **दुष्चक्र का मांग पक्ष अथवा कम मांग का दुष्चक्र (Demand Side f Vicious Circle or Vicious Circle of law Demand)** :- निर्धनता के दुष्चक्र का दूसरा पक्ष मांग पक्ष है। नर्कसे के अनुसार, "निर्धनता के दुष्चक्र के मांग पक्ष का मुख्य कारण यह है कि इन देशों में निवेश की प्रेरणा कम होती है। निवेश की प्रेरणा कम होने का कारण इन देशों के लोगों की क्रय शक्ति कम होती है। क्रय शक्ति के कम होने के कारण लोगों की वास्तविक आय का कम होना है। आय में कमी इसलिए होती है क्योंकि उत्पादकता कम होती है। उत्पादकता इसलिए कम होती है क्योंकि पूंजी निर्माण कम होता है। पूंजी निर्माण के कम होने का कुछ सीमा तक कारण यह है कि निवेश की प्रेरणा कम होती है।" (On the demand side, the inducement to Invest may be low because of the small buying power of the people, which is due to their small real income, which is again due to low productivity. The level of productivity however is the result of the small amount of capital used in production which in turn may be caused, or at least partly caused, by the small inducement to invest" — Nurkse)

Demand Side

कम आय → कम मांग या कम क्रय शक्ति → कम निवेश → कम पूंजी निर्माण → कम उत्पादकता → कम आय →

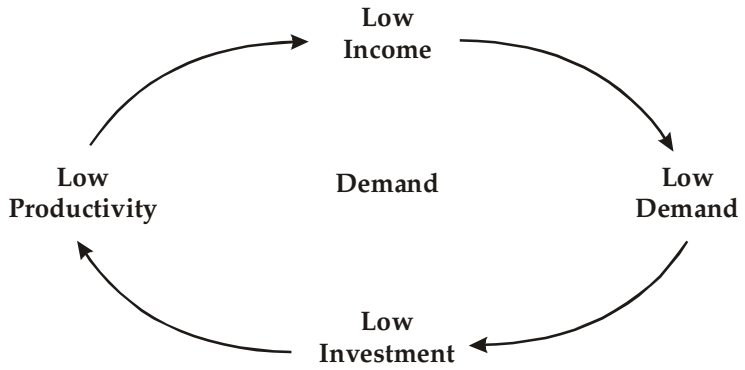

रेखाचित्र से यह स्पष्ट होता है कि इन अर्थव्यवस्थाओं में आय की कमी होती है। आय में कमी होने के कारण मांग भी कम होती है। मांग कम होने के फलस्वरूप निवेश कम होता है इसके फलस्वरूप पूंजी की कमी रहती है, पूंजी की कमी के फलस्वरूप उत्पादकता कम होती है। उत्पादकता कम होने के कारण आय कम होती है। इस प्रकार मांग की कमी के फलस्वरूप निर्धनता का दुष्चक्र चलता रहता है। इन अर्थव्यवस्थाओं में लोगों के निर्धन होने के कारण मांग कम होती है। इसके फलस्वरूप बाजार का विस्तार कम होता है। बाजार में मांग की कमी होने के कारण निवेश प्रेरणा बहुत कम होती है। निवेशकर्त्ता बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित नहीं कर पाते, इनके अभाव में उत्पादकता में व द्धि नहीं होती तथा आय नहीं बढ़ती। प्रो. नर्कसे ने इस संबंध में कई उदाहरण दिए हैं जैसे एक उद्यमी नये ढंग से जूता बनाने का एक आधुनिक कारखाना उस देश में स्थापित नहीं करेगा जहां के लोग निर्धनता के कारण जूते खरीदने में असमर्थ होंगे। इसी प्रकार दिल्ली में यदि इस्पात का आधुनिक कारखाना स्थापित किया जायेगा तो वह तीन घंटे में इतना उत्पादन कर लेगा कि उस देश के सारे वर्ष की मांग पूरी की जा सके। अतएव प्रो. नर्कसे के अनुसार, "अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में मांग की द ष्टि से लोगों की क्रय शक्ति कम होने के कारण निम्न उत्पादकता पाई जाती है।" वास्तव में बाजार के सीमित आकार तथा निवेश के

फलस्वरूप लाभ की कम सम्भावना के कारण ही अल्पविकसित देशों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन संभव नहीं हो पाता। अतएव निवेश की मांग कम पाई जाती है। निवेश की मांग कम होने के कारण जो लोग बचत करते हैं वे उसका निवेश विदेशों में अथवा व्यापार आदि में करना पसंद करते हैं। संक्षेप में, अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में आय कम होने के कारण मांग कम होती है। मांग कम होने के फलस्वरूप निवेश प्रेरणा कम होती है। निवेश प्रेरणा कम होने के कारण निवेश कम होता है। इसके कारण पूंजी की कमी रहती है। जिससे उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है, उत्पादकता कम होने के कारण आय कम होती है। इस प्रकार देश निर्धनता के दुष्चक्र में फंसा रहता है।

3. **पिछड़ेपन की दुष्चक्र (Vicious Circle of Backwardness)** :- निर्धनता का दुष्चक्र आर्थिक तत्वों के पिछड़ेपन के फलस्वरूप भी उत्पन्न होता है। यह रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अल्पविकसित देशों में आय की कमी के कारण अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में पिछड़ेपन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो अर्थव्यवस्था को निरन्तर निर्धन बनाये रखती है। पिछड़ेपन के दुष्चक्र को चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाचित्र से यह ज्ञात होता है कि अल्पविकसित देशों में आय की कमी होती है। इसके फलस्वरूप एक तो शिक्षा की कमी तथा लोगों के खराब स्वास्थ्य के कारण श्रम की उत्पादकता कम होती है। दूसरी ओर ऊँची जन्मदर के कारण श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है परन्तु कम बचत तथा कम निवेश के कारण श्रम की मांग कम होती है। पूर्ति के श्रम की मांग से अधिक होने के कारण बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जनसंख्या का खराब स्वास्थ्य, शिक्षा की कमी, बेरोजगारी, अल्परोजगार आदि अर्थव्यवस्था के मानवीय साधनों के पिछड़ेपन के प्रतीक हैं। इसके फलस्वरूप श्रम की उत्पादकता में कमी होती है तथा प्रतिव्यक्ति आय कम रह जाती है।

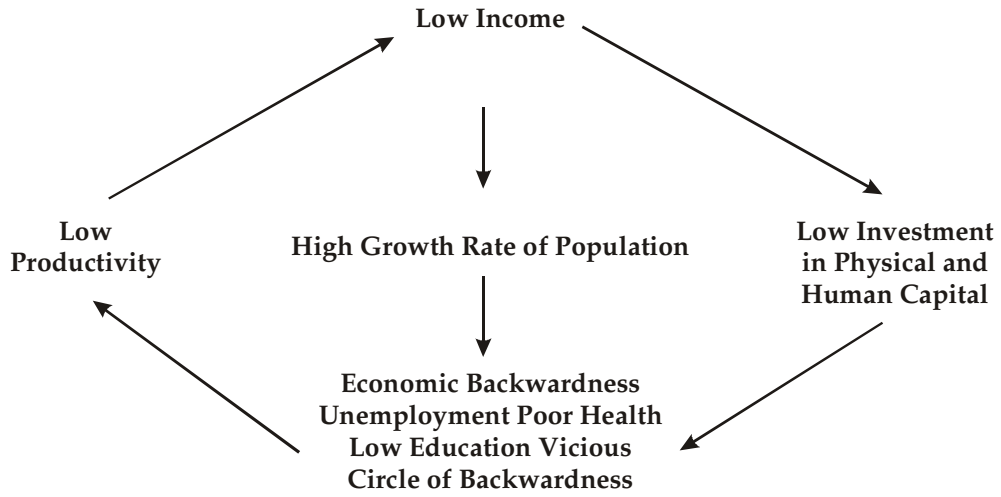

निर्धनता के दुष्चक्र के मॉडल (Model of Vicious Circle of Poverty)

निर्धनता के दुष्चक्र को एक मॉडल के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। इस मॉडल के अनुसार :-

1. आय, पूंजी निर्माण अथवा निवेश पर निर्भर करती है।

$$Y = F(I)$$

इसे पढ़ा जायेगा : आय (Y), निवेश (I), का फलन (f) है। निवेश के फलस्वरूप पूंजी निर्माण में व द्धि होती है।

2. निवेश बचत पर निर्भर करता है।

$$I = F(S)$$

इसे पढ़ा जायेगा : निवेश (I), का बचत (S) का फलन (F) है।

3. बचत आय पर निर्भर करती है।

$$S = f(Y)$$

इसे पढ़ा जायेगा : बचत (S), आय (Y), का फलन (F) है।

अतएव, "आय में होने वाली व द्धि पूंजी पर निर्भर करती है तथा पूंजी में होने वाली व द्धि बचत पर निर्भर करती है तथा बचत में होने वाली व द्धि आय पर निर्भर करती है।" (The growth of income depends on the growth of capital depends on growth of savings and growth of savings depends on the growth of income.")

"निर्धनता के दुष्चक्र का मॉडल इस तथ्य पर आधारित है कि आय का निम्न स्तर, आय को बढ़ाने के लिए पूंजी निर्माण की जिस दर की जरूरत होती है, उसकी प्राप्ति में स्वयं ही एक बाधा है।" (The model behind the theory of the vicious circle of poverty points to the nation that the low level of income itself prevents the capital formation required to raise income.")

निर्धनता के दुष्चक्र के कारण
(Causes of Vicious circle of Poverty)

निर्धनता के दुष्चक्र के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :-

1 **कम बचत (Low Saving)** :- निर्धनता के दुष्चक्र का एक मुख्य कारण बचत की कमी है। बचत की कमी के कारण एक ओर निवेश की कमी होती है तथा दूसरी ओर निवेश प्रेरणा अर्थात् मांग की कमी होती है। निवेश की कमी के कारण पूंजी निर्माण कम होता है। इसके फलस्वरूप श्रम कमी उत्पादकता कम होती है तथा निर्धनता का स्तर कायम रहता है।

2. **साधनों का अल्पशोषण (Under utilisation of Resources)** :- मायर तथा बाल्डविन के अनुसार निर्धनता के दुष्चक्र का मुख्य कारण मानवीय तथा प्राकृतिक साधनों का अल्प विदोहन है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में बाजार की अपूर्णताओं के तथा अन्य कारणों से साधनों का पूर्ण शोषण नहीं हो पाता।

3. **आर्थिक पिछड़ापन (Economic Backwardness)** :- प्रो. के.एन.भट्टाचार्य के अनुसार, "निर्धनता तथा आर्थिक पिछड़ापन दो पर्यायवाची शब्द है। एक देश इसलिए निर्धन है क्योंकि वह अल्पविकसित है। वह अल्पविकसित इसलिए है क्योंकि निर्धन है। वह अल्पविकसित बना रहता है क्योंकि उसके पास विकास को गति प्रदान करने वाले साधनों का अभाव होता है – जैसे उद्यमशीलता का अभाव, कुशल श्रमिकों की कमी, तकनीकी ज्ञान की कमी, खनिज पदार्थों की कमी आदि।"

4. **विविध कारक (Miscellaneous Factors)** :- अमेरिकन अर्थशास्त्री गैलबर्थ ने निर्धनता के दुष्चक्र के निम्न कारण बताए हैं (i) लोग इसलिए निर्धन है कि उन्हें निर्धन रहना पसन्द है। (ii) कुछ निर्धन देश प्राकृतिक रूप से निर्धन है (iii) कई देशों को निर्धनता औपनिवेशिक शोषण के कारण हैं। (iv) निर्धनता वर्ग शोषण का परिणाम है (v) निर्धनता का कारण अपर्याप्ता पूंजी है। (vi) अत्याधिक जनसंख्या निर्धनता का कारण है। (vii) गलत आर्थिक नीति निर्धनता का कारण है। (viii) निर्धनता अज्ञानता के कारण होती है।

निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने की आवश्यकता
(Need for Breaking the Vicious Circle)

निर्धनता के दुष्चक्र के उपरोक्त विवरण और अल्पविकसित देशों के अनुभव से यह प्रमाणित होता है कि यह "निर्धनता का दुष्चक्र स्वतः सुधारक न होकर स्वतः स्थायी है" (Vicious circle of poverty is not self correcting but self - perpetuating) इसलिए इसे दूषित नाम दिया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्धन देश हमेशा निर्धन ही बने रहेंगे। आज विकसित कहलाने वाले देश- इग्लैंण्ड, अमेरिका, फ्रांस इत्यादि भी कुछ दशकों पूर्व अल्पविकसित थे। एशिया में जापान और चीन आर्थिक प्रगति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अन्य कई विकासशील देश निर्धनता के अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए योजनाबद्ध प्रयास कर रहे हैं। इन विकासशील देशों के लिए निर्धनता के दुष्चक्र को प्रभावशाली ढंग से तोड़ना आवश्यक है।

निर्धनता के दुष्चक्र का समाधान
(Solution of the Vicious Circle of Poverty)

नर्कसे के अनुसार, "एक स्थिर व्यवस्था में शक्तियों का चक्रीय रूप में काम करना एक वास्तविकता है किन्तु सौभाग्य से यह चक्र अट्टू नहीं है और यदि इसे एक बार किसी बिन्दु पर तोड़ दिया जाता है तो यही वास्तविकता का

संबंध चक्रीय है, विकास को संचयी बना देती है। इसलिए हमें इस चक्र को विषम कहने में संकोच करना चाहिए क्योंकि वह लाभपूर्ण बन सकता है।" (The circular constellation of the stationery system is real enough, but fortunately the circle is not unbreakable and once it is broken at any point the very fact that relation is circular tends to make for comulative advance. We should perhaps hesitat to call the circle vicious as it can become beneficient — Nurkse)

अल्पविकसित देशों को अपना आर्थिक विकास करने के लिए निर्धनता के दुष्चक्र से छुटकारा पाना आवश्यक है। अल्पविकसित देश निर्धनता के दुष्चक्र रूपी बाधा का समाधान निकाल सकते है। अल्पविकसित देशों को निर्धनता के दुष्चक्र का समाधान करने के लिए जनसंख्या की व द्धि दर को कम करना चाहिए, उत्पादन तकनीक में सुधार करना चाहिए तथा बचत की दर को बढ़ाना चाहिए। निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने की प्रक्रिया को निम्नलिखित चार्ट की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

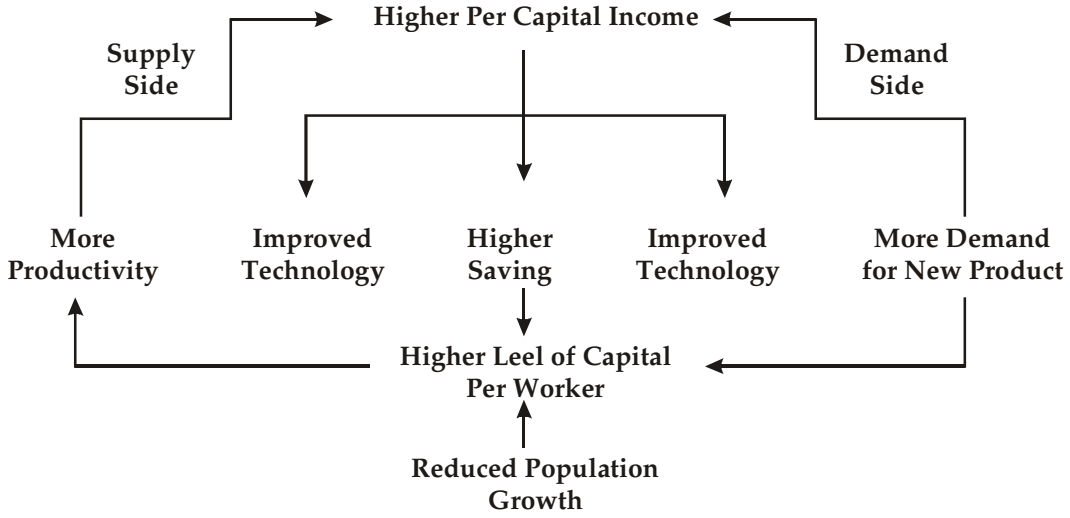

Breaking the vicious circle of Poverty

इन समाघानों को भी हम दुष्चक्र के अनुकूल निम्नलिखित तीन भागों में बाट सकते हैः-

(A) **पूर्ति संबंधी दुष्चक्र का समाधान (solution of the vicious circle of supply) :-**

अल्पविकसित देशों के पूर्ति सबंधी दुष्चक्र को तोड़ने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जाने चाहिएः-

(1) **बचत में व द्धि (Increase in savings)** :- बचत में व द्धि की जानी चाहिए तथा उसका उत्पादन कार्यो में निवेश किया जाना चाहिए। बचत में व द्धि करने के लिए अनावश्यक व्यय जैसे, रीति-रिवाज, शादी-विवाह आदि पर किये जाने खर्च तथा शान-शौकत की वस्तुओं पर किया जाने वाला व्यय कम किया जाना चाहिए। अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में ऐच्छिक बचतों की संभावनाएं कम होती हे। अतः इस सम्बन्ध में सरकार के हस्ताक्षेप की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। सरकार अपनी राजकोषीय नीति में परिवर्तन करके बचत की दर में व द्धि कर सकती है। इसके लिए विलासिता की सामग्राी पर अधिक कर लगा सकती है, तथा लगान, किराया आदि से मिलने वाली आय पर प्रत्यक्ष कर की दर बढ़ा सकती है। अतः कर प्रणाली में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके उपभोग को कम करने में सफलता प्राप्त की जा सकती है। सरकार अनिवार्य जमा योजनाएं (compulsory deposite schemes) अथवा अनिवार्य ऋण योजना के द्वारा भी बचत को एक सीमा के अन्तर्गत ही रख सकती है। प्रो0 नर्कसे ने अल्पविकसित देशों में पाई जाने वाली छिपी हुई बेरोजगारी को भी बचत का एक सम्भव साधन बताया है। अल्पविकसित देशों में आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशों से पूंजी प्राप्त करके निवेश की दर को बढ़ाया जा सकता है।

(2) **पूंजी निर्माण या निवेश में व द्धि (Capital Formation or Increase in Investment)** :- निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने के लिए बचत करना ही पर्याप्त नहीं है। इस बचत का उचित ढंग से निवेश करना भी आवश्यक है। निवेश की अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों काल की योजनाओं में समन्वय किया जाना चाहिए। अल्पकाल में निवेश से, शीघ्र

प्रतिफल प्राप्त करने के लिए कृषि सम्बन्धित क्षेत्रों जैसे सिंचाई, कृषि यंत्र, खाद और उपभोक्ता पदार्थों आदि के उद्योगों में निवेश किया जाना चाहिए इसके फलस्वरूप जीवन की आवश्यक वस्तुएं उचित मात्रा तथा उचित मूल्य पर लोगों को मिल सकेंगी। इसका इसकी कार्यकुशलता पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा तथा उनका नैतिक बल बना रहेगा। अल्पकालीन निवेश योजनाओं के साथ-साथ दीर्घकालीन निवेश योजनाओं जैसे बहुउद्देशीय योजनाएं इस्पात, रासायनिक, पदार्थ आदि वस्तुओं का उत्पादन करने वाले आधारभूत उद्योगों की स्थापना आदि पर भी उचित मात्रा में निवेश किया जाना चाहिए। अल्पविकसित देशों में निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए उचित मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति बनाई जानी चाहिए जिससे लोगों की छोटी बचत करने की प्रेरणाएं तथा सुविधाएं दोनों ही प्राप्त हों।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में योजनात्मक ढंग से सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों में निवेश अधिक मात्रा में किए जाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। अर्थशास्त्रियों में निवेश नीति के संबंध में मतभेद पाया जाता है। रोडान (Rodan) के अनुसार - "अल्पविकसित देशों में निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि निवेश एक साथ बहुत अधिक मात्रा में सामाजिक तथा आर्थिक उपरि लागतों में एक बड़े धक्के के रूप में किया जाना चाहिए। नर्कसे के अनुसार इसके फलस्वरूप संतुलित विकास संभव हो सकेगा। इसके विपरीत हिरशमैन का यह मत है कि निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने के लिए असंतुलित विकास की विधि अपनाई जानी चाहिए। निवेश केवल चुने हुए क्षेत्रों में किया जाना चाहिए, जिसके फलस्वरूप विकास करने की प्रेरणा स्वयं ही मिलती रहेगी। संक्षेप में निर्धनता के दुष्चक्र के पूर्तिपक्ष के समाधान के लिए बचत की दर में व द्धि करना तथा उसका उचित प्रकार से निवेश करना आवश्यक है। इसके लिए विदेशी पूंजी (Foreign Capital) की भी सहायता ली जा सकती है।"

(B) **मांग संबंधी दुष्चक्र का समाधान (Solution of Vicious Circle of Demand)** : अल्पविकसित देशों में निध र्नता के दुष्चक्र के मांग पक्ष के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि बाजार का विस्तार (Wider Extent of Market) किया जाये, जिससे निवेशकर्त्ताओं को निवेश करने की प्रेरणा प्राप्त हो। प्रो. नर्कसे ने इस संबंध में संतुलित विकास की नीति अपनाने का सुझाव दिया है। संतुलित विकास की नीति के अनुसार अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र अर्थात् कृषि, उद्योग, यातायात आदि में इस प्रकार निवेश किया जाना चाहिए कि एक क्षेत्र के उत्पादन की मांग दूसरे क्षेत्र में की जा सके। इस प्रकार की मांग व द्धि के फलस्वरूप बाजार का विस्तार होगा तथा निवेश को अधिक प्रेरणा प्राप्त होगी। हिरशमैन, सिंगर, फ्लेमिंग आदि अर्थशास्त्री संतुलित विकास की नीति को व्यवहारिक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार असन्तुलित विकास की नीति अधिक उपयोगी होगी। भारत जैसे अल्पविकसित देशों के उदाहरण से हमें ज्ञात होता है कि इन देशों में मांग बढ़ने की संभावना हर समय बनी रहती है, इसके लिए केवल मौद्रिक आय के बढ़ने की आवश्यकता है। अधिकतर अल्पविकसित देशों में योजनात्मक विकास की विधि को अपनाया गया है। इसके अंदर सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक निवेश होने के फलस्वरूप देश में मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। लोगों की मौद्रिक आय बढ़ने से बाजार का विस्तार होता है। ये देश अपने निर्यात को बढ़ाकर विदेशी बाज़ार के विस्तार का भी प्रयत्न कर सकते हैं।

(C) **पिछड़ेपन संबंधी दुष्चक्र का समाधान (Solution of Vicious circle of Backwardness)** : अल्पविकसित देशों में आर्थिक विकास की मुख्य बाधा मानवीय शक्ति का पिछड़ापन है। मानवीय शक्ति की कुशलता में व द्धि करने के लिए तथा पिछड़ेपन को दूर करने के लिए कई प्रकार के सुझाव दिए जा सकते हैं। इन देशों में शिक्षा, तकनीकी ज्ञान, प्रबंधकीय ट्रेनिंग आदि का विस्तार किया जाना चाहिए। देश की जनता के स्वास्थ्य का सुधार किया जाना चाहिए। जिससे की उनकी कार्यकुशलता में व द्धि हो। यातायात तथा संचार के साधनों का अधिक विकास किया जाना चाहिए। पिछड़ेपन संबंधी दुष्चक्रों को दूर करने के लिए इन उपायों को अपनाकर अल्पविकसित देशों में विकास की गति को बढ़ाया जा सकता है। बाइरन्स तथा स्टोन के अनुसार, "अल्पविकसित देश निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने के लिए कई कार्य कर सकते हैं। वे व्यापारिक कार्यों में सरकारी नियन्त्रण को कम कर सकते है तथा उनमें सुधार कर सकते हैं। आधुनिक कृषि तकनीक को अपनाने के लिए प्रोत्साहन दे सकते हैं। देश की अद्योसंरचना में सुधार कर सकते है जिससे श्रमिक आधुनिक कृषि तथा औद्योगिक तकनीकों को कुशलतापूर्वक अपना सकें। जनसंख्या व द्धि को कम करने की नीतियां अपना सकते हैं तथा बचत को बढ़ा सकते हैं।" (The underdeveloped countries can do several things to break the vicious circle of poverty. The can eliminate and streamline govt. impediments of business activity, encourage the adoption of modern agricultural technology, improve the country's infrastructure so that labour

force can use modern agricultural and industrial technologies efficiently and institute policies to reduce population growth and increase saving — Byrns & Stone)

निर्धनता के दुष्चक्र की आलोचनाएं (Criticisms of Vicious circle of Poverty) : कई अर्थशास्त्री जैसे हिरशमैन, बायर, मिर्डल आदि निर्धनता के दुष्चक्र सिद्धांत की आलोचना करते हैं। इस सिद्धांत की मुख्य आलोचनाएं निम्नलिखित हैं:

(1) **अनुभव की द ष्टि से गलत (Empirically Wrong)** : आलोचकों के अनुसार यह सिद्धांत अनुभव की द ष्टि से गलत है। यदि इस सिद्धांत के निष्कर्ष सही होते तो संसार का कोई भी देश विकसित नहीं होता। आरंभ में संसार के सभी देश अल्पविकसित थे। उदाहरण के लिए सन् 1800 तक हांगकांग एक चट्टान के रूप में था। इसमें प्राकृतिक साधनों का अभाव था। परन्तु आज हांगकांग संसार के सबसे अधिक धनी देशों में से एक है। संसार के अन्य देशों जैसे ताइवान, सिंगापुर, दक्षिणी कोरिया आदि की अर्थव्यवस्थाएं अल्पविकसित थीं। यहां लोगों की आय तथा बचत बहुत कम थी परन्तु अब ये अर्थव्यवस्थाएं अपना विकास करने में सफल हो गई हैं।

(2) **सरल व्याख्या (Simple Explanation)** : बायर के अनुसार निर्धनता के दुष्चक्र का सिद्धांत अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं की प्रकृति की बहुत ही सरल व्याख्या है। इस सिद्धांत की यह मान्यता गलत है कि किसी देश का आर्थिक विकास बचत तथा पूंजी निर्माण पर निर्भर करता है। वास्तव में आर्थिक विकास कई तत्वों जैसे कुशल उद्यमियों, प्रगतिशील संस्थाओं, सरकारी नीतियों, प्राकृतिक साधनों आदि पर भी निर्भर करता है। निर्धनता के दुष्चक्र का सिद्धांत आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले कई महत्वपूर्ण तत्वों की अवहेलना करता है।

(3) **बचत की आंशिक व्याख्या (Partial Explanation of Savings)** : निर्धनता के दुष्चक्र का सिद्धांत इस बात की आंशिक व्याख्या करता है कि निर्धन देशों में बचत करने की दर कम होती है तथा कम ही रहती है। ये दोनों तत्व एक दूसरे को निम्न स्तर पर बनाये रखने में सहायक होते हैं। परन्तु संसार के कई अल्पविकसित देशों जैसे भारत में बचत की दर 24% है जो कई विकसित देशों से भी अधिक है। इसलिए यह संभव है कि अल्पविकसित देश निर्धन होते हुए भी बचत की दर को बढ़ाकर निर्धनता के दुष्चक को तोड़ने में सफल हो सकते हैं।

(4) **विश्लेषणात्मक द ष्टि से गलत (Analytically Unsound)** : निर्धनता के दुष्चक का सिद्धांत विश्लेषणात्मक द ष्टि से गलत है। इस सिद्धांत का यह विश्लेषण उचित नहीं है कि आय के कम स्तर के फलस्वरूप आय की व द्धि दर शून्य होती है अर्थात् निर्धनता सदैव गतिहीनता को जन्म देती है (Poverty always leads to stagnation) परन्तु निर्धनता तथा गतिहीनता अलग-अलग धारणाएं हैं। आय के कम होने पर भी कई अन्य कारणों से आय की दर में व द्धि हो सकती है जो अर्थव्यवस्था को गतिशील बना देती हैं।

(5) **गलत नीति निर्धारण (Wrong Policy Presentation)** : आलोचक इस सिद्धांत द्वारा निर्धारित नीतियों की भी आलोचना करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार निर्धन देश अपना आर्थिक विकास तभी कर सकते हैं। जब या तो वे विदेशी पूंजी प्राप्त करें या उनकी सरकार लोगों पर बहुत अधिक कर लगाकर पूंजी निर्माण के लिए धन एकत्रित करें। परन्तु जैसा कि बायर ने कहा है कि "एक देश जो बिना विदेशी सहायता के अपना विकास नहीं कर सकता उसके लिए विदेशी सहायता के द्वारा भी विकास करने की संभावना नहीं हैं।" (A country which cannot develop without external gift is altogether unlikely to do so with them. — P.T. Bauer)

(6) **चक्रीय प्रक्रिया की अवास्तविक मान्यता (Unrealistic Assumption of Circular Process)** : मिर्डल (Myrdal) के अनुसार, इस सिद्धांत की यह मान्यता अवास्तविक है कि कम आय-कम बचत-कम निवेश-कम उत्पादकता की चक्रीय प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यह प्रक्रिया ही निर्धन देश को निर्धन बनाए रखती है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। आय के कम होते हुए भी कई स्थितियों में विभिन्न तत्वों के कारण निवेश में व द्धि हो सकती है। उदाहरण के लिए निर्धन अरब देशों को पैट्रोल की खोज ने धनी देश बना दिया। जर्मनी तथा जापान की युद्ध में विखण्डित अर्थव्यवस्थायें, लोगों की उद्यमशीलता तथा सरकारों की उचित नीतियों के कारण तीव्र गति से अपना आर्थिक विकास करने में समर्थ हो सकी।

संक्षेप में, निर्धनता के दुष्चक्र का सिद्धांत तर्क, अनुभव एवं विश्लेषण की द ष्टि से अल्पविकास की उचित व्याख्या नहीं मानी जा सकती। इस सिद्धांत का केवल यह योगदान है कि इसने आर्थिक विकास के लिए बचत तथा पूंजी निर्माण के महत्व की व्याख्या की है।

अध्याय 15
क्षेत्रीय असमानता
(Regional Imbalances)

भारत में असमानता का एक महत्वपूर्ण रूप क्षेत्रीय असमानता है। क्षेत्रीय असमानता का अभिप्राय है देश के विभिन्न राज्यों के आर्थिक विकास तथा प्रति व्यक्ति आय के स्तर में पाई जाने वाली असमानता।

Meaning of Inequality of Income

आय तथा सम्पत्ति के असमान वितरण से अभिप्राय अर्थव्यवस्था की उस परिस्थिति से है जिसमें कि राष्ट्र के कुछ लोगों की आय, राष्ट्र की औसत आय से बहुत अधिक तथा अधिकांश लोगों की आय, औसत आय से बहुत कम होती है। आय तथा सम्पत्ति के असमान वितरण की समस्या का सम्बन्ध मुख्य रूप से व्यक्तिगत आय के वितरण में विषमताओं से है। इससे अभिप्राय है कि कुछ व्यक्तियों की आय बहुत अधिक है जबकि अधिकतर लोगों की आय बहुत कम है।

भारत में आय तथा सम्पत्ति की असमानताएं निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों ही क्रियाशील हैं। सार्वजनिक क्षेत्र का मुख्य उद्देश्य ''सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास'' के लक्ष्य को प्राप्त करना है। इसके विपरीत निजी क्षेत्र का मुख्य उद्देश्य निजी लाभ में अधिक से अधिक व द्धि करना है। योजनाओं की अवधि में जहां निजी क्षेत्र अपने उद्देश्य को पूरा करने में पूर्ण रूप से सफल रहा है वहां सार्वजनिक क्षेत्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति में काफी सीमा तक असफल रहा है। इसका परिाम यह हुआ है कि भारत में आय तथा सम्पत्ति की असमानताओं में और अधिक व द्धि हुई है।

Regional Imbalances:-

भारत में असमानता का एक महत्वपूर्ण रूप क्षेत्रीय असमानता है। क्षेत्रीय असमानता का अभिप्राय है देश के विभिन्न राज्यों के आर्थिक तथा प्रति व्यक्ति आय के स्तर में पाई जाने वाली असमानता। देश के कुछ राज्यों जैसे पंजाब, गोवा, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के आर्थिक विकास की दर एवम् प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है। इसके विपरीत कई राज्यों जैसे, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, असम आदि के आर्थिक विकास की दर एवम् प्रति व्यक्ति आय काफी कम है। क्षेत्रीय असमानता को यदि नियोजित नहीं किया गया तो यह देश के एकीकरण के लिए एक बड़ा खतरा सिद्ध होगी।

क्षेत्रीय असमानता को ज्ञात करने के लिए प्रति व्यक्ति आय सबसे उपयुक्त माप माना जाता है। नीचे दी गई तालिका द्वारा विभिन्न राज्यों के प्रति व्यक्ति आय का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

तालिका

प्रति व्यक्ति आय (चालू कीमतों पर) नई श्रंखला

राज्य	प्रति व्यक्ति आय	राज्य	प्रति व्यक्ति आय
1. गोवा	45,105	11. पश्चिमी बंगाल	16,072
2. पंजाब	25,048	12. आन्ध प्रदेश	16,373
3. महाराष्ट्र	23,726	13. हिमाचल प्रदेश	18,920
4. हरियाणा	23,743	14. राजस्थान	13,116
5. गुजरात	19,228	15 मध्य प्रदेश	10,603
6. मिजोरम	14,909	16. असम	10,196
7. तमिलनाडु	19,889	17. उत्तर प्रदेश	9,765
8. केरल	19463	18. उड़ीसा	8,547
9. कर्नाटक	18,041	19. जम्मू कश्मीर	12,309
10.नागालैण्ड	12,993	20. बिहार	10,198

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि राज्यों में सबसे अधिक आय गोवा की है। इसके पश्चात पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र

तथा गुजरात का नम्बर आता है। शेष राज्यों की आय राष्ट्रीय औसत से कम है। सबसे कम प्रति व्यक्ति आय बिहार की है।

अब तक का योजना काल यह व्यक्त करता है कि पंजाब, गोवा, महाराष्ट्र, हरियाणा तथा गुजरात, अब भी शिखर पर हैं क्योंकि इन राज्यों में प्रति व्यक्ति आय सारे भारत की औसत से अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक योजनाएं देश से 'धनी' व 'निर्धन' राज्यों के अन्तर को समाप्त नहीं कर सकी हैं। वास्तव में धनी राज्य अधिक धनी हो गए। वास्तविक स्थिति तो यह व्यक्त करती है कि आय में क्षेत्रीय अन्तर विस्त त हो चुके हैं।

Causes of Inequality

भारत में असमानता के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:—

1. Inequality in the ownership of Land : —

भारत में असमानता अर्थात आय तथा सम्पत्ति में पाई जाने वाली असमानता का मुख्य कारण जमींदारी प्रथा तथा भूमि के स्वामित्व में पाई जाने वाली असमानता है। स्वतन्त्रता से पहले देश में जमींदारी प्रथा पाई जाती थी। इसके फलस्वरूप भू-स्वामित्व में सारी असमानता पाई जाती थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी गई परन्तु भूमि के स्वामित्व की असमानता में कोई कमी नहीं हुई है। इस समय देश की 10 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या के पास क षि भूमि का 56 प्रतिशत भाग है तथा 70 प्रतिशत जनसंख्या के पास केवल 14 प्रतिशत भाग है। भूमि के स्वामित्व में पाई जाने वाली असमानता ग्रामीण क्षेत्र में पाई जाने वाली आय की असमानता का मुख्य कारण है। ग्रामीण क्षेत्र में भूमिहीन क षि श्रमिकों तथा छोटे किसानों की आय बहुत कम है। वे बड़ी कठिनाई से अपना जीवन निर्वाह कर पाते हैं। इसके विपरीत बड़े किसानों की आय बहुत अधिक है तथा इसमें लगातार व द्धि हो रही है। इन किसानों के पास पूंजी अधिक होती है इसलिए ये ट्रैक्टर, ट्यूबवैल, रासायनिक खाद, कीटनाशक, उत्तम बीज आदि का प्रयोग करके अधिक उत्पादन करते हैं। इनकी आय में और अधिक व द्धि हो जाती है। जबकि छोटे किसान पूंजी के अभाव में अपने खेतों से अधिक उत्पादन नहीं कर पाते हैं। वे पिछड़े तथा निर्धन रह जाते हैं। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र में भू-स्वामित्व की असमानता के कारण आय तथा सम्पत्ति की असमानता में व द्धि होती है।

2 शहरी क्षेत्र में सम्पत्ति का निजी स्वामित्व (Private Ownership of Property in Urban Sectory)—

शहरी क्षेत्र में उद्योगों, व्यापार, भूमि, मकानों आदि सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व पाया जाता है। कुछ लोगों के अधिकार में अधिकतर शहरी सम्पत्ति होती है। इसके विपरीत शहरों की अधिक जनसंख्या निर्धन होती है। शहरों में पूंजीपति, उद्योगों, व्यापार, यातायात तथा अन्य व्यवसायों में पूंजी का निवेश करके अधिक आय प्राप्त कर पाते हैं, परन्तु शहरों का मध्यम तथा निर्धन वर्ग अपना जीवन निर्वाह भी बड़ी कठिनाई से कर पाता है। यद्यपि यह वर्ग अधिक शिक्षित तथा योग्य होता है परन्तु पूंजी की कमी के कारण इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं होने पाता। इसके फलस्वरूप शहरी क्षेत्र में भी आय तथा सम्पत्ति के वितरण की असमानता बना रहती है।

3. Law of Inheritance—

भारत में प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों के फलस्वरूप भी आय तथा सम्पत्ति के वितरण की असमानता में व द्धि हुई है तथा यह स्थाई बन गई है। उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार किसी धनी व्यक्ति की म त्यु होने पर उसकी सम्पत्ति उसकी सन्तान को मिलती है। इस प्रकार धनी व्यक्ति की सन्तान प्रारम्भ से ही धनी हो जाती है। इसके विपरीत किसी निर्धन व्यक्ति की म त्यु पर उसकी सन्तान को कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती बल्कि ऋण प्राप्त होते हैं और वे आरम्भ से ही निर्धन होते हैं। निर्धन अपने परिश्रम द्वारा ही अपनी आय तथा सम्पत्ति में व द्धि करने का प्रयत्न कर सकते हैं। परन्तु इसकी सम्भावना बहुत कम होती है क्योंकि इसके लिए उन्हें अवसर नहीं मिलते। अतएव उत्तराधिकार के नियमों ने भारत में असमानता को स्थायी बना दिया है।

4. Inequality of Professional Training—

व्यावसायिक प्रशिक्षण में पाई जाने वाली असमानता भी आय की असमानता का एक मुख्य कारण है। कुछ व्यवसायों जैसे—डाक्टर, इंजीनियर, कम्पनी प्रबंधक तथा वकीलों आदि की आय अन्य व्यवसायों में लगे हुए लोगों की तुलना में बहुत अधिक होती है। यह प्रशिक्षण के कारण सम्भव हो पाता है। इन व्यवसायों में प्रशिक्षण ग्रहण करना महंगा तथा अधिक समय लेने वाली प्रक्रिया है। परन्तु इन व्यवसायों का प्रशिक्षण प्राप्त करना निर्धन व्यक्तियों के बच्चों के लिए साधारणतया सम्भव नहीं है। इन व्यवसायों में अधिकतर धनी वर्ग के बच्चे ही प्रशिक्षण प्रापत कर पाते हैं। इसके फलस्वरूप आय की असमानता बढ़ती जाती है।

5. Inflation–

सन् 1956 से देश में कीमतों के बढ़ने की प्रव त्ति जारी है। कीमतों के बढ़ने का धनी वर्ग की तुलना में निर्धन वर्ग पर अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके फलस्वरूप निर्धन वर्ग की वास्तविक आय में काफी कमी हो गई है। अतएव मुद्रा स्फीति भी वास्तविक आय की असमानता में होने वाली व द्धि के लिए जिम्मेदार है।

6. Credit Policy of Financial Institutions—

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में बैंकिंग तथा विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं जैसे– औद्योगिक बैंक, औद्योगिक वित्तीय तथा साख निगम राज्य वित्त निगम तथा जीवन बीमा आयोग की स्थापना हुई है। इन संस्थाओं ने पूंजीपतियों को ही अधिक ऋण दिए हैं। निर्धन वर्ग को कम साख सुविधाएं दी गई हैं। इसके फलस्वरूप पूंजीपति ही अपने उद्योगों तथा व्यवसायों का अधिक विकास कर सके हैं। उनकी आय तथा सम्पत्ति में तीव्र गति से व द्धि हुई है। इसके विपरीत निर्धन वर्ग पर्याप्त साख के अभाव में अपनी आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार करने में असमर्थ रहा है। वित्तीय संस्थाओं की वर्तमान साख नीति के फलस्वरूप भी आय की असमानता में व द्धि हुई है।

7. More Burden of Indierct Taxes –

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में भारी मात्रा में कर लगाए गए हैं। परन्तु प्रत्यक्ष करों जैस—आय कर, निगम कर आदि की तुलना में अप्रत्यक्ष करों जैसे—उत्पादन कर, बिक्री कर, आयात-निर्यात कर आदि के भार में काफी अधिक व द्धि हुई है। अप्रत्यक्ष करों का धनी वर्ग की तुलना में निर्धन वर्ग को अधिक भार उठाना पड़ता है। इसके फलस्वरूप निर्धन वर्ग की वास्तविक आय कम होती है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष करों के भार में व द्धि होने के कारण वास्तविक आय की असमानता में अप्रत्यक्ष रूप से व द्धि हुई है।

8. Corruption and Smuggling–

स्वतन्त्रता के पश्चात देश में भ्रष्टाचार और स्मगलिंग में काफी व द्धि हुई है। इसके फलस्वरूप भी आय की असमानता बढ़ी है। जो लोग रिश्वत देने की क्षमता रखते हैं उन्हें कोटा, परमिट, औद्योगिक लाइसेंस आसानी से मिल जाते हैं। इनके द्वारा एक ओर तो उनकी आय में बहुत अधिक व द्धि होती है और दूसरी ओर जिन अधिकारियों और कर्मचारियों को रिश्वत दी जाती है उनकी आय में तेजी से व द्धि होती है। स्मलिंग करने वाले तथा इस कार्य में उन्हें सुरक्षा प्रदान करने वाले अधिकारियों की आय भी बहुत अधिक होती हैं। इसके विपरीत ईमानदारी और कानून के अनुसार कार्य करने वाले लोगों की आय में बहुत कम व द्धि होती है। भ्रष्टाचार और स्मगलिंग के फलस्वरूप काला धन उत्पन्न होता है। सरकार ने भी समय-समय पर काले धन को कानूनी बनाने अथवा सफेद धन में बदलने के अवसर प्रदान किए हैं। इन सबके फलस्वरूप देश में आय और सम्पत्ति के वितरण की असमानताओं में व द्धि हुई है।

(9) Unemployment–

महालनोबिस समति के अनुसार बेरोजगारी तथा अल्परोजगार भारत में आय की असमानता के प्रमुख तत्व हैं। बेरोजगारी की अवस्था में व्यक्ति आय के सभी स्रोतों से वंचित रह जाता है। भारत में बेरोजगारों की संख्या प्रत्येक योजना के साथ बढ़ी है। 1951 में बेरोजगारों की संख्या लगभग 33 लाख थी जो 1998-99 में बढ़कर 153 लाख हो गई हैं। चूंकि अधिकांश बेरोजगार व्यक्ति समाज के निर्धन वर्गों से जुड़े हुए हैं, अतः समय के साथ इनकी संख्या में व द्धि होने से आय की असमानता में व द्धि हुई है।

10. Tax Evasion–

सम्पत्ति के वितरण में असमानता के लिए चारों ओर व्यक्त करों की चोरी भी जिम्मेवार है। जिन अधिकारियों पर करों के इकट्ठा करने की जिम्मेवारी है, वे कार्यकुशल नहीं है। इसके फलस्वरूप लोग करों से बचने में सफल हो जाते हैं। ये लोग या तो कर देते ही नहीं अथवा वास्तविक कर देय राशि से कम कर देते हैं। ऐसे अनैतिक लोग कराधिकारों को झूठे हिसाब-किताब दिखलाते हैं और स्थिति का इस विधि में जोड़-तोड़ करते हैं कि उनके ऊपर कर-भार कम से कम हों।

वाचू समिति के अनुसार–''जिस आय पर कर की चोरी की जाती है, वह 1,400 करोड़ रुपये के करीब बैठती है। करों की चोरी से काले धन का जन्म होता है।''

भारतीय अर्थव्यवस्था में काले धन की मात्रा की व द्धि ने देश में सम्पत्ति तथा आय के वितरण में असमानता को ओर अधिक बढ़ावा दिया है।

Goverment Policy to Reduce Inequalities

स्वतन्त्रता के पश्चात् से ही सरकार इस बात का प्रयत्न कर रही है कि देश में आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम किया जाए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार द्वारा अपनाई गई नीति की मुख्य विशेषताएं या सरकार द्वारा अपनाए गए मुख्य उपाय निम्नलिखित हैं–

1. Land Reforms–

ग्रामीण क्षेत्र में आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए भूमि सुधार किए गए हैं। भूमि सुधार सम्बन्धी नीति का मुख्य उद्देश्य भूमि स्वामित्व की असमानता में कमी लाना है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार ने स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात ही जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानून पास कर दिए थे। इसके फलस्वरूप जमींदारी समाप्त कर दी गई तथा जमींदारी की उच्चतम सीमा से अधिक भूमि का वितरण उस पर काश्त करने वाले काश्तकारों में कर दिया गया। क षि भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करने के लिए कानून बनाए गए हैं। सीमा से ऊपर की जमीन उनके स्वामियों से ली जा रही है। इस ज़मीन का वितरण उन लोगों में किया जा रहा है जिनके पास बहुत थोड़ी भूमि थी या जो भूमिहीन थे। परन्तु भारत में भूमि सुधार की प्रगति बहुत धीमी रही है। भूमि सुधार के अधिकतर उद्देश्य अधिक सफल नहीं हो सके हैं।

2. Extension of Public Sector—

सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विकास करने की नीति को अपनाया है। इस क्षेत्र के विकास के कई उद्देश्य हैं परन्तु उनमें से एक महत्वपूर्ण उद्देश्य आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम करना है। यह क्षेत्र निजी क्षेत्र के स्वामित्व के विस्तार को रोकने में सहायक है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण का भी यह एक मुख्य उद्देश्य है। इसके फलस्वरूप निजी लोगों के हाथ में धन तथा आय में केन्द्रीयकरण को रोकने तथा इस प्रकार समानता को बढ़ाने में मदद मिलेगी। परन्तु 1991 की नई आर्थिक नीति के अनुसार सरकार अब सार्वजनिक क्षेत्र में स्थान पर निजी क्षेत्र को अधिक महत्व दे रही है और निजीकरण की नीति को बड़े जोरों से चलाया जा रहा है। इसके फलस्वरूप आय की असमानता में और अधिक व द्धि होने की सम्भावना है।

3. Encouragement to Small-Scale and Cottage Industries—

पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में लघु तथा कुटीर उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देने की नीति को अपनाया गया है। इन उद्योगों को प्रोत्साहन देने से आय तथा सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने में सहायता मिलने की सम्भावना है। इस नीति के फलस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़ेंगें। इसके फलस्वरूप क षि क्षेत्र में छुपी हुई बेरोजगारी वाले मजदूरों को वहां से हटाकर इन क्षेत्रों में रोजगार दिया जा सकेगा। इस प्रकार निर्धन लोगों की आय में व द्धि होगी। परिणामस्वरूप आर्थिक असमानता कम होगी। कुटीर उद्योगों के विकास के फलस्वरूप निम्न आय वाले लोगों को अपनी आय में व द्धि करने के अवसर प्राप्त हो सकेंगे। परन्तु नई आर्थिक नीति के अन्तर्गत निजीकरण और बहुराष्ट्रीय निगमों तथा बड़े स्तर के उद्योगों को ही मिलने वाली सुविधाओं के कारण लघु उद्योगों, आय तथा धन के वितरण की समानता को प्रोत्साहित नहीं कर पायेंगे।

4. Control over Mopnopolies and Restrictive Trade Practices–

शहरी सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए सन् 1969 में Monopolies and Restrictive Trade Practices Act 1969 पास किया गया है। इस एक्ट का मुख्य उद्देश्य आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकना है। सरकार ने इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए औद्योगिक लाइसेंस की नीति को भी अपनाया था परन्तु जैसा कि हजारी समिति, दत्त समिति आदि की रिपोर्टों से ज्ञात होता है, ये सब उपाय अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके हैं। सन् 1991 की औद्योगिक नीति के अनुसार, अधिकतर लोगों के लिए लाइसैंसों को समाप्त कर दिया गया है।

5. Employment and Wage Policies–

देश की बेरोजगार जनता को रोजगार प्रदान करके भी आय की असमानता को कम किया जा सकता है। पंचवर्षीय योजनाओं में रोजगार के अवसर अधिक से अधिक बढ़ाने पर जोर दिया गया है। इस सम्बन्ध में कई विशेष योजनाओं जैसे–छोटे किसानों के विकास की एजेन्सी (SFDA) सीमान्त किसान तथा क षि श्रमिक एजेन्सी (MFALA), सूखा क्षेत्र कार्यक्रम (Drought Provne Area Programme), अनाज के बदले काम (Food for Work Programme) को लागू किया गया था। पांचवीय योजना के अन्त में देश में रोजगार के अवसर अधिक बढ़ाने के लिए एकीक त ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme) तथा छठी योजना में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (National Rural Employment Programme) आरम्भ किया गया था। सातवीं योजना में जवाहर रोजगार योजना (Jawahar Rozgar Yojna) आरम्भ की गई। 1993 में प्रधानमंत्री रोजगार योजना (Prime Minister Employment Scheme) तथा रोजगार बीमा

योजना (Employment Insurance Employment Scheme) आरम्भ की गई। देश में रोजगार कार्यालयों की संख्या में काफी व द्धि कर दी गई है। परन्तु इन योजनाओं का आय तथा सम्पत्ति के वितरण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

सरकार ने मजदूरों की आर्थिक स्थिति में सुधार करके आय की असमानता को कम करने के लिए कई प्रकार के उपाय अपनाए हैं। न्यूनतम मजदूरी कानून, बोनस एक्ट आदि कई कानून लागू किए गए हैं। परन्तु सरकार को मजदूरी सम्बन्ध नीति से संगठित क्षेत्र के श्रमिकों को तो लाभ हुआ है परन्तु असंगठित क्षेत्र पर जहां कुल श्रमिकों के 90% भाग को रोजगार प्राप्त होता है इन नीतियों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। सरकार ने मजदूरों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए कई प्रकार के 'सामाजिक सुरक्षा उपाय' (Social Security Measures) जैसे—कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employee's State Insurance Act), प्रोविडेन्ट एक्ट, मात त्व लाभ एक्ट (Maternity Benefit Act) आदि भी लागू किए हैं। परन्तु इनका भी आय की असमानता को दूर करने पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

6. Pricing and Distribution Policies—

आय की असमानता को कम करने के लिए कीमत तथा वितरण को अपनाया गया है। इनका उद्देश्य समाज के निर्धन वर्ग को सहायता देना है। आवश्यकता की कई वस्तुओं जैसे—चीनी, कपड़ा, कागज आदि के लिए सरकार ने दोहरी कीमत अपनाई है। इसके फलस्वरूप निर्धन वर्ग को सम्पन्न वर्ग की तुलना में वस्तुएं सस्ती प्राप्त होती हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा निर्धन की आवश्यकताओं की वस्तुएं कम कीमत पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई है। परन्तु इस उपाय का भी आय तथा सम्पत्ति की असमानता को दूर करने पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है।

7. Fiscal Policy—

राजकोषीय नीति वह नीति है जिसका सम्बन्ध, कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, कर प्रणाली तथा सार्वजनिक व्यय की व्यवस्था से है। सरकार ने अपनी राजकोषीय नीति को ऐसी दिशा दी है कि इसके द्वारा आय और सम्पत्ति की असमानता में कमी के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके। आय और सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए भारत की राजकोषीय नीति में निम्नलिखित उपाय अपनाए गए हैं:—

(i) Taxation—

सरकार की प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर नीतियों का उद्देश्य आय की असमानता को कम करना है। आय कर, निगम कर और पूंजी लाभ कर जैसे प्रत्यक्ष कर धनी वर्ग की आय पर प्रगतिशील दर पर लगाया गया है ताकि करों के रूप में उनसे अधिक धनराशि एकत्रित की जा सके। म त्यु कर तथा सम्पत्ति कर सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए लगाए गए हैं। निर्धनों को आय कर से मुक्त रखा गया है। विलासिताओं पर भी प्रत्यक्ष कर ऊंची दर पर लगाए गए हैं। इन करों का भार समाज के धनी वर्ग को सहन करना पड़ता है। परन्तु आय की असमानता पर करों का वास्तविक दबाव कुछ असन्तोषजनक ही रहा है। करों की चोरी के कारण प्रत्यक्ष करों का भार धनी वर्ग पर हल्का ही रहा है। धनी किसानों को करों के जाल से अलग ही रखा है, अर्थात् वे करों की सीमा से बाहर है। करों की चोरी या करों से किसी प्रकार बचना एक आम बात देखी जाती है। प्रत्यक्ष कर जांच समिति (Direct Taxation Enquiry Committee) के अनुसार, ''जहां तक करों की चोरी के आकार का सम्बन्ध है, पिछले कई वर्षों में करों की चोरी तथा काले धन की मात्रा बढ़ी है।'' इसके अतिरिक्त हाल ही के बजटों में म त्यु कर वापिस ले लिया गया है। सम्पत्ति कर की ऊपर की सीमा बढ़ा दी गई है। अतः आय और सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए वर्तमान कर प्रणाली की संरचना को नवीन रूप देना होगा।

(ii) Public Expenditure Policy—

सरकार की सार्वजनिक व्यय नीति का उद्देश्य भी आय की असमानता के विस्तार को कम करना है धनी वर्ग से इकट्ठी की गई मुद्रा-राशि का प्रयोग निर्धन लोगों की आय बढ़ाने के लिए करना है। अन्य शब्दों में, सार्वजनिक व्यय अमीरों से प्राप्त आय का गरीबों में पुनर्वितरण निम्न प्रकार से करता है—

(a) Social Security Benefits—

सरकार निर्धन लोगों को कई प्रकार की असुरक्षाओं से बचने के लिए तथा उनका जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए सहायता प्रदान करती है। ये लाभ कई प्रकार के हैं जैसे बीमारी लाभ, म त्यु राहत, पारिवारिक पेंशन व द्धि और अपाहिजों की सामाजिक सुरक्षा आदि।

(b) Subsidies—

आय की असमानता को दूर करने के लिए सहायता देने की नीति को भी अपनाया गया है। समाज के निर्धन तथा कमजोर

वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सरकार कई प्रकार की वस्तुओं जैसे बिजली, सिंचाई और जल आपूर्ति, स्वास्थ्य सेवाएं, दूध व अन्य नागरिक वस्तुओं की आपूर्ति, आवास, शिक्षा आदि के लिए सहायता देती है। सार्वजनिक उद्यम कई वस्तुओं जैसे—रासायनिक उर्वरक, दवाइयों आदि को लागत से भी कम कीमत पर बेचते हैं। परन्तु जहां तक आय की असमानता को कम करने का प्रश्न है, इन उपायों को अपनाने से कोई विशेष सफलता नहीं मिली है। वास्तव में कई सहायताएं किसी आर्थिक औचित्य से नहीं बल्कि राजनीतिक कारणों से दी गई हैं। इसका एक उदाहरण उर्वरक पर रियायत है।

(c) Measures to correct Regional Imbalances— क्षेत्रीय असन्तुलनों को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए गए—

(i) वित्त आयोग द्वारा केन्द्रीय वित्त में से अधिक भाग पिछड़े राज्यों को उपलब्ध कराया गया है। इन राज्यों को आय तथा केन्द्रीय उत्पादन कर में से बड़ा भाग दिया गया है।

(ii) निर्धन राज्यों के कुशल प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार उन्हें वित्तीय सहायता देती है।

(iii) पिछड़े राज्यों में विशिष्ट क्षेत्र कार्यक्रम जैसे सूखी खेती कार्यक्रम, मरूस्थल विकास कार्यक्रम, सूखा क्षेत्र कार्यक्रम आदि शुरू किए गए हैं।

(iv) सुधरी सूखी खेती तकनीक का प्रयोग तथा प्रचार

(v) पिछड़े बिलों में औद्योगिक विकास के लिए विशेष सुविधाएं।

(vi) पिछड़े क्षेत्रों में नए उद्योगों को कर-सम्बन्धी कई रियायतें दी गई हैं।
ये उद्योग कई प्रकार की सहायताएं भी प्राप्त कर सकते हैं।

Conclusion —निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि भारत में अभी भी आय तथा सम्पत्ति के वितरण में बहुत अधिक असमानताएं हैं। भारत सरकार, देश में पाई जाने वाली आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए काफी प्रयत्नशील हैं। इसके लिए कई प्रकार के उपाय अपनाए गए हैं, परन्तु भारत सरकार को इस सम्बन्ध में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी हैं। योजना आयोग ने आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए हैं:—

(i) क षि भूमि, शहरी सम्पदा तथा नियन्त्रित सम्पत्ति का पुनर्वितरण किया जाना चाहिए।

(ii) सार्वजनिक उद्यमों द्वारा कम आय वाले उपभोक्ताओं के लिए आवश्यक वस्तुओं का रियायती कीमतों पर वितरण करना चाहिए। आधारभूत सुविधाओं का विस्तार किया जाना चाहिए।

(iii) लघु तथा कुटीर उद्योगों और छोटे किसानों के लिए अधिक साख की व्यवस्था की जानी चाहिए। उनके लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(iv) गांवों तथा शहरों के निर्धन वर्ग को संगठित किया जाना चाहिए। इनके संगठित होने में प्रशासन भी इनकी सहायता आसानी से कर सकता है।

(v) न्यूनतम रोजगार की सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिएं। आठवीं योजना में भी आय तथा सम्पत्ति के वितरण की असमानता को कम करने पर जोर दिया गया है।

Is complete Equality Feasible and Desirable?

आय की पूर्ण समानता से अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान आय प्राप्त हो। देश के सभी निवासियों की व्यक्तिगत आय में कोई अन्तर न हो। यह उस स्थिति को व्यक्त करती है जिसमें, बिना भेद-भाव के, प्रत्येक व्यक्ति समान या एक जैसी आय प्राप्त करे। यह तर्क दिया जाता है है कि आय के समान वितरण से, कुछ दशाओं में, समाज के लिए अधिकतम आर्थिक कल्याण उदय किया जा सकता है। **परन्तु व्यक्तिगत आय के वितरण की पूर्ण या सम्पूर्ण समानता की धारणा एक कल्पना है।** आय की पूर्ण समानता न ही आसान, न ही सम्भव और न ही वांछनीय है। आय के समान वितरण के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष संक्षेप में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है:—

1. **The complete Equality of Income is not possible or Feasible:**— वास्तव में आय की पूर्ण समानता सम्भव नहीं है क्योंकि प्रक ति ने मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी गुण प्रदान करते समय काफी मनमानी बरती है। कुछ व्यक्तियों के पास इतने आवश्यक मानसिक गुण हैं कि वे चिकित्सा, प्रबन्ध तथा इंजीनियरिंग जैसे अधिक आय प्रदान करने वाले व्यवसायों में आसानी से प्रवेश कर सकते हैं। कुछ व्यक्ति सामान्य हैं जिनको कम आय

देने वाले व्यवसायों में ही रोजगार प्राप्त हो पाता है। कुछ व्यक्तियों के पास शारीरिक क्षमता व तालमेल इतना है कि वे अच्छे खिलाड़ी व सुपरमैन के रूप में अच्छी आमदनी हासिल कर सकते हैं। कमजोर निर्बल और अस्वस्थ व्यक्ति बहुत ही कम आय में गुज़र कर लेते हैं। सारांश यह है कि कुछ व्यक्तियों ही आन्तरिक प्रतिभा उनको उस स्थिति में ला देती है कि वे कुछ उत्पादन में योगदान देकर ऊंची आय कमाने के लिए सक्षम हो जाते हैं। परन्तु अन्य इतने भाग्यशाली नहीं हैं, स्वाभाविक रूप से उनकी आय में अन्तर आएगा।

2. Complete Equality of Income is not Desirable—

आय की पूर्ण समानता वांछनीय नहीं है। इस निष्कर्ष के पक्ष में दो तर्क दिए जाते हैं।

(a) Hampers Incentive to Work:–

आय की सम्पूर्ण समानता, काम की प्रेरणा नव-निर्माण में बाधा डालेगी। यदि लोगों को यह पता लग जाए कि उनकी आय सदा अन्य लोगों के समान या बराबर रहेगी तब उनमें अधिक परिश्रम तथा प्रभावी ढंग से काम करने का उत्साह कम हो जाएगा। परिणामस्वरूप उनके जीवन स्तर में कोई सुधार नहीं होगा।

(b) Low Capital Formation—

पूर्ण समानता से पूंजी निर्माण कम होगा। यह इसलिए कि आय की समानता से उपभोग अधिक और बचतें कम होंगी। इसके विपरीत आय की असमानता निजी बचतों की मात्रा को काफी बढ़ाती हैं। यदि इन बचतों का निवेश किया जाता है, तो इससे पूंजी निर्माण, जो आर्थिक विकास का केन्द्र है, को बढ़ावा मिलता है। वास्तव में इस पूंजी निर्माण के फलस्वरूप ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की उत्पादकता तथा जीवन स्तर में सुधार आता है।

संक्षेप में, यह तर्क दिया जाता है कि आय की पूर्व समानता न तो सम्भव है और न ही वांछनीय। आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान आय और सम्पत्ति में पाई जाने वाली ऊंची असमानता को कम किया जाए और आय के वितरण में उचित समानता के लक्ष्य को प्राप्त किया जाए।

According to Browing :—"It is alleged that absolute inequality promises to be intellectually uncreative, culturally unappealing, technologically unprogressive and socially unrewarding."

Conflict between the objectives of Equitable Distribution of Income and High Rate of Growth.

समाज की विकास की दर आय के वितरण से स्वतन्त्र नहीं है। आय की समानता को बढ़ाने के लिए अपनाए गए उपाय अकसर विकास की दर को कम कर देते हैं। इस प्रकार विकास की ऊंची दरों तथा आय के वितरण की समानता के लक्ष्य के बीच संघर्ष पाया जाता है। अन्य शब्दों में, केक अधिक समान बांटने के प्रयास में अनजाने में इस के आकार को छोटा कर देते हैं। मान लो सरकार सभी आय प्राप्तकर्त्ताओं पर 100% आय कर लगा कर पूर्ण समानता प्राप्त करने का प्रयास करती है और तब प्राप्त कर आय को सम्पूर्ण जनसंख्या में बराबर बांट देती है। इससे किसी भी व्यक्ति को काम करने, निवेश करने, जोखिम उठाने या धन कमाने के लिए कुछ और करने की कोई प्रेरणा नहीं मिलेगी क्योंकि इन सभी क्रियाओं के लिए पुरस्कार लुप्त हो जाएंगें। विकास की दर कठोर रूप से गिर जाएगी।

उपरोक्त उदाहरण चरम स्थिति को बतलाता है, यही सिद्धांत आय को समान करने वाली अधिक सामान्य नीतियों पर लागू होता है। कोई भी ऐसी नीति आय उत्पादक क्रियाओं के लिए पुरस्कारों को कम करती है। यह अधिक आय कमाने वालों के लिए पुरस्कारों को कम करती है और कम आय कमाने वालों के लिए पुरस्कारों को बढ़ाती है और इस प्रकार अधिक आय अर्जित करने की प्रेरणा को कम करती है। इससे विकास की दर तथा आय के बीच के अन्तर को व द्धि मिलती है। इस अन्तर के कारण, आय के आदर्श वितरण के प्रयास, आय की असमानता को जन्म देंगे। असल में, विकास की गति तथा समानता के बीच सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता है।

अध्याय 16
आर्थिक असमानता
(Economic Inequality)

आर्थिक असमानता का अर्थ (Meaning of Economic Inequality)—आर्थिक असमानता अथवा आय तथा सम्पत्ति के असमान वितरण से अभिप्राय अर्थव्यवस्था की उस परिस्थितियों से है जिसमें कि राष्ट्र के कुछ लोगों की आय, राष्ट्र की औसत आय से बहुत कम होती है। आय तथा सम्पत्ति के असमान वितरण की समस्या का सम्बन्ध मुख्य रूप से व्यक्तिगत आय के वितरण में विषमताओं से होता है। इससे अभिप्राय यह है कि कुछ व्यक्तियों की आय बहुत अधिक है जबकि अधिकतर लोगों की आय बहुत कम है।

भारत में आर्थिक असमानता की प्रक ति एवम् विस्तार

(Nature and Extent of Economic Inequality in India)—भारत में आर्थिक असमानता निरन्तर बढ़ती जा रही है। भारत में आय के वितरण की जांच करने के लिए सरकार ने सर्वप्रथम प्रो. पी. सी. महालनोबिस की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी। इस समिति की रिपोर्ट 1964 में प्रकाशित हुई थी। इस समिति के अतिरिक्त नेशनल काउंसिल ऑफ एप्लाइड इकोनोमिक रिसर्च (NCAER), रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा कई अर्थशास्त्रियों जैसे लाइडल, ओझा और भट्ट, रानाडिवे, अहमद, भट्टाचार्य आदि ने आय के वितरण के सम्बन्ध में जांच की है। भारत में कई प्रकार की आर्थिक असमानताएं पाई जाती हैं। इनमें से निम्नलिखित प्रकार की असमानताएं अधिक महत्वपूर्ण हैं।

(1) परिसम्पत्ति की असमानता (Inequality of Assets)

(2) आय तथा उपभोग की असमानता (Inequality of Income and Consumption)

(3) क्षेत्रीय असमानता (Regional Inequality)

असमानता के इन तीनों प्रकारों में परस्पर निर्भरता है। उदाहरण के लिए परिसम्पत्तियों की असमानता के फलस्वरूप आय की असमानता उत्पन्न होती है। जिन लोगों के पास धन अधिक होता है वे इसका बैंकों, शेयरों, ऋणपत्रों आदि में निवेश करके अधिक आय प्राप्त अर्जन का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार आय की असमानता के फलस्वरूप सम्पत्ति की असमानता में व द्धि होती है। जिन लोगों की आय अधिक होती है उनकी बचत करने की क्षमता भी अधिक होती है। अतः साधन सम्पन्न वर्ग वे अधिक सम्पत्ति जमा कर पाते हैं। उनकी सम्पत्ति तथा आय एक दूसरे को बढ़ाती जाती हैं। देश के पिछड़े प्रदेशों की आय कम होती है। उनमें पूंजी निर्माण दर भी अत्यन्त निम्न है। अतः उनके विकास की दर भी कम है। इसके विपरीत धनी क्षेत्रों की आय तथा बचत की दर भी अधिक होती है। उनके पूंजी निर्माण की दर अधिक होती है। उनकी व द्धि दर भी अधिक होती है। इन सभी फलस्वरूप धनी तथा निर्धन क्षेत्रों की असमानता बढ़ने की प्रव त्ति दर्शाती है। अतः असमानता की समस्या का समाधान सभी प्रकार की असमानताओं को दूर करने से ही सम्भव हो सकता है।

1. **परिसम्पत्ति की असमानता (Inequality of Assets)**—भारत में परिसम्पत्ति की असमानता के संबंध में प्राप्त आंकड़े अपर्याप्त तथा अविश्वसनीय हैं। परन्तु उपलब्ध आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि भारत में परिसम्पत्ति की असमानता काफी अधिक एवम् व्यापक है। परिसम्पत्ति की असमानता का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है :

(1) ग्रामीण क्षेत्रों में परिसम्पत्ति की असमानता (Inequality of Assets in Rural Areas)—भारत की लगभग 76 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती हैं। ग्रामीण क्षेत्र में विद्यमान सम्पत्ति की असमानता निम्नलिखित दो तथ्यों से स्पष्ट हो जाती है:

(अ) कुल परिसम्पत्ति का असमान वितरण (Unequal Distribution of Total Assets)—रिजर्व बैंक द्वारा किये गये अखिल भारतीय ऋण एवम् निवेश सर्वेक्षण (All India Debt and Investment Survey) के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्र में सम्पत्ति के वितरण की असमानता का विस्तार काफी अधिक है।

तालिका-1
ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पत्ति का वितरण

व्यक्ति		**कुल सम्पत्ति में प्रतिशत भाग**
व्यक्ति	**1961**	**1971**
नीचे के 10 प्रतिशु	0.1	0.1
ऊपर के 10 प्रतिशत	51.4	51.0
नीचे के 30 प्रतिशत	2.5	2.0
ऊपर के 30 प्रतिशत	79	81.9

Source : Sixth Five Year Plan 1980-85

तालिका-1 में प्रस्तुत ग्रामीण क्षेत्रों सम्पत्ति के वितरण सम्बन्धी आंकड़ों से निम्न तथ्य स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाते हैं :

(क) गांवों में निवास करने वाली जनसंख्या का नीचे के 10 प्रतिशत वर्ग का ग्रामीण परिसम्पत्ति में केवल 0.1 प्रतिशत भाग है। जबकि ऊपर के 10 प्रतिशत का लगभग 51 प्रतिशत भाग है। अन्य शब्दों के ऊपर के वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों में से एक व्यक्ति के पास इतनी सम्पत्ति है। जितनी नीचे के वर्ग के 510 व्यक्तियों के पास है। सन् 1961 से 1971 तक के 10 वर्षों में इस असमानता में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

(ख) तालिका—1 यह भी इंगित करती है कि नीचे के 30 प्रतिशत वर्ग का ग्रामीण सम्पत्ति में भाग सन् 1961 में 2.5 प्रतिशत था सन् 1971 में यह कम होकर 2 प्रतिशत रह गया। इसके विपरीत ऊपर के 30 प्रतिशत का भाग जो 1961 में 79 प्रतिशत था वह 1971 में बढ़कर 81.9 प्रतिशत हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्र में सम्पत्ति के वितरण की असमानता कम होने के स्थान पर बढ़ती जा रही है।

(2) भूमि के वितरण में असमानता (Unequal Distribution of Land)—ग्रामीण क्षेत्र में भूमि उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है। क षि के लिए उपयोग की जाने वाली भूमि के वितरण में काफी असमानता पाई जाती है। इस समय भारत में लगभग 9 करोड़ 77 लाख जोतें या खेत हैं। इनके वितरण की असमानता निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

तालिका-2
कार्यशील भू-जोतों का आकार के अनुसार वितरण

	1970-71		1985-86	
भूजोतों का आकार (हैक्टेयर)	**कुल जोतों का प्रतिशत**	**कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत**	**कुल जोतों का प्रतिशत**	**कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत**
1.0 हैक्टेयर से कम	51	9	58	13.1
1 से 2 हैक्टेयर	18.9	11.9	18.2	15.5
2 से 4 हैक्टेयर	15	18.5	13.6	22.2
4 से 10 हैक्टेयर	11.2	29.7	8.2	28.2
10 से अधिक हैक्टेयर	3.9	30.9	2.00	20.5
	100	**100**	**100**	**100**

Source : Agicultural Situation in Brief 1988

तालिका-2 में प्रस्तुत कार्यशील भू-जोतों का आकार के अनुसार वितरण से यह स्पष्ट होता है कि :

(1) सन् 1985-86 में सीमान्त जोतों (1 हैक्टेयर तक की जोतों) तथा लघु जोतों (2 हैक्टेयर की जोतो) की संख्या कुल कार्यशील जोतों की 76 प्रतिशत थी परन्तु इनके अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल का 28 प्रतिशत भाग था। इसके विपरीत मध्यम

(10 हैक्टेयर तक की जोतो) तथा बड़ी जोतों (10 हैक्टेयर से अधिक तक ही जोतों) की संख्या कुल जोतों की केवल 10 प्रतिशत थी परन्तु इनके अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल का लगभग 49 प्रतिशत भाग था। इस प्रकार 10 प्रतिशत जोतों के स्वामी धनी किसानों का 49 प्रतिशत क षि भूमि पर स्वामित्व है इसके विपरीत 76 प्रतिशत निर्धन किसानों का केवल 28 प्रतिशत भूमि पर स्वामित्व है। सन् 1970-71 में 15 प्रतिशत धनी किसानों को केवल 60 प्रतिशत भूमि पर स्वामित्व था। तालिका-2 में प्रस्तुत आंकड़ों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि भारत में भूमि के स्वामित्व की असमानता काफी अधिक है।

2. शहरी क्षेत्रों में परिसम्पत्ति की असमानता (Inequality of Assets in Urban Areas)—

भारत के केवल ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं अपितु शहरी क्षेत्रों में भी सम्पत्ति की असमानता बहुत अधिक मात्रा में पाई जाती है। इसे निम्नलिखित दो तथ्यों से स्पष्ट किया जा सकता है :—

(1) भवन सम्पत्ति का स्वामित्व (Ownership of Residential Buildings)—शहरों में सम्पत्ति के वितरण की असमानता और भी अधिक है। नेशनल सैम्पल सर्वे के आठवें दौर के अनुसार शहरी क्षेत्र के ऊपर के 20 प्रतिशत परिवारों के पास शहरी जमीन का 93 प्रतिशत भाग था। इनमें से सबसे अधिक धनी 5 प्रतिशत परिवारों के पास शहरी भूमि का 52 प्रतिशत भाग था। नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकोनोमिक रिसर्च के अनुसार शहरी क्षेत्र के सबसे उच्च वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों के पास 57 प्रतिशत भवन सम्पत्ति केन्द्रीत है। इसके विपरीत नीचे के वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों के पास 1 प्रतिशत से भी कम भवन सम्पत्ति है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शहरी क्षेत्र में सम्पत्ति के वितरण में काफी असमानताएं पाई जाती हैं।

(2) शेयर सम्पत्ति का स्वामित्व (Ownership of Shares)—भारत में शेयर सम्पत्ति से सम्बन्धित असमानताएं और भी अधिक हैं। महालनोबिस समिति के अनुसार आय कर देने वालों में सबसे धनी वर्ग 10 प्रतिशत लोगों को शेयरों के लाभांश से प्राप्त कुल आय का 52 प्रतिशत लाभ मिला था। नीचे के वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों का भाग केवल 2.5 प्रतिशत था। इकोनोमिक टाइम्स रिसर्च ब्यूरों के अनुसार भारत में 20 व्यावसायिक घरानों की परिसम्पत्ति 10,000 करोड़ रुपये से भी अधिक है। इन 20 बड़े घरानों का अर्जित लाभ 900 करोड़ रुपये से भी अधिक है। इससे सिद्ध होता है कि देश में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण होने के फलस्वरूप सम्पत्ति की असमानता का विस्तार काफी व्यापक है।

संक्षेप में, भारत में आय तथा सम्पत्ति की असमानताएं शहरी तथा ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में पाई जाती है। पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में इन असमानताओं में कमी होने के बजाय बढ़ने की प्रव त्ति पाई गई है।

3. आय तथा उपभोग व्यय की असमानता

(Inequality of Income and Consumption)—भारत में आय तथा उपभोग में व्याप्त असमानता की समस्या भी अत्यन्त गम्भीर है। भारत में आय तथा उपभोग व्यय की असमानता निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट हो जाती है:

(1) आय की असमानता (Inequality of Income)—भारत में आय की असमानता के सम्बन्ध में विभिन्न स्त्रोंतो के आंकड़े एकत्रित किए गए हैं। जिन्हें तालिका-3 में प्रस्तुत किया गया है।

तालिका-3

भारत में आय की असमानता के अनुमान

व्यक्ति	लिडाल (1955-56)	रानाडिवे (1961-62)	ओझा और भट्ट (1963-64)	(NCAER) (1964-65)
ऊपर के 10 प्रतिशत	34	45.5	35	33.3
नीचे के 20 प्रतिशत	9.5	7.8	7	7.5
लारेंज अनुमान		0.351	0.372	0.39

Source : Report of the Committee on Distribution of Income and Levels of Living

तालिका-3 में प्रस्तुत असमानता सम्बन्धी आंकड़े यह स्पष्ट करते हैं कि भारत में आय वितरण की असमानताएं काफी अधिक हैं। लिडाल के अनुसार 1955-56 में देश के सबसे ऊंचे वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों को राष्ट्रीय आय का 34 प्रतिशत भाग ही प्राप्त होता था। सबसे निचले 20 प्रतिशत वर्ग को केवल 9.5 प्रतिशत भाग ही प्राप्त होता है। रानाडिवे के अनुसार 1961-62 में ऊपर के वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों को राष्ट्रीय आय में भाग बढ़ कर 45.5 प्रतिशत हो गया जबकि सबसे निचले 20

प्रतिशत वर्ग का भाग कम होकर 7.8 प्रतिशत रह गया। नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड एकोनोमिक रिसर्च (NCAER) के अनुसार 1964-65 में उच्च वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों को राष्ट्रीय आय में 33.3 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ जबकि सबसे निचले वर्ग के 20 प्रतिशत लोगों को केवल 7.5 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भारत में आय की असमानता का विस्तार काफी अधिक हैं

विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित वर्ल्ड डिवलेपमेंट रिपोर्ट के अनुसार, भारत में आय के वितरण की असमानताएं तालिका-4 से स्पष्ट हो जाती हैं :

तालिका-4

आय के वितरण की असमानताएं

व्यक्ति	आय का प्रतिशत वितरण
नीचे के 20 प्रतिशत	8.8
ऊपर के 20 प्रतिशत	41.3
ऊपर के 10 प्रतिशत	27.1

तालिका-4 से ज्ञात होता है कि नीचे के 20 प्रतिशत लोगों का राष्ट्रीय आय में केवल 8.8 प्रतिशत भाग है। जबकि ऊपर के 20 प्रतिशत लोगों का 41.3 प्रतिशत भाग है अर्थात देश की लगभग आधी आय 20 प्रतिशत लोगों को प्राप्त होती है जबकि बाकी आय का आधा भाग 80 प्रतिशत लोगों को प्राप्त होता हैं।

आय की असमानता को मापने के लिए लारेंज वक्र का भी प्रयोग किया जाता है। लारेंज अनुपात जितना अधिक होता है आय की असमानता भी उतनी ही अधिक होती है। भारत में आय की असमानताओं के विभिन्न अध्ययनों से मालूम होता है कि लारेंज अनुपात लगभग 0.35 है। इस अनुपात से ज्ञात होता है कि भारत में आय की असमानताओं का विस्तार बहुत अधिक है।

(2) **उपभोग व्यय की असमातनाएं (Inequalities is Consumption Expenditure)**—आय की असमानता का ज्ञान उपभोग व्यय के वितरण से किया जा सकता है। विभिन्न स्त्रोंतों द्वारा एकत्रित किये गए उपभोग सम्बन्धी आंकड़े तालिका-5 में प्रस्तुत किये गये।

तालिका-5

भारत में उपभोग की असमानता के अनुमान

व्यक्ति	NCAER	N.S.S.
ऊपर के 20 प्रतिशत	42.39	37.87
नीचे के 20 प्रतिशत	8.66	8.47

Source : Report Published by NCAER

तालिका-5 के विश्लेषण से आभास होता है कि नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकोनोमिक रिसर्च (NCAER) के अनुसार सबसे ऊंचे वर्ग के 20 प्रतिशत व्यक्तियों का कुल उपभोग में 42.39 प्रतिशत भाग था तथा सबसे निचले 20 प्रतिशत लोगों का केवल 8.66 प्रतिशत भाग था। इसी प्रकार राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे (N.S.S.) के अनुसार उपरोक्त वर्गों का कुल उपभोग में क्रमशः भाग 37.87 प्रतिशत तथा 8.47 प्रतिशत था। इन आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में आय की असमानता का विस्तार काफी व्यापक है।

उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप आर्थिक असमानता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भारत में आय तथा सम्पत्ति की असमानाएं शहरी तथा ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में पाई जाती है। योजनाओं की अवधि में इन असमानताओं में बढ़ने की प्रव त्ति पाई गई है।

3. **क्षेत्रीय असमानता (Regional Inequality)**—भारत में असमानता का एक महत्वपूर्ण रूप क्षेत्रीय असमानता (Regional Inequality) है। क्षेत्रीय असमानता का अभिप्राय है देश के विभिन्न राज्यों के आर्थिक विकास तथा प्रति व्यक्ति आय के

स्तर में पाई जाने वाली असमानता। देश के कुछ राज्यों जैसे पंजाब, गोवा, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के आर्थिक विकास की दर एवम् प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है। इसके विपरीत कई राज्यों जैसे—बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, असम आदि के आर्थिक विकास की दर एवम् प्रति व्यक्ति आय काफी कम है। क्षेत्रीय असमानता को यदि नियन्त्रित नहीं किया गया तो यह देश के एकीकरण के लिये एक बड़ा खतरा सिद्ध होगी।

क्षेत्रीय असमानता को ज्ञात करने के लिए प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) सबसे उपयुक्त माप माना जाता है। तालिका-6 द्वारा विभिन्न राज्यों के प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध में जानकारी प्रस्तुत की गई।

तालिका-6

प्रति व्यक्ति आय (चालू कीमतों पर) नई श्रंखला

राज्य	प्रति व्यक्ति आय	राज्य	प्रति व्यक्ति आय
गोवा	19,719	केरल	9,066
पंजाब	18.213	हिमाचल प्रदेश	8,747
महाराष्ट्र	17,295	राजस्थान	8,481
हरियाणा	16,199	मेघालय	8,474
गुजरात	13,932	मध्य प्रदेश	7,445
तमिलनाडु	11,708	उत्तर प्रदेश	6,733
कर्नाटक	10,279	असम	6,663
आन्ध्र प्रदेश	9,867	उड़ीसा	6,422
नागालैण्ड	9,758	जम्मू कश्मीर	6,181
पश्चिमी बंगाल	9,441	बिहार	3,835

तालिका-6 के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि राज्यों में सबसे अधिक आय गोवा की है। इसके पश्चात, महाराष्ट्र, हरियाणा तथा गुजरात का स्थान है। शेष राज्यों की आय राष्ट्रीय औसत से कम है। तालिका-6 में प्रस्तुत आंकड़ों के अनुसार सबसे कम प्रति व्यक्ति आय बिहार की है।

राज्यवार प्रति व्यक्ति आय का अध्ययन यह व्यक्त करता है कि पंजाब, गोवा, महाराष्ट्र, हरियाणा तथा गुजरात, प्रति व्यक्ति आय की द ष्टि से सर्वोच्च स्थिति पर हैं क्योंकि इन राज्यों में प्रति व्यक्ति आय समस्त भारत की औसत (All India Average) से अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक योजनाएं अभी भी भारत से 'धनी' व 'निर्धन' राज्यों के अन्तर को समाप्त नहीं कर सकी। वास्तव में धनी राज्य अधिक धनी हो गए। वास्तविक स्थिति तो यह व्यक्त करती है कि आय में क्षेत्रीय अन्तर (Regional Disparities of Income) और अधिक बढ़ गए हैं।

अध्याय 17
मुद्रा स्फीति
(Inflation)

Inflation :—शब्दकोष के अनुसार अंग्रेजी भाषा के Inflation शब्द का अर्थ है फैलाव, या व द्धि जब फुटबाल के ब्लैडर में हवा भरी जाती है तो वह 'इन्फ्लैट' होता जाता है। अर्थात फैल जाता है। इस प्रकार कीमत स्तर के सम्बन्ध में 'इन्फ्लेशन' का अर्थ है कीमतों में होने वाली निरन्तर व द्धि। सामान्यतः कीमत स्तर में होने वाली निरन्तर व द्धि को मुद्रा स्फीति कहा जाता है।

प्रो. पीटरसन के अनुसार, ''विस्त त अर्थों में मुद्रा स्फीति से अभिप्राय सामान्य कीमत स्तर में होने वाली स्थायी और निरंतर व द्धि से है।''

सैम्युअलसन के शब्दों में, ''मुद्रा स्फीति से हमारा अभिप्राय उस समय से है जिसमें कीमतें बढ़ रही होती हैं।''

शेपीरों के अनुसार, ''मुद्रा स्फीति सामान्य कीमत स्तर में होने वाली निरन्तर और अत्याधिक व द्धि है।''

पीगू के शब्दों में, ''मुद्रा स्फीति तब उत्पन्न होती है जबकि मौद्रिक आय उत्पादन के अनुपात में अधिक बढ़ रही हो।''

केमरर के अनुसार, ''मुद्रा स्फीति, मुद्रा या जमा मुद्रा की अधिकता को कहते हैं अर्थात व्यापार की तुलना में मुद्रा की अधिकता।''

मुद्रा स्फीति सम्बन्धी केन्ज का द ष्टिकोण—अर्ध-मुद्रा स्फीति पूर्ण रोजगार से पूर्व मुद्रा की मात्रा में व द्धि होने से रोजगार तथा उत्पादन की मात्रा में भी कुछ व द्धि होती है इसके फलस्वरूप कीमतों में वुद्धि मुद्रा की मात्रा में हुई व द्धि के अनुपात में नहीं होती। पूर्ण रोजगार स्तर से पूर्व कीमत स्तर पर होने वाली व द्धि को केन्ज ने अर्ध-मुद्रा स्फीति कहा है। यह मुद्रा स्फीति मुख्यतः उत्पादन के साधनों की गतिशीलता में अड़चल के कारण होती है। इसे अड़चन स्फीति भी कहा जाता है।

खुली या पूर्ण-मुद्रा स्फीति—पूर्ण रोजगार स्तर पर पहुँचने के पश्चात मुद्रा की मात्रा में व द्धि के फलस्वरूप कीमत स्तर में जो व द्धि होती है उसे केन्ज ने खुली, पूर्ण, वास्तविक या निरपेक्ष मुद्रा स्फीति कहा जाता है। इसका कारण यह है कि प्रभावपूर्ण मांग के बढ़ने पर भी वस्तुओं के उत्पादन में व द्धि होना सम्भव नहीं होता क्योंकि उत्पादन के सभी साधन काम पर लगे होते हैं।

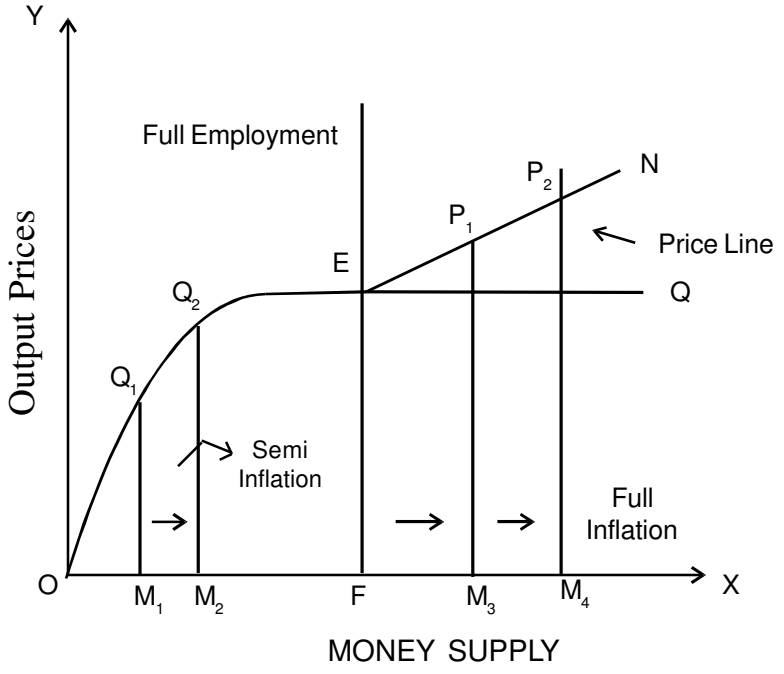

केन्ज़ के द ष्टिकोण को निम्न ग्राम द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस चित्र में OX वक्र पर मुद्रा की पूर्ति तथा OY वक्र पर उत्पादन तथा कीमत प्रकट की गई है। उत्पादन वक्र OQ के बिन्दु E द्वारा पूर्ण रोजगार उत्पादन EF प्रकट हो रहा है EF से पहले मुद्रा की पूर्ति के OM, या OM_2 हो जाने पर उत्पादन भी बढ़कर क्रमशः Q_1M_1 तथा Q_2M_2 हो गया है।

इस स्थिति में कीमतों में बहुत कम व द्धि हुई है। यह अर्धमुद्रा स्फीति की स्थिति है। बिन्दु E के पश्चात मुद्रा की मात्रा के OM_3 से बढ़कर OM_4 हो जाने पर कीमतें P_1M_3 से बढ़कर P_2M_4 हो गई। इस स्थिति में पूर्ण रोजगार होने के कारण उत्पादन रेखा OX वक्र के समानान्तर हो गई है। इससे सिद्ध होता है कि मुद्रा की पूर्ति के बढ़ने पर उत्पादन में कोई व द्धि नहीं होगी।

मुद्रा स्फीति के प्रकार—सरकार के नियन्त्रण की मात्रा के आधार पर वर्गीकरण-

सरकारी-नियन्त्रण की मात्रा के आधार पर मुद्रा स्फीति को दो भागों में बांटा जा सकता है।

(i) **खुली मुद्रा स्फीति**—खुली मुद्रा स्फीति वह स्थिति है जिसमें कीमतों में होने वाली व द्धि को नियन्त्रित करने के लिये कोई उपाय नहीं अपनाए जाते। मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार, ''खुली मुद्रा स्फीति वह प्रक्रिया है जिसमें कीमतों को बिना सरकारी नियन्त्रणों के या इसी प्रकार की तकनीकों के, बढ़ने दिया जाता है।'' खुली मुद्रा स्फीति में कीमत संयंत्र वस्तुओं के वितरण का कार्य करता है। जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के पश्चात होने वाली, मुद्रा स्फीति, खुली मुद्रा स्फीति का महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

(ii) **दबी मुद्रा स्फीति**—जब बढ़ती हुई कीमतों को प्रशासनिक उपायों जैसे-राशनिंग, कीमत नियन्त्रण इत्यादि द्वारा सरकार दबा देती है अर्थात् कीमतों को नहीं बढ़ने देती तो इसे दबी मुद्रा स्फीति कहते हैं। अतएव दबी हुई मुद्रा स्फीति वह स्फीति है जिसमें वर्तमान समय में कीमतों में होने वाली व द्धि को सरकार ने दबा दिया है। परन्तु भविष्य में जैसे ही सरकारी नियंत्रण समाप्त हो जाते हैं कीमतें तेजी से बढ़ने लगती हैं। दबी मुद्रा स्फीति में, मूल्य नियंत्रण व राशनिंग प्रशासकों के भ्रष्ट तथा अनुभवहीन होने के कारण काले बाजार को प्रोत्साहन मिलता है। दबी स्फीति में कीमत संयंत्र अपना कार्य नहीं कर पाती। इसका कारण यह है कि दबी मुद्रा स्फीति में राशनिंग और कीमत नियंत्रण के फलस्वरूप चोर बाजारी, भ्रष्टाचार तथा रिश्वत में व द्धि होती है और साधनों का अनुचित बंटवारा होता है।

2. **राजनीतिक स्थिति के आधार पर वर्गीकरण**—

देश की राजनीतिक स्थिति के आधार पर मुद्रा स्फीति का वर्गीकरण तीन भागों में किया जा सकता है।

(i) **युद्धकालीन मुद्रा स्फीति**—युद्ध के खर्चों को पूरा करने के लिए सरकार मुद्रा की पूर्ति में बहुत अधिक व द्धि कर देती है। इस प्रकार आम जनता के उपभोग के लिये बहुत कम वस्तुयें उपलब्ध होती हैं। इसके कारण कीमतें बढ़ जाती हैं। इस कारण युद्ध के समय जो मुद्रा स्फीति होती है उसे युद्धकालीन मुद्रा स्फीति कहते हैं।

(ii) **युद्धोत्तर मुद्रा स्फीति**—युद्ध के पश्चात भी मुख्य रूप से दो कारणों से मुद्रा स्फीति की प्रव त्ति जारी रह सकती है। युद्ध के दौरान लगाए गए कर इत्यादि युद्ध के पश्चात हटाए जाने के कारण तथा सरकारी ऋणों की वापसी के फलस्वरूप लोगों के पास भी मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। परंतु वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन इसकी तुलना में कम बढ़ता है।

(iii) **शांतिकालीन मुद्रा स्फीति**—अविकसित देशों को आर्थिक नियोजन तथा विकास कार्यक्रमों के लिये अत्याधिक साधनों की आवश्यकता होती है। इसके लिए सरकार को घाटे की वित्त व्यवस्था अपनानी पड़ती है। इसके फलस्वरूप कीमतों में जो व द्धि होती है, उसे शांतिकालीन स्फीति कहा जाता है।

(3) **गति के आधार पर वर्गीकरण**—

मुद्रा स्फीति की गति के आधार पर इसका वर्गीकरण निम्न आधार से किया जा सकता है।

(i) **रेंगती मुद्रा स्फीति**—रेंगती मुद्रा स्फीति उस समय होती है जबकि कीमतों में व द्धि धीरे-धीरे हो। इस प्रकार की स्फीति आर्थिक विकास के लिये उपयुक्त तथा किसी सीमा तक आवश्यक समझी जाती है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार कीमत स्तर में तीन प्रतिशत व द्धि तक को रेंगती हुई मुद्रा स्फीति कहा जाता है। इसके विपरीत कई अर्थशास्त्रियों के अनुसार रेंगती मुद्रा स्फीति भी हानिकारक हो सकती है। क्योंकि यह मुद्रा स्फीति धीरे-धीरे भयंकर रूप धारण कर सकती है।

(ii) **चलती मुद्रा स्फीति**—जब कीमतों में व द्धि की गति बढ़ने लगती है और मुद्रा स्फीति की मात्रा में कुछ तेजी आ जाती है तो इसे चलती मुद्रा स्फीति कहा जाता है। जब किसी दशक में कीमतों में होने वाली व द्धि 30 % से 40% हो जाती है तो उसे चलती मुद्रा स्फीति कहते हैं।

(iii) दौड़ती मुद्रा स्फीति—जब कीमतों में व द्धि की गति अत्याधिक तीव्र हो जाती है और थोड़े ही समय में कीमतों में पर्याप्त मात्रा में व द्धि हो जाती है तो उसे दौड़ती हुई मुद्रा स्फीति कहा जाता है। इस अवस्था में मुद्रा स्फीति 80 से 100 प्रतिशत हो सकती है। यह स्थिति बचत को भी हतोत्साहित करती है।

(iv) सरपट दौड़ती मुद्रा स्फीति या अति मुद्रा स्फीति—मुद्रा स्फीति की यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें कीमतों में अप्रत्याशित तीव्र गति से व द्धि होती है। इस अवस्था को मुद्रा स्फीति का 'भयंकर राक्षस' कहते हैं। जर्मनी में 1923 के पश्चात इसी प्रकार की मुद्रा स्फीति ने लोगों का जर्मनी की करेन्सी में विश्वास बिल्कुल समाप्त कर दिया था। जर्मनी में तो कीमतें एक दफा एक साल की अवधि में दस लाख गुणा अधिक हो गई थीं। समाज का निश्चित आय वाला वर्ग तथा निर्धन वर्ग बिल्कुल तबाह हो जाता हैं।

4. क्षेत्र के आधार पर वर्गीकरण—

मुद्रा स्फीति का क्षेत्र के आधार पर दो भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है।

(i) क्षेत्रीय या विकीर्ण मुद्रा स्फीति—जब मुद्रा स्फीति का चुनाव देश के किसी एक भाग में या किन्हीं एक या दो प्रकार की वस्तुओं जैसे—दालें, पैट्रोल इत्यादि पर हो तो इसे विकीर्ण मुद्रा स्फीति कहा जाता है।

(ii) व्यापक मुद्रा स्फीति—मुद्रा स्फीति का प्रभाव जब केवल एक क्षेत्र में तथा वस्तुओं पर न रहकर सारे देश में तथा सभी वस्तुओं पर दिखाई देता है तो उसे व्यापक मुद्रा स्फीति कहते हैं।

5. प्रक्रिया के आधार पर वर्गीकरण—

(i) मजदूरी प्रेरित मुद्रा स्फीति श्रमिकों के संगठन शक्तिशाली होने के कारण उनकी सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है और श्रमिक अधिक मजदूरी की मांग करते हैं।

(ii) लाभ प्रेरित या 'मार्क अप' मुद्रा स्फीति—विकसित देशों में बड़ी-बड़ी कम्पनियां अपनी वस्तुओं की कीमत निर्धारित करते समय उनकी लागत के ऊपर एक निश्चित प्रतिशत लाभ के रूप में बढ़ा देती है। ये कम्पनियाँ 'मार्क अप' को काफी ऊंचा रखती है। इस प्रकार की मुद्रा स्फीति को 'मार्क अप' स्फीति कहा जाता है।

(iii) घाटा प्रेरित मुद्रा स्फीति—सरकार की धाटे की वित्त व्यवस्था के फलस्वरूप जो मुद्रा स्फीति होती है, उसे घाटा जवित मुद्रा स्फीति कहते हैं। यह स्थिति उस समय होती है, जब घाटे की वित्त व्यवस्था के फलस्वरूप मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है परन्तु वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति उस अनुपात में नहीं बढ़ती।

(iv) अवरोध गति मुद्रा स्फीति—सन् 1970 के पश्चात संसार के विकसित देशों में एक नई प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। साधारणतया मुद्रा स्फीति की स्थिति में एक ओर कीमतें बढ़ती हैं तो दूसरी ओर उत्पादन तथा रोजगार में व द्धि होती है परन्तु इस नई स्थिति में एक ओर कीमतें तो बढ़ रही थीं परंतु दूसरी ओर उत्पादन तथा रोजगार में व द्धि नहीं हो पा रही थी। प्रो. सैम्यूअलसन के अनुसार, ''गतिरोध स्फीति एक ऐसी स्फीति है, जहां कीमतों तथा मजदूरी में व द्धि होने पर भी अधिकतर व्यक्ति रोजगार पाने में असमर्थ होते हैं तथा फर्में अपने कारखानों में उत्पन्न माल को बेचने में असमर्थ होती हैं।''

मुद्रा स्फीति के सिद्धान्त

(i) मांग प्रेरित मुद्रा—मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति का सिद्धांत कीमत व द्धि का सबसे पुराना सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार, मुद्रा स्फीति वह स्थिति है जिसमें वर्तमान कीमत स्तर पर कुल मांग, कुल पूर्ति से अधिक होती है। पूर्ण रोजगार से पहले जब कुल मांग बढ़ती है तो उत्पादन में व द्धि होने के कारण कुल पूर्ति में व द्धि नहीं होने पाती इसलिए कीमत स्तर बढ़ने लगता है। अतएव, मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति की स्थिति में कुल मांग बढ़ती है। परंतु उत्पादन के कुल मांग की तुलना में कम बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ती हैं। पीटरसन के शब्दों में, ''मुद्रा स्फीति का कारण वर्तमान कीमतों पर उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की तुलना में मांग का अधिक होना है।''

मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति को निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

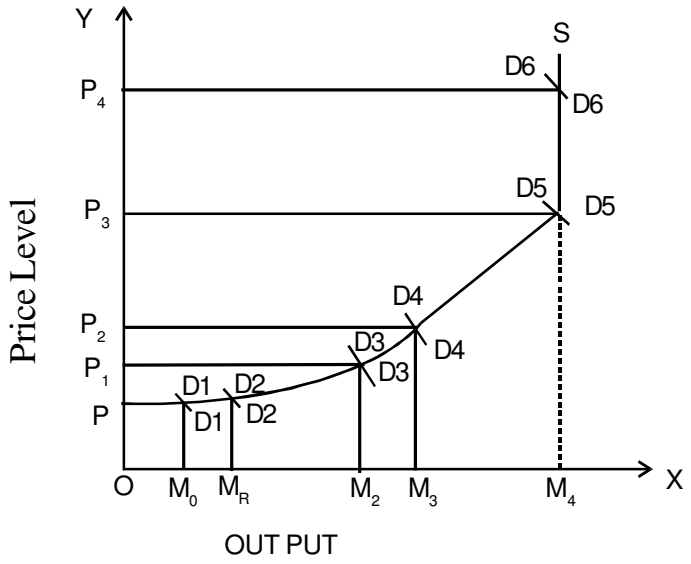

OX रेखा पर उत्पादन की मात्रा तथा OY रेखा पर कीमत स्तर को व्यक्त किया गया है। इसमें PS पूर्ति वक्र है तथा $D_1D_1D_2D_2$ आदि मांग वक्र है। प्रारंभ में मांग वक्र D_1D_1 तथा कीमत स्तर OP है। उत्पादन की मात्रा OM से बढ़कर OM_1 हो जाती है। यदि मांग वक्र ऊपर की ओर उठकर D_3D_3 तथा D_4D_4 हो जाती है तो मांग के बढ़ने के कारण उत्पादन तथा कीमतें दोनों ही बढ़कर क्रमशः OM_2 OM_3 तथा OP, और OP_2 हो जाती है। OM_4 उत्पादन मात्रा पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्रकट करती है इसलिये मांग वक्र को D_5D_5 तथा D_6D_6 होने पर कीमत स्तर बढ़कर OP_3 तथा OP_4 हो जाता है परन्तु उत्पादन में या पूर्ति में कोई व द्धि नहीं होती, इसलिए पूर्ति वक्र, OM_4 उत्पादन के बाद OY अक्ष के समानान्तर हो जाता है।

कारण

मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति के कारणों से सम्बन्धित तीन सिद्धांत–

(1) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त**–इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात जब मुद्रा की मात्रा में व द्धि की जाती है तो कीमत स्तर बढ़ने लगता है।

(2) **केन्ज का सिद्धान्त**–लार्ड केन्ज के अनुसार जब कुल मांग, कुल पूर्ति से अधिक हो जाती है तो कीमतें बढ़ने लगती हैं। AD = C+ I

(3) **मुद्रा का आधुनिक सिद्धान्त**–इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मिल्टन क्रीडमैन आदि ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति का मुख्य कारण मुद्रा की पूर्ति में आवश्यकता से अधिक व द्धि का होना है।

स्फीतिक अंतर–लार्ड केन्ज ने अपने एक लेख How To Pay for the war में मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति की व्याख्या 'स्फीतिक अंतर' के रूप में की है। 'स्फीतिक अंतर' से अभिप्राय समाज की कुल आय तथा उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं के आधार वर्ष में मौद्रिक मूल्य के या कुल व्यय के अन्तर से है। जब लोगों की आय में व द्धि होती है और वे उसको खर्च करने के लिए तैयार होते हैं तो कुल मांग बढ़ जाती है। परंतु यदि बाजार में इसकी तुलना में उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा कम होती है तो व्यय की जाने वाली मुद्रा की मात्रा तथा उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा में अंतर हो जाता है इसे स्फीतिक अंतर कहते हैं। युद्ध काल में जबकि अर्थव्यवस्था में साधारणतया पूर्ण रोजगार की अवस्था पाई जाती है। परंतु उत्पादन के साधनों के युद्ध सामग्री तैयार करने में लगे होने के कारण उपभोग वस्तुओं की पूर्ति उनकी मांग की तुलना में कम पड़ जाती है।

वैबस्टर डिक्शनरी के अनुसार, ''स्फीतिक अंतर एक निश्चित कीमत स्तर पर उपलब्ध वस्तुओं की पूर्ति के मूल्य की तुलना में व्यय की जाने वाली आय का आधिक्य है जो कीमतों में स्फीति लाने का पर्याप्त कारण बनता है।''

कुरीहारा के अनुसार, ''स्फीतिक अन्तर अनुमानित व्यय का आधार कीमतों पर उपलब्ध उत्पादन की तुलना में आधिक्य हो।''

स्फीतिक अंतर की धारणा को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए युद्ध के वर्ष में देश का कुल उत्पादन 1,500 करोड़ रुपये का हो इसमें से 300 करोड़ रुपये का उत्पादन सरकार युद्ध के लिये खरीद लेती है। इस प्रकार जनता को केवल 1,500 करोड़ रु. —300 करोड़ रु. = 1200 करोड़ रु. का उत्पादन मिल सकेगा। मौद्रिक आय 1800 करोड़ रु. है। इसमें से 400 करोड़ रु० सरकार करों के रूप में वसूल कर लेती है। उपभोग योग्य आय 1800-400=1400 करोड़ रु.। इसका अभिप्राय यह हुआ कि लोग 1400 करोड़ रु० खर्च करने को तैयार हैं, परंतु वर्तमान कीमतों पर वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति केवल 1200 करोड़ रु. ही है। इस प्रकार स्फीतिक अंतर 1400-1200=200 करोड़ रु. होगा। इसके फलस्वरूप कीमतें तब तक बढ़ती रहेंगी जब तक मांग तथा पूर्ति बराबर नहीं हो जाती।

यदि जनता अपनी उपभोग योग्य आय का कुछ भाग मान लीजिए 100 करोड़ रु. बचा लेती है तो स्फीतिक अंतर कम होकर 100 करोड़ रु. रह जाएगा।

	Particulars	Amount Rs. Crores
1.	National Income being paid	1,800
2.	Taxes	400
3.	Disposable Income	1,400 (1,800-400)
4.	Gross National Output (at pre-inflation prices)	1,500
5.	War Purchases	300
6.	Available output for public	1,200
7.	Inflationary	200

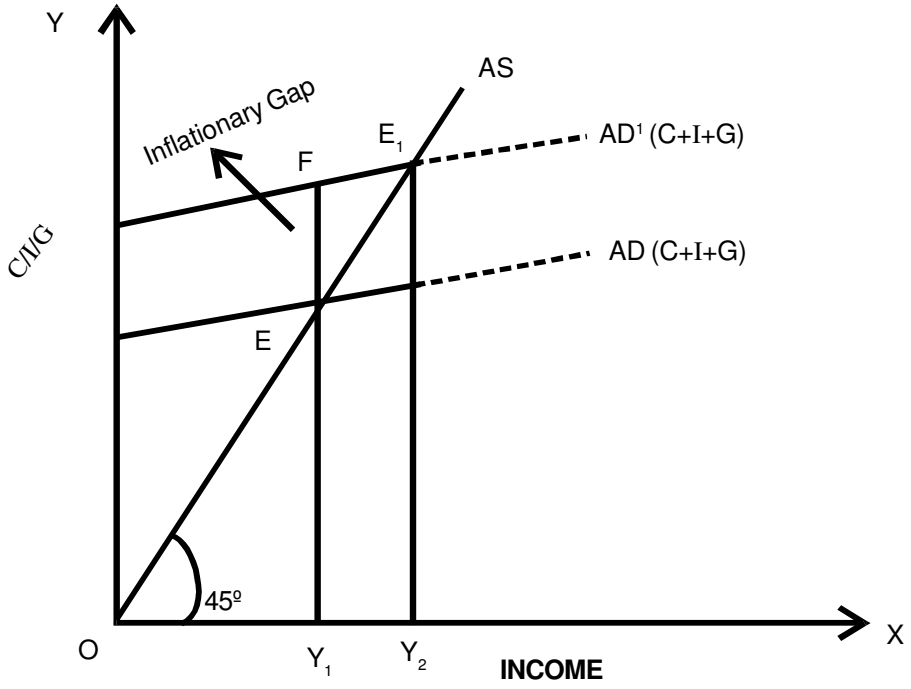

उपरोक्त चित्र में OX अक्ष पर वास्तविक आय तथा OY अक्ष पर उपभोग, निवेश तथा सरकारी व्यय प्रकट किया गया है। AS कुल पूर्ति वक्र है। कुल मांग वक्र ADCC + I + G) है। इस वक्र से ज्ञात होता है कि पूर्ण रोजगार आय स्तर OY_1

पर कुल मांग है। सरकारी व्यय के बढ़कर $C+I+G_1$ होने पर कुल मांग वक्र खिसक कर ऊपर हो जाती है जिसे ADL से व्यक्त किया गया है। अब कुल मांग कुल पूर्ति से अधिक है। अतएव EP स्फीतिक अंतर कहलाएगा। संतुलन बिंदु E_1 पर स्फीतिक अंतर समाप्त हो जाएगा।

लागत धक्का मुद्रा स्फीति—लागत धक्का मुद्रा स्फीति का सिद्धान्त मुद्रा स्फीति का एक नवीन सिद्धान्त है। इस सिद्धांत के रूप में इसका प्रतिपादन मुख्य रूप से सन् 1960 के पश्चात अमेरिका तथा दूसरे विकसित देशों में पाई जाने वाली कुछ विशेष परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ है। दूसरी ओर मांग तथा उत्पादन में कमी हो रही थी। अतएव उत्पादन लागतों में व द्धि होने के फलस्वरूप जो मुद्रा स्फीति होती है उसे लागत धक्काा स्फीति कहा जाता है। इस स्थिति में एक ओर कीमतें बढ़ती हैं दूसरी ओर उत्पादन तथा रोजगार कम हो जाता है।

प्रो. ए. एस. कैम्पना के अनुसार, ''लागत प्रेरित स्फीति लागतों में होने वाली व द्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस स्थिति में कुल मांग अपर्याप्त होती है। साधन बेरोजगार होते हैं तथा उत्पादन क्षमता आवश्यकता से अधिक होती है।''

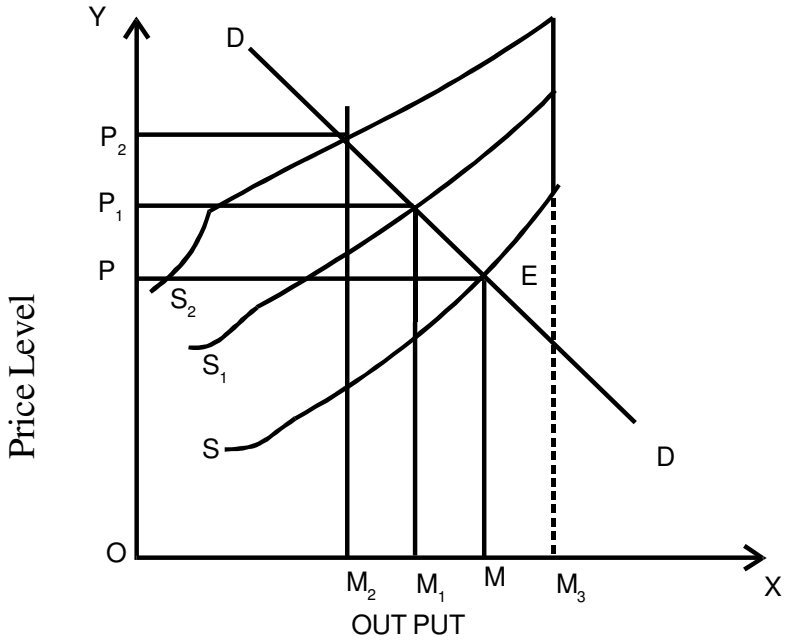

उपरोक्त चित्र में हमने OX अक्षर पर उत्पादन तथा OY अक्ष पर कीमत स्तर प्रकट किया गया है। DD मांग वक्र है तथा SS पूर्ति वक्र है। A बिन्दु के बाद SS पूर्ति वक्र OY के सामानान्तर हो गई है। इससे प्रकट होती है कि A बिन्दु पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्रकट कर रहा है तथा OM_3 पूर्ण रोजगार उत्पादन है। मान लीजिए आरंभ में SS पूर्ति वक्र है। पूर्ति वक्र SS मांग वक्र DD को बिन्दु E पर काट रही है इसलिए अर्थव्यवस्था में OM वस्तुओं का उत्पादन होगा तथा कीमत स्तर OP होगा। यह पूर्ति वक्र S_1S मांग वक्र DD को बिन्दु E_1 बिन्दु पर काटेगा। नये संतुलन बिन्दु E_1 से ज्ञात होता है कि उत्पादन कम होकर OM_1 तथा कीमत बढ़कर OP_1 हो जाएगी। यदि पूर्ति वक्र S_2S मांग वक्र DP को E_2 बिंदु पर काटेगा। इससे प्रकट होता है कि उत्पादन कम होकर OM_2 हो जाएगा परंतु कीमत स्तर बढ़कर OP_2 हो जाएगी।

कारण—

1. **मजदूरी की दर में व द्धि या मजदूरी प्रेरक मुद्रा स्फीति**—जब श्रम बाजार अपूर्ण होता है तथा श्रम संगठन शक्तिशाली होते हैं तो वे श्रम की उत्पादकता में व द्धि हुए बिना भी मजदूरी दर में व द्धि कराने में सफल हो जाते हैं। इस प्रकार की मुद्रा स्फीति को मजदूरी प्रेरित मुद्रा स्फीति कहा जाता है। मौद्रिक मजदूरी मुद्रा स्फीति के दौरान बढ़ती जाती है। जिसके फलस्वरूप कीमतें और भी अधिक बढ़ जाती हैं। जब मजदूर संघों के रूप में सगठित मजदूर अपनी मजदूरी की दर बढ़वाने में सफल हो जाते हैं तो असंगठित मजदूर भी मजदूरी की अधिक दर मांगने लगते हैं।
2. **लाभ की दर में व द्धि**—अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में विशेष रूप से एकाधिकार या अल्पाधिकार की स्थिति में फर्में अपना

उत्पादन मांग की तुलना में कम करती हैं। परन्तु लाभ की दर बढ़ा देती है। लाभ की दर बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ जाती हैं परन्तु उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में होने वाले उत्पादन की तुलना में कम होता है।

3. **प्रमुख कच्चे माल की लागत में व द्धि**—जब घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार दशाओं के कारण प्रमुख कच्चे माल जैसे—कोयले, इस्पात तथा पैट्रोल आदि की कीमतें कई गुणा बढ़ जाती हैं तो इसके फलस्वरूप लागत बढ़ जाती है तथा तैयार वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं।

मुद्रा स्फीति के कारण—1. मांग पक्ष—मांग से अभिप्राय वस्तुओं के लिए मुद्रा की मांग से है। मुद्रा की मांग में निम्न कारणों से व द्धि होती है।

(i) **सार्वजनिक व्यय में व द्धि**—जब भी देश में सार्वजनिक व्यय में व द्धि होती है तो उससे देश में क्रय शक्ति बढ़ जाती है। क्रय शक्ति के बढ़ने से वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग भी बढ़ जाती है। यह स्थिति पूर्ण रोजगार बिंदु के पूर्व भी हो सकती है। जबकि अर्थव्यवस्था में कई अवरोधों के कारण उत्पादन बढ़ने की गति धीमी हो जाती है।

(ii) **घाटे की वित्त व्यवस्था**—सरकार अपनी आय तथा खर्च के घाटे को पूरा करने के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था की नीति भी अपनाती है। घाटे की वित्त व्यवस्था के फलस्वरूप लोगों की मौद्रिक आय बढ़ जाती है। परंतु उत्पादन उस सीमा तक नहीं बढ़ने पाता। इस कारण कीमत स्तर बढ़ जाता है। इसलिए आजकल भारत जैसे देशों में मुद्रा स्फीति का मुख्य कारण घाटे की वित्त व्यवस्था है।

(iii) **सस्ती मौद्रिक नीति**—सरकार की सस्ती मौद्रिक तथा साख नीति के कारण मुद्रा की पूर्ति में व द्धि हो जाती है जिससे वस्तुओं और सेवाओं की मांग बढ़ती है परन्तु उनकी पूर्ति उस अनुपात में नहीं बढ़ने पाती इसलिए उनकी कीमतों में व द्धि हो जाती है। जिससे मौद्रिक आय बढ़ती है और इसके फलस्वरूप भी कीमतों में व द्धि हो होती है।

(iv) **व्यय योग्य आय में व द्धि**—मुद्रा स्फीति का दूसरा कारण उपभोक्ता की व्यय योग्य आय में होने वाली व द्धि है। जब कुछ लोग अधिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग करके जीवन स्तर अपेक्षाक त ऊंचा कर लेते हैं तो इसका प्रदर्शन प्रभाव पड़ता है, दूसरे लोग भी उसका अनुसरण करते हैं इससे मांग बढ़ती है परंतु पूर्ति में मांग की तुलना में व द्धि कम होती है इसलिए कीमतें बढ़ जाती हैं।

(v) **काला धन**—काला धन वह आय है जिसका सरकार को कोई हिसाब नहीं दिया जाता ताकि आय पर लगाए जाने वाले कर को बचाया जा सके। काले धन के स्वामी उस धन को विलासिता की वस्तुओं तथा दिखावे की वस्तुओं पर खर्च करते हैं। इससे मांग में व द्धि होती है तथा कीमतें बढ़ती हैं।

(vi) **करों में कमी**—कई बार सरकार जब करों में कमी कर देती है तो उससे लोगों की वास्तविक तथा मौद्रिक आय में व द्धि होने के कारण प्रभावपूर्ण मांग में व द्धि होती है। इस अतिरिक्त क्रय शक्ति के द्वारा लोग अधिक वस्तुओं की मांग करते हैं। फलस्वरूप कीमतें बढ़ने लगती हैं। सट्टेबाजी की क्रियाएं बढ़ने के कारण मांग बढ़ जाती है और वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में व द्धि हो जाती है।

(vii) **सार्वजनिक ऋण में कमी**—जब सरकार जनता से कम ऋण लेती या जनता के ऋण को वापस कर देती है तो ऐसी दशा में जनता के पास अधिक क्रय शक्ति बनी रहती है इससे भी वस्तुओं और सेवाओं की मांग बढ़ती है। इसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ने लगती हैं।

(viii) **जनसंख्या में व द्धि**—किसी भी देश में जब जनसंख्या के बढ़ने की दर उत्पादन की दर से अधिक होती है तो वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग अधिक होने के कारण कीमतों में व द्धि हो जाती है।

(ix) **निर्यात में व द्धि**—जब देश के निर्यात में व द्धि होती है तो इसके फलस्वरूप भी दो कारणों से कीमतों में व द्धि हो सकती है एक तो निर्यात में व द्धि होने के कारण आय में व द्धि होती है। दूसरे उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक निर्यात होने के कारण देश में उनकी पूर्ति कम हो जाती है जिससे कीमतों में व द्धि हो जाती है।

2. **पूर्ति पक्ष**—पूर्ति पक्ष से अभिप्राय वस्तुओं की वह उपलबध मात्रा है जिस पर लोग अपनी आय व्यय कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में असंतुलन आ जाता है। पूर्ति पक्ष पर मुख्य रूप से निम्न तत्वों का प्रभाव पड़ता हैं

1. **उत्पादन में कमी**—पूर्ति में होने वाली कमी का सबसे मुख्य कारण उत्पादन में होने वाली कमी है। उत्पादन में कमी के कई कारण हो सकते है। जैसे—मजदूरी तथा मालिकों के झगड़े, प्राक ति विपत्तियां आदि।

2. **क त्रिम अभाव**—मुद्रा स्फीति का एक कारण यह भी है कि देश में जमाखोर और मुनाफाखोर लोग वस्तुओं को अपने पास जमा करके रख लेते हैं। उनकी खुले बाजार में पूर्ति कम हो जाती है तथा वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं।
3. **सरकार की कर नीति**—सरकार की कर नीति भी पूर्ति को निरुत्साहित करने के लिए जिम्मेदार हो सकती हैं। जब सरकार इस प्रकार के कर लगाती है जैसे ऊंची दर पर बिक्री कर, उत्पादन कर, निगम कर, ब्याज कर आदि जिससे उत्पादन निरुत्साहित हो, तो उत्पादन की मांग स्थिर रहने पर भी वस्तुओं की कीमतों में व द्धि हो जाती है। इस प्रकार उत्पादन कम हो जाने से मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
4. **खाद्यान्न में कमी**—जब देश में अनाज, दालों, खाने के तेल का उत्पादन कम होता है तो कीमतों में बहुत अधिक व द्धि होती है। खाद्यान्न में कमी कई कारणों से हो सकती है। जैसे—वर्षा की कमी, खाद्यान्न फसलों के स्थान पर व्यापारिक फसलों का अधिक उत्पादन आदि।
5. **औद्योगिक झगड़े**—कई बार उद्योगों में श्रमिकों तथा मालिकों में झगड़ा होने के कारण कारखानों में हड़ताल या तालाबंदी हो जाती है। इससे उत्पादन में कमी हो जाती है और कीमतों में व द्धि।
6. **तकनीकी परिवर्तन**—विज्ञान के इस परिवर्तनशील युग में नए-नए अविष्कार होते रहते हैं। तकनीकी परिवर्तन में समय लगने के कारण कई बार उत्पादन कम हो जाता है। परंतु काम पर लगे हुए श्रमिकों तथा तकनीकी विशेषज्ञों को वेतन देना ही पड़ता है। इसके फलस्वरूप उत्पादन लागत बढ़ती है तथा पूर्ति कम होती है।
7. **कच्चे माल की कमी**—जब उत्पादन को बढ़ाने के लिए देश में कच्चा माल उपलब्ध न हो और न ही विदेशों से आयात करने की संभावना हो तो उत्पादन कम हो जाता है। इसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ती हैं और मुद्रा स्फीति की स्थिति पैदा होती है।
8. **प्राक ति विपत्तियां**—समय-समय पर देश में प्राक तिक विपत्तियां जैसे—भूकम्प, बाढ़, सूखा आदि आती रहती हैं जिसके कारण विशेष रूप से क षि उत्पादन में काफी कमी हो जाती हैं।
9. **उत्पादन का ढांचा**—कई बार देश में उत्पादन का ढांचा इस प्रकार का बन जाता है कि उत्पादक साधारण उपभोग की वस्तुओं के स्थान पर विलासितापूर्ण वस्तुओं या भारी तथा आधारभूत वस्तुएं अधिक बनाने लगते हैं क्योंकि उनमें उन्हें अधिक लाभ मिलता है। उनकी पूर्ति कम हो जाने से कीमतें बढ़ जाती हैं।
10. **युद्ध**—युद्ध के समय में भी उपयोग वस्तुओं के उत्पादन में कमी हो जाती है क्योंकि साधनों का प्रयोग युद्ध साम्रग्री के उत्पादन में होने लगता है। इससे कीमतों में व द्धि होने लगती है।
11. **अन्तर्राष्ट्रीय कारण**—आजकल विभिन्न देशों में एक दूसरे के साथ व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं। इनमें से किसी एक देश में कीमतों में व द्धि होने के कारण इसका सहानुभूतिपूर्ण प्रभाव अन्य देशों की कीमतों पर भी पड़ता है और दूसरे देशों में भी कीमतें बढ़ने लगती हैं। इससे संसार के लगभग सभी देशों में कीमत स्तर बढ़ गये हैं।
12. **सरकार की औद्योगिक नीति**—सरकार की औद्योगिक नीति का भी मुद्रा स्फीति पर प्रभाव पड़ता है। यदि औद्योगिक नीति प्रतिबंधात्मक है तो इसका पूर्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। यदि सरकार का नए उद्योगों की स्थापना पर कड़ा नियंत्रण हो या नए उद्योगों की स्थापना को हतोत्साहित किया जाए तो इसके कारण उत्पादन में मांग के अनुसार व द्धि नहीं हो पाएगी तथा वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाएंगी।
13. **उत्पादन में गतिरोध**—जब किसी देश में बिजली, कोयले आदि की पूर्ति कम हो जाती है। यातायात के साधनों की उपलब्धि में कमी आ जाती है तो उत्पादन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। इससे पूर्ति कम तथा कीमतें बढ़ जाती हैं।

मुद्रा स्फीति के प्रभाव—

अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि रेंगती हुई मुद्रा स्फीति तो उत्पादन, रोजगार तथा आर्थिक विकास के लिए लाभदायक हो सकती है, परंतु जब मुद्रा स्फीति की दर बढ़ जाती है तो इसका उत्पादन तथा वितरण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे देश में निर्धनता फैलती है। मुद्रा स्फीति के प्रभाव निम्न हैं—

1. **ऋणी और ऋणदाताओं पर प्रभाव**—मुद्रा स्फीति में ऋणदाताओं को हानि और ऋणी वर्ग को लाभ हाता है। माना एक व्यक्ति ने 2000 रु. की राशि एक साल के लिए उधार पर ली। एक साल बीतने पर मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो

गई। अब ऋण जो 2000 रु. राशि ऋणदाता को वापस करेगा, उसका वास्तविक मूल्य पहले से कम होगा। मान लिया इस उधार को लेते समय इस राशि से 40 क्विंटल गेहूं खरीदा जा सकता था, परंतु मुद्रा स्फीति के पश्चात गेहूं की कीमत दोगुनी हो गई और अब केवल 80 क्विंटल गेहूं खरीदा जा सकता है। इस प्रकार ऋणदाता को इससे हानि और ऋणी को लाभ होगा।

2. **निवेशकर्ता पर प्रभाव**—निवेशकर्त्ताओं को दो भागों में बांटा जा सकता है (i) एक वे जिन्होंने सरकारी प्रतिभूतियां, डिबेंचर्ज, बॉण्डस आदि में जिससे कि एक निश्चित आय होती है, पूंजी लगा रखी होती है और दूसरे वे जिन्होंने संयुक्त पूंजी कम्पनियों के हिस्से खरीदे होते हैं इन दोनों वर्गों में से मुद्रा स्फीति के कारण पहले वर्ग को हानि और दूसरे वर्ग को लाभ होता है।

3. **निश्चित आय के वर्ग पर प्रभाव**—निश्चित आय के वर्ग में श्रमिकों, कर्मचारियों, अध्यापकों तथा अन्य सभी नौकरी पेशा लोगों को शामिल किया जाता है। इन्हें मुद्रा स्फीति के कारण सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है। मुद्रा स्फीति के कारण मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। इसलिए यदि आय में थोड़ी व द्धि हो भी जाती है तो भी कीमतों के बढ़ने के कारण वे पहले की तुलना में कम वस्तुएं और सेवाएं खरीद पाते हैं।

4. **उत्पादकों या उद्यामियों पर प्रभाव**—उत्पादक वर्ग एक ऐसा वर्ग है जिसे मुद्रा स्फीति से लाभ होता है। इस वर्ग को होने वाले लाभ के निम्न कारण हैं।

(i) वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है। इससे वे वस्तुएं ऊंची कीमत पर बेचते हैं। (ii) कच्चा माल उन्होंने मुद्रा स्फीति से पहले ही खरीदा होता है, (iii) जो उद्यमी अथवा व्यापारी ऋण लेते हैं उन्हें भी मुद्रा स्फीति से लाभ होता है।

(5) **क षकों पर प्रभाव**—क षक वर्ग पर मुद्रा स्फीति का प्रभाव अनुकूल है क्योंकि वे उत्पादक वर्ग में आते हैं।

6. **मध्यम वर्ग पर प्रभाव**—मुद्रा स्फीति के कारण सबसे अधिक हानि मध्यम वर्ग को होती है। यह एक ऐसा वर्ग है कि जिसे रहन सहन का अपना एक विशेष स्तर रखना पड़ता है, परन्तु इसकी आय के साधन निश्चित होते हैं। इसलिए वे अपनी वर्तमान आय से अपने जीवन स्तर को कायम नहीं रख पाते। उन्हें कर्ज लेकर या पिछली बचत खर्च करके जीवन स्तर को बनाए रखना पड़ता है।

7. **बचत पर प्रभाव**—मुद्रा स्फीति का बचत पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। एक तो वस्तुओं की कीमतें अधिक होने के कारण लोगों को व्यय अधिक करना पड़ता है, इसलिए बचत की सम्भावना कम हो जाती है। दूसरे मुद्रा का मूल्य कम होने के कारण लोगों का मुद्रा पर विश्वास कम हो जाता है। इसलिए वे मुद्रा को बचाकर नहीं रखना चाहते।

8. **रोजगार पर प्रभाव**—मुद्रा स्फीति की प्रारम्भिक स्थितियों में रोजगार पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। कीमतें अधिक होने से उत्पादक उत्पादन भी अधिक करता है। परंतु पूर्ण रोजगार की अवस्था के पश्चात कीमतें तेजी से बढ़ने लगती है और सरपट दौड़ने वाली मुद्रा स्फीति की अवस्था आ जाती है। इससे लोग वस्तुएं खरीदना कम कर देते हैं। जिससे मांग कम हो जाती है और परिणामस्वरूप बेरोजगारी फैल जाती है।

9. **भुगतान संतुलन पर प्रभाव**—मुद्रा स्फीति के समय में वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं, इसलिए आयात में व द्धि और निर्यात में कमी आने से भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाता है।

10. **सार्वजनिक ऋणों पर प्रभाव**—कीमतों में व द्धि होने के कारण सरकार द्वारा प्रारंभ की गई योजनाओं पर किए जाने वाला व्यय बढ़ जाता है। इसी कारण सरकार को जनता से ऋण लेना पड़ता है जिससे सार्वजनिक ऋणों में व द्धि हो जाती है।

11. **बैंकों तथा बीमा कंपनियों पर प्रभाव**—मुद्रा स्फीति के कारण व्यापारियों, उद्यमियों तथा क षकों की आय में व द्धि होती है इसलिए वे लोग अधिक पैसा बैंक में जमा करते हैं इससे बैंकिंग संस्थाओं का विकास होता है। नए उद्योग स्थापित होने से जोखिम में भी व द्धि होती है जिससे बीमा कम्पनियों का विकास होता है।

12. **करों पर प्रभाव**—कीमतों में व द्धि होने के कारण सरकार का व्यय काफी बढ़ जाता है। सरकार उस बढ़े हुए व्यय को पूरा करने के लिए कर बढ़ा देती है।

13. **नियंत्रण तथा राशनिंग**—साधारण उपयोग की वस्तुएं महंगी होने के कारण गरीब लोगों के लिए खरीदना कठिन हो जाता

है। इसलिए सरकार कीमत नियंत्रण, उचित मूल्य की दुकानें एवं राशनिंग पद्धति अपना कर साधारण उपभोग की वस्तुएं गरीबों को उपलब्ध कराती हैं।

14. **साधनों के बंटवारे पर प्रभाव**—मुद्रा स्फीति का साधनों के बंटवारे पर भी प्रभाव पड़ता है। जब किसी वस्तु का मूल्य अपेक्षाक त अधिक हो जाता है तो उसकी मांग कम हो जाती है तथा उससे संबंधित वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है। इससे महंगी वस्तुओं का उत्पादन कम किया जाएगा तथा सस्ती वस्तुओं का उत्पादन अधिक किया जाएगा। इस प्रकार मुद्रा स्फीति का साधनों के बंटवारे पर प्रभाव पड़ता है।

15. **नैतिक प्रभाव**—मुद्रा स्फीति के कारण नैतिकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यापारी वर्ग अधिक धन संचय के लालच में अंधा होकर मुनाफाखोरी, जमाखोरी तथा मिलावट इत्यादि जैसी बुरी आदतों का सहारा लेते हैं। एन्ड्रयु डी व्हाइट ने अपनी पुस्तक ''Fiat Money Inflation in France" में लिखा है कि, ''फ्रांसीसी क्रान्ति काल में मुद्रा प्रसार के कारण फ्रांस के प्रमुख शहरों में विलासिता तथा दुराचार, जो लूटने की अपेक्षा गम्भीर दोष थे, चारो ओर फैल गए थे।'' देश में रिश्वतखोर तथा नैतिक मूल्यों का पतन हो जाता है।

16. **सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभाव**—मुद्रा स्फीति के सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव आर्थिक प्रभावों से भी अधिक खतरनाक हैं। सन् 1923-1933 के बीच जर्मनी में हिटलर तथा उसकी नाजी पार्टी के सत्ता हथियाने का एक प्रमुख कारण उस समय विद्यमान मुद्रा स्फीति की भयानक बाढ़ थी। डा. डी. बी. टूरोनी (Turroni) के अनुसार, ''हिटलर मुद्रा स्फीति की दत्तक संतान था।'' **प्रो. गेलब्रेथ के अनुसार**, ''मौद्रिक आय की द ष्टि से यदि विचार किया जाए तो जिस समाज में निरंतर मुद्रा स्फीति रहती है उसमें निःसंदेह शिक्षक, धर्मगुरु या पुलिस का कार्य करने की अपेक्षा सट्टे बाजी या वेश्याव त्ति करना अधिक लाभदायक है।

प्रो. सी. एन. वकील के अनुसार, ''मुद्रा स्फीति की एक डाकू से तुलना की जा सकती है। दोनों ही शिकार हुए व्यक्ति से कुछ छीनते हैं। अन्तर यह है कि डाकू दिखाई देता है मुद्रा स्फीति दिखाई नहीं देती। डाकू का एक समय में शिकार एक आदमी या कुछ आदमी हो सकते हैं जबकि मुद्रा स्फीति का शिकार सारा राष्ट्र होता है डाकू को न्यायालय में ले जाया जा सकता है, मुद्रा स्फीति वैद्य है।

मुद्रा स्फीति तथा आर्थिक विकास—

अर्थशास्त्रियों में इस सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है कि मुद्रा स्फीति का आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा अथवा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा स्फीति आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मुद्रा स्फीति के कारण आर्थिक विकास की गति कम हो जाएगी इसलिए मुद्रा स्फीति आर्थिक विकास से लिए उचित नही है। इस संबंध में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों मतों का विस्त त अध्ययन किया जाए।

मुद्रा स्फीति का आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव—रोस्तोव, रोबर्टसन, मोरिस डाव, केन्ज तथा कैलडोर आदि का मत है कि आर्थिक विकास के लिए कुछ मात्रा में मुद्रा स्फीति का होना आवश्यक है। प्रो. आर्थक लुइस के अनुसार, ''मुद्रा स्फीति विकास का ही उप परिणाम होती है।'' निवेश के बढ़ने से मौद्रिक आय में व द्धि होती है। परंतु उत्पादन में तत्काल व द्धि नहीं होती। इससे मांग तथा पूर्ति में असंतुलन होता है जो मुद्रा स्फीति को जन्म देता है। इसके निम्न कारण हैं—

1. **उत्पादन में व द्धि**—मुद्रा स्फीति के फलस्वरूप देश में एक आशावादी वातावरण पनपने लगता है। इसके फलस्वरूप निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। इससे निवेश अधिक मात्रा में किया जाता है। निवेश में व द्धि होने के फलस्वरूप अधिक लोगों को रोजगार मिलता है इसलिए उनकी आय बढ़ती है। आय के कारण मांग और उत्पादन में भी अधिक व द्धि होती है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है।

2. **आय का पुनर्वितरण**—मुद्रा स्फीति के फलस्वरूप आय का पुनर्वितरण समाज के उस वर्ग जैसे व्यापारी, उद्योगपति, क षक आदि के पक्ष में होने लगता है। जिसमें बचत करने की शक्ति अधिक होती है। मुद्रा स्फीति के कारण उन लोगों की आय में कम व द्धि होती है जिनमें बचत करने की शक्ति कम होती है। आय के पुनर्वितरण के कारण देश में बचत अधिक होती है। बचत अधिक होने के कारण निवेश अधिक होता है तथा आर्थिक विकास की गति तीव्र हो जाती है।

3. **पूंजी निर्माण का साधन**—**डा. वी. के. आर. वी. राव के अनुसार**, मुद्रा स्फीति के कारण देश में बलात बचत संभव हो जाती है। कीमतें अधिक होने के कारण अधिकतर लोग बहुत सी वस्तुओं का उपभोग नहीं कर पाते। इस प्रकार वास्तविक उपभोग कम हो जाता है तथा वास्तविक बचत में व द्धि हो जाती है।

4. **स्व-भुगतान :— प्रो. आर्थर लुईस के अनुसार** आर्थिक विकास के लिए जो वित्त व्यवस्था की जाती है वह अपना भुगतान स्वयं कर लेती है। इसका कारण यह है कि आर्थिक विकास के लिए जो वित्तीय साधन प्रयोग किए जाते हैं उनके कारण मुद्रा पूर्ति में व द्धि हो जाती है। जिससे उत्पादन क्षमता के बढ़ने से वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति बढ़ती है। इससे आर्थिक विकास के लिए प्रयोग किए जाने वाले वित्तीय साधनों का भुगतान करना संभव हो जाता है।

5. **उत्पादन साधनों का एकत्रीकरण**—अल्पविकसित देशों में उत्पादन साधन निष्क्रिय रहते हैं। बैंकों आदि की सुविधाओं के अभाव में उनमें संग्रह करने की प्रव त्ति अधिक होती है। मुद्रा स्फीति के कारण जब देश में आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ता है तो छिपा धन बाहर आने लगता है। इसे उत्पादन क्रियाओं में प्रयोग किया जाने लगता है जिससे आर्थिक विकास में व द्धि होती है।

मुद्रा स्फीति के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव—कई अर्थशास्त्रियों जैसे सिंगर, हैबरलर, प्रो. बी. आर. शिनाय, आदि के अनुसार मुद्रा स्फीति आर्थिक विकास के लिए बाधा है। वे अपनी धारणा के पक्ष में निम्न तर्क देते हैं—

1. **अनिश्चितता**—इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा स्फीति के कारण लागतों में व द्धि होने लगती है। मजदूर अधिक मजदूरी की मांग करते हैं। वस्तुओं की मांग तथा कीमतों में उतार चढ़ाव आरंभ हो जाता है। इसका आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

2. **बचत पर प्रतिकूल प्रभाव**—मुद्रा स्फीति के कारण मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। अतः मुद्रा के रूप में जो बचत की जाती है, उसका वास्तविक मूल्य कम हो जाता है। इसका बचत करने की प्रव त्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. **अन्यायपूर्ण**—मुद्रा स्फीति अन्यायपूर्ण है। इससे धनी व्यक्ति अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होते जाते हैं। इसका सामाजिक कल्याण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए यदि मुद्रा स्फीति के कारण राष्ट्रीय आय में व द्धि हो भी जाए तो भी उसे उचित नहीं माना जाएगा क्योंकि इसके फलस्वरूप सामाजिक कल्याण में व द्धि नहीं होगी।

4. **विलासितापूर्ण उपभोग में व द्धि**—मुद्रा स्फीति के फलस्वरूप जिन लोगों की आय में व द्धि होती है वे उसका उपयोग उत्पादक क्रियाओं के करने के स्थान पर सट्टे, जमाखोरी या विलासितापूर्ण उपभोग के लिए करने लगते हैं। इस कारण साधनों का अपव्यय होता है और आर्थिक विकास पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

5. **भुगतान शेष का असंतुलन**—मुद्रा स्फीति के फलस्वरूप देश के निर्यात कम होते हैं तथा कच्चे माल की कीमतें बढ़ जाती हैं। इसके फलस्वरूप भुगतान शेष असंतुलित हो जाता है। इससे आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

6. **आर्थिक मुद्रा स्फीति की संभावना**—मुद्रा स्फीति की इसलिए भी आलोचना की जाती है कि एक बार मुद्रा स्फीति आरंभ होने पर उसकी कोई सीमा नहीं रहती। रेंगती हुई मुद्रा स्फीति, अति मुद्रा स्फीति का रूप धारण कर लेती है। इसके फलस्वरूप समस्त अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। डर्नबर्ग तथा मैकडूगल ने अपनी पुस्तक 'Macro Economic' में ठीक ही लिखा है कि ''मंद मुद्रा स्फीति को धीरे-धीरे बढ़कर दौड़ने वाली मुद्रा स्फीति का रूप धारण करने का हमेशा खतरा रहता है। मुद्रा स्फीति की ओर लापरवाह रवैया अपनाना बेवकूफी होगी।''

मुद्रा स्फीति तथा आर्थिक विकास के संबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है। ऐतिहासिक द ष्टिकोण से भी आर्थिक विकास तथा मुद्रा स्फीति का कोई संबंध नहीं रहा है। भारत में प्रथम योजना काल में कीमतें कम होने पर भी आर्थिक विकास सन्तोषजनक रहा। अतः इन तथ्यों से स्पष्ट है कि मुद्रा स्फीति में आर्थिक विकास का होना अनिवार्य नहीं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि गिरती हुई कीमतें आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती हैं।

मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय—यद्यपि मुद्रा स्फीति वैद्य है, परंतु यह आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक द ष्टि से अत्यंत हानिकारक है। इसके राष्ट्र के लिए भयानक परिणाम हो सकते हैं। अतः इसको नियन्त्रण करना अति आवश्यक है। हाद्रे के शब्दों में, ''यदि मुद्रा स्फीति को प्रारंभ में ही पैर जमाने की अनुमति दे दी जाए तो इसके नियन्त्रण से बाहर होने की संभावना रहती है।'' इसको नियंत्रण में करने के निम्न उपाय हैं—

1. **मौद्रिक उपाय**—मुद्रा स्फीति को परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की पूर्ति पर नियंत्रण करके रोका जा सकता है। यद्यपि केन्ज ने मौद्रिक उपायों पर अधिक ध्यान नहीं दिया, परंतु कई आधुनिक अर्थशास्त्री जैसे—मिल्टन फ्रीडमैन, डॉन पैटिंन्कन आदि ने मौद्रिक उपायों के महत्व को फिर से स्वीकार किया है। मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए कुछ महत्वपूर्ण मौद्रिक उपाय निम्न हैं—

(i) **मुद्रा की मात्रा पर नियंत्रण**—मुद्रा स्फीति को रोकने का एक महत्वपूर्ण उपाय मुद्रा की मात्रा पर नियंत्रण करना है। सरकार को केन्द्रिय बैंक द्वारा की जाने वाली मुद्रा निर्गमन पर कड़ा प्रतिबंध लगा देना चाहिए।

(ii) **साख नियंत्रण**—मुद्रा स्फीति को नियमित करने के लिए केन्द्रिय बैंक को साख का संकुचन करना चाहिए। केन्द्रिय बैंक को निम्न प्रकार के उपाय अपनाये जाने चाहिए। बैंक दर में व द्धि, न्यूनतम नकद कोष में व द्धि, प्रतिभूतियों को खुले बाजार में बेचना, साख की राशनिंग, सीमांत आवश्यकता में व द्धि इत्यादि। इसके साथ-साथ केन्द्रिय बैंक देश के अन्य बैंकों को इस प्रकार के निर्देश जारी कर सकता है, जिससे वे साख निर्माण को सीमित कर दें।

(iii) **पुरानी करेन्सी का विमुद्रीकरण**—जब मुद्रा स्फीति खतरनाक अवस्था में पहुंच जाती है तो सरकार पुरानी मुद्रा समाप्त करके नई मुद्रा जारी कर सकती है। सरकार कुछ निश्चित समय में पुरानी मुद्रा की कुछ निश्चित मात्रा को नई मुद्रा में बदलने की अनुमति दे सकती है।

2. **राजकोषीय उपाय**—**प्रो. केन्ज** ने मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए राजकोषीय उपायों को अधिक महत्व दिया हैं प्रो. मुन्डेल ने भी अपने एक लेख में मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए राजकोषीय नीति पर अधिक बल दिया है। मुद्रा स्फीति को दूर करने के लिए निम्न राजकोषीय उपाय अपनाए जा सकते हैं—

(i) **सार्वजनिक व्यय में कमी**—मुद्रा स्फीति का एक मुख्य कारण सरकारी व्यय में होने वाली व द्धि है। सरकार को अपने अनावश्यक व्यय में कमी कर देनी चाहिए।

(ii) **सार्वजनिक ऋणों में व द्धि**—निजी व्यय को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि निजी क्षेत्र में ऋणों के रूप में रुपया एकत्र कर लिया जाए। यह कार्य ऋण पत्रों तथा बॉण्ड्स के माध्यम से किया जा सकता है।

(iii) **पुराने ऋणों को चुकाने में विलंब**—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि जिन ऋणों को चुकाने का समय हो गया है उसे कुछ समय के लिए स्थगित कर देना चाहिए ताकि अतिरिक्त क्रय शक्ति लोगों के हाथ में न आ जाए।

(iv) **करों में व द्धि**—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए सरकार को कुछ नए प्रत्यक्ष कर लगाने चाहिएं और पुराने करों की दर में व द्धि करनी चाहिए। इसमें भी ध्यान रखने वाली बात यह है कि करों का उत्पादन पर कुप्रभाव नहीं होना चाहिए।

(v) **मुद्रा का अतिमूल्यन**—मुद्रा स्फीति के कारणों में हमने यह कहा है कि मुद्रा के अवमूल्यन से मुद्रा स्फीति बढ़ती है। अतः मुद्रा स्फीति को कम करने के लिए मुद्रा का अतिमूल्यन करना चाहिए। इससे आयात बढ़ेंगे और निर्यात कम होंगे।

(vi) **घाटे की वित्त व्यवस्था में कमी**—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए सरकार को घाटे की वित्त व्यवस्था को कम करना चाहिए। इसके लिए सरकार को अनावश्यक खर्च कम करने चाहिएं तथा अपनी आय के साधन बढ़ाने चाहिएं। सरकार को संतुलित बजट बनाने चाहिए।

अन्य उपाय—हम जानते हैं कि प्रभावपूर्ण मांग का पूर्ति की तुलना में अधिक होना मुद्रा स्फीति का एक मुख्य कारण है। अतः प्रभावपूर्ण मांग में कमी तथा उत्पादन अथवा वस्तुओं की पूर्ति में व द्धि निम्न तरीकों से की जा सकती है।

(i) **उत्पादन में व द्धि**—उत्पादन में व द्धि मुद्रा स्फीति को रोकने का एक महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष उपाय है। इसमें ऐसी वस्तुओं का उत्पादन अधिक होना चाहिए जिनकी कीमतों में शीघ्रता से व द्धि होने की संभावना होती है। उत्पादन में व द्धि के लिए सरकार को सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन प्रारंभ करना चाहिए तथा निजी क्षेत्र को औद्योगिक उन्नति के लिए आवश्यक आधारभूत सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए।

(ii) **उचित व्यापारिक नीति**—वस्तुओं की पूर्ति में व द्धि करने के लिए सरकार को उचित व्यापारिक नीति अपनानी चाहिए। इससे अभिप्राय यह है कि ऐसी वस्तुएं जिनकी मांग अधिक है उनके आयात में व द्धि और निर्यात में कमी करनी चाहिए। इस प्रकार की नीति मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण करने के लिए सहायक होती है।

(iii) **उचित निवेश नीति**—मुद्रा स्फीति की अवधि में उन उद्योगों में निवेश की मात्रा में व द्धि की जानी चाहिए जिनमें वस्तुओं

का उत्पादन अल्पकाल में भी काफी अधिक बढ़ाया जा सकता है। ऐसे उद्योगों में निवेश कम करना चाहिए जिनमें उत्पादन की प्राप्ति दीर्घकाल में होती है।

(iv) **कीमत नियंत्रण एवं राशन व्यवस्था**—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए भी यह एक महत्वपूर्ण उपाय है। कीमत नियन्त्रण के कारण उद्योगपति वस्तुओं की कीमतों में मनमानी व द्धि नहीं कर सकते। राशन व्यवस्था से सब उपभोक्ताओं को आवश्यकता के अनुसार वस्तुएं भी प्राप्त हो जाती हैं और उन्हें अधिक कीमतें भी नहीं देनी पड़ती हैं।

(v) **बचत को प्रोत्साहन**—मुद्रा स्फीति की अवधि में सरकार को बचत को प्रोत्साहित करने की योजनाएं बनानी चाहिएं। इसमें सरकार 'अनिवार्य बचत योजना' तथा पांच या दस सालों के इनामी बॉण्ड इत्यादि बेचना प्रारंभ कर सकती है।

(vi) **संयुक्त पूंजी कम्पनियों के लाभ वितरण पर नियंत्रण**—मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण करने का यह भी एक महत्वपूर्ण उपाय है। लाभ वितरण पर नियंत्रण के कारण कंपनी के भागीदारों को कम लाभ प्राप्त होता है। इसलिए वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए उनकी मांग भी कम होती है।

(vii) **उचित मजदूरी नीति**—मजदूरी में अधिक व द्धि भी मुद्रा स्फीति का एक कारण हैं जब मजदूरी में व द्धि की जाती है तो मजदूर लोग अधिक वस्तुओं की मांग करते हैं। वस्तुओं का उत्पादन कम होने के कारण उनकी कीमतें बढ़ जाती हैं। कीमतें बढ़ने से श्रमिक फिर मजदूरी में व द्धि की मांग करते हैं। इस प्रकार कीमतों और मजदूरी में एक दुश्चक्र बन जाता है। इसलिए ऐसी मजदूरी नीति अपनानी चाहिए जिससे मुद्रा स्फीति को प्रोत्साहन न मिले।

अध्याय 18
समानान्तर अर्थव्यवस्था
(Parallel Economy)

आज विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थायें काले धन की समस्या से चिन्तित हैं। यह उनके विकास मार्ग व वांछित लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक हो रहा है। इस समस्या से विकसित, विकासशील और यहाँ तक कि समाजवादी अर्थव्यवस्थायें भी प्रभावित हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार समग्र राष्ट्रीय आय का जापान में 5 प्रतिशत, इंग्लैंड और सोवियत समाजवादी रूस में 10 प्रतिशत इटली और स्वीडन में 15 प्रतिशत तथा संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा में 20 प्रतिशत राशि काले धन के रूप में विद्यमान है। इन आँकड़ों से यह बात पुष्ट होती है कि काले धन की यह समस्या विश्वव्यापी है और यह वैधानिक मौद्रिक व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न कर रही है। काले धन की समस्या का सर्वाधिक कुप्रभाव विकासशील अर्थव्यवस्थाओं पर है। इनमें काले धन की विद्यमानता अधिक होने के कारण सर्वाधिक असुविधा होती है। इससे इन अर्थव्यवस्थाओं की विकास प्रक्रिया बाधित होती है, जबकि त्वरित विकास की दशायें प्राप्त करना इनकी अनिवार्यता है।

काले धन का आशय
(Meaning of Black Money)

अत्यन्त सरल और सामान्य भाषा में यह कहा जा सकता है कि काले धन का सम्बन्ध उसके अवैधानिक अर्जन से है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में काले धन की संरचना में अवैधानिक सौदों, अवैधानिक सम्पत्ति और अवैधानिक आयें सम्मिलित होती हैं। इन संघटक तत्वों को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। माना, किसी वस्तु पर बिक्री कर लगाया गया है जिसके लिये एक निर्धारित छूट की राशि है। यह राशि 4 लाख रुपये के मूल्य की हैं। किसी व्यापारी के कुल विक्रय का मूल्य 10 लाख रुपये है जिसमें से वह केवल 7 लाख रुपये के मूल्य के बिक्री की सूचना बिक्रीकर अधिकारी को देता है। यह अवशिष्ट 3.00 लाख रुपये के मूल्य का सौदा अवैधानिक व काले सौदे की कोटि में होगा। काले धन की अर्थव्यवस्था का दूसरा अति प्रमुख संघटक तत्व अवैधानिक व काली संपत्ति है। इस प्रकार की संपत्ति बिना कर चुकाये एकत्र की जाती है। माना किसी व्यक्ति की सम्पत्ति 4 लाख रुपये के मूल्य की है, परन्तु वह कर अधिकारी के समक्ष 2 लाख रुपये के सम्पत्ति की ही सूचना देता है। इस स्थिति में शेष 2 लाख रुपये की सम्पत्ति अवैधानिक व काली सम्पत्ति के रूप में होगी। इसी प्रकार, माना, आयकर से करमुक्त आय सीमा 40,000 रुपये वार्षिक है। किसी व्यक्ति की वार्षिक आय 70,000 रुपये हैं। यदि वह केवल 60,000 रुपये का आयकर प्रस्ताव आयकर अधिकारियों के समक्ष देता हैं। तब शेष 10,000 रुपये अवैधानिक व काली आय के रूप में हैं।

विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं की भांति भारत में भी अवैधानिक संपत्ति और अवैधानिक सौदों के सम्यक् आंकड़े उपलब्ध नहीं है, यद्यपि उपलब्ध होने चाहिये। इस कारण अवैधानिक, आय को ही काले धन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। काली संपत्ति और काले सौदों की अधिकता अत्यधिक है। इस कारण उनका वास्तविक आकलन अत्यन्त कठिन लगता है। इस सरलीक त परिप्रेक्ष्य में काले धन से आशय उन समस्त आयों से है जिनमें अवैधानिकता का कोई भी अंश पाया जाता है। इस प्रकार की आयें अवैधानिक क्रियाओं यथा, जुआ, तस्करी, सट्टा, काला बाजार, घूस, पगड़ी आदि से सम्बद्ध हो सकती है। इनके अतिरिक्त कुछ आय प्राप्ति की प्रक्रिया में पूर्णतः वैधानिक होती हैं। यथा डाक्टर, वकील, इंजीनियर, सलाहाकार एवं निजी सेवायें प्रदान करने वाले अन्य विशेषज्ञों की सेवाओं की आयें। परन्तु व्यय की प्रक्रिया में इनमें से कुछ लोगों की कुछ आमदनी काले धन का स्वरूप धारण कर लेती हैं जब वे अपनी समस्त आय को आयकर अधिकारियों के समक्ष प्रेषित प्रस्ताव में प्रस्तुत नहीं करते हैं। इसी प्रकार व्यापारी एवं उत्पादक भी कर देने के भय से कर अधिकारियों को अपनी सम्पूर्ण आय का विवरण नहीं प्रस्तुत करते। वैधानिक और नैतिक आधार पर कमाई गयी आय भी काले धन में परिवर्तित हो जाती है, यदि उस आय से कालाबाजारी और तस्करी से कोई वस्तु खरीदी जाती है। सिद्धान्ततः एक वर्ष में अर्जित इन समस्त अवैधानिक आयों का योग अर्थव्यवस्था की वर्ष भर की काली आय कहलाती हैं। इस विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि काले धन को दो रूपों में देखा जा सकता है, **प्रथम** अवैधानिक स्रोतों से कमायी गयी आय और **द्वितीय** वैधानिक स्रोतों से प्राप्त, परन्तु अवैधानिक मदों पर अंशतः व पूर्णतः व्यय की गयी राशि।

काले धन का आकार
(Extent of Black Money)

भारतीय अर्थव्यवस्था काले धन के दुष्परिणामों से अत्यन्त गंभीर रूप से त्रस्त है। यद्यपि भारत में कालेधन की समस्या द्वितीय विश्वयुद्ध के समय से ही विद्यमान है, परन्तु इसकी तीव्रता पिछले 4 दशकों में अत्याधिक बढ़ी हैं। कई वर्ष पहले काले धन की समस्या को 'भूमिगत अर्थव्यवस्था' के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। परन्तु अब यह भूमिगत अर्थव्यवस्था समानान्तर अर्थव्यवस्था के रूप में प्रयुक्त होने लगी है। समानान्तर अर्थव्यवस्था का आशय है समान गति से समान अंतर के साथ समान दिशा में चलती हुयी अवैधानिक आर्थिक गतिविधियां। भारतीय संदर्भ में समानान्तर अर्थव्यवस्था से यह आशय है कि भारत में वैध अर्थव्यवस्था के साथ-साथ एक अवैध अर्थव्यवस्था कार्यरत है। काले धन की यह अवैधानिक आर्थिक क्रिया नियमित अर्थव्यवस्था के अनुरूप कार्य करती है। यह समान रूप से शक्तिशाली है। यह वैध अर्थव्यवस्था से कभी नहीं मिलती है। कभी-कभी तो यह कह दिया जाता है कि इस समानान्तर अर्थव्यवस्था ने सार्वभौम अर्थव्यवस्था के समान रूप धारण कर लिया है क्योंकि इसकी प्रभाविता नियमित क्रियाओं की तुलना से अधिक हैं। काले धन की समस्या नितांत विशिष्ट प्रकार की है। सामान्यतः बेरोजगार, गरीबी, बीमारी आदि के दुष्परिणाम उन्हें ही वहन करने होते हैं जिनका उन पर प्रकोप होता है। परन्तु काले धन की समस्या का दुष्परिणाम उन लोगों को नहीं वहन करना पड़ता जिनके पास काला धन है, बल्कि इसके दुष्परिणाम उन्हें भुगतने पड़ते हैं जिनके पास यह नहीं है। विभिन्न नियम और करभार से अपने को बचाये रखते हुए काले धन के स्वामी विलासितापूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। समाज की और विदेशी कोई भी वस्तु उनके लिये अप्राप्य नहीं है। इनके अतिरिक्त मेहनत, ईमानदारी और नैतिक आधार पर आय अर्जित करने वाले काला धन के स्वामियों के द्वारा उत्पन्न की हुई परिस्थिति के कारण जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं के लिये भी परेशान रहते हैं। जीवनदायी वस्तुओं में भी मिलावट आदि के कहर गरीब जन समुदाय को वहन करना पड़ता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में काले धन की विद्यमानता के विविध अनुमान किये गये हैं। जो अनुमान इस संदर्भ में किए गए हैं, उनके निष्कर्ष प थक्-प थक् हैं और वे परस्पर तुलनीय नहीं हैं। परन्तु इन सब से एक बात यह स्पष्ट होती है कि देश में काले धन की समस्या भयावह है। काले धन के अनुमान की प्रक्रिया में सामान्य रूप से उस वर्ष के राष्ट्रीय आय के आंकड़ों पर ध्यान रखा जाता है। राष्ट्रीय आय के आंकड़ों के संदर्भ में यह अनुमान किया जाता है कि वर्तमान कर-संरचना के परिप्रेक्ष्य में यदि कर अपवंचन न हो तो इसका कितना अंश कर प्रस्ताव में प्रस्तुत किया जाएगा और फिर यह देखा जाता है कि वर्ष में राष्ट्रीय आय का कितना अंश कर प्रस्तावों में आया। इसके लिए राष्ट्रीय आय के आंकड़ों को क षि आय और गैर-क षि आय वर्गों में बांटा जाता है। चूंकि क षि आय कर सीमा से मुक्त है, इसलिए कर योग्य गैर-क षि आयों पर ध्यान दिया जाता है। इसके कई अनुमानों में से कुछ का संदर्भ यहां दिया गया है। डा. डी. के. रंगनेकर ने यह अनुमान लगाया कि 1965-66 में काले धन की मात्रा 2350 करोड़ रुपयें थी। यह 1973-74 में 580 करोड़ रुपये हो गयी। इसके पश्चात् भी यह क्रमशः बढ़ती रही और 1980-81 में 18241 करोड़ रुपये हो गयी।[1] अंतराष्ट्रीय मुद्राकोष ने अनुमान लगाया कि भारत में सकल राष्ट्रीय आय का लगभग 50 प्रतिशत भाग काले धन के रूप में विद्यमान है। चालू कीमतों के आधार पर 1982-83 में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मूल्य 145141 करोड़ रुपये था। इस आधार पर लगभग 72000 करोड़ रुपये काले धन के रूप में था। नेशनल इन्सटीट्यूट ऑफ पब्लिक फिनान्स एन्ड पालिसी, नई दिल्ली से प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 18 से 21 प्रतिशत भाग तक काला धन अर्थव्यवस्था में विद्यमान हैं। इस रिपोर्ट में समानान्तर अर्थव्यवस्थाओं के संघटकों के केवल एक भाग को लिया गया है। तस्करी एवं अन्य अवैधानिक क्रियाओं से स जित काले धन को इसमें नहीं सम्मिलित किया गया है, जबकि इनका मूल्य सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 18 प्रतिशत भाग से अधिक होगा। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्थान का काले धन के लिए किया गया अनुमान अल्प अनुमान का द्योतक है। काले धन का आधार अर्थव्यवस्था में उक्त से अपेक्षाक त अधिक है। यदि अनुमान की सत्यता व काले धन की मात्रा पर ही विशेष ध्यान न दिया जाये तो काले धन की समस्या के विश्लेषण हेतु उक्त इन्स्टीट्यूट द्वारा किए गए काले धन के अनुमान सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 18 प्रतिशत और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के अनुमान सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 50 प्रतिशत सीमा में विद्यमान किसी राशि व प्रतिशत को लिया जा सकता है। इन उच्चतम और निम्नतम सीमाओं के भीतर कोई भी प्रतिशत लिया जाये तो भी यह स्पष्ट है कि भारत में काले धन की मात्रा अत्यधिक है जो जन-सामान्य के लिये कठिनाई उत्पन्न कर रही है। वित्त और काले धन पर संसदीय समिति ने यह अनुमान लगाया कि 1980-81 की कीमतों पर काले धन की मात्रा से 3,00,000 करोड़ रुपये थी और प्रचलित कीमतों पर इसकी मात्रा 11,00,000 करोड़ रुपये थी।

समानान्तर अर्थव्यवस्था का स जन
(Creation of Parallel Economy)

भारतीय अर्थव्यवस्था में काले धन अथवा समानान्तर अर्थव्यवस्था स जन के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। इनमें से किसी एक ने नहीं बल्कि विभिन्न तत्वों ने समन्वित रूप में इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के स जन में योगदान किया है। अतः यहां इन विभिन्न कारणों की व्याख्या आवश्यक है।

कर-वंचन समानान्तर अर्थव्यवस्था के स जन का अति महत्वपूर्ण कारण है। कर-वंचन की समस्या का प्रमुख कारण सामान्य रूप से कर दरों का और विशेष रूप से आयकर और निगमकर की दर का ऊंचा होना है। भारत में प्रत्यक्ष कर की दरें अन्य अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में ऊंची रही हैं। इस कारण उत्पादकों, व्यापारियों एवं विशेषज्ञों की व्यवसायी मनोव त्ति घटती है और दूसरी ओर कर चोरी की प्रेरणा मिलती है। अभी कुछ वर्ष पूर्व 1972-73 तक 2 लाख रुपये से अधिक की आय पर करारोपण की सीमान्त दर 97.75 प्रतिशत रही है। करारोपण की इतनी ऊंची दर पर यह सोचना है कि लोग कर-चोरी न करें अवास्तविक लगता है, यथा किसी ने उक्त वर्ष में 2 लाख रुपये की आय अर्जित और घोषित की है। अब यह वैधानिक माध्यम से 1000 रुपये अतिरिक्त आय अर्जित करता है। इसे घोषित करने पर 977.50 कर के रूप में देने पड़ते थे। अब यदि वह 1000 रुपये अतिरिक्त रखना चाहता है, तब उसके समक्ष दो विकल्प हैं। प्रथम यह है कि 1000 रुपये अर्जित कर आयकर अभिकरण को सूचित न करे और द्वितीय यह है कि वह इतनी आय अर्जित करे कि 97.75 प्रतिशत कर भुगतान करके 1000 रुपये की बचत कर सके तो अत्यन्त कठिन है। अब भी 1995-96 में व्यक्तिगत आयकर की 1.20 लाख रुपये से अधिक की आयों पर कर की सीमान्त दर 40 प्रतिशत है जो अधिक ही कही जायेगा। आयकर, एवं सम्पत्ति कर की, भांति अन्य प्रत्यक्ष करों की भी यही स्थिति है। उत्पादन शुल्क, बिक्री कर और अन्य अप्रत्यक्ष करों की वर्तमान दरें अपेक्षाक त ऊंची है। कर की ऊंची दरें लोगों को कर से बचने के लिए बाध्य कर देती हैं और कर-चोरी की प्रक्रिया में एक बार संलग्न हो जाने पर कर की दर नीची होने के बाद भी व्यक्ति चाहते हुए भी उस दुष्चक्र से नहीं निकल पाता है। ऊंची कर की दर से लोग अपने को ठगा हुआ पाते हैं और यह सोचते हैं कि कर प्रणाली उनके प्रतिकूल कार्य करती है। उनके प्रयास का प्रतिफल अधिक सरकार को और कम उनको मिलता है। वांचू समिति ने इस प्रव त्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया था कि एक सीमा के बाद कर की दर इतनी अधिक ऊंची हो जाती है कि 1000 रुपये कमाने की तुलना में यह श्रेयष्कर हो जाता है कि 30 रुपये की कर से बचत कर ली जाये और जब तक कर की दरें इतनी अधिक ऊंची हैं, तब तक कर वांचन को असामाजिक क्रिया सिद्ध करना कठिन हो जाता है। परिश्रम के प्रतिफल का अधिक से अधिक अपने हित में लाभ प्राप्त कने की इच्छा मनुष्य की प्राक तिक प्रव त्ति है।

समानान्तर अर्थव्यवस्था स जन का दूसरा मुख्य कारण अर्थव्यवस्था में विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति में कमी हो जाना है। समतावादी समाज व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में सरकार का यह प्रयास होता है कि सभी नागरिकों के लिए समान रूप से वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति हो। इस हेतु लोगों के अतिरिक्त उपभोग में कटौती करने के लिए विभिन्न नियामक विधियां अपनाती हैं। विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के सम्यक् वितरण हेतु अभ्यंश निर्धारण एक मुख्य कार्यवाही होती है। परंतु नियंत्रण और नियमन की स्थायी प्रक्रिया ने भारतीय अर्थव्यवस्था में काला धन स जित करने को अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर दिया। कन्ट्रोल व अभ्यंश निर्धारण के पूर्व अनुभव और वर्तमान निष्पादन यह स्पष्ट करते हैं कि काला धन स जित करने में इसकी सहायक भूमिका होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अन्य अर्थव्यवस्थाओं के अनुरूप भारत में भी कन्ट्रोल की प्रक्रिया अपनायी गई। युद्ध समाप्ति के बाद कई अर्थव्यवस्थाओं ने इस प्रक्रिया को समाप्त कर दिया। परन्तु भारत यह प्रक्रिया जारी रही है। गांधीजी ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के तत्काल बाद यह यह चेतावनी दी थी कि यह नीति धोखाधड़ी और काले धन को प्रश्रय देती है। उन्होंने 3 नवम्बर, 1947 को प्रार्थना सभा में यह कहा था कि कन्ट्रोल की नीति धोखाधड़ी, काले धन में व द्धि और क त्रिम दुर्लभता उत्पन्न करने में सहायक होती है। इसके बाद भी गांधीजी के अनुयायी उनको नकारते रहे, जिसके परिणाम आज स्पष्ट हैं। एन. सी. ए. ई. आर. नई दिल्ली के अध्ययन के अनुसार 1965-66 से 1974-75 की अवधि में भारत में केवल 6 वस्तुओं यूरिया, सीमेन्ट, कागज, टायर, वनस्पति तेल और स्टील की कीमतों पर कन्ट्रोल के कारण 840 करोड़ रुपये का काला धन उत्पन्न हुआ। यदि बाजार में कन्ट्रोल की हुई वस्तु दो गुनी व डेढ़ गुनी कीमतों पर बिक रही है तो व्यापारी एक ओर तो अभ्यंश पाने के लिए अधिकारियों को काला धन देता है और दूसरी ओर वस्तु को उचित कीमत की दुकानों पर उपयुक्त कीमतों पर न बेंचकर काले बाजार में बेंचता है। कमी की स्थिति कीमत व द्धि को प्रोत्साहित करती है जिससे पुनः काला बाजारी को प्रश्रय मिलता है।

समानान्तर अर्थव्यवस्था के स जन में वर्तमान राजनीतिक परिवेश और चुनाव ढांचा भी सहायका हो रहा है। लोकसभा चुनावों में वर्तमान नियमों के अनुसार कोई भी प्रत्याशी एक निश्चित राशि से अधिक नहीं व्यय कर सकता है। यह सबको ज्ञात

है कि वर्तमान स्थिति में कोई भी गंभीर प्रत्याशी इस सीमा से अधिक ही व्यय करता है और यह अव्यावहारिक कानून कागज पर ही रखा रह जाता है। यह अुनुमान लगाया जाता है कि कोई भी गम्भीर प्रत्याशी निश्चित राशि से अधिक ही व्यय करता है। इस व्यय की पूर्ति स्वाभाविक रूप से दानकर्ताओं से होती है जो अपनी काली कमाई पुनः अधिक करने की द ष्टि से ही दान करते होंगे। गैर-राजनीतिक लोगों द्वारा चुनावी प्रक्रिया में दान करना, जो वर्तमान नियमों के अधीन अवैध हैं, उनके द ष्टिकोण को स्पष्ट करता है। भला वे लोग जो अपना लाभ बढ़ाने के लिए भोज्य पदार्थों में हानिकारक पदार्थ मिलाकर लोगों के बहुमूल्य जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं, अपंग बनाते हैं, औषधि भी विष बना देते हैं, वे लाभ के बिना दान कैसे करेंगे, मन्दिर कैसे बनवायेंगे, कल्याणकारी कार्य कैसे करंगे? ये दानकर्ता अपने हित-साधन, काले धन के स जन में इन राजनीतिक हस्तियों का प्रयोग करते हैं जो प्रतिफल की द ष्टि से स्वाभाविक भी है। चुनाव-प्रक्रिया महंगी होने के कारण हारे प्रत्याशी पुनः जीतने के लिए और विजयी प्रत्याशी अपना पद बनाये रखने के लिए न चाहते हुए भी काले धन की ओर आक ष्ट होते हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक प्रत्याशी जो निर्धारित राशि से अधिक व्यय कर विजयी होते हैं यह वचन देकर अपना औपचारिक राजनीतिक जीवन आरम्भ करते हैं कि चुनाव प्रक्रिया में समस्त मदों पर उन्होंने कुल निर्धारित राशि से अधिक नहीं व्यय किया है।

समानान्तर अर्थव्यवस्था स जन के कुछ अन्य कारण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें भ्रष्टाचार, तसकरी, लालफीताशाही, घूस एवं राष्ट्रीयता भावना की कमी मुख्य है। व्यापक रूप में इनका संबंध उक्त तत्वों से ही है। हाल के वर्षों में पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण भौतिक वस्तुओं के प्रति लोगों का आकर्षण अधिक बढ़ रहा है। सुख-सुविधा और मनोरंजन की विदेशी वस्तुओं के प्रति बढ़ता आकर्षण काले धन और काला बाजारी की समस्या को नित प्रगाढ़ करता जा रहा है। बढ़ता उपभोगवाद, तदहेतु प्रचार सामग्री और विधियां लोगों की मनोव त्ति को अति उपभोग के लिये प्रेरित करती हैं। विभिन्न निर्माण कार्यों और आपूर्ति प्रक्रिया में ठेकेदारी व्यवस्था एक ओर काले धन को बढ़ाती है और दूसरी ओर निर्माण कार्यों के उचित स्तर तक बन पानें में बाधा होती है। विभिन्न नियामक विधानों की क्रियाशीलता में शिथिलता के कारण भी काले धन की अर्थव्यवस्था नित्य नवीन आयाम से बढ़ती है। यह समानान्तर अर्थव्यवस्था उत्पन्न, उपभोग और विनियोग के समुचित वितरण पर कुप्रभाव डालती है। इस द ष्टि से अर्थव्यवस्था की इस भयानक बुराई के विभिन्न वास्तविक और सम्भावित प्रभावों का विश्लेषण किया जाना चाहिये।

समानान्तर अर्थव्यवस्था का प्रभाव
(Consequences of Parallel Economy)

समानान्तर अर्थव्यवस्था का **प्रथम** और सर्वप्रमुख प्रभाव यह होता है कि इससे सरकार को कर आय की हानि होती है। कर आय सार्वजनिक आय का अति प्रमुख स्रोत है जिसमें कमी होने से सरकार को या तो अपने प्रस्तावित विकास कार्यों में कमी करनी पड़ती है या उसके निमित्त घाटे की वित्त व्यवस्था करनी पड़नी पड़ती है। अत्यन्त औसतीक त कर की दर पर वांचू समिति ने यह अनुमान लगाया था कि 1961-62, 1965-66 और 1968-69 में कर की चोरी से सरकार को क्रमशः 233, 333 और 470 करोड़ रुपये की हानि हुई। कर आय की हानि अब लगभग 1000 करोड़ रुपये वार्षिक हो गयी है। यह अनुमान लगाया जाता है कि पिछले वर्षों में कर आय की जितनी हानि हुई है, उतनी ही राशि घटाने की व्यवस्था द्वारा स जित की गयी हैं। इस घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा द्वारा कीमत व द्धि पर होने वाले प्रभाव स्पष्ट ही हैं। इसके अतिरिक्त समानान्तर अर्थव्यवस्था की नकारात्मक भूमिका को घटाने के लिए कर वसूलने की प्रक्रिया में सरकार को अत्यधिक समय और शक्ति लगानी पड़ती है।

दूसरे, समानान्तर अर्थव्यवस्था की क्रियाशीलता के कारण अर्थव्यवस्था की वास्तविक स्थिति की जानकारी नहीं हो पाती है। इससे अर्थव्यवस्था में उत्पादन, बचत व पूंजी निर्माण के सम्यक् अनुमान नहीं मिल पाते हैं। इसके कारण बचत स्तर और बचत दर के ठीक अनुमान नहीं हो पाते हैं। समानान्तर अर्थव्यवस्था की क्रियाशीलता के कारण घोषित सकल राष्ट्रीय उत्पाद की तुलना में वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पाद अधिक होता है। इस कारण बचत राशि का वास्तविक बचत की तुलना में कम होना स्वाभाविक है। आंकड़ों के अनुसार भारत में बचत दर में उत्तरोत्तर व द्धि हुई है। यदि यह सत्य है कि अर्थव्यवस्था में समानान्तर अर्थव्यवस्था की व द्धि दर अपेक्षाक त अधिक रही है, तब बचत व द्धि की उपर्युक्त दर भी संदेहास्पद हो जाती है।

तीसरे, समानान्तर अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया देश में आर्थिक समानता के नियम को भी नकार देती है। यह असमानता और धन के केन्द्रीयकरण को बढ़ावा देती है। कर-वंचन की प्रक्रिया वेतनभोगी कर्मचारियों की तुलना में स्वरोजगार वाले सम्पन्न

लोगों यथा, उद्योगपति, व्यापारी, निर्माण ठेकेदार, वकील, डाक्टर, पूंजीपति आदि में अधिक होती है। इनके अतिरिक्त फिल्म निर्माता और कलाकार भी इस प्रक्रिया में अग्रणी होते हैं। इस प्रक्रिया के कारण पहले से सम्पन्न लोग अधिक सम्पन्न होते जाते हैं और दूसरी ओर गरीब अधिक गरीब होते जाते हैं। भारतीय अनुभव में यह तथ्य स्पष्ट रहा है कि जहां अमीरी बढ़ी है, वहीं गरीबी भी बढ़ी है। अंततः काले धन की प्रक्रिया समाज में स्फीति, अव्यवस्था और अवांछित क्रियाओं को बढ़ावा देती है।

काले धन का अधिकांश भाग विलासी उपभोग सामग्री पर व्यय होता है जिससे धन वस्तुओं के निर्माण के प्रति उत्पादकों का ध्यान नहीं जाता है जिसे जनसामान्य उपभोग करते हैं। आज बाजार में विशिष्ट उपभोग वस्तुओं टी. वी., कैमरे, वी सी. आर. , रेडियो, अच्छे कपड़े, बहुमूल्य फर्नीचर, प्रसाधन सामग्री की प्रचुरता है। इनसे बाजार भरा है। दूसरी ओर अनिवार्यताओं की नितांत कमी है। काले धन की कमाई का उपभोग से बचा भाग स्वर्ण, बहुमूल्य धातुयें एवं कीमती पत्थर इत्यादि में व्यय होता है। नगरी में अचल सम्पत्ति, भूमि-भवन खरीदने में इसका सर्वाधिक प्रयोग होता है। सामाजिक उत्सवों में इसका बे-हिसाब प्रयोग होता है। इसके परिणामस्वरूप काले धन की बचत का सम्यक् विनियोग नहीं हो पाता हैं। समाज में व्याप्त अव्यवस्था अपराध व त्ति एवं हिंसा की भावना बढ़ाने में काले धन की असीम और निर्बाध भूमिका होती है। इससे नैतिक मूल्यों और सांस्क तिक परम्पराओं का पतन होता है। इस प्रकार काले धन के उपभोग और प्रयोग की वर्तमान प्रक्रिया नियोजन और विकास में बाधा उत्पन्न करती है।

उपचारात्मक उपाय
(Remedial Measures)

अर्थव्यवस्था में फैले काले धन को समाप्त करने व उसके प्रभाव को कम करने के लिए सरकार ने समय-समय पर विविध प्रयास किये हैं। काले धन की समस्या के समाधान हेतु अपनाये गये माध्यमों में विमुद्रीकरण (1946 और 1978) , स्वैच्छिक घोषणा कार्यक्रम (1951, 1965 और 1975) एवं विशेष धारक बांड (1980-81 और 1981-82) मुख्य रहे हैं। इनके अतिरिक्त काले धन को कम करने की द ष्टि से समय-समय पर छापे, अधिग्रहण और खोज के गंभीर कार्यक्रम चलाये जाते हैं। 1965 के पूर्व काले धन के नियंत्रण हेतु चलाये गये कार्यक्रमों का प्रभाव अत्यन्त कम रहा है। इसके बाद की अवधि में इस दिशा में कुछ विशेष गति और चेतना स जित हुई है। यथा 1964 से 1971 की अवधि में 1418 प्रभावी छापे डाले गये जिससे कुल 7 करोड़ रुपये का काला धन प्राप्त हो सका। 1951 और 1965 के बाद अक्टूबर, 1976 में स्वैच्छिक घोषणा योजना अन्तिम अवसर के रूप में पुनः क्रियान्वित की गयी। इसके परिणाम अधिक उत्साहवर्द्धक रहे हैं। इस योजना में अवैधानिक आय और सम्पत्ति को घोषित करने के लिए तीन महीने का समय दिया गया था और इसके माध्यम से अनुमान से अधिक कुल 1600 करोड़ रुपये की अवैधानिक आय घोषित की गयी। 1978 में जनता सरकार ने 1000 रु. 5000 रु. और 10000 रु. के मूल्य के नोटों के विमुद्रीकरण का क्रान्तिकारी निर्णय लिया। इस प्रयास से अर्थव्यवस्था में 70 करोड़ रुपये की अवैधानिक राशि कम हुई।

काले धन की मात्रा कम करने के लिये फरवरी, 1981 में विशेष धारक बांड (Special Bearer Bond) योजना चलायी। इस योजना में यह व्यवस्था थी कि 3 महीने की अवधि में अपने आय स्रोत को बताये बिना कोई विशेष धारक बांड खरीद सकता था। 10 वर्ष की अवधि के लिए जारी किये गये। इस विशेष धारक बांड पर 2 प्रतिशत ब्याज दर निर्धारित थी। निर्धारित तीन महीने की अवधि में 300 करोड़ रुपये के विशेष धारक बांड बेचे गये, जबकि इसके लिये 1000 करोड़ रुपये के विशेष धारक बांड बेचने का लक्ष्य रखा गया था। बढ़ती लोकप्रियता और योजना के प्रति अनुकूल अनुक्रिया के कारण इस योजना को दिसम्बर, 1981 से पुनः लागू किया गया।

स्वैच्छिक आय घोषणा कार्यक्रम
(Voluntary Disclosure Income Scheme- VDIS)

स्वैच्छिक आय घोषणा कार्यक्रम 1977 में लागू किया गया। इसमें व्यक्तियों और कंपनियों को अपनी आय स्वेच्छापूर्वक घोषित करने और उस पर कर भुगतान करने की व्यवस्था की गयी। इस योजना के अनुसार व्यक्तियों को अपनी घोषित आय पर 30 प्रतिशत और निगमों को घोषित आय पर 35 प्रतिशत कर देना था। इस कार्यक्रम में आय घोषित करने पर 30 प्रतिशत कर देने और न घोषित करने पर 300 प्रतिशत जुर्माना देने की व्यवस्था का व्यापक प्रचार किया गया। यह कार्यक्रम आय घोषणा के पूर्व कार्यक्रमों की तुलना में अधिक सफल रहा है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत 4.66 लाख लोगों ने 33000 करोड़ रुपये आय की घोषणा किया जिस पर 10500 करोड़ रुपये कर के रूप में प्राप्त हुआ। यह उल्लेखनीय है कि स्वैच्छिक घोषणा कार्यक्रम 1951, 1965, 1976 और 1985 में कुल 12635 करोड़ रुपये की आय घोषित की गयी जिस पर लगभग 698 करोड़ रुपये

कर के रूप में प्राप्त हुये थे। निम्नलिखित तालिका 1 से स्पष्ट है कि तुलनात्मक आधार पर यह एक सफल योजना रही है।

तालिका 1

विभिन्न कार्यक्रमों में घोषित आय

कार्यक्रम	घोषित आय	एकत्रित कर
VDS 1951	70.2	10.9
VDS 1965	197.2	50.3
VDS 1976	746.0	249.0
VDS 1985	—	388.0
VDIS 1997	33000	10500.0

Source : Economic Survey, 1997-98

स्वैच्छिक आय घोषणा योजना के वास्तविक निष्पादन पर यदि विचार किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि इसने काले धन की समस्या के एक अत्यन्त छोटे से भाग को प्रभावित किया है। राजस्व और काले धन पर संसदीय समिति (Parliamentary Standing Committee on Public Finance and Black Money) ने यह अनुमान लगाया था कि 1994-95 में काले धन की कुल मात्रा 1980-81 की कीमतों पर लगभग 300000 करोड़ रुपये थी। यदि प्रचलित कीमतों पर अनुमान किया जाये तो काले धन की मात्रा 1100000 करोड़ रुपये थी। इसमें से केवल 33000 करोड़ रुपये की आय का घोषित किया जाना यह स्पष्ट करता है कि अभी अर्थव्यवस्था में काले धन की मात्रा अत्यधिक है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि काले धन की समस्या से मुक्त होने के लिए विभिन्न कार्यक्रम चलाये गये। परन्तु समानान्तर अर्थव्यवस्था के परिणाम में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं हो सकी है। अभी हाल में सरकार ने यह घोषित किया है कि काले धन की समस्या को ध्यान में रखकर प्रत्येक परिवार का सर्वेक्षण किया जायेग। इससे अनुकूल परिणाम मिल सकने की सम्भावना है। समानान्तर अर्थव्यवस्था की समस्या को घटाने के लिए कुछ वैकल्पिक माध्यमों पर विचार किया जा सकता है।

प्रथम, समानान्तर अर्थव्यवस्था के नियन्त्रण के लिये लोगों के द ष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। द्वितीय महायुद्ध के समय जब काले धन की समस्या का आरम्भ हुआ, उस समय इसमें संलग्न लोग स्वयं भी अपने को दोषी मानते थे। आज सबसे दुःखद बात यह है कि समाज के द ष्टिकोण में ही परिवर्तन आ गया है। लोग चोरी-बाजारी, तस्करी से प्राप्त विदेशी वस्तुयें बड़े शान से प्रयोग करते हैं। काले धन के आधार पर बने नव-धनाढ्य बड़े शान से सुख भोग करते हैं। समाज में वे सम्भ्रांत व्यक्ति का स्थान पाने लगे हैं। यह जानते हुये भी कि कतिपय साधारण वेतन क्रम में कार्य करने वाले कर्मचारी, साधारण व्यवसाय करने वाले व्यवसायी और ठेकेदार कहां से चन्द अवधि में अत्यधिक सम्पत्ति अर्जित कर लेते हैं। लोग इनकी चमक-दमक, जो तिरस्कार, घ णा और दंड के योग्य है, से प्रभावित होकर उसे सम्मान देते हैं। यह आवश्यक है कि उन्हें सामाजिक रूप में तिरस्क त किया जाये, ताकि किसी सीमा तक वे हतोत्साहित हों।

दूसरे, करारोपण की विभिन्न दरों में कटौती अपेक्षित है जिससे समाज का निचला व निचला मध्यम वर्ग प्रभावित होता है। विभिन्न प्रत्यक्ष कर की ऊपरी दरों में परिस्थिति के अनुसार कटौती होनी चाहिये। आवश्यकता यह है कि आरोपित दरों का सम्यक् अनुपालन हो।

तीसरे, सर्वाधिक आवश्यकता समाज में उन वस्तुओं और सेवाओं के बड़े पैमाने पर उत्पादन करने की है जो अनिवार्यता से सम्बद्ध है, ताकि इनसे सम्बद्ध कन्ट्रोल और परमिट की व्यवस्था समाप्त की जा सके। तस्करी की प्रक्रिया न्यूनतम सम्भव समय में समाप्त होनी चाहिये और स्थायी सम्पत्ति की व द्धि पर रोक किसी-न-किसी स्तर पर आवश्यक अपेक्षित है। आवश्यकता तो यह है कि एक निश्चित सीमा से अधिक बड़े बनने वाले निजी भवनों पर भी रोक लगायी जाये। इन्हें प्रतिरोधक उपायों की कोटि में रखा जा सकता है। उपचारात्मक द ष्टिकोण से यह सोचा जा सकता है कि विद्यमान काला धन निकालने की स्वैच्छिक घोषणा एवं धारक बांड जैसी कोई नवीन योजना चलायी जाय, ताकि उपलब्ध प्रभूत धनराशि कतिपय उत्पादक परियोजनाओं में प्रयुक्त की जा सके। इसके विलासी उपभोग सामग्री के क्रय में प्रयुक्त होने पर स्फीतिकारी प्रव त्तियाँ बढ़ेंगी और असमानता जन्य सामाजिक तनाव को बल मिलेगा।

अध्याय 19
भारत में औद्योगिक अस्वस्थता
(Industrial Sickness in India)

भारत में उद्योगों में अस्वस्थता की समस्या बहुत गंभीर बन गई है। इसका औद्योगिक क्षेत्र पर ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा है। 1951 में औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम पास करने के पीछे प्रमुख उद्देश्य भारतीय उद्योगों के विकास को इस प्रकार नियमित करना है कि समाजवादी व्यवस्था के लक्ष्य के साथ-साथ तीव्र औद्योगिक विकास सम्भव हो सकें। इसके लिए राष्ट्रीय स्रोतों की अनुकूलतम प्रयोग, बड़े एवं लघु उद्योगों का सन्तुलित विकास और देश के विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों का सन्तुलित वितरण आवश्यक हैं भारत सरकार ने सन् 1985 में रुग्ण औद्योगिक कम्पनी अधिनियम पास किया। इस अधिनियम के अनुसार अस्वस्थ 1971 अस्वस्थ औद्योगिक कम्पनी ऐसी इकाई है (जिसका पंजीकरण कम से कम सात वर्ष पूर्व हो चुका हो।) जिसकी किसी भी वित्तीय वर्ष में सभी वर्षों को मिलाकर हानि उसकी विशुद्ध पूंजी से ज्यादा हो जिसे इसी वित्त वर्ष में और इससे पहले वाले वर्ष में रोकड़ हानि हुई हो। भारत में लघु उद्योगों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएं कच्चे माल से सम्बन्धित, साख से सम्बन्धित, विपणन से सम्बन्धित और प्रशिक्षण सुविधाओं से सम्बन्धित है।

औद्योगिक रूग्णता के कारण (Casues of Industrial Sickness)—

1. **बिजली की कटौती**— बिजली की आपूर्ति कम होने का कारण यह है कि देश में बिजली का उत्पादन आवश्यकता से काफी कम होता है। जिसके फलस्वरूप उद्योगों को विद्युत कटौती का सामना करना पड़ता है। देश में बिजली का उत्पादन आवश्यकता से काफी कम होता है। इसलिए राज्य सरकारों को समय-समय पर बिजली की कटौती करनी पड़ती है। पिछले कई वर्षों से विभिन्न राज्यों में सूखे के कारण बिजली की और ज्यादा कमी रही है जिसकी वजह से बिजली की कटौती इतने नियमित रूप से होती है कि औद्योगिक इकाइयां सामान्य रूप से काम नहीं कर पातीं।
2. **कच्चे माल की कमी**—कच्चे माल की आपूर्ति ठीक समय पर न होने से उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति प्रायः उन उद्योगों के सामने आती है जो आयतित कच्चे माल का उपयोग करते हैं। लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रायः स्थानीय कच्चे माल पर निर्भर रहना पड़ता है। कच्चे माल की आपूर्ति में कमी तथा अनेक समस्याओं के कारण लघु उद्यम अपनी उत्पादन क्षमा का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं। कच्चे माल की आपूर्ति पर प्रायः स्थानीय व्यापारी का आधिपत्य रहता है जो लघु उद्योगों की अनेक शर्तों पर इसकी आपूर्ति करते हैं। कुछ औद्योगिक इकाइयां ऐसे कच्चे माल का उपयोग करती हैं जिनकी आपूर्ति अनियमित हैं। इससे प्रायः उत्पादन सम्बन्धी कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है और औद्योगिक इकाइयों को हानि होती है। ऐसा प्रायः उन इकाइयों में होता है जो आयातित कच्चे माल का इस्तेमाल करती है। परिवहन सुविधाओं की कमी, कच्चे माल की आपूर्ति के क्रम को अस्त-व्यस्त करती है। कच्चे माल की समस्या का बढ़ने का एक कारण बड़े पैमाने के उद्योगों में भारी विस्तार का होना भी है। इन बड़े पैमाने के उद्योगों हेतु कच्चे माल को भारी मात्रा में अपने मिलों में अवशोषित कर लिया है। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी है जिसके फलस्वरूप लघु उद्योगों हेतु कच्चे माल की समस्या बढ़ी है। आज लघु उद्योगों की उत्पादन ढांचे में काफी परिवर्तन आया है। पहले ये उद्योग छोटी-मोटी परम्परागत वस्तुओं का निर्माण करते थे लेकिन अब ये नई वस्तुओं का भी उत्पादन करने लगे हैं जिसके लिए कच्चा माल आयात भी नहीं किया जा सकता है। अतः इस कारण भी कच्चे माल की समस्या उत्पन्न हुई है। 1990 में खाड़ी संकट के कारण खाड़ी क्षेत्र से कच्चे तेल की आपूर्ति अनियमित होने से गुजरात में स्थित अनेक पैट्रो-उद्योग, प्लास्टिक एवं सम्बद्ध उद्योगों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। सरकार ने इस ओर कुछ सकारात्मक कार्य भी किये हैं। हाल में सरकार की उदारीकरण नीति इस समस्या को कम करने में सहायक सिद्ध हुई है। जैसे कच्चे हीरे, स्वर्ण आदि का आयात सरल बनाया गया है जिससे लाखों लघु उद्योग लाभान्वित हुए हैं। लेकिन प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों को चाहिए कि वह कच्चे माल की निरन्तर उपलब्धता बनाए रखने के लिए एक ठोस नीति बनाए।

3. **वित्त एवं साख सम्बन्धी सुविधाओं की कमी**—उद्योगों के पास वित्तीय समस्या होने से भी औद्योगिक रुग्णता बढ़ती है। उद्योगों की स्थापना की अवधि से लेकर माल तैयार करने तक अनेक स्तरों पर वित्तीय साधनों की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी बाजार में मंदी के कारण मांग में भारी कमी हो जाती है और इसके फलस्वरूप बिना बिका माल काफी मात्रा में बचे रहने से औद्योगिक इकाइयों को हानि होती है। ऊंची कीमत वाले उत्पाद जैसे ट्रैक्टरों ट्रकों, बसों, कार इत्यादि की नियमित मांग बहुत कुछ क्रेताओं की साख की सुविधा पर निर्भर होती है।

उद्योगों को भारत जैसे विकासमान राष्ट्रों में भी साख एवं वित्तीय समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आज कुटीर एवं ग्राम्य उद्योगों की स्थिति वित्तीय साधनों और मामलों में और भी अधिक दयनीय है। यद्यपि योजनाकाल के चार दशकों के पश्चात आज साख सुविधा के मामले में काफी सुधार हुआ है। बैंकों की भागीदारी इसमें बढ़ी है। इनके माध्यम से ऋण सुविधा के मामले में काफी विस्तार हुआ है। लेकिन इस क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ वित्तीय साधनों की आपूर्ति काफी कम है। छोटे उद्योगों में ऋण वापसी की समस्या भी उत्पन्न होती है। छोटी-छोटी औद्योगिक इकाईयाँ बैंकों से ऋण लेती हैं और समय पर न लौटा पाने के कारण भी वे अस्वस्थ हो जाती है। पर्याप्त वित्तीय संसाधनों की कमी से उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं। फलस्वरूप उनका उत्पादन कार्य बढ़ती लागतों के अन्तर्गत होता है।

सरकार को लघु उद्यमियों को पर्याप्त साख-सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए सहकारी साख समितियों का विस्तार करना होगा। महाजन साहूकारों की साख नीति पर भी नियंत्रण लगाना होगा, क्योंकि आज भी ये साहूकारी वर्ग एक बड़े भाग में विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में फैले हुए हैं। सरकार ने इस दिशा में प्रभावपूर्ण कदम उठाने के उद्देश्य से पहले सन् 1969 और बाद में 1980 में बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया। आज ये राष्ट्रीयक त बैंक काफी बड़ी मात्रा में इन उद्योगों को ऋण प्रदान करते हैं। इसके अलावा राज्य वित्त निगम भी लघु उद्यमियों को काफी मात्रा में ऋण सुविधा प्रदान करता है। साख सुविधाओं में यद्यपि काफी मात्रा में व द्धि हुई है लेकिन लघु उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति करने में आज भी ये साख संस्थाएं अपर्याप्त एवं अपूर्ण है।

4. **सरकारी नीति**—औद्योगिक अस्वस्था के लिए सरकारी नीतियां भी जिम्मेदार हैं। भारतीय लघु उद्योगों एवं कुटीर उद्योगों में निर्मित वस्तुओं को न केवल बाजार में वरन् अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इस लागत प्रतियोगिता में हमारी वस्तुएं सामना कर पाती हैं। यद्यपि सरकार ने इन उद्योगों को प्रतियोगी बनाने के प्रयास किए नहीं हैं लेकिन शिशु उद्योगों को संरक्षण देना आवश्यक है। क्योंकि इनकी उत्पादन लागत ऊंची रहती है। सूती वस्त्र, जूट उत्पादन की लागत प्रायः उसकी कीमत से भी अधिक रहती है। आर्थिक नीतियों में निरन्तर फेरबदल होने से उद्योग अपने को समायोजित नहीं कर पाते हैं। सरकार के अनियमित परिवर्तन तथा उनकी नीतियों में भी परिवर्तन से इस प्रकार की समस्याएं बहुत से क्षेत्रों में देखने को मिली है। यदि आयत नीति को अचानक उदार बनाया जाय और आयातित वस्तु सस्ती एवं गुणवत्ता में अच्छी है तो इसका घरेलू उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। क्योंकि उनका सामान बिक्री नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए, किसी भी वस्तु के बारे में उदार आयात नीति से उस वस्तु या उसकी स्थानापन्न वस्तुओं का उत्पादन करने वाली ईकाइयों को बहुत नुकसान हो सकता है। यदि आयातित वस्तु सस्ती और आधी किस्म की है तब तो उसके घरेलू उत्पादकों को भारी खतरा हो सकता है। इसी तरह यदि लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित किन्हीं वस्तुओं के उत्पादन के लिए लाइसेन्स उदार भाव से बड़े उद्योग करने वाली लघु स्तर की इकाइयों के ऊपर काफी बुरा प्रभाव पड़ सकता है। और उनमें से कई अस्वस्थ इकाइयों की श्रेणी में आ सकती हैं।

5. **मशीनरी एवं नई तकनीकी की कमी**—पुरानी मशीनरी का प्रयोग करने से भी उद्योगों में रूगण्ता बढ़ी है। भारत में अधिकांश लघु क्षेत्र के उद्योग परम्परागत एवं लघु पुरानी घिसी-पिटी मशीनों का इस्तेमाल करते हैं। जिनकी कार्य क्षमता कम होती है। इन पुरानी मशीनों की मरम्मत आदि में उनकी लागत बढ़ जाती है। जबकि वर्तमान में अनेक राष्ट्रों में लघु क्षेत्रों में आधुनिक तकनीक युक्त मशीनरी का उपयोग होता है जिनकी उत्पादन क्षमता कई गुना अधिक होती है। भारत में कुल उत्पादन का एक बड़ा भाग लघु क्षेत्र के उद्योगों द्वारा होता है और इन उद्योगों के पास मशीनरी एवं नई तकनीकी की भारी कमी है। इसके कारण वस्तु की गुणवत्ता उत्तम नहीं हो पाती है और उत्पादन लागत ऊँची रहती है। लघु उद्योगों में मशीनों की अवधि प्रायः पूर्ण हो चुकी है। इन उद्योगों द्वारा प्राचीन उत्पादन तकनीक का प्रयोग किया जाता है। जबकि आज की तकनीक में कई गुना सुधार हुआ है। उसकी उत्पादकता भी कई गुना बढ़ी है। लेकिन भारतीय लघु उद्योगों तक इस तकनीक का प्रयोग बहुत कम होता है। इस सम्बन्ध में कमी छोटे उद्योगपतियों की भी है। छोटे पैमाने पर उत्पादन

क्षेत्र में कई उद्यमकर्ता सही मशीनों के चुनाव के बारे में तकनीकी परामर्श की जरूरत नहीं समझते और इसलिए उनसे इस बारे में गलती हो सकती है। यदि वे जिन मशीनों को खरीद कर स्थापित करते हैं। वे दोषपूर्ण निकलती है तो उनकी इकाइयों को हानि होती है और अन्ततः वे अस्वस्थ हो जाती है। कभी-कभी उद्यमकर्ता जिस तकनीक को चुनता है वह पुरानी व अनुपयुक्त होती हैं। इस तरह के तकनीक की मदद से होने वाला उत्पादन आधुनिक और उपयुक्त तकनीक की मदद से उत्पादन की तुलना में नीची श्रेणी का होता है। आज इन उद्योगों को नई तकनीक की आवश्यकता है। आधुनिक तकनीक इस्तेमाल करने वाली औद्योगिक इकाइयों की तुलना में पुरानी और अनुपयुक्त तकनीक की मदद से उत्पादन करने वाली इकाइयों को लागत और कीमत की द ष्टि से असुविधा होती है।

6. **व्यावसायिक कुशलता की कमी**—छोटे उद्योगों में व्यावसायिक कुशलताओं की कमी भी पाई जाती है। उत्पादन, विपणन वित्त कर्मचारियों आदि के बारे में गलत निर्णयों से व्यवसाय नष्ट हो सकता है। उदाहरण के लिए माल के स्टॉक का ठीक प्रबन्ध न करना, मशीनों और संयन्त्र के रख-रखाव पर ध्यान न देना, उत्पादित माल की उत्तमता को बनाए रखने की कोशिश न करना आदि उत्पादन के क्षेत्र में कुप्रबन्ध के कुछ उदाहरण हैं। बिक्री बढ़ाने के लिए उपाय न करने और कीमत निर्धारण में भूल करने से विपणन के क्षेत्र में समस्याएं पैदा हो सकती हैं। औद्योगिक अस्वस्थता के ये सबसे बड़े कारण हैं। किसी भी उद्योग एवं व्यवसाय को चलाने के लिए सम्बद्ध क्षेत्र की जानकारी एवं उसमें कुशलता होनी जरूरी है। इसकी कमी की स्थिति में उद्योग का संचालन मितव्ययितापूर्ण नहीं हो पायेगा। साधनों का उपयोग अनुकुशलतम ढंग से भी नहीं हो सकेगा और उद्यमी की अकुशलता से भी उद्योगों में अस्वस्थता पैदा हो सकती है।

   व्यावसायिक कुशलता की कमी से और भी अनेक प्रकार की समस्याएं आती हैं। साधनों का अपव्यय होता है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में साधनों की कमी पहले से ही होती है। ऐसी स्थिति में यदि कोई भी औद्योगिक इकाई अस्वस्थ होकर बन्द हो जाए तो उसमें लगे हुए साधन बेकार हो जाते हैं। यह समस्या उस समय गम्भीर होती है जब अस्वस्थ इकाईयां बहुत बड़ी होती है और उनमें मशीनों और संयंत्र में पूंजी का भारी निवेश होता है। इन इकाईयों का उत्पादन बन्द हो जाने पर पूरे उद्योग का उत्पादन गिर जाता है और कीमती पूंजीगत उपकरण के रूप में उपयोगी बचते फंस जाती हैं।

7. **श्रम समस्याएं**—लघु उद्योगों को अनेक प्रकार की श्रम समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जैसे मजदूरी, वेतन-व द्धि तथा पदोन्नति सम्बन्धी दोषपूर्ण नीतियाँ मानव शक्ति, आयोजन की कमी और खराब औद्योगिक सम्बन्ध। ये समस्याएं औद्योगिक उद्योगकर्मी की अयोग्यताओं के कारण होती है। उनकी तकनीकी जानकारी और व्यावसायिक व द्धि नहीं होती। उन्हें अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं की लागत का अनुमान करना, उत्पादित माल की बिक्री की व्यवस्था करना और व्यवसाय का लेखा रखना नहीं आता। उद्योगों में गंभीर समस्याओं के कारण औद्योगिक शांति भंग होने का खतरा बन जाता है। ऐसी स्थिति में अन्य औद्योगिक इकाइयों से जुड़े हुए श्रम-संघ भी अस्वस्थ इकाई बन्द करने का विरोध करते हैं और व्यापक स्तर पर हड़ताले होती हैं। इससे औद्योगिक वातावरण की शांति भंग होती है जिसके फलस्वरूप अनेक औद्योगिक इकाइयों में उत्पादन का स्तर गिरता है और उन्हें मुनाफों की द ष्टि से नुकसान होता है।

8. **शोध एवं विकास कार्यों की कमी**—औद्योगिक विकास चाहे वह लघु स्तर पर हो या ब हत स्तर पर दोनों का आधार शोध एवं विकास कार्यों की उल्लेखनीय प्रगति होना है। उत्पादकता बढ़ाने, गुणवत्ता सुधारने तथ नवीन तकनीक का विकास शोध कार्यों पर निर्भर करता है। इसके अलावा विकसित राष्ट्रों में उत्पादकता व द्धि का जो प्रयोग आज वह प्रयोशाला में कर रहे हैं, अगले ही वर्ष वह बाजार में आ जाता है। लेकिन भारत में इसे बाजार तक पहुंचने में वर्षों लग जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में उद्योगों एवं प्रयोगशालाओं, अनुसंधानशालाओं के बीच सीधे संपर्क का अभाव होता है।

9. **अन्य समस्याएं**—लघु उद्योगों को मांग से सम्बन्धित समस्याओं का सामना करना पड़ता है। बहुत से उद्योगों के निर्मित माल के लिए मांग की कमी भी उस उद्योग विशेष की रूग्णता के स्तर को बढ़ा देती है। ऊंची कीमत वाली वस्तुओं की मांग प्रायः उच्च वर्ग द्वारा की जाती है। भारत में निम्न वर्ग का बाहुल्य है। जिससे ऊंची कीमत की वस्तुएं खरीदने की कल्पना करना मात्र है। ऊंचे वर्ग के लोग साख एवं वित्तीय सुविधाएं होने पर इन वस्तुओं की मांग अधिक करते हैं लेकिन यदि साख एवं वित्तीय व्यवस्थापन ठीक नहीं हो पाता है तो वे इन वस्तुओं की कम मांग करते हैं। ऐसी स्थिति में उद्योगों का माल बिना बिका रह जाता है। जिससे रूग्णता उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त उद्योगों में स्थापना सम्बन्धी कमजोरी के कारण भी उनकी अस्वस्थता उत्पन्न होती है। यदि उद्योग को ऐसे स्थान पर स्थापित किया जाए जहां पर्याप्त मात्रा

में अवसंरचनात्मक सुविधाएं, जैसे रेलवे, परिवहन संचार, बैंकिंग एवं बीमा कम्पनियां आदि उपलब्ध नहीं हैं तो अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। इससे लागत बढ़ जाती है। बाजार खोजने एवं वहां तक माल पहुंचाने की समस्याएं उत्पन्न होती है।

औद्योगिक अस्वस्थता के सुधार के उपाय–

भारत में औद्योगिक रूग्णता विशेष रूप से उद्योगों की रूग्णता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। इसका देश की आर्थिक उत्पादन प्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़ा है। भारत में प्रत्येक 11 वां लघु उद्योग रूग्णावस्था में है या बीमार है। 1980 के पश्चात इन रूग्ण इकाइयों की संख्या में भारी व द्धि हुई है। लघु उद्योगों को बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि सरकार को नए उद्योग स्थापित करने से पहले रूग्ण उद्योगों की उत्पादकता को बढ़ाकर उन्हें सामान्य स्तर पर ला खड़ा करें। तत्पश्चात् नये उद्योगों की स्थापना करें। नये उद्योगों को स्थापित करने तथा उन्हें ऋण सुविधा उपलब्ध कराने की बजाय यह अधिक बेहतर है कि पुराने रूग्ण पड़े उद्योगों को कम मात्रा में ही वित्तीय सुविधा उपलब्ध कराकर उन्हें रूग्णता से उबारा जाए। भारत सरकार ने लघु उद्योगों के बढ़ते महत्व एवं निर्यात व्यापार में उसके बढ़ते महत्व को देखते हुए इनके विकास हेतु अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किए हैं। सरकार पंचवर्षीय योजनाओं में करोड़ों रुपये लघु उद्योगों पर व्यय करती है। सरकार को ऐसा औद्योगिक वातावरण तैयार करना हो जिसके माध्यम से अस्वस्था इकाईयों को स्वस्थ किया जाए अनुकूल औद्योगिक वातावरण बनाने के लिए वित्तीय संस्थाए सरकार की आर्थिक नीति आदि महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। औद्योगिक अस्वस्थता को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए गए हैं:–

1. **सस्ती दरों पर ऋण देना**–लघु उद्योगों की सबसे प्रमुख समस्या वित्तीय है अतः लघु उद्योगों को अनेक उत्पादन एवं निर्यात दोनों के विस्तार हेतु अनुदान एवं रियायती दरों पर वित्तीय सुविधा प्रदान की जाती है।
2. **तकनीकी विकास करना**–अस्वस्थ उद्योगों के तकनीकी विकास हेतु बहु उद्देश्य तकनीकी संस्थान की स्थापना करनी चाहिए जो अद्यतन तकनीक का विकास करके उसका लाभ उद्योगों तक पहुंचा सके शोध संस्थान एवं उद्योगों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने से इसका उत्पाकदता पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।
3. **कच्चे माल दूर करना**–लघु उद्योगों में कच्चे माल की प्रमुख समस्या है। सरकार को चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की दर पर पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध कराए ताकि ये उत्पादकता बढ़ाने के साथ कम लागत पर उत्पादन करके अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्धा कर सकें। इसके लिए आवश्यक है कि राज्य व्यापार निगमों को चाहिए कि वे लघु उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी को अपने ऊपर लें तथा निर्यात बाजार रणनीति में उनका मार्ग दर्शन करें।
4. **विपणन सम्बन्धी समस्या दूर करना**–सरकार द्वारा सरकारी संगठनों के माध्यम से लघु उद्यमियों को व्यवस्थापकीय प्रशिक्षण द्वारा शुल्क या कम शुल्क की दर पर उपलब्ध कराया जाना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में नई मशीनरी एवं तकनीक का प्रयोग बढ़ जाने से उत्पादकता में व द्धि हुई है जिसके फलस्वरूप विक्रय हेतु प्रतियोगिता बढ़ गई है। इसमें सस्ती एवं उत्तम किस्म की वस्तु हाथ मार लेती हैं।

चूंकि विकासशील राष्ट्रों में लघु उद्योगों की वस्तुएं गुणवत्ता एवं लागत संरचना दोनों द ष्टि से पीछे रहती है। अतः इनके लिए बाजार समस्या उभर कर सामने आई है। हालांकि इसके लिए इन उद्योगों को बाजार का एक बड़ा चार्ज घरेलू क्षेत्रों में उपलब्ध हो जाता है लेकिन इनका कच्चा माल जो बाहर से आयात होता है। उसका भुगतान विदेशी मुद्रा में होता है और जब तक विदेशी मुद्रा का अर्जन नहीं होगा तो पुनः भविष्य में कच्चे माल के आयात की समस्या विदेशी मुद्रा के अभाव में बढ़ जाएगी।

5. **उत्पादन तकनीक में सुधार के लिए कार्य करना**–भारतीय लघु उद्योगपतियों के उत्पादक उत्क ष्ट किस्म के नहीं होते हैं जिससे इनका माल बिक्री से रह जाता है। इनको बड़े उद्योगों का सम्मान करना पड़ता है। बड़े उद्योगों से इनकी प्रतियोगिता के दुष्प्रभाव से बचने के लिए सरकार ने अनेक वस्तुओं के उत्पादन को केवल लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित किया है सरकार को चाहिए कि वह इस सम्बन्ध में ऐसी टीम बनाए जो लघु उद्योगों को नवीन उत्पादक तकनीक अपनाने हेतु सहायता कर सकें। इन्हें प्रोत्साहित कर सकें। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय आधार पर लघु उद्योगों को जांच एवं प्रयोग सम्बन्धी सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं।
6. **अन्य सुझाव**–बीमार उद्योगों के विकास के लिए भाड़े की दरों से सम्बन्धित रियायतें भी उपलब्ध होनी चाहिए। इसके अलावा लघु उद्योगों को सामान ग हों की सुविधा उचित दरों पर उपलब्ध होनी चाहिए। व्यापार प्रदर्शनियाँ मेले भी व्यापार

विस्तार हेतु वर्तमान समय में उपयोगी बन ही रहे हैं।' अतः इस दिशा में भी प्रयास होने चाहिए। सरकार को चाहिए कि वे लघु उद्योग क्षेत्र के निर्यात को बढ़ाने के लिए इन्हें व्यवसायिक सूचना सम्बन्धी सुविधाएं उपलब्ध कराएं।

औद्योगिक अस्वस्थता के परिणाम निम्न है–

1. **रोजगार के अवसरों की कमी**–औद्योगिक अस्वस्थता से रोजगार के अवसरों में कमी आती है। भारत में रोजगार चाहने वालों की तुलना में रोजगार के अवसर बहुत सीमित हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी औद्योगिक इकाई के बंद हो जाने पर तो मजदूर बेरोजगार होंगे। उन्हें फिर से काम मिलने की गुंजाइश कम ही होगी। यहां पर कार्यशील जनसंख्या का एक बड़ा भाग बेरोजगार रहता है या फिर अद्द श्य बेरोजगारी की स्थिति में होता है। ऐसी स्थिति में जब उद्योगों में अस्वस्थता बढ़ती है तो रोजगार के अवसरों में न केवल कमी होती है वरन् वर्तमान में लगे लोगों की भी छंटनी शुरू हो जाती है। इसका गंभीर परिणाम यह होता है कि श्रमिकों में आक्रोश उत्पन्न होता है जिससे निपटने के लिए सरकार को अन्य उपाय अपनाने पड़ते हैं।
2. **श्रम व पूंजी के बीच संघर्ष**–औद्योगिक अस्वस्थता से श्रम और पूंजी के बीच संघर्ष बढ़ते हैं। कभी-कभी गंभीर क्षेत्र समस्याओं का परिणाम हड़ताल, तालाबंदी और औद्योगिक इकाइयों का समापन होता है। ये संस्थाएं प्रायः श्रम और प्रबन्धकों के बीच मजदूरी, बोनस, मजदूरी की छंटनी या निलम्बन तथा श्रम संघों के बीच आपसी संबंधों के मामलों पर मतभेदों से उत्पन्न होती है। भारत में औद्योगिक रूग्णता निरन्तर बढ़ती जा रही है। रूग्णता के साथ-साथ उनकी ऋणग्रस्तता भी बढ़ती गई है। अस्वस्थ इकाइयों की संख्या में व द्धि होने से श्रमिकों की छंटनी होती है। परिणामतः बेरोजगारी बढ़ने लगती है। बेरोजगार श्रमिक अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए हड़ताल करते हैं। इसके कारण औद्योगिक क्षेत्र में अशान्ति होती है, उत्पादन प्रभावित होता है तथा उद्योगों का ढांचा चरमरा जाता है।
3. **निवेशकर्ता को नुकसान**–औद्योगिक अस्वस्थता से निवेशकर्ताओं को नुकसान होता है। इसमें निराशा फैलती है। निवेशकर्ता निवेश करने से हिचकिचाते हैं। जबकि औद्योगिक विकास की तीव्रता के साथ बढ़ाने के लिए नव प्रवर्तकों को प्रोत्साहित करना आवश्यक होता है क्योंकि ये औद्योगिक क्षेत्र एक मजबूत आधार प्रदान करता है। उद्यमकर्ताओं में व्यापक निराशा के कारण औद्योगिक वातावरण प्रतिकूल होने लगता है, जो अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होता है। अस्वस्थ औद्योगिक ईकाइयों के शेयरों की कीमतें नीचे गिरती हैं और उससे उत्पन्न व्यापक निराशा के वातावरण में सम्पूर्ण शेयर बाजार की स्थिति बिगड़ सकती है, इसके अलावा एक इकाई की असफलता उन दूसरे उद्यमकर्ताओं को हतोत्साहित करती है जो उसकी उद्योग में उत्पादन शुरू करने की योजना बना रहे होते हैं कुल मिलाकर इस प्रकार का औद्योगिक वातावरण औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल नहीं होता।
4. **वित्तीय संस्थाओं को नुकसान**–

अस्वस्थ औद्योगिक इकाइयों के बन्द हो जाने पर उन बैंकों एवं दूसरे वित्तीय संस्थाओं को भारी नुकसान होता है जिन्होंने इन इकाइयों को संयंत्र और मशीनें खरीदने और उत्पादन के लिए कार्यशील पूंजी जुटाने के लिए ऋण दिया होता है। यदि उद्योगों में रूग्णता बढ़ती है तो ऐसी स्थिति में बैंकों का पैसा डूब सकता है क्योंकि अस्वस्थ इकाई इन बैंक ऋणों का भुगतान करने में असमर्थ होती है। यद्यपि बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाएं ऋण वापस न करने वाली औद्योगिक इकाइयों के खिलाफ कानूनी कार्यवाही करती है लेकिन एक तो इसमें समय बहुत लगता है और उधार दिया गया पूरा रूपया वापस नहीं मिलता।

5. **राजस्व का नुकसान**–

केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारें, औद्योगिक इकाई से करों और शुल्कों के रूप में काफी राजस्व प्राप्त करती हैं। अतः औद्योगिक इकाईयों की अस्वस्थता से सरकारों को राजस्व की बड़ी हानि होती है। यदि औद्योगिक वातावरण अनुकूल नहीं होता है और औद्योगिक इकाइयों की रूग्णता बढ़ती है तो वे करों एवं अन्य भुगतान करने में असमर्थ होती है। इसके कारण सरकार को राजस्व की हानि होती है तथा योजना हेतु संसाधनों की कमी होती है।

6. **दूसरी सम्बन्धित इकाईयों को नुकसान**–

बहुत बार एक औद्योगिक इकाई अग्रगामी और पश्चगामी सम्बन्धताओं के द्वारा दूसरी औद्योगिक इकाइयों से जुड़ी है। अतः एक इकाई अस्वस्थ हो जाने पर उसका दूसरी इकाइयों पर प्रतिकूल असर पड़ता है। उदाहरण के लिए कपड़ा उद्योग

कच्चे माल के लिए कपास के उत्पादन पर निर्भर करता है तथा दूसरी ओर निर्यात व्यापार इससे प्रभावित रहता है। यदि कपड़ा मिले घाटे पर चल रही हैं तो कपास का उत्पादन एवं उससे सम्बद्ध लोग इससे प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार लोहा और इस्पात उद्योग का उदाहरण दिया जा सकता है। एक ओर लोहा, कोयला, मैगनीज, चूना आदि खनन उद्योगों से जुड़ा होता है तो दूसरी ओर उसका सम्बन्ध अति इंजीनियरिंग मशीनी औजार, भवन निर्माण रेल परिवहन इत्यादि उद्योगों से होता है। ऐसी स्थिति में लोहा और इस्पात का उत्पादन करने वाला बड़ा कारखाना अस्वस्थ हो जाए तो उसका उपरोक्त उद्योगों पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

लघु उद्योगों के विकास हेतु सरकारी नीतिगत प्रयास—भारतीय औद्योगिक ढांचे में उद्योगों के अस्वस्थ होने की समस्या काफी जटिल है। देश में अस्वस्थ लघु उद्योगों की संख्या एवं उनकी ऋणग्रस्तता में निरन्तर व द्धि हो रही है। औद्योगिक इकाइयों का अस्वस्थ होने का तात्पर्य यह है कि उनकी उत्पादन क्षमता निम्न स्तर पर विद्यमान है जिसका उत्पादकता एवं लागत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अन्तिम प्रभाव यह होता है कि ऊंची लागत एवं घटिया किस्म के कारण इनका उत्पाद विक्रय या निर्यात से वंचित रह जाता है क्योंकि ये उद्योग बाजार प्रतियोगिता का सामना नहीं कर पाते हैं। सरकार ने इस सम्बन्ध में काफी कदम उठाएं हैं। इसके लिए सरकार ने बैंकिंग सेवाओं का विकास किया है तथा सन्तुलित आर्थिक विकास की नीति अपनाई है बैंक एवं बीमा कम्पनियों का राष्ट्र के कोने-कोने में स्थापित होने से उद्योगों को स्थानीय क्षेत्र में स्थापित करने के लिए वित्तीय संसाधनों की कमी नहीं रहती है आज औद्योगिक सुरक्षा के लिए बीमा कम्पनियां हाजिर रहती हैं केन्द्र सरकार के पिछड़े क्षेत्रों एवं प्रांतीय क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना करने के उद्देश्य से अनेक प्रोत्साहित कदम उठाए हैं इन क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना करने वाले उद्यमियों को आयकर तकनीकी आयात तथा अनुदान सम्बन्धि रियायतें प्रदान की गई हैं जैसे इन क्षेत्रों में होटल उद्योग को बढ़ावा देने के लिए इन्हें तरह-तरह की सुविधाएं प्रदान करने की व्यवस्था है। इन क्षेत्रों में स्थापित उद्योगों की स्थापना करने वालें को कच्चे माल के परिवहन व्यय के लिए भी अनुदान देने की सुविधाएं प्रदान करने की व्यवस्था है। लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने ऋण सुविधा सुलभ कराने के लिए 1951 में राज्य वित्त निगम अधिनियम के तहत विभिन्न राज्यों में इन निगमों की स्थापना की। राज्य वित्त निगम का प्रमुख उद्देश्य उन लघु उद्योगों को ऋण सुविधा उपलब्ध कराना है जो वित्त निगम के तहत नहीं आ पाते हैं भारत सरकार अपनी आर्थिक नीति इन अस्वस्थ इकाइयों की स्थिति को ठीक करने के अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाती है। औद्योगिक नीति में प्रतिबन्धों में कमी, आयात नीति में आयत करों की कमी, मौद्रिक नीति में कर सम्बन्धी रियायतें प्रदान करती है।

इसी दिशा में भारत में अप्रैल 1971 में अस्वस्था औद्योगिक इकाइयों की स्थिति को सुधारने के लिए भारतीय औद्योगिक पुनः निर्माण निगम की स्थापना की। यह निगम अस्वस्थ इकाई के लिए निम्न उपाय करती है।

1. बीमार इकाइयों को स्वस्थ करने के लिए अन्य वित्तीय संस्थाएं इन्हें ऋण उपलब्ध कराने हेतु सिफारिशें करना।
2. बीमार औद्योगिक इकाईयों को तकनीकी एवं सलाहकार सेवाएं प्रदान करना।
3. बीमार औद्योगिक इकाइयों को सुलभ एवं कम ब्याज दर पर ऋण सुविधा प्रदान करना।

लघु उद्योगों के विकास हेतु विभिन्न राज्यों की सरकारें तथा केन्द्र सरकार भी प्रत्यक्ष रूप से ऋण सुविधा उपलब्ध कराती है। इसके अलावा सरकार द्वारा इन उद्योगों के विकास हेतु अन्य तरह की सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं जैसे—मशीनरी उपलब्ध कराना, लाइसेंस एवं शेयर्स आदि के वितरण में प्राथमिकता देना आदि। केन्द्र सरकार ने लघु उद्योगों को बढ़ावा देने हेतु पूरे देश में विकास केन्द्र स्थापित करने की दिशा में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। प्रत्येक विकास केन्द्र के अन्तर्गत स्थानीय कच्चे माल की उपलब्धता को देखते हुए छोटे-छोटे अनेक उद्यम स्थापित किए गए हैं लघु उद्योगों के विकास के लिए सहकारी संस्थाएं भी कार्य कर रही हैं। सरकार ने साख समितियों का निर्माण किया है। ये साख समितियां क षि के अलावा लघु उद्योगों को भी साख सुविधाएं प्रदान करती है। इनमें दोनों प्रकार की साख समितियां हैं जो अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों प्रकार की ऋण सुविधा प्रदान करती हैं इसी प्रकार भूमि विकास बैंक द्वारा भी उपलब्ध करवाया जाता है। यद्यपि भूमि विकास बैंक सिंचाई फार्म, यंत्रीकरण, भूमि के पुनर्गठन के लिए ही दीर्घकालीन ऋण देता है लेकिन लघु उद्योगों के लिए भी यह साख सुविधा उपलब्ध कराता है।

उपरोक्त विवेचन से इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में बढ़ती औद्योगिक रूग्णता व उनकी ऋणग्रस्तता से निपटने के लिए वित्तीय संस्थाओं एवं सरकारी नीतियों के अंतर्गत अनेक उपाय किए गए हैं। लेकिन सरकार द्वारा या बैंक द्वारा उपलब्ध किए

जाने वाली सुविधाओं का कुछ गलत प्रयोग भी किया जाता है। बहुत सारे बेईमान उद्यमकर्ता अनेक रियायतें पाने के लिए अपनी औद्योगिक इकाई को अस्वस्था इकाई की श्रेणी में शामिल करने की कोशिश करते हैं। सरकार से आर्थिक अनुदान तथा वित्तीय संस्थाओं की रियायतों का लाभ उठाने के लिए कुछ उद्योगपति अपने उद्योगों का अस्वस्थ न होते हुए भी अस्वस्थ बना देती है। इस स्थिति से निपटने के लिए सरकार द्वारा ठोस उपाय अपनाए जाने चाहिए, उद्योगों पर जिम्मेदारी डालनी चाहिए, सरकार को इन रूग्ण ईकाइयों को आर्थिक सहायता उपलब्ध करने के साथ-साथ इन पर कुछ उत्तरदायित्व भी सौंपे जाने चाहिएं, जैसे उत्पादन क्षमता में व द्धि करना तथा निर्यात व्यापार में हिस्सेदारी करना या उसमें अपना अंश बढ़ाना आदि।

अध्याय 20
मौद्रिक नीति
(Monetrary Policy)

Monetary Policy—''मौद्रिक नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक की उस नियंत्रण नीति से लिया जाता है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक सामान्य आर्थिक नीति से लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से द्रव्य की पूर्ति पर नियंत्रण करता।''

मौद्रिक नीति का अर्थ उन उपायों से है, जो लोगों के व्यय को प्रभावित करने के उद्देश्य से अपनाए जाते हैं तथा जो ब्याज की दर मुद्रा की पूर्ति और साख नियंत्रण के माध्यम से कार्य करते हैं। अर्थात अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा किसी विशेष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के प्रसार तथा संकुचन के प्रबंध को मौद्रिक नीति कहते हैं।

मौद्रिक नीति किसी भी केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उद्देश्य देश में आर्थिक विकास, पूर्ण रोजगार, मूल्य स्थायित्व और विनिमय दर की स्थिरता को बनाए रखना होता है।

इस उद्देश्य को प्राप्त करने की द ष्टि से रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति को 'नियंत्रित विस्तार' की नीति कह सकते हैं। इस नीति का उद्देश्य एक ओर आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्त प्रदान करना है। तो दूसरी ओर विकास व्यय के द्वारा उत्पन्न होने वाली मुद्रा स्फीति पर भी नियंत्रण बनाए रखना है। ताकि मूल्य स्थिरता बनी रह सके। कुछ अर्थशास्त्री इसे स्थिरता सहित विकास की नीति भी कहते हैं। भारतीय मुद्रा बाजार को दो भागों में बांटा जाता है। संगठित और असंगठित बाजार में देशी बैंकर शामिल किए जाते हैं। जो प्राचीन परिपाटी के अनुसार कार्य करते हैं और संगठित मुद्रा बाजार में भारतीय व्यापारिक बैंक व विनिमय बैंक शामिल किए जाते हैं। रिजर्व बैंक इस मुद्रा बाजार का प्रमुख अंग और नेता है।

मौद्रिक नीति 'मुद्रा प्रबंधन' की कला है। मुद्रा के निर्माण तथा वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति के मध्य समयान्तर के कारण सम्पूर्ण अर्थतंत्र, अस्त-व्यस्त हो जाता है। अतः मुद्रा को प्रतिबन्धित किया जाना आवश्यक होता है।

मौद्रिक नीति का अभिप्राय उस नीति से होता है जिसके माध्यम से सरकार द्वारा निर्धारित कुछ सामान्य लक्ष्य प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपलब्ध मौद्रिक उपायों के द्वारा मुद्रा एवं साख की उपलब्धता लागत एवं उपयोग को नियंत्रित किया जाता है।

Acc to Harry G. Johnson, ''मौद्रिक नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक की उस नियंत्रण नीति से है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक सामान्य आर्थिक नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से मुद्रा की पूर्ति पर नियंत्रण करती है।''

"Monetary Policy is a policy employing the Central Banks control of the supply of Money as an instrument for achieving the objectives of general economic Policy."

Acc to पॉल इन्जिग, ''मौद्रिक नीति में वे सब मौद्रिक निर्णय व उपाय चाहे उनके उद्देश्य मौद्रिक हो अथवा अमौद्रिक हो तथा वे सब अमौद्रिक निर्णय सम्मिलित होते हैं जिनका उद्देश्य मौद्रिक नीति पर प्रभाव डालना होता है।''

"Monetary Policy may be defined" as including all monetary decision and measures respective of whether their aims are monetary or Non-Monetary and all Non-Monetary decisions and measures that aim at affecting Monetary system."

इस प्रकार ''मौद्रिक नीति का तात्पर्य उस नीति से है जिनके द्वारा एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के प्रसार एवं संकुचन की व्यवस्था की जाती है।'' मौद्रिक नीति मुद्रा की मात्रा, साख की मात्रा एवं ब्याज की दर परिवर्तन अथवा दिशान्तरण की वह नीति है जिसे किसी देश के मौद्रिक अधिकारी एवं पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालित करते हैं। भारतीय मौद्रिक नीति के निर्धारण में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि वह स्थिरता को बनाए हुए आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्राप्त कर सके।

पिछली शताब्दी में रिजर्व बैंक ने उन सब शास्त्रों का प्रयोग किया जो एक बैंकिंग सत्ता को प्राप्त होते हैं। जैसे गुणात्मक, परिणात्मक, नियंत्रण एवं नैतिक अनुनय। यह आवश्यक है कि किसी विशेष अवधि में जैसी परिस्थिति रही हो उनके अनुसार किसी विशेष शस्त्र के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया।

मौद्रिक नीति की अवधारणा अत्याधिक प्राचीन नहीं है बल्कि विश्व के देशों में इसका प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध के पश्चात ही प्रारम्भ हुआ।

स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात तथा 'तीसा' की महान मन्दी के समय से लेकर द्वितीय महायुद्ध तक मौद्रिक नीति का प्रयोग 'सस्ती मुद्रा नीति' (Cheap Money policy) के रूप में किया जाता रहा है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात विश्व के सभी देशों में मौद्रिक नीति का उपयोग आंतरिक आर्थिक स्थिरता, विदेशी विनिमय देश में स्थायित्व पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक विकास आदि के लिए किया जा रहा है। क्योंकि अधिकांश देशों में युद्धकाल में मुद्रा की भाषा में व द्धि हो जाने के कारण मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसे सुलझाना व आर्थिक स्तर में स्थिरता लाना आवश्यक था रिजर्व बैंक मौद्रिक उपकरणों में उद्देश्यपूर्ण परिवर्तन लाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों को लाने के पीछे कुछ कारण होते हैं। उन्हीं कारणों को हम मौद्रिक नीति के लक्ष्य कहते हैं।

ये लक्ष्य समय-समय पर बदलते चले गए हैं जैसे विनिमय स्थिरता, कीमत स्थिरता पूर्ण रोजगार आदि। वर्तमान समय में संतुलित आर्थिक विकास को संभव बनाने तथा नवीन आर्थिक सुधारों की अपनाने में मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार वर्तमान समय में मौद्रिक नीति को विश्व के सभी देशों की अर्थव्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अनुसार, ''मौद्रिक नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा अपने अधीन आर्थिक उपकरणों को इस प्रकार संचालित किया जाता है कि मुद्रा एवं साख की मात्रा की उपलब्धता लागत एवं उपयोग को प्रभावित किया जा सके। ताकि उत्पादन एवं रोजगार के ईष्टतम् लक्ष्य की प्राप्ति हो सके, कीमतों में स्थिरता लायी जा सके, भुगतान शेष को संतुलित किया जा सके अथवा राज्य द्वारा निर्धारित किसी अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके।''

"Monetary Policy refers to the use of official Instruments under the control of the Central Bank to regulate the availability of cost and use of Money and credit with the aim of achieving optimum level of output and employment, Price stability, balance of Payment equilibrium or any other goals set by the state."

मौद्रिक नीति की आवश्यकता और उद्देश्य—पहले अर्थव्यवस्था में स्वर्णमान संचालन था बाद में उसका परित्याग कर दिया गया। वर्तमान समय में सभी देशों में मौद्रिक नीति को आर्थिक सुधारों तथा आर्थिक स्थायित्व एवं सन्तुलित आर्थिक विकास को सम्भव बनाने का एक प्रमुख साधन समझा गया है।

इस प्रकार वर्तमान युग में मौद्रिक नीति को संसार के सभी देशों की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के अनेक कारण है। इस प्रकार की मौद्रिक तथा बैंकिंग विनियोग मौद्रिक नीति के ही रूप है। क्योंकि इन समस्त विनियोगों का लक्ष्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल उपलब्ध मात्रा को कम अथवा अधिक करके तथा इसकी विनियोग कर्ताओं के लिए महंगी सस्ती बना कर अर्थव्यवस्था में किसी निश्चित आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विनिमय करना होता है। तेजी व मन्दी में मुद्रा के मूल्य में महान् परिवर्तन होता है मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से व्यापार और व्यवसाय पर बहुत बुरा असर पड़ता है। कीमतों में परिवर्तन करके मुद्रा बाजार में महान् उथल-पुथल मचा देती है।

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का अन्तर समाज के सभी लोगों तथा सरकार पर भी पड़ता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का असर बहुत ही दुखदायी होता है।

मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के बुरे नतीजों से बचने के लिए ही मौद्रिक नीति की जरूरत पड़ती है। मौद्रिक नीति का उद्देश्य क्या होना चाहिए? इस विषय में बहुत मतभेद रहा है तथा समय-समय पर प थक्-प थक् उद्देश्यों को महत्व दिया गया है।

स्वर्णमान के प्रचलन के समय मौद्रिक नीति का उद्देश्य मुद्रा की बाह्य स्थिरता को प्राप्त करना ही मौद्रिक नीति का उद्देश्य समझा जाता है। परन्तु जब से अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रचलन हुआ है। तब से अर्थव्यवस्था में आन्तरिक स्थिरता को प्राप्त

करना ही मौद्रिक नीति का उद्देश्य समझा गया।

मौद्रिक नीति के द्वारा सरकार देशों में मुद्रा की मात्रा निश्चित करती है। मुद्रा की मात्रा में मुद्रा प्रसार और संकुचन की स्थिति आती है।

किसी देश की मौद्रिक नीति दो बातों से स्पष्ट करती है। एक मौद्रिक नीति का निर्धारण करते समय मुद्रा अधिकारियों के समक्ष कोई निश्चित मौद्रिक एवं आर्थिक उद्देश्य होना चाहिए। दूसरे इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निरंतर प्रचलन में मुद्रा की मात्रा को नियंत्रित करने वाले यन्त्रों एवं उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

ये यंत्र तथा उपाय परिणात्मक एवं गुणात्मक दो प्रकार के होते हैं इनका प्रयोग आवश्यकतानुसार एक साथ तथा अलग-अलग भी किया जा सकता है। परिणात्मक उपायों के अन्तर्गत बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियायें सम्मिलित हैं तथा गुणात्मक उपायों में बैंक की न्यूनतम नकद विधि के अनुपात निश्चित करना, साख मुद्रा की राशनिंग, प्रत्यक्ष कार्यवाही, प्रतिभूति ऋणों की आवश्यकता सीमा निर्धारित करना आदि शामिल है। मौद्रिक नीति के निम्न उद्देश्य होते हैं:—

1. **विनिमय स्थिरता**—मौद्रिक नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व लाना भी होता है। स्वर्णमान देशों की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य विनिमय दर में स्थिरता बनाए रखना ही था। किसी भी देश को अपनी मुद्रा की विदेशी मुद्रा में विनिमय दर स्थिर रखना आर्थिक द ष्टि से अनिवार्य होता है।

देश की मुद्रा की दूसरे राष्ट्रों की मुद्रा में विनिमय दर, उसका बाह्य मूल्य (External Value) और राष्ट्र में ही कीमतों का सामान्य स्तर मुद्रा का आन्तरिक मूल्य (Internal Value) कहलाता है। इन दोनों मूल्यों के सामंजस्य के लिए मौद्रिक नीति आवश्यक होती है। विनिमय स्थिरता के कारण ही स्वर्णमान में अनेक दोष होते हुए भी विश्व के लगभग सभी देश में इसे अपनाया था।

स्वर्णमान के अन्तर्गत कोई भी देश स्वतंत्र रूप से आंतरिक कीमत स्थिरता प्रेरित मौद्रिक नीति का अनुसरण नहीं कर सकता था किन्तु स्वर्णमान के पतन के पश्चात आंतरिक कीमत-स्थिरता सम्बन्धी मौद्रिक नीति का महत्व अत्याधिक बढ़ गया तथा आंतरिक कीमत स्थिरता की मौद्रिक नीति के उद्देश्य के रूप में प्रधानता दी जाने लगी।

विनिमय स्थिरता लाने के लिए लोचपूर्ण विनिमय दर प्रणाली ही मौद्रिक नीति का आधार हो सकती है। लोचपूर्ण विनिमय दर प्रणाली वह है जो आसानी से व्यवस्थित हो सके और हालातों के परिवर्तन के फलस्वरूप जिसमें आसानी से सामंजस्य लाया जा सके। हमेशा बदलने वाली विनिमय दर भी लोचपूर्ण होती है।

अतः लोचपूर्ण विनिमय दर को प्रतिबन्धित लोचपूर्णता कहना ही ज्यादा ठीक है। संतुलित विनिमय दर की स्थापना के लिए विनिमय बाजार में मांग तथा पूर्ति की शक्तियों को स्वतंत्र रूप से काम करने देना चाहिए। लेकिन ऐसी हालात में मांग और पूर्ति के अल्पकालीन प्रभावों के कारण विनिमय दर में हमेशा परिवर्तन होते रहेंगे।

अतः संतुलित विनिमय दर की प्राप्ति कभी भी नहीं होगी। पूरे विश्व में आर्थिक मन्दी का दौर आया था मन्दी का दौर आने के बाद मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय स्थिरता के स्थान पर मूल्य-स्थिरता हो रहा है।

वस्तुतः विनिमय दरों में अस्थिरता की समस्या विश्व के विभिन्न देशों में मूल्यों में परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुई है और जब तक सभी देशों में मूल्य स्थिर रहते हैं। तब तक विनिमय दरों में परिवर्तनों की कोई संभावना नहीं होती।

स्वर्णमान के अंतर्गत संसार के विभिन्न देशों की चलन इकाइयों का मूल्य शुद्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा के रूप में निर्धारित कर दिया जाता है तथा प्रत्येक स्वर्णमान देश की सरकार इस निर्धारित मूल्य पर सोने का असीमित मात्रा में क्रय-विक्रय करने को बाध्य होती थी इन दोनों बातों के परिणामस्वरूप स्वर्णमान देशों की चलन इकाईयों के बीच एक स्थायी विनिमय दर परस्पर संबंध स्थापित हो जाता है।

विदेशी विनिमय की अस्थिरता होने पर देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।

इस प्रकार विनिमय दर को स्थायी बनाए रखना वांछनीय हो जाता है। यह नीति उन देशों के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है। जो विशेषकर विदेशी व्यापार पर निर्भर होते हैं तथा जिनकी अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह नीति उन देशों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होती है जो अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूंजी पर निर्भर करते हैं। अतः विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व बनाए रखना अत्यधिक लाभप्रद हैं।

(1) यदि किसी देश की विनिमय दर अस्थिर होती रहती है। तो इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ता है। पूंजी की गतिशीलता तथा भुगतान संतुलन के लिए विनिमय स्थिरता आवश्यक है। इसके लिए यदि मूल्य स्थिरता का थोड़ा त्याग ही करना पड़े तो उचित है क्योंकि मूल्य-अस्थिरता का प्रभाव केवल एक देश तक सीमित रहता है।

(2) विनिमय स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए वांछनीय है। स्थिर विनिमय दरें संतुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास एवं अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों के प्रवाह के लिए अपेक्षित होती है।

2. **आर्थिक स्थिरता**—मुद्रा की पूर्ति की स्थिति के जरिए उचित मौद्रिक नीति, समाज के उपभोग के स्तर को प्रभावित किए बिना, उत्पादन की संभावनाओं का पता लगा सकती है। मुद्रा अधिकारी बिना तेजी के खतरे को निमंत्रित किए ही नई मुद्रा द्वारा वास्तविक और भावी उत्पादन के साधनों का विकास कर सकते हैं। क्योंकि मुद्रा की व द्धि उत्पादन की व द्धि के बराबर हो जाएगी। अतः मौद्रिक नीति का उद्देश्य देश के अन्दर आर्थिक स्थिरता लाना है। वर्तमान समय में संसार के अधिकांश देशों में मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर आर्थिक स्थायित्व तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है। इन दोनों ने पूर्ण रोजगार की अपेक्षा आर्थिक विकास को मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य बनाना सही अर्थ में कल्याणकारी राज्य की स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है क्योंकि लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए अर्थव्यवस्था में माना पूर्ण रोजगार को संभव बनाना ही पर्याप्त नहीं है। बल्कि अर्थव्यवस्था का तीव्र गति से आर्थिक विकास करना अनिवार्य है। इस समय सभी अर्द्धविकसित तथा विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देश तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील है। इन सभी देशों की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है।

3. **कीमत स्थिरता**—कीमत में स्थिरता लाना मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य होता है। कीमत स्तर में परिवर्तनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। अतः कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार कीमत स्तर में स्थिरता लाना ही मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

केन्स तथा कैसल ने इस मत का समर्थन किया है। इन लोगों के अनुसार मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य कीमत स्तर में स्थिरता बनाए रखना होना चाहिए। क्योंकि कीमत स्तर में अस्थिरता के कारण मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न होती है। जिससे देश में सामाजिक अन्याय तथा आर्थिक एवं राजनैतिक अशांति फैलाती है। अतः मौद्रिक नीति का सर्वोत्तम उद्देश्य कीमत स्तर में स्थिरता लाना ही होना चाहिए। अर्थशास्त्रियों ने कीमतों में स्थिरता लाने के लिए दो उपाय बताये हैं— 1. मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखना। 2. मौद्रिक व्यय की मात्रा को स्थिर रखना।

लेकिन मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखने से कीमतों में स्थिरता नहीं आ सकती मुद्रा की मात्रा को व्यापार तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं के मुताबिक घटाना-बढ़ाना जरूरी है। अतः मौद्रिक व्यय की मात्रा को ही स्थिर रखा जा सकता है।

अर्थव्यवस्था में मूल्य अस्थिरता नुकसानदायक है। मूल्य-अस्थिरता उत्पादन एवं वितरण के क्षेत्र में गंभीर समस्याओं को जन्म देती है। जिसका समाधान मूल्य स्थिरता ही है। मुद्रा स्फीति जनकल्याण के लिए हानिकारक है जबकि मुद्रा संकुचन बेरोजगारी उत्पन्न करती है। मूल्य स्थिरता इन समस्याओं का उपयुक्त समाधान है। मूल्य अस्थिरता देश के आन्तरिक तथा अन्य देशों के साथ आर्थिक संबंधी पर बुरा प्रभाव डालती है। अस्थिरता व्यापार चक्रों को जन्म देती है। आर्थिक विकास के लिए मूल्य स्थिरता का विशेष महत्व है।

इससे जनता का मनोबल ऊंचा होता है तथा मुद्रा अर्थ के संचय तथा भावी भुगतान के साधन के रूप में अपनी सही भूमिका का निर्वाह कर सकती है। मूल्य स्थिरता में राष्ट्रीय आय के समान वितरण में सहायता मिलती है। मूल्य स्थिरता का देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान है।

इस संबंध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री Keynes का कहना है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय स्थिरता की प्राप्ति के स्थान पर मूल्य स्थिरता की प्राप्ति होनी चाहिए क्योंकि विनिमय स्थिरता की नीति के अन्तर्गत उत्पन्न आन्तरिक मूल्यों की अस्थिरता स्फीति और अस्फीति की गम्भीर समस्याओं को जन्म देती है। स्फीति की घटना श्रमिकों और उपभोक्ताओं के लिए आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न कर देती है तथा अवस्फीति की घटना विनियोगी एवं उत्पादक वर्ग के लिए हानिप्रद सिद्ध होती है। इससे भी अधिक भयंकर परिणाम मूल्य अस्थिरता की संचयी प्रक ति के कारण होता है। क्योंकि मूल्य अस्थिरता एक बार उत्पन्न होने पर प्रतिदिन बढ़ती चली जाती है। जिसे कुछ समय बाद रोकना बहुत कठिन हो जाता है। इस स्थिति से देश की

अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए मौद्रिक नीति का उद्देश्य मूल्य स्थिरता होना चाहिए। कीमतों में भारी कमी और व द्धि होने से देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य धीरे-धीरे बढ़ने वाला कीमत स्तर होना चाहिए। क्योंकि कीमत स्तर में स्थिरता बनाए रखना कठिन कार्य है तथा वर्तमान समय के लिए अनुपयोगी है। विदेशी विनिमय दर की स्थिरता प्रदान करने की नीति तथा कीमत स्तर में स्थिरता बनाए रखने की नीति आपस में परस्पर विरोधी है। तथा दोनों को एक साथ क्रियान्वित करना कठिन होता है। अर्थात् दोनों में से एक ही स्थिर रखा जा सकता है। विदेशी विनिमय दर में स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं मौद्रिक सहयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास के लिए अति आवश्यक है। विदेशी विनिमय दर में अत्यधिक परिवर्तन देश की अर्थव्यवस्था के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। विनिमय दरों के उच्चावचन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संबंधों के विकास हेतु घातक सिद्ध होते हैं कीमत स्तर को निर्धारित करने में कठिनाई आती है। यह निश्चित करना मुश्किल होता है कि किन-किन वस्तुओं की कीमतों में स्थिरता रखी जाए। उपभोग वस्तुओं और उत्पादक वस्तुओं को थोक कीमतों तथा फुटकर कीमतों को इससे एक अन्य महत्वपूर्ण समस्या प्रस्तुत होती है कि सामान्य कीमत स्तर में स्थिरता कोई अर्थ ही नहीं है। जब तक कि कीमतों में सापेक्षिक स्थिरता न हो। अर्थशास्त्रियों का मानना है कि कीमत-स्तर के सभी परिवर्तनों का प्रभाव बुरा नहीं होता कुछ परिवर्तन सुधारक होते हैं। जिनसे देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न होती है। इस संदर्भ में हेयक का कथन है कि ''मौद्रिक नीति के लिए औसत कीमत स्तर में परिवर्तन की अपेक्षा सापेक्षिक कीमत स्तर में परिवर्तन अधिक महत्वपूर्ण है।''

कुछ अर्थशास्त्री इस विचारधारा के भी केवल कीमत स्थिरता की मौद्रिक नीति को अपना कर तेजी तथा मन्दी की घटनाएं पहले के समान अब भी समाज के लिए आर्थिक कठिनाइयों के उत्पन्न होने के कारण बनी हुई हैं।

गत छः अथवा आठ वर्षों में संसार के विभिन्न देशों में विशेषकर अमरीका में फेडराल रिजर्व बैंक ने कीमत स्थिरता की नीति के समर्थकों के उपदेश का पालन किया है तथा साख मुद्रा निर्माण के द्वारा मन्दी को समाप्त करने का प्रयास किया है तथा साख मुद्रा निर्माण के द्वारा मन्दी को समाप्त करने का प्रयास किया है। किन्तु इसका परिणाम केवल यह हुआ है कि मन्दी समाप्त होने के स्थान पर और अधिक समय तक कायम रही है। इस नीति को अपनाने के कारण अधिक हानि हो चुकी है। इस सन्दर्भ में Keynes का विचार है कि 'पूर्ण रोजगार बिन्दु से पूर्व तो कीमत स्थिरता होनी ही नहीं चाहिए।'

इस प्रकार पूर्ण रोजगार की स्थिति तक पहुंचने के लिए थोड़ी सी कीमत व द्धि आवश्यक होती है। ऐसा न होने पर पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना असम्भव है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मूल्य अस्थिरता की धारण अस्पष्ट धारणा है। यह निश्चिय करना असम्भव है कि मूल्यों को किस स्तर पर स्थिर रखा जाए। मूल्य स्थिरता विनियोग एवं उत्पादक क्रियाओं की प्रेरणा को कम करती है तथा सफल एवं गतिशील मूल्य संरचना के लिए मूल्य परिवर्तन आवश्यक होते हैं। यदि तकनीकी विकास के कारण उत्पत्ति लागत कम हो रही है। तो मूल्य स्थिरता की नीति हानिकारक सिद्ध होती है। अर्थशास्त्रियों का विचार है कि बाजार में मूल्य स्थिरता के स्थान पर कीमतों में उतारचढ़ाव धीरे-धीरे होता है। तो इससे अनेक लाभ होते हैं। इससे मन्दी व बेरोजगारी को रोका जा सकता है तथा इससे मुद्रा संकुचन का भी भय भी समाप्त हो जाता है। यह नीति पूंजी निर्माण में सहायक होती है। इस नीति से आर्थिक विकास की दर को तीव्र करने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त अधिक उत्पादन तथा उपभोग के द्वारा आर्थिक कल्याण में व द्धि होती है।

4. **तटस्थ मुद्रा नीति**—तटस्थ मुद्रा नीति इस मान्यता पर आधारित है कि मुद्रा के परिणाम में होने वाले परिवर्तन ही आर्थिक जीवन में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर देते हैं। अतएव यदि मुद्रा को तटस्थ रखा जाए तो आर्थिक जीवन में होने वाली अस्त-व्यस्तता को समाप्त किया जा सकता है। तटस्थ मुद्रा नीति का अर्थ केवल यह है कि आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मुद्रा को साधन के रूप में प्रयोग न करके उसे स्वयं मांग और पूर्ति के सन्तुलन हेतु स्वतंत्र छोड़ दिया जाए। मुद्रा एवं साख का नियमन का कार्य मौद्रिक नीति के अन्तर्गत नहीं किया जाना चाहिए। इस मुद्रा नीति के समर्थक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री Hayck है। उनके अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य तटस्थ मुद्रा की नीति होनी चाहिए।

तटस्थ मुद्रा का अर्थ यह है कि मुद्रा का प्रभाव आर्थिक स्थिति पर न पड़े। इस तरह मुद्रा का कोई प्रभाव कीमत स्तर पर भी नहीं पड़ना चाहिए। इससे व्यापार-चक्र का वेग बिल्कुल रूक जाता है। तटस्थ मुद्रा में बचत और उनमें तेजी और मन्दी के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता बचत और विनियोग को बराबर करने के लिए ब्याज दर को साम्य बिन्दु पर रखना जरूरी होता है। अतः मुद्रा नीति के मुताबिक वस्तुओं की पूर्ति में परिवर्तन होने की दशा में भी मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

इस नीति के समर्थकों का मत है कि मौद्रिक अर्थव्यवस्था में वस्तुओं का क्रय-विक्रय प्रत्यक्ष रूप में अर्थात् वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था के समान हो, परन्तु वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को दूर करते हुए होना चाहिए ताकि मुद्रा के परिणाम का मूल्यों पर कोई प्रभाव न पड़े इस नीति के समर्थकों का कथन है कि मुद्रा को तटस्थ रखकर अर्थव्यवस्था स्फीति-अस्फीति की भयानक घटनाओं से बचाया जा सकता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री G.M. Hehs के अनुसार किसी देश के आर्थिक साधनों का विभिन्न उत्पादक कार्यों के बीच इस प्रकार से वितरण होना चाहिए कि मुद्रा का इस वितरण पर अच्छा या बुरा प्रभाव न पड़े। इस सिद्धान्तों के समर्थकों का कथन है कि सामान्य मूल्य स्तर को स्थिर रख कर अर्थव्यवस्था को स्फीति एवं अवस्फीति की भयंकर घटनाओं से छुटकारा नहीं दिलाया जा सकता वरन् इसका केवल एक मात्र यही उपाय है कि मुद्रा को तटस्थ रखा जाए जिसके फलस्वरूप अन्तः स्फीति या अवस्फीति की भयंकर घटनाएं आर्थिक जीवन में प्रवेश ही नहीं कर पायेंगी।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की प्रतिष्ठा की नीति में कुछ कमियां आ गयी है। उनका कहना है कि मुद्रा को तटस्थ रखना संदेहजन है क्योंकि तटस्थ मुद्रा नीति के संबंध में विभिन्न शर्तों को निर्धारित करना कठिन है। मुद्रा को स्थिर रखना लगभग असंभव है। वास्तव में समाज में हुए परिवर्तन के अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में मुद्रा का प्रचलन वेग का भी सही-सही अनुमान लगाना भी कठिन है। मुद्रा की मात्रा रखने के लिए मुद्रा की तटस्थता का उद्देश्य सही अर्थ में पूर्ण नहीं होता है। इस नीति के समर्थकों का मत है कि देश में प्रौद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप मूल्यों में गिरावट का देश के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रौद्योगिकी प्रगति के कारण जब उत्पादन लागत में कमी होने पर भी मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है तो अर्थव्यवस्था में अति उत्पादन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिससे मांग व पूर्ति का संतुलन भंग हो जाता है तथा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। इस नीति में कमियां निकालने वाले अर्थशास्त्रियों का विचार है कि तटस्थ मुद्रा नीति को किसी देश की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य स्वीकार कर लिया जाए तो उसके मूल्य स्तर में भारी गिरावट की समस्या उत्पन्न हो जाएगी क्योंकि वर्तमान युग में क षि एवं उद्योगों में अविष्कारों एवं नवीन प्रक्रियाओं के कारण उत्पादन की मात्रा में निरन्तर व द्धि होती जा रही है। इस प्रकार तटस्थ मुद्रा की नीति की प्रव त्ति आर्थिक स्थिरता को कायम करने की अपेक्षा अवस्फीति की समस्या को कायम रखने की अपेक्षा अवस्फीति की समस्या को उत्पन्न करने की होती है तथा यह नीति देश की आर्थिक प्रगति के मार्ग में प्रमुख निरोधक सिद्ध होती है। उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद भी अधिकतर अर्थशास्त्री इसके समर्थन में ही पक्ष रखते हैं। उनका कहना है कि अर्थव्यवस्था में स्फीति या अवस्फीति की दशा में तब उत्पन्न होती जबकि तटस्थ मुद्रा नीति का परित्याग कर दिया जाता है। इस प्रकार किसी देश की अर्थव्यवस्था में स्फीति या अवस्फीति के भयानक रोग का पाया जाना इस तथ्य का परिचायक है कि उस देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा तटस्थ की नीति का परिपालन नहीं किया जा रहा परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मुद्रा नीति स्फीति या अवस्फीति पर नियंत्रण करने में शत-प्रतिशत असफल रहती है।

स्फीति और अवस्फीति को कुछ सीमा तक रोकने में सफल हो सकती है। यदि इसका उचित रूप में पालन किया जाए इस नीति के समर्थकों का कहना है कि यदि इस नीति को अपनाया जाता है तो देश की आर्थिक स्थिति सुधरती है। यदि तकनीकी प्रगति के कारण मूल्यों में ह्रास होते हैं तो इस मूल्य ह्रास का देश की आर्थिक प्रगति एवं उत्पत्ति के साधनों की उत्पादन शक्ति पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। जब उद्योग एवं क षि में सुधार होने पर उत्पादन व्यय में कमी हो जाने के कारण कीमतें गिरती हैं तो सम्पूर्ण रूप में मूल्यों का यह ह्यास लाभदायक होता है। क्योंकि यही एक तरीका है जिसके द्वारा औद्योगिक एवं क षिगत प्रगति के फल सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तटस्थ मुद्रा नीति के समर्थकों के मतानुसार औद्योगिक एवं क षिगत उन्नति के फलस्वरूप उत्पादन-व्यय में कमी हो जाने से मूल्यों का ह्रास लाभदायक होता है और इस स्थिति पर मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है कि तो अत्थुत्पादन की गंभीर समस्या उत्पन्न हो जाएगी जिसके फलस्वरूप मांग पूर्ति का संतुलन भंग हो जाएगा तथा देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री Hayek का विचार है कि ''यदि हम इस तथ्य को समझ ले तो एक ओर स्थिर मूल्य स्तर के अन्तर्गत मौद्रिक प्रभावों के द्वारा तुलनात्मक मूल्यों में परिवर्तन हो सकते हैं तथा दूसरी ओर तुलनात्मक मूल्य उस समय भी अपरिवर्तित रह सकते हैं जबकि मूल्य स्तर स्थिर रहता है। तो मौद्रिक प्रभावों के द्वारा आर्थिक संतुलन की प्रव त्तियों को अस्त-व्यस्त नहीं किया जा सकता और यह कि मुद्रा का प्रभाव सामान्य मूल्य स्तर के परिवर्तनों के द्वारा ही संभव हो सकता है।''

5. **पूर्ण रोजगार**—देश के आर्थिक विकास में पूर्ण रोजगार की स्थिति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वर्तमान समय में प्रत्येक देश की मौद्रिक नीति का प्रमुख आर्थिक स्थिरता तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करना है। विश्वव्यापी महामन्दी के

अन्तर्गत व्याप्त बेकारी के अनुभव के बाद से मौद्रिक नीति का उद्देश्य आन्तरिक अथवा बाह्य स्थिरता अथवा तटस्थता में से किसी एक को ना मान कर आर्थिक स्थिरता को ही एक उचित उद्देश्य माना गया है। यह आर्थिक स्थिरता तभी सम्भव है कि जबकि पूर्ण रोजगार के स्तर पर देश में बचत एवं विनियोग में संतुलन स्थापित किया जाए। मौद्रिक नीति का उद्देश्य व्यापारिक चक्रों के उतार-चढ़ाव कम करना तथा पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर बचतों तथा विनियोगों में संतुलन प्राप्त करना होना चाहिए किसी भी देश में मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत एवं विनियोग में साम्य स्थापित करना है। बचत तथा विनियोग में संतुलन स्थापित करके पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर आर्थिक स्थिरता कायम रखी जा सकती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लिए विनियोग की मात्रा में व द्धि की जानी चाहिए। विनियोग में व द्धि के लिए नीची ब्याज दर तथा सस्ती मुद्रा नीति का पालन आवश्यक है। विनियोग बढ़ने पर गुणक एवं त्वरक के प्रभाव से रोजगार बढ़ता है तथा कालान्तर में सभी व्यक्तियों एवं साधनों को पूर्ण रोजगार मिल जाता है। यही पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है। जिसमें बचत एवं विनिमय समान होते हैं। पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाने पर बचत एवं विनिमय समान होते हैं। पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाने पर बचत एवं विनियोग समन्वय बनाए रखना अत्यावश्यक है। यदि पूर्ण रोजगार के पश्चात विनियोग बचत से अधिक होता है तो मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है। इसके विपरीत यदि विनियोग बचत से कम होता है तो मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न होगी। वर्तमान युग में मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य पूर्ण रोजगार की प्राप्ति तथा इसी स्तर पर देश की आर्थिक व्यवस्था में स्थिरता लाना है। पूर्ण रोजगार का अभिप्राय उस स्थिति से है जबकि उत्पादन के सभी साधन कार्यरत हो तथा साधनों के आदर्श संयोग से राष्ट्रीय आय अधिकतम हो।

इस प्रकार की मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्य दो हैं–

1. साधनों के पूर्ण उपयोग से पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करना।
2. पूर्ण रोजगार के स्तर पर देश की आर्थिक व्यवस्था में स्थिरता लाना।

कीन्स के अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य देश में राष्ट्रीय आय को बढ़ाना होना चाहिए क्राउथर के मुताबिक पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर बचत और मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य है राष्ट्रीय आय में ज्यादा से ज्यादा व द्धि आर्थिक संतुलन की स्थापना तथा पूर्ण रोजगार की हालत, सस्ती मुद्रा नीति द्वारा ही स्थापित की जा सकती है जब मुद्रा बढ़ाई जाती है तो इससे केवल बैंकों की साख उत्पन्न करने की ही शक्ति नहीं बढ़ती है बल्कि ब्याज दर भी कम होती है और समाज के लोगों की आमदनी बढ़ती है। इस तरह कीन्स ने बहुत ही ठीक कहा है कि एक अच्छी मौद्रिक नीति वह है जिससे देश में रोजगार की हालत उत्पन्न हो जाए और मुद्रा की झलक भी पूर्ण नहीं दिखाई पड़े।

6. **साख एवं नियंत्रण करना**–मौद्रिक नीति का संचालन मौद्रिक अधिकारी करते हैं सामान्यता यह मौद्रिक अधिकारी किसी देश का केन्द्रीय बैंक होता है। किसी निश्चित दिशा में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से बैंक-दर, नकद कोष अनुपात, ऋणों पत्रों का क्रय-विक्रय आदि में परिवर्तन किया जाता है। ब्याज दर में स्वतः आने वाले परिवर्तन मौद्रिक नीति के अंग नहीं है। वरन् ब्याज दर में यदि परिवर्तन लाए गए हैं तो वे ही मौद्रिक नीति का अंग माने जाएंगे। मौद्रिक नीति में मुद्रा की मात्रा, मुद्रा की उपलब्धता तथा मुद्रा की लागतों में परिवर्तन किया जाता है। मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य साख-नियंत्रण ही है। इसके लिए साख की मात्रा और शर्तों को इस तरह बदलना पड़ता है। जिसमें कीमतों में परिवर्तन लाने वाले कारण अपना असर नहीं डाल सके। क्रय शक्ति में स्थिरता लाकर कीमतों में परिवर्तन द्वारा पूर्ति को इस तरह नियन्त्रित किया जाता है कि उपभोग की मात्रा उतनी ही बढ़े जितना उत्पादन करने की शक्ति में व द्धि की गुंजाइश है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री Hayek के अनुसार मौद्रिक नीति साख के संबंध में निम्न पांच निर्णय लेती है–

I कितनी साख की मात्रा होनी चाहिए।
II वह साख किस दर पर उपलब्ध होनी चाहिए।
III वह साख किनमें वितरित की जानी चाहिए।
IV उस साख का क्या उद्देश्य होना चाहिए
V साख के वितरण का क्या आधार होना चाहिए।

आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु कभी-कभी मुद्रा मूल्य के उच्चावचनों के बड़े भयंकर तथा विनाशकारी परिणाम होते हैं। मुद्रा मूल्य में हुए परिवर्तनों का उत्पादन, आय, उपभोग, बचत, विनियोग तथा रोजगार आदि पर विभिन्न अंशों में प्रभाव पड़ता है। जिससे कीमत स्तर में भी चक्रात्मक परिवर्तन होते हैं तथा अर्थव्यवस्था में व्यापार

चक्र की तेजी व मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सरकार को इस प्रकार की मुद्रा नीति अपनानी चाहिए जो साख पर नियंत्रण कर सके।

7. **व्यापार चक्र पर नियंत्रण**—मौद्रिक नीति का अभिप्राय बैंक की उस नीति से है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक सामान्य आर्थिक नीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रित करता है। मौद्रिक नीति के अन्तर्गत उन सभी मौद्रिक निर्णयों तथा उपायों को सम्मिलित किया जाता है। जिनका उद्देश्य मौद्रिक प्रणाली को प्रभावित करना होता है। अर्थव्यवस्था में मन्दीकाल और तेजी काल दोनों प्रकार की परिस्थितियां पाई जाती हैं। मौद्रिक नीति अर्थव्यवस्था में तेजी होने वाले परिवर्तनों पर अपना नियंत्रण रखती है। तेजी के समय में सभी उद्योगों का विकास शीघ्रता से नहीं होता बल्कि खास उद्योगों का ही विकास शीघ्रता से होता है। अतः तेजी और मंदी के कारण मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को रोकना मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मौद्रिक नीति मुद्रा की मांग और पूर्ति में संतुलन स्थापित करती है। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में पूंजी व धन की अधिक आवश्यकता होती है। जिसकी पूर्ति साख का विस्तार करके की जा सकती है। इसके विपरीत यदि साख की मात्रा वांछित आवश्यकता से अधिक है तो केन्द्रीय बैंक साख नियंत्रण की विभिन्न रीतियों का प्रयोग करके मुद्रा की मांग और पूर्ति में संतुलन स्थापित कर सकता है। साख की कम मात्रा क्या आर्थिक विकास को अवरुद्ध करती है। वहां उसका अनावश्यक विस्तार आर्थिक और मुद्रा प्रसार को जन्म देता है। व्यापार चक्रों पर नियंत्रण करने के लिए ब्याज दर में ठीक-ठीक परिवर्तन करके विनियोग वित्त को नियन्त्रित करना चाहिए विनियोग की उचित मांगों को पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति का प्रबंध करना चाहिए ब्याज की दर मुद्रा की मात्रा और विनियोग में आवश्यक सम्बन्ध स्थापित कर देती है।

8. **बचत और विनियोग में संतुलन स्थापित करना**—मौद्रिक नीति का उद्देश्य बचत और विनियोग में सन्तुलन स्थापित करना ही होता है ऐसा करने से देश को औद्योगिक और क षि विकास की सहायता मिलती है। अर्द्धविकसित तथा विकासशील देशों की मुख्य समस्या विनियोग में व द्धि की जानी चाहिए किन्तु विनियोग में व द्धि के कारण इन देशों में सजीतिक प्रव त्तियां उत्पन्न होने लगती है। अतः विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देश में मौद्रिक नीति का उद्देश्य आवश्यक विनियोग की व द्धि को प्रोत्साहित करना तथा अनावश्यक विनियोग की व द्धि को हतोत्साहित करना होना चाहिए ताकि देश में स्फीतिक प्रव त्तियां न उत्पन्न होने पाए ऐसी स्थिति में गुणात्मक साख नियंत्रण की नीति अत्यधिक उपयोगी है। इसके अनुसार आवश्यक विनियोग के क्षेत्र में ब्याज की दर में आवश्यक कमी तथा अनावश्यक क्षेत्र में ब्याज दर में व द्धि करके विनियोगी को प्रोत्साहन दिया जा सकता है तथा रोजगार एवं उत्पादन स्तर को ऊपर उठाया जा सकता है।

मौद्रिक नीति विनियोग को इस प्रकार से नियंत्रित करती है कि वे बचत के बराबर हो जाए विनियोग किसी हालत में न तो बचत से अधिक होना चाहिए और न कम ही होना चाहिए। यह काम मुद्रा-अधिकारी कर्ज देने की शर्तों को प्रभावित करके कर सकते हैं। वे कर्ज को नवीन विकास के लिए कम या ज्यादा अनुकूल बना सकते हैं। मुद्रा अधिकारी कर्ज देने के शर्तों में उचित परिवर्तन करके मुद्रा के प्रवाह को इस तरह नियन्त्रित कर सकते हैं कि बाजार में बिकने के लिए आई हुई पूंजीगत वस्तुओं की पूर्ति और उन्हें खरीदने के लिए जमा की गई बचत में समता हो जाए।

मुद्रा अधिकारी को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बचत का उपयोग उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए ही हो न कि उत्पादन के एक ही तरह के साधनों की संख्या बढ़ाने के लिए। साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि विनियोग इतना ज्यादा न बढ़ जाए कि अपर्याप्त बाजार के कारण विनियोग अलाभदायक हो जाए।

मौद्रिक नीति के यंत्र—

स्वर्णमाण का परित्याग हो जाने के पश्चात सन् 1980 ई. की विश्वव्यापी महामन्दी के समय से लेकर द्वितीय महायुद्ध को प्रारम्भ होने के समय तक मौद्रिक नीति को केवल सस्ती मुद्रा उत्पन्न करने का ही साधन मात्र समझा जाता था। परन्तु केन्द्रीय बैंक के पास मुद्रा की मात्रा को नियमित करने का प्रश्न है। आधुनिक समय में विश्व के सभी देशों में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रणाली है। जिसमें मुद्रा की मात्रा केन्द्रीय बैंक के मौद्रिक प्रबन्ध पर निर्भर करती है। मौद्रिक नीति के यंत्र दो प्रकार के होते हैं:—

1. परिमाणत्मक (Quantitative)
2. गुणात्मक (Qualitative)

इन्हें साख नियंत्रण के उपकरण भी कहा जाता है। अर्थव्यवस्था में किसी निश्चित निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय

बैंक आवश्यकतानुसार एक साथ दोनों यन्त्रों अथवा उपकरणों का प्रयोग कर सकती है। परिणात्मक या मात्रात्मक यन्त्रों में निम्न सम्मिलित हैं:–

1. बैंक दर की नीति
2. खुले बाजार की क्रियाएं
3. प्रासंगिक अनुपातों में परिवर्तन

गुणात्मक यन्त्रों में निम्न सम्मिलित हैं–

1. साख नियमन
2. नैतिक प्रभाव

साख मुद्रा किसी अर्थव्यवस्था की कुल मुद्रा स्फीति का एक बड़ा भाग होती है। इसलिए मुद्रा की मात्रा में विस्तार एवं संकुचन के अन्तर्गत साख मुद्रा का विस्तार और संकुचन भी शामिल है। चूंकि वास्तविक मुद्रा एवं साख मुद्रा के नियमन एवं नियंत्रण का दायित्व केन्द्रीय बैंक का है। अतः वह अपने हथियारों का प्रयोग करता है।

1. परिमाणात्मक उपाय–

(क) बैंक दर की नीति–बैंक दर से आशय उस दर से है जिस पर केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों को ऋण देता है। व्यापारिक बैंक प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों को केन्द्रीय बैंक से पुनः बट्टा करा लेते हैं और बदले में केन्द्रीय बैंक से ऋण मिल जाता है इसलिए इसे बट्टे की दर भी कहा जाता है। भारत में ब्याज की दर का भी सक्रिय प्रयोग किया जाता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के समय बैंक दर 3% पर निर्धारित की गयी थी जो 14 नवम्बर 1951 तक वैसी ही बनी रही 1951 से लेकर अब तक बैंक दर में अनेक परिवर्तन किए गए हैं। बैंक दरों में व द्धि निम्न अनेक उद्देश्यों को लेकर की गयी है। जैसे विकास योजनाओं के अन्तर्गत सार्वजनिक व्यय बढ़ने के कारण मुद्रा स्फीति को कम करना था।

विदेशी आक्रमण के कारण रक्षा पर अधिक व्यय होने से जो मुद्रा की पूर्ति बढ़ी थी उसको प्रभावहीन करना था। बैंक दर तथा बजारू ब्याज की दर के अन्तर को कम करना था क्योंकि इससे पहले बाजारू ब्याज की दर बैंक दर की तुलना में बहुत ऊंची थी। बाद में उत्पन्न हुई अर्थव्यवस्था की मन्द गति को तीव्र करने तथा क षि एवं लघु उद्योगों को सस्ती ऋण सुविधा प्रदान करने के लिए बैंक, दर कम कर दी गई।

बैंक दर बढ़ाने से एक ओर जमाओं पर ब्याज दर बढ़ती और दूसरी ओर ऋणों पर ब्याज दर बढ़ती है। परिणामस्वरूप एक ओर जमाएं बढ़ती हैं और दूसरी और ऋण घटती है। इन दोनों क्रियाओं का संयुक्त प्रभाव साख नियंत्रण होता है। क्योंकि प्रचलन में कुल मुद्रा की मात्रा घटती है। ठीक इसके विपरीत बैंक दर घटती है तो ऋण बढ़ते हैं व जमाए घटती हैं। अतः साख प्रसार होता है। मौद्रिक व्यवस्था के साधन के रूप में ब्याज दर के तन्त्र का उपयोग करने के फलस्वरूप बैंक की प्रतिबन्धात्मक साख नीति पूर्णतया सफल रही व्यापारिक बैंकों की उधार दर को जहां बैंक दर में व द्धि करके बढ़ाया गया वहां बचत जमाओं की ब्याज दर में भी पर्याप्त बढ़ोतरी की गयी है।

(ख) खुले बाजार की क्रियाएं–बैंक इस विधि के अन्तर्गत सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय करने का कार्य करता है। रिजर्व बैंक समय-समय परिपत्र भेजकर बैंकों को साख विस्तार पर नियंत्रण करने की सलाह देता है और उन्हें विशिष्ट वस्तुओं की जमानत पर कम ऋण देने की सलाह देते हैं। साथ ही रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों के अधिकारियों की समय-समय पर बैठकें करता है और अपनी मौद्रिक नीति के अनुशीलन के लिए प्रोत्साहित करता है। बैंक इसके लिए बिल बाजार में प्रवेश करता है। बिल बाजार सामन्यतया अल्पकालीन बिलों से सम्बन्धित होता है। जो सामान्यतया 90 दिन की अवधि के होते हैं। ऐसे बिल सामान्यतया तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम बिल विनिमय बिल होते हैं जिन्हें व्यापार बिल भी कहते हैं। जो बिल के लिए वित्त प्रदान करते हैं। दूसरे ट्रेजरी बिल होते हैं ये सामान्यता यह प्रतिज्ञा रखते हैं कि बिल में अंकित राशि व्यक्ति, कंपनी या सरकार को चुका दी जाएगी वित्तीय वित्त संस्थाएं इन्हें बट्टा करके क्रय-विक्रय कर सकती हैं। इन बिलों में बैंक अपनी फालतू नकदी लगा देते हैं। इस बीच में यदि उन्हें धन की आवश्यकता हो तो वे इनका पुनः बट्टा करा कर रिजर्व बैंक से धन प्राप्त कर लेते हैं। इस विधि को अपनाने से जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों का बेचा रखता है तो चलन मुद्रा की मात्रा घटती है और जब खरीदता है तो चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ती है। परिणामस्वरूप साख की

मात्रा में परिवर्तन होते रहते हैं। इन बिलों को लोकप्रिय बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने 1952 में बिल बाजार योजना प्रारम्भ की इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने बैंकों की उनसे ऐसे मांग प्रतिज्ञा पत्रों के आधार पर ऋण प्रदान करता है। जोकि उन्हें ग्राहकों के मियादी बिलों पर आधारित है अब बैंकों से रिजर्व बैंक के अतिरिक्त नकदी प्राप्त करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियों की आवश्यकता नहीं रही बैंक अपने ग्राहकों को उनके मियादी बिलों के आधार पर ऋण प्रदान कर सकते हैं और फिर उनकी प्रतिभूति पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकते हैं।

(ग) परिवर्तनशील कोष अनुपात—बैंक अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक की अपनी जमाओं का निश्चित हिस्सा केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना होता है। 1956 से पूर्व रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 42(1) के अधीन प्रत्येक अनुसूचित बैंकों को अपनी चालू जमा 5% और स्थायी जमा पर 2% बैंक में जमा करना पड़ता था बैंक देश के मुद्रा बाजार का नियंत्रण करता है। इन शक्तियों के अन्तर्गत हर अनुसूचित बैंक को जमाओ पर एक निश्चित प्रतिशत नकद आरक्षणों के रूप में केन्द्रीय बैंक के पास अनिवार्यतः जमा रखना पड़ता है। इसे अनेक गुणात्मक व मात्रात्मक नियंत्रण लगाने के अधिकार प्राप्त हैं। इसे बैंको को लाइसेन्स देने का अधिकार है व निरीक्षण तथा अन्य सूचना प्राप्त करने वह बैंकों पर नियंत्रण रखता है। यह बैंकों को पुनः बट्टे की सुविधा प्रदान कर उनको संकट के समय सहायता प्रदान करता है। इसके माध्यम से साख नियंत्रण होता है। साख नियंत्रण मौद्रिक नीति एक और महत्वपूर्ण अंक है। साख नियंत्रण दो प्रकार से होता है।

1. मात्रात्मक साख नियंत्रण
2. चयनात्मक सात्र नियंत्रण

भारत में प्रारम्भ में कुछ मात्रात्मक साख नियंत्रण लागू किये गये परन्तु उसके पश्चात चयनात्मक साख नियंत्रण का ही सहारा लिया जाने लगा क्योंकि यह अधिक प्रभावी ढंग से व कुशलता से क्रियान्वित किया जा सकता है।

2. गुणात्मक उपाय—गुणात्मक उपायों में साख नियंत्रण और नैतिक प्रभाव को सम्मिलित किया है एक विकासशील अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीतिक नियंत्रण के प्रसंग में मौद्रिक नीति का लक्ष्य साख पर नियंत्रण करने का होना चाहिए। वास्तव में साख नियंत्रण का उद्देश्य अर्थव्यवस्था में निवेश तथा उत्पादन के ढांचे की विकासोनुकूल बनाना और विकास प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न होने वाले स्फीतिक दबावों पर काबू पाना है। इसके लिए साख नियंत्रण के मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों प्रकार के उपायों को काम में लाना चाहिए। मौद्रिक नीति को सफल बनाने के लिए भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक मुद्रा तथा साख की लागत पूर्ति और उपलब्धता को नियंत्रित करना चाहिए पुनः देश के विकास के लिए रिजर्व बैंक को देश के विकास के साधनों को बढ़ावा देना चाहिए तथा इसके लिए कर्ज भी देना चाहिए तथा लम्बी अवधि के लिए साख देने की व्यवस्था करनी चाहिए। साख नियमन मूल्यों में स्थिरता आती हैं। 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के बाद आन्तरिक मूल्य स्थिरता मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य माना जा चुका है। कीमत अस्थिरता आर्थिक ढांचे को विक त करती है और सामाजिक अन्याय तथा आर्थिक संकट को बढ़ावा देती है। चूंकि कीमत अस्थिरता की प्रक ति प्रायः संचयी होती है। जिससे व्यापार-चक्रों का जन्म होता है। बढ़ती हुई तथा घटती हुई कीमतें दोनों ही समाज के लिए अहितकर हैं आर्थिक विकास की प्रतिरोधक है। इसलिए मौद्रिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता विशेष रूप से स्फीतिक नियंत्रण को बनाए रखने का होना चाहिए वह मौद्रिक नीति जो कीमत स्तर में स्थिरता ला सकती है और रोजगार को पूर्ण रखती है। निश्चित रूप से आर्थिक विकास के लिए आधारिक प ष्ठभूमि तैयार करती है। इस संबंध में सरकार ने और रिजर्व बैंक ने बहुत से कार्य किए हैं। साख-नियंत्रण के उद्देश्य से विशुद्ध तरल कोषानुपात 28% न्यूनतम तय किया गया है। इस आधार पर ऋण बैंक दर लिया जा सकता है। इस अनुपात में प्रत्येक प्रतिशत में कमी आने पर कुल ऋण की राशि पर ब्याज की दर ½ प्रतिशत से बढ़ जाती है। सितम्बर 1965 में बैंक दर को बढ़ाकर 1% कर दिया गया विशुद्ध तरल कोषानुपात 28% से बढ़ाकर 30% पर निर्धारित किया गया बैंकों से वसूल कि जाने वाली ब्याज की अधिकतम दर 9% से बढ़ा कर 10% कर दी गयी है। उस समय भी बैंक दर 5% से बढ़ाकर 6% हो गयी थी।

रिजर्व बैंक की साख नीति की साख नई प्रव त्तियों में साख प्राथिकरण योजना भी एक है। यह योजना नवम्बर 1965 में आरम्भ की गयी इसका उद्देश्य अनुसूचित बैंकों द्वारा दिए जाने वाले बड़े ऋणों को नियंत्रित करना तथा बैंक ऋणियों की बैंक साख पर निर्भरता को उसकी आवश्यकता की सीमा के भीतर रखा जाना है। इस योजना के अन्तर्गत किसी भी एक ऋणी को 2 करोड़ रुपये तथा इससे अधिक की साख सीमा की स्वीक ति देने से पहले बैंक की रिजर्व बैंक से प्राधिकरण प्राप्त करना आवश्यक है। 1965 से ही ऋण प्राधिकरण योजना ऋण विनियमन के एक प्रभावी उपकरण के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभा

रही है। इस योजना का उद्देश्य बैंकिंग संसाधनों के लिए विभिन्न प्रतिस्पर्धी क्षेत्रों की वर्तमान और भावी मांगों सहित योजना संबंधी प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों की वर्तमान व भावी मांगों सहित योजना संबंधी प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए निजी दोनों ही क्षेत्रों में बड़े उधारकर्ताओं को दिए जाने वाले ऋण प्रवाह पर समुचित नियंत्रण रखना है। इस योजना में बैंकों में मूल्यांकन तकनीक में सुधार लाने में भी सहायता मिलती है तथा यह ऋण नियंत्रण एक आबंटन संबंधी उपायों को मजबूत बनाने का एक महत्वपूर्ण साधन है।

मौद्रिक नीति और आर्थिक विकास में सम्बन्ध

Relationship between Monetary Policy and Economic Development—युद्ध के पश्चात जब विश्व के विकसित देशों की सरकार केवल अमौद्रिक नीतियों के प्रयोग द्वारा स्फीति की कठिन समस्या को सुलझाने में असमर्थ सिद्ध हुई तो विभिन्न देशों की सरकार का विश्वास मौद्रिक नीति में उत्पन्न होने लगा तथा स्फीतिकारक समस्या का निवारण मौद्रिक नीति द्वारा ही उचित समझा जाने लगा मौद्रिक नीति का देश के आर्थिक विकास में सीधा संबंध है संसार के देशों में जब स्वर्णमान था तब तक मौद्रिक नीति का एकमात्र उद्देश्य विनिमय दर को स्थाई रखना ही था। लेकिन स्वर्णमान के समाप्त होने पर देश की भीतरी कीमतों को स्थाई रखने का महत्व बढ़ गया पिछली मंदी के बाद से देश की भीतरी कीमतों को स्थिर रखने का भी महत्व कम हो गया है। आजकल मौद्रिक नीति का वास्तविक उद्देश्य यही है कि मंदी और तेजी को इस तरह से नियंत्रित किया जाए कि देश के अन्दर रोजगार की स्थिति पैदा हो जाए।

मौद्रिक नीति का अभिप्राय सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के प्रसार तथा संकुचन के प्रबंधन तथा नियमन से होता है। देश के विकास का सीधा संबंध अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार से है। पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए मौद्रिक नीति के प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण अमेरिका के महान विश्वव्यापी मंदी काल में अपनाई गयी 'न्यूडील' नीति में मिलता है। इस नीति ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्थिक द ष्टि से विकसित पूंजीवाद देशों में मौद्रिक नीति के प्रयोग द्वारा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करके देश में आर्थिक स्थायित्व किया जा सकता है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा नीति या मौद्रिक नीति आर्थिक विकास का निर्धारक तत्व है।

प्रो. बिटलेशी का कहना है कि ''मौद्रिक नीति का एक विकास कारक घटक है। अर्थात विकास का उद्देश्य मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य है।''

आर्थिक विकास का तत्व विकासशील देशों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है किसी देश के आर्थिक विकास में तीव्र गति से बढ़ते हुए कीमत स्तर तथा अस्थिर विनिमय पर आर्थिक विकास के कार्य में अत्यधिक बाधक सिद्ध होते हैं। अतः विकासशील राष्ट्रों के संदर्भ में मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक तथा क षि उत्पादन में व द्धि करने में सहायक सिद्ध होने के साथ-साथ कीमत स्थिरता तथा वास्तविक दर पर विनिमय दर स्थायित्व बनाए रखना होना चाहिए इसके लिए व्यापार संतुलन में स्थिरता बनाए रखना आवश्यक होता है। किन्तु विकासशील देशों में सामान्यतः व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। अतः केन्द्रीय बैंक तथा मुद्रा अधिकारी को उचित मौद्रिक नीति अपनाकर विदेशी विनिमय पर समुचित नियंत्रण स्थापित करना चाहिए ताकि व्यापार सन्तुलन में अनुकूलता लायी जा सके। हमारे देश में साधनों का पूरी तरह उपयोग न होने के कारण आमदनी में महान परिवर्तन होता है। अतः यहां पर मुद्रा अधिकारी मुद्रा की मदद से साधनों के अधिकतम उपयोग का प्रबन्ध कर सकते हैं। इस तरह मौद्रिक नीति का वास्तविक उद्देश्य यही हो सकता है कि कितनी आसानी से कितनी सफलता के साथ मुद्रा और साख की पूर्ति, मुद्रा बाजार की आवश्यकता के अनुसार बढ़ाई-घटाई जा सकती है। जिसमें लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाते हुए साधनों के पूर्ण उपयोग के लिए व्यापार, व्यवसाय, वाणिज्य और क षि की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना तथा आन्तरिक कीमत स्तर में स्थिरता एवं विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व बनाए रखना होना चाहिए। आर्थिक विकास और मौद्रिक नीति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मौद्रिक नीति अनेक प्रकार से आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मौद्रिक नीति के कारण विभिन्न तरीके अपनाकर देश के आर्थिक विकास में योगदान दिया जाता है। विकासशील देशों में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए विनियोगों की मात्रा में व द्धि हेतु हीनार्थ प्रबन्धन का भी अत्याधिक महत्व है। इस घाटे को वित्त व्यवस्था भी कहा जाता है। इसका आशय सरकार द्वारा अपनी आय से अधिक व्यय करना होता है। इसके अन्तर्गत सरकार प्रायः केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण लेकर अथवा अतिरिक्त मात्रा में पत्र मुद्रा जारी कर विनियोगों के लिए साधन प्राप्त करती है। किन्तु हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा स्फीति उत्पन्न होने का भय निरन्तर बना रहता है। अतः इसे बहुत सोच-समझकर अपनाया जाता है।

यदि देश में मुद्रा की मात्रा में कमी होती है तो मौद्रिक नीति के द्वारा मुद्रा की मात्रा में व द्धि करके आर्थिक विकास की गति को बढ़ाया जाता है। विकासशील देशों में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में व द्धि करना असम्भव प्रतीत होती है। किन्तु इन देशों के प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम होने के कारण तथा स्फीतिक प्रव त्तियों के नाते उपभोग पर अधिक व्यय बढ़ जाने से पर्याप्त मात्रा में बचत नहीं हो पाती है। इस प्रकार बचत में कमी होने से विनियोगी की मात्रा में व द्धि हो पाती है। इस प्रकार बचत में कमी होने से विनियोगी की मात्रा में व द्धि करना असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए बचत में कमी की पूर्ति बैंक मुद्रा की मात्रा में व द्धि के द्वारा की जाती है। बैंक मुद्रा का प्रसार करके विनियोगों की मात्रा बढ़ायी जाती है। तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जाता है।

मौद्रिक नीति ब्याज की दरों में कमी करने का भी कार्य करती है। विकासशील देशों में पर्याप्त मात्रा में विनियोग का अभाव रहता है। जिनकी पूर्ति देश में भीतर सार्वजनिक ऋणों तथा कभी-कभी विदेशी ऋणों के माध्यम से करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में ब्याज की दरों में कमी करना अनिवार्य होता है। ब्याज की दर कम होने से ऋण प्राप्त करने में अत्यधिक सुविधा होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्याज की दर में कमी से पूंजी की मात्रा में व द्धि सुगमतापूर्वक हो जाती है। अत्याधिक पूंजी निवेश से उत्पादन की मात्रा में व द्धि अवश्यम्भाव हो जाती है। जिससे आर्थिक विकास की तीव्र गति होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मौद्रिक नीति देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

केवल मौद्रिक नीति ही आर्थिक विकास का रास्ता नहीं है–

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि देश के आर्थिक विकास में केवल मौद्रिक नीति ही भूमिका निभाती है, ऐसा नहीं है। उनके अनुसार मुद्रा परिमाण में परिवर्तन के रूप में मौद्रिक नीति कोई ऐसा घटक नहीं है जो आर्थिक विकास का शुभारम्भ करता हो बल्कि यदि विकास की सम्भावनाओं को बनाए रखना है तो पर्याप्त मुद्रा पूर्ति एक आवश्यक शर्त है। आर्थिक विकास में केवल मौद्रिक नीति की ही भूमिका है।

इसकी आलोचना करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री Habler और Myer का कहना है कि ''एक उपयुक्त मौद्रिक नीति आर्थिक विकास को सहारा दे सकती है। पर स्वयं विकास कारक नहीं हो सकती यद्यपि आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने में मौद्रिक नीति उतनी महत्वपूर्ण नहीं, जितनी की राजकोषीय नीति होती है। किन्तु फिर भी यह साख की पूर्ति और उसके प्रयोग को प्रभावित करके, स्फीति का मुकाबला करके और भुगतान संतुलन के साम्य को स्थापित करके आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने में योगदान अवश्य दे सकती है। भले ही यह आशा नहीं की जा सकती है कि मौद्रिक संस्थाएं सीधे-सीधे विकास की प्राथमिक या सक्रिय चालक होगी परन्तु विकास के गति पकड़ी जाने पर व्यापार में विस्तार और जनसंख्या-व द्धि के समानान्तर साख की लोचदार पूर्ति को बनाए रखने में एक प्रभावशाली मौद्रिक नीति अत्यावश्यक होती है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि देश के आर्थिक विकास में अनेक तत्व अपनी भूमिका निभाते हैं। आलोचनाओं के कारण मौद्रिक नीति के महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

मौद्रिक नीति देश के आर्थिक विकास में निम्न प्रकार से महत्वपूर्ण है–

1. विनिमय स्थिरता लाना
2. आर्थिक स्थिरता लाना
3. कीमत स्थिरता लाना
4. तटस्थ मुद्रा नीति की स्थापना
5. पूर्ण रोजगार की स्थिति लाना

अतः यदि यह कहा जाए कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य विकास करना है तो गलत नहीं हैं। मौद्रिक नीति आर्थिक विकास के साधन के रूप में निम्न प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकती है।

1. चयनात्मक साख या अन्तरात्मक ब्याज दर नीति द्वारा साख के प्रयोग पर नियंत्रण लगाकर निवेश के ऐच्छिक प्रारूप अर्थात् विकासोन्मुख ढांचे को प्रोन्नत करना।
2. सस्ती मुद्रा नीति द्वारा साख की लागत को घटाया ताकि निवेश प्रेरित हो सके।
3. वित्तीय संस्थाओं की स्थापना करना ताकि पूंजी निर्माण के लिए आवश्यक साधन-क्रियाशीलता में व द्धि हो सके।

4. बचत और निवेश के लिए उपयुक्त वातावरण को पैदा करना।
5. विदेशी विनिमय स्थिरता स्थापित करने में एक प्रभावी अस्त्र के रूप में कार्य करना।
6. नियंत्रित हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा विकासात्मक निवेश के लिए अतिरिक्त साधन उपलब्ध कराना।
7. स्फीतिक दबावों को कम करने के लिए अतिरिक्त निवेश को बढ़ावा देना।

अल्पविकसित देशों में मौद्रिक नीति—तीव्र गति से बढ़ते हुए कीमत स्तर तथा अस्थिर विनिमय पर आर्थिक विकास के कार्य में अत्यधिक बाधक सिद्ध होते हैं। अतः विकासशील राष्ट्रों के संदर्भ में मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक तथा क षि उत्पादन में व द्धि करने में सहायक सिद्ध होने के साथ-साथ कीमत स्थिरता तथा वास्तविक दर पर विनिमय दर स्थायित्व बनाए रखना है। इसके लिए व्यापार संतुलन में स्थिरता बनाए रखना आवश्यक होता है। किन्तु अल्पविकसित देशों में सामान्तय व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो जाता है। अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में विनियोग की आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु इन देशों में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम होने के कारण तथा स्फीतिक प्रव त्तियों के नाते उपभोग अधिक व्यय बढ़ जाने से पर्याप्त मात्रा में बचत नहीं हो पाती है।

इस प्रकार बचत में कमी होने से विनियोग की मात्रा में व द्धि करना असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए बचत की कमी की पूर्ति बैंक मुद्रा की मात्रा में व द्धि द्वारा की जाती है। बैंक मुद्रा का प्रसार करके विनियोगी की मात्रा बढ़ाई जाती है तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जाता है। हमारे देश में साधनों की पूरी तरह उपयोग न होने के कारण आमदनी में महान परिवर्तन होता है।

अतः यहां पर मुद्रा अधिकारी मुद्रा की मदद से साधनों के अधिकतम उपयोग का प्रबन्ध कर सकते हैं। इस तरह मौद्रिक नीति का वास्तविक उद्देश्य यही हो सकता है कि कितनी आसानी से और कितनी सफलता के साथ मुद्रा की साख की पूर्ति मुद्रा बाजार की आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ाई-घटाई जा सकती है। जिसमें लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाते हुए साधनों के पूर्व उपयोग के लिए व्यापार, व्यवसाय, वाणिज्य और क षि की आवश्यकताएं पूरी हो सके मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास का प्रोत्साहन देना तथा आन्तरिक कीमत स्तर में स्थिरता एवं विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व बनाए रखना होना चाहिए अल्पविकसित देशों में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए विनियोगी की मात्रा में व द्धि हेतु हीनार्थ प्रबन्धन का भी अत्यधिक महत्व है। इसे घाटे की वित्त व्यवस्था भी कहा जाता है। इसका आशय सरकार द्वारा अपनी आय से अधिक व्यय करना होता है। इसके अन्तर्गत सरकार प्रायः केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंको से ऋण लेकर अथवा अतिरिक्त मात्रा में पत्र मुद्रा जारी कर विनियोगी के लिए साधन प्राप्त करती है किन्तु हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा स्फीति उत्पन्न होने का भय निरन्तर बना रहता है। अतः इसे बहुत सोच-समझ कर अपनाया जाता है। किसी देश के आर्थिक विकास से अभिप्राय देश की होने वाली वास्तविक आय में व द्धि होने से है। आर्थिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है। जिसमें दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था को राष्ट्रीय आय में व द्धि होती रहती है। यह उस प्रक्रिया का नाम है जिसके बढ़ती हुई पूंजी की मात्रा एक निश्चित सीमा तक प्रति व्यक्ति उत्पादन में व द्धि लाता है। वहां से पूंजी की आवश्यकता कम होती जाती है।

यह एक लगातार प्रक्रिया है। राष्ट्रीय आय की एक बार की व द्धि की आर्थिक विकास नहीं कहा जा सकता। वरन् यह व द्धि निरन्तर होनी चाहिए आर्थिक विकास के लिए अर्थव्यवस्था के मांग के स्वरूप में एवं पूर्ति के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन लाए जाते हैं। जैसे जनसंख्या, उपभोग, विनियोग, बचत, लागत आदि में नित्य प्रति परिवर्तन होते रहते हैं। इसके अन्तर्गत वास्तविक आय में व द्धि होती है। वास्तवकि आय से आशय वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा में व द्धि होती है। वास्तविक आय से आशय वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा में व द्धि से है अर्थात आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप न केवल राष्ट्रीय वास्तविक आय वरन् प्रति व्यक्ति वास्तविक आय भी बढ़नी चाहिए ताकि लोगों के जीवन स्तर में सुधार हो सके। अल्पविकसित देशों में मौद्रिक नीति का उद्देश्य क्या होना चाहिए? इस विषय में बहुत मतभेद रहा है तथा समय-समय पर प थक्-प थक उद्देश्यों को महत्व दिया गया है। स्वर्णमान के प्रचलन के समय मौद्रिक नीति का उद्देश्य मुद्रा की बाह्य स्थिरता को प्राप्त करना समझा जाता था परन्तु जब से अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा की मात्रा निश्चित करती है। मुद्रा की मात्रा में मुद्रा प्रसार और संकुचन की स्थिति आती है। किसी देश की मौद्रिक नीति दो बातों को स्पष्ट करती है। अल्पविकसित देशों में मुख्य समस्या कीमत स्थिरता की होती है। कीमत स्तर के परिवर्तनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। अतः कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार कीमत स्तर में स्थिरता लाना ही मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

केन्स तथा कैसल ने इस मत का समर्थन किया है इन लोगों के अनुसार मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य कीमत स्तर में स्थिरता बनाए रखना होना चाहिए क्योंकि कीमत-स्तर में अस्थिरता के कारण मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न होती है। जिससे देश में सामाजिक अन्याय तथा आर्थिक एवं राजनैतिक अशांति फैलती है। अतः मौद्रिक नीति का सर्वोत्तम उद्देश्य कीमत स्तर में स्थिरता लाना ही होना चाहिए।

अर्थव्यवस्था में मूल्य अस्थिरता नुकसानदायक है। मूल्य-अस्थिरता उत्पादन एवं वितरण के क्षेत्र में गम्भीर समस्याओं को जन्म देती है। जिसका समाधान मूल्य स्थिरता ही है। मुद्रा स्फीति जन कल्याण के लिए हानिकारक है जबकि मुद्रा से संकुचन बेरोजगारी उत्पन्न करती है। मूल्य स्थिरता इन समस्याओं का उपयुक्त समाधान है। मूल्य-अस्थिरता देश के आन्तरिक तथा अन्य देशों के साथ आर्थिक संबंधों पर बुरा प्रभाव डालती है। अस्थिरता व्यापार चक्रों को जन्म देती है। आर्थिक विकास के लिए मूल्य स्थिरता का विशेष महत्व है। इससे जनता का मनोबल ऊंचा होता है तथा मुद्रा अर्थ के संचय तथा भावी भुगतान के साधन के रूप में अपनी सही भूमिका का निर्वाह कर सकती है। मूल्य स्थिरता से राष्ट्रीय आय के समान वितरण में सहायता मिलती है।

कीमत में स्थिरता लाने के दो उपाय हैः—

1. मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखना और
2. मौद्रिक व्यय की मात्रा को स्थिर रखना

लेकिन मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखने से कीमतों में स्थिरता नहीं आ सकती है। मुद्रा की मात्रा को व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकताओं के मुताबिक घटाना-बढ़ाना जरूरी है। अतः मौद्रिक आय की मात्रा को ही स्थिर रखा जा सकता है।

अर्थव्यवस्था में मंदीकाल और तेजीकाल दोनों प्रकार की स्थिति होती है। मंदीकाल में ऐसी मुद्रा नीति होनी चाहिए कि व्यवसाय व व्यापार प्रोत्साहित हो जिससे मंदी दूर हो।

इस प्रयोजन के लिए ब्याज दर कम होनी चाहिए तथा बैंक साख उदार और सस्ती होनी चाहिए।

संभव है कि बाजार में बहुत काम तथा सस्ता रुपया सुलभ हो बैंक भी ऋण लेकर निवेश के लिए कोई लाभदायक व्यवसाय दिखाई नहीं देता दूसरी ओर मुद्रा स्फीति में मुद्रा नीति ऐसी होनी चाहिए कि जब रोजगार तथा आय ऊपर को जा रहे हो तथा व्यवसाय तेजी में हो, ऐसी दशा को स्थिर रखा जाए मंदी के दिनों में आर्थिक विकास रूक जाता है। ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए निवेश को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर को घटा कर यह काम कर सकता है ताकि अन्य बैंकों को सस्ता ऋण मिल सके और वे अपनी ब्याज दर कम कर दे। आर्थिक विकास में निवेश दर बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यदि मुद्रा नीति निवेश को निरुत्साहित करे तो विकास की गति धीमी पड़ जाती है। यदि मुद्रा नीति ऐसी कि निवेश को प्रोत्साहन मिले तो आर्थिक प्रगति की गति तेजी से हो जाएगी जब व्यवसाय में तेजी होती है तो आर्थिक विकास तीव्र हो जाता है और यदि व्यवसाय अवनति की ओर चल पड़े तो आर्थिक विकास धीमा पड़ जाता है।

ब्याज दर घटाने से आर्थिक उन्नति प्रोत्साहित होती है। क्योंकि इससे अधिक निवेश की सम्भावना हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की ओर चल पड़ती है। यदि देश की अर्थव्यवस्था की प्रक ति बेकारी अथवा अल्परोजगार तथा विकास के रुकने की ओर हो तो इस रोग का उपचार कम ब्याज दर है। इससे कुछ सीमा तक सम द्धि तथा उन्नति की आशा हो जाती है। किन्तु यदि अर्थव्यवस्था पहले ही पूर्ण रोजगार स्तर पर पहुंची हुई है तो ब्याज दर घटा कर रुपये का सस्ता करने के प्रयत्नों से मुद्रा स्फीति का भय पैदा हो सकता है।

अल्पविकसित देश और पूंजी—पूंजी निर्माण अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास की एक शर्त है। मौद्रिक नीति बचत तथा निवेश के लिए आवश्यक दशाएं पैदा करके पूंजी निर्माण के रूप में आर्थिक विकास में काफी हद तक सहायक हो सकती है। पूंजी के अभाव का कारण वास्तविक आय में कमी है। जब आय का स्तर नीचा होता है तो जो कुछ आय लोग अर्जित करते हैं इसका उपभोग हो जाता है। परिणामस्वरूप बचत नहीं हो पाती जब बचत नहीं हो पाती तो विनियोग योग्य अतिरेक का अभाव होने से विनियोग का स्तर नीचा रहता है। जिसके परिणामस्वरूप आय सर्जन कम होता है। विकसित देशों में मौद्रिक नीति का कार्य अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता और उचित सन्तुलन बनाए रखना है। किन्तु अल्पविकसित देशों में एक प्रार्वेगिक मौद्रिक

नीति का उद्देश्य आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशाएं पैदा करना है और इस प्रकार मौद्रिक नीति आर्थिक परिवर्तन का एक शक्तिशाली अस्त्र मानी जाती है। चूंकि अल्पविकसित देशों में प्रमुख समस्या आर्थिक स्थिरता की न होकर आर्थिक जड़ता को दूर करने अर्थात आर्थिक विकास के लिए आवश्यक दशाएं विद्यमान ही ये दशाएं न केवल आर्थिक होती है। वरन् आर्थिक सामाजिक व राजनैतिक भी होती है। उसे देश के सभी क्षेत्रों के नाते चाहे वे औद्योगिक क्षेत्र के हो, क षि क्षेत्र के हो, आर्थिक, सामाजिक क्षेत्र के हो या राजनैतिक के विकास चाहते हो और विकास के लिए ईमानदारी से कार्यरत हो पूंजी निर्माण के साधन के रूप में मौद्रिक नीति की तीन दिशाओं में काम करना होता है–

1. बचत की क्रियाशीलता हेतु सांस्थानिक ढांचे का निर्माण करना।
2. निजी निवेश को प्रोत्साहित करना
3. सरकारी निवेश हेतु अतिरिक्त साधन उपलब्ध करना

अल्पविकसित देशों में मौद्रिक नीति का स्वरूप और उद्देश्य विकसित देशों की मौद्रिक नीति से भिन्न होता है। विकास के लिए पूंजी निर्माण की दर बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाना होता है। अल्पविकसित देश के भौतिक कल्याण के विकास की दर जनता की बचत करने की शक्ति पर निर्भर करता है। जनता की बचत करने की शक्ति ही पूंजी-संग्रह है। अल्पविकसित देशों में पूंजी निर्माण के लिए मौद्रिक नीति के द्वारा इस बात का प्रयास किया जाता है कि समाज अपनी आय का अधिक से अधिक भाग बचा सके ताकि आर्थिक विकास के लिए वांछित धन की व्यवस्था की जा सके बचतों की मात्रा में तभी व द्धि हो सकती है। जबकि देश में बैंकिंग सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो इस द ष्टि से केन्द्रीय बैंक को चाहिए कि देश में अधिक से अधिक साख संस्थाएं व बैंकों की स्थापना की जाए ताकि लोग अपनी बचतों की सुविधापूर्वक एवं सुरक्षित रूप से एकत्रित कर सके। इतना ही नहीं मौद्रिक नीति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की सुविधाओं व छूट देकर बचतों को प्रोत्साहित करना, साख संस्थाओं का उचित नियमन करना जमाकर्ताओं को उनकी बचतों के लिए सुरक्षा प्रदान करना आदि उपाय भी आवश्यक समझे जाते हैं। अल्पविकसित देशों में पूंजी निर्माण के लिए निवेश को भी प्रोत्साहित करना होता है। इसके लिए मौद्रिक नीति द्वारा सरकार ब्याज दर को नियोजित करती है। एक अल्पविकसित देशों में ब्याज दर संरचना काफी ऊंचे स्तर पर होती है। अल्पकालीन व दीर्घकालीन ब्याज की दरों और अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में ब्याज की ऊंची दरें निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के विकास में बाधक सिद्ध होती है। विनियोगकर्ता पूंजी बाजार से ऋण लेना तभी उपयोगी समझता है। जबकि उसे कम ब्याज की दर पर धन उपलब्ध हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक सस्ती मुद्रा-नीति को स्वीकार करके विनियोगकर्ताओं को ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित करे। परन्तु यह तभी संभव हो सकता है जबकि केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा साख-सुविधाओं का विस्तार करे।

बैंक दर को नीचा रखे, मूल्यों को स्थिर बनाए रखे, अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि विनियोग और उत्पादकता पर ध्यान दिया जाए। उत्पादकता भी विनियोग पर आश्रित होती है। विनियोग का कार्य आय-निर्माण और क्षमता-निर्माण ही नहीं बल्कि अतिरिक्त विनियोग का संवर्द्धक होना भी है। अल्पविकसित देशों में विनियोग की दर बहुत ऊंची है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रोस्टोव अपनी आत्म स्फूर्ति के सिद्धान्त में और रोजेन्सिटन रोडान ने अपने विकास उछाल सिद्धान्त में इस बात पर बल दिया है कि जब तक एक पिछड़ा हुआ देश अपने विनियोग को बढ़ा नहीं देता वह निर्धनता के चंगुल से मुक्त नहीं हो सकता। पूंजी के सन्दर्भ में विनियोग एवं बचत तथा उससे सम्बन्धित आर्थिक पहलुओं का विस्तार से विवेचन करना आवश्यक है। निवेश को प्रोत्साहित करने के संबंध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. मायर एवं बाल्डविन का कहना है कि केवल नवीन संस्थाओं का निर्माण किसी समस्या का हल नहीं है। अपर्याप्त बचतों की समस्या की केवल नवीन संस्थाओं की स्थापना करके दूर नहीं किया जा सकता है। समस्या का समाधान तो केवल बचतों के लाभप्रद विनियोजन से ही हो सकता है।

"(The more creation of new Institutions guarantees no remedy. The Problem of Inadaquate saving cannot be solved merely by creating New Institutions, but the problems can be solved only by having profitable investment of the saving)." अल्पविकसित देशों में ब्याज की ऊंची दरें और पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता कम होने के कारण प्रायः विनियोग नहीं हो पाते। इसके लिए आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक सुलभ मुद्रा नीति को अपनाकर विनियोग कार्य को प्रोत्साहित करे। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास के लिए अल्पकालीन ऋणों के अलावा दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था भी की जाती है। व्यापारिक बैंकों द्वारा दिए गए अल्पकालीन ऋण विशाल विकास योजना की द ष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं। बचत कम होने के कारण अल्प-विकसित देशों में विनियोग कम होती है। विनियोग की अनुपस्थिति में बचत को प्रोत्साहन

नहीं मिलता तथा वहां पर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता, भविष्य में विनियोगों से होने वाली आय विनियोग की लागत का अनुपात है। जहां भविष्य में अनिश्चितता और जोखिम अधिक होते हैं। वहां पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को घटा देती है। जिन अविकसित देशों में क षि मुख्य धंधा है। वहां ऐसी अनिश्चिताएं अधिक होती है और इसलिए पूंजी की सीमान्त उत्पादकता भी कम होती है।

अल्पविकसित देशों में बचत इसलिए कम है कि वहां के व्यक्तियों की आय कम है। वहां ब्याज की दर बढ़ने से बचत की सम्भावनाएं नहीं होती। अल्पविकसित देशों के लिए बिल्कुल सही है कि यदि ब्याज की दर बढ़ा दी जाए तो बचत कम हो जाती है। क्योंकि कम आय वाले व्यक्ति उतनी ही बचत करते हैं जितनी कि वे अति आवश्यक समझते हैं। एक नियत आय, ब्याज की ऊंची दर होने पर कम बचत से प्राप्त की जा सकती है। अल्पविकसित देशों की बड़ी समस्या यह है कि विकास के साथ-साथ आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है। यदि विकास के लाभ आम आदमियों तक नहीं पहुंचते हैं तो उनका विकास की प्रक्रिया में आस्था नहीं रहती और इसका परिणाम न केवल विषमता वरन् आर्थिक एवं राजनैतिक अस्थिरता के रूप में उभर कर सामने आ सकता है। अतः मौद्रिक नीति में इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि नीची आय वर्ग को सस्ती दरों पर ऋण उपलब्ध हो सके।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अल्पविकसित देशों में मौद्रिक नीति सरकार की पूंजी निर्माण के लिए अतिरिक्त साधन जुटाने में भी सहायक हो सकती है। इन देशों में हीनार्थ प्रबंधन पूंजी निर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है और इस रूप में मौद्रिक नीति का उद्देश्य सरकार को विकासात्मक निवेश के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन उपलब्ध कराने का होना चाहिए अल्प विकसित देशों के विकास के लिए भारत में राष्ट्रीयकरण के उपरान्त इस ओर कई कदम उठाए गए हैं। जैसे—समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम नेहरू रोजगार योजना, प्राथमिकता क्षेत्र आदि। कई क्षेत्रों में ऋण पर सब्सिडी भी दी जा रही है। अल्पविकसित देशों में आर्थिक विकास के संबंध में मौद्रिक नीति के तीन विशिष्ट पहलू हैं—

1. ब्याज की दर पूर्ववत् रहने पर बैंक मुद्रा में व द्धि द्वारा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना।
2. ब्याज दर घटाकर आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना।
3. घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा आर्थिक विकास को आगे बढ़ाना है।

अविकसित देशों में मुख्य समस्या विनियोग के अभाव की रहती है। मौद्रिक नीति द्वारा ब्याज की दर कम करके अतिरिक्त बैंक मुद्रा की रचना करके विनियोग बढ़ाया जा सकता है। लेकिन ऐसी अर्थव्यवस्था के कई कारणों से अधिस्फीति प्रव त्तियों को बल मिलता है। अतः विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति का उद्देश्य आवश्यक विनियोग को प्रोत्साहन तथा अनावश्यक विनियोग-व द्धि को हतोत्साहित करना होना चाहिए।

मौद्रिक नीति की सीमाएं—

मौद्रिक नीति के अन्तर्गत वे उपाय आते हैं जो मुद्रा के आकार तथा संरचना साख की मात्रा एवं उसका वितरण, बयाज की दर तथा इन सब के उत्पादन तथा मुख्य स्तर पर होने वाले प्रभावों को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। वर्तमान समाज के लिए मुद्रा का अस्तित्व एक आवश्यक पूर्व दिशा है। परन्तु मुद्रा का व्यवहार इस तरह का रहता है कि यदि इसे उचित रूप से नियंत्रित नहीं किया जाता तो वह अनेक प्रकार की बुराइयों को जन्म देकर आर्थिक क्रम की स्थिरता को समाप्त कर देती है। मुद्रा की इस प्रकार की विनाशकारी प्रव त्ति को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मौद्रिक अधिकारी मुद्रा पर उचित नियंत्रण रखे। इसके अतिरिक्त देश के लिए निश्चित आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु भी मौद्रिक अधिकारी के द्वारा चलन एवं साख नीति का अपनाया जाना आवश्यक है।

मौद्रिक नीति की सीमाएं निम्नलिखित हैं—

1. **साख मुद्रा का कम प्रयोग**—अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में लोनों में बैंकिंग आदत के सीमित होने के कारण साख की अपेक्षा मुद्रा चलन का प्रयोग होता है। इसलिए केन्द्रीय बैंकों द्वारा साख नियंत्रण की क्रियाएं अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती ग्रामीण एवं दूरस्थ पिछड़े क्षेत्रों में साख मुद्रा तथा साख पत्रों में जनता का विश्वास बहुत ही कम होता है। इससे न तो लोगों में बचत की भावना में प्रोत्साहन मिलता है और न ही विभिन्न भागों की आर्थिक दशाओं में समानता आ पाती है। जनता के समक्ष साख मुद्रा के अपेक्षा चलन मुद्रा का व्यापक महत्व होता है। जिससे बैंकों की साख निर्माण शक्ति को

अत्यधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता है तथा केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति का भी मुद्रा की मात्रा पर अत्यधिक प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः मौद्रिक नीति को प्रभावशाली होने में सफलता नहीं मिलती है।

2. **पूंजी बाजार का अभाव**—किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के लिए सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार एवं पूंजी बाजार का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। क्योंकि इनके बिना देश की अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप से नहीं चलाया जा सकता। इनके माध्यम से विभिन्न वर्गों के उत्पादकों व्यवसायिकों तथा उद्योगपतियों की अपनी उत्पादन संबंधी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण उपलब्ध होते हैं। सरकार भी अपनी ऋण संबंधी आवश्यकताएं इन्हीं के द्वारा पूरा करती है। इनके माध्यम से ही मुद्रा की मांग तथा पूर्ति में समुचित समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा बाजार तथा पूंजी बाजार मुद्रा की मांग तथा पूर्ति में समायोजन स्थापित करके मुद्रा इकाई के मूल्य में स्थिरता लाई जा सकती है।

एक संगठित एवं सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार एवं पूंजी बाजार के अभाव में ये सभी बातें प्रभावशाली नहीं हो पाती है। पूंजी बाजार विकसित नहीं होने से बैंक दर खुले बाजार की क्रियाएं तथा नकद कोष के परिवर्तन साख को नियंत्रित करने में प्रभावहीन रहते हैं। बैंक दर की व द्धि साख को संकुचित करने में असमर्थ रहती है। क्योंकि मुद्रा बाजार का असंगठित भाग केन्द्रीय बैंक के नियंत्रण में नहीं रहता। ब्याज की दर व द्धि के कारण असंगठित मुद्रा बाजार में निक्षेप बढ़ जाते हैं और कुछ साख निर्माण के कार्य को पूर्ववत् करता रहता है। सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार भी सीमित होने के कारण केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार की क्रियाएं भी सफल नहीं हो पाती। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा न्यूनतम नकदकोष की सीमा बढ़ाने पर भी साख का संकुचन नहीं हो पाता क्योंकि अधिकांश सौदे नकदी के माध्यम से सम्पन्न होते हैं।

3. **ब्याज दर में अन्तर**—अल्पविकसित देशों में ब्याज की दरों में एक रूपता नहीं पाई जाती। बैंक दर बाजार ब्याज की दर तथा बट्टा दरों में भारी अंतर पाया जाता है। ब्याज की दरें समय और स्थान परिवर्तन के अनुसार बदलती रहती हैं। बैंक दर और बाजारी ब्याज की दर में समन्वय न होने के कारण मौद्रिक नीति के प्रभाव सीमित रहते हैं। मुद्रा बाजार में विभिन्न अंगों में समुचित नियंत्रण तथा घनिष्ठ संबंध न होने के कारण बैंक दर बाजारी ब्याज की दरों तथा पट्ट दरों में भारी अन्तर आता रहता है। इनमें अलग-अलग स्थानों पर भी अन्तर होते रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न ब्याज दरों में आपस में कोई संबंध नहीं होता है तथा बैंक दर का भी इन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। जिससे मौद्रिक नीति अत्यधिक प्रभावपूर्ण नहीं हो पाती है।

4. **बिल बाजार का अभाव**—अल्पविकसित देशों में बिल बाजार पूर्णतः विकसित नहीं होते कटौती बाजार का अभाव होने के कारण साख प्रणाली ठीक से कार्य नहीं कर पाती किसी भी देश की मौद्रिक व बैंकिंग व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए वहां पर एक सुव्यवस्थित एवं संगठित बिल बाजार का होना अत्यन्त अनिवार्य व आवश्यक होता है। अर्द्धविकसित देशों में प्रायः एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित बिल बाजार का अभाव होता है। जिससे मुद्रा एवं साख नियंत्रण व्यवस्था को सुचारू रूप से कार्य करने में विशेष कठिनाइयों का अनुभव होता है तथा मौद्रिक नीति के उद्देश्य की पूर्ति में अनेक बाधाएं उत्पन्न होती हैं।

5. **अमौद्रिक क्षेत्रों का अधिक होना**—अल्पविकसित देशों का एक बहुत बड़ा भाग अमौद्रिक होता है। जहां मुद्रा का चलन ही नहीं होता है। वहां सौदे प्रायः बार्टर पद्धति के अधीन सम्पन्न होते हैं। फलतः मुद्रा की पूर्ति या ब्याज की दर के परिवर्तन आर्थिक क्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते। अभी भी अधिकांश अर्द्धविकसित राष्ट्रों के व्यापक रूप से अमौद्रिक क्षेत्र पाए जाते हैं। जहां मुद्रा के प्रचलन का पूर्ण रूप से अभाव होता है। वरन् अधिकांश लेन देन वस्तु विनिमय पद्धति के अनुसार ही होते हैं इसके परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में मुद्रा की मात्रा अथवा ब्याज की दरों में सम्बन्धित परिवर्तनों का उन क्षेत्रों की आर्थिक क्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः उन स्थानों पर मौद्रिक नीति के उद्देश्य की प्राप्ति में असफलताओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार ऐसे अनेक कारण है जिनमें विकास की गति कम हुई है और मौद्रिक नीति निश्चित रूप से सफल नहीं होती।

विकास के सन्दर्भ में यह सामान्य धारणा बन गई है कि राजकोषीय नीति, मौद्रिक नीति की तुलना में विनियोग को प्रोत्साहित करने में अधिक सहायता कर सकती है। विकास के संबंध में यह स्वीकार किया गया है कि मौद्रिक नीति विनियोगी के विरुद्ध संघर्ष करती है। जबकि राजकोषीय नीति ऐसा नहीं करती। मौद्रिक नीति के निर्णय लेने उन्हें क्रियान्वित करने में तथा उनके परिणाम आने में समय लगता है जिससे उनकी प्रभावशीलता कम हो जाती है। मौद्रिक नीति को औचित्य एवं सीमाओं को स्पष्ट करते हुए रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के भूतपूर्व गवर्नर श्री एच. बी. आर. आयंगर ने कहा था ''यद्यपि इसमें कोई संदेह

नहीं है। मौद्रिक नीति प्रशासकों का आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। किन्तु उनके महत्व की अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए किसी भी प्रकार की मौद्रिक नीति खाद्यान्न उत्पादन में व द्धि नहीं कर सकती है। इसी प्रकार समाज विरोधी तत्वों जैसे काला बाजार, सट्टेबाजी, जमाखोरी पर भी मौद्रिक नीति का प्रभाव नहीं पड़ता है। मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य यह होना चाहिए कि मुद्रा की पूर्ति की इतना रखे कि कम पूर्ति वाली वस्तुओं पर मांग का दबाव कम बना रहे साथ ही साख नियंत्रण इतना कठोर नहीं होना चाहिए कि इससे उत्पादन में रूकावट हो तथा बाजार के विस्तार में बाद्या उपस्थित है। यह निश्चित है कि मौद्रिक नीति देश के आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

लेकिन इसके साथ-साथ राजकोषीय नीति, मौद्रिक नीति की कमियों को दूर करती है। यह स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास की समस्या का समाधान मात्र मौद्रिक नीति में ही निहित नहीं है। वरन् इस समस्या को राजकोषीय नीतियों एवं अन्य उपायों द्वारा भी छल किया जाना चाहिए मौद्रिक नीति देश में मुद्रा एवं साख की मात्रा और उसके उपभोग को प्रभावित करते हुए मुद्रा प्रसार को नियंत्रित करके तथा भुगतान संतुलन में साम्य स्थापित करके आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर सकती है। साथ ही ब्याज की दर में उपयुक्त कमी करके तथा विनियोग को प्रोत्साहन प्रदान करते हुए मौद्रिक नीति विकासशील राष्ट्रों में रोजगार तथा उत्पादन व द्धि करने में अत्याधिक सहायक सिद्ध हो सकती है।''

Monetary Policy of Reserve Bank— मुद्रा नीति के उद्देश्य भिन्न देशों में तथा भिन्न स्थितियों में बदलते रहते हैं। मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य कीमतों में स्थिरता लाना है। केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य मुद्रा की पूर्ति तथा असली लागत को नियन्त्रित तथा नियमित करना है इससे देश की विदेशी विनिमय स्थिरता भी बनी रहेगी। मौद्रिक नीति के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति में रिजर्व बैंक की हालत दूसरे पिछड़े और अविकसित देशों के मुद्रा बाजारों के केन्द्रीय मौद्रिक अधिकारियों से कोई अच्छी नहीं है। भारतीय जनता की मुद्रा की तरलता पसन्दगी के कारण भारत में कर्ज देने वाले साधनों में लोच का अभाव है। इससे रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति सफल नहीं हो पाती। रिजर्व बैंक के पास मुद्रा की वितरण को नियन्त्रित करने की पूरी शक्ति नहीं है। तथा रिजर्व बैंक उस उद्देश्य का निरीक्षण भी नहीं कर पाता है। जिस उद्देश्य से मुद्रा बाजार में मुद्रा पहुंचाई जाती है। अच्छे बिलों के अभाव के कारण तथा भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होने के कारण रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति सफल नहीं हो पाती। एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय बैंक को क्रियाशील मुद्रा नीति की आवश्यकता है। यह नीति ऐसी होनी चाहिए जो आर्थिक विकास की गति की तीव्र करने में सहायक हो और ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करे जिनमें अर्थव्यवस्था का स्थायी व स्वस्थ रूप से विकास हो सके चूंकि मुद्रा नीति समूची आर्थिक नीति का केवल एक अंग है, रिजर्व बैंक भी सन् 1952 से लेकर अपनी मुद्रा नीति में देश की आर्थिक नीति के दो प्रमुख उद्देश्यों पर बल देता है—

1. राष्ट्रीय आय तथा रहन-सहन के स्तर को बढ़ाने के उद्देश्य से विकास कार्यक्रमों को तेज करना।

2. अर्थव्यवस्था में विद्यमान मुद्रा स्फीति संबंधी देशों को कम करना तथा उन पर नियंत्रण करना।

अपनी स्थापना के पश्चात व योजनाकाल के प्रारम्भ होने तथा रिजर्व बैंक ने सस्ती मुद्रा नीति अपनाई और बैंक दर 3% बनाए रखी। परन्तु पंचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्वयन के कारण रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अपनी मौद्रिक नीति को समयानुसार समायोजित किया है। मुद्रा नीति को देश में राष्ट्रीय आय और रोजगार के स्तर को पूर्ण पर स्थिर करना है और इस प्रकार देश के साधनों का अधिकतम प्रयोग सुनिश्चित करना होता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा तथा साख का इस प्रकार प्रबन्ध करने का उद्देश्य निर्धारित हुआ जिससे देश में पूर्ण रोजगार पर आर्थिक स्थिरता बनी रहे। रिजर्व बैंक ने अर्थव्यवस्था में साख पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए प्रभावी मौद्रिक नीति पर बल दिया है। उसका मानना है कि मुद्रा नीति ऐसी होनी चाहिए जो साख निर्माण पर नियंत्रण रखे किन्तु साथ ही देश के उत्पादक साधनों के उपभोग में सहायक सिद्ध हो। रिजर्व बैंक ने भी नियमन के साथ-साथ प्रोत्साहन तथा विकास सम्बन्धी कार्य भी किया है। एक समुचित मुद्रा नीति का दीर्घकालीन उद्देश्य साख का विस्तार करना होता है किन्तु अल्पकाल में यह इसके विस्तार की गति को नियन्त्रित करने का प्रयास करती है। ऐसी मुद्रा नीति को ही 'नियन्त्रित साख विस्तार' नीति कहा जाता है।

Reserve Bank की मौद्रिक नीति निम्न से सम्बन्धित है—

1. **वित्तीय संस्थाओं का विस्तार**—Reserve Bank का मानना है कि देश का विकास वहां की अर्थव्यवस्था के विकास पर निर्भर करता है। अर्थव्यवस्था का विकास करने के लिए वित्तीय संस्थाओं को निर्माण करना चाहिए। रिजर्व बैंक ने इस तरफ बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। उसने अनेक वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की है।

औद्योगिक वित्त प्रदान करने की द ष्टि से भारतीय औद्योगिक वित्त निगम व राज्य वित्त निगमों की स्थापना में सहयोग दिया है। उद्योगों की स्थापना व विकास हेतु भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गई है। यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया स्थापित किया है। क षि को प्रदान करने की द ष्टि से क षि से पुनर्वित्त निगम स्थापित किया गया है। रिजर्व बैंक ने इनकी शेयर पूंजी में हिस्सा लेकर व इन्हें मुक्त रूप से ऋण प्रदान कर देश में विकास के लिए साख सुविधाएं बढ़ाने में पर्याप्त योगदान दिया है। रिजर्व बैंक ने कमजोर वर्गों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये 'क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक' स्थापित किये गये हैं। बैंकिंग क्षेत्र में एकाधिकार संकेन्द्रण को समाप्त करने और सार्वजनिक बचतों को विकास की सही दिशाओं में गतिशील करने की द ष्टि से जुलाई 1969 को देश के 14 और 1980 में 6 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति अब इन संस्थाओं के सीधे सम्पर्क में आने कारण अधिक सक्रिय एवं स जनात्मक हो गयी है। इसी दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाकर रिजर्व बैंक ने बिल बाजार योजना प्रारम्भ की। इस रीति से रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों व मुद्रा बाजार को वित्त प्रदान करता है। व्यापारिक बैंक इन विनिमय बिलों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर लेते हैं। इस नीति को समय-समय पर उदार बनाया गया है और छोटे बैंकों को भी रिवर्ज बैंक ने यह सुविधा दी है।

2. **साख सुविधाएं बढ़ाना**—रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का एक प्रमुख अंग कुछ विशेष क्षेत्रों जैसे लघु उद्योगों और सहकारी क्षेत्रों, लघु क षकों आदि को साख सुविधाएं प्रदान करना है। इसके लिए रिजर्व बैंक ने अनेक योजनाएं चलाई हैं। क षि में दुग्ध व्यवसाय व मुर्गी-पालन आदि की योजनाओं को भी प्रोत्साहन दिया है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात यह ऋण सुविधा तेजी से बढ़ रही है। रिजर्व बैंक ने खुले बाजार की क्रियाओं की ओर ध्यान दिया है। खुले बाजार की क्रियाओं का अभिप्राय खुले बाजार में केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों का खरीदना और बेचना है। इस शस्त्र के प्रभावोत्पादक प्रयोग के लिए सरकारी प्रतिभूतियों एवं अनुमोदित प्रतिभूतियों (Approved Securities) के एक विस्त त एवं सक्रिय बाजार की आवश्यकता होती है। इस दिशा में सरकार या केन्द्रीय बैंक कुछ करना चाहे तो कर सकता है। रिजर्व बैंक ने क षि और औद्योगिक वित्त के लिए विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की है। बड़े और लघु उद्योगों तथा सहकारी संस्थाओं के लिए विशेष रूप से वित्त का प्रबन्ध किया है। सरकारी प्रतिभूतियों को विवेकात्मक आश्रय प्रदान करके सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करने में सहायता की है। सन् 1957 से बिल मार्केट योजना को और उदार बना दिया गया। इस योजना में निर्यात हुण्डियों को भी सम्मिलित कर दिया गया ताकि वाणिज्यिक बैंक निर्यातकों को उदारतापूर्वक साख प्रदान कर सकें। जुलाई 1967 में रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बैंकों को क षि, निर्यात तथा लघु उद्योगों और मंदी से पीड़ित इन्जीनियरिंग उद्योग की सहायता बढ़ाने की राय दी थी। इनको मशीनरी आदि की खरीद के लिए दिये गये ऋणों पर रिजर्व बैंक द्वारा रियायती दर पर पुनर्वित प्रदान करने का प्रस्ताव था। दूसरे विश्व-युद्ध से पूर्व रिजर्व बैंक ने इस क्रिया का सीमित उपयोग किया है।

किन्तु युद्ध के पश्चात् साख को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक ने खुले बाजार की क्रियाओं का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया है। 1951 से भारत में विकास योजनाओं पर खर्च करने के लिए सरकार को भारी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता उत्पन्न हुई। अतः सरकार के लिये ऋणों की व्यवस्था हेतु रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय पुनः प्रारम्भ किया गया। जैसे-जैसे सरकारी योजना व्यय में व द्धि होती गयी, वैसे-वैसे सरकारी प्रतिभूतियों का विक्रय बढ़ता गया दूसरी ओर बैंकों की जमा राशि में भी काफी व द्धि होने लगी, इस कारण उनके द्वारा और अधिक सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय किया जाने लगा ताकि उनके कोषों की तरलता बनी रहे, साथ ही साथ लाभप्रद विनियोग भी रहे।

3. **साख नियंत्रण**—पिछले कुछ वर्षों से देश में कीमतों में बड़ी तेजी से व द्धि हो रही है। कीमतों में इस व द्धि का एक कारण बैंक साख का बढ़ना था। बैंकों की जमाओं में बड़ी मात्रा में व द्धि के कारण बैंकों में अतिरिक्त तरलता अथवा नकदी साधन पैदा होने जाने से बैंक द्वारा ऋण देने में बड़ी प्रतियोगिता उत्पन्न हो गई थी। बैंकों के ऋण अथवा साख का प्रयोग अधिकतर वस्तुओं के स्टॉक जमा करने के लिए किया गया है जिसके परिणामस्वरूप कीमतें बड़ी तेजी से बढ़ी हैं और मार्केट में आवश्यक वस्तुओं की न्यूनताएं उत्पन्न हो गई हैं। साख को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक में आवश्यक वस्तुओं की न्यूनताएं उत्पन्न हो गई हैं। साख को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंकों को दिए जाने वाले ऋणों की अलात को और अधिक बढ़ा दिया है। रिजर्व बैंक ने बैंकों के नकदी आरक्षण अनुपात में परिवर्तन करके के अपने अधिकार का भी प्रयोग किया। बैंक दर तथा निबल तरलता अनुपात बढ़ा देने के साथ ही रिजर्व बैंक ने उसके द्वारा कम ब्याज की दर पर वर्ष के पुर्नवित्त की सुविधाओं पर ब्याज की दरें भी बढ़ा दीं। परिवर्तनशील नकद कोषानुपात के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया। इसके बाद इसका उपयोग नहीं किया गया। 1962 में रिजर्व बैंक अधिनियम एवं बैंकिंग कम्पनी अधिनियम

में संशोधन किए गये ताकि परिवर्तनशील नकद कोषानुपात की व्यवस्था प्रभावपूर्ण रीति से कार्य कर सके। इस संशोधन के अनुसार नकद कोषानुपात को तरल कोषानुपात से प थक् कर दिया गया ताकि ऊंचे नकद कोषानुपात की आवश्यकता नीचे गैर-नकद तरल परिसम्पत्तियों से प्रभावहीन न हो जाए।

4. **ब्याज दर पर नियंत्रण**—रिजर्व बैंक ने मौद्रिक नीति को प्रभावी बनाने के लिए उपयुक्त ब्याज दर नीति का निर्माण किया है। रिजर्व बैंक दर की खण्ड प्रणाली को अपनाया जाता है। इसके अन्तर्गत सदस्य बैंकों को रिजर्व बैंक के पास वैधानित कोष रखने होते थे। इन जमाओं के एक निश्चित प्रतिशत के बराबर सदस्य बैंकों के मूल कोटे निर्धारित कर दिये जाते थे। इस कोटे की राशि बैंक दर पर उधार ली जा सकती थी। इससे अधिक मात्रा में ऋण लेने के लिए सदस्य बैंकों को बैंक दर के अतिरिक्त ब्याज दण्ड दरें भी देनी होती थीं। उधार दी जाने वाली राशि को विभिन्न श्रेणियों में बांट दिया गया तथा उन पर ब्याज की दरें निर्धारित कर दी गयीं।

5. **मुद्रा की मांग और पूर्ति में सन्तुलन**—देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि मुद्रा की मांग और पूर्ति में सन्तुलन हो। विकासशील अर्थव्यवस्था में एक तरफ अमौद्रिक क्षेत्र का मौद्रिकरण, औद्योगिक व क षि क्षेत्र के विस्तार आदि कारणों से मुद्रा की मांग बढ़ती है। इसे देखते हुए मुद्रा की पूर्ति बढ़ाई जाती है। यदि मांग व पूर्ति में सामंजस्य स्थापित हो जाता है तो मूल्य स्थिर रहते हैं। यदि पूर्ति मांग से अधिक होती है तो मूल्य-स्तर बढ़ जाता है तथा यदि पूर्ति मांग से कम होती है तो मूल्य स्तर घट जाता है। स्पष्टतः यहां आकर हमारी मौद्रिक नीति पूर्णतः असफल हो जाती है क्योंकि भारत में मुद्रा की पूर्ति मांग से कहीं अधिक तेज गति से बढ़ी है। फलस्वरूप मूल्य-स्तर में दौड़ती हुइ मूल्य व द्धि का दौर आ चुका है। रिजर्व बैंक को यह निश्चित करना होता है कि देश में महंगी मुद्रा प्रणाली हो या सस्ती मुद्रा प्रणाली हो। जब देश में उच्चतर अथवा तीव्र वेग युक्त स्फीति हो तथा अत्यधिक सट्टेबाजी हो तथा व्यापारी व व्यवसायी अन्धाधुन्ध निवेश कर रहे हों, जब बैंकों का ऋण उचित सीमाओं को पार गया हो, जब व्यापार शेष देश के प्रतिकूल चल रहा हो तो उन दिनों में महंगी मुद्रा की नीति अपनाई जानी चाहिए। ब्याज-दर अधिक कर देनी चाहिए, ताकि सट्टेबाजी रुक जाए तथा निवेश भी विचारपूर्वक किया जाए। इससे कीमतें भी बढ़ने से रूक जायेंगी तथा व्यापार शेष भी देश के अनुकूल होता चला जाएगा। किन्तु यदि परिस्थितियां इससे विपरीत हों तो ब्याज-दर कम करके मुद्रा सस्ती कर देनी चाहिए।

स्वतन्त्रता के बाद देश लगातार आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। मौद्रिक क्षेत्र में महान परिवर्तन हुए और रिजर्व बैंक को प्रत्यक्ष अधिकार मौद्रिक नीति को सफल बनाने के लिए मिले। बैंक के राष्ट्रीयकरण, बैंकिंग कानून का निर्माण तथा क षि उद्योग के विकास के लिए रिजर्व बैंक को दिये गये अधिकार के कारण बैंक की शक्ति बहुत बढ़ गयी है। अतः इन परिवर्तनों के कारण मौद्रिक नीति के क्षेत्र का काफी विस्तार हो गया। 1951 की नई मौद्रिक नीति तथा 1952 की बिल-बाजार-योजना ने रिजर्व बैंक की खुले बाजार कार्यक्रम की मात्रा को काफी बढ़ा दिया है।

अब रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति काफी प्रभावशाली और सक्रिय हो गई है। सन् 1956 में रिजर्व बैंक को सदस्य बैंकों के संचित-अनुपात को घटाने-बढ़ाने का अधिकार भी मिल गया है। साथ ही साथ आनुपातिक रिजर्व सिद्धांत की जगह न्यूनतम रिजर्व सिद्धांत के आधार पर नोट जारी करने का अधिकार रिजर्व बैंक को मिल गया है। बैंक दर नीति में भी काफी सुधार हुआ है। अतः इससे मौद्रिक नीति का क्षेत्र और भी ज्यादा बढ़ गया है। यद्यपि सरकार और रिजर्व बैंक देश को आर्थिक विकास में पूर्ण रूप से प्रयत्नशील हैं। रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति इस उद्देश्यों को प्राप्त करने में उनकी सहायता कर रही है। फिर भी हमारी मौद्रिक नीति उतनी सफल नहीं हो रही जितनी सफल होनी चाहिए। भारत में क षि की प्रधानता और तीन दशकों के नियोजित विकास के बावजूद उसकी मानूसन पर निरन्तर निर्भरता, विस्फोटक बेरोजगारी, रूढ़ियों से ग्रस्त भारतीय समाज, अपर्याप्त बैंकिंग सुविधाएं और व्यापक दरिद्रता जैसी न केवल अनेक समस्याएं हैं, बल्कि प्रक ति द्वारा लगातार असहयोग, जनमानस में व्याप्त भ्रष्टाचार और राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा इस समस्या को बढ़ा रहे हैं। भारत की मौद्रिक नीति अधिक प्रभावी नहीं हो रही है। इसका कारण यह है कि जब बैंकों के निक्षेपों में तीव्र व द्धि हो रही हो तो ऊंची बैंक-दर, अधिक शुद्ध तरलता अनुपात, न्यूनतम वैधानिक अनुपात में परिवर्तन जैसे उपाय बैंकों की साख-विस्तार की क्षमता पर अंकुश लगाने में असमर्थ रहते हैं। रिजर्व बैंक में अनिवार्यतः महंगे आयात, तेल मूल्य-व द्धि आदि बातों ने भी हमारी मौद्रिक नीति के कार्यकरण पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। रिजर्व बैंक का गैर वित्तीय संस्थाओं पर उतना नियंत्रण नहीं रहा जितना होना चाहिए।

अतः ऐसी स्थिति में बढ़ती हुई कीमतों को रोकने में मौद्रिक नीति की असमर्थता स्वाभाविक है। भारतीय अर्थव्यवस्था में साख प्राप्ति का एक प्रमुख स्रोत 'व्यापार' है जो काले धन से पोषित होता है और यह क्षेत्र रिजर्व बैंक के नियंत्रण से सर्वथा

बाहर है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक नियंत्रण सम्बन्धी उपाय केवल एक सुसंगठित अर्थव्यवस्था में ही प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं, न कि भारत जैसी असंगठित तथा अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था में, जहां अल्पकालीन सम्पत्तियों जैसे कोषागार प्रपत्र, प्रतिज्ञा पत्र का अभाव है, स्थिर नकद अनुपात कम है और क्रियाशीलता की स्वतन्त्रता अनुपस्थित है। देश में उपलब्ध वित्तीय साधनों का भी पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है। इस दिशा में राष्ट्रीयक त बैंकों ने भी सरकारी नीति के विरुद्ध अनुशासनहीनता का परिचय देते हुए बड़ी मात्रा में अनावश्यक साख का विस्तार किया है जिससे कीमत-प्रसार को बढ़ावा मिला है।

मौद्रिक नीति में सुधार के लिए आवश्यक सुझाव—

देश का आर्थिक विकास देश की मौद्रिक नीति के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है। मुद्रा नीति का प्रमुख कार्य देश में आर्थिक विकास को बढ़ावा देना है। इस उद्देश्य से भारत के रिजर्व बैंक को, जो कि देश की मुद्रा नीति का संचालन करता है, देश में निवेश तथा पूंजी-निर्माण की दर को बढ़ाने का प्रयत्न करने चाहिए। अतः भारत जैसे अल्पविकसित देशों में मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य स्थिरता के साथ आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना है। मौद्रिक अधिकारी देश के आर्थिक विकास को देश में किये जाने वाले निवेश को वांछित क्षेत्रों अथवा उद्योगों में निवेशित करके बढ़ावा दे सकता है। मौद्रिक नीति पर नियंत्रण करने के लिए आवश्यक है कि रिजर्व बैंक साख निर्माण पर अपना नियंत्रण करें।

इसके लिए आवश्यक है कि बैंक इस प्रकार की नीति अपनाए कि देश में साख का विस्तार आवश्यकताओं के अनुरूप हो। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को जमा की ब्याज दर पर नियंत्रण करना चाहिए। भारत में विभिन्न बैंकों को जमा पर दी जाने वाली ब्याज दर में काफी विभिन्नता पाई जाती है। इससे बैंकिंग व्यवसाय की सुद ढ़ता समाप्त हो जाती है। अतः बैंकिंग कम्पनी कानून द्वारा जमा पर दी जाने वाली ब्याज को नियंत्रित करने का अधिकार रिजर्व बैंक को दिया जाना चाहिए। रिजर्व बैंक को जनता का विश्वास जीतना चाहिए और लोगों में बचत करने की भावना उदय करनी चाहिए। जनता में बैंकिंग-आदत डालने के लिए सर्वप्रथम रिजर्व बैंक को देश के बैंकों को फेल होने से बचाना बहुत ही जरूरी है। फिर रिजर्व बैंक को जनता के मस्तिष्क में बैंकों की प्रति सुरक्षा और विश्वास की भावना जाग्रत करनी पड़ेगी। जनता की जमा को सुरक्षित बनाने के लिए जमा बीमा की योजना लागू की जानी चाहिए। जमा बीमा के विकास के लिए राष्ट्रीय जमा बीमा कारपोरेशन की स्थापना रिजर्व बैंक की पूंजी और देखभाल में होनी चाहिए। रिजर्व बैंक को दूसरे बैंकों के साथ मिलकर आर्थिक विकास के लिए कार्य करने चाहिए।

रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का मूल्यांकन (Critical Evaluation of Reserve Bank's Monetary Policy)—मुद्रा-निर्गमन तथा साख-नियमन सम्बन्धी नीति, मौद्रिक नीति कहलाती है। मुद्रा को मूल्य को नियंत्रित रखने के आशय से अपनाई गई नीति मौद्रिक नीति कहलाती है। मौद्रिक नीति को 'मोद्रिक प्रबन्ध' भी कहते हैं। मोद्रिक प्रबन्ध के अन्तर्गत वह नीति आती है जो एक निश्चित उद्देश्य से साख और करेन्सी की मात्रा का सुव्यवस्थित नियंत्रण करती है। मौद्रिक प्रबन्ध उस प्रयत्न की तरफ इशारा करता है जो समाज के कल्याण की व द्धि के लिए करेन्सी और साख की मात्रा तथा मूल्य को नियंत्रित करता है। अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण करने के लिए मौद्रिक नीति द्वारा कर नीति, विनियोग, मूल्य तथा वेतन सम्बन्धी नियंत्रणों का स्फीति को नियंत्रित करने में एक विशेष स्थान होता है, परन्तु इन सबके उपयोग को निश्चित सीमायें अन्तर्राष्ट्रीय तथा आन्तरिक राजनैतिक स्थितियों द्वारा निर्धारित होती हैं और इस कारण मौद्रिक नीति के यन्त्र का उपयोग किये बिना स्फीति के शक्तिशाली शत्रु पर विजय प्राप्त करना कठिन है। रिजर्व बैंक ने अपनी स्थापना से लेकर आज तक जितने भी कार्य किये हैं, उनमें से कुछ क्षेत्रों में बैंक का कार्य सराहनीय रहा है। उचित मुद्रा-नीति, ब्याज की दरों में सामयिक परिवर्तन, सार्वजनिक ऋण व्यवस्था, समाशोधन व्यवस्था, औद्योगिक व क षि वित्त का प्रबन्ध, खोज और अनुसन्धान और आंकड़ों का संग्रहण तथा प्रकाशन उसकी सफलता की सफल कसौटियां हैं।

भारतीय मौद्रिक नीति का उद्देश्य मूल्यों में स्थायित्व रखते हुए पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत तीव्र गति से आर्थिक विकास प्राप्त होता है। इस विचार को द ष्टि में रखते हुए मौद्रिक नीति का उद्देश्य प्राप्त होता दिखाई नहीं देता है। त तीय योजना काल में मूल्यों में 32 प्रतिशत की व द्धि हुई। इसके बाद की तीन एकवर्षीय योजनाओं व चौथी योजना में भी मूल्य लगातार बढ़ते ही गये। 1951 से 1961 तक के दशक में मूल्यों में 8 प्रतिशत वार्षिक, 1961 से लेकर 1971 तक के दशक में 11 प्रतिशत वार्षिक और 1971 से 1975 तक 20 प्रतिशत वार्षिक की व द्धि हुई। रिजर्व बैंक की मुद्रा नीति के दो प्रमुख उद्देश्य थे—साख सुविधाएं प्राप्त करके आर्थिक विकास की सहायता करना तथा कीमत-स्फीति को रोकने के उद्देश्य से साख को नियंत्रित करना। जहां तक प्रथम उद्देश्य का संबंध है, इसमें रिजर्व बैंक काफी सरल रहा है। रिजर्व बैंक ने आर्थिक विकास के उद्देश्य से क षि, बड़े

तथा लघु उद्योगों, सहकारी संस्थाओं तथा निर्यात के लिए वित्त प्रदान करने में बड़ी सहायता की है और कई विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की है। फिर भी यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति देश के आर्थिक विकास को प्रोन्नत करने में अधिक सफल नहीं रही। जहां तक मुद्रा स्फीति को रोकने तथा साख नियंत्रण का सम्बन्ध है, रिजर्व बैंक ने सब प्रकार के नियंत्रणों का प्रयोग किया है। इनके बावजूद मुद्रा स्फीति अधिक से अधिक जोर पकड़ रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए केवल मुद्रा नीति पर्याप्त नहीं।

रिजर्व बैंक देशी बैंकिंग प्रणाली से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में, बैंकिंग संकटों को दूर करने, विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखने व मुद्रा प्रसार को रोकने में सर्वथा असमर्थ रहा है। मुद्रा-प्रसारिक दशाओं के कारण लागत दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। विकास के बावजूद भी योजनाओं की सफलता नगण्य जान पड़ती है।

देश में 'सुलभ मुद्रा नीति' के उपरान्त भी जहां वित्त की कठिनाई बनी रही, वहां आज ठीक उसके विपरीत 'कठोर साख नीति' का पालन करने पर भी मुद्रा व साख के प्रसार एवं मूल्य व द्धि पर नियंत्रण नहीं लगाया जा सका। भारत का धीमा आर्थिक विकास आज भी उसे 'आत्मस्फूर्ति' की अवस्था में प्रवेश द्वार पर रोके पड़ा है। यद्यपि बचत तथा निवेश ढांचा उर्ध्वगामी है लेकिन इसके बावजूद अर्थव्यवस्था की व द्धि-दर, प्रति-व्यक्ति आय और राष्ट्रीय उपभोग आज भी निम्न स्तरीय है। ऐसे बहुत से कारण हैं जो सरकार और बैंक की मूल्य नियंत्रण नीति को कमजोर करते हैं। जैसे अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार होने पर मुद्रा संकुचन की स्थिति आ जाती है। वर्तमान मुद्रा स्फीति के पीछे अनेक शक्तियां क्रियाशील हैं जिसका सम्बन्ध मुद्रा-स्फीति के अलावा उत्पादन और उपभोग के ढांचे, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट, काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था आदि तथ्यों से हैं। अतः जब तक सभी दिशाओं में मुद्रा-स्फीति पर प्रहार नहीं किया जायेगा इसके समाधान की सम्भावना नहीं है।

इसी प्रकार सरकार की राजकोषीय क्रियाओं द्वारा जो मुद्रा स्फीतिक शक्तियां उत्पन्न होती है। मौद्रिक नीति उनको रोकने में निर्णायक घटक के रूप में कदापि कार्य नहीं कर सकती। यह न उचित ही होगा और न सम्भव ही कि राजकोषीय नीति द्वारा उत्पन्न हुए समघात को मौद्रिक नीति द्वारा उनको प्रभावहीन किया जाये। भारत में तस्करी और काले धन की समस्या भी मौद्रिक नीति को प्रभावहीन बनाती है। रिजर्व बैंक सरकार की वित्त नीतियों की सफलता में योगदान कर सकता है। किन्तु कर-निर्धारण, प्रशासन एवं तस्करी को नियन्त्रित करने में उसका योगदान सीमित रहने से मौद्रिक नीति के अन्तर्गत उठाये गये पग प्रभावहीन हो जाते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था पर मानूसन की अनिश्चितता का जितना व्यापक प्रभाव है उतना सम्भवतः अन्य किसी तत्व का नहीं।

पांच वर्ष के काल-चक्र में प्रायः सूखा या बाढ़, दो वर्ष सामान्य और एक वर्ष उत्तम फसल का होता है। इस दिशा में फसल खराब होने या कम उत्पादन होने से जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे रिजर्व बैंक किस प्रकार निश्चित कर सकता है। मौद्रिक नीति के असफल होने का कारण भारतीय मुद्रा बाजार के संगठित और असंगठित भागों में समन्वय का अभाव है। असंगठित मुद्रा बाजार की विद्यमानता, किराया-क्रय पद्धति का प्रचलन तथा ब्याज दरों की असमानता ने मौद्रिक नीति को असफलता की ओर बढ़ाया है। मुद्रा-स्फीति की दशायें कुछ बाह्य कारणों द्वारा भी उत्पन्न हुई हैं। चीन का आक्रमण और पाकिस्तान से कलह इत्यादि भी मुद्रा-स्फीति की दशाओं को प्रोत्साहित करने के लिए उत्तरदायी रहे हैं जो कि रिजर्व बैंक के क्षेत्र के बाहर हैं। देश की अर्थव्यवस्था पर गैर बैंकिंग संस्थाए भी अपना प्रभाव डालती हैं। इन संस्थाओं का प्रभाव बढ़ने से मौद्रिक नीति प्रभावित होती है। बड़ी-बड़ी धनराशियां अब बैंकों में जमा करने के स्थान पर बड़े औद्योगिक व व्यापारिक ग हों तथा वित्त प्रदान करने वाली अन्य संस्थाओं में जमा की जा रही हैं, क्योंकि ये संस्थायें ऊंची दर पर ब्याज देती हैं। जब मौद्रिक नियंत्रण नीति के अन्तर्गत साख को कम करने के लिए बैंकिंग पद्धति को आदेश दिया जाता है तो केन्द्रीय बैंकिंग नियंत्रण की परिधि के लिए बाहर गैर-बैंकिंग संस्थाओं में इतने कोषों का जमा हो जाना, मौद्रिक अधिकारियों के लिए चिन्ता का विषय बन जाता है। ये गैर-बैंकिंग संस्थायें अपनी अवांछनीय रीतियों से मौद्रिक नीति के प्रभावहीन कर देती हैं।

अध्याय 21
राजकोषीय नीति
(Fiscal Policy)

राजकोषीय नीति - आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पर्याप्त मात्रा में धन की व्यवस्था करना राजकोषीय नीति का मुख्य कार्य हैं यह किसी देश की वित्तीय नीति है। सरकारें अपनी आय एवं व्यय के माध्यम से इसका निर्माण करती हैं। सरकारी कर और सरकारी व्यय राजकोषीय नीति के दो महत्वपूर्ण अंग हैं। सार्वजनिक ऋण को भी राजकोषीय नीति का तीसरा अंग माना जाता है। इस प्रकार किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अर्थव्यवस्था में कर-संरचना तथा सार्वजनिक आय के आकार के निर्धारण तथा सार्वजनिक व्यय के आकार एवं दिशा के निर्धारण को ही राजकोषीय नीति कहा जाता है।

केन्स के अनुसार - "राजकोषीय नीति एक ऐसी नीति है जो अर्थव्यवस्था में संतुलनकारी तत्व के रूप में राजस्व का प्रयोग करती है।"

आर्थर स्मिथीज के अनुसार "राजकोषीय नीति वह नीति है जिसके अन्तर्गत सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रमों राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर वांछनीय प्रभाव डालने तथा अवांछनीय प्रभाव रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।

राजकोषीय नीति के उद्देश्य
(Objectives of Fiscal Policy)

राजकोषीय नीति के मुख्य उद्देश्य अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करना। आज से लगभग 50 वर्ष पूर्व अर्थात् 1929 को महान विश्वव्यापी मंदी के समय तक राजकोषीय नीति का अर्थव्यवस्था में आर्थिक एवं वित्तीय क्रियाओं के नियमन में कोई विशेष महत्वपूर्ण योगदान नहीं था किन्तु सर्वव्यापी महान् मंदी के समय संसार के प्रमुख देशों का ध्यान मंदी के कुप्रभावों को दूर करने के लिए राजकोषीय नीति की ओर आकर्षित हुआ।

Fiscal Policy involes alterations in government expenditure for goods and services or the level of fare rates. Unlike monetary Policy. These measures involves direct government entrance into the market for goods and services (in case of expenditure and a direct impact on private (in case of taxes)" - Ackley.

संयुक्त राज्य अमेरिका की संसद ने 1946 में रोजगार एक्ट पारित करके राजकोषीय नीति के आर्थिक उद्देश्यों को व्यक्त किया "संघ सरकार की यह अनवरत नीति और जिम्मेदारी है।" वह अपनी आवश्यकताओं, दायित्वों तथा उद्योग, कृषि, श्रम को आवश्यकताओं के लिए सभी व्यावहारिक साधनों का उपयोग करें, राज्य और स्वायत्त सरकारों की योजनाओं एवं कार्यों में समन्वय स्थापित करे तथा स्वतंत्र प्रतियोगी उपक्रम एवं सामान्य कल्याणकारी दशाओं को प्रोत्साहन प्रदान करे जिनके अन्तर्गत कार्य की तलाश में फिरने वालों और काम चाहने वालों को रोजगार के अवसर उपलब्ध होंगे तथा अधिकतम रोजगार, उत्पत्ति एवं क्रय-शक्ति में सुधार करें।"

1. **आर्थिक स्थायित्व लाना** - आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए यदि राजकोषीय नीति को एक यंत्र के रूप में उपयोग किया जाता है तो राज्य को अपने बजट के आकार तथा समय का नियमन करना अनिवार्य है। वर्तमान समय में आर्थिक द ष्टि से विकसित एवं प्रगतिशील देशों में राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर आर्थिक स्थायित्व बनाये रखना है। आर्थिक स्थायित्व से उनका आशय केवल सामान्य कीमत स्तर की स्थिरता से था। राजकोषीय नीति आर्थिक स्थिरता लाने में तभी सहायक हो सकती जब रोजगार एवं आय की स्थितियों में उच्चावन होने के समय 1 वार्षिक बजट को संतुलित बनाने की वर्तमान प्रथा को छोड़ दिया जाए। अमेरिकी संसद ने 1946 में रोजगार अधिनियम

बनाकर राजकोषीय नीति के उद्देश्य को व्यक्त किया - आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजकोषीय नीति प्रतिचक्रीय अर्थात् व्यापार चक्र विरोधी होनी चाहिए। सरकार एक ओर अपनी कुल आय से अधिक व्यय करके अर्थव्यवस्था में आय, रोजगार तथा आर्थिक क्रियाओं का विस्तार कर सकती है तो दूसरी ओर अपने व्यय में कमी तथा करों में व द्धि द्वारा अर्थव्यवस्था में रोजगार उत्पन्न कर सकती है अर्थात् सरकार बजट द्वारा अपनी अर्थव्यवस्था का निगमन करती है। आर्थिक स्थायित्व लाने के लिए सरकार को अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार की स्थिति पर नियंत्रण करना होता है। जहां तक सम्भव हो सके कम महत्व वाली योजनाओं को स्थगित करके सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में नई पूंजी केवल अनिवार्य होने पर ही लगानी चाहिए। सरकार निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में भी निवेश की मात्रा में व द्धि करके रोजगार तथा आय में व द्धि करके उपभोग में व द्धि कर सकती है।

आर्थिक विकास का उद्देश्य - राजकोषीय नीति का उद्देश्य देश का आर्थिक विकास करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें विनियोगों में व द्धि करने के लिए पर्याप्त मात्रा में बचत करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त देश की उत्पादन शक्ति में दर को तीव्रतर बनाना भी आवश्यक होता है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में कर प्रणाली को समाज में उपभोग के लिए एक आवश्यक न्यूनतम मात्रा छोड़कर आर्थिक विकास के लिए अधिक से अधिक साधनों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु ऐसी अर्थव्यवस्था में करारोपण का उद्देश्य सम्पूर्ण मांग में कमी करना न होकर केवल कुछ विशेष साधनों की प्रभावपूर्ण मांग में कमी करना होता है। किसी देश में आर्थिक विकास के लिए लोगों एवं उनकी सरकारों के पास अनेक उपाय हैं, लेकिन इनमें से महत्वपूर्ण उपाय राजकोषीय नीति है। विकासशील देश की समस्याएँ -

(i) समन्वित आर्थिक विकास की समस्या।

(ii) पूंजी निर्माण की समस्या।

(iii) बढ़ती हुई कीमतों की समस्या।

(iv) बढ़ती हुई विषमता की समस्या।

अल्पविकसित देशों में प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय के कम होने के कारण, बचतें बहुत कम होती हैं। जिसके फलस्वरूप विनियोग हेतु आवश्यक पूंजी का अभाव बना रहता है। निम्न आय, अल्प बचतें, कम विनियोग और निम्न उत्पादकता के कारण 'निर्धनता के दुष्चक्र' जन्म लेने लगते हैं। जिनको तोड़ना राजकोषीय नीति का मुख्य उद्देश्य है। इन देशों में आय के स्तर को देखते हुए उपभोग की प्रव त्ति (Propensity to consume) अधिक होती है।

3. **पूर्ण रोजगार** - आर्थिक विकास में 'व द्धि करने का उपाय बेरोजगारी में निहित सम्भाव्य बचत को पूंजी निर्माण के कार्यों के लिए प्रयोग करना है। संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट के अनुसार मानवीय हितों को देखते हुए केन्द्रीय सरकार का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह, उन लोगों को जो काम करने के योग्य तथा इच्छुक हैं रोजगार उपलब्ध कराएं। रोजगार की स्थिति को स्पष्ट करने के सम्बन्ध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री William Beveridge का कहना है कि पूर्ण रोजगार का विचार उस स्थिति का संकेतन है जिसमें बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या की तुलना में काम करने के लिए रिक्त स्थान अधिक प्राप्त हों।

(Fully employment refers to a situation in which there are more vacant jobs than employed men)

अमेरिकी आर्थिक संघ के अनुसार "पूर्ण रोजगार का अर्थ है उन सभी योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को जो कि प्रचलित वेतन पर काम खोज रहे हैं, बिना विलम्ब हुए उत्पादक कार्यों में काम प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ पूर्णकालीन काम चाहने वालों को पूर्णकालीन काम उपलब्ध होना है।"

Full employment means that qualified people who seek jobs at prevailing wage-rates can find them in productive activities without considerable delay. It means full time jobs for people who want to work full time."

4.. **आय और धन की असमानताओं को दूर करना** : राजकोषीय नीति का एक प्रमुख उद्देश्य आय और धन की असमानता को दूर करना है। ताकि विकास की दर को अधिकतम बनाया जा सके। सरकार द्वारा व्यय बढ़ाकर अनुपार्जित आय को हतोत्सहित करके तथा सामाजिक सेवाओं का विस्तार करके कम आय वाले व्यक्तियों को स्थिति ठीक की जा सकती है। इस कार्य को करने के लिए राजकोषीय नीति में निम्न उपायों को शामिल किया गया है।

1. सरकार को अधिकांश व्यय सामाजिक सेवाओं की ओर हस्तान्तरित करना चाहिए।
2. विलासित की वस्तुओं पर भारी मात्रा में कर लगाकर उन पर किए जाने वाले व्यय को हस्तान्तरित किया जाए।
3. निर्धन वर्ग पर करों की मात्रा कम की जाएं
4. धनी वर्ग पर प्रगतिशील कर लगाए जाएं।

5. **साधनों का उचित बंटवारा :** राजकोषीय नीति का उद्देश्य साधनों का उचित बंटवारा करना है। राजकोषीय नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह मनुष्य, मुद्रा, वस्तु आदि विभिन्न उत्पादन साधनों की कार्य-कुशलता को बढ़ा सके। सरकार को उन सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करना चाहिए जो अधिकतम रोजगार दे सकें तथा समाज के लिए लाभदायक सिद्ध हो।

6. **कीमत स्थिरता बनाए रखना :** राजकोषीय नीति का प्रयोग मूल्य स्थायित्व के लिए भी किया जाता है। जो कि विकासशील देशों की एक प्रमुख समस्या है। विकासशील देशों में विकास की गति को तेज करने के लिए उपलब्ध सीमित साधनों को जानबूझकर बड़े पैमाने में निवेश में लगा दिया जाता है। इसके कारण देश में वस्तुओं की उपलब्धता कम हो जाती है। आयात भी विदेशी विनियम के साधनों में सीमित रहता है। इस प्रकार कीमतों की व द्धि को अवसर मिल जाता है। अमेरिकी आर्थिक संघ के अनुसार कीमत स्थिरता का अर्थ है कि सामान्य कीमत स्तर में तीव्र अल्पकालीन उतार-चढ़ाव की प्रव त्ति नहीं है। अतः राजकोषीय नीति का उद्देश्य कीमत स्तर में अल्पकालीन उतार-चढ़ाव को रोकने का प्रयास करना चाहिए।

7. **पूंजी का निर्माण करना :** यह पूंजी निर्माण देश में बचत और निवेश की दर पर निर्भर करता है। आर्थिक विकास के लिए साधन जुटाने का प्रथम उपाय है ऐच्छिक बचतों में व द्धि की जाए। परन्तु विकासशील देशों में ऐच्छिक बचतों में अधिक व द्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। पूंजी का निर्माण देश के विकास की गति को तीव्र करता है। सरकार को व्यक्तियों का इस प्रकार मार्गदर्शन करना होगा कि उन्हें विनियोग के अवसर ज्ञात करा सकें क्योंकि बचत को व्यक्तियों की स्वेच्छा पर नहीं छोडा जा सकता। चूंकि उपभोग पर रोक लगाए बिना यह सम्भव नहीं, अतः करारोपण द्वारा चालू उपभोग को कम करके बचत में व द्धि की जा सकती है।

8. **राष्ट्रीय आय में व द्धि :** राजकोषीय नीति देश की राष्ट्रीय आय बढ़ाने में सहायक होती है। राष्ट्रीय आय बढ़ाने में राजकोषीय नीति कई प्रकार से सहायक होती है। ऐसी कर-प्रणाली लागू की जाए जिससे जो कुछ भी न्यून साधन उपलब्ध है। उन्हें बचाकर विनियोग में लगाया जा सके। सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक ऋण को भी निर्मात्मक दिशाओं में संचालित किया जाए जिससे उत्पादन हो और विकास की गति को तीव्रता मिले।

विकासशील देशों में राजकोषीय नीति : देश के आर्थिक विकास का राजकोषीय नीति से सीधा सम्बन्ध है। राजकोषीय नीति के उद्देश्य विभिन्न देशों में उनकी आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार विविध प्रकार के होते हैं। अमेरिका व इंग्लैंड जैसे विकसित देशों में राजकोषीय नीति का मुख्य उद्देश्य अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार के स्तर पर आर्थिक स्थिरता प्राप्त करना होता है। इसके अतिरिक्त भारत जैसे विकासशील एवं अन्य अर्धविकसित देशों में इसका प्रमुख उद्देश्य तीव्रगति से आर्थिक विकास करना है। विकासशील देशों में राजकोषीय नीति का उद्देश्य केवल निवेश व पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करके आर्थिक विकास की प्रक्रिया को बढ़ावा देना नहीं है। बल्कि आय की असमानताओं को घटाकर सामाजिक न्याय की व्यवस्था करना, मुद्रास्फीति पर काबू पा कर आर्थिक स्थिरता प्राप्त करना तथा गरीबी व बेरोजगारी को दूर करने के लिए रोजगार के अवसरों में व द्धि करना भी है। राजकोषीय नीति के अन्तर्गत चार बातों को शामिल किया जाता है।

1. सरकार की करारोपण नीति
2. सरकार की व्यय नीति
3. सरकार की ऋण नीति
4. सरकार की बजट नीति

विकासशील देश : पूंजी निर्माण और राजकोषीय नीति - देश के आर्थिक विकास के लिए और पूंजी निर्माण के लिए आवश्यक है कि ऐच्छिक बचतों में व द्धि की जाए। परन्तु विकासशील देशों में ऐच्छिक बचतों में व द्धि प्राप्त नहीं की जा

सकती। इसका कारण है कि अल्पविकसित देशों में प्रतिव्यक्ति आय बहुत निम्न होती है और अधिकांश जनसंख्या जीवन निर्वाह के स्तर पर ही जीवन व्यतीत करती है। पूंजी निर्माण देश में बचत और निवेश की दर पर निर्भर करता है। बचत और निवेश को बढ़ाने के वैकल्पिक उपाय हैं उनसे विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन जुटा सकने की आशा नहीं की जा सकती। आर्थिक विकास के लिए साधन जुटाने का प्रथम उपाय है। राजकोषीय नीति सार्वजनिक निवेश में पर्याप्त व द्धि करने के लिए वित्तीय साधन जुटाने का कुशल एवं न्यायसंगत तरीका है। इससे न केवल सार्वजनिक निवेश के लिए सामूहिक बचतों को प्राप्त किया जा सकता है। बल्कि इसके द्वारा निजी निवेश को भी प्रोत्साहित किया जा सकता है। राजकोषीय नीति अपनाई जाए तो पूंजी निर्माण के अतिरिक्त आर्थिक नीति के अन्य उद्देश्यों को भी प्राप्त किया जा सकता है।

कराधान और राजकोषीय नीति : राजकोषीय नीति बजट की नीति है। जिसका संचालन वित्त मंत्रालय द्वारा किया जा सकता है। इसके प्रमुख अंग सार्वजनिक आगम, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण एवं घाटे की वित्त व्यवस्था। यह किसी देश की आर्थिक नीति की सहभागिनी है और आर्थिक नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्यों से चलाई जाती है। राजकोषीय नीति सार्वजनिक व्यय एवं कर की दरों के स्तरों में परिवर्तन से सम्बन्धित होती है। विकासशील देशों में कराधान द्वारा इस सम्भव आर्थिक अतिरेक प्राप्त करके सरकार पूंजी-निर्माण की दरों को पर्याप्त रूप से बढ़ा सकती है। कराधान जांच समिति ने विचार व्यक्त किया था कि ऐसी अर्थव्यवस्था में जिसमें उपभोग प्रव त्ति सामान्यतः ऊंची होती है, कराधान बचत और निवेश कुल मात्रा को बढ़ाने का सबसे प्राचीन व प्रभावी तरीका है कि -

"In fact, taxation may be the most effective means of increasing the total volume of savings and investment in the economy where the propensity to consume is normally high". कैलेंडर की सिफारिश पर भारत में 1957 में धन कर तथा उपहार कर लगाए गए। पूंजी करों के दो लाभ हैं। प्रथम, पूंजी करो से विकास-कार्यों के लिए साधन जुटाने के साथ आर्थिक विषमताएं भी कम होती हैं जो कि हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य है। द्वितीय, आयकर की तुलना में पूंजी-करों को कम करने, बचत करने तथा निवेश करने की प्रेरणाओं पर कम प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

सार्वजनिक ऋण और राजकोषीय नीति : विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक ऋण नीति का भी निर्माण किया जाता है। ऋण की मांग सरकार को इस प्रकार की ऋण नीति बनानी चाहिए ताकि ऋण की राशि विकास कार्यों पर लगे। ऋण की मांग उत्पन्न करने या बनाए रखने के लिए लिए उचित राजकोषीय नीति अपनाया जाना आवश्यक है। राजकोषीय नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे सरकारी विनियोजन की मात्रा को उचित दिशा मिल सके। ऋण नीति बाजार की आर्थिक क्रियाओं पर नियंत्रण रखती है और मंदी की अवस्था आने से रोकती है। आर्थिक विकास के लिए साधनों के जुटाने में सरकारी ऋणों का महत्वपूर्ण भाग है। पंचवर्षीय योजनाओं पर ज्यादा व्यय होता है और सरकार को ऋण लेना पड़ता है। अल्पविकसित देश आर्थिक विकास के लिए जहां कहीं से उपलब्ध हो, ऋण लेते हैं - अपने देशवासियों से, दूसरे देशों से तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से। भारत सरकार ने आर्थिक विकास के लिए न केवल देशवासियों से बल्कि अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी, जापान, कनाडा, रूस आदि से भी ऋण लिया है।

सार्वजनिक आय और राजकोषीय नीति : विकासशील देशों में राजकोषीय नीति बहुत महत्वपूर्ण है। इससे राष्ट्रीय आय में व द्धि होती है। यद्यपि राष्ट्रीय आय-व द्धि और राजकोषीय नीति में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। तथापि राजकोषीय नीति परोक्ष रूप से राष्ट्रीय आय में व द्धि के लिए सहायक सिद्ध हो सकती है। इस द ष्टि से राजकोषीय नीति के अन्तर्गत सदैव इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि करारोपण द्वारा प्राप्त बचतों को तत्काल विनियोग किया जाए। सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक ऋणों की अधिकांश मात्रा नव-निर्माण व विकास कार्यों की ओर गतिशील की जाए, देश में निजी उद्यमकर्त्ताओं को कर-छूट द्वारा अथवा वित्तीय सहायता प्रदान करके, विनियोग करने के लिए प्रेरित किया जाए।

सार्वजनिक व्यय और राजकोषीय नीति : विकासशील देशों में राजकोषीय नीति सार्वजनिक व्यय नीति का भी निर्माण करती है। सार्वजनिक खर्चों का देश के आर्थिक विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सरकार को सार्वजनिक व्यय-नीति द्वारा समाज कल्याण में व द्धि करके मानवीय पूंजी निर्माण के कार्य को बढ़ावा देना चाहिए। प्रभावी सार्वजनिक व्यय नीति होने से उत्पादन में व द्धि होती है। आय और बचत का स्तर, ऊपर उठने लगता है। प्रो. पीगू का कहना है कि "कोई सार्वजनिक

कार्य जो गरीबों की वास्तविक आय की कुल मात्रा में व द्धि करता है बशर्ते कि किसी भी द ष्टिकोण से राष्ट्रीय आय में कोई कमी न आए, सामान्य आर्थिक कल्याण में व द्धि करेगा। अर्थव्यवस्था में उचित कर नीति के निर्माण के साथ ही सरकारी वित्त नीति का यह उद्देश्य होना चाहिए कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों प्रकार के संतुलन बनाए रखने के लिए नीति, साख निर्माण नीति, ऋण नीति, व्यय-नीति, आय के साधन जुटाने सम्बन्धी नीति आदि में परस्पर पूर्ण समन्वय हो। किसी राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप व दिशा निर्धारित करने का श्रेय बजट-नीति को दिया जाता है।"

अल्पविकसित देश और राजकोषीय नीति : आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पर्याप्त मात्रा में धन की व्यवस्था करना राजकोषीय नीति का मुख्य कार्य है यह किसी भी देश की वित्तीय नीति है। सरकारें अपनी आय एवं व्यय के माध्यम से इसका निर्धारण करती हैं। सरकारी कर और सरकारी व्यय राजकोषीय नीति के दो प्रमुख अंग हैं। जब सरकार अपने कर्मचारियों के वेतनों में व द्धि, सार्वजनिक ऋण पर ब्याज का भुगतान तथा सार्वजनिक सुरक्षा योजनाओं पर अधिक मात्रा में व्यय करती है। तो इससे समाज के लोगों की आय में व द्धि होती है। आय में व द्धि के परिणामस्वरूप उपभोग के लिए वस्तुओं की मांग में व द्धि होती है। निर्माता तथा उद्योगपति अपनी उत्पादन वस्तुओं इकाइयों की उत्पादन क्षमता में व द्धि करते हैं ऐसा करने से उत्पादन के साधनों की मांग में व द्धि होती है तथा परिणामस्वरूप समाज में रोजगार एवं आय स्तरों में व द्धि हो जाती है।

उद्देश्य :-

1. **राष्ट्रीय आय का बढ़ाना** : राजकोषीय नीति राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में सहायक होती है। अल्पविकसित देशों में राष्ट्रीय आय बहुत कम होती है। यह नीति इस प्रकार से कर-व्यवस्था निर्धारित करती है कि देश को अधिक मात्रा में करों की प्राप्ति हो।

2. **पूंजी निर्माण करना** : अल्पविकसित देशों में राजकोषीय नीति के पूंजी-निर्माण के उद्देश्य की शर्त के लिए कर-नीति में अतिरिक्त हीनार्थ प्रबन्धन राज्य ऋण, विदेशी बचत, बीमा कम्पनियों, सरकारी उद्योगों का लाभ बैंको तथा सरकारी संस्थाओं आदि का भी विशेष महत्व है। यद्यपि इन सभी उपायों की अपनी सीमाएं हैं। तथापि प्रत्येक की आवश्यक नियंत्रणों द्वारा पूंजी-निर्माण हेतु प्रयोग में लाया जा सकता है।

3. **मुद्रा प्रसार के प्रभाव का दूर करना** : अल्पविकवित देशों में मुद्रा प्रसार एक मुख्य समस्या होती है। राजकोषीय नीति-सरकारी व्यय में कमी करके तथा करों की मात्रा में व द्धि करके स्फीति की रोकथाम की जाती है। इसके अतिरिक्त सरकार जनता से आकर्षित ब्याज की दर ऋण प्राप्त करके भी जनता के हाथों में पर्याप्त मात्रा में देशी क्रय शक्ति को प्राप्त करती है।

4. **मन्दीकाल पर नियंत्रण करना** : अल्पविकसित देशों में मंदी के प्रभाव को समाप्त करके आर्थिक स्थिरता स्थापित करने तथ बेरोजगारी दूर करने में राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण विशेष योगदान है। राजकोषीय नीति के अन्तर्गत मंदीकाल में सरकार को सार्वजनिक कार्यों पर अधिक व्यय करके अर्थव्यवस्था में कुल समर्थ मांग के स्तर को इतना ऊंचा कर देना चाहिए कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत तथा विनियोग में संतुलन स्थापित हो सके। मंदी में सरकार को बेरोजगारी बीमा, व द्धों की देखभाल तथा अन्य समाज कल्याण के कार्यों पर भी अधिक व्यय करना चाहिए ऐसा करने से अर्थव्यवस्था प्रगति की ओर अग्रसर होती है। राजकोषीय नीति को मंदी के प्रभाव को दूर करने में व्यापक सफलता प्राप्त होती है।

5. **आर्थिक असमानताएं दूर करना** : अल्पविकसित देशों में आय और धन के वितरण की असमानताएं होती हैं। आय व धन के वितरण की समानता बनाए रखना, आर्थिक विकास का केवल लक्ष्य ही नहीं वरन् एक पूर्व आवश्यकता भी है। राजकोषीय नीति का निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि धन वितरण की विषमताएं देश में कम से कम हो सकें। अल्पविकसित देशों में राजकोषीय नीति द्वारा धन एवं आय के समान वितरण की विशेष आवश्यकता एवं औचित्य है किन्तु ऐसा करते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि राष्ट्रीय उत्पादन में उच्चतम स्तर से किसी प्रकार की गिरावट न होने पाए। वर्तमान समय में आर्थिक असमानताओं को कम करना एक कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य है। सरकार की कर तथा गरीबों की आय में व द्धि होती है सामाजिक सुरक्षा, सार्वजनिक कल्याण तथा सामाजिक बीमा आदि योजनाओं पर दिए गए सरकारी व्यय से गरीबों की वास्तविक आय में व द्धि होती है।

6. **रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना** : अल्पविकसित देशों में मुख्य समस्या रोजगार के अवसरों की होती है। देश का आर्थिक विकास तभी संभव है जब देश में पूर्ण रोजगार के अवसर उपलब्ध हों। पूर्ण रोजगार की उस मात्रा को कहते हैं जो अर्थव्यवस्था में उस स्थिति में होती है जब वस्तुओं की समस्त मांग प्रचलित कीमतों पर समस्त घरेलू पूर्ति के साथ संतुलन में होती है। पूर्ण रोजगार का अर्थ यह है कि उन सभी योग्यता प्राप्त व्यक्तियों की जो प्रचलित वेतन पर काम करना चाहते है अधिक विलम्ब के बगैर उत्पादक कार्य में काम प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति पूर्णकालिक आधार पर काम करना चाहते है उन्हें पूर्णकालिक कार्य प्राप्त हो सकता है।

अल्पविकसित देशों में राजकोषीय नीति का सहयोग : अल्पविकसित देशों में राजकोषीय नीति का स्वरूप इस प्रकार से निर्धारित करना चाहिए कि देश का आर्थिक विकास प्रभावशाली हो। राजकोषीय नीति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व पूर्ण रोजगार की स्थिति लाना है। यही कारण है कि केन्स ने अपने रोजगार के सिद्धांत में राजकोषीय नीति को आर्थिक मंदी और बेरोजगारी से लड़ने वाले हथियार के रूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि राजकोषीय नीति किसी भी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के स्तर को न तो प्रोत्साहित करती है और न ही हतोत्साहित करती है। राजकोषीय नीतियाँ करों और सरकारी व्यय के साथ-साथ स्थायी मौद्रिक नीतियों के सहयोग में कार्य करती हैं। इनका उद्देश्य उच्च रोजगार और बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था होता हे। राजकोषीय नीति के अनेक अंग होते हैं - आय नीति, व्यय नीति, ऋण नीति, बजट नीति। इसका अभिप्राय है कि राजकोषीय नीति तैयार करते समय उपरोक्त प्रकार की नीतियां बनाई जाती हैं राजकोषीय नीति का उद्देश्य राष्ट्रीय आय में व द्धि करना है। राजकोषीय नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा सार्वजनिक नीति का निर्माण किया जाता है। सार्वजनिक खर्चों का देश के आर्थिक विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सरकार को सार्वजनिक व्यय-नीति द्वारा समाज-कल्याण में व द्धि करके मानवीय पूंजी निर्माण के कार्य को बढ़ावा देना चाहिए। प्रभावी सार्वजनिक व्यय नीति से उत्पादन में व द्धि होती है। आय और बचत का स्तर ऊपर उठने लगता है और फलस्वरूप पूंजी निर्माण के लिए एक उपयुक्त वातावरण तैयार हो जाता है।

पीगू का कहना है कि "कोई भी सार्वजनिक कार्य जो गरीबों की वास्तविक आय कुल मात्रा में व द्धि करता है, बशर्ते कि किसी भी द ष्टिकोण से राष्ट्रीय आय में कोई कमी न आए, सामान्य आर्थिक कल्याण में व द्धि करेगा।"

राजकोषीय नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक ऋण नीति का भी निर्माण किया जाता है। सरकार को इस प्रकार की ऋण नीति बनानी चाहिए ताकि ऋण की राशि विकास कार्यों पर लगे। ऋण की मांग उत्पन्न करने या बनाए रखने के लिए अधिकाधिक नीति को अपनाया जाना आवश्यक है। सरकार की राजकोषीय नीति बजटीय नीति से प्रभावित होती है। बजट आर्थिक विकास का आधार होते हैं। अर्थव्यवस्था में उचित नीति के निर्माण के साथ ही सरकारी वित्त नीति का यह उद्देश्य होना चाहिए कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों प्रकार के संतुलन बनाए रखने के लिए कर-नीति, साख-नीति, ऋण नीति, व्यय नीति, आय के साधन जुटाने सम्बन्धी नीति आदि में परस्पर पूर्ण समन्वय हो।

मौद्रिक नीति और राजकोषीय नीति में परस्पर संबंध : मौद्रिक नीति और राजकोषीय नीति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मौद्रिक नीति 'मुद्रा प्रबन्धन' की कला है। मुद्रा के निर्माण तथा वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति के माध्यम से समयान्तर के कारण सम्पूर्ण अर्थ-तंत्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। अतः मुद्रा को प्रतिबन्धित किया जाना आवश्यक होता है। मौद्रिक नीति का अभिप्राय उस नीति से होता है जिसके माध्यम से सरकार द्वारा निर्धारित कुछ सामान्य लक्ष्य प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपलब्ध मौद्रिक उपायों के द्वारा मुद्रा एवं साख की उपलब्धता लागत एवं उपयोग को नियन्त्रित किया जाता है। मौद्रिक नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक की उस नियंत्रण नीति से लिया जाता है, जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक सामान्य आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से द्रव्य की पूर्ति पर नियंत्रण नीति से लिया जाता है। मौद्रिक नीति का अभिप्राय उन उपायों से है जो लोगों के व्यय को प्रभावित करने के उद्देश्य से अपनाए जाते हैं तथा जो ब्याज की दर, मुद्रा की पूर्ति और साख नियंत्रण के माध्यम से कार्य करते हैं। राजकोषीय नीति का उद्देश्य राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय उत्पादन एवं राष्ट्रीय रोजगार के स्तर को ईष्टतम बिन्दु तक पहुंचाना है तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सार्वजनिक आगम एवं सार्वजनिक व्यय को संचालित किया जाता है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. होट्रे के अनुसार, "प्रभावशील भाग में होने वाले परिवर्तन साख में होने वाले परिवर्तनों से उत्पन्न होते हैं। अर्थशास्त्री राजकोषीय नीति को महत्व नहीं देते। उनके अनुसार यह मुद्रा की पूर्ति को बढ़ा देती है। साख और मौद्रिक नीति का प्रारम्भिक प्रभाव उधार लिए गए धन के व्यय पर पड़ता है।"

मौद्रिक नीति और राजकोषीय नीति में अंतर :

1. **प्रभाव :** मौद्रिक नीति का क्षेत्र सीमित होता है। यह केवल मौद्रिक तत्वों में परिवर्तन कर सकती है जिन परिवर्तनों से अर्थव्यवस्था में परिवर्तन कर सकती है जिन परिवर्तनों से अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आने की उम्मीद की जाती है। जैसे ब्याज-दर बढ़ने से यह उम्मीद की जाती है कि विनियोग घटेगा एवं बचतें बढ़ेंगी। अतः मौद्रिक नीति के प्रभाव परोक्ष रूप में पड़ते हैं। इसके विपरीत राजकोषीय नीति का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। सरकार द्वारा करारोपण करने पर विनियोग कम होने लगते हैं। कीमतें बढ़ने लगती हैं तथा लोगों की वास्तविक आय घट जाती है। इसका प्रभाव उनकी मांग पर पड़ता है।

मौद्रिक नीति का प्रभाव राजकोषीय नीति की तुलना में व्यापक होता है। इसका प्रभाव देश के सभी भागों में तथा वर्ग के लोगों तथा क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न मात्रा में करारोपण करती है। अतः राजकोषीय नीति का लाभ अथवा भार सभी पर समान नहीं होता।

2. **स्वतंत्रता :** मौद्रिक नीति के संबंध में केन्द्रीय बैंक पूर्ण स्वतंत्र है। किस समय कितनी मात्रा में मुद्रा अथवा साख का स जन करना अथवा संकुचन करना है, इसके लिए किसी से स्वीकृति नहीं लेनी पड़ती है। किन्तु अपनी मूल नीतियों के संबंध में सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों के अनुसार कार्य करना आवश्यक हैं जबकि राजकोषीय नीति के संबंध में सरकार कम स्वतंत्र होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक प्रावधान के सम्बन्ध में लोकसभा की स्वीकृति लेना आवश्यक है।

3. **राजनीतिक प्रभाव :** मौद्रिक नीति, राजनीतिक प्रभावों से मुक्त रहती है। केन्द्रीय बैंक अपने समस्त कार्यों को राष्ट्र के सर्वोत्तम हित में करता है और न दलगत राजनीति से प्रभावित होता है। यद्यपि सरकार में एवं केन्द्रीय बैंक के बीच नीति संबंधी तालमेल बनाये रखना आवश्यक है। किन्तु सरकार केन्द्रीय बैंक के निर्णयों में हस्तक्षेप नहीं करती है। जबकि राजकोषीय नीति प्रायः राजनीतिक प्रभाव से प्रभावित होती है। मौद्रिक नीति की अपेक्षा राजकोषीय नीति देश के आर्थिक विकास में मंदीकाल में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आर्थिक मंदी के समय राजकोषीय नीति को न्यायपूर्ण सार्वजनिक कार्यों के माध्यम से अपनाया जा सकता है। राजकोषीय नीति समायोजन का कार्य कर सकती है। जब आय बढ़ती है तो व्यय घट जाता है और कर प्राप्तियां बढ़ जाती हैं। जे.सी. थॉमसन के अनुसार, "राजकोषीय नीति मौद्रिक एवं सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी नीतियां स्वतंत्र अर्थव्यवस्था में आर्थिक अस्थिरता की समस्या पर उचित प्रहार की नीतियां हैं। अस्थिरता की समस्या मुख्य रूप से अर्थव्यवस्था के कुल आकार को प्रभावित करने वाले तत्वों की समस्या है। यह समस्या उत्पन्न होती है जब लाखों श्रमिक एक साथ बेरोजगार होते हैं अथवा उस समय होती है जब सामान्य किन्तु असमान रूप से मूल्य व द्धि होती है। राजकोषीय मौद्रिक एवं ऋण नीति का यह लाभ है कि इनसे सरकार को इन तत्वों विशेष रूप से कुल मांग को प्रभावित करने की अनुमति मिल जाती है तथा जिससे व्यापक नियंत्रण लागू किए बिना ही अर्थव्यवस्था में स्थिरता निर्धारित होती है।"

(Fiscal, monetary and dept policies are appropriate means for attacking the problem of insatability in a free society. The problem of instability is essentially a problem of broad forces effective the over-are magnitudes of the economy. The problem aries when millions of workers are simultaneously unemployed, or when there is general, athough probably uneve rise of most prices. The advantage of fiscal, monetary and debt policies is that they allow the government to influence the over all forces-especially the level of aggregate demand - that determine the stability of the economy without necessarily involving the government in detailed control of the particulars of the economy.)

प्रो. विटलेशी का कहना है कि, "मौद्रिक नीति एक विकास कारक घटक है अर्थात् विकास का उद्देश्य मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य है।

राजकोषीय नीति द्वारा करो में राहत, अनुदान और सहायता, सार्वजनिक कार्यों का प्रसार, ऋणों का पुनर्भुगतान आदि प्रयासों द्वारा उस पर रोक लगाने की कार्यवाही की जा सकती है। आर्थिक मंदी से राहत पाने के लिए हीनार्थ बजट महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है। स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था के विकास के लिए न तो अकेली राजकोषीय नीति पर्याप्त है

और न अकेली मौद्रिक नीति ही पर्याप्त है। वरन् दोनों ही नीतियां एक साथ संयुक्त रूप से कार्य करती हैं। दोनों ही नीतियां विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा बनाई और क्रियान्वित की जाती है। मौद्रिक नीति को केन्द्रीय बैंक और राजकोषीय नीति को वित्त मंत्रालय द्वारा प्रयुक्त किया जाता है।

राजकोषीय नीति की सीमाएं : राजकोषीय नीति का देश की आर्थिक क्रियाओं को नियमित करने के संबंध में विशेष एवं महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। वर्तमान समय में राज्य अपने बजट द्वारा देश में उत्पादन मूल्यों, रोजगार तथा राष्ट्रीय आय के वितरण आदि सभी महत्वपूर्ण तत्वों पर नियंत्रण रखता है। सार्वजनिक व्यय में कमी-व द्धि का परिणाम वर्तमान उत्पादन की मांग में प्रत्यक्ष रूप से कमी-व द्धि होना होता है जिसके कारण देश में उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त रोजगार तथा आय के स्तरों में भी कमी-व द्धि हो जाती है जब सरकार अपने कर्मचारियों के वेतन में व द्धि करती है, सार्वजनिक ऋण पर ब्याज का भुगतान करती है, समाज-सुरक्षा योजनाओं पर अधिक व्यय करती है तो इसका फल यह होता है कि देश के नागरिकों को व्यय-योग्य आय में व द्धि होती है। परिणामतः नागरिक उपभोग्य वस्तुओं की पूर्वापेक्षाकृत अधिक मांग करने लगते हैं जिनको पूरा करने हेतु व्यवसायी अपने कारखानों की उत्पादन क्षमता में व द्धि करते हैं जिससे समाज में उत्पत्ति के साधनों की मांग बढ़ती है और अन्ततः आय उत्पादन एवं रोजगार के स्तरों में व द्धि हो जाती है। आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति के साधन के रूप में राजकोषीय नीति के प्रयोग में इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि रोजगार एवं आय के स्तरों में उच्चावचन होने के समय सन्तुलित बजट की नीति के स्थान पर लचीली बजट नीति का पालन किया जाए। ताकि आवश्यकता पड़ने पर करों एवं व्यय में शीघ्र परिवर्तन करके आर्थिक स्थिरता को प्राप्त किया जा सके, इसलिए राजकोषीय नीति में स्वय स्थिरता का गुण भी निहित होना चाहिए।

आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए राजकोषीय नीति प्रतिचक्रीय होनी चाहिए। आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए यदि राजकोषीय नीति को एक यंत्र के रूप में उपयोग किया जाता है तो राज्य को अपने बजट के आकार तथा समय का नियमन करना अनिवार्य है। संक्षेप में आर्थिक स्थिरता के लिए बजट नीति तभी सफल हो सकती है जबकि राज्य को यह ध्यान रहे कि किस समय अपनी आय की तुलना में अधिक व्यय तथा किस समय अपनी आय की तुलना में कम व्यय करना चाहिए। आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजकोषीय नीति प्रतिचक्रीय होनी चाहिए। सरकार अपनी बजट नीति द्वारा अर्थव्यवस्था का नियमन करती है। बजट नीति आर्थिक स्थिरता प्राप्ति का सफल साधन तभी बन सकती है, जब सरकार को इस बात का ज्ञान हो कि कब उसे अपनी कुल आय से अधिक तथा कब कुल आय से कम व्यय करना चाहिए।

विकासशील देश की चार प्रमुख समस्याएं हैं :

1. समन्वित आर्थिक विकास की समस्या।
2. पूंजी निर्माण की समस्या।
3. बढ़ती हुई कीमतों की समस्या।
4. बढ़ती हुई विषमता की समस्या।

राजकोषीय नीति को अपनी कुछ समस्याएं भी हैं जिसके कारण विकास में इसका योगदान अत्यन्त सीमित हो पाता है। राजकोषीय नीति की अनेक सीमाएं हैं जो अनावश्यक प्रशासनिक विलम्ब का पाया जाना, आय नीति व व्यय नीति में पूर्ण समन्वय न हो पाना, सरकारी कर्मचारियों की अनभिज्ञता, लापरवाही एवं भ्रष्टाचारपूर्ण रवैया, देश की कर नीति का दोषपूर्ण होना, एक उपयुक्त प्रकार की मौद्रिक नीति का न होना, अनावश्यक प्रशासनिक व्ययों के कारण, सरकार की अपनी ही नीतियों में विरोधाभास का पाया जाना इत्यादि राजकोषीय नीति को तैयार करने में अनेक परेशानी होती है जैसे - अर्थव्यवस्था का बहुत बड़ा क्षेत्र अमौद्रिक है। जहां अब भी वस्तु विनिमय की प्रथा प्रचलित है जिसमें मूल्य तंत्र कार्य नहीं करता है, अतः वस्तुओं पर लगाए गए करों का उनमें कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

राजकोषीय नीति में तुरन्त परिवर्तन इसलिए नहीं किए जा सके हैं कि सरकारी योजनाओं को शीघ्र बदला नहीं जा सकता। कई योजनाएं होती हैं जो एक दूसरे की पूरक होती हैं जिन्हें दूसरी योजनाओं के परिवर्तन के बिना वे बदली नहीं जा सकती हैं। इन सीमाओं के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि राजकोषीय नीति विकासशील देश के लिए महत्वपूर्ण भूमिका है।

अध्याय 22
औद्योगिक नीति
(Industrial Policy)

अर्थ : किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए एक उचित तथा प्रगतिशील औद्योगिक नीति की आवश्यकता होती है। औद्योगिक नीति से अभिप्राय उन विभिन्न सिद्धान्तों एवं क्रियाओ से है जो देश में औद्योगिकरण की सहायता के लिए बनाई तथा अपनाई जाती है। इसमें कर प्रणाली, संरक्षण नीति, श्रम व पूंजी, कुटीर व लघु उद्योग, विदेशी पूंजी तथा उनसे सम्बन्धित सभी बातों का अध्ययन किया जाता है इसलिए ये कहा जा सकता है कि औद्योगिक नीति एक उपकरण है जिसकी सहायता से सरकार विकास प्रक्रिया में भाग लेती है।

Industrial Policy is an instrument with the help of which the state participates in the growth process?

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में सरकार की नीति उद्योगो में हस्तक्षेप करने की नीति नहीं थी औद्योगिक विकास का कार्य निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया था इसके विपरीत स्वतन्त्रता के पश्चात् की नीति हस्तक्षेप की नीति है सरकार औद्योगिक विकास 52 वर्षो तक पूर्ण रूप से नियन्त्रित करती रहती है।

महत्व (Importance)

एक अल्पविकसित देश के लिए औद्योगिक नीति का महत्व निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है।

(1) **Limited Capacity of private Sector :** अल्पविकसित देशों में निजी क्षेत्र के साधन सीमित होते है तथा वे अधिक जोखिम वाले कार्य नहीं कर सकते इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार स्वंय औद्योगिक विकास में सक्रिय भाग ले सरकार द्वारा हित के उद्योगों की स्वयं स्थापना करनी पड़ती है सरकार की प्राथमिकताओं के अनुसार उपयोग करना आवश्यक होता है इसलिए सरकार निजी क्षेत्र पर नियन्त्रण रखती है निजी क्षेत्र को योजनाओ में निर्धारित प्राथमिकताओं के अनुसार ही उत्पादन करना होता है निजी क्षेत्र के नियमन के लिए एक उचित औद्योगिक नीति की आवश्यकता है।

(2) **Regulation of Private Sector :** अल्पविकसित देशों के साधन अल्पविकसित होते हैं तथा उनका योजनाओं की प्राथमिताओं के अनुसार उपयोग करना आवश्यक है। इसके लिए सरकार निजी क्षेत्र पर नियन्त्रण रखती है। निजी क्षेत्र की योजनाओं में निर्धारित प्राथमिकताओं के अनुसार ही उत्पादन करना होता है। निजी क्षेत्र के नियमन के लिए उचित औद्योगिक नीति की आवश्यकता होती है।

(3) **Foreign Sector :** आर्थिक विकास की प्रारभिक अवस्था में विदेशी सहायता, विदेशी व्यापार, विदेशी पूंजी आदि पर निर्भर रहना पड़ता है इनके सम्बन्ध में उचित नीतियों के निर्धारण का बहुत अधिक महत्व है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि इनसे सम्बंधित विशेष नीतियों का निर्धारण किया जाए औद्योगिक विकास के लिए सार्वजनिक निजी क्षेत्र, विदेशी क्षेत्र, सहकारी क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है इसलिए इनका परस्पर समन्वय करने तथा इनके क्षेत्रो का स्पष्ट विभाजन करने के लिए एक निश्चित तथा स्पष्ट नीति बहुत आवश्यक है।

Industrial Policy in Free India

स्वतन्त्र भारत में एक नई सुनियोजित व स्पष्ट नीति की आवश्यकता अनुभव हुई इसके लिए 1948 में पहली, 1956 में दूसरी, दिसम्बर 1977 में तीसरी तथा जुलाई, 1980 में चौथी, 1991 में पाँचवी नई औद्योगिक नीति बनाई गई।

Industrial Policy of 1948 : उद्योग मन्त्री डॉ. श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने 6 अप्रैल 1948 को सांसद में पहली औद्योगिक

नीति की घोषणा की । इसका ऐतिहासिक महत्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इसे देश में औद्योगिक विकास का साधन माना गया। हमारी सरकार ने "मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली" को अपनाया जिसके अर्न्तगत सरकार को देश की उन्नति में सक्रिय भाग लेना था। इस प्रकार इस नीति में निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के लिए उन्नति का सुअवसर था।

Main Features of Industrial Policy of 1948

भारत की पहली औद्योगिक नीति 1948 के मुख्य तत्व इस प्रकार थेः-

1. **उद्योगो का वर्गीकरण**- बड़े पैमाने के उद्योग चार वर्गो में बाँटे गए।

   i) **सार्वजनिक क्षेत्र :-** पहले वर्ग में वे उद्योग शामिल किए गये जिन पर राज्य का पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया इसमें अस्त्र-शस्त्र अणु शक्ति तथा रेलवे परिवहन आदि के उद्योग सम्मिलित किए गए संकट कालीन स्थिति में राज्य किसी भी ऐसे उद्योग को अपने अधिकर में ले सकता है जो देश की प्रतिरक्षा के लिए विशेष महत्व रखता है।

   ii) **Public-Cum-Private Sector :** दूसरे वर्ग में 6 मुख्य आधारभूत उद्योग सम्मिलित किए गए जैसेः- कोयला, लोहा तथा इस्पात, वायुयान निर्माण, समुद्री जहाज निर्माण, खनिज तेल तथा टेलीफोन तार एवं बेतार के कल पूर्जे बनाने के उद्योग इन उद्योगों में नई इकाइयां लगाने का अधिकार सरकार को दिया गया और पहले से लगी इकाइयों का प्रबन्ध व विस्तार दस वर्षो तक निजी क्षेत्रों को सौंपा गया। दस वर्ष बाद सरकार को ऐसे उद्योग राष्ट्रीयकरण के विषय में निर्णय लेना था।

   iii) **Controlled Private Sector :** तीसरे वर्ग में 18 महत्वपूर्ण उद्योग रखे गये जैसे ट्रैक्टर, मोटर गाड़ियां, भारी मशीन औजार भारी रसायन, बिजली, सूती वस्त्र, सीमेन्ट, चीनी, कागज, समुद्री परिवहन, खनिज आदि, इन उद्योगों को निजी क्षेत्र में ही रखा गया परन्तु केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों के परामर्श से इन पर सामान्य नियन्त्रण रखेगी।

   iv) **Private and Co-operative Sector :** चौथे वर्ग में शेष वे सभी उद्योग रखे गये जिन्हें निजी स्वामित्व अथवा सरकारी आधार पर चलाया जाएगा यह भी निश्चित किया गया कि अगर कोई उद्योग सन्तोष जनक कार्य न करे तो उसके कार्य सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा।

2. **Cottage and Small Scale Industries :** इस नीति के अर्न्तगत कुटीर व लघु उद्योगों को पर्याप्त महत्व देने का निश्चय किया गया स्थानीय साधनों के प्रयोग उपभोगता वस्तुओं के उत्पादन में कार्यकुश्लता प्राप्त करने व अधिक रोजगार उत्पन्न करने के लिए इन उद्योगों के तीव्र विकास पर बहुत जोर दिया गया इस नीति में इन उद्योगों के विकास के लिए सरकारी सहायता देने के लिए विशेष सस्थाओं के निर्माण पर जोर दिया गया

3. **Labour and Capital Relations :** इस नीति में उत्पादन के सुचारू विकास के लिए श्रम व पूंजी के सहयोग पर विशेष बल दिया गया राज्य को ही दोनों मैंत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उचित वातावरण का निर्माण करना था श्रमिकों को उचित मजदूरी समाजिक सुरक्षा व अन्य सुविधाएं देने का निश्चय किया गया यह भी स्वीकार किया गया कि श्रमिकों को प्रबन्धकीय कार्यों में हिस्सा लेने तथा औद्योगिक सम द्धि में उन्हें उचित भाग देने के लिए उपयुक्त कदम उठाए जाएगें।

4. **Attitude Towards Foreign Capital :** सरकार ने विदेशी पूंजी के महत्व पर बल दिया देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूंजी का सहारा लेना आवश्यक था इससे देश में तकनीकी ज्ञान की व द्धि होती है परन्तु देश के हितों की सुरक्षा के लिए विदेशी पूंजी पर सरकार का पूरा नियन्त्रण जरूरी ठहराया गया यह भी स्पष्ट किया गया कि इन उद्योगों में स्वामित्व तथा प्रबन्ध का मुख्य भाग भारतीयों के हाथ में रहेगा।

5. **Change in Tariff Policy :** देश के प्राक तिक साधनों के उचित विकास के लिए तथा भारतीय उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए सरकार की टेरिफ नीति में परिवर्तन भी करना था इस बात का ध्यान रखा जाना था कि किसी ऊँचे शुल्क से उपभोक्ताओ पर बोझ न पड़े। सरकार ने बचत व निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए तथा धन के विकेन्द्रीयकरण के बारे में कर प्रणाली में परिवर्तन लाने का निश्चय किया ।

6. Social overhead Costs, परिवहन सुविधाओं, बिजली, सिंचाई, पूंजी पदार्थो के आयात व कच्चे माल की पूर्ति में सुधार लाने पर बल दिया गया।

7. योजना आयोग Planning Commission देश में सुनियोजित विकास के लिए एक योजना आयोग का निर्माण किया जाएगा।

Evalution of the Industrial Policy of 1948 : इस नीति का मुख्य उछेश्य निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों से सहयोग के आधार पर देश के लिए एक मिश्रित अर्थव्यवस्था का निर्माण करना था इस नीति का मिश्रित रूप से स्वागत किया गया इसके मुख्य गुण व दोष इस प्रकार हैं।

1. Merits : इस नीति के मुख्य गुण इस प्रकार हैं

(i) इसमें एक सीमित क्षेत्र के राष्ट्रीयकरण पर बल दिया गया इस नीति में स्वामित्व के अनियोजित व शीघ्र परिवर्तनों को अस्वीकार कर दिया गया ताकि उत्पादन मे कमी न आए

(ii) मुदा स्फीती (Inflation) की समाप्ति के लिए तथा अधिक उत्पादन के लिए निजी क्षेत्र के महत्व पर बल दिया गया।

(iii) श्रम के क्षेत्र में पर्याप्त सुधार हुआ, श्रमिकों के विकास लिए श्रमिकों के लिए कई अधिनियम जैसे (1) Employees State Insurance Act, Minimum Wages Act and the Coal Labour Welfare Act आदि पास किए गए बोनस (Bonus) बांटने के लिए एक योजना का प्रस्ताव रखा गया औद्योगिक श्रम की भलाई के लिए एक त्रिसूत्री औद्योगिक समिति बनाई गई। सन् 1950 में उचित मजदूरी बिल पास किया गया। इस नीति के परिणामस्वरूप श्रम व पूंजी के सम्बन्धों में पर्याप्त सुधार हुआ।

(iv) इस नीति की सफलता इस बात से सिद्ध होती है कि इसने उस मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीव रखी जिसमें देश के आर्थिक विकास व तीव्र औद्योगिकरण के लिए निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों के सहयोग से कार्य करना था।

(2) Demerits प्रो.के.टी. शाह आदि ने निम्नलिखित कारणों से इस नीति की आलोचना की है।

(i) इस नीति को सबसे अधिक हानि निजी क्षेत्र की उठानी पड़ी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के बारे में विरोधी वक्तव्य देने से निजी उद्योगियों के मन में डर सा फैल गया और यह औद्योगिक विकास के मार्ग में रूकावट का कारण बना दूसरी ओर राज्य के उद्योगों के विकास के लिए जिम्मेदारी बढ़ती गई किन्तु अनुभव वित्त, तकनीकी तथा प्रबन्धक योजना की कमी राज्य के औद्योगिक विकास के कार्यक्रम में बाधा बनी।

(ii) इस नीति में समन्वय की भी कमी थी इस नीति की सारी जिम्मेदारी तथा प्रेरणा सरकार के कन्धों पर डाल दी गई किन्तु कुछ राज्यों में सरकार ने इस नीति के विपरीत काम किए जैसे सड़क-यातायात का राष्ट्रीय करण कर देना।

(iii) यह भी डर महसूस किया गया कि सरकारी उद्यमों में लाल फीता शाही और नौकर शाही का बोलबोला जाएगा उत्पादन लागत बढ़ जाएगी जिससे उपभोक्ताओं को वस्तुएं घटिया किस्म की तथा मंहगी मिलेगी।

New Economic Policy and Industrial Development and Control Act.

औद्योगिक अधिनियम का मुख्य उद्देश्य निजी क्षेत्र के उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण बनाए रखना था। इस अधिनियम के फलस्वरूप निजी उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण बहुत बढ़ गया था। इसका उनके विकास तथा विस्तार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा था। औद्योगिक उत्पादन की दर कम होने लगी थी। 1919 की नई औद्योगिक नीति में उद्योगों के सम्बन्ध में उदारवादी द ष्टिकोण अपनाया गया। निजी क्षेत्र को काफी सीमा तक सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रखा गया इस सम्बन्ध में औद्योगिक नियम को काफी उदारवादी बना दिया गया। अब केवल 6 उद्योगों को ही अपनी स्थापना से पहले लाइसेंस लेना आवश्यक है बाकी उद्योगों की स्थापना बिना किसी लाइसेंस के की जा सकती है अधिकतर उद्योगों को अपनी उत्पादन क्षमता का विस्तार करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

Objective औद्योगिक कानून 1951 के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है।

(i) भारतीय उद्योगों का उचित विकास एवम् नियन्त्रण

(ii) उपलब्ध साधनों का समुचित उपयोग

(iii) आर्थिक केन्द्रीकरण तथा एकाधिकार प्रव ति की रोकथाम

(iv) साधनों का उचित बंटवारा

(v) नये उद्यमियों को प्रोत्साहित करना

(vi) लघु उद्योगों का सरंक्षण

(vii) समानता के आधार पर उद्योगों का क्षेत्रीय विकास करना

(viii) उद्योगों में आधुनिक तकनीक के प्रयोग को प्रोत्साहन

Main Features कानून की मुख्य विशेषताएं या प्रावधान निम्न हैं :-

(1) **Registration and Licensing :**

इस कानून के अनुसार इसकी प्रथम अनुसूचि में सम्मिलित सभी चालू उद्योगों को एक निश्चित अवधि तक सरकार के पास अपना पंजीकरण करना होता है नये कारखाने स्थापित करने तथा चालू कारखानों को अपनी उत्पादन क्षमता का विस्तार करने के लिए सरकार से लाईसेंस लेना आवश्यक है सरकार को यह अधिकार भी दिया गया है कि यह पंजीकरण तथा लाइसेंस को रद्ध भी कर सकती है।

(2) Investigation of an Industry or Enterprise : सरकार निम्न अवस्थानों में किसी उद्योग अथवा उद्यम की जाँच के आदेश दे सकती है

(i) यदि उद्योग या उद्यम के उत्पादन में निरन्तर कमी हो रही है।

(ii) उत्पादित वस्तुओं की क्वालिटी में निरन्तर गिरावट आ रही है।

(iii) उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों में असमान्य व द्धि दिखाई दे।

(iv) उद्योग का कुप्रबन्ध हो रहा हो सरकार जाँच के बाद उद्योग में आवश्यक सुधार कराने का आदेश दे सकती है।

3) Provision for Direct Management and Control by Government : इस कानून में यह व्यवस्था भी की गई कि सरकार निम्न दशाओं में प्रबन्ध एवम् नियन्त्रण की व्यवस्था अपने हाथों में ले सकती है।

(i) यदि कोई कारखाना सरकार द्वारा उसके सुधार के लिए दिये गये सुझावों को लागू नहीं करता है।

(ii) यदि उस कारखाने का प्रबन्ध उसके हितों या जनहित के विरूद्ध किया जा रहा है।

(4) Control of Supply Distribution and Policy : सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह (1) किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित कर सकती है (ii) किसी वस्तु के वितरण को नियमित करने के लिए परमिट की व्यवस्था कर सकती है (iii) किसी वस्तु की बिक्री को पूरी तरह बन्द कर सकती है।

(5) Pomotional Institution इस कानून के अन्तर्गत उद्योगों का विकास करने के लिए निम्न संस्थाओं की व्यवस्था की गई है।

(i) The Central Advisory Council : यह समिति मई 1953 में स्थापित की गई थी इसमें उद्योग क्षेत्र तथा उपभोक्ता वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं केन्द्रीय सरकार के उद्योगमन्त्री इसके अध्यक्ष होते हैं यह समिति उद्योगों की सामान्य समस्याओं पर विचार करती है इस कानून के प्रशासन के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को सलाह देती है उद्योग सम्बंधी आकड़ों का एकत्रीकरण करने के लिए आवश्यक नियमावली का निर्धारण भी यह

समिति करती है उद्योगों के पंजीकरण लाइसेंस देने या लाइसेंस समाप्त करने के विशेष मामलों में इससे विचार विमर्श किया जाता हैं।

(ii) The Renewing Sub-Committee पुनराअवलोकन समिति केन्द्रीय सलाहकार समिति की ही एक उपसमिति होती है यह समिति इस बात का पुनरावलोकन करती है कि समय-समय पर कितने लाइसेंस दिये गये, कितने अस्वीक त कर दिये गये तथा कितने लाइसेंस रद्द कर दिये गये।

(iii) औद्योगिक पेनल Industrial Panel औद्योगिक पेनल उन उद्योगों के लिए स्थापित किये जाते है जिनके लिए विकास परिषदों की स्थापना नहीं की गई है इसके सदस्य विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ विशेषज्ञ होते है ये पैनल सम्बंधित उद्योगों की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करके उचित सुझाव देते हैं।

(iv) Development Councils विकास परिषद का गठन किसी एक उद्योग अथवा उद्योगों के समूह के विकास के लिए किया जाता है इन परिषदों के सदस्य विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधि होते हैं।

Industrial Policy of 1956

भारत की एक नई तथा विस्त त औद्योगिक नीति का निर्धारण सन् 1956 में किया गया सन् 1948 की नीति के बाद 8 वर्षों में देश में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे।

(1) भारत में संविधान पास हो चुका था और इसमें मौलिक अधिकार व राज्य निर्देशक सिद्धान्त बनाये गए थे।

(2) पहली पंचवर्षीय योजना सफलता पूर्वक समाप्त हो चुकी थी। और इसमें काफी अनुभव प्राप्त हुए थे।

(3) देश की सामाजिक व आर्थिक नीति का मुख्य उछेश्य समाज का समाजवादी ढांचा अपनाने का निर्णय किया गया था औद्योगिक उन्नति के लिए विशेषकर आधारभूत व भारी उद्योगों के विकास को उत्तेजित करने की आवश्यकता अनुभव की गई।

(4) सार्वजनिक क्षेत्र को और बढ़ावा देने और एक विशाल और विस्त त सहयोगी क्षेत्र का निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव हुई इन परिवर्तनो को ध्यान में रखते हुए 1956 में सरकार ने नई औद्योगिक नीति की घोषणा की थी।

नई औद्योगिक नीति के उद्देश्य

Objective of the Policy

(i) औद्योगिक तथा आर्थिक विकास की गति को तीव्र करना

(ii) भारी तथा मशीनें बनाने वाले उद्योगों को विकसित करना

(iii) बड़े और बढ़ रहे क्षेत्र का निर्माण करना

(iv) आय और धन की असमानता को कम करना

(v) एकाधिकार और आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण को रोकना यह कहा गया कि यदि ये लक्ष्य प्राप्त हो गए तो इससे रोजगार बढ़ेगा और लोगों का जीवन स्तर ऊँचा होगा।

इस नई नीति की मुख्य विशेषताएँ

Main Features of 1956 Policy

(1) Classification of Industries बड़े पैमाने के उद्योगों को तीन वर्गो में बांटा गया

(a) सार्वजनिक क्षेत्र Public Sector में 17 उद्योग सम्मिलित किए गए इन उद्योगों पर मुख्य रूप से केवल राज्य को एकाधिकार प्राप्त है इस वर्ग में युद्ध का सामान बनाने वाले, अणु शक्ति, लोहा तथा इस्पात, भारी मशीनरी, भारी

विद्युत का सामान खनिज तेल, कोयला, वायुयान, रेलवे समुद्री जहाज, टेलीफोल, बेतार के उद्योग व तांबे, सीसे व जस्त की खाने शामिल हैं।

(b) Public-cum-Private Sector में 12 उद्योग शमिल हैं इन उद्योगों का स्वामित्व अधिकाधिक सरकार के हाथों में होगा तथा नई इकाईयों के लगाने में सामान्यत सरकार पहल करेगी इसके साथ-2 निजी उद्यगों को भी इस खेत्र के विकास करने के अवसर दिए जाएगें और इनसे आशा की जाएगी कि वे राज्य उद्यमो के लिए पूरक सिद्ध होगें इसमें एल्युनिनियम, मशीन औजार, आवश्यक दवाइयाँ, रसायनिक खाद्य, सड़क परिवहन, समुद्री परिवहन व खनिज, मशीनों आदि के उद्योग शामिल हैं।

(C) Private Sector में शेष सभी उद्योग शमिल किए गए जो उपर के दो वर्गो में सम्मिलित नहीं किए गए इन उद्योगों की स्थापना और विकास दोनों ही निजी क्षेत्र पर छोड़ दिए गए किन्तु निजी उद्योगों को राज्य की आर्थिक व सामाजिक नीति के अनुसार कार्य करना होगा।

(2) Fair Treatment to Private Sector इस नीति में निजी क्षेत्र के उद्योगों की शक्ति यातायात व वित्त सम्बन्धी सुविधाएँ देकर विशेष प्रोत्साहन देने की व्यवस्था की गई है सरकार निजी क्षेत्र के प्रति कोई भेद भाव वाली नीति नहीं अपनाएगी और इन्हें समानता व स्वतन्त्रता दी जाएगी।

(3) Cottage and Small Scale Industries इस नीति में कुटीर व लघु उद्योगों को पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया है क्योंकि ये उद्योग अधिक व शीघ्र रोजगार पैदा करने, धन के वितरण की असमानताओं को खत्म करने व स्थानीय पूंजी के उचित प्रयोग के लिए कुशल प्रमाणित होते है सरकार इनके विकास को प्रोत्साहन देने के लिए पूर्ण प्रयत्न करेगी इनके विकास के लिए औद्योगिक सहकारी समितियां व औद्योगिक बस्तियां स्थापित करेगी।

(4) Balanced Regional Growth देश के विभिन्न भागो में उद्योगों के विषम विकास को रोकने के लिए इस नीति में विशेष व्यवस्था की गई है जो क्षेत्र औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए हैं उनका पर्याप्त औद्यागिक विकास किया जाएगा सरकार ऐसे क्षेत्रों की ओर अधिक ध्यान देगी तथा इनके औद्योगिक विकास के लिए अधिक से अधिक सुविधाएं प्रदान करेगी।

(5) Technical and Managerial Personel निजी व सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के लिए विभिन्न प्रकार के तकनीकी तथा प्रबन्धकीय कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाएगी उनके लिए कई विश्वविद्यालयों में व्यापार प्रबन्ध के कोर्स शुरू किए जाएगे।

(6) Foreign Capital विदेशी पूंजी से सम्बधित नीति मे काफी संशोधन किए गए और विदेशी पूंजी का बड़े पैमाने पर प्रयोग करने के लिए अधिकाधिक छूट दे दी गई।

(7) सार्वजनिक उद्यमों का उचित प्रबन्ध Proper Management of Public Enterprises इसमें सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबन्ध के विकेन्द्रीय करण पर बल दिया गया है इस बात की आशा की गई है कि ये उद्यम राज्य को पर्याप्त आय प्राप्त करवाएगें और देश के साधनों का उपयोग भी।

Critical Appraisal of the Industrial Policy of 1956

Merits (गुण) : 1956 की औद्योगिक नीति अत्यन्त विशाल है और इसमें सभी पहलुओं अर्थात मुद्रा नीति, श्रम नीति,पूंजी, निजी व सार्वजनिक क्षेत्र के सभी पहलुओं पर ध्यान दिया गया है इसमें राज्य के निर्देशक सिद्धान्तों एवं नीतियों का निर्माण किया गया है स्वतन्त्रता के पश्चात् इस नीति में कई आधारभूत परिवर्तन किए गए हैं यह नीति अत्यन्त वास्तविक एव राष्ट्रवादी प्रमाणित हुई है इस नीति को **भारत के आर्थिक संविधान** की संज्ञा दी गई है। उद्योग मन्त्रालय की इस नीति में निम्न बातें शामिल हैं (i) सार्वजनिक क्षेत्र का मुख्य स्थान (2) एकाधिकारी प्रव ति के विकास को रोकना (3) सुविकसित उद्योगों की औद्योगिक विपुलता को रोकना (4) नये उद्यमियो को प्राथमिकता देना (5) छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास

Demerits (अवगुण) : सन् 1956 की औद्योगिक नीति अपने उछेश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हो सकी इसके निम्न कारण थे (i) पिछले 25 वर्षो में प्रतिव्यक्ति आय में लगभग 13 प्रतिशत की दर से वार्षिक व द्धि हुई है एक विकासशील अर्थव्यवस्था की जरूरतों को पूरा करने के लिए अपर्याप्त है। (ii) बेरोजगारी बढ़ गई है। (iii) गांवों व शहरों के बीच असमानता बढ़ी (iv)

निवेश दर में रूकावट पैदा हो गई (v) औद्योगिक उत्पादन में औसतन तीन या चार प्रतिशत से अधिक की वार्षिक व द्धि नहीं हुई है औद्योगिक क्षेत्र मे संकटग्रस्ता फैली और उद्योगों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा (vi) बड़े उद्योगों की तुलना में लघु उद्योगों को नगण्य स्थान दिया जाता है (vii) आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण में व द्धि हुई है। (viii) विदेशी तकनीक का अवांछनीय रूप से आयात किया गया (ix) बड़े औद्योगिक केन्द्रो में उद्योगो का जमाव हुआ। (x) पूंजी प्रेरक उद्योगो में अधिक निवेश किया गया इनकी रोजगार क्षमता कम होती है (xi) संस्थागत साख का अधिक भाग बड़े उद्योगों द्वारा प्रयोग किया गया (xii) सार्वजनिक क्षेत्र को 1980 में 192 करोड़ रूपये की हानि उठानी पड़ी थी।

औद्योगिक नीति, 1977

(Industrial Policy, 1977)

यह देश की जनता सरकार द्वारा घोषित नई औद्योगिक नीति थी। इस नीति की चर्चा करने से पूर्व 1970 और 1973 की घोषणाओं को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। 1956 से लेकर 1973 तक अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई और कुछ ऐसी आर्थिक दशाएँ उत्पन्न हो गयी जिसके कारण यह आवश्यक हो गया कि सरकार अपनी पूर्व घोषित (1956) औद्योगिक नीति के व्यावहारिक स्वरूप में परिवर्तन करे। दोनों घोषणाएँ फरवरी माह में ही की गयी (फरवरी, 1970 फरवरी, 1973)। घोषणाओं में कहा गया कि 1956 की औद्योगिक नीति ही विद्यमान रहेगी। वस्तुतः ये घोषणाएँ नई औद्योगिक नीति का घोषणा-पत्र नहीं था, बल्कि औद्योगिक लाइसेन्सिग पर एक प थक अध्याय में किया गया है। यहाँ पर इसका उल्लेख करना इसीलिए आवश्यक समझा गया है कि कुछ लेखकों ने 1970 एवं 1973 की घोषणाओं को भी औद्योगिक नीति की संज्ञा दी हैं।

एक नयी औद्योगिक नीति की आवश्यकता

1977 में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन आया। 30 वर्षो से चला आ रहा कांग्रेस शासन समाप्त हो गया और देश में जनता सरकार की स्थापना हुई। नई औद्योगिक नीति की आवश्यकता के लिए निम्नलिखित कारण थे-

1. 1956 के बाद अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन।
2. कांग्रेस शासन के बाद जनता शासन की स्थापना।
3. नयी सरकार का नया द ष्टिकोण और कुछ कर गुजरने की तीव्र इच्छा।
4. आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी सुधार की आवश्यकता।
5. रोजगार के अवसरों में व द्धि करने का विचार।
6. औद्योगिक विकास की दर को तेज करने का इरादा।
7 आर्थिक विषमताओं को कम करना तथा आर्धिक सत्ता के संकेन्द्रण पर रोक लगाना।
8. ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की योजना को सफल बनाने के लिए।
9. सन्तुलित आर्थिक विकास के लिए।

23 दिसम्बर, 1977 को संसद में उद्योगमंत्री **जॉर्ज फर्नाण्डीज** द्वारा नयी औद्योगिक नीति को प्रस्तुत किया गया। प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए फर्नाण्डीज ने कहा कि नयी नीति पुरानी विक तियों को दूर करने के लिए बनायी गयी है तथा इसमें यह भी पूर्ण ध्यान रखा गया कि देश के लोगों की आकांक्षाएँ पूरी हो जायें। उद्योगमंत्री ने उद्योग और क षि की अन्तर्क्रियाओं के महत्व पर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कहा कि हमारा बहुत सा औद्योगिक उत्पादन क षि पर आधारित है और इसी प्रकार क षि आधुनिकीकरण और विकास करने के लिए हमें स्वदेशी उद्योगों के लिए हमें स्वदेशी उद्योगों से ही यन्त्र एवं अन्य सामग्री प्राप्त करनी होगी। विद्युत उत्पादन पर सर्वाधिक ध्यान दिया जायेगा और इसे उच्च प्राथमिकता क्रम में रखा जायेगा। अनेक वर्षों से विद्युत एवं शक्ति की अपर्याप्तता ने क षि एवं उद्योग के विकास में गतिरोध उत्पन्न किया है।

औद्योगिक नीति, 1977 की विशेषताएँ
(Salient Features of the Policy)

औद्योगिक नीति, 1977 की कुछ मुख्य बातें अथवा विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **रोजगार के अवसरों में व द्धि :** हमारा देश जनशक्ति का बाहुल्य है। इस सब को शहरी उद्योगों में लगाना सम्भव नहीं और न ही केवल क षि क्षेत्र इतना सक्षम है कि वह भी सभी को रोजगार दे सकें। यद्यपि हमारी कार्यशील जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत क षि पर आधारित है। ऐसी स्थिति में क षि एवं उद्योग की अन्तक्रियाओं को विकसित करना होगा जिसमें हमारी जनशक्ति का उचित उपयोग हो सकेगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों का विकास भी उसी तीव्रता से किया जाये जिस तीव्रता से शहरी विकास हुआ है। देश की नयी औद्योगिक नीति अब और भविष्य में मानव को देश के नियोजन एवं परियोजनाओं और योजनाओं के क्रियान्वयन में केन्द्रीय स्थिति में रखेगी अर्थात् सर्वाधिक महत्व मनुष्य को दिया जायेगा। रोजगार के अवसरों के स जन का कार्य जिला उद्योग केन्द्रों को भी सौंपा गया है। ऐसा कहा गया है कि प्रत्येक केन्द्र 1980 तक 2500 नये अवसरों का स जन करेगा और इस प्रकार कुल दस लाख अवसर स जन करेगा और इस प्रकार कुल दस लाख अवसर स जित किय जा सकेंगे ।

2. **लघु एवं कुटीर उद्योगों को सर्वोच्च प्राथमिकता :** उद्योगमंत्री ने कहा कि "अभी तक की औद्योगिक नीति के द्वारा बड़ी औद्योगिक इकाइयों पर अधिक बल दिया गया है तथा लघु एवं कुटीर उद्योगों पर ध्यान नहीं दिया गया है। सरकार की अब यह द ढ़ नीति पुरानी पद्धति को परिवर्तित करने के लिए होगी।" (वास्तव में ऐसा नहीं हुआ कि लघु एवं कुटीर उद्योगों पर ध्यान नहीं दिया गया। 1948 और 1956 दोनों ही नीतियों में हम देखते हैं कि लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास की चर्चा है। यह थोड़ा सा अलग विषय है कि उनका पूर्ण विकास सा नहीं हो पाया।)

अब सरकार की यह नीति होगी कि वे वस्तुएँ जो लघु क्षेत्र द्वारा ही उत्पादित की जा सकती हैं, वे केवल उसके द्वारा ही उत्पादित की जायें। इस आशय के लिए एक विस्त त सूची तैयार कर ली गयी जिसमें लघु एवं कुटीर उद्योंगों में बनने वाली वस्तुओं की संख्या 500 हो गयी है जो केवल 180 ही थी (जनवरी 1982 तक यह संख्या 8.73 हो गयी)। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इस क्षेत्र में उत्पादित वस्तुएँ अच्छी किस्म की हों और उनमें अधिक लागत नहीं आ पाये।

3 **सूक्ष्म क्षेत्र (Tiny Sector) का स जन :** ग्रामीण एवं छोटे कस्बों का विकास करने की द ष्टि से इस क्षेत्र को अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है। जिन इकाइयों की मशीनों तथा उपकरण में एक लाख रूपये तक का विनियोग है और वे 1971 की जनगणना के अनुसार 50,000 से कम जनसंख्या वाले नगरों में स्थापित है, उनके विकास पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। लघु एवं कुटीर उद्योगों के अर्न्तगत सूक्ष्म क्षेत्र के उद्योगों के लिए विशेष वितीय व्यवस्था एवं उनके संरक्षण के लिए वैधानिक व्यवस्था का निर्माण भी किया जायेगा।

4 **उद्योगों का विकास एवं जिला उद्योग केन्द्र :** विगत वर्षो में कुछ ऐसी प्रव ति रही है जिससे छोटे साहसियों की सहायता होने के स्थान पर उन्हें निराशा मिली है। अब बड़े शहरों और राजधानियों में उद्योगों का विकास करने के स्थान पर जिला मुख्यालयों को अधिक महत्व दिया जायेगा। इस आशय के लिए जिला स्तर पर एक प्रमुख संस्था होगी जिसे जिला उद्योग केन्द्र की संज्ञा दी गई। जिला उद्योगों केन्द्रों पर लघु एवं कुटीर उद्योगों की आवश्यक सहायता एवं सुविधाएँ उपलब्ध कराने का पूर्ण प्रयास किया जायेगा।

जिला उद्योग केन्द्रों के द्वारा मुख्यतः निम्नलिखित सहायता उपलब्ध करायी जायेगी-

(i) जिले में उपलब्ध कच्चे माल का अन्वेंषण;
(ii) जिले के अन्य साधनों का आर्थिक अन्वेषण;
(iii) इकाइयों को मशीन एवं उपकरणों की पूर्ति व्यवस्था
(iv) इकाइयों को साख-सुविधा;
(v) साख के आधार पर कच्चा माल उपलब्ध करना
(vi) उत्पादित वस्तुओं के लिए विपणन की एक सुद ढ़ व्यवस्था
(vii) किस्म नियन्त्रण एवं परामर्श के लिए एक प्रकोष्ठ

(viii) इकाइयों के शोध कार्य एवं विस्तार के लिए सुविधाएँ।

जिला उद्योग केन्द्र अन्य संस्थाओं से लघु एवं कुटीर उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त सम्पर्क बनाये रखेंगे। (जनवरी, 1981 तक देश में 392 जिला उद्योग केन्द्र स्थापित किये जा चुके थे। 1992 के अंत में इनकी संख्या 442 थी।)

5. **जिला साख योजनाएँ :** प्रभावी वित्तीय सहायता प्रदान करने के उछेश्य से विशेष प्रयास करने पर बल दिया गया है। औद्योगिक विकास बैंक द्वारा इस दिशा में पहल की गयी है और लघु क्षेत्र की आवश्यकतओं की पूर्ति के लिए एक विशेष विभाग की स्थापना की गयी है। यह विभाग अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा लघु एवं कुटीर उद्योगों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का समन्वय करता हैं। यह स्पष्ट कर दिया गया कि लघु एवं कुटीर उद्योगों की कोई भी उपयोगी योजना या साख वित्तीय सहायता के अभाव में नहीं त्यागी जाये। अप्रैल, 1974 से चली आ रही जिला साख योजना में भी सुधार किया जा रहा है। बैंकों से नयी साख योजनाओं के निर्माण के लिए कहा गया है जो 1982 तक के लिए होगी।

6. **खादी एवं ग्रामीण उद्योग :** नीति में यह उल्लेख किया गया कि अभी खादी एवं ग्रामीण उद्योग आयेाग के अधीन 22 उद्योग आते हैं। आयोग इन उद्योगों के विकास के लिए विस्त त योजनाएँ तैयार करेगा। यह भी घोषणा की गयी कि इस सूची के उद्योगों की संख्या में व द्धि की जायेगी। खादी को विशेष स्थान दिया जायेगा। यह भी कहा गया कि पोलिस्टर खादी का विकास किया जायेगा। उल्लेखनीय है कि यह खादी बाजार में आ गयी है। खादी के विकास एवं विस्तार के लिए सरकार क त-संकल्प है। खाद के उत्पादन एवं विपणन में अधिकतम सुविधाएँ उपलब्ध कराने का सरकार का प्रयास रहेगा।

यह भी घोषित किया गया कि खादी के साथ-साथ हैण्डलूम क्षेत्र को भी विकसित किया जायेगा। आम आदमी की वस्त्र आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह कार्य आवश्यक है। यह निश्चय किया गया कि सरकार संगठित मिल एवं पावरलूम क्षेत्र की बुनाई क्षमताओं में व द्धि की माँग को स्वीकार नहीं करेगी। धागे के आबंटन में हैण्डलूम क्षेत्र को प्राथमिकता दी जायेगी। उत्पादित वस्तुओं के विपणन के लिए भी सरकार विशेष प्रयास करेगी तथा संगठित क्षेत्र के द्वारा अनुचित प्रतिस्पर्द्धा पर रोक लगायेगी।

8. **व हत् आकार की इकाइयाँ :** नीति में यह कहा गया कि लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के अतिरिक्त, हमारे देश में व हत् आकार के उपयुक्त उद्योगों की एक स्पष्ट भूमिका है। सरकार ऐसे उद्योगों को केवल आधुनिकतम दक्षताओं तथा अनावश्यक विदेशी प्रौद्योगिकी के उपयोग के लिए प्रोत्साहन नहीं देगी। व हत् आकार के उद्योगों की भूमिका देश के लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होनी चाहिए। यह कार्य लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के विकेन्द्रीकरण तथा क षि क्षेत्र को अधिक सशक्त बना कर किया जा सकेगा। सामान्यतया व हत् आकार के उद्योागों का निम्नलिखित क्षेत्र होगा-

(i) मूलभूत उद्योग जो उप ढ़ाँचे के लिए तथा लघु ग्रामीण उद्योगों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जैसे-इस्पात, अलौह धातुएँ, सीमेन्ट, तेल शोधन आदि।

(ii) मूलभूत एवं लघु उद्योग की मशीन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूँजीगत उत्पाद वाले उद्योग।

(iii) उच्च प्रौद्योगिकी वाले उद्योग जिनके लिए व हत् आकार का उत्पादन आवश्यक है और जो क षि तथा लघु उद्योगों के विकास से सम्बन्धित हैं, जैसे-रासायनिक खाद, कीटनाशक वस्तुएँ एवं तेल-रासायनिक उद्योग।

(iv) अन्य उद्योग जो लघु उद्योग की आरक्षित सूची के बाहर हैं ओर जिन्हें अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक माना जाता है।

9 **बड़े औद्योगिक ग ह :** नीति में यह कहा गया है कि ''विगत अनुभव यह कहता है कि बड़े औद्योगिक ग हों के गैर-आनुपातिक विकास को रोकने में सरकार की नीतियाँ सफल नहीं हो पायी हैं।'' वास्तव में बड़े औद्योगिक ग हों का विकास उनके आन्तरिक साधनों से नहीं हुआ बल्कि सार्वजनिक संस्थानों का उन्होंने अधिकाधिक उपयोग किया और अर्थव्यवस्था में एक सन्तुलन स्थापित कर दिया। उद्योग मंत्री ने यह स्पष्ट किया कि बड़े औद्योगिक ग हों के विकास की इस प्रक्रिया को न केवल रोकना पड़ेगा बल्कि और दूसरे क्षेत्रों के उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन देकर उनका विकास करना पड़ेगा।

नीति में बताया गया कि भविष्य में बड़े औद्योगिक ग हों का विस्तार निम्नलिखित सिद्धांतों पर ही होगा :-

(i) विद्यमान उपक्रमों तथा नये उपक्रमों के संस्थानों का विस्तार एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार

अधिनियम के प्रावधानों के अधीन होगा। इस अधिनियम के प्रावधानों (प्रभावी उपक्रम वाले प्रावधानों सहित) को प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वित किया जायेगा।

(ii) स्वतः विकसित होने वाले उद्योगों के अतिरिक्त विद्यमान एवं नये उपक्रमों का विस्तार सरकार की विशेष अनुमति के बिना नहीं किया जायेगा।

(iii) नयी योजनाओं अथवा विद्यमान परियोजनाओं के विकास के लिए बड़े औद्योगिक ग हों को अपने स्वयं के अर्जित स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ेगा। अधिक पूँजीगत उद्योगों-रासायनिक खाद, काजग, सीमेन्ट, जलयान, तेल, रसायन आदि में उपयुक्त ऋण-क्षमता अनुपात को इस प्रकार निर्धारित किया जायेगा जिससे वे अपने आन्तरिक स्रोतों का अधिकतम उपयोग कर सकें।

औद्योगिक नीति में यह स्पष्ट किया गया कि सरकार अपनी लाइसेन्सिग नीति में बड़े औद्योगिक ग हों की क्रियाओं का विनियमन इस ढंग से करेगी जिससे उनको देश के सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों में अनुरूप ला सके। लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए आरक्षित उद्योगों में बड़ी इकाइयों को वे बड़े औद्योगिक ग हों से सम्बन्धित हों या न हों, विस्तार के लिए अनुमति नहीं दी जायेगी।

10. **सार्वजनिक क्षेत्र :** आज सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विकास हो गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा महत्वपूर्ण क्षेत्रों में उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण करने के अतिरिक्त बड़े औद्योगिक ग हों के विकास के प्रति समान शक्ति के रूप में भी कार्य किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए अनेक क्षेत्रों में प्रवेश करने की सम्भावना है। सार्वजनिक क्षेत्र न केवल मूलभूत एवं महत्वपूर्ण वस्तुओं का उत्पादन ही करेगा बल्कि वस्तुओं की पूर्ति के लिए एक स्थिरीकरण शक्ति के रूप में भी कार्य करेगा। सहायक उद्योगों एवं लघु तथा कुटीर उद्योगों को विकसित करने में भी सार्वजनिक क्षेत्र का कार्य महत्वपूर्ण होगा। सरकार यह साहस करेगी कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का संचालन लाभ पर किया जाये जिसे वे समाज को उसके विनिययोग का उचित प्रतिफल प्रदान कर सकें। सरकार सार्वजनिक क्षेत्र में एक पेशेवर प्रबन्ध-संवर्ग का निर्माण भी करेगी।

11. **स्वदेशी एवं विदेशी प्रौद्योगिकी :** नीति में यह बताया गया कि देश में वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों की एक विकसित संरचना विद्यमान है। जहाँ तक सम्भव हो, भविष्य में उद्योगों का विकास स्वदेशी प्रौद्योगिकी के विकास के लिए पूर्ण सहयोग प्रदान किया जायेगा तथा आवश्यक प्रयत्न किये जायेंगे। लेकिन यह आवश्यक है कि स्वदेशी प्रौद्योगिकी समाज के लाभ एवं आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक हो। जनसमूह के जीवन-स्तर एवं जीवन की खुशहाली बढ़ाने में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का पूर्ण योगदान होना चाहिए।

जिन क्षेत्रों में अभी देश की प्रौद्योगिकी का विकास नहीं हो पाया है, उनमें आत्म-निर्भर होने के लिए सरकार सक्रिय योगदान देगी तथा विदेशी प्रौद्योगिकी को लाने एवं अपनाने की अनुमति प्रदान करेगी। जिन संगठनों द्वारा विदेशी प्रौद्योगिकी को स्वदेश में लाया जाता है, वहाँ शोध एवं विकास विभाग की स्थापना द्वारा विदेशी प्रौद्योगिकी को अपनाया जायेगा तथा आत्मसात करने के पूर्ण प्रयास किये जायेंगे।

12. **विदेशी विनियोग :** औद्योगिकी नीति में यह कहा गया कि सरकार विदेशी विनियोग के सम्बन्ध में अपनी नीति स्पष्ट करना चाहती है। जहाँ तक विद्यमान विदेशी कम्पनियों का सम्बन्ध है, उनपर विदेशी विनिमय अधिनियम के प्रावधान तत्परता से लागू किये जायेंगें। विदेशी कम्पनियों के विस्तार एवं भविष्य की क्रियाओं पर पूर्ण रूप से उन सिद्धान्तों एवं नियमों द्वारा विनियमन किया जायेगा जिनसे भारतीय कम्पनियों का विनियमन होता है। विदेशी विनिमय एवं प्रौद्योगिकी को भारत सरकार द्वारा निर्धारित शर्तो के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकेगा। उन क्षेत्रों में जहाँ विदेशी सहयोग की आवश्यकता नहीं हैं, वहाँ विद्यमान सहयोगों का नवीनीकरण नहीं किया जायेगा तथा विदेशी कम्पनियों को अपनी कार्यपद्धति को हमारी राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के सन्दर्भ में परिवर्तित करना होगा। सरकार एक ऐसी सूची की घोषणा भी करेगी जिसमें उन उद्योगों का समावेश होगा जिन्हें विदेशी सहयोग की बिल्कुल आवश्यकता नहीं हैं।

13. **संयुक्त साहस :** यह स्पष्ट किया गया कि भारतीय साहसियों द्वारा विकासशील देशों में अनेक संयुक्त साहस स्थापित किये गये हैं। लेकिन देश के वर्तमान औद्योगिक विकास को द ष्टि में रखते हुए अब भारत से पूँजी को निर्यात करना तथा

दूसरे देशों में लगाना न तो उचित रहेगा और न ही ऐसा करना सम्भव है। विदेशी सहयोग अब केवल - मशीन, उपकरण तथा तकनीकी जानकारी के रूप में और प्रबन्धकीय विशेषज्ञता के रूप में ही होगा। पूँजीगत विनियोग की दशा में भारत सरकार से पूर्व अनुमति लेना आवश्यक होगा।

14. **आयात में छूट :** उद्योग मंत्री ने कहा कि हमें ''आत्मनिर्भरता की दिशा में आगे बढ़ना है।'' अनके बार अन्तर्राष्ट्रीय अनिश्चितताओं की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके द्वारा हमारी योजनाओं पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसलिए आयात केवल आवश्यकतानुसार ही किया जायेगा और मुख्य प्रयास यह होगा कि हमारे ही देश में अब वस्तुओं एवं साधनों का उत्पादन किया जाये जिन्हें हम विदेशों से लाना चाहते हैं, लेकिन ऐसी दशाओं में जहाँ हमारी परियोजनाएँ विदेशी वस्तुओं, तकनीकी या सहायता के अभाव में पूरी नहीं हो रही है या नहीं हो सकेंगी, वहाँ आयात में उदारता रखी जायेगी। साथ ही यह भी देखा जायेगा कि हमारी स्वदेशी संस्थाओं को अधिकतम सुविधाएँ प्रदान की जायें, जिससे वे ऐसी परिस्थितियों में उत्पन्न कठिनाइयों को समाप्त करने तथा उनका उपयुक्त संमाधान ढूँढ़ने में सफल हों।

15. **उत्पादों का निर्यात :** नीति में यह स्पष्ट किया गया कि सरकार निर्यात के प्रस्तावों पर अनुकूल द ष्टिकोण अपनायेगी और ऐसे प्रस्तावों के क्रियान्वयन के लिए अनेक सुविधाएँ एवं छूटें उपलब्ध करने में सहायता करेगी। हमारे आयात-निर्यात व्यवसाय में निर्यातों को अधिक महत्व दिया गया है। अनेक परिस्थितियों में हमें अन्य समझौतों को पूरा करने के लिए अनिवार्य निर्यात करने पड़ेंगे। इसका आशय यह भी होगा कि हमारी औद्योगिक क्षमताओं में विकास करना पड़ेगा।

16. **उद्योगों का स्थानीयकरण :** सरकार, सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को अत्यधिक महत्व देती है। यह देखा गया है कि स्वाधीनता के पश्चात् उद्योगों का विकास महानगरों एवं शहरों के आस-पास केन्द्रित हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रदूषण तथा श्रमिकों की समस्याओं में तीव्रता से व द्धि हुई है। इसलिए सरकार ने यह निश्चय किया है कि नये औद्योगिक प्रतिष्ठानों को अब उन महानगरों में जिनकी जनसंख्या दस लाख से अधिक है तथा उन शहरों में जिनकी जनसंख्या पाँच लाख से अधिक है, नये लाइसेन्स प्रदान नहीं किये जायेंगे। राज्य सरकारों तथा वित्तीय संस्थाओं को यह निर्देश दिये जायेंगे कि वे ऐसे क्षेत्रों में इकाइयों की स्थापना में अपना सहयोग देने से इन्कार कर दें। सरकार उन विद्यमान उद्योगों को सहायता देने पर विचार करेगी जो पिछड़े हुए एवं अविकसित क्षेत्रों में अपने उद्योगों को ले जाने की योजना प्रस्तुत करेंगे।

17. **मूल्य नीति :** एक सुद ढ़ मूल्य नीति का उद्देश्य मूल्य स्थिरता तथा क षि एवं औद्योगिकी वस्तुओं के मूल्यों में समता बनाये रखना होता है। सरकार की यह नीति होगी कि वह वस्तओं के मूल्यों का निर्धारण इस प्रकार करेगी जिससे विनियोजकों तथा उपभोक्तओं को उचित प्रतिफल मिल सके। उपक्रमों द्वारा अर्जित लाभों का लाभ अंशधारियों को लाभांश के रूप में तथा विनियोजकों को लाभों के पुर्नियोजन के रूप में मिल सके, सरकार का यह प्रयास होगा। लेकिन सरकार यह कभी सहन नहीं करेगी कि औद्योगिकी प्रतिष्ठान उच्च मूल्यों पर अत्यधिक सरकार एवं अनुपयुक्त लाभ अर्जित करें।

18. **श्रमिक सहभागिता :** नीति में यह स्पष्ट किया गया कि किसी भी देश का महत्वपूर्ण एवं केवल एक मात्र साधन उस देश के कुशल एवं परिश्रमी श्रमिक हैं। हमारे देश में जन-शक्ति की अधिकता है और उसकी एक विशेषता यह है कि वह नयी दक्षताओं एवं योग्यताओं को ग्रहण करने में सक्षम है। हमारे देश में कुशल एवं योग्य तकनीकी तथा प्रबन्धकीय व्यक्ति भी काफी हैं। इन सबका अधिक उपयोग, सहयोग एवं लाभ तब ही सम्भव हो सकता है जब श्रमिक एवं प्रबन्धक संस्थान के प्रति लगाव अनुभव करें तथा इस प्रकार कार्य करें जिससे अलगाव की स्थिति न आ सकें। यह कार्य श्रम-सहभागिता से सम्पन्न किया जा सकता है। सरकार इस पर विचार कर रही है कि श्रमिकों की सहभागिता अंश पूँजी में भी हो। इसके साथ विभागीय एवं कारखाना स्तर पर निर्णयन में श्रम-सहभागिता भी आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

19. **उद्योगों में रूग्णता :** विगत कुछ वर्षो में एक नयी प्रव ति देखने में आयी है कि बड़ी और छोटी दानों प्रकार की इकाइयों में रूग्णता बढ़ती जा रही है। अनेक मामलों में रूग्ण इकाइयों को सरकार को लेना पड़ा। सरकार औद्योगिक रूग्णता को अब और नहीं बढ़ने देगी, क्योंकि इससे सार्वजनिक साधनों का दुरूपयोग होता है और सरकार एवं समाज को हानि होती है।

1977 की औद्योगिक नीति की समीक्षा

(Appraisal of the Industrial Policy of 1977)

जनता सरकार की औद्योगिक नीति की प्रारम्भिक बात यह है कि इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण बात वे ही हैं जिन्हें 1956 की नीति में रखा गया है। विगत विक तियों को दूर करने का इसमें विशेष प्रयास किया गया है। नीति में रोजगार के अवसरों का स जन तथा उद्योगों के विकेन्द्रण को महत्वपूर्ण माना है। औद्योगिक नीति का सारतत्व क षि के विकास एवं सम्बन्धित क्रियाओं के विकास से उत्पन्न आय एवं वितरण द्वारा अधिकतम उद्योगों के लिए 'मूल माँग' प्रदान करना है। क षि एवं उद्योगों की अन्तर्क्रियाओं द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करना तथा रोजगार दिलाना इस नीति का मुख्य उछेश्य माना है। महानगरों तथा शहरों से बड़े उद्योगों तथा उनकी कुछ क्रियाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में ले जाने की बात एक सराहनीय कदम है। बशर्ते सरकार को इसमें कुछ सफलता मिल जाती है। विगत वर्षो में लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए विपणन सुविधाओं का जो अभाव रहा है, उसे दूर करने तथा पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध कराने की घोषणा का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया है, लेकिन दो वर्ष के बाद भी ऐसे ठोस कदम दिखायी नही दे रहे है, यह घोषणा की निष्ठा के प्रति एक प्रश्न सूचक बन रहा है। यह एक अच्छी बात है कि लघु एवं सूक्ष्म क्षेत्र के लिए 500 वस्तुओं के आरक्षण की घोषणा कर दी गई है। इसकी सफलता मुख्यतः नियोजन तन्त्र पर निर्भर करेगी कि वह इस कार्यक्रम को प्राथमिकता किस प्रकार देता है। इस सन्दर्भ में एक तथ्य और महत्वपूर्ण है-जिन वस्तुओं को आरक्षित सूची में रखा गया है उनमे से अधिकांश अप्रयुक्त क्षमताओं में है और जब तक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का तीव्रता से विकास नहीं हो जाता, आरक्षण स्वंय में कोई समाधान नहीं हो सकता। फिर इन सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न प्राथमिकताओं का है। एक सुपरिभाषित एवं स्पष्ट आय-वितरण नीति के बिना अर्थव्यवस्था में सुधार की अपेक्षा करना सही नहीं हैं।

एक अन्य प्रश्न बड़े औद्योगिक ग हों से सम्बन्धित है। नीति में यह कहा गया है कि उन्हें अपने अर्जित साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। विगत वर्षो की अर्थव्यवस्था में वस्तुओं की लागत काफी बढ़ गई है, अतः वे ऐसे बाजारों की खोज करना चाहेंगें जिनमें उनकी वस्तुओं की माँग व खपत हो सके तथा साधनों की व्यवस्था कर सकें। क्या यह प्राथमिकताओं के विपरीत नहीं हागा, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

सार्वजनिक क्षेत्र के बारे में कहा गया है कि इसे एक महत्वपूर्ण भूमिका पूरी करनी है, लेकिन अभी तक यह जानकारी नहीं हो सकी है कि वह महत्वपूर्ण भूमिका किस रूप में होगी। नीति में अस्पष्टता सामान्यतः खतरनाक सिद्ध होती हैं।

जनवरी, 1980 में पुन : कांग्रेस सरकार के सत्तारूढ़ हो जाने के बाद पूर्व नीतियों को क्रियान्वित करने तथा छठी योजना का नया प्रारूप तैयार करने तथा नई प्रगतिशील नीतियों को अपनाने का कार्यक्रम शुरू किया गया। 1977 में घोषित जनता सरकार की औद्योगिक नीति सत्ता में परिवर्तन के कारण प्रभावी ढंग से क्रियान्वित नहीं हो सकी। कांग्रेस सरकार के आने के बाद नयी व्यूह रचनाओं की शुरूआत में 1980 की औद्योगिक नीति फिर एक महत्वपूर्ण कदम है।

औद्योगिक नीति, 1980

(Industrial Policy of 1980)

23 जुलाई, 1980 को कांग्रेस के पुनः सत्ता में आने के कुछ माह पश्चात् ही नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी। नया नीति प्रस्ताव मूलतः 1956 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अधीन ही बनाया गया। नये नीति प्रस्ताव के प्रस्ताव में यह उल्लेख किया गया कि 1956 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव हमारे देश की मूल्य व्यवस्था (Value System) को प्रतिबिम्बित करता है और 1956 के प्रस्ताव एवं नीति ने यह निर्णायक तौर से यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे देश की व्यवस्था में 'रचनात्मक लोच' विद्यमान है तथा यह हमारे लिए भी उपयोगी सिद्ध हुई है।

नयी नीति के प्रमुख उछेश्य

नयी औद्योगिक नीति में कुछ 'सामाजिक एवं आर्थिक' उद्देश्यों का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। इन उद्देश्यों का मुख्य आधार देश का तीव्र एवं सन्तुलित औद्योगीकरण तथा देश के सभी लोगों को अधिकतम लाभ उपलब्ध कराना रहा है। इसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं-

(1) उद्योगों की संस्थापित क्षमता का अनुकूलतम उपयोग;

(2) देश में उत्पादन को अधिकतम करना तथा उच्चतर उत्पादकता को प्राप्त करना

(3) उच्चतर रोजगार के अवसर उत्पन्न करना

(4) औद्योगिक द ष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों को प्राथमिकता के आधार पर विकसित करते हुए प्रादेशिक असन्तुलन को दूर करना

(5) क षि पर आधारित उद्योगों को प्राथमिकता प्रदान करते हुए देश के क षि आधार को मजबूत बनाना तथा अन्तर्क्षेत्रीय सम्बन्धों की क्रियाओं में संवर्द्धन करना;

(6) निर्यात सम्भावित उद्योगों की व द्धि करना तथा ऐसे उद्योगों के विकास पर बल देना जिससे हमारे आयात कम हो सकें, जिससे हमारे देश में ही उन वस्तुओं का उत्पादन हो सके जिन्हें हम अभी तक विदेशों से आयात करते रहे हैं;

(7) एक ऐसे 'आर्थिक संघवाद' का प्रवर्तन करना, जिसमें विनियोगों का समान विरतण हो तथा जिनका लाभ छोटी और बढ़ती हुई ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों की इकाइयों को मिल सके;

(8) खराब किस्म की वस्तुओं और वस्तुओं के ऊँचे मूल्यों के सन्दर्भ में उपभोक्ताओं को संरक्षण प्रदान करना।

औद्योगिक नीति, 1980 की विशेषताएँ

(Salient Features of Industrial Policy, 1980)

औद्योगिक नीति में हमारी अर्थव्यवस्था और औद्योगिक व्यवस्था पर एक नया एवं व्यावहारिक द ष्टिकोण अपनाया गया है। नयी नीति में वर्णित उछेश्यों को प्राप्त करने के लिए अनेक रचनात्मक कदम उठाये गये है।

(1) **सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार** इस नीति में यह उल्लेख किया गया है कि पिछले कुछ वर्षो मे 'राजनीतिक शून्यता' रहने के कारण यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात सामने आई है कि सार्वजनिक क्षेत्र में लोगों का विश्वास कम हुआ है। इसलिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात लोगों के विश्वास में अभिव द्धि करने के साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र में कुशल प्रबन्ध व्यवस्था करना है। रोजगार एवं बचत में सार्वजनिक क्षेत्र के योगदान में व द्धि हो, ऐसे कदम उठाना भी बहुत ज़रूरी हैं। कुल मिलाकर सार्वजनिक क्षेत्र की छवि सुधारने के लिए अग्रलिखित कदम उठाना आवश्यक समझा गया-

(i) सार्वजनिक क्षेत्र की सभी इकाइयों पर प थक रूप से ध्यान रखा जायेगा तथा उनकी जाँच की जाएगी और जहाँ भी आवश्यक होगा, उनकी कुशलता को बढ़ाने के लिए सुधारात्मक उपाय किये जायेंगें;

(ii) गतिशील एवं सक्षम प्रबन्ध उपलब्ध कराने तथा व्यवस्था की पुनः संरचना के द्वारा हानि में चल रहे उद्योगों को लाभप्रद स्थिति में लाने को प्राथमिकता दी जायेगी;

(iii) सार्वजनिक क्षेत्र के मुख्य कार्यात्मक क्षेत्रों के लिए पेशेवर संवर्ग (Professional Cadres) तैयार करने तथा इसके विकास के लिए कदम उठाये जायेंगे।

2 **निजी क्षेत्र का विकास :** मिश्रित अर्थव्यवस्था को बनाये रखना तथा 1956 की औद्योगिक नीति को आधार मानते हुए इस नीति में भी निजी क्षेत्र के विकास पर पूरा ध्यान रखा गया है। इस नीति में यह उल्लेख किया गया है कि राष्ट्रीय लक्ष्यों, उछेश्यों, नियोजन, एवं नीतियों में सामन्जस्य रखते हुए निजी क्षेत्र को विकास करने के पूर्ण अवसर दिये जायेगें। लेकिन यह अवश्य स्पष्ट कर दिया गया है कि कुछ ही हाथों में आर्थिक सत्ता व सम्पदा का संकेन्द्रण और एकाधिकारी प्रव तियों का विकास करने की अनुमति नहीं होगी।

नीति प्रस्ताव में यह कहा गया है कि निजी क्षेत्र के उद्योगों को दी जाने वाली सुविधाएँ एवं छूट निष्पादमूलक होनी चाहिए। इसलिए इस कार्य के लिए आवर्ती मूल्यांकन किया जायेगा, जिसमें इस बात को विशेष रूप से देखा जायेगा कि दी गयी सुविधाओं का मूल लक्ष्यों की प्राप्ति में क्या योगदान एवं प्रभाव रहा है?

1975 में सरकार ने अतिरिक्त उत्पादन क्षमताओं, विनियोजन प्रक्रिया का उदार बनाने तथा अनुज्ञापित क्षमता से आधिक उत्पादन करने के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिये थे। वास्तव में नवीन तकनीक एवं श्रम उत्पादकता में व द्धि

के साथ-साथ उत्पादन क्षमताओं में व द्धि एवं विस्तार होता रहता है, इसलिए नयी नीति में यह उल्लेख किया गया है कि

(i) उद्योगों में बढ़ी हुई उत्पादन क्षमताओं को मान्यता दी जाये;

(ii) मूलभूत, महत्वपूर्ण तथा रक्षा सम्बन्धी जैसे विशेष उद्योगों मे 5 प्रतिशत वार्षिक दर से (जो 5 वर्षो की अवधि में 25 प्रतिशत से अधिक न हो) स्वतः विस्तार की अनुमति प्रदान की जाये;

(iii) निर्यात मूलक उद्योगों में उन्नत एवं विकसित तकनीक को अपनाया जाये;

(iv) कुशलतापूर्ण संचालित उद्योगों से तकनीक का हस्तानतरण नयी क्रियाशील इकाइयों को किया जाए। ऐसी इकाइयाँ जिनमें शोध एवं विकास के सुसंगठित सम्भाग हैं, को उन्नत एवं विकसित तकनीक के निर्यात करने की अनुमति दी जाये;

(v) आधुनिकीकरण की योजनाओं को प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किया जाये, जिसमें निम्नांकित सभी पहलुओं को सम्मिलित किया जा सकता है-

(अ) उद्योगों का उपयुक्त स्थानीकरण तथा ऊर्जा का अनुकूलतम उपयोग;

(ब) उत्पादन लागत को न्यूनतम करने तथा दुर्लभ सामग्री के उपयोग की कुशलता में व द्धि करने के लिए उत्पादन के आकार एवं स्तर तथा तकनीक को अपनाना;

(vi) विभिन्न अनुज्ञापित एवं पंजीक त विनियोजन योजनाओं की प्रगति पर एक समंक कोष (Data Bank) की स्थापना की जाये।

3 **लघु उद्योगों का विकास :-** ऐसे क्षेत्र जिन्हें औद्योगिक द ष्टि से पिछड़ा घोषित किया जाये, वहाँ एक केन्द्रक संयन्त्र (Nucleus Plant) लगाने का सरकार का विचार हैं ऐसे केन्द्रक संयन्त्र छोटे उद्योगों की वस्तुओं को एकत्र करने, जोड़ने, विनियोजन एवं रोजगार का एक व हत् आधार प्रदान करने तथा औद्योगीकरण को गति प्रदान करने में सहायक होंगे। पिछड़े औद्योगिक क्षेत्रों तथा एवं इसके सहायक उद्योगों के विकास पर इस प्रकार से ध्यान दिया जायेगा कि कुछ वर्षो में व हत् एवं लघु उद्योगों के कृत्रिम विभाजन को समाप्त किया जा सकेगा।

लघु उद्योगों के विकास तथा उनकी विकास प्रक्रिया में तीव्रता लाने के उछेश्य से यह निश्चित किया गया है कि -

(i) सूक्ष्म क्षेत्र की इकाइयों (Tiny Sector) में विनियोजन की सीमा एक लाख से बढ़ाकर दो लाख रूपये की जाये;

(ii) लघु उद्योगों मे विनियोजन की सीमा को 10 लाख से बढ़ाकर 20 लाख रूपये किया जाये

(iii) सहायक उद्योगों में विनियोजन की सीमा को 15 लाख से बढ़ाकर 25 लाख रूपये किया जाये।

लघु उद्योगों की सहायता एवं विकास करने की द ष्टि से कुछ आवश्यक सामग्रियों के लिए 'बफर स्टॉक' के निर्माण की योजना है। इस कार्य के लिए राज्यों के लघु उद्योग विकास निगमों तथा केन्द्र स्तर पर राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की सेवाओं का उपयोग भी किया जायेगा। आवश्यक सामग्री सम्बन्धी राज्यों की विशेष आवश्यकताओं को केन्द्र द्वारा प्राथमिकता दी जायेगी।

4 **रूग्ण इकाइयों की दशा में सुधार:** इस औद्योगिक नीति में करूण औद्योगिक इकाइयों की दशा में सुधार करने के लिए निम्नलिलिखत उपाय सुझाये गये हैं-

(i) ऐसी स्थिति में जहाँ जान-बूझकर कुप्रबन्ध या वित्तीय अनियमितता पायी जाती है, वहाँ सख्ती से काम लिया जायेगा;

(ii) ऐसी व्यवस्था बनाई जाये जिसके द्वारा इकाइयों की रूग्णता के संकेत समय से पूर्व प्राप्त किय जा सकें;

(iii) ऐसी रूग्ण इकाइयाँ जिनमें सुधार की सम्भावना है, को स्वस्थ बड़ी इकाइयों के संयोजन में प्रोत्साहन एवं सहायता दी जायेगी। लेकिन स्वस्थ इकाइयाँ ऐसी स्थिति में हो कि वे रूग्ण इकाइयों को सुव्यवस्थित कर सकें तथा उनको लाभदेयता की स्थिति में ला सके;

(iv) रूग्ण इकाइयों का सरकार द्वारा अधिग्रहण केवल उन्हीं अपवादजनक परिस्थितियों में किया जायेगा जहाँ उनके सुधार के लिए कोई अन्य विकल्प उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

5 **व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्वः** यह औद्योगिक नीति कुछ विशेष सन्दर्भो में व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व को महत्त्वपूर्ण मानती है। नीति में स्पष्ट किया गया है कि जहाँ एक ओर सरकार उद्योगों के विकास और संवर्द्धन के लिए पूर्ण प्रयास करेगी तथा उद्योगों को सहायता प्रदान करेगी, वहीं दूसरी और उद्योगों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे कुछ सन्दर्भो में अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करें, जिससे

(i) आपूर्ति रेखा (Supply Line) को ठीक बनाये रखा जा सके;

(ii) सट्टे व जमाखोरी से बचा जा सके;

(iii) उपभोक्ता के हितों की रक्षा की जा सके।

इसके साथ ही वे अपनी क्रियाओं का संचालन इस ढंग से करें कि देश में उत्पादन के स्तर को अधिकतम किया जा सके।

6 **मधुर औद्योगिक सम्बन्ध :** विगत तीन वर्षो (1977-1980) में बिगड़ते हुए औद्योगिक सम्बन्धों ने अर्थव्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों को विपरीत रूप से प्रभावित किया है तथा इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में गिरावट आयी है। श्रमिकों के हितों तथा कल्याण को सरकार अत्यधिक महत्व देती है, लेकिन यह भी मानती है कि अर्थव्यवस्था के विकास के लिए प्रबन्ध एवं श्रमिकों, दोनों का सहयोग बहुत जरूरी है। सरकार का यह विचार है कि त्रिपक्षीय श्रम कॉन्फेन्स को पुनः जाग त किया जाये, जिससे दोनों पक्षों का पूरा सहयोग प्राप्त किया जा सके तथा देश में औद्योगिक शन्ति बनाये रखने में और उत्पादन व द्धि में सफलता प्राप्त की जा सके।

7 **विनियोजन का वातावरणः** औद्योगिक विकास एक अन्तर्क्षेत्रीय संकल्पना है। इसका अभिप्राय न केवल उत्पादन क्रियाओं से ही है, बल्कि यह आधारभूत ढाँचे के विकास, अनुज्ञापन एवं निगम नीतियाँ, औद्योगिक सम्बन्ध एवं प्रबन्ध, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास तथा व हत् सामाजिक-आर्थिक नीतियों से सम्बद्ध है। इसलिए औद्योगिक नीति के क्रियान्वयन में प्रभावी समन्वय आवश्यक है तथा यह भी जरूरी है कि केन्द्र तथा राज्य के विभिन्न स्तरों पर निष्पादन-नियन्त्रण किस प्रकार किया जाता है। इसकी अन्तिम सफलता इस बात निर्भर करेगी कि उद्योगों को समाज से किस सीमा तक सहायता एवं सहयोग प्राप्त होता है। इन सब घटकों की अन्तर्क्रियाएँ ही मिल कर किसी देश में विनियोजन के वातावरण का निर्माण कर सकती है।

8 **क्षेत्रीय असन्तुलन में सुधारः** सरकार पिछड़े हुए क्षेत्रों को विकसित करने हेतु वहाँ उद्योगों की स्थापना पर अधिक ध्यान देगी तथा ऐसे क्षेत्रों मे विशेष सुविधाएँ उपलब्ध करायेगी। आवश्यकतानुसार इन सुविधाओं में परिवर्तन किया जा सकेगा। इन क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना हेतु वित्तीय सहायता, अनुदान एवं अन्य विशेष सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी।

9 **ग्रामीण उद्योगों का विकास :** ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने हेतु हाथ-करघा, हस्तकला, खादी एवं अन्य ग्रामीण उद्योगों की स्थापना पर जोर दिया गया। इससे गाँवों में रोजगार के अवसरों तथा आय में व द्धि करके गाँवों में विकास की दर को तीव्र किया जा सकेगा। ग्रामीण तथा शहरी दानों ही क्षेत्रों में विनियोग को प्रोत्साहित करके उच्च उत्पादन एवं उच्च रोजगार के आदर्श को प्राप्त किया जायेगा।

10 **निर्यातोन्मुखी उद्योगों को प्रोत्साहनः** इस औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार ने निर्यात बढ़ाने वाली इकाइयों को बढ़ावा देने का निश्चय किया। अतः ऐसे उद्योगों को विशेष सुविधाएँ देने, विस्तार हेतु सहानुभूतिपूर्वक विचार करने, उत्पादन की उच्च तकनीक उपलब्ध कराने आदि पर विशेष बल दिया गया। साथ ही, आयात प्रतिस्थापना (Import Substitution) उद्योगों को भी प्रोत्साहन व संरक्षण दिया जायेगा। इससे देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो सकेगा व विदेशी मुद्रा का अर्जन सम्भव हो सकेगा।

11 **टेक्नालॉजी एवं आधुनिकीकरण :** नई औद्योगिक नीति में इस बात का उल्लेख किया गया कि सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया जायेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए टैक्नालॉजी का विकास किया जायेगा। इसके अतिरिक्त औद्योगिक एवं अनुसन्धान संस्थाओं को टेक्नालॉजी आयात करने की सुविधा भी दी जायेगी।

औद्योगिक नीति की समीक्षा
(Appraisal of the Industrial Policy)

जुलाई 1980 में घोषित औद्योगिक नीति देश की छठी पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष की देन है। छठी योजना के पहले तीन वर्षो पर इस औद्योगिक नीति का प्रभाव हमारे देश में हुए औद्योगिक उत्पादन से कर सकते हैं। 1980-81 में औद्योगिक उत्पादन में 4 प्रतिशत व द्धि हुई जो 1981-82 में बढ़कर 8.6 प्रतिशत तक पहुँच गयी। लेकिन 1982-83 में 4.5 व द्धि ही हो जायी। 1982-83 में कुल मिलाकर व द्धि दर में कमी आने का कारण उन कुछ उद्योगों के उत्पादन की गति धीमी रहना है, जिन्होंने 1981-802 में बहुत अधिक उत्पादन किया था। मुम्बई के कपड़ा उद्योगों में लम्बे समय तक हड़ताल रहने के कारण भी औद्योगिक उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ा। लघु उद्योग और ग्रामोद्योगों सहित विकेन्द्रीक त क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। औद्योगिक निवेश में निरन्तर व द्धि बनी रही।

सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य में उल्लेखनीय सुधार हुआ। वर्ष 1981-82 के दौरान शुद्ध लाभ 485 करोड़ था, जबकि वर्ष 1981-82 में 203 करोड़ रूपये और वर्ष 1979-80 में 74 करोड़ का घाटा हुआ था। वर्ष 1982-83 के पहले छः महीनों में सार्वजनिक उद्योग के उत्पादन में 8.9 प्रतिशत व द्धि हुई और 73 करोड़ रुपये का शुद्ध लाभ हुआ, जबकि पिछले वर्ष की अवधि में शुद्ध लाभ 48 करोड़ रुपये रहा था।

इस औद्योगिक नीति का उद्देश्य प्रमुख क्षेत्रों में आन्तरिक संसाधन बढ़ाना, क्षेत्रीय असन्तुलन दूर करना, त्वरित अनुसन्धान और विकास, संस्थापित क्षमता का बेहतर उपयोग, निर्यात के लिए अधिक मात्रा में माल का उत्पादन करना तथा रोजगार के अधिक अवसर पैदा करना है। औद्योगिक उत्पादन को वांछित दिशा देने के लिए 3 वर्षो के दौरान अनेक उपाय किये गये हैं। लेकिन फिर भी उद्योगों के अनेक क्षेत्रों में आधुनिकीकरण और उनमें अधिक कुशलता के साथ उत्पादन किये जाने की तत्काल आवश्यकता है, ताकि औसत लागत और मूल्यों में कमी लायी जा सके। क्षमता के बेहतर उपयोग के माध्यम से औद्योगिक उत्पादों की कीमतों में कमी लाने के लिए फालतू और अनुत्पादक खर्चो को समाप्त कर लागत व्यय को घटाने और ज्यादा पूँजी निवेश के माध्यम से अधिक आन्तरिक संसाधन जुटाने हेतु ठोस प्रयास किये जाने जरूरी हैं।

इस नीति में सामाजिक-आर्थिक उछेश्यों का उल्लेख इसे ज्यादा आकर्षक बना देता है, लेकिन देखना यह है कि इन उछेश्यों को प्राप्त करने में कहाँ तक सफलता मिलती है? नीति में अनेक स्थानों पर समयवद्ध कार्यक्रम का उल्लेख किया गया है, लेकिन उनका वास्तविक स्वरूप कहीं दिखायी नहीं देता है। देश के औद्योगिक विकास में उप-ढाँचे सम्बन्धी (Infrastructural) संकट रहा है। यह एक सराहनीय कदम हैं कि इस नीति में उप-ढाँचे के क्षेत्र में निष्पादन में सुधार करने को अति आवश्यक माना गया है।

औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र के महत्वपूर्ण कार्यो का उल्लेख है तथा यह भी कि गैर-कांग्रेसी काल में लोगों का इसमें विश्वास कम हो गया था। आगे आने वाले काल में इस वक्तव्य की सत्यता को और अधिक जाँचा जा सकेगा। सार्वजनिक क्षेत्र में सुधारात्मक कदमों की बात करना प्रशंसनीय दिशा बोध है।

लघु, सूक्ष्म एवं सहायक उद्योगों में विनियोजन की सीमा में व द्धि करना न्यायोचित एवं पूर्ण औचित्यपूर्ण है, क्योंकि कीमतों में व द्धि ने इसे आवश्यक बना दिया था।

अनुज्ञापित क्षमता से अधिक की क्षमताओं को नियमित करना तथा स्वतः विस्तार की सुविधा प्रदान करना कुछ अनिवार्य वस्तुओं के उत्पादन में न्यूनतम लागत पर व द्धि करने तक तो श्रेष्ठ रहेगा, लेकिन इसके दुरूपयोग की पूरी सम्भावनाएँ हैं।

औद्योगिक नीति में जिन अनेक महत्वपूर्ण बातों का समावेश किया गया है और जिनका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, उनसे औद्योगिक विकास में आशाएँ जाग त होती हैं। लेकिन देखना यह है कि इन्हें किस प्रकार, किन प्राथमिकताओं के आधार पर और किसी सीमा तक क्रियान्वित किया जाता है। क्योंकि विगत 35 वर्षो में (1948 की औद्योगिक नीति से लेकर 1983 तक) हमने यह देखा है कि देश की अर्थव्यवस्था की धीमी प्रगति का कारण नीतियों के दोषों की अपेक्षा नीतियों का अनुपयुक्त एवं अकुशल क्रियान्वयन रहा है।

औद्योगिक नीति, 1985

(Industrial Policy, 1985)

देश में आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गतिमान करने, औद्योगिक उत्पादन में व द्धि करने तथा राष्ट्रीय संसाधनों के उच्चतम प्रयोग की द ष्टि से वर्ष 1985 में महत्वपूर्ण घोषणाएँ एवं निर्णय किये गये। इस दशक के प्रारम्भ से ही सरकार ने औद्योगिक नीति को अत्यन्त विवेकपूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

इस औद्योगिक नीति के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित निर्धारित किये गये-

1. आर्थिक विकास में आने वाली बाधाओं को दूर करना,
2. गतिशील औद्योगिक वातावरण का निर्माण करना, तथा
3. विकास, विनियोग व उत्पादन की गति को तीव्र करना।

1985 की औद्योगिक नीति, 1980 की औद्योगिक नीति के मार्गदर्शी सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित की जाती रहेगी। लेकिन इसके प्रभावी कार्यान्वयन हेतु सरकार ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण संशोधन कियें हैं-

1 **उद्योगों का विशद् वर्गीकरण :** लाइसेन्स सम्बन्धी प्रक्रियाओं को सुप्रवाही बनाने, संसाधनों की क्षमताओं का उच्चतम प्रयोग करने तथा उत्पादन में तीव्र व द्धि करने की द ष्टि से 1985 में भी उद्योगों के विशद् वर्गीकरण की योजना जारी रखी गई है। इससे उत्पादकों को अपने उत्पादमिश्र को बाजार की माँग के अनुरूप समायोजित करने का लाभ मिल सकेगा। इस योजना को अब 25 उद्योगों में भी विस्तारित किया गया है। इसमें से कुछ उद्योग इस प्रकार हैं-मशीनी औजार, मोटरीक त चार पहिया वाहन, कागज और लुग्दी, रसायन, पैट्रोरसायन और उर्वरक, मशीनरी उद्योग, क षि मशीनरी, डीजल इंजन, केन, टाइपराइटर, विद्युत उपकरण, रेल माल डिब्बा व सवारी डिब्बा आदि।

इस व्यापक वर्गीकरण के फलस्वरूप औद्योगिक उपक्रम प्रत्येक वस्तु का उत्पादन करने के लिए आवेदन करने की बजाय अब सामान्य वर्ग की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए स्वतन्त्र रूप से आवेदन कर सकेंगे। यह सुविधा विद्यमान लाइसेन्स प्राप्त औद्योगिक इकाइयों को भी उपलब्ध रहेगी और उनके आवेदन पर विचार करते समय एक सरलीक त प्रक्रिया अपनायी जायेगी। यह उद्योगों की 'ब्रॉड बैण्डिग' योजना है।

2 उद्योगों को लाइसेन्स मुक्त करना: मार्च, 1985 में सरकार ने उद्योगों की 25 विशद् श्रेणियों को लाइसेन्स मुक्त कर दिया है। अब इन श्रेणियों के उद्योगों को 'औद्योगिक अनुमोदनों के सचिवालय' में केवल अपना पंजीयन करवाना होगा, औद्योगिक (विकास एवं विनियमन) आधिनियम के अन्तर्गत अब इनके लिए लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य नहीं होगा। फिर भी यह लाइसेन्स मुक्ति निम्नलिखित शर्तों के अधीन प्राप्त होगी-

(i) औद्योगिक उपक्रम एम.आर.टी.पी. अधिनियम और विदेशी मुद्रा अधिनियम की सीमा के अन्तर्गत नहीं आता हो।

(ii) उत्पादित की जाने वाली वस्तु लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित न हो।

(iii) औद्योगिक उपक्रम निम्न क्षेत्रों में स्थापित न हो अथवा इन क्षेत्रों में स्थापित करने का विचार नहीं हो-

(क) 1981 में भारत की जनगणना में निर्धारित 10 लाख से अधिक ही जनसंख्या वाले शहर की सीमा के भीतर, अथवा

(ख) उक्त जनगणना में निर्धारित 5 लाख से अधिक की जनसंख्या वाले शहर की नगरीय सीमा के भीतर। सरकार ने जून, 1985 में 82 व हत् औषधियों (Bulk Drugs) तथा इनके निरूपणों (Formulations) को भी लाइसेन्स की अनिवार्यता से मुक्त कर दिया।

3 पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना पर लाइसेन्स की छूट : सरकार पिछड़े हुये क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना एवं विकास पर विशेष जोर दे रही है। ऐसे क्षेत्रों में उद्योग लगाने पर लाइसेन्स प्राप्त करने की आवश्यकता नही होगी। एम. आर.टी.पी. अधिनियम की धारा 21 व 22 के भीतर छूट प्राप्त 27 उद्योगों में से 22 उद्योगों को लाइसेन्स मुक्त करने की योजना दिसम्बर, 1985 में लागू कर दी गई, बशर्ते कि ऐसे औद्योगिक उपक्रम क्रेन्दीय सरकार द्वारा घोषित पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करना चाहते हों।

यह योजना इन पाँच उद्योगों में लागू नहीं की गई-(क) अकार्बनिक उर्वरक, (ख) ड्रग्स और फर्म इन्टरमीडिएट्स, (ग) अखबारी कागज, (घ) पोर्टलैण्ड सीमेन्ट, और (ड़) मोटरीक त चार-पहिया वाहन।

4 लघु उद्योगों की निवेश सीमा में व द्धि : लघु एवं सहायक उद्योगों के प्रोत्साहन के लिए इनकी परिसम्पतियों में किये जाने वाले पूँजी विनियोग को बढ़ा दिया गया है। लघु उद्योगों के लिए निवेश की सीमा 20 लाख रूपये से बढ़ाकर 35 लाख रूपये कर दी गई है और सहायक उद्योगों (Ancillary Industries) की निवेश सीमा 25 लाखा रूपये से बढ़ाकर 45 लाख रूपये कर दी गई है।

5 दूर-संचार उपकरण उद्योग में गैर-सरकारी क्षेत्र की भागीदारी: दूर-संचार उपकरण उद्योग की स्थापना व संचालन सरकारी क्षेत्र के लिए आरक्षित है। किन्तु उत्पादन बढ़ाने के द ष्टिकोण से सरकार ने यह निर्णय लिया है कि-

(i) स्विचिंग और ट्रान्शमीशन उपकरण के उत्पादन में निजी क्षेत्र की इकाइयों का सहयोग लिया जा सकता है। लेकिन इस भागीदारी मे कम से कम 51 प्रतिशत हिस्सा केन्द्र/राज्य सरकारों को होना चाहिये और अधिकतम 49 प्रतिशत हिस्सा गैर-सरकारी संस्थाओं का हो सकता है,

(ii) गैर सरकारी क्षेत्र को ग्राहकों के परिवार में स्थापना के लिए टेलीफोन उपकरण, टेलिप्रिन्टरों, आँकड़ा संचार उपकरण अादि जैसे दूर-संचार के उपकरणों का उत्पादन करने की अनुमति दी जा सकती है।

6 'उद्योग रहित जिलों' व पिछड़े क्षेत्रों का विकास: पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग स्थापना हेतु लाइसेन्स जारी करने में प्राथमिकता की नीति अपनाई गई। सरकार ने 87 जिलों को 'उद्योग रहित जिलें' (No Industries Districts) घोषित कर दिया है। सरकार ने यह निर्णय लेकर परिशिष्ट- I से भिन्न उद्योगों (लद्यु क्षेत्र के लिए अनारक्षित) की स्थापना के लिए एम.आर.टी.पी. उपक्रमों द्वारा पूरे किये जाने वाले अनिवार्य निर्यात दायित्व को वर्ग 'ख' और वर्ग 'ग' (पिछड़े जिले) में 50 प्रतिशत से घटाकार 25 प्रतिशत और वर्ग 'क' जिलों में 30 प्रतिशत घटाकर शून्य कर दिया गया है।

7 परिशिष्ट-I को संशोधन: 1973 में कई उद्योगों की घोषणा की गई थी, जिसमें MRTP तथा FERA अधिनियमों के अन्तर्गत आने वाले बड़े औद्योगिक उपक्रम व कम्पनियाँ अन्य उपक्रमों के साथ भाग ले सकेंगी। अप्रैल, 1982 में इस सूची की समीक्षा करके इसमें संशोधन कर दिया गया था। इस सूची में 31 दिसम्बर, 1985 को पुनः संशोधन करके कुछ नये उद्योग शामिल किये गये हैं। इसमें सम्मिलित, कुल उद्योगों की संख्या 30 है।

8 अतिरिक्त क्षमताओं के पुनः प ष्ठांकन की उदार योजना: क्षमता के पुनः प ष्ठांकन की योजना सर्वप्रथम अप्रैल, 1982 में तीन वर्ष के लिए लागू की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत यह प्रावधान रखा गया था कि औद्योगिक उपक्रम अपने लाइसेन्स में अंकित क्षमता को पिछले किन्हीं 5 वर्षो के दौरान प्राप्त किये गये उच्चतम उत्पादन में उसका 1/3 जोड़कर पुनः प ष्ठांकित करवा सकते थे बशर्ते कि यह लाइसेन्स प्राप्त क्षमता में उसका 25 प्रतिशत जोड़ने पर उससे अधिक न हो।

इस योजना के अनुसार जिन औद्योगिक उपक्रमों ने 31 मार्च, 1985 से पहले किन्हीं 5 वर्षो के दौरान लाइसेन्स प्राप्त क्षमता का 80 प्रतिशत या उससे अधिक प्राप्त किया है (जबकि पिछली योजना में 94 प्रतिशत निर्धारित किया गया था केवल वे ही अपनी क्षमता का पुनः प ष्ठांकन करवा सकेंगें।

पुनः प ष्ठांकित की जाने वाली क्षमता का निर्धारण, पिछले किन्हीं 5 वर्षो के दौरान प्राप्त किये गये उच्चतम उत्पादन में उसका 1/3 जोड़कर किया जायेगा। ये औद्योगिक इकाइयाँ जो पुनः प ष्ठांकित क्षमता प्राप्त कर लेंगी, आगे के वर्षो में और पुनः प ष्ठांकन के लिए अपने लाइसेन्स प्रस्तुत कर सकेंगी, जिसे उनके द्वारा प्राप्त की गई क्षमता में 1/3 जोड़कर पुनः प ष्ठांकित कर दिया जायेगा। यह योजना 1985-90 की अवधि तक के लिए जारी रहेगी।

यह योजना निम्नलिखित औद्योगिक उपक्रमों के लिए लागू नहीं होगी--

(i) लघु उद्योग क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योग,

(ii) 21 चुने हुए उद्योग, जहाँ कच्चे माल की नितान्त कमी है अथवा जिनसे प्रदूषण फैलने की उच्च सम्भावना है,

(iii) वे उद्योग जिनमें उनकी अवस्थापना सम्बन्धी कई कठिनाइयाँ हैं,

(iv) दस लाख या उससे अधिक जनसंख्या वाले शहरी स्थलों में स्थित उपक्रम,

(v) एम.आर.टी.पी./फेरा कम्पनियाँ।

9 आधुनिकीकरण व उपकरणों के प्रतिस्थापना को बढ़ावा: उद्योग में आधुनिकीकरण और मशीनों को बदलने के कार्य में तेजी लाने की द ष्टि से सरकार ने एक सरलीक त प्रक्रिया अपनाने की घोषणा की है। यह सुविधा उन उपक्रमों को दी जायेगी जहाँ आधुनिकीकरण अथवा नवीकरण करने के फलस्वरूप लाइसेन्स प्राप्त क्षमता में 49 प्रतिशत तक व द्धि हो जाती है। ऐसे मामलों में स्थापना-स्थल संम्बन्धी बाधाएँ लागू नहीं होंगी।

10 रूग्ण उद्योगों का पुनर्स्थापन: बीमार उद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए सरकार समय-समय पर प्रभावी उपाय करती रही है। जनवरी, 1985 तक 30 औद्योगिक उपक्रमों की प्रबन्ध व्यवस्था, उद्योग (विकास एवं विनियमन) अधिनियम, 1951 के प्रावधानों के अनुसार की जा रही थी। अक्टूबर, 1981 में सरकार ने औद्योगिक रूग्णता सम्बन्धी मार्गदर्शी नीतियों का निर्माण किया था।

सरकार ने जिन बीमारी औद्योगिक उपक्रमों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले रखा है, उनमें से 26 उपक्रमों के प्रबन्ध अधिग्रहण (Takeover) की अवधियाँ 1 अप्रैल, 1985 से बढ़ा दी गई थीं।

बीमार उद्योगों के लिए सुधारात्मक, उपचारात्मक व अन्य आवश्यक वैकल्पिक उपायों का शीघ्र निर्धारण करने व निर्धारित उपायों का तेजी से क्रियान्वयन करने के उछेश्य से सरकार ने ''रूग्ण **औद्योगिक कम्पनी (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 1985'** पारित किया है। इस अधिनियम में एक **'औद्यागिक एवं वित्तीय पुर्निर्माण बोर्ड''** की स्थापना का प्रावधान किया गया है।

11 हस्तशिल्प, हथकरघा, लघु और ग्रामोद्योगों का विकास : इन उद्योगों के विकास से क्षेत्रीय सन्तुलित विकास एवं उद्यमिता को प्रोत्साहित किया जा सकता है। सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति में इन उद्योगों को विकसित करने के लिए विशेष कदम उठाये हैं। इनमें प्रमुख हैं-प्रशिक्षण तथा उद्यमिता विकास कार्यक्रम, आधुनिकीकरण कार्यक्रम, प्रोद्योगिकी उन्नयन, साहसियों के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार, शिक्षित बेरोजगार युवकों के लिए स्व-रोजगार की योजना आदि।

वर्ष 1985-86 के दौरान स्व-रोजगार योजना की समयावधि और आगे बढ़ा दी गई है, जिसमें 2.5 लाख उद्यमों को लक्ष्य रखा गया है।

12 उद्योगवार नीतियों की घोषणा:- उद्योगों के प्रमुख क्षेत्रों में सरकार ने अपनी उद्योगवार नीतियाँ घोषित की है। इससे उन उद्योगों के क्षेत्र में नवीन वस्तुओं का उत्पादन करने, नये बाजारों को खोलने तथा उस उद्योग की गम्भीर समस्याओं के निवारण में सहायता मिल सकेगी।

जून, 1985 में सरकार ने नई **वस्त्र नीति'** की घोषणा की है। इस नीति का प्रमुख उछेश्य उचित मूल्य पर श्रेष्ठ किस्म के कपड़े का उत्पान करना है। यह नीति हथकरघा बुनकरों के हितों के संरक्षण पर भी जोर देती है। दूसरे महत्त्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र-चीनी के लिए भी अभी हाल में ही सरकार ने एक दीर्घकालीन नीति की घोषणा की है। इसके अन्तर्गत गन्ने की पूर्ति को बढ़ाने तथा चीनी के अधिकांश भाग को खुले बाजार में बेचे जाने पर जोर दिया गया है। इस नीति के अन्तर्गत वर्ष 1985-86 के लिए गन्ने का न्यूनतम वैधानिक मूल्य जो कि 14 रूपये प्रति क्विन्टल था, बढ़ाकर 16. 50 रूपये प्रति क्विन्टल कर दिया है। साथ ही चीनी मिलों द्वारा दी जाने वाली लेवी को 65 प्रतिशत से घटाकर 55 प्रतिशत कर दिया गया है।

सरकार ने अब **'इलेक्ट्रोनिक्स नीति'** की घोषणा भी की है। इस नीति से इलेक्ट्रोनिक्स उद्योग की टैक्नालॉजी, विनियाग, उत्पादन, नवीकरण आदि पहलुओं में सुधार सम्भव होगा।

13 वन भूमि का वनरोपण से भिन्न प्रयोग के लिए केन्द्र सरकार की पूर्व स्वीक ति: वनों के संरक्षण के लिए भी इस औद्योगिक नीति में पर्याप्त व्यवस्था है। वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980 की धारा 2 के अनुसार वन भूमि का वनरोपण से भिन्न प्रयोग करने के लिए केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति लेना आवश्यक है। केन्द्र सरकार की अनुमति के बिना वन भूमि के विविधकरण के सम्बन्ध में राज्य सरकार अथवा किसी प्राधिकरण के द्वारा कोई आदेश जारी नहीं किया जा सकता है। औद्योगिक विभाग के प्रशासनिक नियन्त्रण में जो संस्थाएँ कार्य कर रही हैं, उन सभी को यह सलाह दी गई है कि वे वन

(संरक्षण) अधिनियम, 1980 का द ढ़ता से पालन करें। इन संस्थाओं को यह सुनिश्चित करने के निर्देश भी दिये गये हैं कि वे वन भूमि में कोई परियोजना प्रारम्भ करने की अनुमति न दें जब तक कि राज्य अथवा संघ शासित प्रदेश सरकार यह सूचित नहीं कर देती है कि सम्बन्धित पार्टियों ने केन्द्र सरकार की पूर्व स्वीक ति प्राप्त कर ली है।

14 **प्रौद्योगिकी विकास :** औद्योगिक नीति का एक उद्देश्य देश में प्रोद्योगिकी का विकास करना तथा उस उद्योगों में प्रयुक्त करने के लिए उद्यमियों को प्रोत्साहित करना है। जहाँ टैक्नोलॉजी का आयात करना आवश्यक हो, वहाँ यह सुनिश्चित करने के सभी प्रयास किये जाने चाहिए कि वह उच्चतर स्तर की और आवश्यकता व साधनों के अनुरूप हो। प्रौद्यागिकीय उन्नयन के तीव्र कार्यान्वयन को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से यह निर्णय लिया गया कि अगस्त, 1985 के पश्चात् जारी किये गये विदेशी सहयोग स्वीक तियों के मामले में विदेशी सहयोग समझौतों को रिकार्ड पर नहीं लाया जाना चाहिए।

वर्ष 1985 के अन्तर्गत की गई औद्योगिक नीति की विभिन्न घोषणाओं से देश में विकासोन्मुख वातावरण का निर्माण हुआ है। इन प्रभावकारी नीतिविषयक उपायों से उत्पादन मे आने वाली बाधाओं को दूर करने की क्षमता का उपयोग बढ़ाने, उत्पादकता में व द्धि करने, प्रतियोगिता का उचित आधार निर्मित करने, नई तकनीक को अपनाने तथा औद्योगिक विकास की गति को तेज करने की दिशा में एक आधारभूत बल मिला है। राष्ट्रीय प्राथमिकताओं एवं सामाजिक आर्थिक उद्देश्यों के अनुरूप वर्तमान औद्योगिक नीति को अधिक उदार बना दिया है। फलस्वरूप विनियोग एवं पूँजी के प्रवाह में व द्धि हुई है तथा उद्यमिता को प्रोत्साहन मिला है।

इस औद्योगिक नीति की घोषणा के फलस्वरूप औद्योगिक विकास के सभी स्तरों पर पर्याप्त कुशलता एवं तेजी आयी है। इस औद्योगिक नीति के फलस्वरूप सातवीं पंचवर्षीय योजना के विकास लक्ष्यों, अवस्थापना सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार, उत्पादकता का उच्च स्तर, उत्पादन के तत्वों की बेहतर क्षमता, उद्योगों का आधुनिकीकरण, उन्नत प्रौद्योगिकी, न्यूनतम लागत व उच्च किस्म आदि को प्राप्त किया जा सका है।

औद्योगिक नीति, 1990

(Industrial Policy, 1990)

कांग्रेस सरकार के पतन के पश्चात् जनता पार्टी के शासन में आने पर 30 मई 1990 को तत्कालीन उद्योग मन्त्री श्री अजीत सिंह ने लघु एवं क षि पर आधारित उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान देने वाली तथा औद्योगिक अनुमोदनों हेतु प्रक्रियाओं में परिवर्तन करने वाली औद्योगिक नीति की घोषणा की। लघु उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन, क षि पर आधारित उद्योगों को विशेष महत्व, अनुमोदन प्रक्रिया को सरल बनाना, रोजगार के अवसरों को बढ़ाना, निर्यात अभिमुखी उद्योगों के विकास को बढ़ावा, प्राथमिकताओं को पुनः निर्धारण, ग्रामीण क्षेत्र के विकास पर बल, सार्वजनिक क्षेत्र के विकास हेतु विशेष प्रयास, सामाजिक न्याय प्राप्ति पर विशेष ध्यान तथा आर्थिक आत्म-निर्भरता हेतु विशेष प्रयत्न आदि उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इस नीति का निर्माण किया गया ।

विशेषताएँ

(Characteristics)

1990 की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. **क षि पर आधारित एवं लघु उद्योगों को विशेष प्रोत्साहनः** क्योंकि इस औद्योगिक नीति का एक प्रमुख उछेश्य क षि आधारित एवं लघु उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन देना था, इसलिए इस क्षेत्र पर विशेष बल दिया गया है। इस हेतु इस नीति में निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं-

   (i) लघु उद्योगों में संयन्त्र एवं मशीनरी पर विनियोग की सीमा में व द्धि की गयी। लघु उद्योगों के लिए यह सीमा 35 लाख रूपये से बढ़ाकर 60 लाख रूपये एवं सहायक उद्योगों के लिए 45 लाख रूपये से बढ़ाकर 75 लाख रूपये कर दी गयी। उन लघु उद्योगों के लिए भी यह सीमा 75 लाख रूपये कर दी जायेगी (60 लाख के स्थान पर) जो कि तीसरे वर्ष तक अपने उत्पादन का कम से कम 30 प्रतिशत निर्यात करेंगे।

(ii) अति लघु उद्योगों के लिए यह विनियोग सीमा 2 लाख रूपये से बढ़ाकर 5 लाख कर दी गयी।

(iii) लघु उद्योगों के लिए उत्पादन आरक्षित वस्तुओं की संख्या में व द्धि कर दी जायेगी।

(iv) उन लघु उद्योगों को केन्द्रीय विनियोग सहायता उपलब्ध कराई जायेगी जो ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित किये गये हैं तथा जो अधिक रोजगार के अवसरों का स जन करते हों।

(v) इन उद्योगों के आधुनिकीकरण हेतु प्रयास किये जायेंगे।

(vi) इन उद्योगों को ऋण प्रदान करने में प्राथमिकता दी जायेगी।

(vii) लघु उद्योगों को सही समय पर तथा पर्याप्त ऋण उपलब्ध कराया जायेगा। इस क्रम में लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना पूर्व में ही की जा चुकी है।

(vii) उद्यमशीलता के विकास हेतु प्रशिक्षण व्यवस्था की जायेगी। प्रशिक्षण में महिलाओं एवं युवाओं को प्राथमिकता दी जायेगी।

(ix) ग्रामीण क्षेत्र में कार्यरत कारीगरों के उत्पाद को विक्रय तथा उनकी जरूरत के कच्चे माल की पूर्ति को सुनिश्चित करने हेतु केन्द्र तथा राज्य स्तर पर विशेष विक्रय संगठन की स्थापना की जायेगी।

(x) इस प्रकार के उद्योगों की स्थापना सहकारी संगठन के अन्तर्गत हो इस हेतु विशेष प्रयास किये जायेंगे।

2 **लाइसेन्स व्यवस्था से छूट :** जो उद्योग पिछड़े क्षेत्र में स्थापित किये जाने हैं तथा जिनका स्थायी सम्पतियों में विनियोजन 75 करोड़ रुपये तक सीमित है एवं जो उद्योग पिछड़े क्षेत्र में नहीं हैं, उस दशा में 25 करोड़ रुपये विनियोजन तक की दशा में उद्योग स्थापित करने के लिए लाइसेन्स लेने की आवश्यकता नहीं होगी।

3 शत-प्रतिशत निर्यात करने वाली औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की दशा में 75 करोड़ रूपये तक के विनियोजन सीमा तक के उद्योगों को लाइसेन्स व्यवस्था से मुक्त कर दिया गया है।

4 वर्तमान गैर-अनुज्ञापित योजना, विमुक्त उद्योग योजना तथा डी.जी.टी. पंजीकरण प्रणाली समाप्त कर दी जायेगी।

5 उद्यमी, संयन्त्र एवं मशीनी के कुल मूल्य के 30 प्रतिशत तक उधार मूल्य के बराबर पूँजीगत वस्तुओं का आयात कर सकेंगे।

6 आयात की न्यूनतम सीमा में व द्धि की गयी है। साख पत्र या आदेश का मूल्य 50 लाख रूपये या अधिक होने पर रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति लेनी होगी। दो लाख रूपये तक के प्राणरक्षक उपकरणों को न्यूनतम सीमा से मुक्त कर दिया गया है।

7 कच्चे माल तथा उपकरणों के आयात की सीमा कुल उत्पादन के एक्स फैक्ट्री मूल्य के 30 प्रतिशत उधार राशि के मूल्य तक होगी तथा इस सीमा में ओपन जनरल लाइसेन्स के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं को सम्मिलित नहीं किया जायेगा।

8 तकनीकी हस्तान्तरण के लिए यदि तकनीकों का आयात किया जाता है तथा इस हेतु दिये जाने वाला शुल्क घरेलू विक्रय का 5 प्रतिशत तथा निर्यात का 8 प्रतिशत से अधिक नहीं होने की स्थिति में सरकार से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होगी।

आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Evaluation)

क षि आधारित उद्योगों एवं लघु उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन, तीव्र औद्योगिक विकास, सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ निजी क्षेत्र को भी महत्व, शोध एवं अनुसन्धान पर विशेष ध्यान, विदेशी पूँजी को आमन्त्रण, क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करने हेतु विशेष प्रयत्न एवं लाइसेन्सिग नीति को अधिक उदार बनाकर औद्योगिकरण में तेजी हेतु प्रयास आदि इस नीति के उजले पहलू हैं। इस औद्योगिक नीति पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति जार्ज बुश ने कहा था कि ''भारत उदारवादी आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हो रहा हैं।''

यह औद्योगिक नीति अपने वांछित लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पायी। क षि पर आधारित एवं लघु उद्योगों का विकास नही हो पाया। ये इकाइयाँ सरकारी औपचारिकताओं एवं प्रशासनिक कुव्यवस्था के कारण सरकार द्वारा घोषित सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पायीं। वस्तुतः इस औद्योगिक नीति का सर्वाधिक लाभ बड़े औद्योगिक घरानों ने ही उठाया।

सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार की बात इस नीति मे की गयी, किन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में प्रबन्ध व्यवस्था और खराब ही हुई। प्रशासनिक अकुशलता, लालफीताशाही, भ्रष्टाचार आदि में व द्धि के कारण लोगों का सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति अविश्वास बढ़ा।

New Industrial Policy 1991

भारत सरकार ने 24 जुलाई 1991 को अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की है। इस नीति का आधार भूत तत्व 'परिवर्तन सहित निरन्तरता' (Continuity with change) यह नीति एक खुली और उदार औद्योगिक नीति हैं। इस नीति का मुख्य उछेश्य औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अनावश्यक नियंत्रणों से मुक्त करना है। इस नीति का मुख्य उछेश्य औद्योगिक कुशलता में इतनी व द्धि करना है कि देश के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की प्रतियोगिता में शमिल होने योग्य बनाया जा सके। 24 जुलाई को घोषित नीति के लिए गए निर्णयों को निम्नलिखित पाँच भागों में बाँटा गया है।

(a) Industrial Licensing Policy
(b) Foreign Investment
(c) Foreign Technology Agreements
(d) Public Sector Policy
(e) MRTP Act.

Main Features : नई औद्योगिक नीति की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **Contraction of Public sector** इस नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में 17 उद्योगों के स्थान पर केवल 6 उद्योग अर्थात् सैनिक समान, परमाणु ऊर्जा, कोयला, खनिज तेल तथा परमाणु धातुओं का खनन तथा रेल परिवहन आदि ही सुरक्षित रहेंगे। अन्य सभी क्षेत्र निजी उद्योगों के लिए खोले जायेगे। सरकारी उपक्रमों के लिए अब तक सुरक्षित क्षेत्र धीरे-2 निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए जाएंगे। सार्वजनिक क्षेत्र में प्रतियोगिता बढ़ाने के लिए, सार्वजनिक क्षेत्र के शेयरों का कुछ भाग Mutual Funds वित्तीय संस्थाओं एवम् कर्मचारियों और आम जनता को देने की पेशकश करने का प्रावधान किया गया है।

नई औद्योगिक नीति में कहा गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान बना रहेगा। मगर सरकार यह सुनिश्चित करेगी कि इनका संचालन व्यावसायिक आधार पर हो। सार्वजनिक उद्यमों को उन क्षेत्रों में भी उद्योग स्थापित करने की अनुमति दी जाएगी जो उसके लिए सुरक्षित नहीं है।

2) Delicensing- इस नीति में 1999 के संशोधन के अनुसार 6 उद्योगों को छोड़कर अन्य सभी उद्योगों के लिए लाइसेंस समाप्त कर दिया गया है। जिन उद्योगों के लिए लाइसेंस जरूरी है वे हैं (1) सिगरेट (2) शराब (3) रक्षा उपकरण (4) औषधि (5) खतरनाक रसायन (6) विस्फोटक। इन उद्योगों के अतिरिक्त बाकी उद्योगों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतियोगी और आधुनिक बनाने के अवसर प्रदान किए जांएगें।

3) **Abolition of Registration** नई नीति के अनुसार सभी पंजीकरण योजनाएं समाप्त कर दी जाएगी। अब उद्यमियों को नई परियोजनाओं तथा क्षमता विस्तार के लिए केवल एक सूचना ज्ञापन ही देना होगा।

4) **Foreign Capital** नई नीति के अनुसार विदेशी पूंजी निवेश की सीमा 40 प्रतिशत से बढ़ाकर 51 प्रतिशत कर दी है। उच्च प्राथमिकता के 42 उद्योग में 51 प्रतिशत पूंजी निवेश की इजाजत बिना रोक टोक और लाल फीताशाही को दी जायेगी। 9 उद्योगों में 74 प्रतिशत तक की विदेशी पूंजी निवेश की इजाजत दी गई है। यह सुविधा उन मामलों में ही उपलब्ध होगी जहाँ विदेशी पूंजी निवेश उत्पादन मशीनों के लिए जरूरी होगा। निर्यात करने वाले व्यापारिक घरानों में भी 51 प्रतिशत तक विदेशी पूंजी निवेश की अनुमति दी जाएगी। इस सम्बन्ध में विदेशी मुद्रा नियमन कानून में आवश्यक संशोधन किए जाएंगे। इस प्रकार की विदेशी पूंजी निवेश इकाईयों पर पुर्जे, कच्चे माल और तकनीकी जानकारी के आयात के मामले में सामान्य नियम लागू होगे। लेकिन रिजर्व बैंक विदेशों को भेजे गए लाभांशों पर नजर रखेगा ताकि बाहर भेजी गई विदेशी मुद्रा और

उस कम्पनी की निर्यात आय के बीच संतुलन बना रहे। नई नीति के अन्तर्गत विदेशी पूंजी के अन्य मामलों के लिए पहले स्वीक ति लेनी पड़ेगी।

(5) **Organisation of Boards** इस नीति में यह प्रावधान भी किया गया है कि चुनिंदा क्षेत्रों में सीधे विदेशी पूंजी निवेश के लिए विशेषाधिकार प्राप्त बोर्डों का गठन किया जाएगा। जो भारत में उपक्रम लगाने के बारे में बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के अन्तर्गत किया जाएगा। ताकि भारी मात्रा में विदेशी पूंजी निवेश को आकर्षित किया जा सके, आधुनिकतम तकनीक प्राप्त की जा सके तथा भारत की पहुँच विश्व भर की मण्डियों तक हो सके।

6) **Technical Experts** नई औद्योगिक नीति के अनुसार विदेशी तकनीकी विशेषज्ञ नियुक्त करने अथवा देश में विकसित तकनीकों का विदेशों में परीक्षण कराने के लिए विदेशी मुद्रा भुगतान की इजाजत लेने की आवश्यकता समाप्त कर दी गई हैं।

7) **Public Enterprises Incurring Loss** नई नीति के अनुसार लगातार घाटे देने वाली सरकारी उद्योगों की जाँच औद्योगिक एवम् वित्तिय पुननिर्माण बोर्ड अथवा इसी प्रकार का अन्य विशेष संस्थान करेगा। जो सार्वजनिक उद्योग गंभीर रूप से बीमार है ओर जिनके ठीक होने की संभावना नहीं है उनके बारे में सरकार अलग से योजना तैयार करेगी। इसके कारण जो कर्मचारी प्रभावित होंगे उनके हितों की रक्षा का प्रयत्न किया जाएगा।

8) **कर्मचारियों को सुविधाएँ (Facilities to Labourers)** छंटनी किए गए कर्मचारियों और श्रमिकों के पुनर्वास के लिए सामाजिक योजना बनाई जाएगी। श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय नवीनीकरण निधि बनाई जाएगी। यह निधि तकनीकी परिवर्तन के दौरान प्रभावित श्रमिकों को सहायता प्रदान करेगी।

9) **Establishment of industries :** इस नीति के अनुसार दस लाख की आबादी वाले शहरों को छोड़कर अन्य नगरों में ऐसे उद्योगों के अतिरिक्त जिनके लिए लाइसेंस अनिवार्य है। उद्योग लगाने के लिए क्रेन्द्रीय सरकार से इजाजत लेने की आवश्यकता नहीं होगी। दस लाख जनसंख्या वाले नगरो के मामले में इलैक्ट्रानिक्स और किसी तरह के अन्य गैर प्रदूषणकारी उद्योगों को छोड़कर सभी इकाइयां नगर की सीमा से 20 कि.मि. दूर है।

10) **Government Encouragment :** नई औद्योगिक नीति के अनुसार क्षेत्रीय विषमता को कम करने के उछेश्य से पिछड़े क्षेत्रों में लगने वाले उद्योगों को विशेष सरकारी प्रोत्साहन दिए जाएगें।

(11) **Freedom From Administrative Controls :** नए उद्योगों के उत्पादन व द्धि कार्यक्रमों को प्रशासनिक नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया है । वर्तमान उद्योगो को बिना किसी अतिरिक्त पूंजी निवेश के अपने लाइसेंस प्राप्त क्षेत्र में किसी भी वस्तु के उत्पादन की पूरी छूट होगी।

(12) **Concession From Monopolies Act :** एकाधिकारी कानून के अन्तर्गत आने वाली कम्पनियों को भारी छूट दी गई है। एकाधिकार कानून लागू होने के लिए निर्धारित पूंजी निवेश सीमा ही समाप्त कर दी गई है। इसके फलस्वरूप बड़ी कम्पनियों और उद्योग घरानों पर उद्योगो के विस्तार एवम् नए उद्योग खोलने, कम्पनियां खरीदने एवम् विलय करने पर कोई पाबन्दी नहीं होगी। परन्तु इस नीति में अनुसूचित उद्योग एवम् व्यापारिक प्रव तियों को नियन्त्रण में रखने पर ज्यादा महत्व दिया जाएगा। इसके अन्तर्गत नये अधिकार प्राप्त एकाधिकार बोर्ड अपनी मर्जी से किसी भी मामले में जाँच कर सकेगा। यह जाँच किसी भी उपभोक्ता की शिकायत पर की जा सकती है।

(13) **Reservation for Small Scale Industries :** नई नीति में लघु उद्योगों के लिए विशेष व्यवस्था की गई है इस सम्बंध में सुविधाओं की अलग से घोषणा की गई है लघु उद्योगों के लिए कुछ वस्तुओं का उत्पादन सुरक्षित रखा जाएगा इनका उत्पादन बड़े उद्योग नहीं कर सकेगे।

(14) **Facilities of Import :** इस नीति के अनुसार दो करोड़ रूपये से अथवा कुल पूंजी के 25 प्रतिशत से कम की उत्पादन मशीनें बिना किसी अनुमति के आयात की जा सकेगी उत्पादन मशीनों के आयात के अन्य मामलों में विदेशी मुद्रा उपलब्धि के अनुसार 'औद्योगिक विकास मन्त्रालय' का औद्योगिक अनुमति सचिवालय आयात की इजाजत देगा।

Evaluation : नई औद्योगिक नीति अत्यन्त उदारवादी नीति है जिसका मुख्य उछेश्य भारतीय उद्योग को अनावश्यक प्रशासिनक एवम् कानूनी नियंत्रणों से मुक्त करना है इस नीति के फलस्वरूप भारतीय औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी एवम्

आधारभूत परिर्वतन होने की सम्भावना है इस औद्योगिक नीति का मुख्य उछेश्य पुरानी औद्योगिक नीतियों से प्राप्त अनुभव के आधार पर एक ऐसी सन्तुलित नीति तैयार करना है जिसमें पुरानी नीतियों की कमजोरियां न हो, रोजगार के अधिकाधिक अवसर विकसित किये जा सके तथा देश के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में शामिल होने योग्य बनाया जा सके श्री साल्वे के अनुसार ''यह नीति भारतीय अर्थव्यवस्था को सुधार कर आगे की ओर ले जाएगी।''

Merits गुण

नई औद्योगिक नीति के मुख्य गुण निम्नलिखित है।

1) **Increase in Efficiency** औद्योगिक लाइसेंसिग नीति, विदेशी नीति विदेशी तकनीकी समझौते तथा एम.आर. टी.पी. कानून में किये जाने वाले परिवर्तनों के कारण 6 उद्योगों को छोड़कर बाकी उद्योगो की स्थापना के लिए किसी प्रकार पूर्व स्वीक ति लेने की आवश्यकता नहीं रही इन उद्योगो की परियोजना लागू करने के लिए कम समय की जरूरत होगी परियोजना व्यय में बचत होगी। इसके फलस्वरूप अधिक उत्पादक कार्यों के लिए साधनों का प्रयोग किया जा सकेगा इन उद्योगो की प्रति इकाई लागत कम होगी तथा इनकी कुश्लता में व द्धि होगी।

2) **Increase in Production** विदेशी निवेश तथा पूंजी तकनीकी समझौता का मुख्य उद्देश्य विदेशी पूंजी, तकनीक, विपणन तथा प्रबन्धकीय कुशलता को आर्कषित करना है इसके फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था के सीमित साधनों में व द्धि होगी ये साधन अधिक कुशल भी होते हैं इसलिए इनके फलस्वरूप देश के उत्पादन में व द्धि होगी।

3) **Liberalisation** नई औद्योगिक नीति का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक विकास के मार्ग से प्रशासनिक बाधाओं को हटा कर अर्थव्यवस्था को अधिक उदारवादी बनाना है इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 6 महत्वपूर्ण उद्योगों को छोड़कर बाकी सभी उद्योगो के लिए लाइसेंस प्रणाली समाप्त कर दी गई है इसके अतिरिक्त MRTP कम्पनियो की परिसम्पति की सीमा को भी समाप्त कर दिया गया है इस प्रकार इस नीति में बड़े उद्योगों को अपना पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता दी गई है।

4) **Increase in Efficiency of Public Sector :** सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित 17 उद्योगों को कम करके 4 किये जाने तथा बीमार इकाइयों को बन्द करने के फलस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र की कुशलता में व द्धि होगी इस क्षेत्र की कुशलता में व द्धि करने के लिए कई अन्य उपाय जैसे अधिक स्वतन्त्रता, विशेषज्ञ द्वारा प्रबन्ध आदि भी किये जाएगें।

5) **Increase in Competition :** नई औद्योगिक नीति के फलस्वरूप भारतीय उद्योगो की प्रतियोगिता शक्ति में व द्धि होगी एकाधिकार प्रतिबंधात्मक एवम् उचित व्यापार के नियन्त्रण तथा नियमन पर अधिक बल दिये जाने के फलस्वरूप एकाधिकारी तथा अल्पाधिकारी प्रव ति कम होगी जिससे प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलेगा प्रतियोगिता में व द्धि के कारण कुशलता बढ़ती है तथा कीमतें कम होती है।

6) **Proper Significance to small scale sector :** नई औद्योगिक नीति के आधार पर देश में पहली बार लघु स्तर के उद्योगों के विकास के लिए एक प थक नीति घोषित की गई है यह नीति 6 अगस्त 1941 को घोषित की गई इसमें देश के लघु, कुटीर तथा अति लघु उद्योगों के विकास के लिए कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए हैं लघु उद्योगों की तकनीकी कुशलता बढ़ाने के लिए सरकार उन्हें पूर्ण सहयोग देगी। 1999 में लघु उद्योगों की निवेश सीमा बढ़ाकर 1 करोड़ रूपये कर दी गई है और अति लघु क्षेत्र के लिए 25 लाख रूपये कर दी गई है।

7) **Enhance the welfare of the workers :** सरकार श्रमिकों के कल्याण को बढ़ाने तथा उनकी कुशलता में व द्धि करने के लिए महत्वपूर्ण प्रयत्न करेगी देश की प्रगति तथा सम द्धि में श्रमिकों को पूर्ण भागीदार बनाया जायेगा।

Demertis (अवगुण)

नई औद्योगिक नीति के उपरोक्त गुणों के बावजूद भी कई अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने इसकी आलोचना की है। श्री चन्द्रशेखर के अनुसार ''यह नीति गांधीवादी नीति से बिल्कुल भिन्न है।'' इस नीति की मुख्य कमियां इस प्रकार है।

(1) **Reduction in the Role of the Public :** नई औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व पहले से कम हो गया है उदाहरण के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित उद्योगों की संख्या को 17 से कम होकर 6 किया जाना

कई उद्योगों का निजीकरण किया जाना तथा कई उद्योगों का बन्द किया जाना सार्वजनिक क्षेत्र के घटते हुए महत्व का प्रतीक है इसके फलस्वरूप आधारभूत तथा भारी उद्योगों के विकास की दर कम होने की सम्भावना है क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग विशेष रूप से आधारभूत उद्योग थे इस नीति ने सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार किये जाने तथा इस क्षेत्र के लाभप्रद उद्योगों के सम्बन्ध में कोई विशेष सुझाव नहीं दिये हैं।

2) **Privatisation will not automatically :** इस नीति ने उद्योग के निजीकरण को इसलिए विशेष महत्व दिया है क्योंकि इस नीति की यह मान्यता है कि बिजीकरण के फलस्वरूप उद्योगों की कुशलता में स्वयंमेव व द्धि होगी परन्तु यह मान्यता वास्तविक नहीं है भारत में निजी क्षेत्र मे बहुत अधिक बिमार ईकाइयां हैं निजीकरण के फलस्वरूप तभी कुशलता बढ़ती है जब प्रतियोगिता के अवसर अधिक होते हैं एक उद्योग चाहे वह निजी क्षेत्र में या सार्वजनिक क्षेत्र में है तभी कुशल होगा जब वह प्रतियोगिता का सामना कर सकेगा। इसलिए इस नीति की यह मान्यता वास्तविक नहीं है कि उद्योगों को निजीकरण करने से उनकी कुशलता में व द्धि होगी।

3) **Concertration of Economic Power :** आलोचको के अनुसार नई औद्योगिक नीति के कारण आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण में व द्धि होगी एकाधिकार एवम् प्रतिबंधक व्यापार व्यवहार कानून में संशोधन करके इस नीति में धनी तथा बड़े औद्योगिक घरानों की अपना विस्तार करने की आर्थिक स्वतन्त्रता दे दी गई है इसके फलस्वरूप आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण बढ़ जाएगा।

4) **Increase in Regional Imbalances :** आलोचको के अनुसार नई औद्योगिक नीति के फलस्वरूप क्षेत्रीय असमानता मे व द्धि होगी लाइसेसिंग नीति के उदारवादी किये जाने तथा उद्योगो की स्थापना पर से प्रतिबंध हटाने के फलस्वरूप क्षेत्रीय असमानता में व द्धि होगी क्योंकि पिछड़े इलाकों में कम उद्योग स्थापित किये जायेगे।

5) **Adverse Effect on Economic Sovereignity :** आलोचको के अनुसार विदेशी पूंजी तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बहुत अधिक स्वतन्त्रता देने का देश की आर्थिक प्रभुसत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा इसके फलस्वरूप देश पर विदेशी ऋण का बोझा भी बढ़ जायेगा।

6) **Adverse Effect on Small Scale :** श्री जे.सी. सन्देसारा के अनुसार नई उदारवादी नीतियों, विदेशी पूंजी को छूट बड़ी कम्पनियों की अधिक स्वतन्त्रता आदि के फलस्वरूप देश में प्रतियोगिता तो बढ़ेगी परन्तु लघु उद्योग बड़े उद्योगो तथा विदेशी कम्पनियों का मुकाबला नहीं कर सकेगें इसका उनके विकास पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

7) **Ignores Social Objectives :** नई औद्योगिक नीति की इसलिए भी आलोचना की जाती है कि इस नीति ने हमारी योजनाओं में निर्धारित समाजिक उछेश्यों की अवहेलना की है योजनाओं के सामाजिक उछेश्यों जैसे निजी क्षेत्र की तुलना में सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण में कमी, आधारभूत असमानता मे कमी तथा लघु उद्योगो का प्रोत्साहन आदि की नई औद्योगिक नीति में अवेहलना की गई है इनके फलस्वरूप देश में आय की असमानता में व द्धि होगी।

नई औद्योगिक नीति का क्रियान्वयन

Implementation of New Industrial Policy :

नई औद्योगिक नीति को लागू हुए आठ वर्ष होने वाले हैं। इस अवधि में औद्यागिक क्षेत्र में निम्नलिखित सुधार किए गए हैं।

1. Contraction of Public Sector : सरकारी क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की संख्या घट गई है। ये उद्योग हैं। (i) रक्षा उत्पादन (ii) परमाणु ऊर्जा (iii) कोयला (iv) खनिज तेल (v) रेलवे परिवहन तथा (vi) परमाणु खनिज। बाकि सभी उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खोल दिये गये हैं।

2. **अनिवार्य लाईसेंस की संख्या में कमी:-** Reduction in the No. of Compulsary Licensing : सन् 1999 से जिन उद्योगों की स्थापना के लिए औद्योगिक लाइसेंस अनिवार्य हैं। उनकी संख्या घटा करके 6 कर दी गई है।

3. **बड़े उद्योगों का विस्तार-** सिले-सिलाये कपड़ों का उत्पादन जो पहले लघु उद्योगो के लिए सुरक्षित था अब बड़े उद्योगों के लिए भी खोल दिया गया। परन्तु उन्हें अपने उत्पादन का जो 50 प्रतिशत भाग निर्यात करना पड़ेगा तथा मशीनरी आदि में उनका पूंजी निवेश करोड़ रूपये से अधिक होना चाहिए।

4. **निर्यात प्रोत्साहनः-** निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए निर्यात सम्बन्धित क्षेत्रों में विकास कमिश्नर को 100 प्रतिशत उत्पादन का निर्यात करने वाले यूनिटों के सम्बन्ध में जून 1993 में विशेष अधिकार दिए गए। जो पहले वित्त मन्त्रालय के पास थे इसके फलस्वरूप निर्यात उद्यमों की कठिनाईयां कम हो जाएगी।

5. **शुल्कों की कमी :-** पूंजीगत वस्तुओं पर उत्पादन शुल्कों को कम किया जाएगा तथा पूंजी सम्बन्धों लागतों को कम करने और निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए आयात शुल्कों में भी कटौती की गई।

6. **ब्याज की दर में कमीः-** उद्योगों को दिए जाने वाले उच्चतम ऋण स्केल पर न्यून्तम उधार देने की दर को घटा कर 15 प्रतिशत कर दिया गया है।

7. **उद्योगों के लिए ऋण सीमा में व द्धिः-** उद्योगों की उधार देने की सीमा 5 करोड़ रूपये बड़ा कर 50 करोड़ रूपये कर दी गई है।

अध्याय 23
आर्थिक लाइसेंसिंग व्यवस्था
(Industrial Licensing System)

औद्योगिक लाइसेंसिंग व्यवस्था सरकार की एक ऐसी नीति है जिसके अन्तर्गत औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना की अनुमति आज्ञापत्र पर दी जाती है। इस आज्ञापत्र में औद्योगिक उपक्रम की स्थापना का स्थान, उत्पादन क्षमता, उत्पादित की जाने वाली वस्तु का नाम व किस्म आदि का विवरण दिया रहता है। औद्योगिक लाइसेंसिंग व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना, विस्तार व प्रभुत्व पर सरकारी नियंत्रण रखना होता है। भारत में औद्योगिक लाइसेंसिंग व्यवस्था को अपनाने के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं।

1. देश का औद्योगिक विकास आर्थिक नियोजन की प्राथमिकताओं के अनुरूप करना।
2. देश में उपलब्ध साधनों का उचित विदोहन करना।
3. औद्योगिक निजी क्षेत्र के उपक्रमों की स्थापना, विस्तार व प्रभुत्व पर सरकारी नियंत्रण रखना।
4. एकाधिकार एवं आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण की प्रव त्ति को रोकना।
5. क्षेत्रीय औद्योगिक विषमताओं को कम करना।
6. देश को औद्योगिक द ष्टि से आत्मनिर्भर बनाना।

भारत सरकार की औद्योगिक लाइसेंस प्रदान करने की वर्तमान नीति (Present License Issuing Policy of the Govt. of India) - भारतीय औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 तथा उसमें समय-समय पर किए गए परिवर्तनों के फलस्वरूप भारत सरकार की औद्योगिक लाइसेंस प्रदान करने की नीति का वर्तमान स्वरूप निम्न प्रकार है -

1. **लाइसेंस प्राप्त करने की अनिवार्यता (Necessity of License):-** भारत सरकार की वर्तमान लाइसेंसिंग नीति के अंतर्गत निम्न परिस्थितियों में लाइसेंस लेना अनिवार्य है।

(i) **नयी वस्तु का निर्माण प्रारंभ करना :** यदि किसी पूर्व-स्थापित औद्योगिक उपक्रम के द्वारा किसी नयी वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ किया जाना है तो इसके लिए उस औद्योगिक उपक्रम के लिए निम्न परिस्थितियों में लाइसेंस लेना अनिवार्य है - (अ) जब वह वस्तु ऐसी है जो वस्तु अधिनियम की अनुसूची 1 में वर्णित उद्योगों में तो सम्मिलित है लेकिन उस औद्योगिक इकाई के पंजीकरण प्रमाण-पत्र या लाइसेंस में उस नयी वस्तु का उल्लेख न हो : अथवा (ब) वह वस्तु ऐसी है जिस पर The Trade and Merchandise Marks Act, 1958 के अंतर्गत नये ट्रेड मार्क या पेटेंट का प्रयोग किया जाएगा।

(ii) **विद्यमान उपक्रमों का महत्वपूर्ण विस्तार करने पर :** औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 की धारा 13 के अनुसार, यदि कोई विद्यमान औद्योगिक उपक्रम अपनी क्षमता में महत्वपूर्ण विस्तार (Substantial Expanion) करता है तो उसके लिए यह आवश्यक हे कि वह पहले इस सम्बन्ध में लाइसेंस प्राप्त करे। इस सम्बन्ध में लाइसेंस में अधिकृत क्षमता की 25: से अधिक क्षमता के विस्तार को महत्वपूर्ण विस्तार माना जाता है।

(iii) **नये औद्योगिक उपक्रम की स्थापना :** (औद्योगिक विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 की धारा के अंतर्गत इस अधिनियम की प्रथम अनुसूची में वर्णित ऐसे नये औद्योगिक उपक्रम की स्थापना करने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य है जिनकी स्थायी सम्पत्तियों में प्रस्तावित पूंजी विनियोग की राशि 5 करोड़ रुपये से अधिक हो। वर्ष 1991 की औद्योगिक नीति ने इस सीमा को समाप्त कर दिया है।

(iv) **विद्यमान उपक्रम के स्थान परिवर्तन करने पर :** यदि कोई विद्यमान उपक्रम अपना स्थान परिवर्तन करना चाहता है तो इसके लिए यह आवश्यक है कि वह औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 की

धारा 13 के अंतर्गत लाइसेंस प्राप्त करे। यह लाइसेंस केवल वस्तु अधिनियम की अनुसूची 1 में वर्णित उद्योगों के लिए ही अनिवार्य है।

(v) **पूर्व-स्थापित औद्योगिक उपक्रम पर बाद में अधिनियम की आवश्यकता लागू होने पर :** ऐसे पूर्व-स्थापित औद्योगिक उपक्रम जिन पर प्रारम्भ में औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम की लाइसेंसिंग व्यवस्थाएं लागू नहीं होती थी लेकिन बाद में वे इस व्यवस्था के अंतर्गत आ गए हैं, उनके लिए व्यवसाय संचालनार्थ लाइसेंस (Carrying on Business License of GOB License) प्राप्त करना अनिवार्य है।

2. लाइसेंस प्राप्ति की अनिवार्यता में छूट (Exemption from Licensing) : औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अंतर्गत निम्नलिखित परिस्थितियों में लाइसेंस लेने की छूट दी गयी है :-

(i) ऐसे नये औद्योगिक उपक्रम जो औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 की प्रथम अनुसूची में तो आते हैं परंतु जिनकी पूंजी में प्रस्तावित विनियोग 5 करोड़ रुपये तक है।

(ii) नए स्थापित होने वाले ऐसे औद्योगिक उपक्रम जो औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 की प्रथम अनुसूची में सम्मिलित नहीं हैं।

(iii) ऐसे औद्योगिक उपक्रम जो औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 में वर्णित फैक्ट्री की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते हैं।

(iv) ऐस औद्योगिक उपक्रम जो लघु-स्तरीय क्षेत्र के लिए आरक्षित सूची में आते हैं।

(v) ऐसे औद्योगिक उपक्रम जो केंद्रीय सरकार के द्वारा सरकारी क्षेत्र के अधीन स्थापित किए जाते हैं। किसी राज्य सरकार के द्वारा औद्योगिक उपक्रम स्थापित करने की दिशा में केन्द्रीय सरकार से अनुमति लेनी आवश्यक है।

(vi) कुछ विशिष्ट शर्तों सहित 1 नवम्बर, 1957 को घोषित अधिसूचना में वर्णित 21 उद्योग में से किसी उद्योग की स्थापना करने पर।

(vii) ऐसे औद्योगिक उपक्रम जिनमें कुछ विशेष शर्तों के अधीन अपनी लाइसेंस क्षमता में 2.5% तक का केवल विस्तार करना है।

3. **उत्पादन का विधिकरण (Diverification of Production) :** कुछ उद्योगों में रजिस्टर्ड क्षमता का 25% तक लाइसेंस लिए बिना उत्पादन का विविधीकरण करने की सुविधा प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त कुछ उद्योगों का विविधीकरण करने के लिए विशिष्ट सुविधाएं भी प्रदान की गई हैं। जैसे मशीनरी उद्योग में सभी ईकाइयों को बिना किसी प्रतिबन्ध के औद्योगिक मशीनरी के निर्माण में विविधीकरण की सुविधा दी गई है तथा कुछ शर्तों के साथ सीमेंट निर्माताओं को सीमेंट मशीनों के निर्माण की भी सुविधा दी गई है। विद्युत उपकरण स्टील ढलाई (Steel Casting) स्टील गढ़ाई (Steel forging) मोटर कार, द्वि पहिए वाली गाड़ियां, पाइप्स, गैर-लौह स्टील, बर्तन तथा ऊनी कपड़े के उद्योगों में भी विविधीकरण की विशेष सुविधाएं प्रदान की गई हैं।

4. **क्षमता के पूर्ण प्रयोग की सुविधा (Facility of full Utilisation of Capacity) :** सरकार ने औद्योगिक उपक्रमों में क्षमता के पूर्ण प्रयोग के सम्बन्ध में निम्न सुविधाएं प्रदान की गई हैं :

(i) अक्टूबर, 1966 से लेकर सरकार ने औद्योगिक उपक्रमों को अपनी उत्पादन क्षमता का 25% तक विस्तार करने के लिए लाइसेंस से मुक्त कर दिया है। लेकिन यह छूट केवल उसी दिशा में दिए जाने का प्रावधान किया गया है, जबकि -

(a) इस तरह का विस्तार करने के लिए किसी अतिरिक्त विदेशी विनिमय की आवश्यकता न हो।

(b) इस तरह का विस्तार करने के लिए किसी अतिरिक्त प्लांट या मशीन लगाने की आवश्यकता न हो अपितु यह विस्तार देश में उपलब्ध छोटे-छोटे उपक्रमों की सहायता से ही किया जा सकता है।

(c) इस विस्तार से ऐसे कच्चे माल मांग उत्पन्न न हो जो कि आसानी से प्राप्त नहीं होता है।

(ii) सरकार ने उपर्युक्त सुविधाओं के अतिरिक्त सन् 1972 से 65 उद्योगों को शत-प्रतिशत क्षमता तक विस्तार करने की छूट दे दी है।

(iii) सरकार ने 1973 में उद्योगों में विविधता लाने की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनके अनाधिकृत क्षमता के उपयोग को वैध करार कर दिया और अक्टूबर सन् 1975 जुलाई, 1980 जून 1991 तथा जुलाई 1993 में इस सम्बन्ध में और अधिक उदार द ष्टिकोण अपनाया गया।

5. **निर्यात के लिए अधिक उत्पादन (Higher Production for Exports) :** 15 फरवरी सन् 1957 को जारी एक अधिसूचना में स्पष्ट किया गया कि निर्यात करने वाले औद्योगिक उपक्रमों की उत्पादन क्षमता निर्धारित करते समय दो घटकों को ध्यान में रखा जाएगा। (a) अगस्त, 1973 से पूर्व के तीन वर्षों में से किसी एक वर्ष में घरेलू विक्रय के लिए अधिकतम उत्पादन तथा (b) इन तीन वर्षों में से किसी एक वर्ष में निर्यात के अधिकतम उत्पादन।

यदि कोई औद्योगिक उपक्रम यह दावा करता है कि वह उपर्युक्त घटकों के आधार पर गणना की गई उत्पादन क्षमता की तुलना में निर्यात के लिए अधिक उत्पादन कर सकता है तो सरकार कुछ शर्तों के अधीन और अधिक क्षमता भी निर्धारित कर सकती है लेकिन यह व्यवस्था केवल ऐसे वर्ग औद्योगिक उपक्रमों के लिए ही उपलब्ध होगी, जिनको सरकार द्वारा निर्दिष्ट कर दिया जाए।

6. **लाइसेंस लेने से मुक्त औद्योगिक उपक्रमों का पंजीकरण (Reqistration of Industrial Undertakings exempted from License) :** इसके अन्तर्गत जो औद्योगिक उपक्रम लाईसेंस लेने की व्यवस्था से मुक्त है उनके लिए यह आवश्यक है कि वे निर्धारित समय में अपना पंजीकरण करा लें। पंजीकरण का प्रमाण पत्र सभी उपक्रमों (चाहे वे सार्वजनिक क्षेत्र के हो या निजी क्षेत्र) के लिए प्रापत करना आवश्यक है। लघुस्तरीय औद्योगिक उपक्रमों का अपना पंजीकरण सम्बन्धित राज्य के "उद्योगों के निर्देशक" तथा लघुस्तरीय उद्योगों के विकास आयुक्त, के यहां कराना होता हैं अन्य प्रकार के उद्योगों की दशा में पंजीकरण के लिए आवेदन पत्र तकनीकी विकास के महानिदेशक (DGTD) तथा 'केन्द्रीय सरकार की सम्बन्धित तकनीकी सत्ता' जैसे - टैक्सटाइल आयुक्त लोहा एवं इस्पात नियन्त्रक, चीनी व वनस्पति का मुख्य निदेशक तथा कोयला नियन्त्रक आदि के कार्यालय में देना पड़ता है।

7. **लाइसेंस प्राप्त करने की प्रक्रिया (Licensing Procedure) :** लाइसेंस प्राप्त करने की प्रक्रिया निम्नलिखित हैः

(i) **लाइसेंस के लिए आवेदन पत्र :** लाइसेंस प्राप्त करने के लिए आवेदन पत्र छपे हुए फार्म पर, 'औद्योगिक अनुमोदनों के सचिवालय' के कार्यालय में देना होता है। इसमें अलग-अलग प्रयोजनों के लिए अलग-अलग फार्म निर्धारित किए गए हैं। जैसे - नए औद्योगिक उपक्रम की स्थापना के लिए नई वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ करने तथा उत्पादन क्षमता में महत्वपूर्ण विस्तार करने के लिए फार्म II व्यवसाय के संचालन के लिए फार्म EE औद्योगिक उपक्रम के स्थानांतरण की दिशा में फार्म E का प्रयोग किया जाता है। इन फार्मों की प्रतियां भारत सरकार के उद्योग मंत्रालय से निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है। आवेदन पत्र की फीस 500 रुपये है और मूल आवेदन पत्र के साथ 10 अतिरिक्त प्रतियां संलग्न करना आवश्यक है। यदि औद्योगिक उपक्रम के लिए मशीनों एवं संयंत्रों तथा तकनीक सम्बन्धी सुविधाओं के आयात अपेक्षित हैं तो इसके लिए एक अलग से आवेदन पत्र 'आयात एवं निर्यात के प्रमुख नियन्त्रक' के यहां भी देना आवश्यक है।

आवेदन पत्रों का प्रकार	विचारार्थ अधिकारी	समयावधि
1. औद्योगिक लाइसेंस विदेशी सहयोग तथा पूंजीगत माल के आयात सम्बन्धी संयुक्त आवेदन पत्र	परियोजना अनुमोदन बोर्ड (Project Approval Board or PAB)	120 दिन
2. MRTP Act के अन्तर्गत आने वाले औद्योगिक ग हों द्वारा दिए गए आवेदन पत्र	लाइसेंसिंग समिति तथा MRTP समिति	150 दिन
3. अन्य प्रकार के आवेदनों के लिए	लाइसेंसिंग समिति	90 दिन

(ii) **आवेदन पत्रों के अनुमोदनों की प्रक्रिया :** औद्योगिक उपक्रमों के लिए आवेदन पत्रों को अनुमोदित करने हेतु सरकार ने 'औद्योगिक अनुमोदनों के सचिवालय' की स्थापना की है। आवेदन-पत्रों के अनुमोदन सम्बन्धी व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(iii) **लाइसेंस या लाइसेंस से पूर्व आशय पत्र जारी करना :** यदि आवेदन-पत्र पर द ष्टि से अनुमोदन के योग्य है और उसके लिए विदेशी सहयोग तथा पूंजीगत माल के आयात के सम्बन्ध में कोई अन्य स्वीकृति नहीं ली जानी है तो सम्बन्धित औद्योगिक उपक्रम के लिए लाइसेंस जारी कर दिया जाता है पर ऐसी स्थिति न होने पर आवेदन पत्र की तिथि के 1 माह के अंदर आवेदन को आशय-पत्र जारी कर दिया जाता है। आशय-पत्र लाइसेंस प्राप्त करने के इच्छुक आवेदनकर्त्ता को इस बात पर लिखित आश्वासन होता है कि सरकार उसके आवेदन-पत्रों पर अनुकूल ढंग से विचार करेगी बशर्ते कि आवेदनकर्ता 12 माह की अवधि के अंदर कतिपय प्रारम्भिक औपचरिकताओं को पूरी कर ले। यदि आवश्यकता हो तो इस अवधि में 6-6 माह के केवल दो बार व द्धि की जा सकती है। यदि आवेदक सरकार द्वारा निर्धारित प्रारम्भिक औपचारिकताओं को पूरा कर लेता है तो सरकार इस औद्योगिक उपक्रम के लिए लाइसेंस जारी कर देती है।

4. **लाइसेंस प्रदान करते समय विचारणीय बातें :** लाइसेंस के लिए आवेदन-पत्रों का अनुमोदन करते समय संबंधित अधिकारी निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखते हैं।

(i) नवीनतम औद्योगिक नीति का प्रस्ताव;

(ii) औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति में किये गए संशोधन

(iii) संबंधित पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित प्राथमिकताएं एवं लक्ष्य;

(iv) प्रस्तावित परियोजनाओं और उनसे संबंधित उद्योग द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तु की मांग, निर्यात व द्धि अथवा आयात प्रतिस्थापन से बचत की संभावना;

(v) विदेशी विनिमय की आवश्यकता ;

(vi) उस उपक्रम की स्थापना होने से देश के भुगतान संतुलन पर होने वाले शुद्ध प्रभाव;

(vii) रोजगार की संभावना;

(viii) उपक्रम के प्रवर्तकों की योग्यता : एवं

(ix) स्थानीयकरण तथा पिछड़े क्षेत्रों के विकास की आवश्यकता आदि।

5. **लाइसेंस की प्रामाण्य अवधि :** लाइसेंस की प्रमाण्य अवधि 2 वर्ष की होती है अर्थात् लाइसेंस प्राप्ति के 2 वर्ष के अंदर लाइसेंस प्राप्तकर्त्ता को औद्योगिक उपक्रम की स्थापना एवं उत्पादन कार्य प्रारंभ कर देना चाहिए। लेकिन नवम्बर, 1980 एक विज्ञप्ति के अनुसार पर्याप्त कारणों के आधार पर इस अवधि में 1-1 वर्ष की दो बार व द्धि की जा सकती है। इसके बाद कुछ विशेष परिस्थितियों में 'परियोजना अनुमोदन मण्डल' के निर्णय पर ही उपर्युक्त वर्णित अवधि में व द्धि की जा सकती है।

औद्योगिक उपक्रमों का पंजीकरण और लाइसेंसिंग नियमावली 1952 की धारा 19 के अनुसार, प्रत्येक लाइसेंस प्राप्तकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि जब तक उपक्रम में उत्पादन कार्य प्रारम्भ न हो जाए। जब तक वह निर्धारित फार्म G पर औद्योगिक अनुमोदनों में सचिवालय, उद्योग भवन, नई दिल्ली को अपनी प्रगति की अर्द्धवार्षिक रिपोर्ट भेजता रहे। इसकी एक कॉपी तकनीकी विकास के महानिदेशक (DGTD) के यहां भी भेजनी होती है, परंतु उत्पादन प्रारम्भ हो जाने के बाद उपक्रम की प्रगति की मासिक रिपोर्ट केवल तकनीकी विकास महानिदेशक को ही भेजनी होती है।

औद्योगिक लाइसेंसिंग प्रणाली की समीक्षा

(Review of Industrial Licensing System)

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अंतर्गत औद्योगिक लाइसेंसिंग प्रणाली की कार्य प्रगति का विवरण निम्न प्रकार है।

अवधि	प्रदत्त लाइसेंसों की संख्या
1952-55	998
1956-60	4,794
1961-65	4,555
1966-70	1,508
1971-75	4,210
1976-80	2,368
1982-88	4,854
1984 तक कुल प्रदत्त लाइसेंसों की संख्या	21,321

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन् 1965 तक सरकार की लाइसेंस प्रदान करने की नीति काफी उदार थी। परंतु इसके बाद डॉ. हजारी तथा दत्त समिति द्वारा लाइसेंसिंग प्रणाली की कड़ी आलोचना करने के कारण सरकार ने लाइसेंस जारी करने पर कड़े प्रतिबंध लगाते गये जिसके परिणामस्वरूप 1966-70 की अवधि में निर्गमित लाइसेंसों की संख्या में काफी गिरावट आयी। सन् 1973 में संशोधित लाइसेंसिंग नीति की घोषणा की गई जिसमें लाइसेंसिंग प्रणाली के प्रति पुनः उदारता का रूख अपनाया गया जिसके फलस्वरूप 1973-76 तक लाइसेंस जारी करने का रिकार्ड कायम किया गया। इसके बाद 1976 से 1982 तक लाइसेंसों की संख्या में काफी गिरावट आयी, लेकिन 1983 से लाइसेंसों की संख्या में व द्धि हुई है। वर्ष 1991 में लाइसेंसिंग नीति को काफी उदार बना दिया गया तथा जुलाई 1993 में 14 उद्योगों को छोड़कर बाकी सभी उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया है। 10 लाख से अधिक आबादी वाले 23 शहरों को छोड़कर देश के अन्य भागों में उद्योग लगाने के लिए अब किसी लाइसेंस की आवश्यकता नहीं रह गई है।

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति का व्यवहार में पालन काफी विवाद और आलोचना का विषय रहा है। लाइसेंसिंग समिति द्वारा औद्योगिक इकाइयों की स्थापना अथवा उनके विस्तार आदि के लिए कोई सुनिश्चित आधार नहीं अपनाया जाता था और इस समिति का काम करने का ढंग तदर्थ रहता था। औद्योगिक लाइसेंसिंग के लिए आवेदन पत्रों पर निर्णय लेने से पूर्व डायरेक्टर जनरल ऑफ टेक्नीकल डवलैपमेंट (DGTD) को प्रत्येक प्रस्तावित इकाई की स्थापना अथवा वर्तमान इकाई के विस्तार के बारे में जिस प्रकार का तकनीकी आर्थिक परीक्षण करना चाहिए था, वैसा परीक्षण तैयार नहीं किया जाता था। इसके अलावा, परीक्षण व सुझाव देने में DGTD बहुत समय लगाता था। कार्यान्वन की इन व्यावहारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त ऐसा देखा गया कि औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति अपने उद्देश्यों के विपरीत काम करती रही। उदाहरण के लिए इस नीति के परिणामस्वरूप (क) कुछ उद्योगों में क्षमता के अपूर्ण उपयोग की समस्या पैदा हो गई; (ख) नये औद्योगिक घरानों के हाथ में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण बढ़ा जिससे आर्थिक असमानताओं में और व द्धि हुई; (ग) साधनों का अपव्यय (dissipation) हुआ क्योंकि यद्यपि लाइसेंसिंग का प्रयोग ऐसे उद्योगों में प्रवेश को रोकने के लिए किया जा सकता था जिनमें क्षमता उपयोग के लक्ष्य प्राप्त हो चुके हों, तथापि कोई ऐसा तरीका नहीं था जिससे साधनों को वांछित दिशाओं व उद्योगों में लगवाया जा सके; (घ) क्षेत्रीय असमानताओं में व द्धि हुई; (ड) क्योंकि लाइसेंस उत्पादन में दक्षता के आधार पर नहीं दिए जाते थे अपितु इस आधार पर दिए जाते थे कि आवेदन पहले किसने किया है इसे (First come, First Served) की नीति कह सकते हैं, इसलिए कई बार अदत्त उद्यमों (Inefficient Enterprises) को प्रोत्साहन मिला है।

इन कमियों व आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुए सरकार ने अप्रैल, 1964 में एकाधिकारी जांच समिति का गठन किया और 1965 में डॉ. आर. के हजारी को उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 का आलोचनात्मक अध्ययन करने को कहा गया। जुलाई 1967 में डॉ. सबिमल दत्त की अध्यक्षता में एक और समिति का गठन किया गया। इस समिति ने जुलाई 1969 में अपनी रिपोर्ट पेश की।

लाइसेंस लेकर उनका प्रयोग न करना

(Licensing and Under-utilisation of Capacity)

लाइसेंसिंग से यह आशा की जाती थी कि योजनाओं की प्राथमिकताओं व लक्ष्यों के अनुसार यह क्षमताओं का निर्माण कर सकेगी। परंतु निजी क्षेत्र के लिए योजनाओं में कोई स्पष्ट प्राथमिकताओं का उल्लेख नहीं किया गया था। इसलिए निजी क्षेत्र में उन्हीं उद्योगों को चुना जिनमें अधिक लाभ होने की उम्मीद थी। कई बार ये उद्योग विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग होते थे और DGTD की तकनीकी शर्तों को भी पूरा करते थे। इसलिए इन उद्योगों को लाइसेंस मिल जाते थे और आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों की अवहेलना की जाती थी।

किसी भी औद्योगिक इकाई को लाइसेंस मिलने का अर्थ यह नहीं था कि वह इकाई वास्तव में क्षमता की स्थापना करेगी। जो लोग लाइसेंस लेकर क्षमता की स्थापना नहीं करते थे उनसे कई वर्षों बाद ही सरकार लाइसेंस वापिस ले पाती थी। इस कारण कई बार स्वीकृत क्षमता से कम क्षमता स्थापित की जाती थी। कई बार औद्योगिक घराने जान-बूझकर यह काम करते थे ताकि उत्पादन सीमित रखकर कीमतों को बढ़ाया जा सके। उदाहरण के लिए दत्त समिति के अनुसार, 1956 से 1966 के बीच 73 बड़े औद्योगिक घरानों और बड़ी कम्पनियों को कुल 2,884 लाइसेंस दिए गए जिनमें से केवल 1,874 लाइसेंसों का उपयोग किया गया। इस प्रकार बड़े औद्योगिक घरानों ने न केवल 7184% लाइसेंसों का उपयोग किया। 20 एकाधिकारी घरानों को मिलने वाले लाइसेंसों की संख्या 1,342 थी जिसमें से केवल 835 लाइसेंसों का उपयोग किया गया जो लाइसेंसों की संख्या का लगभग 65 प्रतिशत था।

लाइसेंस नीति और औद्योगिक शक्ति के केन्द्रीकरण

(Licensing and Concentration of Industrial Power)

लाइसेंसिंग नीति का उद्देश्य आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकना परंतु व्यवहार में इसके ठीक उल्टा हुआ। इस नीति के परिणामस्वरूप बड़े औद्योगिक घरानों के हाथ में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण बढ़ा। लाइसेंसिंग नीति ने इस प्रव त्ति में निम्नलिखित रूप से योगदान दिया :-

1. **लाइसेंस 'पहले आओ, पहले पाओ'** (First Come, First Serve) के आधार पर दिए जाते थे। यद्यपि देखने में यह सिद्धांत न्यायोचित लगता है पर वास्तव में इसके बुरे परिणाम हुए। बड़े औद्योगिक घरानों का संगठन बेहतर होता है तथा उनके 'सूचना विभाग' अधिक कारगर होते हैं। इसलिए इन घरानों को लाइसेंसों के बारे में सूचना अन्य उद्योगपतियों से पहले ही प्राप्त हो जाती है और वे उनसे पहले ही आवेदन कर देते हैं। इसके अलावा बड़े औद्योगिक घरानों के सम्पर्क अधिकारी आवेदन पत्र पर की गई कार्यवाही पर पूरी नजर रखते हैं।

2. **अपने आर्थिक प्रभुत्व के कारण बड़े घराने विदेशी सहयोग** (Foreign Collaboration) प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं क्योंकि विदेशी उद्यमियों को विभिन्न आयात नियंत्रणों व प्रतिबंधों के कारण स्वयं उद्योग की स्थापना करने में कठिनाइयां आती थी इसलिए उन्होंने बड़ी तत्परता से बड़े औद्योगिक घरानों के साथ सहयोग करने का स्वागत किया। एकाधिकारी जांच समिति और आर.के. हजारी के अनुसार लाइसेंसिंग समिति द्वारा विदेशी सहयोग वाले आवेदन पत्रों को अन्य आवेदन पत्रों की तुलना में प्राथमिकता दी जाती थी।

3. बड़े औद्योगिक घराने एक ही उद्योग के लिए अनेक आवेदन पत्र देते हैं। डॉ. हजारी के अनुसार ऐसा क्षमता को पहले ही समाप्त कर देने के उद्देश्य से किया जाता है कि ताकि स्पर्धा करने वाले को रास्ते से हटाया जा सके। हजारी के अनुसार, 'यदि आवेदन पत्र अस्वीकार भी हो जाते हैं अथवा उन्हें भविष्य में विचार करने के लिए स्थगित कर दिया जाता है तो भी वे वेटिंग-लिस्ट (Waiting List) में पड़े रहते हैं तथा भविष्य में नई क्षमता जारी होने पर, नए आवेदन पत्रों से पहले, इस लिस्ट के आवेदन पत्रों पर विचार किया जाता है।

4. बड़े उद्योगपतियों को अपनी योग्यता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती जबकि लघु व नए उद्योगपति को अपनी योग्यता का प्रमाण देना होता है। लाइसेंसिंग समिति की कार्यवाहियों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन लोगों को प्राथमिकता देती थी जिनकी योग्यता स्वतः सिद्ध है। इस रवैये के कारण नए उद्योगपतियों को लाइसेंस मिलना कठिन हो

जाता था और आर्थिक केन्द्रीयकरण की प्रक्रियाओं को बल मिलता था। इसके अलावा, क्योंकि बड़े औद्योगिक घराने लघु उद्योगपतियों व नए उद्योगपतियों की तुलना में जल्द व आसानी से वित्तीय साधन इकट्ठा कर सकते हैं। इसलिए लाइसेंसिंग समिति उनमें अधिक अभिरूचि लेती थी।

5. यदि लाइसेंस मझोले व लघु उद्योगपति को मिल भी जाते थे तो भी इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि बाद में उनकी इकाइयों को बड़े औद्योगिक घराने खरीद नहीं लेंगे। इस संदर्भ में प्राक्कलन समिति की नौवीं रिपोर्ट (Nineth Report of Estimates Committes) में उद्वत उद्योग मंत्री का निम्न कथन महत्वपूर्ण है, "यह संभव है कि लाइसेंसिंग समिति किसी व्यक्ति 'A' को लाइसेंस दे जिसका बिडला या टाटा या अन्य किसी कम्पनी से कोई संबंध नहीं है। परंतु उस व्यक्ति द्वारा लाइसेंस की सारी शर्तें पूरी कर देने के बाद या उद्योग स्थापित कर लेने के बाद इस बात की क्या गारंटी है कि बिडला या टाटा उसके उद्योग को खरीद नहीं लेंगे।" उद्योग मंत्री का यह वक्तव्य औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति में एक गंभीर कमी की ओर संकेत करती है।

ऊपर वर्णित सब तरीकों के अलावा, लाइसेंसिंग क्षमता पर एकाधिकार जमाने की द ष्टि से बड़े औद्योगिक घरानों ने कई और तरीकें भी अपनाए। उदाहरण के लिए (i) कई उद्योगों में इकाइयां स्थापित करने के लिए एक ही साथ आवेदन पत्र दे देना; तथा (ii) 'नई इकाई' की स्थापना का लाइसेंस प्राप्त होने के जल्द बाद ही क्षमता के विस्तार के लिए आवेदन पत्र दे देना ताकि अन्य उद्योगपतियों के प्रवेश को रोका जा सके। (iii) एक ही वस्तु के उत्पादन के लिए विभिन्न पिछड़े क्षेत्रों में 'नई इकाई' की स्थापना के लिए एक ही साथ कई आवेदन पत्र दे देना; दत्त समिति के अनुसार, लाइसेंसिंग समिति की गतिविधियों से साफ जाहिर है कि उसने अधिकतर बड़े औद्योगिक घरानों का साथ दिया।

इन सब तरीकों से बड़े औद्योगिक घराने लाइसेंसिंग क्षमता के एक बहुत बड़े हिस्से पर कब्जा जमाने में सफल गए। उदाहरण के लिए, 1996 में कुल 26,896 कम्पनियों में से केवल 2,197 कम्पनियों (अर्थात् 8 प्रतिशत) बड़े औद्योगिक क्षेत्र के पास थी परंतु इन्हें 3.8' लाइसेंस प्राप्त हुए। अन्य 91: कम्पनियों को मात्र 59 प्रतिशत लाइसेंस ही मिल सके।

लाइसेंसिंग और क्षेत्रीय असमानताएं

(Licensing and Regional Imbalances)

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति का एक मुख्य उद्देश्य क्षेत्री असमानताओं को कम करना था। परंतु इस नीति के परिणामस्वरूप ठीक उल्टा हुआ अर्थात् क्षेत्रीय असमानताओं में व द्धि हुई। दत्त समिति के अनुसार, चार विकसित राज्यों महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडू को 1955-66 के बीच दिए गए कुल लाइसेंसों में से 62.42 प्रतिशत लाइसेंस प्राप्त हुए। दूसरी ओर गरीब राज्यों, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश को कुल लाइसेंसों में से केवल 15.5 प्रतिशत लाइसेंस प्राप्त हुए।

हालांकि दत्त समिति ने विभिन्न क्षेत्रों के बीच औद्योगिक लाइसेंसों के अधिक समान वितरण की बात की थी तथापि ऐसा हुआ नहीं। अधिक विकसित राज्यों की ओर पक्षपात जारी रहा। उदाहरण के लिए, 1974 से 1986 के बीच तेहरह वर्षों महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु तथा पश्चिमी बंगाल को क्रमशः 1882, 1058, 894 तथा 650 लाइसेंस प्राप्त हुए जो कुल जारी लाइसेंसों का 49.8 प्रतिशत है। इसके विपरीत बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश व उत्तर प्रदेश को कुल 15 प्रतिशत लाइसेंस प्राप्त हुए।

पिछड़े क्षेत्रों को मिले कम लाइसेंसों को देखकर सरकार ने यह निर्णय लिया कि इनको और अधिक लाइसेंस दिये जायें जिसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में दिए जाने वाले लाइसेंसों की संख्या 1970 में 59 से बढ़कर 1985 में 427 हो गई है। 1982-88 में जारी किए गए लाइसेंसों का 37.8 प्रतिशत भाग पिछड़े राज्यों को मिला। परन्तु चिन्ता का विषय यह है कि पिछड़े क्षेत्रों को जारी किए जाने वाले लाइसेंसों में भी विकसित राज्यों का हिस्सा (महाराष्ट, गुजरात, तमिलनाडु का हिस्सा 3.30 प्रतिशत था) पिछड़े राज्यों (बिहार, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश का हिस्सा 9.5 प्रतिशत था) की अपेक्षा काफी अधिक था।

औद्योगिक लाइसेंस नीति का कानूनी आधार
(Legislative Back of the Industrial Licensing Policy)

औद्योगिक लाइसेंस नीति का कानूनी आधार निर्मित करने के लिए समय-समय पर अधिनियम पारित किए गए हैं, इनमें औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951, एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धित व्यापार क्रियाएं अधिनियम, 1969 तथा विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम, 1973 प्रमुख हैं। औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अंतर्गत ही भारत में उद्योगों के लाइसेंस व नियमन की व्यवस्था की जाती है।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951
(Industries Development and Regulation Act, 1951)

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अंतर्गत प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं -

1. नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना तथा विद्यमान इकाइयों के विस्तार के लिए केंद्र सरकार से औद्योगिक लाइसेंस लेना।

2. सरकार किसी भी ऐसी औद्योगिक इकाई के निरीक्षण की शक्ति रखती है, जिसकी कार्य प्रणाली इसके अंशधारियों के हितों के विरूद्ध हो।

3. सरकार ने अनुसूचित उद्योगों से संबंधित मामलों पर इसे सलाह देने के लिए एक पदाधिकारी की नियुक्ति की है। यह अधिनियम उन उद्योगों पर लागू नहीं होता, जिनकी पूंजी 3 करोड़ रुपये से अधिक नहीं है।

4. सरकार पदार्थो की कीमतों, एक औद्योगिक इकाई के अंशपत्र वितरण का प्रतिरूप आदि निर्धारित कर सकती है।

सरकार की लाइसेंस नीति पर खुली चर्चा की गई है तथा इसका सरकारी स्तर पर भी अध्ययन किया गया है। योजना आयोग के द्वारा नियुक्त डॉ. आर.के. हजारी ने अध्ययन में बताया है कि बड़े एवं मध्यम आकार के व्यावसायिक समूहों को अन्य उद्योगों की तुलना में अधिक लाइसेंस प्राप्त हुए हैं और इनके द्वारा निवेश के लिए किए गए आवेदन स्वीकार भी किए गए।

इस अध्ययन को ध्यान में रखकर सरकार ने 1967 में औद्योगिक लाइसेंस नीति जांच समिति (Industrial Licensing Policy Committee) का गठन किया।

इस समिति के अध्यक्ष श्री दत्त ने अपनी रिपोर्ट 1967 में प्रेषित की जिनमें नि.लि. अवलोकन किए गए।

(क) आरम्भिक वर्षों में आर्थिक आधार की अपेक्षा लाइसेंस देने के लिए तकनीकी आधार पर विशेष बल दिया गया था, बडी औद्योगिक इकाइयों के विकास को रोकने के लिए लाइसेंसों का प्रयोग नहीं किया गया था, बल्कि लाइसेंस प्रणाली बड़ी औद्योगिक इकाइयों के हितों के वर्धन में सहायक सिद्ध हुई।

(ख) 1965-66 के दौरान जितने लाइसेंसों का निर्गमन किया गया उसमें से लगभग 32 प्रतिशत क्रियान्वित नहीं हो सके। जिस वस्तु के उत्पादन से कोई हित तथा प्रतियोगिता सम्बन्धित हो, यदि उसके लाइसेंस का क्रियान्विकरण न किया जाए तो इससे पूर्व क्रय का आभास होता है। (ग) लाइसेंस व्यवस्था का इस प्रकार से इस्तेमाल किया गया कि नई लाइसेंस क्षमता का अधिकांश लाभ बड़े औद्योगिक समूहों और विशेष रूप से बिडला समूह को प्राप्त हुआ। (घ) बड़े औद्योगिक घरानों ने अतिरेक क्षमता का निर्माण किया और उसे बाद में नियमित करवाने का प्रयत्न किया तथा स्वीकृत क्षमता से भी अधिक उत्पादन किया।

दत्त समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखकर 1970 में लाइसेंस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन किए गए।

1. एक प्रमुख क्षेत्र परिभाषित किया गया जिसमें बुनियादी, सुरक्षा सम्बन्धी तथा केन्द्रीय महत्व के उद्योग रखे गए। इस क्षेत्र के उद्योगों को 9 बड़े समूहों में रखा गया : (क) कृषि आगत, (ख) लोहा व इस्पात (ग) अलौह धातुएं (घ) पैट्रोलियम (ड.) कुकिंग कोयला (च) भारी औद्योगिक मशीनरी (छ) जहाजरानी व डैजर्स (ज) अखबारी कागज, तथा (झ) इलेक्ट्रोनिक्स इन क्षेत्रों में जो उद्योग 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित रखे गए थे, उन्हें छोड़कर अन्य सब उद्योगों में बड़े औद्योगिक घरानों व विदेशी कम्पनियों को ईकाई स्थापित करने की अनुमति दी गई।

2. एक करोड़ रुपये से पांच करोड़ रुपए की निवेश वाले उद्योगों को मध्यम क्षेत्र में रखा गया। इन उद्योगों के लिए लाइसेंसिंग नीति को काफी उदार करने की बात की गई तथा लाइसेंसिंग कार्यप्रणाली को आसान बनाने का आश्वासन दिया गया।

3. 1970 की नीति में एक और क्षेत्र 'भारी निवेश क्षेत्र' के नाम से परिभाषित किया गया। इसमें वे उद्योग रखे गए जिनमें 5 करोड़ रुपये से अधिक का निवेश है। केवल उन उद्योगों को छोड़कर जिन्हें 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित रखा गया था, अन्य सब उद्योगों के द्वारा निजीक्षेत्र के लिए खोल दिए गए। बड़े औद्योगिक घरानों तथा विदेशी कंपनियों से यह आशा की गई कि वे इन उद्योगों के विकास के लिए राज्य के प्रयासों से सहयोग देंगे। यह बड़े औद्योगिक घरानों व विदेशी कंपनियों को एक महत्वपूर्ण रियायत थी क्योंकि दत्त समिति ने उनकी भूमिका को केवल प्रमुख क्षेत्र तक सीमित रखने की सिफारिश की थी। इस रियायत के परिणामस्वरूप बड़े औद्योगिक घराने विलासिता की अनेक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में इकाईयां स्थापित करने में सफल हो गए।

4. एक करोड़ रुपये से कम निवेश वाले उद्योगों को लाइसेंसिंग से मुक्त कर दिया गया अर्थात् ऐसे उद्योगों की स्थापना के लिए लाइसेंस की जरूरत नहीं रही।

5. लघु क्षेत्र को संरक्षण की नीति चालू रखी हुई। इस उद्देश्य के लिए 128 मदों का उत्पादन लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित कर दिया गया।

6. निर्यात में उद्योगों को उच्च प्राथमिकता दी गई।

7. 1970 की औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति में सिद्धांत रूप में दत्त समिति के संयुक्त क्षेत्र के सुझाव को स्वीकार कर लिया गया।

8. गन्ने, पटसन व अन्य कृषि उत्पादों की परिष्करण इकाइयों (Processing Units) में सहकारी क्षेत्र से प्राप्त आवेदन पत्रों को प्राथमिकता देने का आश्वासन दिया गया।

औद्योगिक लाइसेंस नीति में 1973 में संशोधन किये गये और 1978 में इसे और अधिक उदार बना दिया गया। इस संशोधन के द्वारा लाइसेंस देने के लिए बड़े औद्योगिक घराने की परिभाषा बदल दी गई। पहले बड़े औद्योगिक घराने माने गए थे। जिनकी परिसम्पत्ति 35 करोड़ रुपये के ऊपर थी। लेकिन संशोधन द्वारा वे सभी औद्योगिक घराने जिनके पास 20 करोड़ से अधिक पूंजी थी बड़े मान लिए गए। उद्योग की एक समेकित (Comalidated) सूची भी तैयार कर ली गई। जिसमें 19 उद्योग समूह के द्वारा बड़े औद्योगिक घरानों, विदेशी कंपनियों और उनकी सहायक कंपनियों तथा शाखाओं को खोले गये। लेकिन ये कंपनियां सार्वजनिक क्षेत्र के लिये आरक्षित किसी वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकती थी। यह कहा गया कि बड़े औद्योगिक घरानों को सामान्यतः 19 उद्योग समूहों के बाहर लाइसेंस नहीं दिये जाएंगे। लेकिन यदि वे मुख्य रूप से (60 प्रतिशत से अधिक) निर्यात के लिए उत्पादन करें तो ऐसे उद्योगों के द्वार भी उनके लिए खुले हैं। लघु उद्योगों के लिये आरक्षित क्षेत्रों में प्रवेश पाने के लिए निर्यात-दायित्व 75% रखा गया।

1973 की लाइसेंसिंग नीति में 9 उद्योग समूह से बढ़ाकर 19 उद्योग समूह कर देने की नीति से बड़े औद्योगिक घरानों को बहुत लाभ हुआ। अब उनके लिए उन सब उद्योगों में प्रवेश के द्वार खुल गए जिनमें उनकी दिलचस्पी थी। इनमें कई कम प्राथमिकता वाले परंतु उच्च लाभ सामर्थ्य वाले उद्योग भी शामिल थे। यह दावा कि 1973 में बड़े औद्योगिक घरानों की जो नई परिभाषा अपनाई गई (जिसके अधीन परिसम्पत्ति की सीमा 35 करोड़ रुपये से कम करके 20 करोड़ रुपये कर दी गई थी) उसके द्वारा और औद्योगिक घरानों पर भी नियंत्रण लगाए जा सकेंगे, भी गलत सिद्ध हुआ। इसका कारण यह था कि परिभाषा का 'आधार' ही बदल दिया गया था। पहले वाली परिभषा के औद्योगिक घराने की परिभाषा में 'उन सब औद्योगिक घरानों को' अन्तः सम्बन्धित इकाइयों के रूप में परिभाषित किया गया था। क्योंकि अन्तः सम्बन्ध को स्थापित करना कठिन होता है। इसलिए नियंत्रण का जाल और कम हो गया। उदाहरण के लिए जहां औद्योगिक लाइसेंस नीति जांच समिति की सूची में 280 कंपनियों को बिडला ग्रुप में शामिल किया गया था वहां केवल 29 कंपनियों ने ही 'अन्तसम्बन्ध' के आधार पर MRTP कमीशन के साथ रजिस्ट्रेशन किया। अन्य औद्योगिक घरानों के लिए पुरानी और नई परिभाषा में निम्न अन्तर थे। टाटा में पुरानी परिभाषा के अंतर्गत 84 तथा नई परिभाषा के अंतर्गत 14 कंपनियां थी, मार्टिन वर्ग में 24 व 6, गोइन्का की 69 व 14, थापर ग्रुप मे 63 व शून्य, सूरजमल की 110 व 8, कालीचंद की 24 व 22, ठाकरसे की 21

व 1, बजाज की 24 व 1 तथा शॉ बैलेस की 26 व 1। MRTP के अंतर्गत आने वाले औद्योगिक घरानों की परिसंपत्ति की सीमा को 1985-86 के बजट में एकदम 20 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 100 करोड़ रुपये कर दिया गया। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। जुलाई 1991 में घोषित नई औद्योगिक नीति में MRTP कंपनियों की परिसम्पत्ति सीमा को समाप्त कर दिया है।

मार्च, 1978 की नीति में औद्योगिक लाइसेंसिंग को और उदार बना दिया गया। लाइसेंसिंग से छूट की सीमा 1 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 3 करोड़ रुपये कर दी गई। बाद में इसे 5 करोड़ रुपये कर दिया गया।

1988-89 के बजट में छूट की सीमा को पिछड़े क्षेत्रों के लिए 50 करोड़ रुपये तथा अन्य क्षेत्रों के लिए 15 करोड़ रुपये कर दिया गया। परंतु छूट से लाभ की शर्त यह थी कि औद्योगिक इकाई 25 लाख से अधिक आबादी वाले शहरों में 50 किलोमीटर या उससे ज्यादा दूर स्थित हो। अपनी उदारवादी नीति को जारी रखते हुए सरकार ने जुलाई 1991 में घोषित नई औद्योगिक नीति में परिशिष्ट II में रखे गए 18 उद्योगों को छोड़कर अन्य सब उद्योगों के लिए औद्योगिक लाइसेंसिंग को समाप्त कर दिया है। सरकार के अनुसार अब बदलती हुई परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि 'नियंत्रण' कम किए जाए तथा उद्योगपतियों को सहायता दी जाए ताकि वे अलग दशक में औद्योगिक विकास की गति को तेज कर सकें तथा विदेशी फर्मों से स्पर्धा करने में सक्षम हो सकें। इस प्रकार के औद्योगिक सम्भाव्य को प्राप्त करने के लिए लाइसेंसिंग व्यवस्था को समाप्त करना अब जरूरी हो गया है।

सितम्बर 1984 में औद्योगिक लाइसेंस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन किये। लाइसेंस की प्रणाली को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाएगा ताकि पिछड़े हुए क्षेत्रों में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिल सके।

1984 में सरकार ने लाइसेंस नीति को अधिक उदार बनाने की घोषणा की कुछ चुने हुए उद्योगों में 'स्वचालित लाइसेंस' नीति को अपनाया जाएगा। एल.के. इन कमीशन की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 20 ऐसे उद्योगों का चयन किया जिनमें MRTP कंपनियां नई उत्पादन क्षमता का निर्माण करने अथवा विद्यमान क्षमता का विस्तार करने के लिए स्वतंत्र होगी।

मार्च, 1985 में सरकार ने प्रमुख उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त करने का निश्चय किया। इन उद्योगों को केवल सचिवालय के पास अपना पंजीकरण कराना होगा, इनको IDRA के अंतर्गत लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं होगी। जून, 1985 में 82 दवाइयों व उनके निर्माण को लाइसेंस से मुक्त किया गया।

उद्योग को यह भी अनुमति दी गई कि बिना नया लाइसेंस प्राप्त किये वे अपने उत्पाद-मिश्रण में परिवर्तन कर सकते हैं। जो औद्योगिक इकाईयां अनार्थिक पैमाने पर उत्पादन पर रही है। उन्हें आर्थिक पैमाने तक उत्पादन के विस्तार की स्वतंत्रता प्रदान की गई। सरकार ने लघु-स्तरीय इकाइयों के लिए पूंजी निवेश की सीमा को बढ़कार 65 लाख रुपये तथा विद्यमान उद्योगों के लिए 45 लाख रुपये कर दिया है। MRTP कंपनियों की परिसम्पतियों की सीमा को बढ़ाकर 100 करोड़ रुपये कर दिया गया है।

मई, 1985 में सरकार ने MRTP कंपनियों को 27 उद्योगों में कंपनी मामलों के विभाग से पूर्व अनुमति लिए बिना IRDA के अंतर्गत नयी परियोजना या क्षमता के पर्याप्त विस्तार के लिए तत्काल लाइसेंस प्राप्त करने के लिए अनुमति प्रदान की।

दिसम्बर, 1985 में सरकार ने परिशिष्ट-1 के उद्योगों की संशोधित एवं विस्त त सूची प्रकाशित की। संशोधित सूची में MRTP तथा FERA कंपनियों को 30 ऐसे उद्योगों में क्षमता के विस्तार की अनुमति दी गई है। जिनमें निर्मित वस्तुओं का उत्पादन लघुस्तरीय अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में होता हो।

पिछड़े हुए क्षेत्रों में MRTP तथा FERA कंपनियों की भूमिका को बढ़ाने के लिए कंपनियों को परिशिष्ट 1 में शामिल न होने वाले उद्योगों को पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित करने में छूट दी गई है।

वर्ष 1986-87 में सरकार ने औद्योगिक लाइसेंस नीति को और अधिक उदार बनाया। 32 प्रमुख उद्योग समूहों के बिना नया लाइसेंस प्राप्त किए अपने उत्पाद-मिश्रण में परिवर्तन की छूट दी गयी। सितम्बर, 1986 में 27 प्रमुख उद्योग समूहों एवं 82 आम उपयोग की दवाओं को गैर- MRTP कंपनियों और गैर FERA कंपनियों गैर-लाइसेंसीकृत किया गया।

कार्यक्षमता के न्यूनतम स्तर के लिए औद्योगिक क्षमता की पुनर्पुष्टि योजना में 72 उद्योगों को शामिल किया गया। अपने समस्त उत्पादन को निर्यात करने वाली औद्योगिक इकाइयों को लघु क्षेत्र में प्रवेश के प्रतिबंधों को हटा लिया गया। लघु उद्योगों के आरक्षण के लिए गठित समिति ने 8 और मदों को इस क्षेत्र में शामिल किया है तथा 34 मदों को इस सूची में से निकाल दिया है।

निर्यात के लिए उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए यह निर्णय लिया गया है कि यदि किसी उद्यम को निर्यात के लिए आर्डर प्राप्त होता है उसे उस वस्तु का उत्पादन बिना लाइसेंस प्राप्त किए आरम्भ करने की अनुमति दी जाएगी बशर्ते कि समस्त उत्पादन का प्रयोग निर्यात के लिए किया जाता है। जुलाई, 1991 में अर्थव्यवस्था में उदारीकरण को बढ़ावा देने के लिए नयी औद्योगिक नीति में सभी प्रकार की औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति को लगभग समाप्त कर दिया गया। इस नीति की अनुसूची II में 18 उद्योगों को रखा गया जिनके लिए लाइसेंस लेना आवश्यक था। जुलाई, 1993 में इन उद्योगों की संख्या घटाकर 14 कर दी गई। यह उद्योग कोयला, एल्कोहल, पैट्रोलियम, चीनी, सिगरेट, खतरनाक रसायन, दवाई, कागज व अखबारी पेपर, प्लाईवुड व लकड़ी पर आधारित अन्य उत्पाद, पशु, वसा व तेल, खाल व चमड़ा, इलैक्ट्रोनिक, एरोस्पेस, सुरक्षा उपकरण व औद्योगिक विस्फोटक हैं। अब लगभग 85% उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया है। वर्तमान औद्योगिक इकाइयां अपनी बाजार की आवश्यकताओं के अनुसार सरकार की पूर्व अनुमति से लिए बिना भी अपना विस्तार कर सकेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लाइसेंसिंग नीति का उपयोग काफी हद तक सीमित कर दिया गया है।

अध्याय 24
निजीकरण
(Privatisation)

वर्तमान समय में लोकतंत्र का निजीकरण अत्यन्त बहुचर्चित विषय है। निजीकरण का अर्थ अनेक प्रकार से व्यक्त किया जाता है। संकुचित द ष्टि से निजीकरण का अभिप्राय सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत कार्यरत उद्योगों में निजी स्वामित्व के प्रवेश से लगाया जाता है। विस्त त द ष्टि से निजी स्वामित्व के अतिरिक्त (अर्थात् स्वामित्व के परिवर्तन किये बिना भी) सार्वजनिक उद्योगों में निजी प्रबन्ध एवं नियन्त्रण के प्रवेश से लगाया जाता है, निजीकरण की उपुर्यक्त दोनों विचारधाराओं का अध्ययन करने के पश्चात यही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि निजीकरण को विस्त त रूप से ही देखा जाना चाहिए। यह भी सम्भव है कि सार्वजनिक क्षेत्र से निजीक्षेत्र को सम्पत्ति के अधिकारों का हस्तांतरण बिना विक्रय के ही हो जाए। तकनीकी द ष्टि से इसे अधिनियम (Deregulation) कहा जा सकता है जिसका आशय यह है कि जो क्षेत्र अब तक सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित थे उनमें अब निजी क्षेत्र के प्रवेश की अनुमति दे दी जायेगी। अन्य स्पष्ट शब्दों में निजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत एक नवीन औद्योगिक संस्कृति का विकास होता है - सार्वजनिक क्षेत्र से निजी क्षेत्र की तरफ कदम बढाया जाना।

आर्थिक सुधारों के सन्दर्भ में निजीकरण का अर्थ है सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित उद्योगों में से अधिक से अधिक उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए खोलना। इसके अन्तर्गत वर्तमान सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को पूरी तरह या उसके एक हिस्से को निजी क्षेत्र को बेच दिया जाता है।

"निजीकरण वह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा निजी क्षेत्र किसी सरकारी उद्यम का स्वामी बन जाता है अथवा उसका प्रबंध करता है।"

निजीकरण की आवश्यकता मुख्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र के अकुशल होने के कारण अनुभव की गई। भारत सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकतर उद्यम हानिवहन उठा रहे थे। इसका मुख्य कारण यह था कि सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबन्धकों को निर्णय लेने की स्वतंत्रता बहुत कम होती है। इस क्षेत्र के उद्यमों से संबंधित अधिकतर निर्णय मन्त्रियों द्वारा लिये जाते हैं जो निर्णय लेते समय अपने राजनीतिक हितों का अधिक ध्यान रखते हैं। इसके फलस्वरूप निर्णय लेने में अनावश्यक विलम्ब होता है। उत्पादन क्षमता का पूरा प्रयोग सम्भव नहीं होता है। प्रबन्धक पूरी जिम्मेदारी से कार्य नहीं करते इसलिए उत्पादकता कम हो जाती है। ये तत्व सार्वजनिक क्षेत्र को अकुशल बना रहे थे। निजीकरण के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की कुशलता में व द्धि होगी, प्रतियोगिता बढेगी उत्पादन की गुणवता तथा विविधता में व द्धि होगी। इसका उपभोगताओं को विशेष रूप से लाभ होगा।

निजीकरण के तर्क : भारत में स्वतंत्रता के शीघ्र पश्चात् तथा आर्थिक नियोजन के प्रारंभिक चरण में भारी उद्योगों के लिए काफी बड़ी मात्रा में निवेश की आवश्यकता अनुभव की गयी। अतः आधारभूत तथा भारी उद्योगों स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र में की गई। समाजवादी समाज की स्थापना के भी सर्वथा अनुकूल था। निजी क्षेत्र के पास भारी तथा आधारभूत उद्योगों के विकास हेतु विशेषज्ञता का भी नितान्त अभाव था। इसके अतिरिक्त तात्कालीन परिस्थितियों में निजी उद्योगों के पास विशाल वित्तीय साधन तथा धैर्य का भी नितान्त अभाव था। अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार तथा विकास के सम्बन्ध में एक स्वर में यह आवाज बुलन्द थी कि केवल सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार ही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का ऊँचाईयों तक ले जाने में सक्षम है। तब से अब तक भारत में निजी क्षेत्र ने एक लंबी यात्रा पूर्ण कर ली है और अब वह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में काफी बड़ी भूमिका निभाने में सक्षम है। किन्तु विगत कुछ वर्षों में गिरती हुई लाभदायकता, गुणवता में गिरावट, रूग्वता की प्रव त्ति में व द्धि के कारण सार्वजनिक उपक्रमों का जो नवीन स्वरूप उभर कर सामने आया है। उससे इन उद्योगों के भविष्य के सम्बन्ध में संदेह व्यक्त करता है।

जो लोग निजीकरण के पक्ष में तर्क देते हैं, उनका कहना है कि भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के ज्यादातर उद्यम घाटे में है; अकार्यकुशलता, जवाबदेही और स्वायतता की कमी में ग्रस्त है और वे काफी लम्बे समय में बीमार है सार्वजनिक उद्यम, उनमें जो आशा की गई थी उन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके है। इसकी बजाय, वे स्वयं ही समस्या बन गए है। इस सब के परिणामस्वरूप की निजीकरण ही मांग उठी है, यह मांग इस विश्वास पर आधारित है कि शायद निजीकरण सार्वजनिक क्षेत्र को उसकी सब समस्याओं से छुटकारा दिला सकेगा।

निजीकरण के उपाय : विश्व के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था अथवा राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल निजीकरण के विभिन्न उपाय अपनाये जाते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है।

1. **स्वामित्व सम्बन्धी उपाय :** इन उपायों के अन्तर्गत सार्वजनिक उपक्रमों के स्वामित्व का हस्तान्तरण, पूर्णतया या आंशिक रूप में किया जाता हे। जितने अधिक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का स्वामित्व हस्तान्तरण किसी व्यक्ति उद्यम या निगम क्षेत्र को किया जाता है। उतनी ही अधिक मात्रा में निजीकरण होगा। स्वामित्व हस्तांतरण संबंधी उपाय के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं।

(i) **पूर्ण अराष्ट्रीयकरण :** इसके अन्तर्गत किसी सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम का स्वामित्व निजी क्षेत्र का शत प्रतिशत हस्तांतरण हो जाता है।

(ii) **साझा उद्यम :** साझा उपक्रम का आशय सार्वजनिक उपक्रम के स्वामित्व का निजी क्षेत्र को आंशिक रूप से हस्तांतरण हैं यह हस्तांतरण अभिसीमा 25 से 50 प्रतिशत या इससे भी अधिक हो सकती हैं। वस्तुतः इस सीमा का निर्धारण उद्यम के स्वरूप तथा राजकीय नीति पर निर्भर करता है।

(iii) **परिसमायन :** इसका आशय सार्वजनिक उपक्रमों की परिसम्पत्तियों का किसी अन्य को विक्रय करने से है। सम्पत्ति प्राप्त करने वाला जो इन सम्पत्तियों को उसी उद्देश्य के लिए था अन्य किसी उद्देश्य के लिए प्रयोग करने हेतु स्वतंत्र होते हैं। सामान्यतः सम्पत्तियों के प्रयोग निर्यात क्रेता की प्राथमिकता पर निर्भर करता है।

(iv) **प्रबन्ध कार्य :** यह सार्वजनिक उपक्रमों के परिसम्पत्तियों का विशेष रूप है। इसके अन्तर्गत कर्मचारियों की सम्पत्तियों का विक्रय कर दिया जाता है। सम्पत्तियों का क्रय करने के लिए बैंको इत्यादि से उचित ऋण प्रदान किये जाने की व्यवस्था रहती है। कर्मचारी उपक्रम की सम्पत्तियों का क्रय करके उपक्रम का संचालन करते हैं। उपक्रम को चलाने के लिए कर्मचारी सहकारी समिति के लाभांश में हिस्सेदार के हकदार बन जाते हैं।

2. **संगठनात्मक उपाय :** इन उपायों के अन्तर्गत सार्वजनिक उपक्रमों के निजीकरण को प्रोत्साहित करने की द ष्टि से उन पर स्थापित राजकीय नियन्त्रण को शिथिल अथवा सीमित करने के लिये प्रयास किये जाते हैं। इन प्रयासों की क्रियान्वित निम्न रूपों से संभव है।

(i) **नियंत्रक कंपनी :** इसके अन्तर्गत एक ऐसे प्रबन्धकीय ढांचे का विकास किया जाता है। जिसके अन्तर्गत सरकार सार्वजनिक उपक्रमों के प्रबन्ध में अपना नियंत्रण हस्तक्षेप उच्च स्तर के निर्णयों तक सीमित कर देती है। इसके अतिरिक्त नियंत्रण कम्पनी ढांचे में कर रही कंपनियों को बाजार शक्तियों की परिसीमा निर्णय करने में स्वायत्ता रहती है।

पट्टे पर देना : इसके अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम द्वारा उपक्रम प्रबन्ध स्वयं के हाथों में ही सुरक्षित रखते हुए उसका कार्य संचालन किसी निजी बोली लगाने वाले को निश्चित समय के लिए हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इसके अंतर्गत कोई बोली लगाने वाला निश्चित अवधि के लिए उपक्रम का कार्यसंचालक बन जाता है। परन्तु उसे समझौते को अंतिम रूप देने से पूर्व राज्य सरकार को हलफनामा देना पड़ता है कि वह उपक्रम द्वारा जनित लाभ कि तभी मात्रा को हस्तांतरित करेंगे। इसके अतिरिक्त बोलीकर्त्ता को उन उपायों के संबंध से भी राज्य को आश्वस्त करना होगा। सरकार बोली लगाने वाले द्वारा यदि सरकारी प्रत्यक्ष को पूरा नहीं किया जाता अथवा समझौते का उल्लंघन किया जाता

है। तो बोली को समाप्त करके उसे दूसरे बोलीकर्त्ता को देने का अधिकार होगा।

(ii) **पुर्नगठन :** सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को बाजार अनुशासन के अन्तर्गत लाने के लिए यह आवश्यक है। कि इन उपक्रमों को पुनर्गठन किया जाये। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को पुनर्गठन दो प्रकार से किया जाता है।

(अ) **वित्तीय पुर्नगठन :** वित्तीय पुर्नगठन के अंतर्गत उपक्रम की हानि को समाप्त कर दिया जाता है और पूंजी संरचना को ऋण इक्विटी अनुपात के साथ युक्ति संगत बना दिया जाता है।

(ब) **बुनियादी पुर्नगठन :** सार्वजनिक उपक्रमों के बुनियादी पुर्नगठन हेतु उनकी वाणिज्यिक क्रियाओं को पुनः परिभाषित किया जा सकता है। जो भविष्य में इस उद्यम द्वारा सम्पादित की जायेगी। इसके अंतर्गत कुछ इकाइयों का पुर्नगठन किया जाने से छोडा भी जा सकता है।

कार्य संचालन संबंधी उपाय

इन उपायों की क्रियान्वित का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की कुशलता में व द्धि करना यह उसी स्थिति में किया जाना संभव होता है। जब सार्वजनिक उपक्रमों का पूर्व में अराष्ट्रीयकरण कर दिया तो इसके अंतर्गत निर्णय संबंधी स्वायता कर्मचारियों के लिए प्रोत्साहन जिसके अंतर्गत कुशलता उत्पादकता की व द्धि हो। कुछ इनपूट का उपक्रम में निर्माण करने की बजाय उन्हें बाजार में क्रय करना या ठेका प्रणाली द्वारा प्राप्त करना लाभ कर हो उचित निवेट कसौटियों को विकसित करना यह सभी उपाय सार्वजनिक उपक्रम सरकारी नियन्त्रण कम करने के उद्देश्य से अपनाये जाते हैं।

निजीकरण के उपयुक्त वर्णित उपाय का प्रमुख उद्देश्य यह है। कि निजीकरण का अर्थ केवल मात्र स्वामित्व हस्तांतरण है। तो इस बात पर बल देना आवश्यक है कि सार्वजनिक का प्रबन्धकीय नियंत्रण निजी स्वामित्व सौंप दिया जाये चाहे ऐसा व्यक्ति के रूप में हो अथवा सहकारी समिति के रूप में दो निजीकरण सांकेतिक रूप में भी हो सकता है। जिसके अंतर्गत विनिवेश की प्रक्रिया को अपनाया जाता है।

विनिवेश निजीकरण की आवश्यकता : विनिवेश निजीकरण वर्तमान में विश्व धार्मिक परिद श्य एक महत्वपूर्ण घटना है। विश्व के लगभग समस्त राष्ट्रों-विकसित द्वारा विकासशील द्वारा विनिवेश निजीकरण की नीति सहर्ष अपनाने में अपनी आस्था व्यक्त की गई है। विनिवेश निजीकरण की आवश्यकता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

1. निजीकरण के औचित्य के पक्ष में अत्यन्त बुनियादी तर्क में यह प्रस्तुत किया जाता है। निजी स्वामित्व संसाधनों के बेहतर उपयोग तथा उनके अधिक पक्ष आबंटन की दिशा में सदैव अग्रणी रहा। जब यह विस्त त रूप से अनुभव किया जाने लगा कि राज्य आर्थिक व्यवस्था की मांग को पूरा करने में सक्षम नहीं है तथा राज्य की अंशभिगता कम होनी असंभव थी। जब विश्व भर में बाजार अर्थव्यवस्था अधिक मजबूत हुई है। अतः यह अवधारणा की राज्य स्वयं व्यापार करेगा तथा राज्य सरकार द्वारा नागरिकों के आर्थिक जीवन पर सीधा व पूर्ण नियंत्रण बाजार व्यवस्था की तुलना में बेहतर होगा। धीरे-धीरे प्राय लुप्त हो गयी।

2. सार्वभौमिक स्तर पर निजीकरण की नीतियों को अपनाने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण उच्च करों का बोझ उठाने, घाटे। मुद्रास्फीति के वित्त पोषण की अनुपालना करने और मुद्रा बाजार तथा निजी उद्यमशीलता के विकास में विश्व के अनेक राष्ट्रों की सरकारों की असमर्थता रही है।

3. प्रौद्योगिकी तथा विश्व व्यापार संगठन की प्रतिबद्धताओं ने विश्व को एक सार्वभौमिक ग्राम में परिवर्तित कर दिया है। इस परिस्थिति में जब तक सार्वजनिक उद्योगों की तीव्र गति से पुनर्सरचना नहीं कर दी जाती तो उनका जीवित रहना संदिग्ध है। इन उपकरणों के स्वामित्व की प्रकृति के कारण सार्वजनिक उद्यमों की पुनर्सरचना तेज गति से नहीं की जा सकती। इस कारण भी निजीकरण के तर्क को बल मिला है। इसके अतिरिक्त विद्युत तथा दूरसंचार जैसे सार्वजनिक एकाधिकार पर नियन्त्रण रखने के लिए अब ऐसी प्रौद्योगिकियां उपलब्ध है। जहां उपभोक्ताओं के हित विनियमन/प्रतिस्पर्धा द्वारा ही बेहतर संरक्षित हो सकते हैं। अतः यह तर्क अब अधिक युक्तिसंगत नहीं रह गया है कि उपभोक्ता के हितों का संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए सार्वजनिक धन का निवेश आवश्यक है।

4. विनिवेश कार्यक्रम का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की दक्षता में सुधार लाने से लेकर सार्वभौमिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा हेतु भारतीय अर्थव्यवस्था को ओर अधिक गुंजायमान स्वस्थ तथा पर्याप्त रूप से सुसज्जित करने के लिए समाज में आमूलचुल परिवर्तन लाना आवश्यक है।

Objectives of Disinvestment / Privatisation

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निजीकरण के प्राथमिक उद्देश्य इस प्रकार हैं :

1. सरकार के लिए अब यह आवश्यक हो गया है कि वह "गैर सामरिक उद्यमों" के नियन्त्रण, प्रबंधन और उनके संचालन से स्वयं को हटा लें।

2. गैर महत्वपूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में लगी सार्वजनिक संसाधनों की बड़ी धनराशि को उन क्षेत्रों में लगाने के लिये Release करना जो समाज की प्राथमिकता में सर्वोपरि है। जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, प्राथमिक शिक्षा तथा सामाजिक और आवश्यक आधारभूत संरचना।

3. अव्यहार्य और गैर महत्वपूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को मात्र बनाये रखने हेतु दुर्लभ सार्वजनिक संसाधनों के उत्तरोत्तर बाह्य प्रवाह (Further out flow) को रोकना सार्वजनिक ऋण के बोझ को कम करना जिसके एक बड़े भाग का प्रबन्ध सरकार द्वारा अब नहीं हो पा रहा है।

4. वाणिज्यक जोखिम जिस सार्वजनिक क्षेत्र में करदाताओं का धन लगा हुआ है, को ऐसे निजी क्षेत्र में हस्तांतरित करना जिसके सम्बन्ध में निजीक्षेत्र आगे आने के लिए उत्सुक और योग्य हैं।

वस्तुतः सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में लगा धन जनसाधारण का पैसा है और सम्पूर्ण रूप से परिहार्य तथा अनावश्यक जोखिम में लगा हुआ है।

Benefits of Privatisation

निजीकरण से प्राप्त होने वाले सम्भावित लाभों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जाता सकता है।

1. विनिवेश, निजीकृत कम्पनियों को बाजार अनुशासन से अवगत कराएगा। जिसके परिणामस्वरूप वे और अधिक दक्ष बनने के लिए बाध्य होंगे और वे अपने ही वित्तीय और आर्थिक बल पर जी सकेंगे। वे बाजार ताकतों का और तेजी से मुकाबला कर सकेंगे और अपनी वाणिज्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति और अधिक व्यावसायिक तरीके से कर सकेंगे। विनिवेश से सरकारी क्षेत्र के उद्यमों की सरकारी नियंत्रण से भी छुटकारा मिलेगा और इससे निजीकृत कंपनियों के निगमित शासन की शुरूआत होगी।

2. विनिवेश के परिणामस्वरूप, निजीकृत कम्पनियों के शेयरों की पेशकश छोटे निवेशकों और कर्मचारियों को करने के माध्यम से सम्पत्ति का व्यापक संभव हो पाएगा।

3. विनिवेश का पूंजी बाजार पर लाभकारी प्रभाव होगा; चलायमान स्टॉक में व द्धि से बाजार में और पकड़ अधिक और मजबूत होगी। निवेशकों को बाहर निकलने के सरल विकल्प मिलेंगे, मूल्यांकन और कीमत निर्धारण के लिए अधिक विशुद्ध नियम स्थापित करने में सहायता मिलेगी और निजीकृत कम्पनियों द्वारा अपनी परियोजनाओं अथवा उनके विस्तार के लिए निधियां जुटाने में सहायता मिलेगी।

4. पूर्व के सार्वजनिक क्षेत्रों का उपर्युक्त निजी निवेशकों के लिए खोल देने से आर्थिक गतिविधि में व द्धि होगी और मध्यम से दीर्घावधि तक अर्थव्यवस्था, रोजगार और कर-राजस्व पर कुल मिलाकर लाभकारी प्रभाव पड़ेगा।

5. दूर संचार और पेट्रोलियम जैसे अनेक क्षेत्रों में, सार्वजनिक क्षेत्र का एकाधिकार समाप्त हो जाने से, अधिक विकल्पों और सस्ते तथा बेहतर गुणवत्ता वाले उत्पादों और सेवाओं के द्वारा उपभोक्ताओं को राहत मिलेगी जिससे जैसा कि पहले से ही होना आरम्भ हो गया है।

Steps in Indian Economy towards Privatisation

भारत में अब इस विषय पर आम राय बनती जा रही है कि सरकार द्वारा वाणिज्यिक उपकरणों का संचालन किया जाना किसी भी द ष्टि से न्यायसंगत नहीं है। दुर्लभ वित्तीय कोषों का अभाव, अकुशल तथा हानि वहन करने वाले लोक

उद्योगों का संचालन, लोक उद्योगों के कर्मचारियों में उत्तरदायित्व तथा जवाबदेयता के सम्बन्ध में शिथिल प्रव ति आदि कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं जो भारतीय अर्थव्यवस्था में निजीकरण के पक्षधर हैं। विगत वर्षों में भारत सरकार द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था से निजी अर्थव्यवस्था की तरह बढ़ने हेतु अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किये गये हैं। इस दिशा में किये गये प्रयास निम्न है :-

1. **Dereservation of Industries for Public Sector :-** औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 में सम्पूर्ण औद्योगिक इकाईयों को तीन प्रमुख भागों में बांटा गया तथा 17 उद्योगों को लोक क्षेत्र में विकसित किये जाने हेतु निर्णय किया गया। अब इस संख्या में कटौती करके केवल चार उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र के सुरक्षित रखा गया है। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में विनियोग करने के लिए निजी पूंजी को निमन्त्रित तथा आकर्षित किया गया है।

2. **Limited Area of Public Enterprise :-** निजीकरण की नीति के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी है कि सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व केवल सुरक्षा तथा सामयिक महत्व के उद्योगों जैसे :-

(अ) आधारभूत वस्तुओं तथा सेवाएं प्रदान करने वाले उद्योग,

(ब) खनन संसाधनों के विदोहन के सार्थक प्रयास,

(स) तकनीकी विकास

(द) निजी क्षेत्र द्वारा उपेक्षित क्षेत्रों तथा सुरक्षा एवं युद्ध नीतिक उद्योगों के संचालन तक सीमित रखा जाएगा।

3. Disinvestment of Equity in Public Sector :- यह निर्णय किया गया है कि लोक उपक्रमों में सार्वजनिक स्वामित्व पूंजी की मात्रा को घटाकर 26 प्रतिशत कर दिया जाएगा। विनिवेश सम्भवतः भारत तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों द्वारा अपनाया गया विनिवेश का सर्वथा प्रचलित स्वरूप है। किन्तु भारत में विगत 10 वर्षों में विनिवेश का जो प्रतिवर्ष लक्ष्य निर्धारित किया गया है, उसमें सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

तालिका में प्रस्तुत आंकड़े उपर्युक्त वर्णित विचारधारा का पर्याप्त समर्थन करते हैं।

तालिका

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में वर्षवार विनिवेश

वर्ष	कम्पनियों की संख्या जिन में इक्विटी बेची गई है	वास्तविक प्राप्तियां (करोड़ रुपये)	वर्ष के लिए लक्ष्य प्राप्ति (करोड़ रुपये)
1991-92	47	3038	2500
1992-93	35	1913	2500
1993-94	- -	Nil	3500
1994-95	13	4843	4000
1995-96	5	362	7000
1996-97	1	380	5000
1997-98	1	902	4800
1998-99	5	5371	5000
1999-00	2	1829	10,000
2000-01	4	1870.53	10,000
2001-02	9	5785	12,000
कुल	47	26293.53	66,000

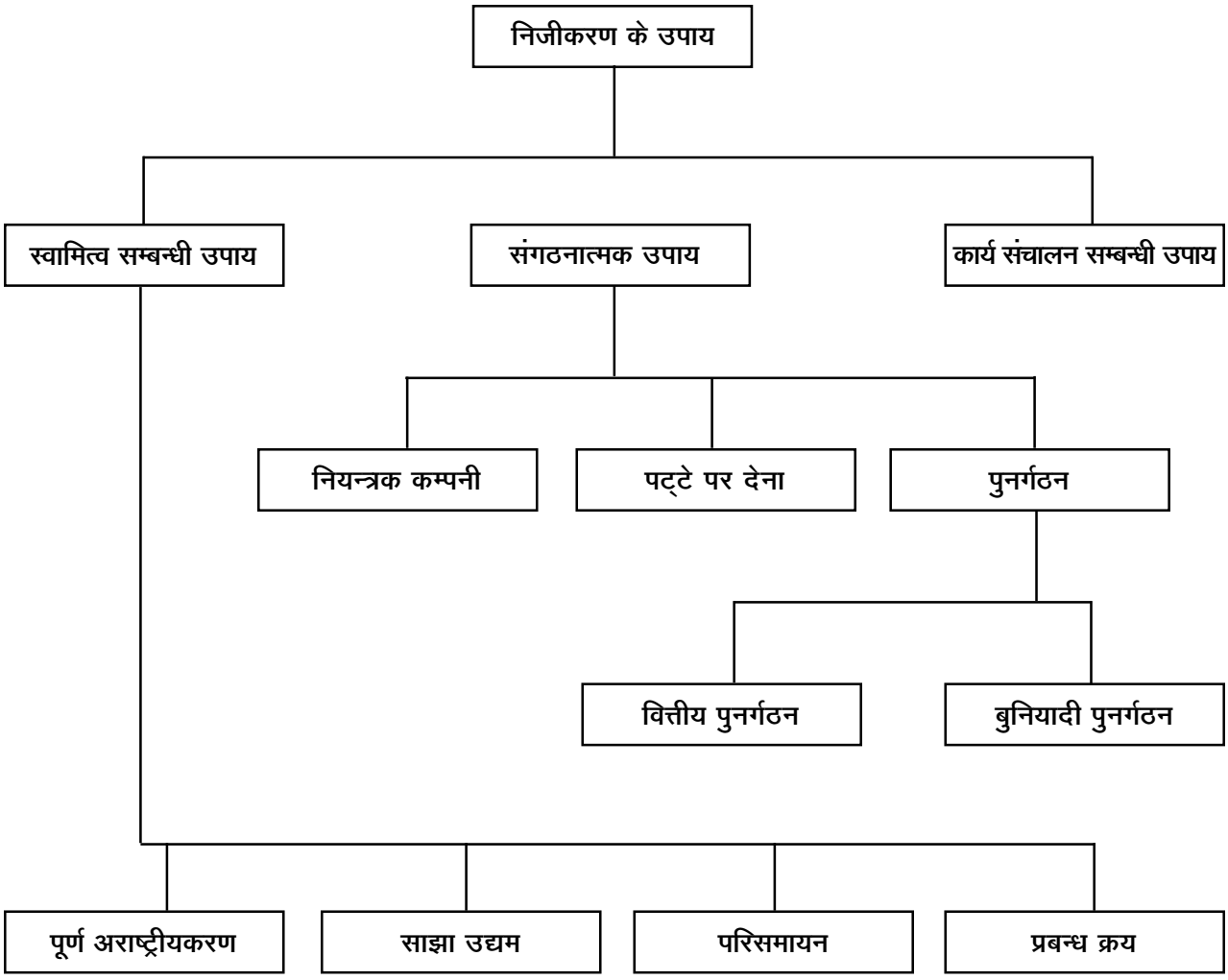

स्त्रोत :-

1) Annual Report 2000-2001
Ministry of Heavy Industries and Public Enterprises Government of India.
2) Public Enterprises Survey, Department of Public Enterprises Government of India Volume-I

जिन लोक उद्योगों में सुधार के सभी प्रयास असफल हो गये हो तथा जिनके पुनजीर्वित होने की संभावना नहीं है उन्हें बंद कर दिया जायेगा। अभी हाल ही में मारूति उद्योग लिमिटेड, आई.पी.सी.एल., आई.टी.डी.सी., बी.एस.एन.एल., आदि लोक उपक्रमों निजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत लाया गया है। अन्य अनेक महत्वपूर्ण तथा बड़े आकार के लोक उपक्रमों जैसे एयर इंडिया इण्डियन एयरलाईन्स, एस.सी.आई., एच.सी.एल., आदि में विनिवेश की योजनाओं को क्रियान्वित करना शेष है।

4. **निजी क्षेत्र के सहभागिता (Participation of Private Sector) :-** भारतीय अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में निजी क्षेत्र को आमन्त्रित किया गया है। विद्युत तथा ईधन, परिवहन, संचार तथा सुरक्षा आदि महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जिनमें निजी क्षेत्र को महत्वपूर्ण भूमिका निभाने हेतु आमन्त्रित किया गया है।

5. **औद्योगिक लाइसेंसिंग का परित्याग (Abolition of Industrial Licensing) :-** नवीन नीति इस बात की पक्षधर हैं कि विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण जैसे औद्योगिक लाइसेंसिंग, कदम-कदम पर सरकार से अनुमति प्राप्त करने का बंधन तथा इंस्पेक्टर राज की समाप्ति की जानी चाहिए। इस तथ्य को महत्व प्रदान कर केवल कुछ अपवादों को छोड़कर,

अनिवार्य औद्योगिक लाइसेंसिंग को लगभग समाप्त कर दिया गया है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों को अपने उत्पादन क्षमता के विस्तार तथा मांग अनुसूची के अनुसार समायोजित करने की सुविधा प्रदान की जाती है।

6. **बड़े औद्योगिक घरानों पर से विनियोग नियन्त्रण की समाप्ति (Removal of Investment Control on Big Business Houses) :-** एकाधिकार व्यवहार तथा प्रतिबंधात्मक गतिविधि अधिनियम में उल्लेखित तथा अनेक बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों पर लागू लगभग सभी विनियोग नियन्त्रण समाप्त कर दिये गये हैं। अब कोई भी उपक्रम व्यावसायिक प्रतिष्ठान अर्थव्यवस्था के किसी भी क्षेत्र में अपनी गतिविधियां प्रारम्भ करने हेतु स्वतंत्र है।

7. **बीमार उद्योगों से सम्बन्धित नीति :-** यह निर्णय किया गया है कि बीमार औद्योगिक इकाइयों के आवश्यक कार्यवाही हेतु औद्योगिक तथा वित्तीय पुनः उद्धार बोर्ड को सुपुर्द किया जाएगा। ऐसी इकाइयां जिनके सुधार की सम्भावना समाप्त हो चुकी है उन्हें बंद कर दिया जाएगा।

8. **लोक उपक्रमों के प्रबंध में सुधार :-** लोक उपक्रमों को व्यावसायिक आधार पर संचालित कर उनकी कार्यकुशलता तथा उत्पादकता में व द्धि की जायेगी। इन उपक्रमों में कर्मचारियों को श्रेष्ठ परिणामों की उपलब्धि हेतु प्रोत्साहित किया जाएगा तथा कार्य संचालन में स्वायत्ता प्रदान की जाएगी।

निजीकरण की कठिनाइयां

सार्वजनिक उपक्रमों के अनेक लाभ हैं इस तथ्य से आज भी इंकार नहीं किया जा सकता कि सार्वजनिक क्षेत्र के निजी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक आर्थिक, सामाजिक लाभ हैं भारत जैसे प्रजातान्त्रिक समाज में निजीकरण के कई खतरे अथवा कठिनाइयां हैं। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं।

1. **श्रमिक विरोध :-** निजीकरण की प्रक्रिया की सबसे बड़ी कठिनाई यूनियन के माध्यम से श्रमिकों की ओर से होने वाले विरोध हैं वे बड़े पैमाने पर छटंनी तथा पोजीशन खो जाना और काम के वातावरण में परिवर्तन जैसी बातों से आतंकित हैं।

2. **परिसम्पत्तियों का मूल्यांकन :-** सरकार द्वारा विशुद्ध परिसम्पत्तियों के किताबी मूल्य के आधार पर निर्णय लेकर कपटपूर्ण व्यवहार करने का भी खतरा है।

3. **निगमीकरण को प्रोत्साहन :-** यह सम्भव है कि निजीकरण द्वारा बड़े उद्योगों को लाभ पहुंचाने के लिए निगमीकरण को प्रोत्साहित किया जाए।

4. **प्रतियोगिता का अभाव :-** निजीकरण प्रतियोगिता के बिना सार्वजनिक क्षेत्र के स्थान पर निजी क्षेत्र में अकार्यकुशल एकाधिकारी कंपनियों के रूप में ही परिवर्तित होकर रह जाएगा।

निजीकरण कार्यकुशलता औद्योगिक क्षेत्र की समस्याओं का एक मात्र उपाय नहीं है। उसके लिए तो समुचित आर्थिक वातावरण और कार्य संस्कृति में आमूल चूक परिवर्तन होना भी आवश्यक है। भारत में निजीकरण को अर्थव्यवस्था की आज की समस्त समस्याओं को रामबाण औषधि नहीं माना जा सकता। इसे तो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के एक सर्वोत्तम संभव माध्यम के रूप में ही देखना होगा।

अध्याय 25

अवमूल्यन (Devaluation)

Devaluation is not like an earthquake, which takes a country unaware. It is like the wages of sin accumulated over a long span of life. — S.K. Muranjan

अब तक हम देख चुके हैं कि व्यावहारिक जीवन में किसी देश में न तो विनिमय-बाजार पूर्णतया स्वतंत्र होता है और न ही विनिमय दरों को अनियन्त्रित छोड़ दिया जाता है। प्रायः किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय-दर उसकी "स्वाभाविक विनिमय-दर" नहीं कही जा सकती है। वास्तविक विनिमय-दर देश की अपनी तथा उसके साथ आर्थिक सम्बन्ध रखने वाले अन्य देशों की आर्थिक, वित्तीय तथा मौद्रिक नीतियों पर निर्भर करती है। प्रत्येक देश अपनी मुद्रा के लिए एक उपर्युक्त विनिमय दर निर्धारित करता है और उसे निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत प्रायः स्थिर बनाए रखने के प्रयत्न करता है। सरकार द्वारा निर्धारित की गई विनिमय-दर स्वतंत्र बाजार की स्वाभाविक दर अथवा सामान्य दर से ऊंची भी हो सकती है और नीची भी। नीची विनिमय-दर अवमूल्यन का परिणाम होती है और ऊंची विनिमय दर अधिमूल्यन का परिणाम होती है।

अवमूल्यन (Devaluation) - अवमूल्यन से अभिप्राय देश की मुद्रा का बाह्य-मूल्य (अर्थात् विदेशी मुद्राओं में मूल्य) एक विचारयुक्त नीति के अन्तर्गत जान-बूझकर कम कर देने से होता है। इसके परिणामस्वरूप देश की मुद्रा की क्रय शक्ति विदेशी मुद्राओं के रूप में कम हो जाती है।

पॉल ऐनजिग के अनुसार - "मुद्राओं की अधिकृत समताओं में कमी करना अवमूल्यन है।"

Acc to Paul Einzig - "Devaluation means lowering of the official parties."

Acc to Internal Monetary fund, Annual Report, 1951, P.38 — "There is no such thing as a 'natural' level for the rate of exchange of a currency. The proper rate will, in each case, depend upon the economic financial and monetary policies followed by the country concerned and by other countries with whom it has important economic relationships."

सरल शब्दों में जब कोई देश अपनी मुद्रा के बदले दूसरे देशों की मुद्राएं पहले से कम लेने के लिए तैयार हो जाता है। तो उसको मुद्रा का अवमूल्यन कहते हैं।

अवमूल्यन के कारण

अवमूल्यन देश की अर्थव्यवस्था में आधारभूत असंतुलन का द्योतक है। किसी भी देश में अवमूल्यन, भूकम्प की भांति, अचानक सामने नहीं आता, बल्कि देश की अर्थव्यवस्था में पिछले कई वर्षों से उत्पन्न हो रही समस्याओं का परिणाम होता है।

साधारणतया अवमूल्यन इन दशाओं में किया जाता है।

1. जब किसी देश की मुद्रा के आंतरिक मूल्य व बाह्य मूल्य में अंतर होता है अथवा देश की बाह्य मुद्रा का मूल्य अधिक होता है। तो व्यापार संतुलन देश के विपरीत होने लगता है। मुद्रा का अवमूल्यन करके इस स्थिति को सुधारा जा सकता है।

2. मुद्रा के बाह्य अथवा आन्तरिक मूल्य में कोई अन्तर न होने पर भी कोई देश अपने निर्यात बढ़ाने तथा आयात कम करने के उद्देश्य अवमूल्यन कर सकता है।

3. मुद्रा-संकुचन की स्थिति में जब देश में मांग की कमी के कारण कीमतें गिरने लगती हैं तो अवमूल्यन के द्वारा देश के माल की विदेशों में मांग बढ़ायी जा सकती है और देश में कीमत स्तर ऊंचा उठाया जा सकता है।

4. कुरीहारा के शब्दों में - "जब कोई देश मुद्रा-संकुचन नहीं करना चाहता और स्थिर विनिमय-दरों के लाभ से भी वंचित नहीं होना चाहता तो वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर सकता है।"

Acc to K.K. Kurihara : Monetary Theory and public policy, P. 307. " A country which wishes neither to deflate nor to forego the advantages of stable exchange rates may elect to devalue its currency."

5. जब कोई दूसरा देश अपनी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का मूल्य गिरा देता है अथवा राशिपातन (Dumping) की नीति अपनाता हैं तो उसके हानिकारक प्रभाव से बचने के लिए अवमूल्यन करने के लिए आवश्यक हो जाता है।

6. जब दो देशों के बीच घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं तो एक देश द्वारा अवमूल्यन करने पर दूसरा देश भी ऐसा करने के लिए बाध्य हो जाता है।

7. विदेशी ऋण प्राप्त करने के उद्देश्य से भी अवमूल्यन का सहारा लिया जा सकता हैं। मुद्रा अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य भुगतान संतुलन की दीर्घकालिक प्रतिकूल असाम्यता में सुधार करना होता है। अवमूल्यन करने वाले देश की वस्तुएं विदेशों में सस्ती हो जाती हैं। जिससे निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी ओर आयात महंगे हो जाते हैं और हतोत्साहित होते हैं। निर्यातों में व द्धि और आयातों में कमी संतुलन की मौलिक विषमता को दूर करने में सहायक होती है। अवमूल्यन का उद्देश्य न केवल व्यापार-संतुलन में सुधार करना होता है। अपितु इसके द्वारा विदेशी पूंजी तथा ऋणों को भी आकर्षित करना होता है। अवमूल्यन का उद्देश्य देश में आर्थिक विकास अर्थात् विनियोग व उत्पादन में व द्धि को भी प्रोत्साहित करना होता है।

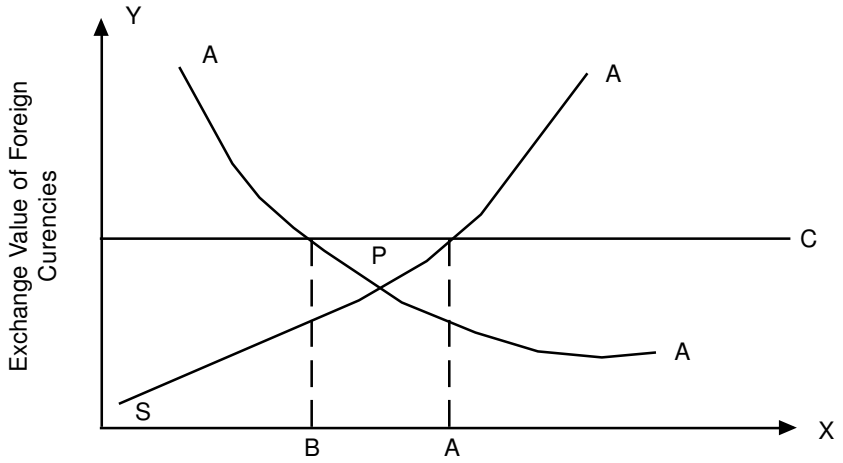

Demand and Supply of Foreign Exchange

रेखाचित्र 1 द्वारा दिखाया गया है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अधिकृत रूप से निर्धारित किया गया विदेशी मुद्राओं का विनिमय मूल्य (CC) संतुलन बिन्दु (P) पर निर्धारित होने वाले मूल्य से ऊंचा होता है। इस विनिमय-दर पर विदेशी मुद्राओं की पूर्ति (OA) उनकी मांग (OB) से अधिक होती है। पूर्ति व मांग का यह अंतर (BA) समाप्त करने के लिए सरकार अपनी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्राओं का क्रय करती है। जिससे विनिमय-कोषों का विस्तार होता है और भुगतान-संतुलन की स्थिति में सुधार होता है। अवमूल्यन कोई ऐसा साधन अथवा नीति नहीं है जिससे कि भुगतान-संतुलन के घाटे को सदा के लिए समाप्त किया जा सके। अवमूल्यन के अनुकूल प्रभाव अस्थायी होते हैं जो कुछ समय पश्चात् समाप्त हो जाते हैं। साधारणतः अवमूल्यन के कुछ समय पश्चात् ही लागत कीमत संरचनाएं (Cost Price Structures) आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही बाजारों में अपने आप को नई विनिमय-समता अवमूल्यन के कुछ समय पश्चात् ही लागत के अनुरूप ढाल लेती हैं।

इस संतुलन और समायोजन में फिर जैसे ही विषमताएं उत्पन्न होने लगती हैं। अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव समाप्त हो जाता है। समान्यतः अवमूल्यन के लाभदायक प्रभाव दो अथवा तीन वर्ष तक ही विद्यमान रह पाते हैं। इस प्रकार अवमूल्यन केवल सांस लेने भर की मोहलत (breathing space) देता है। जिसके भीतर अवमूल्यन करने वाले देश को अपनी आन्तरिक स्थिति में इस प्रकार सुधार कर लेना चाहिए, कि उसका भुगतान संतुलन पुनः प्रतिकूल न होने पाये। यह तभी सम्भव हो पाता है जब अवमूल्यन के पश्चात् आन्तरिक कीमतस्तर में व द्धि न होने दी जाये। मुद्रा की आन्तरिक क्रय शक्ति उसकी बाह्य क्रय

शक्ति की अपेक्षा अधिक गिर जाने पर फिर से असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं। अनेक देशों का यह अनुभव रहा है कि आन्तरिक स्थिरता के अभाव के कारण इन्हें अपनी मुद्रा का बार-बार अवमूल्यन करना पड़ा है। जिसके परिणाम हानिकारक रहे हैं। स्पष्ट है कि अवमूल्यन के द्वारा उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है।

1. लागत-कीमत संरचना पर अवमूल्यन की प्रतिक्रिया अनुकूल होनी चाहिए - यह तो निश्चित है कि यदि आन्तरिक अर्थव्यवस्था को अनियन्त्रित छोड़ दिया जाए तो अवमूल्यन के पश्चात् कीमतें तथा लागतें बढ़ाने की सम्भावना होगी। इसके अनेक कारण हैं जैसे आयातों में कमी तथा निर्यातों में व द्धि के कारण आन्तरिक बाजार में वस्तुओं की पूर्ति में कमी, निर्यात-उद्योगों के विस्तार के कारण रोजगार, आय तथा क्रय शक्ति में व द्धि, उत्पादन के लिए आयात की गयी मदों की कीमतों तथा उत्पादन लागत में व द्धि इत्यादि। अब यदि अवमूल्यन के उपरान्त कीमतों में व द्धि होती है तो देश के निर्यातों में व द्धि होने की सम्भावना कम हो जाती है। आयातों की मांग में भी वांछित मात्रा में कमी नहीं हो पाती और भुगतान संतुलन में घाटे की समस्या अवमूल्यन के पश्चात् भी बनी रहती है। अवमूल्यन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अवमूल्यन करने वाले देश में कीमतों व लागतों में विशेषतया निर्यात उद्योगों की लागत कीमत संरचना में व द्धि नहीं होनी चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार द्वारा कीमतों को नियंत्रित करने के प्रत्यक्ष व परोक्ष उपाय अपनाना तथा सट्टेबाजी की क्रियाओं को नियंत्रित करना आवश्यक होगा।

2. देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए : देश में निर्यात पदार्थों के उत्पादन बढ़ाने की पर्याप्त क्षमता होना आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि इन वस्तुओं की मांग विदेशी बाजारों में की जाए। जो देश अवमूल्यन का उपयोग निर्यात बढ़ाने की बजाय विदेशी ऋण प्राप्त करने के उद्देश्य से करते हैं। उनके लिए दायित्वों का भुगतान करना एक कठिन समस्या बन जाती है। केवल निर्यात बढ़ाकर ही अधिक मात्रा में विदेशी मुद्रा अर्जित करना और उसकी सहायता से भुगतान-संतुलन के घाटे में कमी करना अधिक उपर्युक्त नीति है। व्यावहारिक रूप में अवमूल्यन की नीति उन देशों के लिए अधिक प्रभावपूर्ण होती है। जिनकी अर्थव्यवस्था में उनके निर्यातों का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु विश्व में व्यापार में उनका भाग महत्वपूर्ण नहीं है। उनका विदेशी व्यापार स्वयं उनके लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी विश्व के लिए महत्वपूर्ण नहीं होता।

3. अवमूल्यन की सफलता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वातावरण होना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं है कि अवमूल्यन के द्वारा कोई भी देश अपने निर्यात बढ़ाने तथा भुगतान-संतुलन की असाम्यता दूर करने के लिए प्रयत्न कर सकता है। परंतु वास्तविकता यह है कि यह एक स्वार्थी नीति है। इससे जो भी लाभ एक राष्ट्र को प्राप्त होता है वह निश्चय ही दूसरे राष्ट्र की, जिसके साथ इसके व्यापारिक सम्बन्ध हो, हानि होती है। सम्भव है कि अपने हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से दूसरे देश भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दें। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय ह्रास (Competitive exchange depreciation) की होड़ सभी देशों के लिए हानिकारक होती है।

हॉम के अनुसार : "यह एक खतरनाक नीति है, क्योंकि इसका उद्देश्य अपने पड़ोसी को गरीब बनाना होता है और अंत में इससे किसी को भी लाभ नहीं होता।"

Acc to G.N. Halm : Monetary theory, P.25, : "Competitive exchange depreciation must be classified as a most dangerous beggar-my-neighbour' policy which benefits nobody in the end".

क्राऊथर के शब्दों में, - "अधोमूल्यन एक ऐसा खेल है जिसे कोई भी खेल सकता है, परंतु यदि सब राष्ट्र इसे खेलना प्रारम्भ कर दे और विश्व की मुद्राओं में एक होड़-सी लग जाए कि किसका मूल्य कम से कम रखा जा सकता है तो इसका परिणाम यह होगा कि सभी मुद्राएं मूल्यहीन हो जाएगी।"

Acc to Crowther : An out line of money, P.243, : "Under Valuation is a game that anyone can play; but if everyone plays at it and currencies enter upon a competition to see which can be pushed furthest below its real value, it quickly develops in to a race to render all currencies worthless."

अवमूल्यन का सफल होना तभी सम्भव हो पाता है जब कि अवमूल्यन करने वाले देश से व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले अन्य देश न तो अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करते हैं और न ही प्रतिकार की भावना से प्रतिरोधी उपाय अपनाते हैं।

अवमूल्यन के उपरान्त दूसरे देशों को इस देश के निर्यातों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहिए दूसरे देशों को अपने निर्यातों की कीमतों में भी कमी नहीं करनी चाहिए। यदि विदेशी मुद्रा में आयात कीमतों की तुलना में निर्यात कीमतों में अधिक गिरावट हो तो व्यापार-संतुलन अवमूल्यन करने वाले देश के प्रतिकूल होने की सम्भावना होगी। स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव में अवमूल्यन की नीति सफल नहीं हो पाएगी।

4. आयातों और नियातों के लिए मांग लोचदार होनी चाहिए। अवमूल्यन का लाभ केवल उस देश को मिल सकता है जिसके द्वारा निर्यात किए गए माल की विदेशी मांग लोचपूर्ण हो और स्वयं उसके आयातों की मांग भी लोचपूर्ण हो। यदि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यात विनिमय-दर में की गई कमी से कम अनुपात में बढ़ते हैं तो अवमूल्यन का प्रभाव ऋणात्मक कहलाता है। इसके विपरीत, यदि निर्यात विनिमय-दर में की गयी कमी से अधिक अनुपात में बढ़ते हैं तो अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक होता है।

आयातों व निर्यातों की मांग की लोच के अतिरिक्त अवमूल्यन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि आयातों व निर्यातें की पूर्ति लोचपूर्ण हो। निर्यातों की मांग में व द्धि होने पर यदि निर्यात वस्तुओं की पूर्ति में व द्धि नहीं होती तो अवमूल्यन की सफलता सन्देहजनक होती है।

निर्यातों की पूर्ति पूर्णतया लोचपूर्ण होने की स्थिति में यदि कोई देश अवमूल्यन के द्वारा अपने भुगतान संतुलन की असाम्यता में सुधार करना चाहता है तो आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोच के अंकीय मूल्यों को योग इकाई से अधिक ($In_Z + n_m I > I$) होना चाहिए। यदि आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोच के अंकीय मूल्यों का योग इकाई के बराबर है तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भुगतान संतुलन की स्थिति में कोई सुधार नहीं होगा। आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोच का योग इकाई से कम होने की स्थिति में अवमूल्यन द्वारा देश के भुगतान-संतुलन की स्थिति में सुधार होने की बजाय असाम्यता और अधिक बढ़ जाएगी।

∂ अवमूल्यन के प्रभावों से सम्बन्धित यह धारणा, कि भुगतान संतुलन में सुधार के लिए आयातों व निर्यातों की मांग की लोच इकाई से अधिक होनी चाहिए। इस मान्यता पर आधारित है कि आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति की लोच अनन्त है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में पूर्ति की लोच अनन्त नहीं होती। विश्व के व्यापार में बहुत सारी वस्तुएं तो इस प्रकार की होती हैं कि अल्पावधि में उनकी पूर्ति की लोच बहुत कम अथवा शून्य होती है। कृषि पदार्थों तथा खनिज पदार्थो आदि पर यही बात लागू होती हैं। परंतु चूंकि इनकी बिक्री पर प्रायः एकाधिकारियों का नियंत्रण होता है इसलिए इनकी पूर्ति की लोच भी कम हो जाती है। निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति की लोच कम होने पर अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक होता है। भले ही आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोच इकाई से कम क्यों न हो। इस प्रकार आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति लोच कम होने पर अवमूल्यन करने से देश के भुगतान-संतुलन में सुधार होता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के भुगतान-संतुलन में होने वाले परिवर्तन को निम्नलिखित समीकरण द्वारा जाना जा सकता है। $\frac{\partial B}{\partial \pi} = K\left[\frac{n_m n_z(1+\varepsilon_m\varepsilon_x)+\varepsilon_m\varepsilon_x(\varepsilon_n+n_z-1)}{(n_m+\varepsilon_n)(n_z+\varepsilon_x)}\right]$

$\partial\pi$ तथा β क्रमशः देश की मुद्रा इकाई के विदेशी विनिमय-दर में परिवर्तन तथा इसके फलस्वरूप देश के भुगतान संतुलन होने वाले परिवर्तन के द्योतक हैं। K मुद्रा अवमूल्यन को सूचित करता है। n_X तथा n_m क्रमशः निर्यातों व आयातों की मांग लोच के चिन्ह हैं। E_Z तथा E_m क्रमशः निर्यातों तथा आयातों की मांग की लोच के चिन्ह हैं E_Z तथा E_N निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति को लोच को व्यक्त करते हैं।

अवमूल्यन की सफलता से सम्बन्धित सीमाओं एवं शर्तों की उपरोक्त विवेचना यह स्पष्ट करती है। कि अवमूल्यन से वांछित परिणामों की प्राप्ति कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सम्भव हो पाती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि अवमूल्यन के अस्त्र का प्रयोग सोच-समझकर और काफी सतर्कतापूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए। अवमूल्यन की नीति अपनाते समय इसके सम्भावित दुष्परिणामों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। **अवमूल्यन के दोष** विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

1. अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विकासशील देशों का भुगतान-संतुलन और भी अधिक प्रतिकूल हो जाने की सम्भावना रहती है। अपने विकास सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने के लिए आयातों पर निर्भर रहना ही पड़ता है। अवमूल्यन करने से आयातों में कमी नहीं होती। निर्यातों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है। कि इन देशों के माल (कृषि पदार्थ, कच्चे माल तथा खनिज पदार्थ आदि) की मांग विदेशों में बेलोच होती है। यह बात सामूहिक रूप से इन देशों के लिए ठीक

हो सकती है। परंतु व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक देश अपने निर्यात बढ़ाने के प्रयास करता है और इसके लिए विनिमय-दर में कमी कर देता है अवमूल्यन के बाद निर्यातों का मूल्य गिर जाता है। निर्यात-पदार्थों के उत्पादन में विशेष व द्धि नहीं हो पाती है। अवमूल्यन की सहायता से भुगतान संतुलन में घाटा कम करना लगभग असम्भव सा हो जाता है। विकासशील देशों पर अवमूल्यन का एक दुष्परिणाम यह पड़ता है। कि विदेशी ऋणों का भार बढ़ जाता है। क्योंकि विकसित देशों से लिए गए ऋणों का मूल्य प्रायः ऋणदाता देशों को ही मुद्राओं में व्यक्त किया जाता है।

2. अवमूल्यन देश के आन्तरिक कीमत स्तर में व द्धि करता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप आयातों की कीमतें देश की मुद्रा के रूप में बढ़ जाती है। देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों पर इस प्रकार का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव तो नहीं पड़ता, परंतु अवमूल्यन के पश्चात् इन वस्तुओं की कीमतें भी प्रायः पहले से अधिक हो जाती हैं। आयातित माल की कीमतें बढ़ने से उत्पादन-लागत में व द्धि होती है। विदेशो में निर्यातों की मांग घट जाने पर देश में इन पदार्थों की पूर्ति कम हो जाती है। आयातों में कमी तथा निर्यातों में व द्धि अवमूल्यन करने वाले देश में स्फीतिकारी प्रव त्ति उत्पन्न करती है।

3. अवमूल्यन राष्ट्रीय आय की मात्रा को भी प्रभावित करता है। अवमूल्यन का राष्ट्रीय आय पर प्रभाव अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी। यदि अवमूल्यन के कारण व्यापार संतुलन अनुकूल हो जाए तो अवमूल्यन करने वाले देश की राष्ट्रीय आय कम हो जाएगी आयात किये गए माल, कच्चे पदार्थों तथा मशीनों आदि की लागत में व द्धि विनियोग को हस्तांतरित कर सकती है। अवमूल्यन से निर्यातों की मांग बढ़ती है। परंतु इससे लाभ तभी होगा जब अवमूल्यन करने वाले देश में निर्यात-पदार्थो का उत्पादन लोचपूर्ण हो। अर्द्ध-विकसित देशों में उत्पादन आसानी से नहीं बढ़ाया जा सकता, इसलिए अवमूल्यन के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में व द्धि होने की सम्भावना नहीं होगी।

4. अवमूल्यन के कारण व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो सकती हैं श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार अवमूल्यन करने वाले देश के लिए व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल होने का मुख्य कारण यह है कि अधिकतर देश कुछ विशेष वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं जिनकी मांग की लोच अपेक्षाकृत कम होती है। इसके विपरीत वे विभिन्न देशों से अनेक प्रकार की वस्तुओं का आयात करते हैं। जिनकी पूर्ति की लोच अपेक्षाकृत अधिक होती है। अर्द्ध-विकसित देशों के लिए तो यह बात पूर्णतया सत्य है।

"..... any one country plays a more dominant role in the world supply of those goods which is export then it plays in the world market for those goods which is imports" Joan Robinson : Beggar my Neighbour Remedies for unemployment.

5. प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यनों की होड़ की स्थिति उत्पन्न होने पर किसी भी देश को लाभ नहीं होता। अस्थिरता के वातावरण में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आकार कम हो जाता है और अनेक प्रकार के प्रतिकूल आर्थिक प्रभाव उत्पन्न होते हैं।

6. संरचनात्मक कुसमंजन के प्रभाव में भुगतान-संतुलन में घाटे की स्थिति का उपचार अवमूल्यन द्वारा नहीं किया जा सकता है। भुगतान-संतुलन में असाम्यता घरेलू तथा विदेशी कीमत-स्तरों में अन्तर होने के कारण अब इसका उपचार अवमूल्यन द्वारा किया जा सकता है। परंतु यदि असाम्यता संरचनात्मक कुसमंजन का परिणाम होती है। तो अवमूल्यन स्थिति में सुधार करने की बजाय इसे और अधिक बिगाड़ देता है।

7. अवमूल्यन अर्थव्यवस्था की दुर्बलता का प्रतीक है। अवमूल्यन की नीति अपनाने पर मुद्रा में स्थिरता के प्रति विश्वास गिर जाता है। पूंजी का विदेशों की ओर प्रवाह बढ़ जाता है और अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती है।

8. अवमूल्यन के उद्देश्य अन्य उपायों के द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि भुगतान-संतुलन की स्थिति में ही सुधार करना है। तो उसके लिए अवमूल्यन ही एकमात्र उपाय नहीं है। प्रशुल्क नीति तथा कोटा प्रणाली के द्वारा आयात-नियन्त्रित किये जा सकते हैं। उचित प्रकार की रियायतें तथा अनुदान देकर निर्यात बढ़ाए जा सकते हैं। विनिमय-नियंत्रण की नीति अपनाई जा सकती है। अल्पकालीन असाम्यता के उपचार क लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी सहायता ली जा सकती है। इन सभी उपायों की तुलना में अवमूल्यन एक घटिया उपाय है। इसके प्रभाव कुछ समय विलम्ब के पश्चात् उत्पन्न होते हैं और थोड़े समय में समाप्त भी हो जाते हैं। निर्यातों की पूर्ति तथा आयातों की मांग बेलोचदार होने पर अवमूल्यन के लाभपूर्ण प्रभाव प्राप्त ही नही कि जा सकते हैं। कुछ परिस्थितियों में यदि अवमूल्यन को

सफलता प्राप्त भी होती है तो इसका स्वरूप चयनात्मक न होकर सामान्य होता है गैर-आवश्यक पदार्थों के साथ-साथ आवश्यक वस्तुओं के आयात भी प्रभावित होते हैं। उपर्युक्त व्याख्या से यह बात स्पष्ट होती है कि अवमूल्यन कोई ऐसा उपाय नहीं है। जिसका उपयोग बिना सोचे-समझे कर लिया जाए। सामान्यतः इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब अन्य उपायों का प्रयोग कर लिया गया हो और उनमें सफलता विनिमय-दर के अनुपयुक्त समायोजन कारण नहीं मिल पाई है। अवमूल्यन के साथ-साथ यह भी आवश्यक होता है कि सरकार द्वारा ऐसे उपाय अपनाये जाये जिनसे अर्थव्यवस्था को अवमूल्यन के सम्भावित दुष्परिणामों से बचाया जा सके और आन्तरिक संतुलन का समायोजन इस प्रकार किया जा सके कि एक अवमूल्यन के दुष्प्रभावों के उपचार के लिए दोबारा अवमूल्यन करने की आवश्यकता न पड़े।

भुगतान संतुलन की समस्या से निपटने के लिए सरकार ने जुलाई, 1991 में रुपये का अवमूल्यन कर दिया और परिवर्तनीय रुपया व्यवस्था अपनाई अवमूल्यन का अर्थ विदेशी मुद्रा या मुद्राओं की तुलना में किसी घरेलू मुद्रा की बाह्य कीमत में जानबूझकर कटौती करना है भारत की घरेलू मुद्रा का नाम रुपया है। विदेशी प्रमुख मुद्राएं हैं अमेरिकन डॉलर, ब्रिटिश पॉड, स्टर्लिंग, जर्मन ड्युश मार्क, जापानी येन, इत्यादि। रुपये की इन विदेशी मुद्रा के साथ विनिमय-दर होती है। उदाहरण के लिए 54 रुपये में एक अमेरिकी डॉलर या 70 रुपये में एक ब्रिटिश पॉड इत्यादि। ये विनिमय दरें समय के साथ-साथ बदलती भी रहती हैं। सरकार विभिन्न मौद्रिक उपायों के माध्यम से इसे नियंत्रित करती है तो इसका प्रभाव व्यापारिक गतिविधियों पर पड़ता है। उदाहरण हेतु यदि 25 रुपये में एक डॉलर आता है और सरकार इसे 20 प्रतिशत तक अवमूल्यन कर देती है तो एक डॉलर 30 रुपये के विनिमय दर पर आ जाएगा। यह कहा जा सकता है कि या तो डॉलर का मूल्य बढ़ गया है अथवा रुपये की कीमत (क्रयशक्ति) में कमी आ गई है। सामान्यतः दूसरी स्थिति को ही अवमूल्यन बोला जाता है। क्योंकि रुपया ही घरेलू मुद्रा है।

अवमूल्यन की सीमा Estent of Devaluation निम्नलिखित सारणी में रुपये का अवमूल्यन का % विवेचन है।

Middle Rates in Rupees permit of Currency

Currency	June 28	July3	% change
US$	21.09	25.95	23.07
Pound Sterling	34.06	41.59	21.04
Deutsche Mark	11.72	14.15	20.78
Japanese Yen	0.1527	0.1868	22.33
French Frane	3.47	4.18	20.45

मुख्य प्रभाव : साधारणतयाः अवमूल्यन से निर्यात बढ़ते हैं और आयातों में कमी आती है। कई मामलों में भुगतान संतुलन (BOP) की समस्या से निपटने के लिए, निर्यात आय बढ़ाने हेतु और आयातों पर खर्च कम करने के लिए अवमूल्यन किया जाता है। निर्यातों एवं आयातों में परिवर्तन-रुपये के अवमूल्यन से निर्यात में व द्धि एवं आयात में कमी आती है। विदेशी मुद्रा में अवमूल्यन के पश्चात् विदेशी लोग कम विदेशी मुद्रा से अधिक रुपये प्राप्तकर सकते हैं या वे उन्हीं वस्तुओं को ज्यादा मात्रा में उन्हीं पैसों द्वारा खरीद सकते हैं। दूसरे शब्दों में, निर्यात-सामग्री की विदेशी मांग बढ़ जाती है। निर्यातक भी ज्यादा निर्यात करने को प्रोत्साहित होते हैं। क्योंकि कम विदेशी मुद्रा खर्च करने पर ही उन्हें अधिक रुपये मिल जाते हैं और वे ज्यादा निर्यात-वस्तुएं खरीद लेते हैं। अतः विदेशी खरीददार या आयातक को अवमूल्यन से सम्बन्धित लाभ का हिस्सा मिल जाता है। यदि इस लाभ को वितरित किया जाए तो विदेशी खरीददार एवं निर्यातक दोनों को ही लाभ होता है। साथ ही मांग में व द्धि होने लगती है और आयातकों की मांग में कमी आती है। यह इसीलिए होता है कि रुपये के अवमूल्यन की स्थिति में रुपये के रूप में अधिक मुद्रा खर्च करनी होती है। आयातक को किसी महत्वपूर्ण वस्तु को खरीदने के लिए उसी विदेशी मुद्रा को खरीदने हेतु अधिक रुपया खर्च करना होगा अतः आयात-सामानों की मांग में कमी आती है। इस प्रकार अवमूल्यन करने वाले देश के लिए निर्यात व द्धि से अधिक विदेशी मुद्रा कमाना सम्भव हो जाता है और इसी तरह आयात-सामग्री की मांग में कमी होने से आयात पर खर्च की जाने वाली विदेशी मुद्रा पर कम खर्च होता है।

सफलता की शर्त : ये सभी प्रभाव पड़ते हैं यदि कुछ शर्तों का पालन किया जाए। एक शर्त उदाहरण के लिए यह

है कि निर्यातों की विदेशी मांग में व आयातों के लिए घरेलू मांग की कीमत लोच यह उस सीमा को बताती है। जहां तक विदेशी निर्यात में व द्धि होगी तथा निर्यातों को सस्ता किया जाएगा तथा आयातों के महंगा होने के साथ-साथ आयातों की कमी में आने वाली सीमा से है। यदि कीमत लोच सकारात्मक है। तो अवमूल्यन करने वाले देश को लाभ होगा। दूसरी शर्त यह है कि घरेलू उत्पादन। सप्लाई लोचशील हो इसका अर्थ यह है कि विदेशी मांग के बढ़ने के जवाब में निर्यात-वस्तुओं की सप्लाई में भी व द्धि हो। इससे आयात-प्रतिस्थापन में व द्धि होगी। तीसरी शर्त यह है कि निर्यात-वस्तुओं तथा आयात प्रतिस्थापन की लागत। कीमतों से सम्बन्धित है। इसके लिए पूर्वापेक्षा है कि ये लागतें/कीमतें न बढ़े। यदि लागतें/कीमतें बढ़ती है तो लागत/कीमतें लाभ लागत/कीमत की बढ़ी हुई सीमा तक शुन्यीकृत हो जाएगा।

चौथे, अवमूल्यन के लिए बचत को बढ़ाना जरूरी है। ये बचतें सरकारी खर्च व गैर-योजनागत व्ययों में कटौती करके भी की जा सकती है। पांचवे,उचित मौद्रिक व राजकोषीय नीतियों की जरूरत है।

अवमूल्यन की आवश्यकता हेतु केवल मुद्रा का अवमूल्यन ही पर्याप्त नहीं है। अपितु अवमूल्यन का आकार भी महत्वपूर्ण है। इस अवमूल्यन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं।

1. **त्वरित गति से बढ़ता घाटा :** 1980 के दशक के मध्य से मुद्रा के अवमूल्यन की आवश्यकता अधिक महसूस की जाने लगी। यह स्थिति 1990-91 में और भी खराब हो गई तथा जनवरी 1991 तक तो इसने विकराल रूप धारण कर लिया 9वी योजना (1980-85) में चालू खाते का घाटा कुल घरेलू उत्पाद (GDP) का 1.30% तक था जो कि सातवीं योजना (1985-90) में बढ़कर सकल घरेलू उत्पाद का 2.2% तक पहुंच गया। यद्यपि इन दोनों योजना अवधियों के दौरान निर्यातों एंव आयातों में प्रायः समान दर की व द्धि हुई जिससे समान अनुपात में ऋणात्मक व्यापार घाटा हुआ। 1990-91 में स्थिति इससे कुछ बेहतर नहीं थी। वास्तव में यह और भी खराब हो गई। आयातों में 21.9% की दर से व द्धि हुई। जब कि निर्यात मात्र 17.5% की दर से ही बढ़ा। परिणामस्वरूप व्यापार घाटा 10,644 करोड़ रुपये के स्तर पर पहुंच गया जो कि 1989-90 की तुलना में 1990-91 में 35% अधिक था।

घाटे का वित्तीयन करने के लिए बढ़ती हुई लागतें : अत्यधिक तथा बढ़े हुए घाटे की समस्या विकराल थी, परंतु इससे भी अधिक समस्या थी घाटे के वितीयन की महंगी लागतें, उदाहरण के लिए वाणिज्यिक ऋण (जिनकी परिपक्वाधि कम है) तथा अप्रवासी भारतीयों से प्राप्त कोष (जिनका ब्याज ऊंचा है) सातवीं योजना के दौरान हुए। छठी योजना में कोई वाणिज्यिक ऋण नहीं थे और अप्रवासी भारतीयों पर निर्भरता कम थी। चालू खाते के घाटों को पूरा करने के लिए बाह्य स्त्रोतों से प्राप्त सहायता ने 55% तक का घाटा पूरा किया जिसमें से 17% अप्रवासी भारतीयों द्वारा उपलब्ध कराए गये संसाधन थे 28% घाटा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) द्वारा उपलब्ध कराए गए ऋण थे। सातवीं योजना में घाटा पूरा करने के लिए 15% संसाधन वाणिज्यिक ऋणों के थे तथा 23% अप्रवासी भारतीयों द्वारा पूर्ण किया गया। बाह्य संसाधनों का 29% योगदान था।

बाह्य सहायता की शर्तें कड़ी होना : विदेशी वित्त की बढ़ती हुई लागतों के साथ-साथ सहायता स्वयं भी अत्यंत खर्चीली हो गई। उदाहरण के लिए कुल सहायता 1980-81 के 18.3% से कम होकर 1989-90 में 11.4% रह गई। आगे विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली सहायता राशि भी 80 के दशक में अधिक लागत वाली होने लगी।

विदेशी मुद्रा कोष में कमी : 1987-88 के बाद लगातार चार वर्षों तक विदेशी मुद्रा भंडार का क्षरण होने लगा। इन वर्षों में रिजर्व बैंक के पास क्रमशः 1988-89 में 682 करोड़ 1989-90 में 818 करोड़, 1990-91 में 1399 करोड़ रुपये की परिसम्पतियां कम हो गई। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) पर निर्भरता बढ़ने लगी थी। विदेशी मुद्रा पर भी निर्भर रहकर भुगतान संतुलन की स्थिति को ठीक किया जा सकता है। निर्यात के आयात पर आधिक्य से विदेशी मुद्रा भण्डार की स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

विदेशी मुद्रा संकट : 1990 में विदेशी मुद्रा संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई जो 1991 में भी जारी रही और इसी दौरान जून-जुलाई में रुपये का अवमूल्यन किया गया। खाड़ी युद्ध में यह स्थिति और भी भयावह हो गई। इसके कारण अगस्त 1990 में 5180 करोड़ रुपये का भुगतान असंतुलन जो कि फरवरी 1991 में 2887 मिलियन डॉलर के समकक्ष पहुंच गया इसके निम्नलिखित कई कारण थे।

- ❖ पैट्रोलियम के आयात बिलों में अधिकतर बढ़ोतरी
- ❖ पश्चिम एशिया के निर्यात में धक्का।
- ❖ इराक से निर्यात शेषों की वसूली न होना।
- ❖ इराक व कुवैत से प्रेषणों की कमी।
- ❖ भारतीयों के आपातकालीन निष्कासन की लागतें।

साख-मूल्यांकन में कमी (Decline in Credit rating) : 1990-91 जब भारत की स्थिति विदेशी मुद्रा के मामले में बदतर हुई तो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से ऋण लेने की भारत की क्षमता को कई अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने कम कर दिया। अतः कम साख मूल्यांकन और विदेशी मुद्रा भण्डार की कमी से भुगतान संतुलन की स्थिति और भी गंभीर हो गई। अतः साख गिरने के कारण भारत की बाह्य वाणिज्यिक ऋण उगाहने में कठिनाई की अनुभव होने लगा।

अवमूल्यन का औचित्य : जून-जुलाई 1991 में भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन किया गया। निम्नलिखित कारणों से इसका औचित्य था : -

1. **दिवालिये होने की संभावना** : अवमूल्यन को रोका जा सकता था। यदि पहले ही भुगतान संतुलन पर नियंत्रण रख लिया जाता। विदेशी वाणिज्यिक बैकों ने भी लघु अवधि के ऋण वितरित करने बंद कर दिए। अप्रवासी भारतीयों के खाते भी कम होने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भी अपने ऋण रोक दिए। क्रेडिट रेटिंग ऐजेंसियों ने भी भारत में निवेश को जोखिम भरा करार दे दिया। भारत दिवालिया होने के कगार पर आ गया।

2. **भारत का जवाब** : भारत रुपये का अवमूल्यन करके विश्व समुदाय को यह दर्शाना चाहता था कि इस कार्यवाही से एक महीने में ही यह संकट दूर हो जाएगा। सरकार ने स्वर्ण को गिरवी रखकर भी विदेशी मुद्रा कोष जुटाए। संकट से उबारने के अतिरिक्त, मुद्रा अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य भुगतान संतुलन की स्थिति को सुधारना होता है। निर्यातकों के लिए निर्यात सामान सस्ता हो जाता है।

आयातकों के लिए अवमूल्यन का अर्थ है - हानि सामान्यतः 20% मुद्रा-अवमूल्यन से आयात शुल्क में 20% वद्धि होती है। यह वद्धि पहले से ही लगी हुई आयात-शुल्क के अतिरिक्त होती है। अतः अत्यधिक आयात-शुल्क वद्धि से आयात-वस्तुओं की मांग कम हो जाती है।

पूंजी अंतर्प्रवाह : रुपये के अवमूल्यन से अप्रवासी भारतीयों (NRIs) के अपने निवेश सुरक्षित दिखाई देते हैं। अतः वे प्रेषण बढ़ा देते हैं। फलस्वरूप मुद्रा में वद्धि होती है।

हानिकारक प्रभाव : अवमूल्यन के लाभकारी प्रभावों के अतिरिक्त इसके हानिकारक प्रभाव भी होते हैं। जो निम्नलिखित हैं।

कई बार मुद्रा के अवमूल्यन से विदेशी करेंसी का अस्वास्थ्यकार सट्टा शुरू हो जाता है। विदेशी मुद्रा के डीलर यह सोचते हैं कि मुद्रा अवमूल्यन आगे भी जारी रहेगा। एक और अवमूल्यन होने के पश्चात् कीमत-स्तर में वद्धि की शुरूआत हो जाती है। इसके कारण और अधिक गिरावट आने की आशंका में ये डीलर अधिक से अधिक विदेशी मुद्रा अपने पास रख लेते हैं। निर्यातक भी उनके लिए भुगतायी गई विदेशी मुद्रा की प्राप्ति को विलम्बित कर देते है। इससे विदेशी मुद्रा की आपूर्ति बाधित हो जाती है। ऐसा होने से सट्टे बाजार से लाभ प्राप्त करने के लिए विदेशी मुद्रा की मांग में वद्धि करने के लिए विदेशी मुद्रा की मांग में वद्धि हो जाती है। जो कि अवमूल्यन के विपरीत जाती है।

वस्तुओं की कीमतों में वद्धि उसके आयात और निर्यात कीमतों पर निर्भर करती है। पहले आयात-निर्यात का उदाहरण देखें तो अधिक निर्यात हेतु सामान बनाने के लिए कई उद्योगों में अनुप्रयुक्त क्षमता का प्रयोग किया जाता है। ऐसा करने से निर्यातकों को घरेलू उत्पादन छोड़ने के लिए साधनों पर अधिक लागत खर्च करनी पड़ती है। इस कीमत के बढ़ने के साथ ही निर्यात कीमत भी बढ़ती है।

यदि आयात-सामान मशीनरी या पूंजी सामान है तो मुद्रा अवमूल्यन के कारण रुपये में आयात-सामान की कीमतों में वद्धि होगी। श्रमिकों को इस पर अधिक खर्च करना पड़ेगा तथा इससे आयात-सामग्री के मूल्य में हुई वद्धि को क्षतिपूर्ति करने के लिए ज्यादा बट्टा देना पड़ेगा। जिससे उत्पादन लागत घटेगी और वस्तु की सामान्य कीमत भी।

मुद्रा अवमूल्यन से उन ऋणों का भार अधिक हो जाएगा जिनकी अदायगी रुपये में करनी है। उदाहरण के लिए यदि एक डॉलर की विनिमय दर 25 रुपये है और 20% अवमूल्यन किया जाता है तो 1000 डॉलर का ऋण तो वही रहेगा। परंतु रुपये में चुकाये जाने वाले ऋण का भार बढ़कर 30,000 रुपये हो जाएगा।

दूसरी ओर अधिक विदेशी मुद्रा में ऋण लेने के लिए आज रुपये का अधिक बलिदान देना पड़ेगा। परिणामस्वरूप ऋण का वास्तविक भार बढ़ जाएगा।

मुद्रा के अवमूल्यन के कारण आयात-निर्यात तथा घरेलू क्षेत्र के मध्य आय की असमानताएं बढ़ जाएगी। रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यात वस्तुओं और आयात वस्तुओं की कीमतें रुपये में बढ़ जाएगी। इनके उत्पादकों की वास्तविक अर्थों में अधिक आय की प्राप्ति होगी। यदि इन बढ़ी हुई आय का विवरण इन क्षेत्रों के श्रमिकों में किया जाए तो इससे घरेलू क्षेत्र के श्रमिकों की तुलना में उनकी आय में व द्धि होगी और यदि इस अतिरिक्त आय को उद्यमियों के पास ही रहने दिया जाए तो घरेलू क्षेत्र के उद्यमियों की आय की तुलना में वे अधिक लाभार्जन करेंगे। इससे आय की असमानताओं में व द्धि होती है।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि उपरोक्त कारकों को ध्यान में रखकर ही मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहिए।

रुपये के अवमूल्यन के उद्देश्य :

1. विदेशी विनिमय भण्डार संकट : 1991 - वर्ष 1991 के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था घोर संकट में थी। क्योंकि विदेशी विनिमय भण्डारों में भारी गिरावट हो चुकी थी तथा देश के विदेशी कर्ज निरंतर बढ़ते जा रहे थे। देश के विदेशी मुद्रा भण्डार 1979-80 में 7 बिलियन डॉलर्स से 1989 में 4 बिलियन डॉलर्स तथा 1991 में मात्र 0.75 बिलियन डॉलर्स ही रह गए थे। ऊंची-ऊंची ब्याज दरों पर अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अन्धाधुंध व्यापारी ऋणों के कारण एक ही दशाब्दी में भारत के विदेशी कर्जों में पांच गुनी व द्धि दर्ज की गई। भुगतान-संतुलन के संकट के साथ एक बढ़ता कर्जों का भार, निरन्तर चौड़ा होता जा रहा है। बजट घाटा घोर मुद्रा स्फीति में देश ने अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में व्यापारिक ऋणों को जुटाना काफी कठिन तथा महंगा पाया।

आयातों के लिए विदेशी कर्जों की सर्विसिंग के लिए भुगतान दायित्वों से निपटाने के लिए विदेशी विनिमय के भण्डारों में गिरावट ने तेजी से गिरते निर्यातों को और भी बिगाड़ दिया तथा (NRIs) से पूंजी अन्तःप्रर्वाहों में भारी कमी आई तथा खाड़ी युद्ध के कारण विदेशों में काम कर रहे भारतीयों से प्रेषणों में तेजी से कमी दर्ज की गई।

ऐसी गंभीर स्थिति का सामना करने के लिए 'अवमूल्यन ही एकमात्र उपाय था।' दूसरे विकल्प तुरंत समाधान पैदा नहीं कर सकते थे जैसे रातोंरात निर्यात नहीं बढ़ाये जा सकते थे। आवश्यक मदों जैसे तेल, पैट्रोलियम आदि के आयातों को नहीं रोका जा सकता था। साथ ही निर्यात माल के उत्पादन के लिए कुछ मदों का आयात करना जरूरी था। गोदामों में बंद पड़े माल को इतनी कम अवधि में उपयोग हेतु गतिशील करना संभव नहीं था। देश के बैंकों से NRIs अपना पैसा निकालने लगे थे तथा विदेशी विनिमय लाने के लिए उनके प्रार्थना करना नितान्त असंभव जान पड़ता था। अतः एकमात्र व्यावहारिक हल रह गया था रुपये का अवमूल्यन जिसने निर्यातों को बढ़ाया तथा अनावश्यक मदों आयात में गिरावट पैदा की। अल्पावधि के लिए विदेशी विनिमय पाने के लिए सरकार द्वारा सरकारी सोने का उपयोग इस संकट से उभरने में कुछ राहत दे पाया। अन्य नीतिगत उपाय जैसे नई व्यापार रीति, नई औद्योगिक नीति तथा आर्थिक बजट भी विदेशी पूंजी को आकृष्ट करने तथा अर्थव्यवस्था के भविष्य में लोगों का भरोसा पैदा करने का लक्ष्य लेकर किये गये।

2. भुगतान-संतुलन में सुधार : भुगतान संतुलन में घाटे जो 1951 से ही बने रहे हैं नब्बे के दशक में तेजी से बढ़े। चालू खाते में घाटा, जिसमें व्यापार, मर्चेन्डाईज तथा अद श्य मदों का समावेश होता है। छठी योजना के दौरान GDD का 1.3% था जो तेजी से सातवीं योजना के दौरान 2.2% की औसत वार्षिक दर तक बढ़ा। यह घाटा 1990-91 में 1989-90 की तुलना में लगभग 40% से और गड़बड़ाया।

घाटों की समस्या और अधिक गंभीर बनी भुगतान दायित्वों से निपटने के लिए विदेशी भंडारों के गतिशीलन में देश द्वारा सहन की गई कठिनाइयों के कारण। साथ ही विदेशी मुद्रा कमी की समस्या। rising cost of financing deficits

के द्वारा विशालकाय हो गई। कोष जुटाने की लागतें ब्याज की दरों में व द्धि तथा भुगतान के लए परिपक्वता की छोटा मियाद के कारण अंधाधुध बढ़ी। उदाहरण के लिए बाजार दर पर व्यापारिक ऋण जो अल्पकालिक अवधि के पहले थे। पहले NIL की तुलना में अब सम्पूर्ण ऋण के 25% हो गये। बाजार दर पर NRIs से इकट्ठे किए गये कोष कुल के एक प्रतिशत हो गये जो पहले 17% थे। विदेशी सहायता विदेशी विनिमय के अनुपात के रूप में 55% से 29% तक गिरी। विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) से ऋणों की स्थिति भी काफी बिगड़ चुकी थी।

इस प्रकार पता चलता है कि विदेशी विनिमय आसान शर्तों पर उपलब्ध ही नहीं था। अतः भुगतान के घाटे को पूरा करने के लिए एकमात्र विकल्प था। निर्यातों को बढ़ाना, आयातों को घटाना तथा रुपये के अवमूल्यन के माध्यम से पूंजी का अंतःप्रवाह घटाना। यह आशा की गई कि निर्यात माल के लिए मांग बढ़ेगी क्योंकि विदेशी क्रेताओं को विदेशी मुद्रा के बदले अधिक रुपये चुकाने के कारण कम हो जायेगी। इन कारणों से यही उचित समझा गया कि रुपये का अवमूल्यन किया जाये।

3. **बाहरी क्षेत्र का व्यापक सुधार** : पहले विनिमय दर को मौद्रिक अधिसता द्वारा स्थापित किया जाता है तथा विदेशी विनिमय की आपूर्ति को सरकार द्वारा स्थापित प्राथमिकताओं के अनुसार विभिन्न उपयोगकर्त्ताओं के प्रति आबंटित किया जाता था। लेकिन अब अवमूल्यन की नीति वास्तव में विदेशी मुद्राओं की मांग तथा पूर्ति की बाजार शक्तियों को विनिमय दर तक करने की इजाजत देती है। यह नीति उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के इरादे से घरेलू अर्थव्यवस्था के सुधारों के साथ-साथ बाहरी क्षेत्र के सुधारों का लक्ष्य लेकर चलती है बाजार निर्धारित विनिमय दर Price-route के जरिए विश्व अर्थव्यवस्था के साथ घरेलू का निर्वाह करती है। फलस्वरूप घरेलू मूल्य विश्व मूल्यों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वह देश जो ऐसे माल बनाता है जिनमें वह तुलनात्मक तौर पर अच्छी स्थिति में होता है। फायदे में होता है। बाजार निर्धारित विनिमय दर के अतिरिक्त अन्य नीतियां जैसे नई व्यापार नीति कई में होता है। औद्योगिक नीति नई राजकोषीय नीति आदि विश्व के प्रतिस्पर्धी वातावरण के एक मांग के रूप में देश की सम्पूर्ण नीति को रख पाती है। ताकि उत्पादन तथा व्यापार कार्यदाम बन पाये।

4. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की शर्तें** : उसकी सहायता के लिए आने से पूर्व IMF ने भारत के सामने कुछ शर्तें रखी। ये शर्तें ऋण की मात्रा तथा प्रकृति एवं भुगतान की अवधि के साथ अलग-अलग होती है। ये शर्तें थी।

1. भारतीय रुपये का 22% से अवमूल्यन अर्थात् 21 रुपये प्रति डालर से 27 रुपये प्रति डालर।
2. उपभोग सामानों सहित सभी मालों के लिए उस समय के 130% से 30% तक आयात शुल्क में भारी कटौती करना तथा उनको Open General Licence (OGL) सूची में रखना।
3. चूंकि इसे सरकार के राजस्व पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। अतः उत्पाद शुल्कों को 20% से बढ़ाया जाये।
4. सभी सरकारी व्ययों को 10% से काटा जाए।

हम देखते हैं कि उपरोक्त सभी IMF शर्तों का उद्देश्य था भारत की सहायता के लिए उसके भुगतान-संतुलन में सामंजस्य स्थापित करना तथा आन्तरिक राजकोषीय घाटे को घटाना तथा परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति की दशाओं से निपटना।

अध्याय 26
नई निर्यात-आयात नीति, 1992-1997
(New Export-Import Policy 1992-1997)

यह 31 मार्च 1992 को घोषित की गई और इसकी अवधि आठवीं पंचवर्षीय योजना के अनुरूप 1 अप्रैल 1992 से 31 मार्च 1997 तक के लिए पाँच वर्ष रखी गई, जबकि पहले यह त्रिवर्षीय ही हुआ करती थी।

इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है :-

1. इसमें विदेशी व्यापार को काफी सीमा तक मुक्त या स्वतंत्र कर दिया गया है। इस नीति का मूलभूत लक्षण स्वतंत्रता है। लेकिन आयातों के लिए नकारात्मक सूची (Negative List) रखी गई है और इसी प्रकार निर्यातों के लिए भी एक नकारात्मक सूची रखी गई है।

2. आयातों की नकारात्मक सूची को दो भागों में बाँटा गया हैं :-

भाग I : निषेधात्मक मदें :- इन मदों के आयात की पूर्ण मनाही होती है इसमें तीन मदें हैं : अविनिर्मित हाथीदाँत, पशु रेनेट व चर्बी से बना तेल।

भाग II : प्रतिबन्धात्मक मदें :- ये लाइसेंस से ही आयात की जा सकती हैं अथवा सार्वजनिक सूचना जारी करके आयात की जा सकती है। इसमें 11 उपभोक्ता वस्तुएँ रखी गई हैं-जैसे उपभोक्ता इलेक्ट्रोनिक्स वस्तुएँ, उपभोक्ता दूर संचार उपकरण, घड़ियां, शराब, केसर, खेल का सामान इत्यादि। लेकिन 28 वस्तुओं को उपभोक्ता वस्तुओं की श्रेणी में नहीं लिया गया है; जैसे सभी प्रकार के टिम्बर के लट्ठे, दालें, कच्चे काजू, बादाम, होम्योपैथी की दवाएं, पहाड़ी नमक आदि। प्रतिबन्धात्मक सूची में 70 मदें और है, जिनमें से 5 कीमती, अर्द्ध-कीमती व अन्य हीरे जवाहरात है, 6 सुरक्षा व इससे सम्बद्ध मदें है, 4 बीज, पौधे व पशु से सम्बद्ध है, 2 कीटनाशक पदार्थ है, 9 इलेक्ट्रोनिक्स मदें है, 2 रसायन व सम्बद्ध मदें है, 16 लघु क्षेत्र की मदें है, तथा 26 विविध मदें हैं।

3. सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आयात की सुरक्षित मदें आठ रखी गई है, जैसे-पैट्रोल-पदार्थ, रासायनिक उर्वरक, दवाएँ, तेल-नारियल, मूँगफली, बीज बगैरह।

4. निर्यात की नकारात्मक सूची को भी दो भागों में बांटा गया है-

भाग I **निषेधात्मक सूची**—इनके निर्यात की सख्त मनाही है, इसमें 7 मदें है जैसे वन्य जीवन के सभी रूप, विदेशी पनी, गौ-मांस आदि।

भाग II

(अ) जिनका निर्यात लाइसेन्स से ही सम्भव है-इसमें 51 मदें रखी गई है, जैसे-ऊँट, रॉक, फास्फेट, कच्चा रेशम, वेस्ट पेपर आदि।

(आ) जिनके निर्यातों पर परिमाणात्मक सीमा लगा दी गई है-इसमें 11 मदें है, जैसे मयूर पंखों से बनी दस्तकारियाँ आदि। इस प्रकार भाग II में कुल 62 मदें है।

5. जिन मदों का निर्यात सार्वजनिक एजेन्सियों के मार्फत किया जाएगा उसमें 10 मदें है, जैसे-अभ्रक, वेस्ट, प्याज, शुद्ध दूध का घी, खनिज अयस्क आदि।

6. वे मदें जिनका निर्यात लाइसेन्स के बिना किया जा सकेगा, लेकिन इनके संबंध में कुछ शर्तें पूरी करनी होंगी- इसमें 46 मदें रखी गई है जैसे-बासमती चावल, काली मिर्च, नारियल के रेशे व इससे बनी वस्तुएं, चीनी आदि। इस प्रकार नई निर्यात-आयात नीति में आयात व निर्यात के लिए वस्तुओं को विभिन्न सूचियों में विभाजित किया गया है।

7. नई नीति में अग्रिम लाइसेन्सों के अंतर्गत शुल्क-मुक्त आयातों का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है। इसमें मात्रा-आधारित अग्रिम लाइसेन्सों के अलावा मूल्य-आधारित अग्रिम लाइसेन्सों को भी शामिल किया गया है। इससे निर्यातो को निर्धारित मूल्य-सीमाओं के अन्दर वस्तुओं के आयात व निर्यात की ज्यादा छूट होगी।

8. निर्यात घरानों, ट्रेड़िंग व रूपर ट्रेडिंग घरानों को अग्रिम लाइसेन्स स्कीम के तहत स्व-प्रमाणन की इजाजत दी जायेगी।

9. पूँजीगत वस्तुओं के आयात को उदार बनाया गया है। पहली स्कीम में पूँजीगत माल के आयात पर 25% का रियायती शुल्क लगेगा, जिसके लिए निर्यात का दायित्व आयात के मूल्य का तिगुना होगा (चार वर्ष की अवधि में); दूसरी स्कीम में 15% का रियायती शुल्क लगेगा जिसके लिए निर्यात का दायित्व आयात के मूल्य का चौगुना (पाँच वर्ष की अवधि में) होगा।

10. 100% निर्यातोन्मुख इकाइयों व मुक्त व्यापार तथा निर्यात-प्रोसेसिंग क्षेत्र में स्थित इकाइयों को अधिक सुविधाएँ प्रदान की जायेगी। वे अब स्वयं की मशीनरी के अलावा लीज पर मशीनरी भी लगा सकेंगी। ये इकाइयाँ अब कृषि, फलोत्पादन, पशु-पालन आदि में प्रवेश कर सकेंगी। ये अपना माल निर्यात घरानों व ट्रेडिंग घरानों के मार्फत भी निर्यात कर सकेंगी।

11. नई नीति के अंतर्गत कुछ निर्यातकों को विशेष आयात लाइसेन्स दिये जा सकेंगे जैसे-माने गये निर्यातों (deemed exports), निर्यात घरानों व अन्य घरानों के लिए यह सुविधा होगी।

इस नीति में सामान्यता तिमाही में एक बार संशोधन किया जा सकेगा।

इस प्रकार नई निर्यात-आयात नीति (1992-97) में विदेशी व्यापार को अधिक उदार बनाया गया है। व्यापार में पूर्व प्रतिबंध कम किये गये है। आयातों को अधिक मुक्त किया गया है; और काफी मदों को सार्वजनिक के दायरे से हटाया गया है, ताकि उनका आयात-निर्यात निजी क्षेत्र के द्वारा किया जा सके।

1 **अप्रैल,** 1993 **से निर्यात-आयात नीति में संशोधन**

(Changes in Export—Import Policy Since Ist April, 1993)

सरकार ने 31 मार्च 1993 को निर्यात-आयात नीति (1992-97) में महत्वपूर्ण संशोधनों की घोषणा की। गत 31 मार्च 1992 को अगले 5 वर्षों के लिए घोषित आयात-निर्यात नीति (Exim Policy) को और अधिक उदार बनाते हुए इसमें कृषि क्षेत्रस में निर्यातोन्मुखी इकाइयाँ लगाने पर और छूट देने तथा सेवा क्षेत्रों के लिए एक नई योजना प्रारम्भ करने की घोषणा की गई है। इस नीति में किये गये संशोधन 1 अप्रैल, 1993 से लागू हो गए है, निर्यात-आयात नीति में किए गये महत्वूपर्ण संशोधनों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है-

1. निर्यात क्षेत्र का विस्तार—निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने प्रतिबन्धात्मक सूची में शामिल 334 वस्तुओं में से 144 वस्तुओं को निर्यात योग्य वस्तुओं की सूची में सम्मिलित कर लिया है। अब इनके निर्यात के लिए लाइसेन्स की आवश्यकता नहीं होगी। निर्यात प्रयासों में राज्यों को शामिल करने के लिए एक केंद्रीय योजना बनाने का प्रस्ताव है, जिसमें औद्योगिक क्षेत्र स्थापित करने तथा आधारभूत सुविधाओं को बेहतर बनाने का प्रावधान किया गया है। इसके लिए वाणिज्य मंत्रालय में एक राज्य प्रकोष्ठ (State Cell) की स्थापना की गई है।

2. कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्रों की निर्यातोन्मुख इकाइओं को शुल्क रहित आयात का लाभ—संशोधित आयात-निर्यात नीति के अनुसार अब कृषि, मत्स्य, पशुपालन, मुर्गीपालन, बागवानी, रेशम उद्योग तथा फूलों का व्यापार करने वाली इकाइयों को भी निर्यातोन्मुख इकाई। निर्यात संसाधन क्षेत्र योजना (EOU/EPZ Scheme) के अंतर्गत शुल्क रहित आयात की सुविधा प्राप्त होगी। इन क्षेत्रों की निर्यातोन्मुखी इकाईयों को अपने उत्पादों का 50% तक निर्यात करने पर वही सुविधाएँ तथा रियायतें मिलेंगी, जो अन्य औद्योगिक इकाइयों को शत-प्रतिशत अथवा 75% निर्यात करने पर मिलती है। ऐसी इकाइयाँ अब **अपने शेष 50% उत्पादों को घरेलू बाजार में बेच सकेंगी, जबकि गैर-कृषि के लिए यह सीमा 25% तक ही है।**

3. पूँजीगत माल की परिभाषा का विस्तार—कृषि एवं संबंधित क्षेत्रों को लाभान्वित करने के लिए नई संशोधित नीति के अंतर्गत पूँजीगत सामान की परिभाषा को बदल दिया गया है। इसमें कृषि एवं उससे संबंधित कार्यों में काम आने वाले सामान

को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इसके फलस्वरूप अब कृषि क्षेत्र में कार्यरत इकाइयाँ भी निर्यात सम्वर्द्धन पूँजीगत लाभ योजना (Export Promotion Capital Goods Scheme) का लाभ उठाकर उपकरणों को रियायती दर पर आयात करने की सुविधा का लाभ उठा सकती हैं।

इसके साथ ही कृषि के क्षेत्र में काम आने वाले कुछेक उपकरणों और सामान को अब आयातों की नकारात्मक सूची में से हटा दिया गया है, ताकि कृषि क्षेत्र की इकाइयाँ ऐसे सामान का अपने काम के लिए आसानी से आयात कर सकें। इन वस्तुओं में मछलियों और मुर्गियों का भोजन, खाद्य, मोम, अंगूरों के बचाव के लिए उन पर लपेटा जाने वाला कागज आदि शामिल है। कृषि के क्षेत्र के लिए घोषित इन रियायतों के फलस्वरूप कृषि से सम्बन्धित क्षेत्रों से निर्यात को बढ़ावा मिलेगा।

4. **सेवा क्षेत्र के लिए पूँजीगत सामान निर्यात प्रोत्साहन योजना**—संशोधित निर्यात-आयात नीति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता सेवा क्षेत्र का लाभ उठाने के लिए निर्यात सम्वर्द्धन योजना (Export Promotion Capital Goods Scheme for the Service Sector) का नाम दिया गया है। वास्तव में यह योजना पूर्व में ही लागू निर्यात सम्वर्द्धन पूँजीगत माल योजना का सेवा क्षेत्र के लिए एक विस्तार है।

इस योजना के अंतर्गत सेवाएँ उत्पन्न करने वाले लोग जैसे-वास्तुविद, पत्रकार, इन्जीनियर, डॉक्टर, वकील, वैज्ञानिक, कलाकार, अर्थशास्त्री आदि 15% **की रियायत शुल्क दर पर उपकरणों का आयात कर सकेंगे।** इस योजना का लाभ **होटल, रेस्तरां चलाने वाले तथा ट्रेवल एजेन्ट भी उठा सकेंगे।** उनका निर्यात दायित्व अर्जित विदेशी मुद्रा के रूप में देखा जाएगा, चाहे वह मुद्रा घरेलू सेवाओं से अर्जित की जाए अथवा विदेशों में सेवा से। इस योजना के फलस्वरूप सेवा क्षेत्र की लम्बे समय ये चली आ रही यह माँग भी पूरी हो जाती है कि उन्हें अब विनिर्मित क्षेत्र (Manufacturing Sector) के बराबर का स्तर दिया जाए।

5. **निर्यात सम्वर्द्धन पूँजीगत माल योजना (EPCG) के अंतर्गत केवल एक ही झरोखा जारी रहेगा**—वर्तमान में अन्य क्षेत्रों के लिए लागू इस योजना के अंतर्गत 15% की रियायती आयात शुल्क दर को संशोधित निर्यात-आयात नीति में खुला रखा गया है। ऐसा करने के पीछे यह कारण बताया गया है कि 1993-94 के केन्द्रीय बजट में पूँजीगत सामान पर प्रशुल्क में कमी के कारण इस योजना के अंतर्गत 25% आयात शुल्क से कोई अतिरिक्त लाभ उपलब्ध नहीं रह गया था, किन्तु सरकार ने यह स्पष्ट किया है कि पूँजीगत प्रधान परियोजनाओं के लिए इस योजना में परिवर्तन करके विकल्प की विस्त त रूपरेखा की घोषणा शीघ्र ही की जायेगी।

6. **बैंक गारण्टी में उदारता**—ई० पी० सी० जी० योजना के अंतर्गत एक आयातकर्ता को उपलब्ध कराने वाली बैंक गारण्टी प्राप्त करने की प्रक्रिया को भी सुगम बनाया गया है।

7. **अन्य सुविधाएँ**—जिन निर्यातकों ने रूपये की पूर्ण परिवर्तनीयता (जो 1 मार्च, 1993 से लागू की गई थी) लागू करने से पूर्व निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित कर ली थी, किन्तु 1 मार्च, 1993 से पूर्व उन्होंने अपने शुल्क मुक्त आयात लाइसेन्स का उपयोग नहीं किया था, अतः उन्हें इसकी हानि उठानी पड़ी। अब इस संशोधित नीति के तहत ऐसे निर्यातकों की इस हानि को दूर करने के लिए यह निश्चित किया गया है कि उन्हें अनेक अप्रयुक्त आयात लाइसेन्सों के 8% के बराबर राशि नकद रूप में दी जाएगी।

पुनः उन निर्यातकों के लिए जिन्होंने अपने निर्यात 1 मार्च, 1992 तक पूरे कर दिये थे तथा जिन्होंने 27 फरवरी 1993 तक अपनी एक्जिम स्क्रिप (Exim Scrips) का विनिमय नहीं किया था, उन्हें उन एक्जिम स्क्रिप के समर्पण करने का एक और अवसर दिया जाएगा तथा वे उन पर 20% प्रीमियम प्राप्त कर सकते है। इन सुविधाओं के सम्बन्ध में सरकार भारतीय रिजर्व बैंक से आवश्यक विचार-विमर्श करके विस्त त जानकारी उपलब्ध कराएगी।

1997-2002 के लिए निर्यात-आयात नीति
(Export Import Policy For 1997-2002)

मोर्चा सरकार के वाणिज्य मंत्री बी० बी० रमैया ने 31 मार्च, 1997 को पाँच वर्ष के लिए नयी निर्यात-आयात नीति की घोषणा की। यह नीति 1 अप्रैल 1997 से लागू हो गयी है। इस नीति के माध्यम से सन् 2002 तक 100 अरब डॉलर का निर्यात प्रस्तावित किया गया है। 1996-97 में भारत के निर्यात लगभग 34 अरब डॉलर के थे तथा इससे पूर्व 1992-93 में मात्र 18.5 अरब डॉलर के निर्यात थे।

निर्यात-आयात नीति (1977-2002) में प्रक्रियागत जटिलताओं को कम किया गया है। अभी तक प्रतिबन्धित सूची में शामिल 542 वस्तुओं के आयात को उदार बनाया गया है। **इनमें अधिकांश उपभोक्ता वस्तुएँ है।** प्रतिबन्धित सूची में शामिल कार्नफ्लेक्स, जूस, लाइटर्स, वैक्यूम फ्लास्क, कलैण्डर्स व पोस्टर्स आदि को खुले सामान्य लाइसेन्स के अधीन लाया गया है, जबकि शहद, साबुन, अचार, तौलिए, रबड़ के जूते, वाटर कूलर, गुड़ियाएँ तथा खेल के अनेक सामानों को विशेष आयात लाइसेन्स के अधीन कर दिया गया है।

'पूँजीगत वस्तुओं के निर्यात संवर्द्धन की योजना' के अधीन पूँजीगत वस्तुओं पर आयात शुल्क को 15 प्रतिशत से घटाकर 10% कर दिया गया है। 'शून्य शुल्क योजना' के अधीन कृषि व संबंधित क्षेत्रों के लिए अधिकतम सीमा 20 करोड़ रूपये से घटाकर 5 करोड़ रूपये की गयी है। कृषि क्षेत्र को प्रोत्साहन देने के लिए ट्रेडिंग हाउस व निर्यात घरानों आदि की पात्रता निर्धारित करते समय कृषि निर्यात को दोगुना भार प्रदान करने की योजना है।

प्रक्रियागत सरलीकरण हेतु अब निर्यात संवर्द्धन की अनेक योजनाओं को दो योजनाओं तक सीमित रखा गया है। **'मात्रा आधारित अग्रिम लाइसेन्स योजना'** को जारी रखते हुए विवादास्पद मूल्य आधारित अग्रिम लाइसेन्स योजना को निरस्त कर दिया गया है। पास-बुक योजना में संशोधन करके 'शुल्क अधिकार पास बुक' योजना को लाया गया है। इसके तहत निर्यात सामग्रियों को बनाने के लिए आवश्यक वस्तुओं के आयात पर निर्यातकों को कोई अग्रिम कर नहीं देना होगा। यह योजना साख सुविधा के मामले में भी अधिक पारदर्शी होगी। निर्यात प्रक्रियाओं के सरलीकरण व इनमें तेजी लाने के उद्देश्य से विदेश व्यापार महानिदेशालय के सभी कार्यालयों को 1 Sept. 1997 तक कम्प्यूटरीकृत करने की योजना है।

स्वर्णाभूषणों के निर्यात हेतु सोने का स्टॉक करने के लिए अधिकृत एजेन्सियों की संख्या बढ़ाने की घोषणा इस नीति में की गयी है। अभी तक केवल खनिज एवं धातु व्यापार निगम, भारतीय स्टेट बैंक तथा हस्तशिल्प एवं हथकरघा निर्यात संवर्द्धन परिषद को ही स्वर्ण के स्टॉक करने की अनुमति थी। नयी एजेन्सियों का चयन भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किया जायेगा। आभूषण निर्यातक इन एजेन्सियों से आसानी से स्वर्ण प्राप्त कर सकेंगे।

इस निर्यात-आयात नीति की मुख्य विशेषताएँ

(Salient Features of Exim Policy)

नयी नीति की प्रमुख विशेषताओं को एक द ष्टि में इस प्रकार देखा जा सकता है–

1. प्रक्रियागत जटिलताओं में कमी।
2. प्रतिबन्धित सूची में शामिल 542 वस्तुओं के आयात में उदारीकरण। इन वस्तुओं में लगभग 70 प्रतिशत वस्तुएँ उपभोक्ता वस्तुएँ हैं।
3. मूल्य आधारित अग्रिम लाइसेन्स प्रणाली की समाप्ति।
4. पास-बुक प्रणाली में संशोधन करते हुए नयी 'शुल्क अधिकार पास-बुक' की शुरूआत।
5. 'पूँजीगत वस्तुओं के निर्यात संवर्द्धन की योजना' के अंतर्गत आयात शुल्क 15% से घटाकर 10% किया गया।
6. कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्रों के लिए 'शून्य आयात शुल्क योजना' के अधीन 20 करोड़ की अधिकतम सीमा को घटाकर 5 करोड़ कर दिया गया है।
7. शून्य आयात-शुल्क वाली पूँजीगत सामान की निर्यात संवर्द्धन योजना का लाभ अब सेवा क्षेत्र को भी उपलब्ध।
8. कृषि निर्यात के प्रोत्साहन हेतु ट्रेडिंग हाउस/स्पर हाउस की पात्रता हेतु कृषिगत निर्यात को दोहरा भारांश/यती लाभ पूर्वोत्तर राज्यों के सभी निर्यात को उपलब्ध।
9. शुल्क रहित लाइसेन्स की वैधता 12 माह से बढ़कर 18 माह तक।
10. नये बाजारों की खोज के लिए अतिरिक्त सहायता।
11. सॉफ्टवेयर उद्योग की वैधता 12 माह से बढ़कर 18 माह तक।
12. विदेश व्यापार महानिदेशालय के सभी कार्यालयों में सितम्बर, 1997 तक कम्प्यूटरीकरण।

13. विद्युत क्षेत्र के साथ-साथ अब तेल व गैस क्षेत्र को भी 'माने गये निर्यात' का लाभ उपलब्ध।

14. स्वर्णाभूषणों के निर्यात हेतु सोने का स्टॉक करने के लिए अधिकृत एजेन्सियों की संख्या बढ़ाने की योजना।

15. अक्टूबर 1997 में सरकार ने विदेशों से सोने व चांदी का अप्रतिबन्धिन। असीमित आयात करने के लिए 1 अन्य एजेन्सी को अधिकार प्रदान कर दिया है।

नई निर्यात-आयात नीति—2002
(New Exim Policy)

राष्ट्रीय नीति को बढ़ावा देने के द ष्टिकोण से, भारत सरकार द्वारा 31 मार्च, 2002 को, वित्तीय वर्ष 2000-01 के लिए नवीन निर्यात-आयात नीति की घोषणा की गई। केन्द्रीय वाणिज्य मंत्री श्री मुरोसोली मारन की ओर से घोषित इस नीति में दूध, कागज, सादा नमक, सिगरेट और इलेक्ट्रोनिक सामानों के आयात पर से मात्रात्मक-प्रतिबन्ध हटा दिया गया है। निर्यातों में व द्धि के बारे में यह आशा व्यक्त की गई है कि 2000-01 में, निर्यात के डॉलर के द ष्टिकोण से, कम से कम 20% की बढ़ोतरी अवश्य ही होगी।

नीति की विशेषताएँ

1. विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना : भारत सरकार ने, चीन की भाँति उदार निवेश वाले दो विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाने तथा चार निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्रों को विशेष आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तित करने की घोषणा की है।

2. आयात के मात्रात्मक प्रतिबन्ध को हटाना : सरकार ने 'विश्व व्यापार संगठन' (World Trade Organisation) के प्रावधानों की पालना की द ष्टि से, इस नीति में 714 वस्तुओं के आयात से मात्रा सम्बन्धी रोक हटा ली है। इस कारण, 1 अप्रैल, 2000 से कच्ची और कैफीन रहित कॉफी, इंस्टेन्ट चाय, कागज, बुने कपड़े, परिधान, मसाले, अचार, शीतल पेय, कंस्ट्रेट फ्रूट एवं शीतलीकृत मछली आयात प्रतिबन्ध से मुक्त हो गई है। इसी कड़ी में, फोटोग्राफी फितम, घड़ियाँ, माइक्रोवेव ओवन तथा हीरे और मोती भी, अब कितनी भी मात्रा में आयात किये जा सकेंगे।

3. 'डायमंड डॉलर खाता' खोलने की घोषणा : इस नीति में, रत्नाभूषण, ग्रेनाइट और संगमरमर निर्यातकों को प्रोत्साहन देने निमित्त 'डायमन्ड डॉलर खाता' योजना प्रारम्भ की गई है। इस खाते में निर्यातक अपनी कमाई को डॉलर खाते में रख सकेंगें और उसमें रखी गई राशि का प्रयोग बिना तराशे या पॉलिश किए हुए हीरे खरीदने के लिए किया जा सकेगा। सरकार द्वारा यह भी घोषणा की गई है कि 1 अप्रैल से, गहनों का निर्यात 'स्पीड-पोस्ट' से किया जा सकेगा।

4. विदेशी भागीदारी की छूट : इस नीति के अनुसार, विशेष आर्थिक क्षेत्रों में लगने वाली इकाइयों में सौ प्रतिशत तक विदेशी भागीदारी की छूट के साथ ही, आयात निर्यात पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा।

5. घरेलू उद्योगों पर विपरीत प्रभाव नहीं : अंतराष्ट्रीय व्यापार संगठन के अंतर्गत आने वाली 1429 वस्तुओं में से आधी वस्तुओं (714) को कोटा (Quota) पाबन्दी के दायरे से बाहर लाने से घरेलू उद्योग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा-ऐसा वाणिज्य मंत्री का मानना है। उनका यह भी कथन है कि यदि ऐसा होता है तो सरकार अपने आयात शुल्क के हथियार का इस्तेमाल करने में नहीं हिचकिचायेगी (क्योंकि खाद्य तेल पर ही 300 प्रतिशत तथा अन्य कृषि उत्पादों पर 100 से 150 प्रतिशत आयात शुल्क है।)

6. मशीनों को खान में लगाने की छूट : इस नीति के अन्तर्गत ग्रेनाइट, संगमरमर और अन्य खनिजों का निर्यात करने वाली निर्यातोन्मुख इकाइयों को अपनी मशीनें परिसर से हटाकर, खान तक ले जाने की छूट दी गई है, जिससे कम लागत पर माल का निर्माण हो सके तथा भारतीय व्यावसायियों को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में उचित कीमत प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त, इन क्षेत्रों के निर्यातक, नई नीति के अंतर्गत घोषित डीईपी (Development of Export Promotion) तथा डी पी सी जी (Export Promotion of Capital Goods) जैसी योजनाओं एवं उनके लाभों को भी प्राप्त कर सकेंगे।

7. विशेष आर्थिक क्षेत्रों का स्थान-निर्धारण : इस नीति के प्रावधानों के अनुरूप, दो विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना क्रमशः गुजरात राज्य के पीपवाव एवं तमिलनाडु के तूतीकोरण नगर में की गई है। इन क्षेत्रों की विशेषता यह होगी है कि इनमें इकाइयाँ निर्यात और आयात के नियमों से मुक्त होकर कारोबार कर सकेंगी। इन क्षेत्रों में मशीन और कच्चा माल आयात

शुल्क मुक्त होगा। यहाँ की इकाइयाँ, देश के अन्य क्षेत्रों से जो माल मंगवाएंगी, उन पर उन्हें अन्तिम उत्पाद शुल्क नहीं देना होगा। इन क्षेत्रों के लिए कम से कम 400-500 हेक्टेयर का क्षेत्र रखा जाएगा। सांताक्रूज, कांडला, विजाग और कोच्चि के विशेष प्रसंस्करण क्षेत्रों को भी विशेष निर्यात क्षेत्र में बदला गया है।

8. **ज्ञान आधारित उद्योगों के निर्यात को प्रोत्साहन :** ऐसे उद्योग, जो औषधि, जैव प्रौद्योगिकी, एग्रो रसायन से संबंधित है तथा मानवीय ज्ञान की खोज पर निर्भर रहते हैं, के उद्योगों को निर्यात के एक प्रतिशत मूल्य के बराबर प्रयोगशाला उपकरण और प्रयोग के सामान 'शुल्क मुक्त' रूप से आयात करने की छूट होगी। इसका प्रमुख उद्देश्य अनुसंधान एवं विकास को बढ़ावा देना है। इन नीति में, रेशमी सामानों के निर्यात को, निर्यात से पूर्व सिल्क बोर्ड से निरीक्षण करवाने की व्यवस्था समाप्त कर दी गई है।

9. **कच्चे माल की उपलब्धता में व द्धि हेतु प्रयास :** केंद्र सरकार ने इस नीति के अंतर्गत निर्यात के लिए कच्चे माल की उपलब्धता बढ़ाने के उद्देश्य से 'शुल्क-मुक्त' प्रतिपूर्ति योजना को 5000 से भी अधिक वस्तुओं के लिए लागू किया है। इसमें, मानक आयात-निर्यात अनुपात के आधार पर कच्चा माल शुल्क मुक्त रूप से मंगवाया जा सकता है।

10. **अन्य आवश्यक तत्त्व एक द ष्टि :** इस नवीन नीति के कतिपय महत्त्वूपर्ण पहलू निम्न प्रकार द ष्टिगोचर होने हैः-

(*i*) **नीति का कार्यकाल**—वर्तमान आयात-निर्यात नीति का कार्यकाल अप्रैल, 1997 से मार्च 2002 तक का है, किन्तु सरकार परिस्थितिनुसार, प्रत्येक वर्ष, इसमें सुधार कर सकती है।

(*ii*) **कोष की स्थापना**—राज्य सरकारों की ओर से किए जाने वाले निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए 250 करोड़ रूपये के एक विशेष कोष की स्थापना की गई है।

(*iii*) **बिना लाइसेंस अनुमति**—एक ओर, सिल्क के आयात को विशेष आयात लाइसेंस के अधीन अनुमति प्रदान की गई है, तो दूसरी ओर 10 वर्ष से कम प्रयोग में लाई गई पूँजीगत वस्तुओं को बिना लाइसेंस के आयात की अनुमति दी गई है। विशेष आयात लाइसेंस को 1 अप्रैल, 2001 तक समाप्त किया जाना है।

(*iv*) निर्यात संवर्द्धन पूँजीगत वस्तुएं आयात योजना को पाँच प्रतिशत आयात शुल्क पर सभी औद्योगिक क्षेत्रों को सुलभ कराने का द ष्टिकोण, इस नीति में समाविष्ट किया गया है।

(*v*) सभी बंदरगाहों पर 30 जून 2000 से समस्त काम-काज इलेक्ट्रोनिक आधार पर प्रारंभ किया जाएगा।

(*vi*) कर आयोग को और सशक्त किया जाएगा, जिससे कि आयात होने वाले और निर्यात किए जाने वाले माल पर प्राप्त होने वाले कर को वास्तविक रूप में प्राप्त किया जा सके एवं भ्रष्टाचार को समाप्त किया जा सके।

(*vii*) घरेलू उद्योग को शुल्क संरक्षण एंटी-डंपिग, सब्सिडी विरोधी प्रणाली के तहत सुरक्षा जारी रखने की नीति को बरकरार रखा जाएगा।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र और निजीकरण का प्रश्न
(Public Sector in India and The Issue of Privatisation)

भारत के वर्तमान आर्थिक ढांचे को प्रायः मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम से पुकारा जाता है। इस अर्थव्यवस्था में उत्पादन के दो क्षेत्र है : पहला निजी क्षेत्र तथा दूसरा, सार्वजनिक क्षेत्र। भारत की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की उपस्थिति कोई नया प्रयोग नहीं हैं। पश्चिम के बहुत सारे पूँजीवादी देशों में भी समय-समय पर राज्य ने वहाँ के आर्थिक जीवन में न केवल हस्तक्षेप किया है बल्कि उत्पादन और वितरण कार्यों को भी प्रत्यक्ष रूप से संपन्न किया है। विशेष रूप से उन देशों में जहां पर औद्योगिकरण प्रक्रिया देर से शुरू हुई, वहाँ पर आर्थिक विकास के क्षेत्र में राज्य की भूमिका काफी महत्त्वूपर्ण रही है। जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान में भी औद्योगीकरण में राज्य का योगदान कम नहीं है।

अर्थव्यवस्था का सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों का विभाजन
(Division of the Economy into Public and Private Sectors)

स्वतंत्रता प्राप्त होने के समय सार्वजनिक क्षेत्र की क्रियाएं सिंचाई, संचार, रेल, बन्दरगाह, प्रसारण तथा कुछ विभागीय

औद्योगिकी संस्थानों तक सीमित थी। इसके बाद सार्वजनिक क्षेत्र का विकास बहुत तेजी के साथ हुआ है। निजी क्षेत्र को सरकार की नीति के विषय में भी किसी भी प्रकार का भ्रम न हो, इसीलिए 1948 तथा 1956 के औद्योगिक नीति संबंधी प्रस्तावों में निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों का स्थान निर्धारित किया गया। मोटे तौर पर भारी और बुनियादी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में रखा गया। कुछ उद्योग सरकारी क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र में भी स्थापित किए जा सकते है। इस श्रेणी में एल्यूमिनियम, लघु औजार, औजारी इस्पात, उर्वरक, कृत्रिम रबर, सड़क यातायात आदि 12 उद्योग रखे गए। निजी क्षेत्र के लिए उपभोक्ता माल बनाने वाले सभी उद्योग छोड़ दिए गए। औद्योगिक क्षेत्र के बाहर अधिकांश बैंक, वित्त निगम, रेलें, वायु सेवा आदि जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र में है वहां सम्पूर्ण कृषि निजी क्षेत्र में है।

विचार करने वाली बात यह है कि इस्पात, भारी इंजीनियरिंग तथा इसी प्रकार के दूसरे बुनियादी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र के लिए क्यों चुने गए और उपभोज्य पदार्थों का उत्पादन करने वाले उद्योग निजी क्षेत्र के लिए क्यों छोड़ दिए गए। इस प्रश्न का उत्तर आर० के० हजारी ने देने का प्रयास किया है। उनके अनुसार भारत सरकार का 1955 के बाद औद्योगिक विकास कार्यक्रम दो मान्यताओं पर आधारित है। प्रथम, सामान्य उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में अभिप्रेरित निवेश (induced investment) होता है। अतः आयात पर नियंत्रण लगाने से इन उद्योगों को जो संरक्षण मिलता है, उनसे इनकी लाभ कमाने की सामर्थ्य बढ़ती है और इनसे इनका विकास होता है। द्वितीय, जिन उद्योगों की स्थापना के लिए विदेशी विनिमय की अधिक आवश्यकता पड़ती है, जिनकी तकनीक जटिल होती है, उनमें स्वायत्त निवेश (Qutonomous investment) की आवश्यकता पड़ती है। इस्पात, भारी इंजीनियरिंग आदि ऐसे ही उद्योग है। स्वायत्त निवेश चूंकि राज्य द्वारा ही सम्भव होते हैं, अतः इन उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में रखना स्वाभाविक होता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका
(Role of Public Sector in Indian Economy)

भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम विचार करें कि इसका पूंजी के निर्माण में क्या योगदान है, इसमें बुनियादी ढांचे के विकास के बारे में क्या किया है, औद्योगिक ढांचे का आधार मजबूत बनाने में इसकी क्या भूमिका रही है और विदेशी विनिमय संकट का सामना करने में इससे कहां तक सहायता मिली है।

सार्वजनिक क्षेत्र और पूंजी निर्माण
(Public Sector and Capital Formation)

आयोजन काल में निवेश और वित्तीय साधनों के एकत्रण की द ष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र का कार्य महत्त्वूपर्ण रहा है। पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाविधि में सार्वजनिक क्षेत्र का कुल निवेश और शेष निजी क्षेत्र में थे। तीसरी योजनाविधि में सार्वजनिक क्षेत्र का कुल निवेश में भाग 60% था। चौथी योजनाविधि के अंतर्गत 59% निवेश सार्वजनिक क्षेत्र और 41% निवेश निजी क्षेत्र में करने का आयोजन किया गया। पाँचवी योजना में अंतर्गत कुल निवेश में से 57.6% निवेश सार्वजनिक क्षेत्र में करने का प्रावधान था। छठी योजना में कुल निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र के भाग में कमी हुई और यह 53.0% रखा गया। सातवीं योजना में पहली बार कुल निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 50% से कम रखा गया। इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 47.8% तथा निजी क्षेत्र का 52.2% कर दिया गया। आठवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा तो और भी कम होने का अनुमान है। नौवीं योजना के द ष्टिकोण प्रपत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा और कम करके लगभग 33% (अर्थात् एक-तिहाई) कर दिया गया है। यह इस बात का द्योतक है कि अब सरकार निजी क्षेत्र को अधिक महत्त्व देने लगी है। वित्तीय साधनों के अथवा बचतों ने एकत्रण की द ष्टि से भी जीवन बीमा निगम, औद्योगिक विकास बैंक, औद्योगिक निगम, राज्य वित्त निगम, युनिट ट्रस्ट, स्टेट बैंक तथा अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

जहां तक स्वयं सार्वजनिक क्षेत्र में बचत का प्रश्न है, वह अधिक नहीं है। वास्तव में अस्सी के दशक के दौरान कुल घरेलू बचत में सार्वजनिक क्षेत्र के हिस्से में लगातार कमी आई है। 1980-81 में ये 16.2% था जो कम होते-होते 1994-95 में 7.2% था तथा 1995-96 में मात्र 7.5% रह गया। सम्पूर्ण छठी योजना में कुल घरेलू बचत में सार्वजनिक बचत का हिस्सा

18.6% था जो सातवीं योजना में कम होकर 10.8% रह गया। इसका मुख्य कारण यह है कि जहां सार्वजनिक उद्यमों ने साधन स जन (resource generation) में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है (वास्तव में सार्वजनिक उद्यमों की बचत 1980-81 में कुल घरेलू उत्पाद के 1.7% से बढ़कर 1989-90 में लगभग 4% हो गई) वहां प्रशासनिक विभाग लगातार ऋणात्मक बचत करते रहे हैं। सकल घेरलू पूंजी निर्माण में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा भी जो 1970-75 में 41.5% था, 1991-96 में कम होकर 34.4% रह गया।

बुनियादी आर्थिक संरचना का विकास
(Development of Infrastructure)

किसी भी अल्प विकसित देश के विकास की एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि उस देश में बुनियादी आर्थिक संरचना का विकास तेजी के साथ होना चाहिए। सिंचाई के साधनों और बिजली की उपलब्धि के बिना कृषि विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी प्रकार यातायात एवं संचार के साधनों, शक्ति के स्त्रोतों तथा बुनियादी उद्योगों के विकास के बिना तेजी के साथ औद्योगिकरण संभव नहीं हैं। औपनिवेशिक काल से स्वतंत्र भारत को अल्प-विकसित बुनियादी आर्थिक संरचना विरासत में मिली थी। आजादी के बाद इसके विकास में न तो निजी क्षेत्र ने रूचि दिखाई और न ही इस कार्य को कर सकने के लिए उसके पास काफी साधन थे। अतः सरकार पर इस अभाव की पूर्ति करने की जिम्मेदारी आ पड़ी। सरकार ने सड़क, रेल, वायु तथा जल परिवहन की व्यवस्था में न केवल सुधार किए है, बल्कि इनका विकास भी किया है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में किए गए प्रयत्नों से औद्योगिक विकास के लिए मजबूत आधार तैयार हुआ है जिसका बहुत कुछ लाभ निजी क्षेत्र को मिला है।

मजबूत औद्योगिक आधार
(Strong Industrial Base)

योजनाविधि में राष्ट्रीय आय में औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा धीरे-धीरे बढ़ता रहा है। औद्योगिक क्षेत्र का GDP 1950-51 में 15% था जो 1960-61 में बढ़कर 18.7%, 1980-81 में 24.4% तथा 1995-96 में 29.2 प्रतिशत हो गया। (1980-81 की कीमतों पर)। आज देश का औद्योगिक आधार 1950-51 की तुलना में अधिक मजबूत हैं। पिछले साढ़े चार दशकों में प्रतिरक्षा और सामरिक महत्त्व के विविध उद्योगों का भारी विकास हुआ है। सरकार ने लोहा, भारी इंजीनियरिंग, कोयला, बिजली के भारी उपकरण, तेल एवं प्राकृतिक गैस, रसायन एवं औषधि, उर्वरक आदि उद्योगों की स्थापना कर औद्योगिक आधार को मजबूत बनाया है। ये उद्योग अल्पकाल में लाभ की सम्भावनाएं कम होने के कारण निजी क्षेत्र में उपभोग पदार्थों का उत्पादन करने वाले उद्योग भी तेजी के साथ विकसित नहीं होते। जैसाकि ए० एच० हैन्सन ने कहा है, "यदि यह मान भी लिया जाए कि राज्य का काम केवल मूलभूत 'सेवाओं' को प्रदान करना है तो भी विनिर्माण क्षेत्र, बिजली, परिवहन, संचार इत्यादि क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता। उपभोग पदार्थों का उत्पादन करने वाले उद्योगों में निजी क्षेत्र अक्सर अधिक दिलचस्पी रखता है, परन्तु उन उद्योगों का विकास भी उत्पादन वस्तु उद्योगों (Producer-goods Industries) द्वारा प्रदान की गई 'सेवाओं' पर निर्भर करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपभोग वस्तु उद्योगों का विकास काफी हद तक इंजीनियरिंग वस्तु व अन्य उत्पाद-वस्तु उद्योगों पर निर्भर करता है। क्योंकि उत्पाद-वस्तु उद्योगों का विकास करने में निजी क्षेत्र की कोई रूचि नहीं होती। इसलिए राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ता है और स्वयं इन उद्योगों का विकास करना पड़ता है।

पैमाने की किफायतें
(Economics of Scale)

आज इस बात पर विवाद नहीं है कि जिन उद्योगों में पैमाने की किफायतें उपलब्ध होती है, उनमें यदि बाजार की शक्तियों के बेरोकटोक कार्य करने से औद्योगिक इकाइयां स्थापित होगी तो वे प्रायः आर्थिक कार्यकुशलता की शर्तों को पूरा नहीं करेगी। इस द ष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित इकाइयां महत्त्वपूर्ण हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में अक्सर औद्योगिक इकाइयां का आधार आर्थिक कार्यकुशलता को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किया जाता है। इंगलैंड, फ्रांस तथा कुछ अन्य पश्चिमी यूरोप के देशों

में बिजली, प्राकृतिक गैस, टेलीफोन तथा कुछ दूसरे लोकोपयोगी उद्योगों को पैमाने की किफायतों की द ष्टि से ही सार्वजनिक क्षेत्र में रखा गया है। भारत में विभिन्न बुनियादी उद्योगों की सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापना से प्राप्त होने वाली पैमाने की किफायतों से इन उद्योगों के सामाजिक लाभ में भी व द्धि हुई है।

आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात प्रोत्साहन
(Import Substitution and Export Promotion)

प्रायः विदेशी विनिमय की समस्या आर्थिक विकास में भारी बाधा बन जाती है। भारत की स्थिति भी कुछ इस प्रकार की है। ऐसी स्थिति में उन सभी उद्योगों का देश के आर्थिक विकास की द ष्टि से विशेष महत्त्व है। जिनके द्वारा आयात प्रतिस्थापन संभव हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित भारत इलैक्ट्रोनिक्स लि०, इण्डियन आयल कारपोरेशन लि० तथा आयल एण्ड नेचुरल गैस कमीशन इसी श्रेणी में आने वाली औद्योगिक इकाइयां हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक प्रतिष्ठानों ने निर्यातों को बढ़ाने का भी कार्य किया है। निर्यात बढ़ाने की द ष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र में जिन प्रतिष्ठानों की भूमिका सराहनीय है वे हैं : हिन्दुस्तान स्टील लि०, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लि०, भारत इलैक्ट्रोनिकस्ट, स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन तथा मिनरल एण्ड मैटल ट्रेडिंग कारपोरेशन।

क्षेत्रीय असमानताओं में कमी
(Reducing Regional Disparities)

सरकार ने क्षेत्रीय असमानताओं में कमी लाने के उद्देश्य से पिछड़े क्षेत्रों में बहुत से सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना की है। उदाहरण के लिए, चारों प्रमुख स्टील प्लांटों (भिलाई स्टील प्लांट, राउरकेला स्टील प्लांट, दुर्गापुर स्टील प्लांट तथा बोकारो स्टील प्लांट) की स्थापना पिछड़े हुए राज्यों में की गई है। इसी प्रकार बहुत से मशीनरी उद्योग, मशीन टूल्स उद्योग, उर्वरक उद्योग, परिवहन उपकरण उद्योग इत्यादि भी पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित किए गए है। पिछड़े हुए राज्यों तथा क्षेत्रों में भारी निवेश के पीछे सरकार का यह विश्वास था कि बड़े सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना से इन क्षेत्रों में औद्योगिक विकास होगा जिससे आर्थिक विकास की प्रक्रिया तेज होगी।

आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण पर नियंत्रण
(Check over Concentration of Economic Power)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में जब सार्वजनिक क्षेत्र नहीं के बराबर होता है तो विकास की प्रक्रिया में आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण होता है और आय के वितरण में असमानताएं बढ़ती है। पिछले चार दशकों में भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के समर्थन में प्रायः यह दावा किया गया कि इससे निजी क्षेत्र में आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण को रोक सकना संभव होगा।

सार्वजनिक क्षेत्र अर्थव्यवस्था में पर्याप्त आर्थिक असमानताओं को कम करने में निम्नलिखित तरीकों से सहयोग प्रदान कर सकता है :-

1. सार्वजनिक क्षेत्र के लाभों का प्रयोग सरकार सीधे रूप से निर्धन वर्गों के कल्याण कार्यक्रमों पर कर सकती है।

2. सार्वजनिक क्षेत्र एक विभेदात्मक नीति (discriminatory Policy) अपना सकता है जिसके तहत छोटे उद्योगपतियों को माल कम कीमतों पर तथा बड़े उद्योगपतियों को माल ज्यादा कीमतों पर दिया जा सकता है।

3. सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र की तुलना में निचले स्टाफ को ज्यादा वेतनमान दे सकता है और श्रमिक कल्याण के कार्यक्रमों को अधिक कारगर ढ़ंग से लागू कर सकता है।

4. सार्वजनिक क्षेत्र उत्पादन—मशीनरी में परिवर्तन द्वारा आम उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की वस्तुओं का ज्यादा उत्पादन कर सकता है।

सार्वजनिक क्षेत्र का निष्पादन
(Performance of Public Sector)

निजी क्षेत्र के उद्यमों का निष्पादन जानने के लिए उनके शुद्ध लाभ या हानि को देखा जाता है, क्योंकि इन उद्यमों का एकमात्र उद्देश्य लाभ कमाना होता है। परंतु सार्वजनिक क्षेत्र के लिए इस कसौटी का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अक्सर सार्वजनिक उद्यम इन क्षेत्रों में स्थापित किए जाते हैं जहाँ लाभोत्पादकता कम होती है और लाभ काफी समय के बाद मिलने की आशा होती है। उदाहरण के लिए, आधारिक संरचना में तथा मूलभूत उद्योगों में निवेश से जल्द प्रतिफल मिल सकने की आशा नहीं होती। इसलिए आरम्भ में लाभ काफी कम होते है और कभी-कभी तो ऋणात्मक भी तो हो सकते हैं। परंतु ये निवेश महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ये भविष्य में औद्योगिक गतिविधियों के विस्तार का 'आधार' तैयार करते है। इस्पात उद्योग, उर्वरक उद्योग, खान उद्योग, बिजली उत्पादन उद्योग इत्यादि उद्योग इस वर्ग में आते हैं। इसके अलावा कुछ सार्वजनिक उद्यम निजी क्षेत्र को आगत उपलब्ध कराते हैं। (जैसे लोहा व इस्पात उद्योग इत्यादि) ये उद्योग अगर अपनी कीमतों को बढ़ा दें तो बड़ी आसानी से खूब लाभ कमा सकते हैं। परंतु इनकी इस नीति से निजी उद्यम क्षेत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है और सामान्य कीमत स्तर में भी व द्धि हो सकती है। इसलिए कीमतों को जान-बूझकर कम रखना पड़ता है। वैसे भी जैसाकि आर० के० हजारी और ए० एन० ओसा ने कहा है, निजी क्षेत्र ने मुख्यतया उपभोक्ता वस्तु उद्योगो में निवेश किया है, जिन्हें विदेशी स्पर्धा से काफी संरक्षण दिया गया है। इसके विपरीत सार्वजनिक क्षेत्र ने मोटे रूप में पूंजीगत वस्तु उद्योगों में निवेश किया है जिन्हें विदेशी निजी निवेश के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी है। दूसरी बात जिसकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है वह यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र केवल पूंजी प्रधान नहीं है; इस्पात उद्योग में तो यह उत्पादन-प्रधान भी है। इसलिए उसमें वर्धित मूल्य अन्य उद्योगों (जैसे रासायनिक उद्योग) की तुलना में कम होता है।

ऊपर दिए गए तर्कों के आधार पर तो यह कहा जाता है कि सार्वजनिक उद्यम इकाइयों के निष्पादन का मूल्यांकन केवल उनके द्वारा कमाए गए लाभों के द्वारा ही नहीं अपितु इस आधार पर होना चाहिए कि उन्होंने अर्थव्यवस्था में उत्पादन व सेवाओं में क्या योगदान दिया है। इसलिए लाभ के स्थान पर उद्यम की कुल बिक्री का मूल्य देखना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोई लोहा व इस्पात उद्योग 1500 करोड़ रूपये के इस्पात का उत्पादन करता है परंतु लाभ नहीं कमा पाता क्योंकि उसका उद्देश्य अन्य उद्योगों को सस्ती कीमत पर इस्पात आगत के रूप में प्रदान करना है, तो केवल लाभ के कम होने के कारण उसके निष्पादन।

अध्याय 27
विदेशी सहायता एवं विदेशी पूंजी
(Foreign Aid and Foreign Capital)

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की प्रव त्ति वर्तमान युग की एक प्रमुख विशेषता हैं। सम्प्रति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गरीब क्षेत्रों और गरीब राष्ट्रों की समस्याओं के निदान के प्रति जनमानस में व्यापक चेतना परिलक्षित होती हैं। आर्थिक सहायता के माध्यम से विभिन्न राष्ट्र अब विकासशील देशों को गरीबी के दुष्चक्र से मुक्त कराने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। विदेशाी आर्थिक सहायता की यह प्रव त्ति वस्तुतः गरीब देशों के आर्थिक विकास-प्रयास में सहभागिता के विचार की सूचक है। अन्य अर्थव्यवस्थाओं से पूँजी का अंतः प्रवाह विदेशी सहायता और विदेशी निजी विनियोग के रूप में होता है। विदेशी सहायता के अंतर्गत विदेशी सरकारों व संस्थाओं से ऋण और अनुदान के रूप में मिलने वाली सहायता का समावेश होता है। विदेशी निजी विनियोग अन्य अर्थव्यवस्थाओं से पूँजी के अंतः प्रवाह का महत्वपूर्ण माध्यम हैं।

विदेशी सहायता का आशय
(Meaning of Foreign Aid)

विदेशी आर्थिक सहायता से आशय पूँजी और प्राविधिक ज्ञान का रियायती शर्तो पर एक देश से दूसरे देश को किया जाने वाला हस्तांतरण है। हस्तांतरण की यह प्रक्रिया विश्व पूँजी और श्रम बाजार में प्रचलित शर्तो से आसान शर्तो पर होता है। विदेशी आर्थिक सहायता की अवधारणा में एक निहित तत्व यह है कि हस्तांतरित होने वाले संसाधनों में सहायता का तत्व अवश्य होना चाहिए। यदि किसी राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को कठोर शर्तो पर संसाधनों का भारी मात्रा में हस्तांतरण किया जाता है तो उसे विदेशी आर्थिक सहायता की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि प्राप्त सहायता प्राप्तकर्ता देश के लिए लाभदायक हो तथा आर्थिक सहायता की मात्रा भले ही कम हो, लेकिन सहायता की प्रक ति इस प्रकार अवश्य होनी चाहिए जो प्राप्तकर्ता देश के आर्थिक विकास में स्थायी अनुकूल प्रभाव डाले। सरल रूप में यह कहा जा सकता है कि ''विदेशी आर्थिक सहायता बाह्य पूँजी का वह अंश है जो किसी देश को रियायती शर्तो पर ऋण तथा अनुदान व भेंट के रूप में प्राप्त होती हैं।'' शर्त के अनुसार ऋण का भुगतान प्राप्तकर्ता देश को स्वदेशी मुद्रा में या विदेशी विनिमय के माध्यम से आसान किश्तों पर तथा नीची ब्याज दर पर करना पड़ता है। दूसरी ओर अनुदान व भेंट के रूप में प्राप्त विदेशी सहायता का भुगतान प्राप्तकर्ता देश को नहीं करना पड़ता है।

विदेशी सहायता का औचित्य
(Rationale of Foreign Aid)

सभी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की आकांक्षा तीव्र आर्थिक विकास करना है और वे पिछड़ेपन से जन्य आर्थिक विकास स्तर के अन्तराल को अत्यन्त कम समय में घटाना चाहते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में वे विदेशी सहायता की अपेक्षा करते हैं। विदशी सहायता का औचित्य निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता हैं।

1. विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की विकास प्रक्रिया के प्राथमिक चरण में विदेशी आर्थिक सहायता का औचित्य इस कारण माना जाता है, क्योंकि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के विकास प्रयासों के कार्यान्वयन में एक महत्वपूर्ण समस्या विनियोग-योग्य संसाधनों के कमी की होती हैं। विदेशी आर्थिक सहायता प्राप्तकर्ता देश के विनियोग-योग्य संसाधनों में व द्धि उत्पन्न करती हैं। इस माध्यम से गरीब देश पूँजीगत उपकरण, प्राविधिक ज्ञान एवं आवश्यक वित्त प्राप्त करके अपनी विकास परियोजनाओं को कार्यान्वित करने में समर्थ हो जाते हैं।

2. आधुनिक युग में उत्पादन तकनीक का तेजी से सुधार हो रहा है। विदेशी सहायता के माध्यम से विकासशील

अर्थव्यवस्था को दुर्लभ उत्पादन तत्व के रूप में तकनीकी ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। उत्पादन तकनीक का परम्परावादी और अपेक्षाक त कम सक्षम होना विभिन्न विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के लिए सामान्य बात है। विदेशी सहायता के माध्यम से सरलतापूर्वक विकसित देशों के विभिन्न क्षेत्रों के लिए उन्नत प्रौद्योगिकी का आयात किया जा सकता है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं से उनके विकास अनुभव और दीर्घकालीन शोध प्रयासों के धनात्मक परिणामों का सुगमतापूर्वक विकासशील देशों में हस्तांतरण किया जा सकता हैं। श्रेयस्कर तो यही होता है कि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के अनुरूप प्रौद्योगिकी का विकास घरेलू क्षेत्रों में ही किया जाये। लेकिन यह प्रयास अधिक समय की अपेक्षा करता है और इतने अधिक समय तक विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में प्रतीक्षा करने की स्थिति में नहीं है। अतएव वे विकसित अर्थव्यवस्थाओं के शोध अनुभवों का लाभ प्राप्त कर सकती हैं।

3. विश्व के विभिन्न विकासशील देश अपने प्रारम्भिक विकास चरणों में बहुधा गैर-निर्मित पदार्थो, विशेषकर कच्चे पदार्थो का निर्यात करते हैं और बदले में विभिन्न निर्मित वस्तुओं का आयात करते हैं। विदेशी व्यापार की अपेक्षित अवस्था तो वही है जब निर्यातों से आयातों का भुगतान हो जाये। लेकिन विकासशील देशों के आयात उनकें निर्यातों की तुलना में अधिक होते हैं। इस कारण उनके समक्ष विदेशी विनियम प्राप्त करने की समस्या बनी रहती है। विदेशी आर्थिक सहायता के माध्यम से वे विदेशी विनियम की प्राप्ति कर लेते हैं और भुगतान संतुलन के घाटे को पूरा करने या कम करने में सफल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी सहायता द्वारा वे अपनी उत्पादक क्रियाओं का प्रसार करके आयात प्रतिस्थापन की और अग्रसर हो सकते हैं।

सहायता देने वाले देशों की विचारधारायें
(Idealogies of Aid Providing Countries)

सम्प्रति सहायता प्रदान करने वाले देशों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : सहायता संघ के देश, समाजवादी देश और अन्य देश। सहायता संघ के देशों और समाजवादी देशों की सहायता प्रदान करने के प्रति प थक्-प थक् विचारधारायें हैं।

सहायता संघ के पश्चिमी देशों में आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, जापान, नीदरलैण्ड, नार्वे, स्वीडेन, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका सम्मिलित हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ' द्वारा दी जाने वाली सहायता भी इसी वर्ग की है। इनकी आर्थिक सहायता का द ष्टिकोण इस उपागम पर आधारित है कि विश्व के बहुत बड़े क्षेत्र में गरीबी और दुर्दशा की स्थिति विद्यमान है और कहीं की भी गरीबी सर्वत्र की सम द्धि के लिए खतरा है। अतएव विकसित देशों को आर्थिक सहायता के माध्यम से गरीब देशों की गरीबी का निवारण करना चाहिए। गरीबी से आशय समाज में ऐसी वस्तुओं और सेवाओं की कमी से है जो व्यक्ति की आधरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बद्ध हैं। प्रारम्भिक अवस्था में उन वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति का पक्ष कृषिक्षेत्र से सम्बद्ध होता है। अतः सहायता के प्रति पश्चिमी विचारधारा यह मानती है कि सहायता कार्यक्रमों में क षि विकास कार्यक्रमों को वरीयता दी जानी चाहिए। यह विचारधारा आधारिक अवस्थापना के अतिरिक्त औद्योगिक विकास के लिए निजी क्षेत्रक को अधिक महत्व देती है और यह मानती है कि सरकार का उत्पादन क्षेत्र में प्रवेश या उसके द्वारा उद्योगों का स्थापित किया जाना संसाधनों की बर्बादी हैं।

आर्थिक सहायता के प्रति समाजवादी देशों की विचारधारा उक्त पश्चिमी उपागम से प थक् है। समाजवादी देशों-जिनमें बुलगारिया, हंगरी, चेकोस्लोवकिया, पोलैंड, यूगोस्लाविया और रूस सम्मिलित हैं की आर्थिक सहायता नीति इस उपागम पर आधारित है कि दीर्घकाल तक विभिन्न विकासशील अर्थव्यवस्थायें औपनिवेशिक शासन के अधीन रही हैं और वे पश्चिमी पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थो के पूर्ति का स्रोत और उनके निर्मित सामानों का बाजार मात्र रही हैं। इस कारण उनकी गरीबी का मुख्य कारण उनका दीर्घकालीन आर्थिक शोषण रहा है। अतएव आर्थिक सहायता के प्रति समाजवादी विचारधारा का लक्ष्य विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को शोषण से मुक्त करना हैं। इसके लिए वे इन अर्थव्यवस्थाओं के आधारभूत क्षेत्रों को विकसित करने के लिए अधिक तत्परता प्रदर्शित करते हैं। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की निर्भरता का कारण उनमें अवस्थापनागत सुविधाओं और आधारिक उद्योगों की कमी है। विदेशी आर्थिक -सहायता के माध्यम से प्रगति होने पर विकासशील अर्थव्यवस्थायें प्राप्त सहायता का भुगतान आन्तरिक उद्योग-निर्मित सामानों के निर्यात से कर सकेंगी। अतः उन्हें ऋणों के भुगतान के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता में कमी आ जायेगी। उस प्रक्रिया से सहायता और व्यापार

का सामंजस्य स्थापित हो जायेगा।

सहायता संघ और समाजवादी देशों के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैंड, ईराक, ईरान आदि ऐसे देश हैं जिनकी आर्थिक सहायता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। उस विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि आर्थिक सहायता के प्रति दो भिन्न-भिन्न प्रमुख विचारधारायें हैं और विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के सहायता-कार्यक्रम अपनी-अपनी विचारधाराओं से विशिष्टतः प्रभावित होते हैं। वे विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की समस्याओं के निदान के लिए अपनी-अपनी नीतियों को अधिक श्रेयस्कर और प्रभावी सिद्धकरने का प्रयास करते हैं। परन्तु विचारधारा की विभिन्नता के बावजूद उनमें एक समान अंतर्निहित तत्व यह है कि वे सभी आर्थिक सहायता देने के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

भारत में विदेशी सहायता
(Foreign Aid in India)

स्वतंत्रता के बाद भारत ने प्रत्येक समूह से उनकी प थक् विचारधाराओं के बावजूद आर्थिक सहायता प्राप्त की है। स्वतंत्रता के समय भारत का आर्थिक विकास स्तर निरपेक्षतः नीचा था। इसी कारण कृषि उत्पादन का स्तर भी अत्यन्त नीचा था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कृषि, उद्योग, परिवहन, अनुसंधान और प्रोद्योगिकी में भारी विनियोग की आवश्यकता थी। स्वतन्त्रता के समय रिजर्व बैंक में सिक्के, स्वर्ण एवं अन्य कीमती धातुओं के रूप में शीघ्र विनियोग योग्य 11800 करोड़ रूपये की राशि थी। इसके अतिरिक्त 1273 करोड़ रूपये की धनराशि युद्ध पूर्व ऋण, ब्रिटिश साम्राज्य के पास जमा डालर, ब्रिटिश शासन की देनदारी के रूप में प्राप्त हुयी। देश के विभाजन के फलस्वरूप विस्थापितों के पुनर्वास और विविध अपरिहार्य विकास कार्यो में व्यय के कारण उक्त धनराशि अधिक समय के लिए पर्याप्त न थी। इस कारण भारत ने विदेशी सहायता के प्रति प्रोत्साहनात्मक द ष्टिकोण अपनाया। 1949-50 से विदेशी सहायता का प्रवाह आरम्भ हुआ।

विदेशी व्यापार से 1950-51 तक प्राप्त राशि और अंग्रेजों द्वारा छोड़ी गयी धनराशि के अतिरिक्त 32 करोड़ रूपये का ऋण विदेशी सहायता के रूप में हम ले चुके थे। अप्रैल, 1951 से नियोजित आर्थिक विकास की प्रक्रिया आरम्भ हुई जिसमें विविध प्रयोजनों के लिए अधिक विनियोग की आवश्यकता अनुभव हुई। स्वतन्त्रता के बाद और विशेषकर नियोजित विकास प्रक्रिया में हमारें निर्यात व्यापार की मात्रा और संरचना में उल्लेखनीय सुधार हुआ। उत्पादन तथा उत्पादिता बढ़ी। लेकिन इसके बाद भी विविध आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में प्रभूत मात्रा में विदेशी आर्थिक सहायता लेनी पडी। विदेशी सहायता का उपयोग ऊर्जा, इस्पात उद्योग और कृषि विकास के लिए किया गया। लगातार कई वर्षो तक खाद्यान्नों के आयात के लिये पी. एल. 480 के माध्यम से आर्थिक सहायता ली गयी। स्वतन्त्रता के बाद 1993-94 तक सहायता प्रद़ान करने वाले सभी देशों के द्वारा भारत को कुल 133982 करोड़ रूपये की पूँजी अधिकृत की गयी। इसका वितरण निम्नलिखित तालिका 27.1 में दिया गया हैं।

तालिका 27.1
कुल अधिकृत विदेशी सहायता

अवधि	*(करोड़ रु० में)* *अधिकृत सहायता*		
	ऋण	*अनुदान*	*योग*
15 अगस्त, 1947 से मार्च 1980 तक	18994	3031	24669
मार्च 1994 तक	118709	12499	133982
1998—1999	8320	210	8530

Source : RBI, Report on Currency and Finance and Eco. Survey 1999-2000.

अधिकृत सहायता की सार्थकता उसके प्राप्त होने और प्रयुक्त होने पर निर्भर होती है। भारत ने मार्च, 1994 तक लगभग 94633 करोड़ रूपये की राशि उपयोग मे प्रयुक्त कर लिया है। प्रयुक्त विदेशी सहायता की राशि 1999-2000 में लगभग

12238 करोड़ रूपये रही है। विभिन्न अवधि में प्रयुक्त आर्थिक सहायता की राशि तालिका 27.2 में दिखाई गयी है जिससे यह प्रतीत होता है कि अधिकृत विदेशी सहायता और प्रयुक्त विदेशी सहायता के मध्य अन्तराल रहा हैं। अधिकृत विदेशी सहायता का 1992-94 तक लगभग 90 प्रतिशत भाग ही उपयोग किया जा सका हैं।

तालिका 27.2

कुल प्रयुक्त विदेशी सहायता

अवधि	*(करोड़ रु० में)*		
	ऋण	*अनुदान*	*योग*
15 अगस्त, 1947 से मार्च 1980 तक	15546	2174	20539
मार्च 1994 तक	80075	9739	94633
1999—2000	12343	896	12239

Source : RBI, Report on Currency and Finance and Eco. Survey 1999-2000.

भारत को योजनाकाल में सहायता करने वाले देशों के प्रत्येक समूह से आर्थिक सहायता प्राप्त हुयी है। सहायता प्रदान करने वाले देशों की सहायता के प्रति प थक विचारधारा के बाद भी भारत को प्रत्येक वर्ग ने सहायता की है। भातर को सहायता संघ के देशों से मिलने वाली सहायता अभी सर्वाधिक है। समाजवादी देशों से मिलने वाली सहायता भी 1980-81 में कुल सहायता का 12.7 प्रतिशत रही है। हाल के वर्षो में इस वर्ग का महत्व अत्यन्त कम हो गया है। निम्नलिखित तालिका 27.3 में अधिकृत सहायता का स्रोतवार विवरण दिया गया है।

तालिका 27.3

स्त्रोत के अनुसार विदेशी सहायता

स्त्रोत	*(प्रतिशत में)*		
	1980—81		*1998—99*
सहायता संघ के देश	68.7		86.8
समाजवादी देश	12.7		—
अन्य देश	17.6		13.2
योग	100.0		100.0
कुल सहायता (करोड़ रु० में)	3847.0		8530.0

Source : Economic Survey 1999-2000.

योजंनाकाल में इतनी अधिक विदेशी सहायता का स्वागत इसी कारण किया गया ताकि अर्थव्यवस्था को आत्म-निर्भर बनाया जा सके और विभिन्न विकसित अर्थव्यवस्थाओं के तुल्य आर्थिक विकास स्तर को प्राप्त किया जा सके। भारत में विभिन्न देशों से विभिन्न विकास मदों के लिए सहायता अधिकृत की गयी। सर्वाधिक सहायता औद्योगिक विकास के लिए अधिकृत की गयी। मार्च, 1980 तक कुल अधिकृत सहायता का 44.62 प्रतिशत भाग औद्योगिक विकास के लिए, 16.78 प्रतिशत भाग कृषि विकास के लिए और 9.10 प्रतिशत भाग यातायात और संचार सुविधाओं के विकास के लिए, 9.04 प्रतिशत ऊर्जा परियोजनाओं के लिए, 6.84 प्रतिशत इस्पात परियोजनाओं के लिए, 4.63 प्रतिशत खाद्य सहायता और 9.02 प्रतिशत अन्य कार्यो के लिए दिया गया। इसी प्रकार प्रयुक्त सहायता का भी सर्वाधिक भाग उद्योग और कृषि के क्षेत्र में ही रहा हैं।

विदेशी सहायता के प्रभाव
(Effects of Foreign Aid)

विदेशी सहायता के निष्पादन स्तर की भौतिक माप करना कठिन है, क्योकि विभिन्न उद्योगों और क्षेत्रों के विकास एवं प्रसार में विदेशी सहायता के निष्पादन स्तर को गुणात्मक आधार पर राष्ट्र के विकास लक्ष्यों और विदेशी सहायता में निहित संकल्पनाओं के आधार पर आँका जा सकता है। भारत में विदेशी सहायता ने कई महत्वपूर्ण निर्माण एवं विकास की योजनाओं

में सहायता की है। इसने मशीनरी, खाद्यान्न और अन्य विकास सामग्री की आपूर्ति में सहायता की। रूस की सहायता द्वारा भिलाई और बोकरों इस्पात कारखानों को स्थापित किया गया। दुर्गापुर और राउरकेला इस्पात काखानों के लिए क्रमशः इंग्लैंड़ और पश्चिमी जर्मनी से सहायता मिली। तेल परिष्करण इकाइयों के लिए रूस और इंग्लैंड से सहायता मिली है। कागज, उर्वरक, विद्युत और अल्यूमिनियम उद्योगों के लिए अमरीका से सहायता मिली है। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक विनियोग का एक भाग विदेशी सहायता पर निर्भर रहा है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विदेशी सहायता ने विनियोग स्तर बढ़ाने, परियोजनाओं को पूरा करने और तकनीकी सेवाओं के रूप में भारत की सहायता की हैं।

विभिन्न अर्थव्यवस्थायें विकास प्रयासों द्वारा विकसित और विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के मध्य व्याप्त आर्थिक विकास स्तर के अंतराल की समस्या घटाना चाहती हैं। गरीबी, बेरोजगारी और भुगतान सन्तुलन में घाटे की समस्या का निदान करना चाहती हैं। इसी सन्दर्भ में विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया है। यदि इन उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में विदेशी सहायता का विश्लेषण किया जाये तो यह प्रतीत होता है कि इससे अपेक्षित परिणाम नहीं मिल सके हैं। नियोजनकाल में यद्यपि भारत के विविध सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में प्रगति हुई है, लेकिन कई विकसित देशों की तुलना में इसका आय अन्तराल बढ़ गया है। पिछले तीन दशक में भारत में प्रति व्यक्ति आय व द्धि दर 1.25 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक नहीं रही है, जबकि विकसित अर्थव्यवस्थाओं की स्थिति अत्यन्त अनुकूल रहती है। सतत् आ रही विदेशी सहायता के बावजूद भारत में गरीबी, बेरोजगारी और अल्प विकास की समस्या बनी है।

आर्थिक सहायता से विविध उद्योगों की स्थापना और आयात प्रतिस्थापन के प्रयासों के बाद भी भारत की निर्धनता और विदेशों पर आयात की निर्भरता बढ़ती गयी। फलतः विदेशी विनियम के सन्दर्भ में सतत् घाटे की स्थिति बनी है। विकसित अर्थव्यवस्थाओं से मिलने वाली सहायता निर्धारित मान की तुलना में अत्यन्त कम रही है। विकसित देशों से गरीब देशों को मिलने वाली सहायता अंकटाड द्वारा निर्धारित दरों से भी कम रही है। 1964 में अंकटाड ने निर्धारित किया था कि विकसित देशों को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पादन का कम-से-कम एक प्रतिशत भाग सहायता के रूप में विकासशील देशों को देना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1974 में यह प्रस्ताव पारित किया कि विकसित देशों को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 0.7 प्रतिशत भाग विकासशील देशों को सहायता के रूप में देना चाहिए। लेकिन विकसित देशों से मिलने वाली सहायता इस घटी हुई दर के तुल्य भी न हो सकी। विकसित देशों से मिलने वाली सहायता उनके सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 0.35 प्रतिशत के आस-पास ही रही है। यह अनुमान किया गया है कि वर्तमान दशक में उनके सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 0.40 प्रतिशत भाग से अधिक राशि विदेशी सहायता के रूप में न आ सकेगी। इस प्रकार अब विकासशील देशों का विकास विकसित देशों की तथाकथित उदारता के आधार पर नहीं हो सकता हैं।

इस विश्लेषण से प्रतीत होता है कि विदेशी सहायता की उपयोगिता विकास सन्दर्भो में कम हो जाती है। विदेशी सहायता अपने आप में विकासशील देशों के लिए सहायता हो सकती है, बशर्ते कि किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त न हो और सहायता मूल रूप में विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली के अनुरूप हो। सहायता का मुख्य भाग अनिबद्ध सहायता के रूप में होना चाहिए। ताकि प्रयोग में किसी प्रकार की बाध्यता न हो। विदेशी सहायता प्रचलित विकास प्रविधि को गति प्रदान करने के लिए होनी चाहिए, न कि अपने देश के आर्थिक प्रारूप को आरोपित करने के लिए। सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्रों को अपने गैर-आर्थिक उद्देश्यों को भी आरोपित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इन सबके साथ यह भी आवश्यक है कि विदेशी सहायता के रूप में मान्य विकसित राष्ट्र अपने सकल राष्ट्रीय उत्पादन का कम-से-कम 0.7 प्रतिशत भाग अवश्य दें और आर्थिक सहायता के साथ-साथ सहायता देने वाले देशों की मनःस्थिति भी सहायता देने की हो

इस समय विश्व के 140 देश विकासशील देश की कोटि में है जिनमें विश्व की कुल 75 प्रतिशत आबादी रहती है। लेकिन वे विश्व की सम्पत्ति के केवल 20 प्रतिशत भाग के स्वामी हैं। विश्व के संसाधनों पर समग्र मानवीयता का अधिकार है। देश की राजनैतिक सीमा बनाकर प्रकृतिजन्य सम्पदा से विश्व के बहुत बड़े जन-समूह को वंचित करना मानवता के हित में नहीं हैं। प्रकृति जन्य सम्पदा पर सबका समान अधिकार है। इस परिप्रेक्ष्य में यह सोचना नितान्त भ्रामक है कि एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका या दक्षिणी गोलार्ध के गरीब देशों के रहते—जहाँ कि अधिकांश जनसंख्या गरीबी, कुपोषण, भुखमरी ओर अशिक्षा का शिकार है—दुनिया के कुछ विकसित हिस्से दीर्घकाल तक सम द्धि और वैभव पूर्ण विलासी जीवन बिता सकते हैं।

विदेशी सहायता की विसंगतियाँ
(Contradictions of Foreign Aid)

भारत को विदेशी सहायता के माध्यम से विभिन्न विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में सुविधा मिली है। आधारिक अवस्थापना के निर्माण, कृषि विकास और प्राविधिक शिक्षा के सुधार में उल्लेखनीय सुविधा मिली हैं। लेकिन विदेशी सहायता अब विभिन्न समस्याओं का विशिष्ट कारण भी बन रही है। विदेशी सहायता जन्य कुछ विशिष्ट कठिनाइयों और समस्याओं का यहाँ विश्लेषण किया गया है-

1. विदेशी सहायता के माध्यम से विभिन्न सहायता प्रदान करने वाले देश प्राप्तकर्ता देश पर विभिन्न प्रकार के अनपेक्षित आर्थिक और राजनैतिक दबाव डालते हैं। यद्यपि ऋण समझौतों पर इस प्रकार की कोई द श्य शर्त नहीं होती है। परन्तु ऋण प्राप्त करने वाले देश को ऋण प्राप्ति हेतु विभिन्न कसौटियों को पूरा करना होता है। सहायता प्रदान करने वाला देश यह उम्मीद करता है कि ऋण लेने वाला देश एक विशेष प्रकार की आर्थिक नीति अपनाये। विश्व बैंक द्वारा भारत के आर्थिक विकास की समीक्षा करना और उसके बाद रुपये के मूल्य में 36.5 प्रतिशत के अवमूल्यन की सिफारिश करना उनके अप्रत्यक्ष दबाव का एक प्रमुख उदाहरण है। 1971 में भारत पर पाकिस्तान के आक्रमण के समय अमरीका ने भारत को विदेशी सहायता बन्द कर देने की धमकी दी थी। तारापुर का ऊर्जा संयंत्र विदेशी सहायता न मिलने का शिकार रहा। इसके लिए अपेक्षित ईंधन मिल सकने की सम्भावना अभी हाल के प्रयासों के फलस्वरूप हुई है। बहुधा विदेशी सहायता की प्रकृति अनिश्चित होती है। इस परिप्रेक्ष्य में किसी भी विकास योजना के किसी समय स्थगित या अवरुद्ध हो जाने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। विदेशी सहायता पर निर्भरता जितनी ही अधिक होती है, सहायता देने वाले देशों का दबाव और धमकी उतनी ही अधिक और अधिक प्रभावी होती है।

2. सहायता प्रदान करने वाले देशों की एक मुख्य प्रकृति यह होती हे कि वे प्रदत्त सहायता का मुख्य भाग शर्तयुक्त सहायता के रूप में देते हैं। विदेशी सहायता के रूप में सहायता प्राप्तकर्ता देश विदेशी सहायता का प्रयोग किसी विशेष परियोजना के लिए तथा किसी विशेष देश से सामग्री खरीदने के लिए ही कर सकते हैं। शर्तयुक्त सहायता के माध्यम से ऋणदाता देश अधिक मजबूत स्थिति में हो जाता है और इसके माध्यम से वह अपने अप्रचलित साज-सामान, मशीनरी और अप्रचलित तकनीक को विकासशील देशों में भेज देता है। पहले विदेशी सहायता के नाम पर मशीन या अन्य सामग्री देना और फिर मशीनों के कल-पुर्जे एवं उसके रख-रखाव की सामग्री को ऊँची कीमत पर बेचना और लाभ कमाना विकसित अर्थव्यवस्था के लिए सामान्य बात है। शर्तयुक्त सहायता के माध्यम से अपने देश के कूड़े की कीमत लेना और अपना वर्चस्व स्थापित करना ही विकसित अर्थव्यवस्थाओं की नियति है। 1965-66 और 1966-67 में अमरीका ने पी०एल० 480 के माध्यम से सहायता के नाम जो गेहूँ हमें दिया, यद्यपि उस समय हमें अत्यन्त जरूरत थी, वह संभवतः वहाँ जानवरों के प्रयोग के ही लायक था। विदेशी सहायता के छद्मवेश में उसने इससे भी लाभ अर्जित कर लिए। इसी प्रकार कुल सहायता का बहुत छोटा भाग अनुदान और शर्तहीन सहायता के रूप में मिला है। भारत की कुल प्रयुक्त विदेशी सहायता का केवल 31.9 प्रतिशत भाग शर्तहीन सहायता और केवल 11.3% भाग अनुदान के रूप में मिला है।

3. सामान्य रूप में विकसित अर्थव्यवस्थाओं का यह दावा होता है। कि वे ऋण प्राप्तकर्ता देश की जरूरत की प्रकृति के अनुसार ऋण देते हैं। लेकिन वास्तविक कार्यविधि इससे भिन्न होती है। सहायता के रूप में ऋण लेने वाले देश में विभिन्न विकसित अर्थव्यवस्थाओं और मौद्रिक संस्थाओं के प्रतिनिधि आते हैं और वे सहायता की योजनाओं पर विचार करते हैं जो किसी-न-किसी रूप में सहायता प्रदान करने वाले देश के हितों की रक्षा करते हैं अथवा उसके लिये लाभदायक होते हैं। सहायता प्रदान करने वाले देश या उसके विशेषज्ञ इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि सहायता इस प्रकार दी जाय ताकि सहायता ग्रहण करने वाले देश में सहायता देने वाले देश की प्रशंसा हो, उत्कृष्टता स्थापित हो और सहायता लेने वाले देश का आर्थिक ढांचा सहायता दाता देश के आर्थिक ढाँचे का अनुकरण करें। इस प्रक्रिया से वस्तुतः सहायता प्राप्त करने वाला देश, सहायता देने वाले देश के आर्थिकउपनिवेश बन जाते हैं, जबकि दावा यह किया जाता है कि सहायता सम्बद्ध देश की आवश्यकता के अनुरूप प्रदान की जाती है। इसे उनके हित के लिए दिया जाता है। हस्त-शिल्प, कुटीर उद्योगों, ग्रामीण आयुर्वेदीय स्वास्थ्य सेवाओं तथा परम्परागत उत्पादन तकनीक को विकसित करने के लिए अपेक्षित विदेशी सहायता नहीं मिली। उन्नत पश्चिमी स्वास्थ्य सेवाओं और प्राविधिक ज्ञान के लिए विदेशी सहायता मिली। इसके दूरगामी प्रभाव इस प्रकार रहे है कि भारतीय हवा, मिट्टी और पानी में पले-बढ़े युवा डाक्टर ओर प्रविधि-विशेषज्ञ जब देश के विकास प्रयास में कुछ योगदान

करने लायक हो जाते है तो विदेश में जाकर रहने के प्रति विशेष तत्परता दिखाने लगते हैं। विभिन्न बड़े संयंत्रों में विदेशी सहायता की बैसाखी पर सवार विदेशी तकनीशियन और प्रशासनिक अधिकारी अपना वर्चस्व बनाये रखते हैं।

4. विदेशी सहायता के माध्यम से आयातित मशीनरी ओर उपकरणों के लिए भारत को ऊँची कीमत देनी पड़ी है। उससे यह संदेहास्पद प्रतीत होता है कि भारत को जो आर्थिक सहायता मिली है, उसका मुख्य प्रेरक तत्व विकास को प्रोत्साहन देना रहा है। सत्यता तो यह प्रतीत होती हे विदेशी सहायता में कोई शर्त ऐसी अवश्य होती हे जो सहायता प्रदान करने वाली सरकार के हितों को पोषण करती है। टेरेसा हेयटर ने अपनी एक पुस्तक 'एंड ऐज इम्पीरियलिज्म' में लिखा है की सहायता बिना शर्त के वित्तीय संसाधनों का विकसित देशों से विकासशील देशों के लिए हस्तांतरण नहीं हैं। उनके अनुसार साधारणतया सहायता से सम्बद्ध शर्तें स्पष्ट रूप से और प्रत्यक्षतः उन सरकारों के हितों की पूर्ति के लिए होती हैं जो सहायता प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए साधारणतया सहायता के दाता देश के वस्तुओं और सेवाओं की खरीद के लिए सहायता का उपयोग किया जाना चाहिये। "अमरीका की सहायता को अमरीकी जहाजों से ही ले जाना चाहिये।" इस कथन में पूर्ण सत्यता न भी हो तो भी यह विदेशी सहायता कि नियति का स्पष्ट परिचायक है।

5. विदेशी सहायता के सन्दर्भ में एक मुख्य समस्या विदेशी ऋण के पुनर्भुगतान के कठिनाई की है। पुनर्भुगतान की प्रक्रिया में पूँजी और ब्याज वापसी की समस्या है। अधिकतर विदेशी सहायता से प्राप्त राशि उन परियोजनाओं में प्रयुक्त हुई जिनकी परिपक्वता अवधि अधिक है। फलतः प्रतिफल प्राप्ति में विलम्ब होता है और दूसरी ओर ब्याज एवं पूँजी सहित ऋण भार बढ़ता जाता हैं। इस परिप्रेक्ष्य में सम्प्रति कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न ही गयी है जिसके कारण कुल विदेशी सहायता का बहुत बड़ा भाग विदेशी ऋण के पूँजी और ब्याज के भुगतान के प्रति चला जाता है। एक ओर ऋण के कम लाभदायक उपयोग और अधिक परिपक्वता अवधि ओर दूसरी ओर ब्याज की ऊँची दर और कठिन भुगतान की शर्तें आदि के कारण पूँजी पर प्रतिफल अत्यन्त कम हो जाता है। इस कारण ऋणों की वापसी की समस्या अत्यन्त कठिन होती जा रही है। वर्ष 1985-86 तक विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त कुल 46565.3 करोड़ रुपये में से 1985-86 तक कुल 14495 करोड़ रुपये की राशि ऋण भुगतान के रूप में वापस की जा चुकी हैं। प्रत्येक वर्ष विदेशी सहायता की प्रभूत धनराशि विदेशी ऋण के परिशोधन में ही चली जा रही है। वर्ष 1985-86 में प्राप्त कुल विदेशी सहायता 5398.9 करोड़ रुपये में से 1366.6 करोड़ रुपये ऋण परिशोधन के रूप में ही चली गयी। अर्थात् उस वर्ष प्राप्त कुल विदेशी सहायता का केवल 75 प्रतिशत भाग ही विकास कार्यों में प्रयोग किया जा सका है। इससे यह प्रतीत होता है कि विदेशी सहायता का परिमाण बढ़ने के बावजूद विकास कार्यों में प्रयोज्य विदेशी सेवाओं का बोझ उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है जिसके भुगतान के लिए हम अपने दैनिक प्रयोग की विभिन्न अति-आवश्यक वस्तुयें यथा चाय, चीनी, तिलहन, कहवा आदि का निर्यात अत्यन्त नीची कीमतों पर करते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भारत में विदेशी सहायता का अधिक सकारात्मक प्रभाव नहीं रहा है। वस्तुतः देश को सहायता नहीं, बल्कि व्यापार की व द्धि करके विकास मार्ग को तीव्र करना होगा। आन्तरिक संसाधनों को देश कि आवश्यकताओं के अनुरुप आन्तरिक प्रौद्योगिकी के आधार पर विदोहन कर उत्पादन और उत्पादिता बढ़ायी जा सकती है। उक्त समस्त विश्लेषण यह निर्देश करता है कि कोई भी सहायता और अनुदान बिना दबाव व शर्त के नहीं दिया जाता है। यदि कदाचित् ऐसा हो भी तो अनुदान देने वाले देशों में मनोवैज्ञानिक अहंकार पैदा हो जाता है। अनुदान प्राप्तकर्त्ता की प्रकृति याचक जैसी हो जाती है जो उसकी मनःस्थिति ओर कार्यविधि पर किसी-न-किसी रूप में अवांछित प्रभाव डालती है।

भारत में विदेशी पूँजी
(Foreign Capital in India)

पूँजी आपूर्ति औद्योगिक विकास का प्रमुख चालक है। यह औद्योगिक प्रगति की पूर्वापेक्षा है। औद्योगिक क्रियाओं के लिये पूँजी आपूर्ति करने में घरेलू संसाधनों के अतिरिक्त विदेशी पूँजी का अंतःप्रवाह एक प्रमुख माध्यम बन गया है। भारतीय उद्योगों में विदेशी पूँजी निजी विनियोग के रूप में प्रयुक्त हुई हैं। भारतीय उद्योगों में विदेशी पूँजी का विनियोग प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग और 'पोर्ट फोलियो विनियोग' के रूप में हुआ है।

विदेशी पूँजी के प्रति नीति
(Policy towards Foreign Capital)

औपनिवेशिक शासन काल में विदेशी पूँजी की नियति राष्ट्र के अनुचित शोषण की रही है। इस अनुभव के कारण स्वतंत्रता के समय राष्ट्रीय द ष्टिकोण विदेशी पूँजी के प्रति अत्यन्त संशयपूर्ण था। इसलिए स्वतंत्रता के बाद विदेशी पूँजी के प्रति जो द ष्टिकोण अपनाया गया वह नियामक प्रकृति का था। भारत में विदेशी पूँजी के अंतर्प्रवाह के संदर्भ में सरकार के द ष्टिकोण का स्पष्टीकरण 6 अप्रैल, 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव और पुनः 1949 में संविधान सभा में तत्कालीन प्रधानमंत्री के वक्तव्य में किया गया था। प्रधानमंत्री के उक्त वक्तव्य में कहा गया है कि राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर विदेशी पूँजी और उद्यम की सहभागिता का अत्यन्त सावधानी से नियमन करना होगा ताकि कुछ विशिष्ट क्षेत्र को छोड़कर वास्तविक स्वामित्व और नियंत्रण के प्रमुख हित सदैव भारतीयों के हाथ में रहें। इन स्थितियों में यह आग्रह रहेगा कि अंततः विदेशी विशेषज्ञों का स्थान लेने के लिए भारतीय कर्मियों को प्रशिक्षण दिया जाये। सामान्य औद्योगिक नीति लागू करने के विदेशी तथा भारतीय उपक्रमों में कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। विदेशी विनिमय की स्थिति के अनुरूप लाभों की राशि भेजने और पूँजी प्रत्यावर्तन के लिए उचित सुविधायें प्रदान की जाये। यदि विदेशी पूँजी का राष्ट्रीयकरण किया जायेगा तो उचित एवं न्याय संगत मुआवजा दिया जायेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी पूंजी के अंतप्रर्वाह के प्रति उक्त घोषणा के बाद सरकार इसका सतत् परिपालन करती आयी है। विदेशियों को उन क्षेत्रों में विनियोग करने तथा सहयोग करने की सुविधायें प्रदान की जाती रही है जो देश लिए अति आवश्यक माने जाते है। विदेशी पूंजी के अंतर्प्रवाह को विशेषकर उन क्षेत्रों में सुविधा दी गई जिसके लिए भारी पूँजी विनियोग और जटिल प्रौद्योगिकी की आवश्यकता होती है, जिससे आयातों का प्रतिस्थापन किया जा सके और निर्यातों में व द्धि की जा सके, जिससे भारत के विविध उद्यमियों और श्रमिकों को प्रशिक्षित किया जा सके और जिससे विदेशी विनिमय साधनों में व द्धि की जा सकती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है विदेशी पूंजी के प्रति भारत की नीति चयन-परक रही है। इस चयन-परक नीति का उद्देश्य प्रौद्योगिकीय अंतराल को पूरा करना और आयात प्रतिस्थापन कर निर्यातों को बढ़ावा देना है। कई व्यवसायों यथा बैंकिंग, वाणिज्य, वित्त, बागान और उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में विदेशी पूँजी के अंतर्प्रवाह की सुविधा नहीं दी गई थी।

भारत ने नियोजन आरम्भ के समय से उपभोक्ता वस्तु उद्योगों सहित कई उद्योगों में आयातित प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया और विदेशी पूँजी का विनियोग स्वीकृत किया। कुछ समय बाद विदेशी पूँजी और विदेशी प्रौद्योगिकी के उस प्रवाह को अधिक प्राविधिक क्षेत्रों में वरीयता दी जाने लगी। अब तो निर्यातोन्मुख वस्तुओं के उत्पादन के लिए विदेशी पूँजी को प्रश्रय दिया जा रहा है। 1980 की औद्योगिक नीति में विदेशी पूँजी और प्रौद्योगिकी के संबंध में यह कहा गया है कि औद्योगिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में उच्च प्रौद्योगिकी के अंतर्प्रवाह को वरीयता दी जायेगी, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ भारतीय प्रौद्योगिकी और कुशलता पर्याप्त रूप से विद्यमान नहीं हैं। सरकार इस बात को अभिमान्यता देगी कि उपलब्ध प्रौद्योगिकी खरीदी जाये ताकि उसको देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जा सके। भारत ने इसी आकांक्षा से कई मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाये गये है।

आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया एक विश्वव्यापी प्रव त्ति बन गयी है। हाल के वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था भी उदारीकरण की ओर अग्रसर हुई है। उदारीकरण करने की प्रक्रिया में भारत ने प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग की नीति में भी परिवर्तन किया है। सरकार ने जुलाई 1991 में घोषित नई औद्योगिक नीति के अंग के रूप में अधिक उदार विदेशी पूँजी विनियोग नीति स्थापित की है। इसमें विदेशी पूँजी के अंतर्प्रवाह को अधिक सरल बनाया गया है। इस नीतिगत प्रावधान के अनुसार 34 निर्धारित उच्च प्राथमिकता प्राप्त पूँजी प्रधान प्रौद्योगिकी वाले उद्योगों में प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग की सीमा इक्विटी पूँजी की 51 प्रतिशत तक कर दी गयी जो पहले 40 प्रतिशत तक ही थी। इसी क्रम में 'विदेशी विनियोग प्रोत्साहन बोर्ड' स्थापित किया गया है। इसकी संस्तुति के आधार पर 51 प्रतिशत से भी अधिक इक्विटी पूँजी, प्रस्ताव की उपादेयता को ध्यान में रखकर प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग के रूप में स्वीकृत की जा सकती है। पूर्वतः विद्यमान कम्पनियाँ अपनी इक्विटी पूँजी निर्धारित दिशा निर्देशों के अन्तर्गत 51 प्रतिशत तक कर सकती है। विदेशी विनिमय नियन्त्रण अधिनियम (FERA) में 9 जुलाई, 1993

को अधिक उदार बनाने के लिये संशोधन किया गया जिसके अनुसार 40 प्रतिशत से अधिक इक्विटी पूँजी वाली कम्पनियों के साथ भारतीय स्वामित्व वाली कम्पनियों की भाँति ही व्यवहार किया जायेगा। इस प्रकार 14 मई, 1992 से यह व्यवस्था की गयी है कि विदेशी कम्पनियाँ अपने व्यापार चिन्ह और अभिकर्ताओं के साथ देश के भीतर अपनी आर्थिक क्रियायें संचालित कर सकती है। अनिवासी भारतीयों के लिये विनियोग हेतु अधिक प्रोत्साहनात्मक व्यवस्था प्रदान की जा रही है। इन नीतिगत प्रावधानों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि विदेशी प्रत्यक्ष विनियोग की प्रति भारत की नीति संरक्षणात्मक स्थिति से उदारीकरण की ओर अग्रसर हुई है। संरक्षणात्मक प्रावधानों को प्रशुल्क दरों को नीचा करके हटाया जा रहा हैं। भारत में प्रशुल्क दरें अत्यंत ऊँची रहीं हैं। इसमें अब क्रमशः कमी की जा रही है। इसी क्रम में विदेशी पूँजी के अंतर्प्रवाह के गैर-प्रशुल्क प्रावधानों को भी क्रमशः कम किया जा रहा है। विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों में विदेशी पूँजी के प्रवाह बढ़ाने के लिए लगातार प्रयास किये जा रहे हैं। इसे आर्थिक विकास के एक प्रमुख अभिकर्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

विश्वव्यापी 1929-33 की महान मंदी के बाद आर्थिक क्रियाओं में राजकीय हस्तक्षेप का बढ़ना आर्थिक विकास का प्रमुख कारक माना गया था। इसी प्रकार विवेचन युक्त संरक्षण की नीति का व्यापारिक क्रियाओं में महत्त्व लगातार बढ़ रहा था। यह प्रव त्ति परंपरावादी अर्थशास्त्रियों की स्वतंत्र व्यापार नीति के विकल्प के रूप में स्वीकृत की गयी थी। परन्तु संरक्षण युक्त नीति के परिणाम भारत और अन्य विभिन्न विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के लिए उत्साहवर्धक नहीं रहे। राजकीय हस्तक्षेप और नियन्त्रण की पोषक आर्थिक विचारधारा विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के आर्थिक विकास स्तर में उन्नयन नहीं कर सकी। वे विदेशी ऋण भार से दबते गये। इसलिये परम्परावादी और नव-परम्परावादी आर्थिक विचारधारा को पुनः महत्त्व प्राप्त होने लगा। भारत की अपनी आर्थिक नीति में तदनुसार परिवर्तन की ओर अग्रसर हुआ। अब यह स्वीकृत किया जा चुका है कि विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के बीच पारस्परिक अनुक्रिया बढ़ा कर ही आर्थिक विकास की दर ऊँची की जा सकती है।

प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग की प्रव त्ति
(Trends in Foreign Direct Investment)

भारतीय उद्योगों में विदेशी पूंजी का अंतर्प्रवाह प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग (Foreign Direct Investment) और पोर्टफोलियो विनियोग (Portfolio Investment) के रूप में होता है। प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग भारतीय कम्पनियों में स्थिर पूंजी और कार्यशील पूंजी अथवा पूंजीगत उपकरण प्रदान करने के रूप में होता है। इससे विदेशी विनियोगकर्ताओं को भारतीय कम्पनी के प्रबन्ध पर नियंत्रण अथवा सहभागिता की सुविधा प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता हैं कि प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग द्वारा विदेशी विनियोगकर्ताओं को भारतीय कम्पनी पर स्वामित्व के साथ-साथ विदेशी नियंत्रण भी प्राप्त हो जाता है। पोर्टफोलियो विनियोग की श्रेणी में वे विनियोग आते है जो किसी विदेशी द्वारा समता व अंशों के रूप में रखे जाते हैं। इस विनियोग पर एक निश्चित ब्याज व लाभांश की गारंटी दी जाती है। इस प्रकार के विनियोगकर्ता कोई जोखिम नहीं उठाते है। इसमें कम्पनी का स्वामित्व और नियंत्रण भारतीयों के पास छोड़ दिया जाता है।

भारत में विदेशी पूंजी के अंतर्प्रवाह, आकार और उसके द्वारा चलने वाली इकाइयों के लिए योजना आरम्भ के समय ओर उसके कुछ समय बाद तक के समयवार क्रमबद्ध आँकड़ों की कमी है। यह अनुमान किया गया है कि स्वतंत्रता के समय कुल निजी औद्योगिक विनियोग का लगभग 25 प्रतिशत भाग विदेशी कम्पनियों द्वारा नियन्त्रित था। इस आधार पर श्री जी०के० मिरोकोव ने अनुमान लगाया था कि स्वतंत्रता के समय विदेशी प्रत्यक्ष विनियोग की राशि लगभग 260 करोड़ रूपये थी। अनुमान है कि यह राशि 1977 में बढ़कर 2326 करोड़ रूपये हो गयी। इसमें 920 करोड़ रुपयें प्रत्यक्ष विनियोग और 1406 करोड़ रुपये 'पोर्टफोलियो विनियोग' था। कुल मिलाकर विनियोग व द्धि की दर अत्यन्त कम थी। बाद के वर्षों में भी प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग की स्थिति सामान्य हो रही है। स्पष्टतः 1990-91 के पूर्व विदेशी पूंजी का प्रवाह अत्यन्त कम रहा है। उक्त अवधि में विदेशी पूंजी के निम्न अंतर्प्रवाह का प्रमुख कारण विदेशी विनियोग के प्रति सरकार का प्रतिबन्धात्मक ओर चयनात्मक द ष्टिकोण रहा है। सामान्यतः विदेशी विनियोग की अनुमति उच्च एवं जटिल प्रौद्योगिकी तथा पर्याप्त निर्यात क्षमता वाले क्षेत्रों में ही थी।

भारत में 1991 से नयी आर्थिक नीति पूर्ण द ढ़ता के साथ लागू की गयी और विदेशी पूंजी के प्रति उदारवादी द ष्टिकोण अपनाया गया। इसके परिणामस्वरूप कुल विदेशी विनियोग में व द्धि हुयी जिसे नवीन आर्थिक नीति की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है। निम्नलिखित तालिका में प्रदर्शित किया गया कि हाल के वर्षों में विदेशी विनियोग का प्रवाह बढ़ा है। कुल विदेशी विनियोग 1989-91 से 1997-98 की अवधि में 25690 मिलियन डालर हुआ। विनियोग की अनुमोदित राशि अपेक्षाकृत अधिक हैं।

तालिका 27.4

विदेशी विनियोग का प्रवाह

	(मिलियन डालर)	
श्रेणी	1990-91 से 1997-98	प्रतिशत
प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग	10370	40
पोर्टफोलियो विनियोग	15320	60
योग	25690	100

Source : Economic Survey 1999-2000

अनुमोदित विदेशी विनियोग का विवरण तालिका 27.4 में दिया गया है जो यह प्रदर्शित करता है कि प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग के प्रति नयी नीति के परिणाम उत्साहवर्धक है। नीतिगत परिवर्तनों के परिणाम उत्पन्न होने में एक समय अन्तराल होना स्वाभाविक है। इस कारण यह आशा की जा सकती है कि आगामी वर्षों में विदेशी विनियोग के प्रति उदार नीति के कारण भारत में विदेशी पूँजी का प्रवाह बढ़ेगा। यह भी सम्भावना है कि आगामी वर्षों में विदेशी विनियोग की शर्तों को अधिक सरल बनाया जाये।

विदेशी विनियोग के विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि हाल के वर्षों का वास्तविक निष्पादन अधिक उत्साहवर्धक नहीं हैं। प्रथम, यह कि प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग के अनुमोदित राशि और वास्तविक प्रवाह में अत्यधिक अन्तराल है। 1991-98 की अवधि में अनुमोदित राशि में प्राप्त राशि की मात्रा केवल 20.7 प्रतिशत रही है। आवश्यकता वास्तविक प्रवाह बढ़ाने की है। दूसरे 1991 से 1998 की अवधि में जो कुल विदेशी विनियोग हुआ उसमें प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग केवल 40 प्रतिशत है। इसमें अनिवासी भारतीयों का अंश कुल विनियोग का लगभग 12 प्रतिशत है। इस प्रकार कुल विदेशी विनियोग में प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग का अंश केवल 28 प्रतिशत है। अधिकांश विनियोग पोर्टफोलियो विनियोग की कोटि का है जो बाजार अनिश्चिता और सट्टा क्रियाओं को प्रोत्साहित करता है।

विदेशी प्रत्यक्ष विनियोग के स्वीकृति की 1991 और 1999 की स्थिति से स्पष्ट है कि जब विदेशी पूँजी का भारत की ओर प्रवाह बढ़ रहा है। इसमें यू०एस०ए० का अंश सर्वाधिक है। समस्त स्वीकृत विनियोग में 1992 की स्थिति के अनुसार यू०एस०ए०, स्विटजरलैण्ड और जापान का अंश लगभग 68 प्रतिशत है। 1990 की तुलना में 1992 में जापान के अंश में अत्यन्त तीव्र व द्धि हुई। यह 1990 के 3.9 प्रतिशत की तुलना में 1992 में बढ़कर 15.7 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार एक अन्य महत्वूपर्ण परिवर्तन अनिवासी भारतीयों के द्वारा किये जाने वाले विनियोग में हुआ है। कुल स्वीकृत विनियोग में इनका अंश 1990 में 5.3 प्रतिशत था जो 1992 में बढ़कर 11.3 प्रतिशत हो गया। अनिवासी भारतीयों के विनियोग को आकर्षित करने के लिये लगातार प्रयास किये जा रहे है। उदारीकरण की नीति आरंभ होने के बाद विभिन्न वर्षों के बजट भाषण में वित्त मंत्री ने अनिवासी भारतीयों के योगदान की सराहना किया और उसे बढ़ाने की आकांक्षा व्यक्त की थी।

निर्यातोन्मुख वस्तुओं के उत्पादन में विदेशी पूँजी के विनियोग को बढ़ावा देने के लिए कई अन्य प्रोत्साहनात्मक प्रयास किये गये है; ऐसी औद्योगिक इकाइयाँ जिनका अधिकांश उत्पादन निर्यात कर दिया जाता है, उन्हें कच्चे पदार्थ की आपूर्ति और कर-रियायतों की सुविधा प्रदान की गयी है। इसी परिकल्पना की प ष्ठभूमि में विदेशी पूंजी आकर्षित करने की द ष्टि से और निर्यात बढ़ाने के लिए कान्दला, शान्ताक्रूज, मद्रास, फाल्टा, कोचीन, नोयडा और विजांग में निर्यात प्रक्रिया क्षेत्र बनाये गये। निर्यात आयात नीति 2000-01 में विशेष आर्थिक क्षेत्र (Special Economic Zone) की स्थापना की गयी है। इस

क्रम में तूतीकोरिन (तमिलनाडु) और पिपावव (गुजरात) में विशेष क्षेत्र बनाये गये है। यह व्यवस्था विदेशी निवेशकों को आकर्षित करने की द ष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। विदेशी विनियोग को आकर्षित करने के विभिन्न प्रयासों से भारत की ओर विदेशी पूँजी का प्रवाह बढ़ा है। विदेशी विनियोगकर्ताओं में विश्वास बढ़ा है। 1991 की तुलना में 1994 और उसके बाद की स्थिति अत्यन्त आशाजनक है।

विदेशी पूँजी की भूमिका का मूल्यांकन
(Evaluation of the Role of Foreign Capital)

आर्थिक विकास में त्वरण उत्पन्न करने और भारतीय उद्योगों में प्रतिस्पर्धात्मक प्रव त्ति उत्पन्न करने की द ष्टि से विदेशी पूँजी का स्वागत किया जा रहा है। पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ में साम्यवाद के अल्प निष्पादन और बाजार अर्थव्यवस्था का प्रसार हाल के वर्षों की अत्यन्त प्रमुख घटनाएँ है। इन कारणों से विश्व में पूँजीवादी आर्थिक विचारधारा की श्रेष्ठता स्पष्ट हुई है। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न अर्थव्यवस्थाएं जो संरक्षण और नियंत्रणयुक्त आर्थिक नीति की पोषक थी, उदारीकरण की ओर अग्रसर हुई हैं। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में उदारवाद की प्रव त्ति इतनी प्रबल है कि इसे आर्थिक नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन कहा जा सकता है। भारत की अर्थव्यवस्था भी इसी विचारधारा के अनुरूप चलने की द ष्टि से खुलेपन की नीति की ओर अग्रसर हुई है। इसी क्रम में भारत में विदेशी पूंजी के प्रवाह का स्वागत किया जा रहा है। यह सोचा जा रहा है कि इससे उच्चस्तरीय वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान प्राप्त किया जा सकेगा। परन्तु विदेशी पूँजी की क्रियाविधि अत्यन्त विसंगति युक्त रही है। इसका उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना रहा है। इसने राष्ट्रीय संसाधनों का अपने हित में प्रयोग किया है। विदेशी पूँजी निवेशकों ने विदेशी पूँजी के प्रति भारतीय नीति का अनुचित लाभ उठाया है। कई ऐसे क्षेत्रों में विदेशी पूँजी लगी है जिनके लिये भारत के पास पर्याप्त तकनीकी क्षमता विद्यमान है।

विदेशी प्रत्यक्ष विनियोग की स्वीकृति और उसके वास्तविक अन्तःप्रवाह में अत्यधिक अन्तराल है। विनियोग सम्बन्धी समझौतों और स्वीकृति के बाद भी विदेशी पूँजी का वास्तविक प्रवाह अत्यन्त कम होता है। उदाहरण के लिये 1992 में विभिन्न देशों से भारत में प्रत्यक्ष विनियोग के लिये 5256 करोड़ रुपये की पूँजी का अनुमोदन हुआ। परन्तु वास्तविक प्रवाह केवल 675 करोड़ रुपये का रहा। इस प्रकार वास्तविक प्रवाह कुल अनुमोदन का 13 प्रतिशत तक ही रहा है। समझौतों के बाद भी विदेशी पूँजी का निम्न प्रवाह यह स्पष्ट करता है कि अभी भी विदेशी विनियोगकर्ता, विभिन्न प्रोत्साहनात्मक सुविधाएँ दिये जाने के बाद भी, पूँजी विनियोग के प्रति संकोच कर रहे हैं। यह तो वे ही सोच सकते हैं कि उन्हें कितनी अतिरिक्त सुविधा की अपेक्षा है।

विदेशी पूँजी बहुधा अपने साथ विदेशी प्रौद्योगिकी भी लाती है। विकसित देशों की यह प्रोद्योगिकी पूँजी का भारी मात्रा में उपयोग करती है। श्रम को विस्थापित करती है। ऊर्जा तथा प्राकृतिक संसाधनों का भारी मात्रा में उपयोग करती है। इससे जनित रोजगार अवसरों का लाभ समाज के आर्थिक द ष्टि से शक्तिशाली लोगों को ही मिल पाता हैं। इस प्रोद्योगिकी से निर्मित सामान का उपयोग भी समाज के जन-सामान्य लोग नहीं, अपितु विशिष्ट वर्ग के लोग ही कर पाते हैं। समाज के इस विशिष्ट वर्ग के लोग ही विभिन्न परियोजनाओं के नीति निर्धारण और प्रशासन में संलग्न रहते हैं। इससे समाज पर वर्चस्व बनाने में उन्हें सहायता मिलती है। स्पष्टतः विदेशी सहायता थोपी प्रौद्योगिकी के माध्यम से विकसित देशों के हितों के साथ विशिष्ट वर्ग के हितों का पोषण करती है। 25 नवम्बर, 1976 को इण्टरनेशनल चैम्बर ऑफ कामर्स की इण्डियन नेशनल कमेटी के समक्ष भाषण करते हुए तत्कालीन विदेश मंत्री ने यह स्वीकार किया था कि विदेशी पूँजी अपने साथ ऐसी प्रौद्योगिकी लेकर आयी जो अतिरिक्त श्रम वाले देशों की परिस्थिति के अनुकूल नहीं थी। अतिरिक्त श्रम वाले देशों में पूँजी की कमी रहती है। अस्तु, यह पूँजीप्रधान प्रौद्योगिकी उनकी परिस्थितियों के अनुकूल नहीं होती है। ठीक यही स्थिति भारत की भी है। भारत में विदेशी पूँजी के साथ-साथ उत्पादन की पश्चिमी तकनीक आयी। परिणामतः कहीं-कहीं बड़े कारखाने स्थापित हुए और स्थानीय लोग विस्थापित हो गये। उन्हें उन संयंत्रों में रोजगार भी नहीं मिला, क्योंकि वे संयंत्र उच्च प्राविधिक ज्ञान की अपेक्षा करते हैं जो स्थानीय लोगों में नहीं होता और न होना उनकी गरीबी के परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक भी हैं। विदेशी सहायता के दबाव और मोह के कारण हम अपनी परिस्थिति के अनुकूल प्रौद्योगिकी विकसित नहीं कर सके। भारत में निर्विवाद

रूप से उत्पादन की ऐसी प्रौद्योगिकी की जरूरत है जो कम पूँजी और अधिक श्रम के सहायोग से उत्पादन में योगदान कर सके।

विदेशी पूँजी ने भारत की सामाजिक मानसिकता में भी परिवर्तन का प्रयास किया है। उपभोगवादी संस्कृति को बढ़ावा दिया है। इसने बहुमूल्य भारतीय विरासत को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से नुकसान पहुँचाया है। विदेशी फर्मों द्वारा राजनीतिक हस्तक्षेप का भी प्रयास किया है। इन्होंने देश में शोध एवं अन्वेषण को बढ़ाने में सहयोग नहीं किया है या प्रयास नगण्य है। अतः विदेशी पूँजी के अन्तर्प्रवाह और उसकी क्रियाविधि पर सम्यक-नियंत्रण की आवश्यकता है। इस प्रव त्ति से भारत के विदेशी कम्पनियों और उनके द्वारा उत्पादित सामानों का बाजार मात्र बनने की सम्भावना है। भारतीय अर्थव्यवस्था में सम्यक वित्तीय अनुशासन की आवश्यकता है जिससे विनियोजित पूँजी के रिसाव को रोका जा सके। अर्थव्यवस्था को जरूरत आधारित उपभोग ढाँचे के अनुसार सुद ढ़ करना होगा ताकि विकास और प्राकृतिक पर्यावरण के संरक्षण के उद्देश्य पूरे किये जा सकें।

अध्याय 28
दसवीं पंचवर्षीय योजना
(The Tenth Five Year Plan)

दसवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि अप्रैल 1, 2002 से मार्च 31, 2007 तक होगी, यह योजना अब तक की सबसे अधिक महत्वाकांक्षी योजना है। दसवीं योजना सहस्त्राब्दी (New Millennium) के आरंभ में पूर्व लाभों को बनाए रखने का अवसर प्रदान करेगी परन्तु जो कमजोरियां भी आई हैं उनको भी ध्यान में रखेगी। भूतकाल में जो लाभ या प्रतिफल मिले हैं, वे निम्नलिखित हैं—(i) राष्ट्रीय आय की दर में व द्धि दर में सुधार हुआ है, जो अस्सी की शताब्दी में लगभग 5.7 प्रतिशत थी और आठवीं व नौवीं योजना में बढ़कर औसतन 6.5 प्रशित हो गई है, इससे भारत तेजी से विकसित होने वाले दस देशों में गिना जाने लगा है। (ii) निर्धनता रेखा से नीचे वाली जनसंख्या का प्रतिशत निरन्तर गिर रहा है। (iii) पिछले चार दशकों में जनसंख्या की व द्धि दर पहली बार 2 प्रतिशत से कम रही है। (iv) साक्षरता दर (Literacy Rate) 1991 में 52 प्रतिशत से बढ़कर 2001 में 65 प्रतिशत हो गई है। (v) सॉफ्टवेयर सेवाएं तथा आई. टी. योग्य सेवाएं शक्ति के एक नए स्रोत के रूप में उभरी हैं, इन्होंने विश्व अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा के लिए भारत के संभावित सामर्थ्य में विश्वास पैदा किया है।

फिर भी विकास के कई ऐसे पक्ष हैं जहां हमारी प्रगति स्पष्ट रूप से निराशाजनक रही है। हमारी कुछ कमियां (Weakness) निम्नलिखित हैं—(i) बेरोजगारी का भार सापेक्षता ऊंचा अर्थात 7 प्रतिशत से ऊपर रहा है। (ii) ग्रामीण क्षेत्रों में 1-5 वर्ष की आयु के आधे से अधिक बच्चे अल्पपोषित (Under-nourished) हैं। (iii) लड़कियां (Girls Child) अल्पाहार से अधिक पीड़ित हैं। (iv) पिछले कई वर्षों से शिशु म त्यु दर (Intant Mortality) कम होकर 72 प्रति हजार रह गई है। (v) ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 60 प्रतिशत और शहरी क्षेत्रों में लगभग 20 प्रतिशत मकानों को बिजली की सुविधा नहीं मिली है। (vi) शहरी निवास स्थानों में केवल 60 प्रतिशत घरों में पानी के नलके हैं। (vii) दसवीं योजना को पिछले अनुभव से सबक लेना चाहिए। इसे अपनी प्राप्तियों को सुद ढ़ करना होगा, और असफलताओं के दोहराए जाने से बचना होगा। इसी उद्देश्य व लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए दसवीं योजना का निर्माण, केवल साधन/स्रोत योजना (Resource Plan) की बजाए, सुधार योजना (Reform Plan) के रूप में किया जा रहा है।

दसवीं योजना में कुल 15,92,300 करोड़ रु. की राशि सार्वजनिक निवेश के लिए प्रस्ताविक की गई है। योजना का लक्ष्य प्रति वर्ष 8 प्रतिशत विकास दर को प्राप्त करना है। दसवीं पंचवर्षीय योजना का प्रस्तावना पत्र (Approach Paper) राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) ने सितम्बर 2003 में पारित किया और मंत्रिमंडल (Cabinet) ने अक्टूबर 2002 में अंतिम दस्तावेज को मंजूरी दे दी।

प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के अनुसार योजना का उद्देश्य न्यायोचित विकास प्रक्रिया (Equitable Development Process) एवं जनोन्मुख आयोजन (People - Oriented Planning) द्वारा भारत को निकट भविष्य में एक आर्थिक शक्ति बनाना है। इस बात को स्वीकार किया गया है कि जन-सहभागिता के बिना आयोजन विकास का एक महत्वपूर्ण साधन नहीं बन सकता। योजना के दस्तावेज में रोजगार उत्पन्न करने की मूल समस्या तथा अर्थव्यवस्था के लिए बढ़ती विकास दर पर विशेष बल दिया है। प्रधानमंत्री ने यह बात जोर देकर कही कि भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती बेहतर एवं अधिक संतुलित विकास को प्राप्त करना है तथा पिछली शताब्दी की समस्याओं जैसे निर्धनता तथा अल्प विकसिता का मूल रूप से उन्मूलन करना है। उसने नई शताब्दी के दूसरे दशक के समाप्त होने से पहले देश को वास्तविक विकास की ओर आगे बढ़ने के लिए उत्साहित किया।

दसवीं योजना के उद्देश्य
(Objectives of the Tenth Plan)

दसवीं योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. **राष्ट्रीय आय की व द्धि दर (Rate of Growth of National Income)**–2002-07 की अवधि में लगभग 8 प्रतिशत व द्धि दर प्राप्त करने का लक्ष्य है।
2. **प्रति व्यक्ति आय की व द्धि दर (Growth Rate of Per Capita Income)**–दसवीं योजना का यह उद्देश्य है कि आगामी दस वर्षों में प्रति व्यक्ति आय की व द्धि दर को दुगना किया जाए।
3. **जीवन की गुणवत्ता में सुधार (Improvement in Quality of Life)**–दसवीं योजना का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि सभी लोगों के जीवन की गुणवत्ता में महत्वपूर्ण सुधार एवं प्रगति हो। इसमें न केवल खाद्यान्न तथा अन्य उपभोक्ता वस्तुओं के उपभोग के उपयुक्त स्तर को शामिल किया जाएगा बल्कि आधारभूत सामाजिक सेवाओं को भी प्राप्त करने का प्रयास किया जाएगा। जैसे–शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल की उपलब्धता तथा आधारिक सफाई व्यवस्था।
4. **निर्धनता में कमी (Reduction in Poverty)**–निर्धनता अनुपात को वर्ष 2001 तक 5 प्रतिशत बिन्दुओं तक और वर्ष 2012 तक 15 प्रतिशत बिन्दुओं तक घटाना अर्थात् निर्धनता अनुपात को 2007 तक 26 प्रतिशत से घटाकर 21 प्रतिशत करना।
5. **लाभकारी रोजगार का प्रावधान (Provision of Gainful Employment)**–दसवीं योजना का उद्देश्य, योजना अवधि में अतिरिक्त श्रमशक्ति को, लाभकारी उच्च कोटि का रोजगार प्रदान करना है। पांच करोड़ लोगों को अतिरिक्त रोजगार देने का प्रस्ताव है।
6. **सर्वव्यापी शिक्षा का प्रावधान (Provision of Universal Education)**–दसवीं योजना का उद्देश्य 2007 के अन्त के सर्वव्यापी प्राथमिक शिक्षा का प्रावधान करना है। अर्थात् 2003 तक सभी बच्चों को स्कूल में दाखिल करना है। और 2007 तक सभी बच्चों द्वारा 5 वर्ष की स्कूली शिक्षा ग्रहण करना है।
7. **लिंग अन्तरों में कमी (Reduction in Gender Gaps)**–दसवीं योजना का उद्देश्य 2007 तक शिक्षा तथा मजदूरी दरों के लिंग अन्तरों में कम से कम 50 प्रतिशत तक कमी करना है।
8. **जनसंख्या की व द्धि में कमी (Reduction in the Growth Rate of Population)**–इस योजना का उद्देश्य 2001 से 2011 के बीच जनसंख्या की व द्धि दर को 16.2 प्रतिशत कम करना है।
9. **साक्षरता दर में व द्धि (Increase in Literacy Rate)**–इस योजना का उद्देश्य, योजना अवधि में साक्षरता दर को 75 प्रतिशत बढ़ाना है।
10. **शिशु म त्यु दर को घटाना (Reduction of Infant Mortality Rate)**–दसवीं योजना का उद्देश्य शिशु म त्यु दर (IMR) को 2007 तक घटाकर 45 प्रति हजार और 2012 तक 28 प्रति हजार करना है।
11. **मात त्व म त्यु दर को घटाना (Reduction in Material Mortality Ratio)**–दसवीं योजना का उद्देश्य मात त्व म त्यु दर (MMR) को 2007 तक 2 प्रति हजार और 2012 तक प्रति हजार करना है।
12. **पर्यावरण संरक्षण (Environment Protection)**–पर्यावरण संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए (i) वन व क्षों के अन्दर आने वाले क्षेत्र वर्ष 2007 तक 25 प्रतिशत और 2012 तक 33 प्रतिशत बढ़ाए जाएंगे। (ii) मुख्य प्रदूषित नदियों की सफाई 2007 तक पूरी की जाएगी।
13. **पेयजल का प्रावधान (Provision of Drinking Water)**–योजना अवधि में प्रत्येक गांव में पेय जल का प्रबन्ध किया जाएगा।
14. **संव द्धि, समानता तथा धारणीयता (Growth, Equity & Sustainability)**–दसवीं योजना का मुख्य उद्देश्य निष्पक्षता तथा सामाजिक न्याय के साथ निरन्तर संव द्धि या विकास को प्राप्त करना है।
15. **सभी राज्यों में संतुलित विकास (Balanced Development in all States)**–सभी राज्यों में संतुलित विकास सुनिश्चित करने के लिए प्रत्येक राज्य के व्यापक विकास लक्ष्यों के ब्यौरे की दसवीं योजना में शामिल करना होगा।

उपरोक्त उद्देश्य तभी प्राप्त हो सकेंगे यदि (i) हम आधारिक संरचना तथा सामाजिक क्षेत्र में अधिक सार्वजनिक निवेश करेंगे, (ii) साधनों के सकुशल बंटवारे में सुधार ला सकेंगे। (iii) ऐसे नीति संबंधी सुधार लाएं जो निवेश प्रेरक पर्यावरण की स्थापना कर सके और (iv) अन्त में, यदि हम प्रशासन में सुधार तथा क्रियान्वयन की कुशलता को बढ़ाने में सफल हो सकें।

मान्यताएं
(Assumptions)

दसवीं योजना की 8 प्रतिशत की व द्धि दर निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित हैः—

1. वर्तमान पूंजी उत्पादन अनुपात (Increamental Capital Output Ratio) 4 : 1 होगी।
2. निवेश की दर 32 प्रतिशत होगी।
3. कार्यक्षमता विकास में सुधार किया जाएगा।
4. संकटपूर्ण/नाजुक क्षेत्र में प्रगति सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त राजनैतिक इच्छा (Political Will) को गतिशील बनाया जाएगा।
5. घरेलू बचतों की दर 29.8 प्रतिशत और विदेशी बचतों की दर 2.8 प्रतिशत होगी।
6. राजकोषीय धारा 2.6 प्रतिशत होगा।
7. केन्द्रीय सरकार की सकल घरेलू उत्पाद से 10.2 प्रतिशत राजस्व प्राप्तियां (Revenue Recepts) और 10.7 प्रतिशत व्यय (Revenue Expenditure) प्राप्त होगा।
8. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में 78,000 करोड़ रु. का निवेश किया जाएगा।

कुल व्यय का बंटवारा (Allocation of Total Outlay)

आगे दी गई तालिका से दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र में किए जाने वाले कुल व्यय का अनुमान लगाया जा सकता है—

तालिका नं 1 सार्वजनिक क्षेत्र का कुल व्यय

	Ceow	Oemleeef Jele J-e-e (KeAjesacl [@])	KegAueJ-e-e KcAc OeefleMele
1.	क षि तथा संबंधित गतिविधियां	58933.0	3.7
2.	ग्रामीण विकास	1,21,928.0	8.0
3.	विशेष कार्यक्रम	20,879.0	1.4
4.	सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण	1,03,315.0	6.8
5.	ऊर्जा	4,03,927.0	26.5
6.	उद्योग तथा खनिज	58,939.0	3.9
7.	परिवहन	2,25,977.0	12.5
8.	संचार	98,968.0	6.5
9.	विज्ञान तथा तकनीक	30,424.0	2.0
10.	सामान्य आर्थिक सेवाएं	38,630.0	2.5
11.	सामाजिक सेवाएं	3,47,391.0	22.8
12.	सामान्य सेवाएं	16,328.0	1.1
13.	विविध	66,661.0	2.3
	कुल	**15,92,300.0**	**100.0**

(स्रोत : दसवीं पंचवर्षीय योजना- VOL -1)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि दसवीं योजना में कुल व्यय का लगभग 48 प्रतिशत भाग आर्थिक आधारिक संरचना (Economic Infrastructure) अर्थात् ऊर्जा, परिवहन तथा संचार पर खर्च किया जाएगा। सामाजिक सेवाओं जैसे–शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास आदि पर कुल व्यय का 22.8 प्रतिशत भाग व्यय किया जाएगा। क षि, ग्रामीण विकास, सिंचाई तथा बाद नियन्त्रण उपायों पर कुल व्यय का 18.7 प्रतिशत भाग व्यय किया जाएगा। उद्योगों तथा खनिज पर कुल व्यय का केवल 3.7 प्रतिशत भाग खर्च किया जाएगा। वास्तव में, ऊर्जा, सड़कों, संचार तथा यातायात के साधनों आदि की अर्थव्यवस्था के विकास में विशेष भूमिका होती है। इनकी कमी से क षि तथा उद्योग के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी कारण योजना में आर्थिक आधारिक संरचना तथा सामाजिक सेवाओं के विकास पर कुल व्यय का 68.3 प्रतिशत भाग व्यय किया जा रहा है।

सार्वजनिक क्षेत्र की वित्त व्यवस्था (Financing of the public Sector)

दसवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र पर किए जाने वाले कुल व्यय को आगे दिए गए साधनों से प्राप्त किया जाना है:–

तालिका नं. 2 सार्वजनिक क्षेत्र की वित्त व्यवस्था

(करोड रु. 2001-02 की कीमतों पर)

वित्त व्यवस्था के साधन	KeAjesae[©]	OeefleMele
1. करों की वर्तमान दरों से प्राप्त राजस्व	20,193	1.3
2. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का योगदान	5,98,240	37.6
3. ऋण तथा विविध प्राप्तियां	9,46,667	59.4
4. शुद्ध विदेशी सहायता	27,200	1.7
कुल	**15,92,300**	**100.0**

(Source - Tenth Five Year Plan - Vol - I)

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल वित्तीय साधनों में से 97 प्रतिशत आन्तरिक साधनों तथा केवल 1.7 प्रतिशत बाहरी साधनों से प्राप्त किए जाएंगे। सार्वजनिक क्षेत्र के कुल खर्च का 59.4 प्रतिशत भाग ऋणों तथा विविध प्राप्तियों से तथा 37.6 प्रतिशत भाग सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों से प्राप्त होने का अनुमान है।

संक्षेप में, योजना की वित्तीय रूपरेखा इस प्रकार है:–

1. कुल व्यय : 15,92,300 करोड़ रु.
   - (a) केन्द्रीय योजना का व्यय : 9,21,291 करोड़ रु.
   - (b) राज्यों तथा संघ शासित प्रदेशों की योजनाओं का व्यय : 6,71,009 करोड़ रु.
2. निवेश : सकल घरेलू उत्पाद का 28.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष
   - (a) राष्ट्रीय बचत : 26.8 प्रतिशत (नौवीं योजना में 23.3 प्रतिशत)
   - (b) विदेशी संसाधन (प्रत्यक्ष विदेशी निवेश) : 1.6 प्रतिशत (नौवीं योजना में 0.9 प्रतिशत)
3. अनुमानित बजट सहायता : 7,06,000 करोड़ रु.
4. सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों के विनिवेश से प्राप्त अनुमानित राशि : 78000 करोड़ रु.

यह बात उल्लेखनीय है कि वित्त प्रबन्ध सकुशल होना चाहिए जिससे अपव्यय से बचा जा सके तथा अनुकूलतम बंटवारा सुनिश्चित किया जा सके। वर्तमान संसाधनों का कुशलतम उपयोग ही योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति को सुनिश्चित करेगा। हमारा आशय वित्त का प्रबन्ध ऐसे ढंग से करना है कि न केवल योजना के लक्ष्यों की ही प्राप्ति हो बल्कि हम उनसे भी आगे बढ़ जाएं।

दसवीं योजना की व्यूह रचना (Strategy of the Tenth Plan)

योजना आयोग के अनुसार, ''योजना की व्यापक व्यूह रचना जहां व द्विशील निवेश तथा कार्यक्षमता के सुधार के संयोग पर निर्भर करेगी, वहां अर्थव्यवस्था में छिपी क्षमताओं को बाहर निकालने, दबी उत्पादक शक्तियों तथा उद्यमकर्ता शक्तियों को मुक्त कर देने, सभी क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी को ऊंचा उठाने पर आधारित होगी, इन सबसे प्रत्येक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं की कुशलता में सुधार हो जाएगा।''

दसवीं योजना में अपनाई जाने वाली व्यूह रचना के मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं–

1. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में निवेश किया जाएगा। कर प्रणाली, श्रम कानूनों, प्रशासनिक व्यवस्था तथा सामान्यता नियमों को लागू करने वाली पद्धति में सुधार किए जाएंगे।

2. आर्थिक क्रियाओं में सरकार की भूमिका को पुनः परिभाषित करना। आर्थिक क्षेत्र में सरकार की जिम्मेवारियों को कम किया जाएगा। किन्तु सामाजिक क्षेत्र में सरकार को आर्थिक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। आधारिक संरचना के विकास के क्षेत्र में बहुत अधिक अन्तराल (Gaps) पाए जाते हैं और निजी क्षेत्र में यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इस अभाव को भली प्रकार दूर कर सकेगा। इन क्षेत्रों में सरकार की भूमिका को पुनः स्थापित करना होगा तथा आधारिक संरचना के विकास के कुछ ऐसे क्षेत्रों में सरकार को आगे आना होगा। जिनमें निजी निवेश रुचि नहीं दिखाता, जैसे ग्रामीण आधारिक संरचना और सड़कों का विकास।

   दूर-संचार, शक्ति, बिजली और बन्दरगाहों जैसे क्षेत्रों में निजी क्षेत्र एक बड़ी भूमिका निभा सकता है, यदि इस संबंध में उचित नीति अपनाई जाए। इस हेतु सरकार की भूमिका में परिवर्तन आवश्यक है। जिससे निवेश सुविधा अधिक से अधिक संभव हो सके और अधिक समय तक ये सेवाएं सार्वजनिक क्षेत्र की बनी रहें। इन सभी क्षेत्रों में सरकार की भूमिका एक नियामक (Regulator) के रूप में होगी। यह उपभोक्ता के साथ उचित व्यवहार, पारदर्शिता (Transparency) तथा उत्तरदायित्व (Accountability) को सुनिश्चित करेगी। इन दोनों क्षेत्रों के प्रति समान व्यवहार अपनाएगी। ऊर्जा क्षेत्र के सुधारों पर अधिक ध्यान दिया जाएगा। ऊर्जा, परिवहन और जल संसाधन संबंधी आधारिक संरचना की सभी कमियों को दूर किया जाएगा।

3. क षि विकास को योजना के एक मूल तत्व के रूप में देखा जाना चाहिए। इस क्षेत्र के विकास से व्यापक लाभ प्राप्त करके विशेषकर ग्रामीण निर्धन वर्ग को जिसमें क षि श्रम भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अधिकांश स्त्री-श्रमिक क षि का काम करते हैं, तथा इस क्षेत्र में किया गया निवेश लिंग समानता (Gender Equality) के लिए महत्वपूर्ण है। यह निवेश इस ढंग से किया जाए कि इस दिशा में उसका प्रभाव अधिकतम हो।

4. दसवीं योजना की विकास संरचना उन क्षेत्रों के विकास को अवश्य सुनिश्चित करे जो उच्च कोटि के रोजगार पैदा करने की संभावना रखते हैं। विशेष ध्यान उस नीति-निर्माण की ओर देना होगा जो आर्थिक संभावनाएं बहुत अधिक हैं। इनमें निर्माण, वास्तविक सम्पदा (Real Estate) व ग ह-निर्माण, यातायात, लघु उद्योग, आधुनिक फुटकर बिक्री, मनोरंजन जैसे क्षेत्र सम्मिलित हैं। यह अनेक प्रकार की उन सेवाओं को इस योग्य बनाएंगी जिन्हें समर्थन संबंधी नीतियों के द्वारा प्रोत्साहन की आवश्यकता है। एक अन्य क्रिया जिसमें इन सभी क्रियाओं को प्रोत्साहित करने का संभाव्य है तथा इसका इनके साथ आगे का तथा पीछे का जुड़ाव (Forward & Backward Linkege) है, वह पर्यटन है। पर्यटन की क्रिया के विकास के लिए अनेक एजेंसियों के साथ तालमेल की आवश्यकता है। दसवीं योजना को यह सुनिश्चित करना होगा इस क्रिया (पर्यटन) में संपूर्ण संभाव्य (Potential) की प्राप्ति हो सके।

5. दसवीं योजना की व्यूह रचना को इस प्रकार पुनः रेखांकित करना होगा कि स्त्रियों के लिए जो ''सामाजिक रक्षाजाल (Social Safetynets) चल रहे हैं, वे लिंग समानता लक्ष्यों को प्राप्त करना सुनिश्चित कर सकें। इस हेतु एक राष्ट्रीय कार्य योजना (A National Plan of Action) बनाई जा रही है जो यह सुनिश्चित करेगी कि स्त्रियों की पहुंच सूचना संसाधन तथा सेवाओं तक हो सके। दसवीं योजना इस स्कीम (National Plan of Action-NPA) को प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करने पर बल देगी।

6. ये प्रयत्न किए जाएंगे कि पर्यावरण संरक्षण आर्थिक विकास के साथ कंधे से कंधा मिला कर चले।

7. शेष विश्व से प्रतिस्पर्धात्मक चुनौतियों का सामना करने के लिए घरेलू सुधार इस प्रकार से बढ़ाए जाएंगे जिनसे प्रतिस्पर्धात्मक चुनौतियों का सामना घरेलू सुधारों में व द्धि करके किया जाएगा और ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो जाएंगी जो प्रतिस्पर्धा के लिए उपयुक्त हों, इसके लिए घरेलू तथा विदेशी उद्यमियों को निवेश करने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।
8. केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बजटों के घाटों को नियन्त्रित किया जाएगा।
9. क षि विपणन, क षि संबंधी उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों के विकास में पाई जाने वाली कानूनी रूकावटों को अतिशीघ्र दूर किया जाएगा।
10. प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तथा विदेशी ऋणों के सापेक्षिक लाभों को ध्यान में रखते हुए, योजना में इन दोनों के बीच सावधानीपूर्वक संतुलन स्थापित किया जाएगा ताकि अधिक से अधिक विदेशी उद्यमी देश में पूंजी लगा सकें और साथ ही घरेलू उद्यमियों के हितों को कोई क्षति न पहुंच सके।

दसवीं योजना के लक्ष्य (Targets of the Tenth Plan)—

दसवीं योजना के विभिन्न लक्ष्य निम्नलिखित हैं:—

1. क षि तथा भूमि प्रबंध (Agriculture & Land Management)—

दसवीं योजना में क षि तथा संबंधित क्रियाओं पर 58993 करोड़ रु. का निवेश किया जाएगा। यह राशि योजना के कुल व्यय की 3.7 प्रतिशत होगी। सिंचाई व बाढ़ नियन्त्रण पर 1,03,315 करोड़ रु. खर्च किए जाने का प्रस्ताव है जो कुल व्यय का 6.8 प्रतिशत भाग है। दसवीं योजना का उद्देश्य क षि एवं संबंधित क्रियाओं में 3.97 प्रतिशत की व द्धि दर को प्राप्त करना है। नौवीं योजना में इस क्षेत्र की व द्धि दर केवल 2.0 प्रतिशत थी।

1990 के दशक में क षि उत्पादन में व द्धि ऊंचे उत्पादन, समर्थन कीमतों तथा आगत अनुदानों के फलस्वरूप हुई थी। दसवीं योजना में इस नीति में परिवर्तन करने का प्रस्ताव है। दसवीं योजना में क षि के विकास हेतु सिंचाई, बीजों, शक्ति और सड़कों में अधिक सार्वजनिक निवेश किया जाएगा। परन्तु उर्वरकों, जल तथा शक्ति के लिए दी जाने वाली आर्थिक सहायता को कम किया जाएगा। नहर प्रणाली का सही ढंग से रख-रखाव किया जाएगा। खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं की न्यूनतम समर्थन कीमतों को इस प्रकार से समन्वित किया जाएगा ताकि क षि में विविधीकरण, पर्यावरण संबंधी सुरक्षा को प्रोत्साहन मिले तथा खाद्यान्न अनुदान को कम किया जाए। पूर्वी क्षेत्र तथा केन्द्रीय क्षेत्र के वर्षा अनुमोदित क्षेत्रों, जिनमें उत्पादकता के बढ़ाने की अधिक संभावना है, उन पर दसवीं योजना में विकास के ऊंचे पथ पर पहुंचेगा, अन्य क्षेत्रों में विकास को प्रोत्साहित करेगी और निर्धनता को कम करने में सहायक होगी।

क षि तथा संबंधित क्रियाओं में उत्पादन बढ़ाने के लिए निम्नलिखित प्रयत्न किए जाएंगे:—

(i) बंजर भूमि या खाली पड़ी भूमि को खेती योग्य बनाया जाएगा।
(ii) चकबंदी का काम प्राथमिकता के आधार पर सम्पन्न किया जाएगा।
(iii) वर्षा के जल को इकट्ठा करने तथा उसे संरक्षित रखने के कार्य को जारी रखा जाएगा।
(iv) सिंचाई का विकास, विशेषकर छोटी सिंचाई योजनाओं का।
(v) बीजों, उर्वरकों आदि आगतों को समय पर तथा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराया जाएगा।
(vi) क षि का ऊंचे मूल्य वाली फसलों तथा क्रियाओं में विविधीकरण किया जाएगा।
(vii) क षि उत्पादन तथा अनुसंधान के अन्तराल का सेतु बंधन किया जाएगा।
(viii) क षि विपणन, संसाधन (Processing) तथा मूल्य-व द्धि संबंधी आधारित संरचना को सुद ढ़ बनाया जाएगा।
(ix) ग्रामीण सड़कों का निर्माण किया जाएगा।

उपरोक्त के अतिरिक्त, क षि क्षेत्र संबंधित सुधारों के मुख्य अंग इस प्रकार हैं—अन्तर्राज्यकीय व्यापार तथा वाणिज्य पर लगी रोकों पर का उन्मूलनः आवश्यक वस्तु अधिनियम तथा क षि उपज विपणन अधिनियम में संशोधन, क षि प्रशिक्षण, क षि उद्योग तथा क षि निर्यातों का उदारीकरण, ठेका-खेती को बढ़ावा, क षि भूमि को पट्टे पर भंडारण देने की छूट सभी वस्तुओं के भावी

व्यापार की छूट भंडारण और व्यापार की वित्त व्यवस्था पर लगी पाबन्दियों को हटाना योजना में दूरवर्ती इलाकों के लिए फसल बैंक का भी प्रावधान है।

2. औद्योगिक नीति चुनौतियां (Industrial Policy Issues):—

दसवीं योजना में उद्योग और खनिज के विकास पर, सार्वजनिक क्षेत्र में 58,939 करोड़ रु. की राशि खर्च की जाएगी। यह योजना के कुल व्यय का लगभग 3.9 प्रतिशत है। इस प्रकार क षि तथा औद्योगिक दोनों क्षेत्रों पर लगभग एक जैसी राशि खर्च की जाएगी। नौवीं योजना में कुल व्यय का 7.6 प्रतिशत औद्योगिक विकास और 4.9 प्रतिशत क षि विकास पर खर्च किया गया था।

दसवीं योजना की 8 प्रतिशत विकास दर को प्राप्त करने के लिए औद्योगिक क्षेत्र को अपनी विकास दर 10 प्रतिशत रखनी होगी, यह तभी संभव हो सकता है जब औद्योगिक विकास में पिछली अवधि की तुलना में अधिक तेजी से व द्धि हो। आठवीं व नौवीं योजना की अवधि में औद्योगिक क्षेत्र की व द्धि पर लगभग 7% रही है। दसवीं योजना की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि औद्योगिक क्षेत्र का विकास ऐसे वातावरण में हो जिसमें पिछले वातावरण की तुलना में काफी भिन्नता हो। इस संबंध में दो बातें विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि भारतीय उद्योगों को मजबूत अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि 1 अप्रैल 2001 से भारतीय आयातों पर से परिमाणात्मक प्रतिबन्धों के खत्म कर देने के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था के खुलेपन में व द्धि हुई है। इसका दूसरा कारण यह है कि दसवीं योजना की अवधि में विनिवेश की प्रक्रिया में व द्धि होने के कारण निजी क्षेत्र में पूंजी निर्माण की व द्धि होगी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में इससे कमी आएगी। इसलिए दसवीं योजना को एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना होगा जिसमें निजी क्षेत्र की कम्पनियां तथा सार्वजनिक क्षेत्र की पुरानी कम्पनियां जिसका निजीकरण कर दिया गया है, अधिक कार्यकुशल तथा प्रतियोगी बन सकें। दसवीं योजना को यह भी ध्यान में रखना होगा कि लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करने वाली नीतियां अपनाई जाएं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिक उदारीकरण की नीति अपनाई जानी चाहिए। इन उद्योगों के लिए उचित साख की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

दसवीं योजना में उद्योगों को दिए गए महत्व का ज्ञान निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होता है:—

(i) **औद्योगिक क्षेत्र की व्यूह रचना (Strategy for Industry Sector)**—दसवीं योजना में द्रुतगामी औद्योगिक विकास प्राप्त करने हेतु एक व्यापक तथा सुसंगत व्यूह रचना बनाई गयी है। एक स्पष्ट निवेश-प्रेरक वातावरण का निर्माण करने के लिए ऐसे गहन तथा विस्त त आर्थिक सुधार करना जो निजी क्षेत्र को प्रभावशाली भूमिका निभाने में सहायक हों। ऐसा निजी क्षेत्र न केवल वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करेगा अपितु आधारिक संरचना को स्थापित करने, उसके रख-रखाव तथा परिचालन में भी सहायक होगा, तथा उद्योग को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के योग्य बनाएगा। औद्योगिक क्षेत्र के वित्तीय संसाधनों में व द्धि की जाएगी।

(ii) **सकारात्मक निवेश वातावरण का स जन (Creating a Positive Investment Climate)**—दसवीं योजना में एक ऐसी औद्योगिक विकास संबंधी नीति का स जन किया जाएगा जो हमारे स्पन्दनशील निजी क्षेत्र को पूर्ण उद्यमशीलता के संभाव्य को प्राप्त करने में सहायक होगी और निजी क्षेत्र उत्पादन रोजगार और आय के प्रजनन में प्रभावपूर्ण ढंग से अपना योगदान दे सकेगा। जब तक आर्थिक माहौल उच्च स्तर के निजी क्षेत्र की भागीदारी के अनुकूल नहीं होता, तब तक औद्योगिक विकास की गति को तीव्र नहीं बनाया जा सकेगा।

(iii) **क्षमता निर्माण (Capacity Building)**—भारत के औद्योगिक क्षेत्र पूंजी तथा श्रम संबंधी कार्यक्षमता तुलनात्मक द ष्टिकोण से कम है। इसे प्रतियोगी बनाने के लिए इसका आधुनिकीकरण तथा तकनीकी सुधार नितांत आवश्यक है। इसलिए दसवीं योजना में प्रतियोगी उत्पादन तकनीकी प्रक्रियाओं तथा व्यवहारों को प्रोत्साहित किया जाएगा। परिणामस्वरूप सभी औद्योगिक इकाइयों में मूल्य-व द्धि तथा विविधीकरण को बढ़ावा मिलेगा और हमारे निर्यात अधिक लचीले बनेंगे।

(iv) **संसाधन आधार में बढ़ोतरी (Augmenting the Resource Base)**—दस प्रतिशत औद्योगिक विकास की दर के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक निवेश की आवश्यकता है। इस हेतु अधिकांश संसाधन जो इस समय कम उत्पादकता वाले सार्वजनिक उद्यमों में लगे हुए हैं उन्हें वहां से निकाला जाएगा। अर्थात उनका विनिवेश (Disinvestment) किया जाएगा तथा उन्हें अधिक निपुण इकाइयों को हस्तांतरित किया जाएगा। इसके अतिरिक्त वित्तीय साधनों को इकट्ठा

करने के लिए योजना में एक स्वस्थ भारतीय पूंजी एवं मुद्रा बाजार को विकसित करने की प्रयोजना पर विचार किया जा रहा है जो भारतीय घरेलू क्षेत्र की विशाल बचत संभावनाओं (Saving Potentials) को इकट्ठा करने और कार्यकुशल वित्तीय बिचौलियों (Financial Intermediaries) के माध्यम से औद्योगिक क्षेत्र को हस्तांतरित करने में सफल हो सकेगा। इस संबंध में विदेशी निवेश (प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तथा विदशी ऋण का भी लाभ उठाया जाएगा।

(v) **कार्यकुशलता को बढ़ाने संबंधी नीतियां (Efficeincy enhancing Initiatives)**—दसवीं पंचवर्षीय योजना में कार्य कुशलता में बढ़ोतरी करने संबंधी चुनौतियां, जैसे बाजार शक्तियों का स्वतन्त्र संचालन (free play of Market Forces) को लागू किया जाएगा विदेशी व्यापार में सम्मिलित सभी वस्तुओं की कीमत अन्तर्राष्ट्रीय समता (Party) के आधार पर निश्चित की जाएगी जब तक कि ऐसा करने के पीछे कोई यथार्थ सामरिक आपत्ति (Strategic Concerns) नहीं होगी।

(vi) **अप्रत्यक्ष करों का युक्तिकरण (Rationalisation of Indirect Taxes)**—जहां तक अप्रत्यक्ष करों के युक्तिकरण का प्रश्न है योजना इस पर गंभीरता से विचार कर रही है। एक ऐसी विकासोन्मुख (Growth Oriented) वित्तीय प्रणाली विचाराधीन है। जो उद्योगों का समन्वित विकास कर सके तथा कर ढांचे में समरूपता (Uniformily) तथा पूर्वानुमेयता के गुण भर सकें।

(vii) **विनिवेश (Disinvestment)**—दसवीं योजना में सरकार एक असामरिक (Non-Strategic) वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादक के रूप में अपनी भूमिका को धीरे-धीरे समाप्त कर देगी। घाटे वाली सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों को बन्द करने से तथा अन्य इकाइयों के विनिवेश से जो अनुत्पादकीय परिसम्पत्तियां (Unproductive Assets) प्राप्त होंगी उन्हें उच्च प्राथमिकता वाले अधिक कार्यकुशल क्षेत्रों में लगाया जाएगा जिससे आर्थिक विकास की गति को बढ़ावा मिलेगा।

(viii) **प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Direct Foreign Investment)**—अन्य देशों, विशेषकर चीन, की तुलना में भारत की स्थिति प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने में बहुत निराशाजनक रही है। यह आशा की जाती है कि जैसे ही प्रत्यक्ष विदेशी निवेश समिति की सिफारिशों को लागू किया जाएगा, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रवाह में महत्वपूर्ण व द्धि होगी। सकल घरेलू उत्पाद में 8 प्रतिशत व द्धि दर के उद्देश्य, प्रचलित वर्तमान पूंजी उत्पादन अनुपात (ICOR) तथा परिकतिपत घरेलू बचत स्तर (Projected Level of Domestic Savings) को देखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि चालू खाते में लगभग 2.2 प्रतिशत बचतों का घाटा हो सकता है। इस घाटे को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश द्वारा पूरा किया जा सकता है।

(ix) **आधारिक संरचना (Infrastructure)**—इस क्षेत्र में वास्तविक सुधार लाने हेतु योजना में कई नए उपाए प्रस्तावित किए हैं।

विदेशी व्यापार का विकास
(Development of Foreign Trade)

भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील बनाने में बाहरी क्षेत्र की निर्णायक भूमिका को दसवीं योजना में स्वीकार किया गया है। योजना के अनुसार, ''आन्तरिक अर्थव्यवस्था द्वारा प्रस्तुत अवसरों, जैसे मंडियों, निवेश तथा तकनीकी का लाभ उठाए बिना विकास दर में तीव्रता नहीं लायी जा सकती।'' योजना ने स्वीकार किया है कि आयातों के वित्त प्रबंध (Financing) में निर्यातों की परम्परागत भूमिका भविष्य में भी जारी रहेगी क्योंकि निर्यात-आयात नीति में आयातों के प्रति उदार रवैया अपनाया गया है और आयातित ऊर्जा पर भारत की भारी आश्रित जारी रहने की संभावना है।

योजना में उद्योग को विश्व-व्यापी स्पर्धा के सक्षम बनाने के महत्व पर बल दिया है क्योंकि इसके बिना न तो यह विश्व की बढ़ रही मांग का लाभ उठा सकेगा ना ये घरेलू बाजार में अपने आय को जीवित रख सकेगा। इसे विश्व की प्रतियोगिता का सामना करना ही होगा। औद्योगिक कार्यक्षमता में तीव्रता लाने हेतु योजना ने सुझाव दिया है कि संरक्षण प्रशुतक (Protective Tariff) के स्तर को घटाया जाए।

मध्य कालिक निर्यात नीति (Medium Term Export Strategy)—वाणिज्य मंत्रालय ने दसवीं योजना की अवधि के लिए एक मध्य कालिक निर्यात नीति का निर्माण किया है। इस नीति का उद्देश्य विश्व के निर्यातों में आयात के भाग को प्रचलित 0.6 प्रतिशत से बढ़ाकर 1 प्रतिशत करना है। ऐसा तभी संभव है यदि भारत के निर्यातों में डालर के रूप में 11.9 प्रतिशत की दर से वार्षिक चक्रव द्धि की जाए। निरपेक्ष मूल्यों के रूप में इसका अर्थ यह है कि, ''निर्यातों के मूल्य को जो 2000-01 में 44.56 बिलियन डालर था बढ़ाकर 2006-07 में 80.48 बिलियन डालर करना होगा।''

नीति के महत्वपूर्ण तत्व (Key Elements of Strategy)—अन्य बातों के अतिरिक्त, इस नीति में निम्नलिखित महत्वपूर्ण तत्व सम्मिलित हैं:—(1) निर्यात वस्तुओं की कीमतों को प्रतियोगी बनाए रखना (ii) निर्यात संवर्द्धन कार्यक्रमों को विश्व-व्यापार संगठन (WTO) के अनुकूल बनाना, (iii) कर छूट प्रणाली को सरल बनाने हेतु एक व्यापक मूल्य-व द्धि कर (VAT) प्रणाली को प्रस्तुत करना और (iv) लघु उद्योग क्षेत्र के उत्पादन संभाव्य (Potential) को उन्नत बनाना। निर्यात उन्मुख उद्योगों के लिए अधिक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI) को आकर्षित करने के महत्व पर भी इस नीति में बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त नीति में व्यापक मुक्त व्यापार, अधिमानी व्यापार करार (Preferential Trade Agreement) तथा सेवाओं के निर्यात को प्रोत्साहित करने हेतु एक व्यापक क्रिया योजना (Plan A Action) बनाने की आवश्यकता भी प्रकट की है।

भारत के निर्यातों का भविष्य (Future of Indian Exporters)—2002 से 2007 की अवधि के दौरान भारत के निर्यातों में 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से व द्धि का लक्ष्य निर्धारित किया गया है जबकि नौवीं योजना में यह लक्ष्य 5.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष था। विश्व व्यापार में औसतन 6.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष व द्धि होने की आशा है। इसका अर्थ यह है कि भारत के निर्यातों की विश्व निर्यात व द्धि दर से 1.5 से 2 गुना अधिक व द्धि करनी होगी।

ऐसा तभी संभव हो सकता है यदि भारत अपने प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में अधिक प्रतियोगी बनें। इसे उन मंडियों, वस्तुओं तथा सेवाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। जहां औसत से ऊंची विकास दर प्राप्त होने की आशा है। इस हेतु विश्व व्यापार में होने वाले परिवर्तनों का, सरकार तथा निगम स्तर पर, निरन्तर अध्ययन किया जाना चाहिए और बाजार की परिस्थितियों के अनुसार लगातार समायोजन होना चाहिए।

निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रम
(Poverty Alleviation Programme)

दसवीं योजना का लक्ष्य निर्धनता रेखा के नीचे रहने वाली 26 प्रतिशत जनसंख्या को कम करके 21 प्रतिशत करना है। इस दिशा में निम्नलिखित पग उठाए जाएंगे :—

(i) स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना को सूक्ष्म वित्त कार्यक्रम (Micro Finance Programme) में परिवर्तित किया जाना चाहिए और बिना किसी आर्थिक सहायता दिए इनका संचालन बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाना चाहिए।

(ii) ग्राम सभाओं को फंडस तभी दिए जाने चाहिए जब जनता का भी कुल खर्च में नकदी के रूप में या काम के रूप में 15% सामान्य ब्लॉक्स में तथा 5% जनजाति/निर्धन ब्लॉक्स में योगदान प्राप्त हो।

(iii) संकटकालीन क्षेत्रों में एक मात्र (Single) मजदूरी रोजगार प्रोग्राम लागू किया जाना चाहिए। उत्पादक कामों के चलाने तथा उनके रख-रखाव पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए जैसे ग्रामीण सड़कें, वाटरशेड विकास, तालाबों की सफाई व ठीक देखभाल, अधिक वन उगाना, सिंचाई तथा नालियों की व्यवस्था। मजदूरी का भुगतान अधिकतर, कुछ नकदी के साथ, खाद्यान्न के रूप में होना चाहिए।

(iv) सफल ग्रामीण विकास योजनाएं जो राज्य सरकारों द्वारा चलाई जाती है, उनके बजट संबंधी आबंटन में व द्धि के लिए ग्रामीण विकास कोषों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(v) स्त्री ग्रुपों की निर्धनता उन्मूलन स्कीमों को लागू करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, विशेषकर आपदा प्रभावित क्षेत्रों में काम के लिए अनाज (Food -for Work) स्कीम जारी करना।

(vi) सीमान्त तथा छोटे किसानों, वन-उत्पादों को इकट्ठा करने वालों, कारीगरों और अप्रशिक्षित श्रमिकों की अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए। निर्धन व्यक्तियों को अन्य स्थानों पर हुए विकास का लाभ ही नहीं उठाना चाहिए अपितु विकास हेतु अपना योगदान भी देना चाहिए।

(vii) अति लघु (tiny) तथा ग्रीमण उद्योगों के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-क षि रोजगार प्रदान किए जा सकें।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली और अनाज सुरक्षा
(Public Distribution System & Food Security)

अब चुनौती इस बात की है कि अनाज के वर्तमान भंडार को आधा किया जाए और इसका प्रयोग कुपोषण को कम करने के लिए किया जाए परन्तु इसका किसानों पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित कानूनी तथा नीति परिवर्तनों की आवश्यकता होगी, इससे निजी क्षेत्र की भूमिका में व द्धि होगी और बाजारों को, वर्तमान स्थिति में, कम विक त (Distorted) बनाया जा सकेगा।

(i) अनिवार्य वस्तु अधिनियम (Essential Commodities Act) में सुधार लाया जाएगा ताकि इसे आपातकालीन प्रावधान के रूप में इसे एक सीमित अवधि के लिए एक औपचारिक अधिसूचना (Notification) द्वारा लागू किया जा सके।

(ii) एक स्वीक त केन्द्रीय अधिनियम (Central Act) लागू किया जाएगा जिससे राज्यों के अन्दर तथा राज्यों के बीच आदान-प्रदान पर लगे नियन्त्रणों को हटाया जाए।

(iii) एकाधिकारी खरीद के सभी रूपों को धीरे-धीरे कम करना।

(iv) लाइसेसिंग नियन्त्रणों का एक समयबद्ध अवधि में हटाना तथा सभी क षि आधारित एवं फूड-प्रोसेसिंग उद्योग की असुरक्षित (De-reserve) करना, इसमें चीनी, इसके व्युत्पन्न (Derivative) और दूध-प्रोसेसिंग भी शामिल हैं।

(v) एक ऐसी नीति की घोषणा करना जिसके द्वारा क षि वस्तुओं के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों को खत्म कर दिया जाये। घरेलू कमियों (Shortages) की पूर्ति आयातों द्वारा की जाए, निर्यातों पर नियन्त्रण लगाकर नहीं।

(vi) चीनी पर नियन्त्रण को धीरे-धीरे कम करना और चीनी को सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) से हटाना।

(vii) MMPO के अधीन नई दूध प्रोसेसिंग इकाइयों की स्थापना पर वर्तमान क्षमता संबंधी प्रतिबन्धों को हटाना।

(viii) क षि वस्तुओं के भंडारण तथा भविष्य के व्यापार (Future Trading) तथा ऐसी क्रियाओं के संस्थागत साख एवं वित्त-व्यवस्था पर लगे प्रतिबन्धों को हटाना।

(ix) क षि-आधारित सभी वस्तुओं के निर्यात पर सभी प्रकार के प्रतिबंधों को हटाना।

यह बतला देना आवश्यक है कि ये प्रेरणाएं संसाधन तटस्थ (Resource Neutral) है। इनके लिए महत्वपूर्ण सार्वजनिक संसाधनों के निवेश की आवश्यकता नहीं है। परन्तु ये क षि आय प्रजनन के सुधारने में सहायक होंगे। इसके साथ-साथ ये सुझाए गए परिवर्तन भारतीय खाद्य निगम (FCI) के पास अधिशेष को कम करेंगे और छिद्रों (Leakeges) को कम करेंगे। इससे अनाज अनुदान (Food Subsidy) में काफी बचत होगी। इस अनुदान का प्रयोग अधिक निर्धन लोगों के लिए प्रत्यक्ष आय हस्तांतरण के रूप में हो सकेगा। निर्धन क्षेत्रों में भूमि तथा जल उत्पादकता के सुधार में भी इसका प्रयोग हो सकेगा।

स्वास्थ्य सुरक्षा (Health Care)

सामाजिक विकास कार्यक्रम का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र देश में जनता के स्वास्थ्य में सुधार लाना है। स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच तथा इनका समाज के निर्धन तथा साधन रहित वर्ग द्वारा उपयोग ही स्वास्थ्य के स्तर में सुधार ला सकता है। पिछले पांच दशकों में भारत ने एक विशाल स्वास्थ्य संबंधी आधारिक संरचना का प्राथमिक, द्वितीयक तथा त तीयक स्तर पर सरकारी, निजी तथा स्वैच्छिक (Voluntary) क्षेत्रों में निर्माण किया है। दसवीं योजना में मानव संसाधन के स्वास्थ्य संबंधी विकास के लिए निम्नलिखित प्राथमिकताएं निर्धारित की गई हैं।

(i) सरकारी, निजी तथा स्वैच्छिक क्षेत्रों में स्वास्थ्य मानव शक्ति की आवश्यकता, मांग तथा उपलब्धता संबंधी आंकड़ों के आधार का जिला स्तर पर निर्माण (ii) आवश्यकता पर आधारित स्वास्थ्य मानव शक्ति (iii) पूर्व-स्नातक तथा स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार।

दसवीं योजना के दौरान, वर्तमान स्वास्थ्य सुरक्षा आधारिक संरचना का उपयोग करते हुए संक्रामक बीमारियों की रोकथाम, उनका पता लगाने तथा प्रबन्ध हेतु रणनीतियों का विकास, मूल्यांकन तथा क्रियान्वयन किया जाएगा।

स्वास्थ्य सुरक्षा की पहुंच में सुधार लाने के लिए चिकित्सा अनुसंधान की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसलिए दसवीं योजना

में स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार लाने के लिए स्वास्थ्य प्रणालियों के अनुसंधान को प्राथमिकता दी गई है। तकनीकी विकास के लिए सक्रियात्मक शोध (Operational Research) पर बल दिया गया है।

विश्वीकरण
(Globalisation)

आयोजन के विकास में दसवीं पंचवर्षीय योजना का अपना एक अलग महत्व है। प्रथम बार इसमें स्पष्ट कल्पना शक्ति (Vision) तथा नीति-निर्माण (Policy-Frame) की झलक मिलती है।

इस नीति के अन्तर्गत आगामी दस वर्षों में प्रति व्यक्ति आय को दुगना करने के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु विकास दर में महत्वपूर्ण व द्धि की जानी है। स्वयं दसवीं योजना में 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष विकास की दर प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। इस संबंध में, दसवीं योजना की विकास रणनीति में, विश्वीकरण की विश्व-व्यापी प्रव त्तियों (World-Wide Trends) को ध्यान में रखते हुए, बाहरी क्षेत्र के आकार (External Sector Dimensions) के महत्व को रेखांकित किया गया है।

दसवीं योजना के अनुसार, विश्वीकरण तथा उदारीकरण को जुड़वां प्रक्रियाओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की एक नई प्रणाली उभर रही है। इस नई प्रणाली में निवेश के बदलते हुए स्वरूप का उत्पादन एवं व्यापार, वित्त के विश्वव्यापी फैलाव तथा तकनीकी की केन्द्रीय भूमिका का बोलबाला होगा। विश्वीकरण का लाभ उठाने के लिए भारत जैसे विकासशील देशों को एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण हेतु सक्रिय भूमिका निभानी होगी। भारत महत्वपूर्ण आर्थिक विषयों की ओर ध्यान आकर्षित कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में 'बहुपक्षीय मंचों' (Multilateral Forum) पर अपनी सक्रिय भूमिका को जारी रखेगा।

विदेशी निवेश
(Foreign Investment)

दसवीं योजना विदेशी निवेश प्रत्यक्ष (FDI) तथा ऋण (FPI) के सापेक्षिक लाभों को स्वीकार करती है। निःसंदेह प्रत्यक्ष निवेश को प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि इसका वास्तविक अर्थव्यवस्था के निष्पादन (Performance) से गहरा संबंध होता है तथा इसमें अस्थिरता की कमी पाई जाती है फिर भी आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तथा प्रत्यक्ष विदेशी ऋण के प्रवाह के बीच एक संतुलन स्थापित हो ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि देश में पर्याप्त मात्रा में विदेशी उद्यमी प्रवेश पाएं और उनके प्रवेश में घरेलू उद्यमियों के हितों को कोई क्षति न पहुंचे।

दसवीं योजना ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अधिक निर्यात-उन्मुख बनाने के लिए विनिमय दर के प्रबन्ध (Exchange rate Mgt.) पर बल दिया है। योजना में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के शुल्कों (Tariffs) को लागू करने की सिफारिश की है, किन्तु इससे बहुत अधिक विघटन (disruption) नहीं होना चाहिए। योजना ने एक सरल तथा निर्यात-प्रेरक व्यापार प्रणाली का भी समर्थन किया है तथापि इस बात का ध्यान रखा जाए कि भारत विश्वीकरण से तभी लाभ उठा सकेगा यदि विदेशी क्षेत्र संबंधी नीतियों को घरेलू क्षेत्रों के धारित सुधारों (sustained reforms) का समर्थन प्राप्त होगा। इन घरेलू क्षेत्रों में वित्त, क षि, उद्योग, श्रम, आधारिक संरचना, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा प्रभावी शासन सम्मिलित है। इनका दसवीं योजना के दस्तावेज में उल्लेख से वर्णन किया गया है।

रोजगार (Employment)

दसवीं योजना का उद्देश्य योजना के पांच वर्षों में श्रम-शक्ति में जो अतिरिक्त व द्धि (Addition to the labourer Force) होनी है, उससे भी अधिक संख्या में लाभकारी रोजगार का प्रावधान करना है और बेरोजगारी की दर में भारी कमी लाना है ताकि ग्यारहवीं योजना के अन्त तक बेरोजगारी की दर शून्य हो जाए। निम्नलिखित तालिका में 8% प्रतिवर्ष विकास दर के आधार पर रोजगार की स्थिति दिखायी गयी है। यह स्थिति दसवीं योजना में प्रस्तावित नीतियों तथा कार्यक्रमों पर आधारित परिवर्तित औद्योगिक ढांचे (Changed Industrial Structure) को भी दर्शाती है।

दसवीं योजना में रोजगार की स्थिति

	FREACF	1999-2000	2001-02	2006-07	2011-12	OEEFle Mele% Oeette JE<e &
1. श्रम शक्ति	मिलियन	363.33	378.21	413.50	453.52	1.80
2. रोजगार	मिलियन	336.75	343.36	392.35	451.53	2.70
3. बेरोजगारी की दर	प्रतिशत	7.32	9.21	5.11	0.44	—
4. बेरोजगारों की संख्या	मिलियन	26.58	34.85	21.15	1.99	9.50

(Source : Tenth Five Year Plan - Vol. 1 Page - 172)

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि 2001-02 में जो श्रम शक्ति 378.21 मिलियन थी यह 2006-07 में बढ़कर 413.50 मिलियन होने जा रही है। 2001-02 में 343.36 मिलियन लोगों को रोजगार प्राप्त हो रहा था। इसके 2006-07 में बढ़कर 392.35 मिलियन हो जाने की संभावना है अर्थात् 49 मिलियन लोगों को दसवीं योजना के अन्त में अतिरिक्त रोजगार प्राप्त हो रहा होगा। परिणामस्वरूप बेरोजगारों की संख्या जो 2001-02 में 34.85 मिलियन थी 2006-07 में घटकर 21.15 मिलियन रह जाएगी अर्थात् इसमें 9.50 प्रतिशत कमी आएगी।

सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण
(Irrigation & Food Control)

दसवीं योजना में सिंचाई और बाढ़ नियन्त्रण पर 1,03,315 करोड़ रु. खर्च किए जाएंगे। इसके परिणामस्वरूप 103 बड़ी, 240 मझोली और 62 (विस्तार नवीनीकरण तथा आधुनिकीकरण) प्रयोजनाएं पूर्ण हो सकेगी। बाढ़ नियन्त्रण के संबंध में Working Group on Flood Mgt. से सिफारिश की है कि Central Water Commission के बाद पूर्वानुमान नेटवर्क को सुद ढ़ बनाया जाए तथा तट संबंधी (embankment) के रख-रखाव में लोगों की भागीदारी हासिल की जाए।

परिवहन तथा संचार (Transport & Communication)—दसवीं योजना में परिवहन पर 2,25,977 करोड़ रु. और संचार पर 98,968 करोड़ रु. खर्च करने का प्रस्ताव है। परिवहन के क्षेत्र में योजना में निम्नलिखित कार्यक्रमों का सुझाव दिया है:—

(i) रेलवे मालभाड़ा सेवाओं में सुधार। कुल ट्रेफिक में अपने शेयर को बनाए रखने के लिए, रेलवे माल भाड़े की मांग (railway freight demand) को, सकल घरेलू उत्पाद में 1 प्रतिशत की व द्धि होने पर, कम से कम 1 प्रतिशत बढ़ाना चाहिए। (ii) सड़कों की गुणवत्ता तथा भारतीय रेलवे की कमियों में सुधार लाने के लिए मुसाफिर तथा मालगाड़ियों की स्पीड में पाए जाने वाले अन्तर को कम करना है। इस हेतु माल गाड़ियों की रफ्तार को 100 कि. मी. प्रति घंटा बढ़ाया जाएगा।

(iii) एक्सप्रेस सड़कों का योजना के दौरान निर्माण किया जाएगा। National High ways Development Project के अन्तर्गत ऊंचे घनत्व वाले गलियारों (Corridors) की क्षमता तथा गुणवत्ता में सुधार करना।

(iv) गेटवे पोर्टस (Gateway Ports) देश के पूर्वी तथा पश्चिमी तट पर एक-एक गेटवे बन्दरगाह की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया है। यह बन्दरगाहें Container Traffic की सुविधा के लिए बनायी जाएगी और इनके बनने में पड़ौसी देशों की बन्दरगाहों जैसे सिंगापुर, कोलम्बो आदि पर वाहानान्तरण (transhipment) की आवश्यकता नहीं रहेगी।

संचार के क्षेत्र में योजना के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—(i) उचित कीमतों पर व्यापक डाक सेवाओं का प्रावधान (ii) अन्तर्राष्ट्रीय मानदंडों के अनुरूप सेवाओं की गुणवत्ता को सुनिश्चित करना (iii) वर्तमान आधारिक संरचना में सुधार लाना, संचालन लागत को घटाना तथा ग्राहक सेवा को संतोषजनक बनाना। (iv) 100 विभागीय डाकखानों की स्थापना करना। (v) सभी बड़े डाकखानों का कम्प्यूटरीकरण करना (vi) राष्ट्रीय Data केन्द्र की स्थापना करना।

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी (Science & Technology)—दसवीं योजना में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास पर 30,424 करोड़ रु. के निवेश का प्रस्ताव है। आर्थिक तथा सामाजिक विकास की गतिव द्धि (acceleration) में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इनका अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों के ऊपर मेहराव (Overarching) जैसा प्रभाव पड़ता है। धारणीय विकास (Sustainable Development) और आत्म-निर्भरता को प्राप्त करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका

होती है। यह बात अब सर्वविदित है कि जैसे भौतिक आधारिक संरचना में निवेश बहुत आवश्यक है वैसे ही मानसिक आधारिक संरचना, जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति पर निर्भर है, आवश्यक है, तथा इसी द्वारा भारत को विश्व में सापेक्षिक लाभ प्राप्त हो सकता है। दसवीं योजना के दौरान, अनेक समयबद्ध कार्यक्रम आरंभ किए जाएंगे जैसे—(i) National Natural Resource Management System का संचालन (ii) Radar Imaging Satellites (iii) अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी की शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में दूरवर्ती शिक्षा तथा दूरवर्ती चिकित्सा नेटवर्क के लिए लागू करना। पानी से डरने के रोग, हैजा, HIVèAIDSèT.B. आदि बीमारियों के इलाज के लिए नयी पीढ़ी के टीकों का विकास करना (iv) वायु, जल आदि के प्रदूषण नियन्त्रण का विकास (v) Drug & Pharmaceutical अनुसंधान और विकास समर्थन फंड की स्थापना का प्रस्ताव। (vi) नदियों तथा झीलों के प्रदूषण पर काबू पाने के लिए एक विस्त त कार्य योजना बनाना (vii) जलवायु में परिवर्तन संबंधी विषयों के अध्ययन हेतु International Institute on Science & Technology for Tribical Areas की स्थापना करना।

दसवीं योजना का मूल्यांकन (Evaluation of the Tenth Plan)

दसवीं योजना बहुत महत्वाकांक्षी है। यदि यह सफलतापूर्वक संपन्न हो जाती है तो भारतीय अर्थव्यवस्था में बहुत सुधार हो जाएगा। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसी कठिन योजना का कार्यान्वयन करना संभव होगा। इसलिए योजना का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित बातों पर विचार आवश्यक हैः—

1. 8 प्रतिशत विकास दर का लक्ष्य व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता।
2. कई ऐसे संदेहयुक्त प्रस्तावक कथन (Pro-positions) है जो योजना की सफलता पर प्रश्न चिन्ह् लगाते हैं जैसे—(i) कितनी जल्दी सरकार कर-सकल घरेलू उत्पाद अनुपात को 8.6 प्रतिशत से बढ़ाकर 10.3 प्रतिशत करने में सफल होगी? (ii) क्या घरेलू बचत 23.3 प्रतिशत से बढ़कर 26.8 प्रतिशत हो सकेगी? (iii) कितनी जल्दी उत्पादकता का स्तर इतना बढ़ेगा कि वर्तमान पूंजी उत्पादन अनुपात (Increamental Capital output Ratio) 4.5% से घटकर 3.1% प्रतिशत हो जाए। (iv) क षि उत्पादन में शीघ्र व द्धि करने हेतु कितनी जल्दी सिंचाई के औसत क्षेत्र में वास्तविक व द्धि की जा सकेगी। (v) आर्थिक आधारित संचार (ऊर्जा, बन्दगाहें, सड़कें, रेलवे आदि) को पूरा होने में कितने वर्ष लगेंगे ताकि भारतीय उत्पादक सुगमता से विश्व बाजार में प्रतियोगिता कर सके?
3. योजना में राज्यों तथा संघीय प्रदेशों (Union Territories) द्वारा 6,71,009 करोड़ रु. निवेश करने का लक्ष्य रखा है किन्तु बहुत से राज्यों की वित्तीय स्थिति लगभग दिवालियापन जैसी है, अतः इनके लिए इतनी राशि जुटा पाना संदेहयुक्त है।
4. हाल ही में औद्योगिक क्षेत्र की विकास दर का नीचे को खिसकना एक ऐसा चिन्ताजनक विषय है जिस पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। दूसरी पीढ़ी के सुधारों के अभाव को इसका कारण बताना एक संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं है। उदारीकरण तथा निजीकरण के कार्यक्रमों को लागू हुए 10 वर्ष बीत चुके हैं। फिर भी इन कार्यक्रमों की प्रगति बहुत मन्द रही है। अतः यह आवश्यक है कि निवेश प्रक्रिया को गति-व द्धि में पाए जाने वाले अवरोधों के कारणों की खोज की जाए। इसके अतिरिक्त भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रवाह का रवैया भी संकोचपूर्ण होता जा रहा है जो एक सोच का विषय है।

के. के. बिरला के अनुसार दसवीं योजना में सकल घरेलू उत्पाद की व द्धि दर लगभग 6.25% प्रतिवर्ष रहेगी। क षि उद्योग तथा सेवाओं के तीनों क्षेत्रों में विकास दर को अधिकतम करने के लिये सरकार को निम्नलिखित प्रयत्न करने होंगे। श्रम सुधारों को तेजी से लागू किया जाए, (ii) आधारिक संरचना, विशेषकर बिजली क्षेत्र को सुद ढ़ बनाया जाए। (iii) निजीकरण की प्रक्रिया को जितनी जल्दी हो सके अमल में लाया जाए। (iv) महत्वपूर्ण आर्थिक विधेयकों को प्राथमिकता के आधार पर पारित किया जाए। (v) योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए लोगों को भारी समर्थन प्राप्त किया जाए। (vi) केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा वर्षा के पानी को इकट्ठा करने के भरसक प्रयत्न किए जाने चाहिए।

योजना आयोग के सदस्य (Prof. K. Venkatasubramaniam) प्रो. के. वैंकटासुब्रामनीयन का यह विचार है कि भारत में 8% व द्धि दर तभी संभव हो सकती है, यदि, ''हम शासन को प्रमुखता दें'' (It we give primary to governance)।

अध्याय 29
अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण
(International Environment)

अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के विभिन्न घटक घरेलू व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। वैश्विक वातावरण से ऐसे सार्वभौमिक घटकों का बोध होता है जो व्यवसाय के प्रति संगत होते हैं जैसे WTO सिद्धांत तथा ठहराव, अन्य अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियाँ/संधियाँ/समझौते/घोषणाएँ/प्रोटोकॉल्स आदि। आर्थिक तथा व्यावसायिक परिस्थितियाँ एवं अन्य देशों के मनोभाव आदि। इसी तरह कुछ विकास जैसे कच्चे तेल के मूल्यो में व द्धि, जिनका सार्वभौमिक प्रभाव पड़ता है।

W.T.O. के सिद्धांतों तथा नियंत्रणों का भारतीय व्यवसाय के लिए दूरगामी परिणाम हुआ है। उत्पाद पैटन्टों की स्वीकृति इसका एक उदाहरण है जिसने भारतीय फार्मास्यूटीकल्स उद्योग पर गंभीर प्रभाव उत्पन्न किया है। W.T.O. द्वारा सुझाए गए आयात तथा निवेश उदारीकरणों ने भारत में प्रतिस्पर्द्धी वातावरण को भारी तौर से बदल डाला है।

अन्य देशों की आर्थिक परिस्थितियाँ व्यवसाय को प्रभावित कर सकती हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी कम्पनी के निर्यात बाजारों की आर्थिक दशाएं बहुत अच्छी हैं तो निर्यात की सम्भावनाएं सामान्यतः बहुत अच्छी रहेगी। अन्य देशों में मंदी डम्पिंग सहित आयात चुनौतियों को बढ़ा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक घटक भी व्यवसाय को प्रभावित कर सकते हैं जैसे युद्ध या राजनैतिक गतिरोध या अनिश्चिताएँ, अपने देश तथा अन्य देशों के बीच तनावपूर्ण राजनैतिक सम्बन्ध जो कभी-कभी निषेधाज्ञाओं को भी जन्म दे सकते हैं। सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकियों के विकास ने संस्कृतियों के सीमापार, प्रचार-प्रसार को सुचारू बनाया है जिसने महत्वपूर्ण रूप से रूझानों, महत्वाकांक्षाओं, रूचियों, प्राथमिकताओं तथा यहां तक कि परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा मूल्यों को भी प्रभावित किया है। इनका व्यवसाय पर पूरा प्रभाव देखा गया है।

किसी भी सामाजिक तंत्र के मूल में होता है प्राकृतिक वातावरण तथा उपलब्ध प्रौद्योगिकी जो दोनों ही समाज में मानवीय गतिविधि की सम्भावनाओं की परिभाषा करती है। प्राकृतिक वातावरण अपने संसाधनों तथा प्रतिबाधाओं के माध्यम से किसी हद तक वायुमंडल तथा प्रौद्योगिकी अन्तःसम्बन्ध होते हैं। प्रौद्योगिकी सदैव उसी पर बनाई जाती है जो कुछ प्राकृतिक वातावरण में भौतिक तौर पर सम्भव किया जा सकता है अथवा मानवीय उपयोग के लिए अधिक उत्पादकीय बनाया जा सकता है अथवा उसका शोषण किया जा सकता है।

प्राकृतिक तथा प्रौद्योगिकी वातावरण विकास के लिए उद्योग सम्भावना प्रस्तुत करते हैं। जबकि अन्य वातावरण जैसे आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक एवं सरकारी घटक विकास हेतु सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं।

प्राकृतिक तथा प्रौद्योगिकी के निर्दिष्ट वातावरणों में विभिन्न घटक विकास सम्भावना के अवशोषण की मात्रा तथा विकास की दिशा, गति तथा पैटर्न का निर्धारण करते हैं। Watrick and Wood के अनुसार, "प्राकृतिक वातावरण अन्ततः व्यवसाय द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक चीज का स्त्रोत तथा समर्थन होता है (लगभग हर मानवीय गतिविधि) - प्रत्येक कच्चा माल, प्रत्येक ऊर्जा स्त्रोत, प्रत्येक जीवन रक्षक घटक, यहां तक कि प्रत्येक क्षय चयन स्थल।

प्राकृतिक वातावरण निर्धारण करता है कि एक समाज में क्या कुछ किया जा सकता है तथा कैसे संस्थाएं काम करती हैं। संसाधन उपलब्धता समाजों में व्यवसाय के विकास में आधारभूत घटक होती हैं। अतः भौगोलिक तथा वातावरणीय घटक जैसे प्राकृतिक संसाधनों की सम्पदाएँ, मौसम तथा जलवायु परिस्थितियाँ, भूगर्भीय घटक, सार्वभौमिक संदर्भ में स्थिति घटक, बंदरगाह सुविधाएँ आदि सभी व्यवसाय के प्रति संगत होते हैं।

सार्वभौमिक व्यावसायिक वातावरण विश्व व्यापार संगठन (WTO) के सिद्धांतों तथा समझौतों द्वारा सारवान तौर पर प्रभावित होता है। वे घरेलू वातावरण को भी प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए भारत को मात्रात्मक आयात बाधाओं के लगभग पूर्ण निराकरण सहित आयातों को सारवान तौर पर उदार बनाना पड़ता है।

आयातों के उदारीकरण से बोध होता है कि घरेलू फर्मो को विदेशी माल से बढ़ती प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। विदेशी निवेश का उदारीकरण बहुराष्ट्रीय निगमों के स्थानीय Outfits से बढ़ती प्रतिस्पर्धा को जन्म दे सकता है। एक ओर ये उदारीकरण भारतीय फर्मो को नये अवसर भी प्रदान करते हैं। क्योंकि विदेशी बाजार नियार्तों तथा निवेशों के लिए कहीं अधिक खुले बन जाते हैं।

उदारीकरण ने भारतीय फर्मो को विदेशी समता सहभागिता तथा विदेशी प्रौद्योगिकी पाने के लिए भारतीय फर्मो को समर्थ बनाया है। इससे उनको व्यवसाय बढ़ाने में तथा प्रतिस्पर्धा शक्ति को सुधारने में सहायता मिल सकती है।

आधुनिक अर्थव्यवस्था उदारीकरण, सार्वभौमिकरण तथा निजीकरण की ओर उन्मुख है। हाल के वर्षों में सभी देशों ने अपनी आर्थिक नीतियों का रूख इन्हीं प्रव त्तियों की ओर मोड़ा है। पहले से चले आ रहे "व्यापार और प्रशुल्क पर सामान्य समझौता" "GATT" के स्थान पर विश्व की समस्त अर्थव्यवस्था में एकरूपता की कार्ययोजना के रूप में ही विश्व व्यापार संगठन की स्थापना 15 April, 1994 को हुई जिसने 1 Jan, 1995 से कार्य करना प्रारंभ किया। इस संगठन में GATT के आंठवे दौर (यूरुग्वे दौर) के प्रस्ताव भी शामिल हैं।

परम्परावादी अर्थशास्त्री स्वतंत्र व्यापार के पक्ष थे जिसमें विशेष रूप से स्वतंत्र व्यापार, व्यापारिक लेन-देन पर कोई प्रतिबंध नहीं और वस्तुओं/सेवाओं का खुला आवागमन होता था। यह माना जाता है कि स्वतंत्र व्यापार नीति से संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग होता है। श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण को प्रश्रय मिलता है और आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ती है। इस व्यापार प्रणाली प्रशुल्क कोटा विनिमय नियन्त्रण, मात्रात्मक प्रतिबंध का निषेध होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध एवं विश्वव्यापी आर्थिक मंदी (1929-33) के बाद विभिन्न देश नियंत्रण और संरक्षण के व्यापारिक नीति की अंतर्निहित विसंगतियों के कारण अंशतः स्वतंत्र व्यापार नीति के प्रति अग्रसर हुए।

उदारवादी विश्व-व्यवस्था इस परिकल्पना पर आधारित है कि इससे वस्तुओं के उत्पादन और स्वतंत्र लेन-देन में व द्धि होगी, पूर्ण रोजगार की दशाएं निर्मित होगी और लोगों के जीवन-स्तर में सुधार आ सकेगा।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को खुला एवं उदार बनाने के लिए प्रशुल्क एवं व्यापार संबंधी सामान्य समझौते GATT पर 30th October, 1947 को हस्ताक्षर किए गए। यह GATT समझौता 1 Jan. 1948 को लागू हुआ। भारत इसका प्रारम्भिक सदस्य है। आज इसके सदस्य देशों की संख्या 126 है। अब तक इसके आठ दौर हो चुके हैं तथा यूरुग्वे के आठवें दौर की परिभाषा है - विश्व व्यापार संगठन। यूरुग्वे में 1986 में हुए GATT सम्मेलन में 103 देशों ने भाग लिया। इसका प्रस्ताव इसके महानिदेशक आर्थर डंकल द्वारा 1991 में तैयार हुआ। इसे जनवरी 1992 में जारी किया गया। भारत इसकी प्रारम्भिक बैठक में 1986 में भी उपस्थिति रहा तथा 15 Dec. 1993 को अधिकारिक तौर पर इसकी स्वीकृति जिनेवा में दी गई। इस गैट सम्मेलन के मुख्य प्रावधानों का वर्णन इस प्रकार है :-

1. व्यापार संबंधित बौद्धिक सम्पदा अधिकार (TRIPS) - "बौद्धिक सम्पदा" से तात्पर्य है किसी व्यक्ति या निगम द्वारा किया गया कोई आविष्कार। पहले इस अविष्कार का प्रतिफल उसके अविष्कारक को नहीं मिल पाता था। यह सम्मेलन 'बौद्धिक सम्पदा' के संरक्षण के पक्ष में है। इसने पेटेंट कॉपीराइट व ट्रेडमार्क की व्यवस्था का समर्थन किया है।

व्यापारिक एवं उत्पादन क्रियाओं के संदर्भ में डंकल प्रस्ताव का मुख्य संबंध 'स्वत्वाधिकार' से है। जिससे वह अपनी वस्तु, पदार्थ, उत्पाद, अविष्कार अथवा ट्रेडमार्क अथवा बौद्धिक सम्पदा के किसी भी पक्ष का स्वामी होता है। भारत में इसके प्रभाव निम्नलिखित हैं :-

(i) भारत में किसी अविष्कार के अविष्कारक को 14 वर्ष का स्वतवाधिकार दिया गया है। इस अवधि में अविष्कार के प्रयोग और वितरण पर देश के भीतर पूर्ण स्वामित्व रहेगा, परन्तु इससे देश के बाहर होने वाले अविष्कार का स्वत्वाधिकार नहीं रहता है।

(ii) भारतीय स्वत्वाधिकार कानून दवाओं, रासायनिक प्रक्रिया एवं उत्पाद पर केवल 5 वर्ष या 7 वर्ष के लिए लागू होता है।

(iii) इसमें शोधकार्य अथवा अध्ययन के लिए किसी पेटेंट की व्यवस्था नहीं की गई है। यह प्रावधान भारतीय पेटेंट अधिनियम 1970 के अनुसार है। अब डंकल प्रस्तावों के मद्देनजर भारत को अपने पेटेंट कानूनों में यह संशोधन करने होंगें।

(A) डंकल प्रस्ताव में नाभिकीय ऊर्जा, कृषि एवं बागान प्रणाली, जैव-प्रौद्योगिकी तथा उपभोक्ता उत्पाद भी पेटेंट प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जायेंगें। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता क्षेत्र में प्राप्त शोध परिणामों के प्रयोग की स्वतंत्रता नही रह जाएगी।

(B) भारतीय पेटेंट कानून की व्यवस्थानुसार जिन वस्तुओं के लिए 'उत्पाद प्रक्रिया पेटेंट' लागू किया जाता है उनकी अवधि 5 से 7 वर्ष और जहां 'उत्पाद पेटेंट' लागू किया जाता है। उनकी अवधि 14 वर्ष है। डंकल प्रस्ताव में यह समयावधि 20 वर्ष निर्धारित की गई है

(C) अब भारत में भी दवाईयों पर 'उत्पादन प्रक्रिया पेटेंट' के स्थान पर 'उत्पादन पेटेंट' लागू किया जाएगा।

2. **व्यापार संबंधित निवेश शर्तें** - (TRIMS) अत्यन्त विकसित देशों के विभिन्न निगम विकासशील देशों में विनियोग करते हैं। विकासशील देश विदेशी विनियोग समझौते में विनियोगकर्त्ताओं पर विनियोग हेतु कुटब शर्तें लगाते हैं। इन्हें विनियोग शर्ते कहा जाता है। विनियोग शर्तों के परिप्रेक्ष्य में मेजबान देश से अपेक्षा करते हैं कि निर्मित वस्तु में स्थानीय कच्चे माल या मध्यवर्ती उत्पादों का प्रयोग हो। अब डंकल प्रस्तावों के अन्तर्गत इन देशों को ये शर्ते हटानी होगी।

3. **कृषि क्षेत्र से संबंधित समझौता** - सर्वप्रथम यूरुग्वे दौर में ही कृषि एवं बागवानी क्षेत्र के प्रावधानों को GATT में जोड़ा गया। GATT प्रावधान लागू होने के पश्चात् सदस्य देश की कृषि को भी GATT व्यवस्थाओं के अनुरूप व्यवस्थित किया जा सकेगा। इनमें निम्नलिखित शामिल हैं।

- बाजार पहुँच
- घरेलू अनुदान में कमी।
- पौध - सुरक्षा प्रावधान।

यह व्यवस्था की गई है कि कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली सरकारी आर्थिक सहायताओं को 'वर्षों की अवधि में विकसित देशों को 20% और विकासशील देशों को 13.3% कमी करनी है। इसी प्रकार बीजों पर भी 'बौद्धिक सम्पदा' को लागू किया गया है। प्रस्ताव में यह भी उल्लेख है कि कृषि आयातों पर लगायी जाने वाली मात्रात्मक रोक (CR) को हटाया जाना चाहिए। प्रस्ताव में यह भी उल्लेख है कि विकसित देशों को 1999 तक अपने प्रशुल्क में 36% तक और विकासशील देशों को 2003 तक अपने प्रशुल्क में 24% तक कमी करना है।

4. **सेवा व्यापार में सामान्य समझौता** - इस समय सेवाक्षेत्र विश्व व्यापार का लगभग एक चौथाई भाग है। विश्व के विकसित देशों की निर्यात संरचना में सेवा-क्षेत्र का अंश लगातार बढ़ रहा है। यह भी सर्वप्रथम यूरुग्वे दौर की वार्ता में ही प्रकाश में आया। इसके अनुसार सेवा क्षेत्र अर्थात् बैंक, परिवहन, दूर-संचार आदि से संबंधित कम्पनियाँ भी अंतर्राष्ट्रीय आधार पर दूसरे सदस्य देशों में क्रियाशील हो सकेगी। इस प्रावधान से भारत में बैंकिग और बीमा कम्पनियों का प्रवेश बढ़ेगा। इससे विकसित देशों की निर्यात प्राप्तियों में अत्यन्त तीव्र व द्धि की संभावना है।

5. **वस्त्र और परिधान के लिए समझौता** : विभिन्न विकासशील देशों की स्थिति सूती, ऊनी, सिन्थेटिक, रेशमी वस्त्रों के क्षेत्र में श्रेयस्कर है। विकसित देश संरक्षात्मक उपायों से घरेलू उद्योग के विकास का प्रयास करते हैं। विकासशील देशों से वस्त्र एवं परिधान के आयात पर कोटा निर्धारित किया जाता रहा है। 1974 से यह व्यवस्था MFA (Multi Fibre Agreement) बहुतंतु व्यवस्था के अन्तर्गत की जाती है। GATT प्रावधानों में यह व्यवस्था की गई है कि आगामी 10 वर्षों में वस्त्र व्यापार से सम्बद्ध कोटा क्रमशः समाप्त किया जाए। यह प्रक्रिया चार चरणों में 2005 तक पूरी की जाएगी। 1995 से कार्यरत विश्व व्यापार संगठन में यह प्रावधान है कि प्रत्येक दो वर्ष बाद विश्व-व्यापार संगठन के कार्यों के आंकलन और नीतिगत विषयों पर विचार-विमर्श करने हेतु एक मंत्री स्तरीय सम्मेलन होगा। अतः WTO का प्रथम मंत्री स्तरीय सम्मेलन 1996 में सिंगापुर में हुआ। इसमें व्यापार के बौद्धिक सम्पदा, कृषि मुद्दों, वस्त्र एवं परिधान आदि पर व्यापक चर्चा हुई। (WTO) ने अपने स्थापना के बाद कई नवीन क्षेत्रों में प्रवेश किया है। इस संदर्भ में तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण समझौते हुए हैं।

सूचना तकनीकी पर समझौता, बुनियादी दूरसंचार पर समझौता और वित्तीय सेवाएँ उदारीकरण समझौता।

इस प्रकार GATT जो WTO का पूर्ववर्ती या व्यापार को उदारीकृत करने की अंतर्राष्ट्रीय इच्छा के परिणामस्वरूप 1948 को अस्तित्व में आया। Bretton Woods Conference जो 1944 में आयोजित की गई थी तथा जिसने

International Monetary Fund तथा World Bank को सिफारिश की थी उसने एक International Trade Organisation (ITO) की स्थापना का सुझाव दिया। यद्यपि IMF तथा WB की 1946 में स्थापना कर दी गई। ITO के चार्टर की भी प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि इसके प्रावधान घरेलू नीति निर्धारण की स्वायत्ता में हस्तक्षेप करते थे इसके स्थान पर GATT जिसको एक अन्तरिम ठहराव के रूप में ही बनाया गया था। जब तक ITO पर सहमति बन पाती, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तंत्र का ढांचा बन गया तथा 1948 से लागू कर दिया गया।

International Trading System 1948 से ही कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर तो GATT के हस्ताक्षरकर्त्ताओं द्वारा सहमत नियमों तथा प्रविष्ठियों द्वारा मार्गदर्शन पाता था जो अनुबंध करने वाले देशों द्वारा हस्ताक्षरित एक ठहराव था। जिसको GATT के अनुशासनों को स्वीकार करने की उनकी इच्छा के आधार पर लागू किया गया था।

GATT को 1st Jan, 1995 से WTO में बदला गया तथा जो इस प्रकार पांच दशकों के बाद WTO के रूप में मान्यता मिली। जो GATT की अपेक्षा काफी अधिक बड़ी संस्था है तथा उसकी अपेक्षा इसका व्यापक क्षेत्र है।

भारत IMF, World Bank, GATT तथा WTO के संस्थापक सदस्यों में से एक है। GATT का प्राथमिक उद्देश्य था व्यापार का उदारीकरण करके, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार, ताकि चहुतरफा आर्थिक सम द्धि लायी जा सके। GATT के प्राक्कथन में जिन महत्वपूर्ण उद्देश्यों का उल्लेख किया गया - (i) रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाना, (ii) पूर्ण रोजगार तथा शुद्ध आय के बढ़ते विस्तार तथा प्रभावी मांग का आश्वासन (iii) दुनिया के संसाधनों के पूर्ण उपयोग का विकास, (iv) उत्पादन तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार।

Cenventuries of GATT में अपेक्षा की गई थी कि :-

(1) किसी सदस्य देश की वाणिज्यिक नीति के किसी अन्य प्रकार या टैरिफ में कोई प्रस्तावित परिवर्तन बिना अन्य पक्षकरों के परामर्श के नहीं अंजाम दिया जाना चाहिए।

(2) वे देश जो GATT का पालन करते हैं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रति अन्य बाधाओं तथा टैरिफो में कटौती के प्रति काम करे जिनका GATT के ढांचे के भीतर समझौता किया जाना चाहिए। इसके उद्देश्यों की अभिप्राप्ति हेतु GATT के निम्न सिद्धांतों का पालन किया।

(1) भेदभाव न होना। (2) मात्रागत बाधाओं की मनाही (3) परामर्श।

भेदभाव विहीनता का सिद्धांत अपेक्षा करता है कि कोई भी सदस्य देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संचार में GATT के सदस्यों के बीच भेदभाव नहीं करेगा। प्रत्येक देश को "सर्वाधिक अनुकूल देश माना जाएगा। GATT के नियम कम कठोर टैरिफों के प्रति व्यापार की बाधाओं को सीमित करने तथा मात्रात्मक प्रतिबंधों को हटाने का उद्देश्य लेकर चलते हैं। निरन्तर परामर्श हेतु एक फोरम प्रदान करके यह परामर्श के माध्यम से विवादों के निदान की अपेक्षा करता है। अभी तक GATT के तत्वाधान में व्यापारिक समझौते के आठ दौर चल चुके हैं। प्रत्येक दौर में कई वर्ष लगे। इसमें सबसे अंतिम रहा Uruguay Round जिसने किसी निष्कर्ष तक पहुँचने में सात साल से भी अधिक लगा दिए जबकि इसके लिए 4 वर्षों की आशा की जा रही थी। ये बातें व्यापारिक समझौते में शामिल जटिल मुद्दों को अभिव्यक्ति करते हैं।

GATT का मूल्यांकन - अपनी कमियों के बावजूद GATT की बढ़ती स्वीकृति इसके सदस्य देशों की बढ़ती संख्या से लगाई जा सकती है। जबकि GATT पर 1947 में केवल 23 देशों ने हस्ताक्षर किय थे। सांतवे दौर तक यह संख्या 99 तथा आंठवें दौर में यह संख्या 117 तक जा पहुंची अर्थात् उसग्वे राऊन्ड में 117 सदस्य थे। इसके सदस्य देशों का विश्व व्यापार में 90% भाग है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के व्यवस्थित विकास के बारे में WTO की सम्भावनाओं का सूचक है।

GATT की एक बड़ी प्राप्ति रही। निरन्तर परामर्श के लिए एक फोरम की स्थापना।। यह पर्याप्त मात्रा में व्यापार उदारीकरण सुनिश्चित कर सका। यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी रहे। कृषिगत व्यापार उदारीकरण का एक स्पष्ट अपवाद रहा है। स्वतंत्र होने के स्थान पर कृषि में व्यापार किसानों में दिए जाने वाले, समर्थन द्वारा निरंतर व्यवस्थित ही किया जाता रहा है। जिसने औद्योगिक देशों में आयातों तथा निर्यातों के प्रति अनुदानों के सामने अनेक बाधाएँ लगाई हैं। इसी तरह एक अन्य अपवाद टैक्सटाइल्स का रहा है। वस्त्रों में व्यापार MFA (Multifibre Arrangement) द्वारा सीमित किया गया।

कृषि तथा वस्त्रों के अतिरिक्त व्यापार उदारीकरण की सामान्य प्रव त्ति के प्रति दो अपवाद विकासशील देशों का व्यापार तथा आर्थिक एकीकरण रहे हैं भुगतान संतुलन समस्याओं के साथ विकासशील देशों को सामान्यतः उदारीकरण से मुक्त रखा गया। यहाँ तक कि अरुग्वे राउंड ने भी विकासशील देशों को सामान्यतः उदारीकरण से मुक्त रखा गया। यहाँ तक कि अरुग्वे राउंड ने भी विकासशील देशों की ऐसी विमुक्तियां स्वीकार की।

यद्यपि व्यापारिक उदारीकरण की तस्वीर ऐसे अपवादों से मर्यादित हुई हो, तो भी GATT ने सराहनीय व्यापारिक उदारीकरण को प्राप्त कर लिया। औद्योगिक देशों में निर्मित उत्पादों पर टैरिफों का औसत स्तर 1974 के 40% से अरुग्वे राउंड के बाद मात्र 3% के लगभग रह गया है।

वास्तव में 1950-73 की अवधि प्रगतिशील व्यापारिक उदारीकरण के उत्साहवर्धक परिणामों से भरी है। 1720 से अब तक 275 वर्षों में उत्पादन तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की औसत अधिकतम वार्षिक विकास दरे देखने में आई है। ये दर किसी भी अन्य अवधि की तुलना मे सबसे ऊंची रहीं। वास्तव में 1950 तथा 1960 के दशकों को पूंजीवाद की स्वर्णिम दशाब्धियों कहा जाता है। अनेक मामलों में नयी से नयी प्रौद्योगिकियों का उपयोग करने वाली कम्पनियों का उत्पादन स्तर घरेलू बाजारों की तुलना में कहीं अधिक रहा जो वे कमा सकती थी। अन्य देशों को बाजारों के विस्तार ने अन्य उद्योगों में लगी कम्पनियों को भी अपना उत्पादन बढ़ाने में समर्थ बनाया। अन्तर्राष्ट्रीय निवेश में भी भारी व द्धि देखी गई।

1974 से उदारीकरण को कुछ धक्का लगा। यद्यपि टैरिफ बाधाओं का निराकरण जारी रहा, तो भी तभी से विकसित देशों ने अपने Non- Tariff Barriers को सारवान तौर पर बढ़ाया है। 1970 के दशक के प्रारम्भ में Bretton Woods प्रणाली का पतन हो गया तथ तेल संकट ने अनेक देशों को मुश्किल में डाल दिया तथा भारी तौर पर संरक्षण की मांग की जाने लगी। विकासशील देशों के निर्यात (NTB) के कारण बुरी तरह से प्रभावित हुए। साथ ही विकासशील देशों के निर्यात औद्योगिक देशों के निर्यातों की तुलना में कम ही बढ़ सके। व्यापारिक उदारीकरण मुख्यतः विकासशील देशों के हित वाले मालों तक ही सीमित रहा। कृषि वस्तुओं के मामलों में न केवल उदारीकरण लागू हुआ। वरन् संरक्षण में और व द्धि की गई। विकासशील देशों के लिए हित वाले निर्मित उत्पाद जैसे वस्त्र तथा कपड़े, फुटवीयर आदि बढ़ते NBT के शिकार हुए जबकि विकसित देशों ने कहीं अधिक उदार व्यापारिक वातावरण का सुख भोगा तथा वही बढ़ती NTB विकासशील देशों के निर्यातों को दुष्प्रभावित करती रही। मजे की बात है कि विकसित देश संरक्षणवाद को बढ़ावा देते रहे तथा विकासशील देश उदारीकरण को। यही वास्तव में GATT तथा अन्य बहुपक्षीय संगठनों की गंदी तस्वीर है।

Uruguay Round वह नाम है जिसके द्वारा Multi-Lateral Trade negotiations का आठवां तथा अंतिम दौर GATT के तत्वाधान में हुआ जो इस नाम से इसलिए जाना जाता है कि September 1986 में एक विकासशील देश अरुग्वे ने Punta Del Este में इसका शुभारम्भ हुआ। विभिन्न देशों के हितों में टकराव के कारण दिसम्बर 1990 में यह दौर समाप्त नहीं हो पाया, जब तक यह कार्यक्रम बनाया गया था। जब समझौते असफल हो रहे थे तो Arther Dunkle नामक GATT के महानिदेशक ने एक ड्राफ्ट अधिनियम तैयार किया जिसे इस राउंड का परिणाम माना गया तथा Dunkle Draft के नाम से जाना गया। 15th Dec. 1993 सदस्य द्वारा एक व्यापक पाठ्य से इसको प्रति स्थापित किया गया। 15 April 1994 को 125 देशों द्वारा इस पर हस्ताक्षर किए गए। इसके परिणामों को 1995 से दस वर्षों के भीतर क्रियान्वित किया जाना है। विभिन्न ठहरावों के लिए अलग समय तय किए गए हैं। MTNs के पहले 6 दौरे लगभग टैरिफ जटाने पर ही केन्द्रित रहे जबकि सातवां दौर (Tokyo Round) NTBs से निपटने के लिए रहा। UR के नये क्षेत्रों का समावेश करके MTNs के दायरे को व्यापक बनाया गया।

सेवाओं में व्यापार – व्यापार सम्बद्ध बुद्धिगम्य सम्पदा के पहलू व्यापार सम्बद्ध निवेश उपाय।

GATT समझौते में इन नये पहलुओं के समावेश से विकासशील देश भारी चिन्तित हैं। इसके परिणामों को लेकर।

GATT & WTO - UR Agreement के बाद GATT एक अन्तरिम ठहराव से एक औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में परिवर्तित हो गया। WTO Jan, 1, 1995 से जो GATT तथा अरुग्वे के सभी परिणामों से सन्निहित संस्थागत एकाकी ढांचे के रूप में अब कार्य कर रहा है। यह Ministerial Conference द्वारा निर्देशित होता है जो दो सालों में कम से कम एक बार अवश्य मिलेंगे तथा इसका नियमित व्यवसाय General Cornail देखेगी।

पुराना GATT तंत्र विद्यमान घरेलू विधानों को चलते रहने की आज्ञा देता था। भले ही ये GATT समझौते का उल्लंघन करें, WTO विशेषतः इसका निराकरण करता है। आज कहा जाता है। The GATT is dead long live the WTO। संक्षेप में GATT तथा WTO के बीच निम्न अन्तर बताए जा सकते हैं :-

GATT	WTO
(i) GATT तदर्थ तथा अन्तिम था (Adhor & Provisional)	(i) WTO तथा इसके सभी ठहराव स्थायी हैं।
(ii) GATT के अनुबंधकारी पक्ष होते थे।	(ii) WTC में सदस्य है।
(iii) GATT प्रणाली ने घरेलू विधानों को चलते रहने की की आज्ञा दी चाहे वे GATT के ठहरावों का उल्लंघन कर दें।	(iii) WTO ने इसकी इजाजत नहीं दी।
(iv) GATT कम शक्तिशाली था। विवाद निदान तंत्र धीमा था तथा कम प्रभावी था। इसके निर्णय आसानी से से ब्लाक किए जा सकते थे।	(iv) यह GATT से कही अधिक शक्तिशाली है विवाद समाधान तंत्र व्यवस्था तीव्र तथा अधिक प्रभावी है एवं इसके निर्णयों को ब्लॉक करना बहुत कठिन है

WTO के 5 विशिष्ट कार्य हैं

1. MTAs (Multilateral Trade Agreements) के क्रियान्वयन, प्रशासन तथा परिचालन एवं उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में सहायता करना तथा Plurilateral Trade Agreements (PTAs) के क्रियान्वयन तथा प्रशासन के लिए ढांचा भी प्रदान करना।
2. WTO ठहरावों में आने वाले विषयों के MTAs सम्बन्धी अपने सदस्यों के बीच समझौते हेतु फोरम प्रदान करेगा।
3. WTO 'Understanding on Rules and procedures Governing the settlement of Disputes' का प्रशासन करेगा।
4. WTO साथ ही 'Trade Review Mechanism' का प्रशासन भी करेगा।
5. WTO जहाँ तक भी उपयुक्त होगा IMF, IBRD तथा उसकी सम्बद्ध संस्थाओं सें आर्थिक-नीति निर्धारण मामलों पर सहयोग करता रहेगा।

General Council निम्न चार कार्यों का निर्वाह करेगा।

1. माल सेवाओं तथा TRIPs के सम्बंध में संशोधित ठहरावों तथा मंत्री स्तरीय घोषणाओं के क्रियान्वयन का नियमित आधार पर अधीक्षण।
2. Dispute Settlement Body के रूप में काम करना।
3. Trade Review Mechanism के रूप में काम करना।
4. सहायक संस्थाओं के रूप में Goods Council, Services Council तथा TRIPs Council की स्थापना करना।

WTO का सदस्य बनने के लिए किसी भी देश को पूरी तरह से Urugway Round के परिणामों को स्वीकार करना होगा। UR Agreements टैरिफ बाध्यताओं को व्यापक करने, टैरिफों को घटाकर तथा टैरिफों को हटाकर उत्पादों में व्यापार को उदारीकृत करने का प्रयास करता है। UR की एक महत्वपूर्ण अभिप्राप्ति रही है कृषि में व्यापार के उदारीकरण

हेतु उपाय जो एक अत्यन्त संरक्षित क्षेत्र रहा है। विशेषतः विकसित देशों में यह उपाय हैं Tariffication, Tariff bindings, Tariffcuts तथा Reductions in Subsidies and Domestic Support। सभी सदस्य देशों से अपेक्षा की जाती है कि Product Patent तथा Process Patent का पालन करे। भारत का केवल दवाओं, खाद्य तथा रासायनिक पदार्थों के लिए प्रक्रिया पेटेन्ट हैं जिसके लिए पेटेन्ट अवधि 7 साल थी जबकि अन्य उत्पादों के लिए 14 साल है। WTO प्रशासन में सभी उत्पादों के लिए पेटेन्ट अवधि 20 साल है।

अन्तिम अधिनियम के महत्वपूर्ण प्रावधान :-

Agriculture - UR समझौता कृषि के सम्बन्ध में लोक तत्वों से बना है जो कृषि में व्यवहार के सुधार हेतु प्रयास करते हैं तथा बाजारोन्मुखी नीतियों के लिए आधार की व्यवस्था करते हैं जिससे निर्यात तथा आयात करने वाले देशों को समान रूप से आर्थिक सहयोग सुधारने का अवसर मिलता है। UR Agreement के कृषि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण पहलुओं में शामिल है :-

1. **Tariffication :-** अर्थात् ऐसे टैरिफों द्वारा आयात कोटे के रूप में व्यापार पर विद्यमान गैर-टैरिफ प्रतिबंधों का प्रतिस्थापन जो उसी स्तर के संरक्षण की सारवान तौर पर व्यवस्था कर सके।
2. **Tariff Binding :-** ठहराव के प्रथम वर्ष के क्रियान्वयन के लगभग सभी सीमा संरक्षण (Border Protection) को टैरिफ द्वारा बांधा जाना है जो आधार अवधियों में प्रचालित संरक्षण स्तरों के समान टैरिफ की अपेक्षा अधिक नहीं होते।
3. **Tariff Cuts :-** औद्योगिक देशों को 1965 से 6 वर्षों के भीतर औसतन 36% से अपनी टैरिफ बाधाओं को हटाना है जबकि सभी विकासशील देशों से अपेक्षा की जाती है कि 10 वर्षों की अवधि के दौरान 24: के औसत से टैरिफों को घटाए। सबसे कम विकसित देशों को इस सम्बन्ध में कोई वायदा करने की आवश्यकता नहीं है।
4. **अनुदानों तथा घरेलू समर्थन में कमी :-** UR Agreement निम्न प्रकार की अनुदान सहायताओं का वर्णन करता है।

(a) **Prohibited Subsidies :-** आयातित माल के स्थान पर घरेलू माल का उपयोग। (b) Actionable Subsidies ऐसे अनुदान जिनका अन्य सदस्य देशों पर विपरीत प्रभाव होता है। (c) Non-Actionable Subsidies :- हानि होने वाले क्षेत्रों को औद्योगिक शोध तथा विकास गतिविधि की व्यवस्था करना।

UR ठहराव Multilateral Trade Discipline के अन्तर्गत भी घरेलू Support नीतियों को ला चुका है। लेकिन घरेलू समर्थन के उपायों का ऐसे व्यापार पर न्यूनतम प्रभाव होता है जो विमुक्त होते हैं।

स्वास्थ्य तथा सुरक्षा उपाय :- स्वच्छता तथा सफाई के उपायों के उपयोग पर ठहराव निम्न बातों से सम्बन्ध रखते हैं।

खाद्य सुरक्षा तथा पशु एवं संयंत्र स्वास्थ्य नियंत्रणों का उपयोग :- Sanitary तथा Phytro Sanitary उपायों को लेने के सरकार के अधिकार की मान्यता।

यह मानता है कि ये उपाय विज्ञान पर आधारित होने चाहिए। इन उपायों को केवल इंसानों, संयंत्रों या पशुजीवन या स्वास्थ्य के संरक्षण हेतु आवश्यक सीमा तक ही लागू किया जाना चाहिए। इनको सदस्यों के बीच मनमाना पक्षपात नहीं करना चाहिए। जहाँ समान दशाएँ विद्यमान हैं।

सबसे कम विकसित तथा खाद्य आयातक देशों की सहायता :- सुधार कार्यक्रम के दौरान कम से कम विकसित देश तथा शुद्ध खाद्य आयातक देश उचित शर्तों पर खाद्य मदों की आपूर्ति के सम्बन्ध में नकारात्मक प्रभाव अनुभव कर सकते हैं। ऐसे देशों को विशेष सहायता की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्यों हेतु निम्न कदम उठाये गए। (i) एक विशेष मंत्रीस्तरीय निर्णय लिया गया जो निम्न के सम्बन्ध में उपयुक्त तंत्र व्यवस्था की मांग करते हैं। (a) खाद्य की उपलब्धता, (b) पूर्ण अनुदान स्वरूप में मूल खाद्य पदार्थो की व्यवस्था (c) कृषि विकास हेतु सहायता। (ii) यह निर्णय अल्पकालीन वित्त व्यवस्था तथा वाणिज्यिक खाद्य आयात के सम्बन्ध में IMF तथा World Bank से सहायता की संभावना का भी संदर्भ होता है। (iii) कृषि पर एक समिति निर्णयों का Followup करती रहेगी। **वस्त्र तथा कपड़े :-** इस क्षेत्र में आजकल अधिकांश व्यापार MFA

के अन्तर्गत द्विपक्षीय कोटा समझौते में आता है। वस्त्रों तथ कपड़ों पर ठहराव का उद्देश्य WTO की मुख्य धारा में इस क्षेत्र के एकीकरण की अभिप्राप्ति है। लेकिन यह निर्णय लिया गया कि यह कदम चरणों में उठाया जाएगा। यदि MFA प्रतिबन्ध जो 31, Dec. 1994 को लागू थे अंतिम अधिनियम में आगे ले जाये जाएंगें तथा तब तक बने रहेंगे जब तक प्रतिबन्ध हटा नहीं लिए जाते या उत्पादों को WTO में आत्मसात नहीं कर दिया जाता।

TRIPs :- UR का सबसे आलोचनात्मक परिणाम रहा Trade Related Aspects of Intellectual Property Rights पर ठहराव जिनमें शामिल है। जब्त हुए माल में व्यापार (Trade in Counterfelt Goods)।

Intellectual Property rights को किसी वाणिज्यिक मूल्य की सूचना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। IPRS को सम्पत्ति के स्तर को प्रदान करने के लिए सार्वजनिक इच्छा सहित विचारों, आविष्कारों तथा स जनात्मक अभिव्यक्ति के गठन तथा उनके स्वामियों को संरक्षित विषय वस्तु के उपयोग या उस तक पहुंच से दूसरों को वंचित करने के अधिकार की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। IPRs may be defined as composition of ideas inventions & creative expression plus the public willingness to bestow the status of property and given their owners the rights to exclude others from access to or use of protected subject matter) इसमें निम्न Intellectual Properties को शामिल किया गया।

Copyrights & related rights, Trade Mark, Geographical indications, patents, Layout design, Undidclosed information, WTO ठहराव मान्यता लेता है कि IPRs के संरक्षण तथा क्रियान्वयन में व्यापक तौर पर परिवर्तनीय मानदण्ड तथा जब्त माल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का वर्णन करने वाले Multilateral Disciplines की कमी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बंधों में तनाव का एक बड़ा कारण रही है। इस बात को ध्यान में रखकर निम्न कदम उठाये गए।

(i) GATT के सिद्धांतों तथा सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विवेकपूर्ण सम्पत्ति ठहरावों के सिद्धांतों को लागू करना, (ii) पर्याप्त IPRs की व्यवस्था, (iii) पर्याप्त क्रियान्वयन उपायों की इन अधिकारों के लिए व्यवस्था (iv) Multilateral dispute Settlement (v) Transitional dispute arrangements, TRIPs ठहरावों में निम्न तीन भागों का समावेश है :- Part I प्रावधान तथा सिद्धांत Part II विभिन्न प्रकार के IPRs Part III, क्रियान्वयन GATs (The General Agreement an Trade in Services) सेवाओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को कवर करने के लिए अभी तक समझौता किए गए। बहुपक्षीय सहमति तथा वैधानिक तौर पर प्रवर्तनीय नियमों तथा अनुशासनों का यह प्रथम चरण है। ठहराव में तीन तत्वों का समावेश है। General Rules and disciplines का एक ढांचा

व्यक्तिगत क्षेत्रों से सम्बन्धित विशेष परिस्थितियों का सम्बोधन कर रहे संयुक्त-पत्र

इन क्षेत्रों में शामिल है प्राकृतिक व्यक्तियों के आवागमन, वित्तीय सेवाएं, दूरसंचार तथा वायु परिवहन सेवाएं बाजार पहुँच वायदों का राष्ट्रीय कार्यक्रम।

विभिन्न सेवाओं के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रभावों तथा विशेष लक्षणों के कारण वे सामान्यतः राष्ट्रीय बाधाओं के विभिन्न प्रकारों के अन्तर्गत रही है। सेवाओं में व्यापार हेतु एक परिषद् ठहराव के परिचालन को देखती है। GATs जो सेवाओं के प्रति बहुपक्षीय नियमों तथा अनुशासनों को लागू करते हैं। UR की एक ऐतिहासिक सफलता माना जा रहा है। यद्यपि तुरन्त उदारीकरण के रूप में इससे कुछ कम ही प्राप्त हो सका है।

Anti-dumping measures - GATT सदस्यों को Antidumping उपाय लागू करने की आज्ञा देते हैं। ऐसे उपायों को आयातों पर थोपा जा सकता है। यदि ऐसे Dump किए गए आयात, आयात करने वाले सदस्यों के क्षेत्र में घरेलू उद्योग के प्रति हानि उत्पन्न कर सकते हैं। ये उपाय निर्यातकों द्वारा मूल्यन पर शुल्कों या वचनों का स्वरूप ले सकते हैं। टोकियों दौर के दौरान कुछ व्यापक नियमों पर विचार विमर्श हुआ था तथा यही बात ऊरूग्वे दौर में दोहरायी गई। WTO निम्न के बारे में व्यवस्था करता है।

1. यह निर्धारण करने की विधि में और अधिक स्पष्टता कि उत्पाद डम्प किया जाता है।

2. डम्प किए गए उत्पाद द्वारा एक घरेलू उद्योग को हुई क्षति के निर्धारण हेतु अतिरिक्त मानदण्ड।

3. डम्पिंग विरोधी अनुसंधानों को प्रारंभ करने तथा अंजाम देने में अपनाई गइ प्रविधि।

4. डम्पिंग विरोधी उपायों के क्रियान्वयन तथा अवधि के बारे में नियमावली।

5. WTO सदस्यों द्वारा उठाये गये डम्पिंग विरोधी कार्यों के सम्बन्ध में विवादों में Disputes settlement Pencils की भूमिका का स्पष्टीकरण।

UR दौर का मूल्यांकन (An Evaluation of the UR Round) : यह दौर अभी तक का सबसे जटिल तथा विवादास्पद विषय है नये क्षेत्रों जैसे TRIPs, TRIMs सेवाओं का समावेश तथा कृषिगत व्यापर को उदार बनाने का प्रयास तथा गैर टैरिफ बाधाओं के समापन ने जटिलताओं को बढ़ा दिया। निम्न तरीकों से WTO अपने पूर्ववर्ती GATT से भिन्न सिद्ध हुआ।

1. देशों के बीच विवादों को हल किया जा चुका है। यहाँ तक कि अमेरिको को भी कई केसों में बुक किया गया था।

2. GATT के समझौताकारी दौर लगभग 10 वर्षों में होते रहे हैं। लेकिन सिंगापुर में UR के मात्र 2 वर्ष बाद ही WTO ने सूचना प्रौद्योगिकी ठहराव को अन्तिम रूप दिया तथा कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर अध्ययनों का श्रीगणेश किया।

3. GATT की पुरानी मस्ती भरी रफ्तार जा चुकी है। इसके स्थान पर अगले कुछ वर्षों में वह कुछ करने का दबाव बन रहा है। जिन को पूरा होने में 10-15 साल लग जाया करते थे। साथ ही WTO की कार्य सूची बढ़ रही है तथा अमेरिका निरन्तर प्रयास कर रहा है। कि हर चीज को WTO के दायरे में लाया जाए।

4. MFN (Most Favoured Nation) का नियम सभी देशों के लिए लाभकारी है : WTO व्यापारिक उदारीकरण के लिए एक नियम बनानेवाली संस्था के रूप में महत्वपूर्ण उद्देश्य का निर्वाह कर रहा है लेकिन इस को इतना अधिक नहीं बढ़ाया जाना चाहिए कि वह स्वयं को World Government ही मानने लगे तथा एक नयी विश्व अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए व्यापारिक प्रतिबंधों की धमकी देने लगे तथा हर आर्थिक मामलों में टांग अड़ाने लगे।

UR Agreements से विकासशील देश खासे नाराज हैं। कुछ क्षेत्र जैसे TRIP, TRIMs तथा सेवाएं उनके लिए काफी नाजुक विषय हैं तथा वे ठहराव उनसे उपेक्षा करते हैं कि उनको असमान विकसित अर्थव्यवस्था से प्रतिस्पर्द्धा के विरूद्ध संरक्षण कम किया जाए। लेकिन UR उनके प्रति विशेष द ष्टिकोण भी अपनाता है। विशेषतः उनके भुगतान संतुलन की समस्याओं के बारे में। असहमति का एक बड़ा क्षेत्र है वस्त्र उद्योग में व्यापार। यह निर्यात की एक महत्वपूर्ण मद है लेकिन विकसित देश अत्यन्त प्रतिबंधात्मक आयात नीति को अपनाने में लगे हैं। लेकिन यह निर्णय लिया जा चुका है। कि MFP को चरणाबद्ध तरीके से 10 वर्षों की अवधि में बाहर कर दिया जाएगा तथा संक्रमण काल के अंत तक ही उदारीकरण का व्यापक भाग अंजाम पा सकेगा।

विकासशील देश सेवाओं के व्यापार में उदारीकरण के प्रस्ताव के प्रति भी आंशाकित है लेकिन अभी तक सेवा क्षेत्र अप्रभावित ही छोड़ दिया गया है। उल्लेखनीय है कि UR का सभी देशों पर समान प्रभाव नहीं पड़ता। हो सकता है एक कदम किसी विकासशील दोनों ही देशों के बीच हितों का टकराव होना स्वाभाविक है कोई भी देश पूरी तरह से UR प्रस्तावों से प्रसन्न नहीं क्योंकि सभी देशों की सांस नाराजगी जान पड़ती है। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि UR के नियमों को अधिक पारदर्शी बना दिया है तथा व्यापार व्यवधानों एवं एकपक्षीय कार्यवाही को अधिक कठिन बना दिया है।

Trading Blocks

मुक्त विश्व व्यापार की स्थापना में GATT की असफलताओं के कारण व्यापारिक समूह उभरे हैं लेकिन चूंकि अब GATT नया जन्म लेकर WTO के रूप में सामने आया है जिसकी सदस्य संख्या काफी अधिक है अतः आशा की जाती है कि ये Trading Blocks अपने हितों में WTO से नहीं टकरायेंगें। ये ब्लॉक सम्पूर्ण दुनिया में हैं। जहां WTO बहुपक्षीय व्यापार का प्रतिनिधित्व करता है वहीं ये ब्लॉक इसको नकारते हैं। जो वांछनीय नहीं है। ये ब्लॉक क्रमशः निम्न हैं।

व्यापारिक समूह	सदस्य देश	स्थापना वर्ष
1. अरब कामन मार्किट (ACM)	अरब, मिस्त्र, जोर्डन, ईराक लेबनान, सीरीया, मोरीटेनिया	1964
2. अरब महारेब यूनियन (AMU)	अल्जीरिया, लीबिया, ट्यूनिशिया मोरक्को मोरीटेनिया	1989
3. एन्डीयन कॉमन मार्किट (ANCOM)	बोलीविया, कोलम्बिाय, पीस इक्वेडोर, वैनुजुएला	1969
4. ANZCERT (Australia, New Zealand, Closer Economic Relations, Trade Agreement		1983
5. ASEAN (Association of South East Asian Nations)	ब्रनी, इन्डोनेशिया, मलेशिया फिलिपाईन्स, सिंगापुर	1967
6. BA (Bangkok Agreement)	बंग्लादेश, भारत, लाओस दक्षिण कोरिया, श्रीलंका	1976
7. CACM (Central American Common Market	कोस्टारिका, EL Salvader Guatemala, Honduras Nicorgua	1960
8. CARICOM (Caribbean Common Market)	Barbader, Belize, Diminica	1973
9. CEAO (West Africa Economic Community)	Behin, Buskuiafaso Coted Jivorie, Mail	1959
10. CEEA (Economic Community of Central Africa States	वुरुन्ड़ी, कैमरुन Contral African Replias chad Congo, Cabon	1981
11. EC (European Community)	बेल्जिम, डेनमार्क, फ्रांस, इटली,	1957
12. ELOWAS (Economic Community West African States)	Bening, Bustina Faso) Cape varde, Cope d'	1975
13. EFTA (European Free Trade Association	आस्टेलिया, फिनलेंड, आईसलैण्ड Liechton Stain, नावे, स्वीडन	1960 1960
14. GCC (Gulf cooperation Council)	गल्फ, मोरियन, कुवैत, ओमान कतार, UAE सऊदी अरब	1981
15. LAIA (Latin American Intergration Association	लैटिन, मैक्सिको, परोगुरू, पीस, गसग्वे, वैनेजुवेला	1980
16. MER-Consus (Southern Cone Common Masterts)	अर्जेन्टाईना, ब्राजील, असम्बे	1991
17. NAFTA (North American Free Trade Agreement)	Mano Guinca, Libeia	1973
18. MRU (MANO River Union)	उत्तरी अमेरिका, कनाडा,	1989
19. OECS (Organisation of Eastan Carribean States)	Antigria, Barmuda, Dominica Grenedu, Monstrcal	1981

20. PTA (Preferential Trade for Eastern and Southern African States)	Burundi, Compros, Dfibout Ethopia, Kenja, Letho	1981
21. SACV (Southern African Coustoms Union)	Bepudthaswana, Bostwana ciskei, Logotho, Namibia	1969
22. SAPTA (South Asian Preferential Trading Agreement)	SAARC के देश	1993
23. UDEAC (Economic & Customs Union of Central Africa)	Cameron, Central African Republic CHAD	1964

भारत दो व्यापारिक ब्लाकों का सदस्य है BA तथा SAPTA का तथा यह WTO का संस्थापक सदस्य है। वैसे भारत का सदैव ही यह प्रयास रहा है कि इन ब्लाकों की व्यवस्था समाप्त हो।

THE DOHA DECLARATION

WTO की चौथी मंत्री स्तरीय सभा नवम्बर, 2001 में दोहा में बुलाई गई जिसमें 142 सदस्य देशों के मंत्रियों ने भाग लिया। इस सभा की तरफ व्यापक ध्यान आकर्षित हुआ विकसित तथा विकासशील देशों के हितों के टकराव के कारण विकसित देश चाहते थे कि बहुपक्षीय व्यापारिक समझौतो का नया दौर जल्दी ही शुरू हो जिसे Singapore Issues के रूप में जाना जाता है। (भावी समझौतो के लिए सिंगापुर में 1996 में सात मदों की सूची तैयार की गई थी। निवेश, प्रतिस्पर्द्धा नीति, व्यापारिक सुचारूता, सरकारी खरीद में पारदर्शिता, वातावरणीय कृषि तथा TRIPs दूसरी ओर भारत जैसे विकासशील देशों का मत था कि नये दौर के पूर्व Implementation Issues का समाधान कर लिया जाये। भारत विकसित देशों के विरूद्ध लगभग अकेले ही अपनी लड़ाई लड़ता रहा।

दोहा सम्मेलन Datta Development Agenda की रचना करके समाप्त हुआ तथा भारत ने मंत्री स्तरीय घोषणा केवल तभी स्वीकार की जब वह संतुष्ट हो गया कि सम्मेलन के सभापति के ओर से चार सिंगापुर मुद्दो की बात कर ली है। विदेशी निवेश, प्रतिस्पर्द्धा, नीतियां सरकारी खरीद में पारदर्शिता तथा व्यापार सुचारूकरण। यद्यपि विकसित देशों का हाथ ऊपर ही रहा लेकिन भारत के सख्त कदम का सराहनीय प्रभाव रहा। भारत के द्वारा तब तक कार्यसूची के अनुमोदन की मनाही के कारण जब तक उसको संशोधित नहीं किया जाता, सभा के सभापति ने कार्य घोषणा की कि 2003 की पांचवी मंत्री स्तरीय गोष्ठी में स्पष्ट आम सहमति अपेक्षित होगी इससे पहले कि चर्चित मुद्दों पर समझौते अंजाम पाये। यह इस बात का संकेत हैं कि जब किसी एकाकी विकासशील देश द्वारा सख्त स्थिति ली जाती है तो सकारात्मक प्रभाव हो सकते हैं, विकासशील देशों द्वारा सामूहिक कार्यवाही का व्यापक प्रभाव पड़ सकता है।

Doha Ministerial ने तीन महत्वपूर्ण घोषणाओं को ग्रहण किया नये WTO दौर के लिए सहमत कार्य सूची, विकासशील देशों के कुल 40 क्रियान्वयन विषय तथा पेटेंटों तथा जन स्वास्थ्य के सम्बन्ध में राजनैतिक विवरण विकासशील देशों के लिए इस घोषणा की उल्लेखनीय उपलब्धि रही कि TRIPs तथा जन-स्वास्थ्य के मामले में इसके राष्ट्रीय आपातकाल का सामना करने के लिए पेटेंट कानून की विमुक्ति स्वीकार कर ली। अब विकासशील देशों के लिये यह संभव हो जाएगा कि पेटेंट कानूनों को निरस्त कर सके यदि वहां महामारी फैल जाती है जैसे मलेरिया, टी.बी. तथा AIDS तथा प्रत्येक देश को स्वतंत्रता दी गई कि राष्ट्रीय आपातकाल की परिभाषा कर सके। कृषि में सभी देशों द्वारा यह माना गया कि अनुदानों को घटाया जाये तथा अन्ततः समाप्त ही कर दिया जाये। लेकिन खास सुरक्षा चिन्ताओं के मामले में, अपवाद की आज्ञा दी गई सभी प्रकार के निर्यात अनुदान धीरे-धीरे समाप्त किए जायेंगें। विकसित देशों के सामने यह सबसे बड़ी समस्या है जो भारी भरकम अनुदानों की व्यवस्था कर रहे हैं। विकासशील देशों की सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि किस सीमा तक भारत अपने सामान्य हित के लिए लड़ाई में अन्य विकासशील देशों के सामने यह सबसे बड़ी समस्या है जो भारी भरकम अनुदानों की व्यवस्था कर रहे हैं। विकासशील देशों की सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि

किस सीमा तक भारत अपने सामान्य हित के लिए लड़ाई में अन्य विकासशील देशों का समर्थन जुटा सकता है तथा कितने अच्छे तरीके से Negotiation Table पर प्रभावी होने के लिए अपने होमवर्क कर पायेगा। दोहा में चीन तथा ताइवान के WTO के सदस्य बनने से इसकी सदस्यता अब 144 तक बढ़ चुकी है।

US puts India on special 301 watch list May 2, 2003

संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत को Intellectual Property Rights के अपर्याप्त संरक्षण पर व्यापार सन्नियम के प्रावधान (special provision) की प्राथमिक निगरानी सूची पर रखा है। आटोमोबाईल, फार्मास्फुटिकल्स तथा उपभोक्ता उत्पादों में भारतीय बाजारों में व्यापक गड़बड़ियों को मानते हुए अमेरिका ने अपनी चिन्ता जाहिर की है। उसने कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर पर अधिकारों के संरक्षण में कमियों की तरफ भी ध्यान खींचा है। यह कदम वार्षिक समीक्षा के बाद उठाया गया तथा कहा गया है कि भारत को तुरन्त अपने कॉपीराईट कानून में संशोधन करना चाहिए ताकि World Intellectual Property Organisation की Internet संधियों को सही तथा पूरी तरह से क्रियान्वित किया जा सके। भारत के साथ दस अन्य देशों को भी सूची में रखा गया है जो सम्भावित भावी निषेधाज्ञाओं के लिए गहन जांच की व्यवस्था करती है जब तक कि यूरोपियन यूनियन तथा रूस भी इन जांचों का सामना कर रहे हैं। यद्यपि भारत ने मई 2002 में अपने Patents कानून में भारी फेरबदल किया था तथापि अमेरिका की दलील है कि कानून अभी भी कई TRIPs विसंगतियों का शिकार हैं। Piracy of Copyrighted Works विशेषतः लोकप्रिय Fiction Works तथा कुछ पाठ्य पुस्तकें अभी भी समस्या बनी हुई हैं विदेशी ट्रेडमार्कों का संरक्षण अभी भी मुश्किल बना हुआ है। नकली दवाऐं समस्या बनी हुई है। विदेशी ट्रेडमार्क का संरक्षण अभी भी मुश्किल बना हुआ है। नकली दवाऐं तथा घटिया आटोपार्टो के कारण व्यापक जनस्वास्थ्य तथा सुरक्षा खतरे उभरे हैं। मध्यपूर्व, दक्षिणी अफ्रीका तथा यूरोप को ऐसे जाली समानों का भारत में निर्यात स्थिति को और अधिक निकृष्ट बना रहा है। समीक्षा में आगे बताया गया है कि जबकि अमेरिका भारत सरकार के हाल के कथनों Implementation of data exclusivity regulations द्वारा प्रोत्साहित हुआ है वही इस पर कार्यवाही अभी की जानी बाकी है।

भारत को data Protection Regulations जारी करने चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय तौर पर अव्यक्त परीक्षण डाटा के लिए मान्य मानदंडों को अभिव्यक्त करें। उसको दोनों WIPO Internet Treatics की पुष्टि तथा क्रियान्वयन भी करना चाहिए।

India rules out trade sanction by US

अपने व्यापारिक भागीदारों को Special 301 watch List में रखने की अमेरिका की धमकी अमेरिकी प्रशासन की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक मुद्दों पर उसके साथ कदम मिलाकर चलने के लिए विवश करने की एक चाल मानी जा रही है। भारत का मानना है कि द्विपक्षीय स्तरों पर अमेरिका के साथ मुद्दों को लेकर भारत के हितों को प्रभावी तौर पर सुरक्षित किया जा सकता है तथा व्यापारिक तथा आर्थिक निषेधाज्ञाओं को भारत पर थोपने की कोई संभावना नहीं है। अभी तक Ukarine ही एकमात्र ऐसा देश है जिस पर व्यापारिक प्रतिबंध थोपे जा चुके हैं। लेकिन फिर भी भारत को इससे चिन्ता है। ऐसा लगता है कि अमेरिकी प्रशासन Special 301 का उपयोग Generalised system of preferences and other Trade Programmes में भेदभाव बरतने के लिए करना चाहता है।

भारत ने 2002 में अपने Inetellectual Property Rights Acts का पहले से ही संशोधन कर दिया है तथा एक copyright अधिनियम भी व्यवस्थित किया हैं। GSPs तथा व्यापार प्राथमिकता कार्यक्रमों के अतिरिक्त अमेरिका से Special 301 को लागू करने की अपेक्षा की जाती है ताकि वह WTO को Cancum Summit में अपना Trade Agenda आगे बढ़ा सके। भारत सहित विकासशील देश इस बात से खासे नाराज़ हैं कि यूरोपियन यूनियन तथा जापान के साथ अमेरिका TRIPs तथा Public Health पर दोहा घोषणा से पीछे हट रहा है। व्यापारिक स्त्रोतों ने इंगित किया है कि अमेरिका ने भारत पर विशेष तौर से निशाना साधा है दक्षिणी अफ्रीका को भारत ने Cost-effective तथा Affordable Medicines सप्लाई की है। फार्मा उद्योग के स्त्रोतों के अनुसार बुरा प्रशासन को Public Health तथा TRIPs Or Doha Declarataion पर सहमति देने के बाद अमेरिकन ड्रग मेजर्स को यह समझाने में काफी मशक्कत करनी पड़ेगी। भारत से आटो मोबाईल्स तथा उपभोक्ता मालों पर निशाना साधा गया है। अमेरिका आज भी भारत का Top five trading partner चल रहा है तथा अमेरिका को Mechandise Exports 2002-2003 ने 29% बढें हैं। वाणिज्य मंत्री श्री अरूण जेटली को

यह आशा है कि cancon Summit से पूर्व CAIRO में अमेरिकी वाणिज्य मंत्री के साथ इस मुद्दे को उठाया गया।

विश्व व्यापार संगठन के भारत पर प्रभाव :- भारत में WTO विषय पर तथा यूरूग्वे प्रस्तावों पर 3 वर्षों तक व्यापक चर्चा हुई है और अब भी जारी है। इसके समर्थन व विरोध में कई तर्क दिए जा रहे हैं। WTO के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि इससे भारत जैसे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में सुधार होगा। विकासशील देशों को उच्चस्तरीय शीघ्र परिणामों के प्राप्त करने एवं उसका प्रयोग करने की सुविधा होगी। बौद्धिक सम्पदा अधिकारों की व्यवस्था से प्रत्येक क्षेत्र में शीघ्र विकास को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। शोधनकर्त्ताओं को प्रोत्साहन मिलने के बाद इसके प्रति उनकी रूचि बढ़ेगी। इससे प्रौद्योगिकी परिवर्तन को प्रश्रय प्राप्त होगा। WTO के प्रत्येक सदस्य देश को कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली सब्सिडी को कम करना होगा। पश्चिमी विकसित देशों में कृषि क्षेत्र को दिये जाने वाले अनुदान का स्तर अत्यन्त ऊंचा और उत्पादन लागत का 40% तक है। भारत में यह सब्सिडी अभी भी अपेक्षाकृत कम है। सब्सिडी में कटौती से विश्व बाजार में उत्पादन लागत और कीमत में व द्धि होगी। प्रस्ताव की एक व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक देश को अपनी अनाज की खपत का कम से कम 3% भाग तक अन्य देशों के निर्यात हेतु खोलना होगा। इससे अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कृषि वस्तुओं की बिक्री से सब्सिडी घटने के कारण बढ़ी हुई कीमतों से अधिक लाभप्रद कीमतें प्राप्त होने लगेगी। कृषक अन्य देशों द्वारा विकसित किए गए बीजों का प्रयोग कर सकते हैं। यह अनुमान है कि विश्व व्यापार में 250 बिलियन डालर की व द्धि होगी। इसका लाभ भारत को भी प्राप्त होगा। भारत से वस्त्र निर्यात बढ़ने की आशा है। बौद्धिक सम्पदा अधिकार लागू होने से भारत में शीघ्र और विकास की संभावना अधिक बढ़ेगी।

हानिकारक प्रभाव :- विश्व व्यापार संगठन के उपरोक्त सकारात्मक प्रभावों के अतिरिक्त कुछ हानिकारक प्रभाव भी हैं। इसका विभिन्न वर्गों ने समय-समय पर विरोध किया है। यह तर्क दिया जाता है कि WTO के अधिकांश प्रावधान कृषि के लिए घातक होंगें। इस प्रस्ताव की क्रियाशीलता के कारण भारत विभिन्न विदेशी कम्पनियों का मुखापेक्षी बन जाएगा। जिससे इसकी राजनीतिक और आर्थिक क्रियाशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। प्रौद्योगिकीय ज्ञान पर विकसित देशों ने कई तरह की रोक लगा रखी है। प्रौद्योगिकीय आयात कभी-कभी अत्यन्त महंगा भी सिद्ध होता है। प्रौद्योगिकीय आयात से स्वदेशी अनुसंधान और विकास ढांचा अविकसित रह जाता है और इसके लिए कीमत देनी पड़ती है। यद्यपि प्रौद्योगिकी आयात सरल हो जाएगा, परन्तु भारत को इसके लिए कीमत देनी पड़ेगी

इसी प्रकार विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा सेवाक्षेत्र की बैंक, बीमा, आदि कम्पनियों के प्रवेश को सरल बनाकर इसके दुष्परिणाम भी भारत को भुगतने होंगें। जिनकी चर्चा प्रर्वागामी अध्याय में विस्तार से की जा चुकी है। कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली सब्सिडी में कटौती भी डंकल प्रस्ताव में है। कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली सहायिका की अनुमति का आधार यद्यपि कृषकों को सुविधा प्रदान करना है, परन्तु वे उत्पादन से सम्बद्ध नहीं है, इसलिए इन्हें, डीकपल्डइन्कम सपोर्ट (De-coupled Income Support) कहा जाता है। इसी प्रकार कृषि उत्पादों के निर्यात के सम्बन्ध में सहायिका से निर्यात प्राप्तियों में कमी आएगी। भारत में पुरातन, परम्परागत तरीकों से बीजों का निर्माण, भण्डारण, किस्म नियंत्रण किया जाता रहा है। अब बीज-व्यापार में बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश से यह परम्परा लुप्त हो जाएगी। ये कम्पनियाँ बीज एकत्र करके ले जाएगी और उनमें सामान्य परिवर्तन कर अत्यन्त ऊंची कीमतों पर बौद्धिक सम्पदा कानून की आड़ में बेचेगी और मुनाफा कमाएगी। कोई भी किसान इन आयातित बीजों का प्रयोग एक से अधिक बार नहीं कर सकता। प्रत्येक वर्ष बीज खरीदना पड़ेगा। इसके पुनः प्रयोग का आरोप यदि लगाया जाता है तो प्रयोगकर्त्ता देश को सिद्ध करना पड़ेगा कि वह निर्दोष है। डंकल प्रस्तावों को विश्व-व्यापार संगठन में शामिल करने पर स्वत्वाधिकार के संदर्भ में भारत 1970 से पूर्व की स्थिति में आ जाएगा। इनका उत्पाद पेटेंट का अधिकार था। इस कारण कम्पनियाँ इन उत्पादों में प्रवेश नहीं कर सकती थी। 1970 के पेटेंट कानून के पूर्व नवीन दवाईयां विदेशों से आने के 10-12 वर्ष बाद ही भारत में चलन में आती थी। इन आयातित दवाओं की कीमतें ऊंची होती थी। 1970 के कानून के बाद भारतीय कम्पनियां 3-5 वर्ष के बाद ही अपनी प्रक्रिया से दवाएं बनायेगी तथा पुनः विभिन्न दवाओं की कीमतें पूर्ववत् ऊंची हो जाएंगी। इसमें लगभग 10% तक की कीमत व द्धि की संभावना है। भारत में अभी तक उत्पाद प्रक्रिया पेटेंट लागू था यानि कोई भी भारतीय कम्पनी किसी एक उत्पाद को विभिन्न प्रक्रिया अपनाकर बना सकती थी परन्तु अब यह 'उत्पाद-पेटेंट' हो जाएगा। इस स्थिति में भारतीय वैज्ञानिकों को अपने अन्वेषण कार्य और नवीन किस्म के बीज तैयार करने में कठिनाई होगी। परिणामस्वरूप जैव-प्रौद्योगिकी के 'अनुसंधान और विकास (R & D) में भी कठिनाई होगी। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विकसित किए गए बीजों में 'उत्पाद पेटेंट' के होने के विकास पर ही निर्भर है। अब कोई

भारतीय वैज्ञानिक 20 साल तक कोई बीज बना ही नहीं सकता चाहे वह इसके लिए अलग प्रक्रिया ही क्यों न अपनाए। आन्तरिक शोध प्रयास पूरा होने के पूर्व ही कम्पनियां अपना समरूप उत्पाद भेज सकती जिससे यह आन्तरिक शोध कार्य व्यर्थ हो जाता है।

यह ठीक है कि विश्व-व्यापार संगठन के उदय से भारत की विश्व-व्यापार में भागीदारी में व द्धि होगी। परन्तु WTO की TRIPs व्यवस्था का लाभ लेकर कई विदेशी कम्पनियाँ विशुद्ध भारतीय उत्पाद जैसे - हल्दी, नीम, अदरक, बासमती आदि पर अपना पेटेंट अधिकार ले रही है। भारत ने भी इसके मंच पर यह मुद्दा उठाया है कि ये उत्पाद सदियों से भारत की जनता विभिन्न रोगों के निवारण हेतु प्रयोग करती आ रही है। कई विकसित देशों द्वारा भारत से निर्यातित समानों पर 'एण्टी-डंपिंग शुल्क' लग जाता है जिससे भी निर्यातक प्रभावित होते हैं। भारत की वर्तमान आर्थिक नीति उदारीकरण की ओर अग्रसर है। WTO का गठन भी अर्थव्यवस्थाओं के उदारीकरण के प्रोत्साहन के उद्देश्य से हुआ है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश से कृषि की सहज क्रियाशीलता को धक्का पहुँचेगा। यह संगठन डंकल प्रस्तावों के माध्यम से विकसित देशों के पक्ष में अधिक लगता है। परन्तु हाल में ही हुए मंत्री स्तरीय सम्मेलन में भारत सहित अन्य विकासशील सदस्य देशों ने इसके मंच पर भेदभाव पूर्ण नीतियों पर विकसित देशों का ध्यान आकर्षित किया है। जो कि एक अच्छा संकेत है। देश में पर्याप्त वैज्ञानिक क्षमता उपलब्ध है और भारतीय किसानों भी अब नवीन प्रौद्योगिकी का सहारा लेकर नव-प्रवर्त्तन में सदा आगे आ रहे हैं। विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियों को शोधार्थियों व वैज्ञानिकों को अनुसंधान की सुविधाएँ उपलब्ध करानी चाहिए। ताकि कम से कम कृषि व्यवसाय के लिए भारत परमुखोपेक्षी न बने। डंकल प्रस्तावों के आधार पर गठित WTO लागू होने पर कई कठिनाईयाँ उत्पन्न होने लगी हैं। अतः देश में अपने लिए उचित व्यवस्था किए जाने की आवश्यकता अनुभव होने लगी है।

भारत में तकनीकी वातावरण

समष्टि वातावरण के समस्त घटकों में तकनीकी वातावरण का महत्वपूर्ण स्थान है यह व्यवसाय एवं समाज पर सर्वाधिक प्रभाव डालता है। जे.के.गोलब्रेथ ने तकनीकी को व्यावहारिक कार्यों के लिए ज्ञान के संगठित प्रयोग का व्यवस्थात्मक उपयोग कहा है। तकनीकी वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करने तथा इसके विभिन्न तत्वों का अध्ययन करने से पहले इसके विभिन्न स्वभावों की चर्चा करना आवश्यक होगा। तकनीकी की प्रकृतिगत विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

- तकनीकी सामाजिक - आर्थिक लाभों की खोज में रहती है।
- तकनीकी में "अभियंता" लोगों का समूह होता है जो कि इसे विकसित, अन्वेषित एवं परिमार्जित करता है।
- तकनीकी में औद्योगिक प्रतिष्ठानों के रूप में एजेंसियाँ कार्यरत होती हैं।
- तकनीकी मुख्यतः उद्योगों द्वारा वित्तपोषित होती है।
- तकनीकी उन्नयन से आवश्यकता-सन्तुष्टि वाले उत्पाद बनाए जाते हैं।
- तकनीकी गतिशील एवं मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को ढालने वाली होती है।
- तकनीकी से औद्योगिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन आता है।
- जीवन स्तर के साथ तकनीकी का गहरा अतः-सम्बन्ध है।
- तकनीकी के प्रभाव दूरगामी होते हैं।
- तकनीकी विचार आने के पश्चात् खोज में काफी समय लगता है।

उदाहरणतः फोटोग्राफी का अविष्कार इसके विचार आने के 112 वर्षो बाद हुआ। इसी प्रकार टेलीफोन 85 वर्ष तथा स्टीम ईंजन में 56 वर्ष लगे।

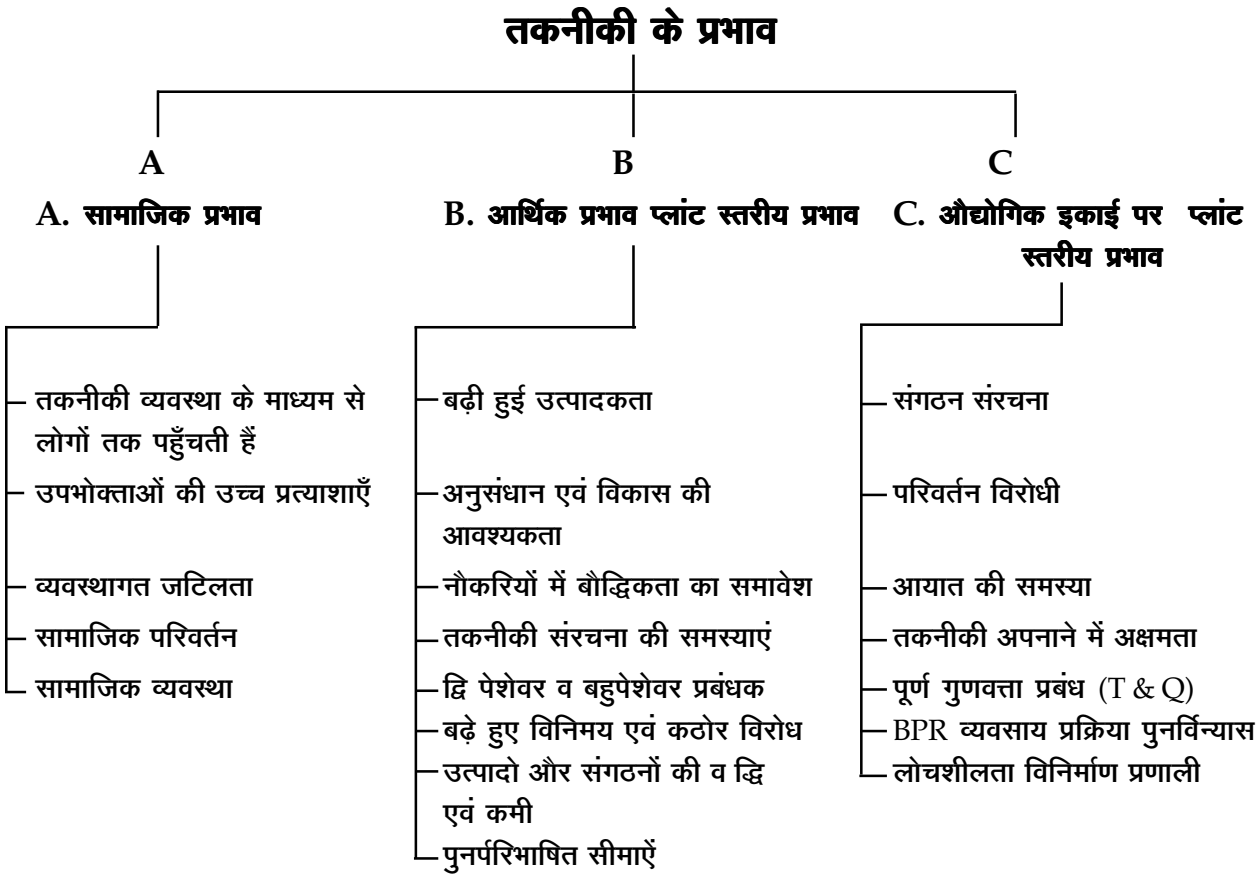

A. **तकनीकी एवं समाज :** सामाजिक जीवन का प्रत्येक क्षेत्र तकनीकी परिवर्तन से अछूता नहीं रहता। समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की मनोदशा, संस्कृति जीवन-शैली व विचारों पर तकनीकी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

1. **तकनीकी व्यवस्था के माध्यम से लोगों तक पहुँचती है :-** व्यवसाय वह संस्था है जिसमें लोगों को उत्पादों व सेवाओं में नई खोजों की आशाएं होती हैं। व्यवसाय का प्रबंधक आवश्यक संसाधनों को एकत्र करके नये-नये अविष्कारों में उसका प्रयोग करते हैं ताकि लोगों के जीवन स्तर में परिवर्तन लाया जा सके। प्रिटिंग, आवास, शिक्षा तथा टेलीविजन, आदि सभी व्यावसायिक गतिविधियों पर निर्भर है। विज्ञान की खोजों का व्यावसायिक उत्पादन करके समाज के सभी वर्गों तक इसका लाभ पहुचाँया जा सकता है। उदाहरण के लिए रंगीन टी.वी. तथा फ्रिज पहले ऐश्वर्य की वस्तुएं समझी जाती थी, परन्तु इनके बड़े पैमाने पर व्यावसायिक उत्पादन से ये अब सभी को उपलब्ध हैं। आज अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस व जापान की 50% आर्थिक संव द्धि में तकनीकी का ही हाथ है।

2. **उपभोक्ताओं की उच्च प्रत्याशाएँ :** आज बाजार पर उपभोक्ताओं का राज है तकनीकी ने उपभोक्ताओं के एक अमीर वर्ग को जन्म दिया है जो कि अधिक गुणवत्ता कम-प्रदूषण अधिक आरामदेह तथा ऐश्वर्य वाले पदार्थों का प्रयोग करता है। इससे औद्योगिक प्रतिष्ठान अपने अनुसंधान तथा विकास कार्यों में अधिक निवेश करते हैं। जापान के तकनीकी विकास की सबसे बड़ी सफलता का रहस्य वहाँ के उपभोक्ताओं की उच्च आशाओं का प्रतीक है जो नवीनीकरण तथा वितरण-सारणी तथा मूल्यों में किफायत चाहते हैं। जापान ने उद्योगपतियों के लिए उपभोक्ता वह भगवान है जो कि सदा सही है।

3. **व्यवस्था की जटिलता :** तकनीकी ने जटिलता को जन्म दिया है। निःसन्देह आधुनिक मशीने अधिक तीव्रता एवं दक्षता से काम करती है। लेकिन यदि वे फेल हो जाती है तो उनकी मरम्मत के लिए विशेषज्ञों की जरूरत होती है। उनकी प्रकार्यात्मक जटिलता होती है, चूंकि कई मशीनी यंत्र उनमें अत्यंत जटिलता से जुड़े रहते हैं। सभी भागों को निर्धारित कार्य को पूरा करने के लिए व्यवस्थित ढंग से कार्य करना होता है। आजकल की तकनीकी प्रयोग करने के द ष्टिकोण से जितनी सरल है, परन्तु प्रकार्यात्मक व संरचनात्मक द ष्टि से उतनी ही जटिल है जिसे समझने के लिए उच्च दक्षता प्राप्त विशेषज्ञों की जरूरत होती है। अतः प्रबंध को सदैव तकनीकी जटिलता से उत्पन्न समस्या से निपटने हेतु तैयार रहना चाहिए।

4. **सामाजिक परिवर्तन :** तकनीकी के सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव अनेक तरह से पड़ते हैं। प्रथम, तकनीकी प्रक्रिया के परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन होता है। इस प्रकार यदि किसी आविष्कार से बढ़े किसी शहर आदि आर्थिक रूप से नष्ट हो जाते हैं परन्तु उसी अविष्कार से कहीं नये शहर का जन्म भी हो सकता है तथा पहले से अधिक रोजगार का स जन भी संभव है। तकनीकी परिवर्तन के फलस्वरूप नये शहर पनपते हैं और लोगों का इनकी ओर अप्रवासन शुरू हो जाता है। जिससे कि उनकी जनसंख्या का भौगोलिक वितरण संभव होता है तथा उन्हें रोजगार मिलने के परिणामस्वरूप सामान्य जीवन स्तर में सुधार आता है। तकनीकी परिवर्तन किसी समाज के स्तरीकरण की व्यवस्था को परिवर्तित करते हैं। औद्योगिक तकनीक से विभिन्न लोगों, अभिभावकों एवं बच्चों के प्रशिक्षित लोगों को रोजगार के अवसर मिलते हैं। इससे सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) मूल रूप से प्रभावित होता है।

5. **सामाजिक व्यवस्थाएँ :** तकनीकी का विकास विभिन्न शताब्दियों में क्रमिक रूप से हुआ है। प्रत्येक चरण ने सामाजिक व्यवस्था व कार्य पर विभिन्न प्रभाव डाला है। चरणबद्ध तरीके से पहले निम्न तकनीकी फिर उच्चतर तथा फिर उच्चतम तकनीकी का विकास होता है। इसी विकास प्रक्रम के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था के ढांचों में भी परिवर्तन होता है।

विलियत सी.फ्रेडरिक की पुस्तक "बिजनेस एंड सोसायटी" में विभिन्न तकनीकी स्तरों में परिवर्तन को निम्नलिखित तरह से कालक्रमानुसार सारणी में दिया गया है।

तकनीकी विकास के चरण

तकनीकी स्तर	तकनीकी विकास का चरण	चलन का समय	कार्य	प्रारंभिक दक्षता
1.	कृषक	1650 तक	खेती	श्रम (शारीरिक)
2.	कृषक	1650-1900	खेती व पौधारोपण	शारीरिक श्रम
3.	औद्योगिक	1900-1960	भौतिक वस्तुओं का उत्पादन	शारीरिक व मानसिक
4.	सेवा	1960-1975	सेवा उपलब्ध कराने पर बल	शारीरिक व बौद्धिक
5.	ज्ञान	1975-1990	अमूर्त कार्य Abstractive Work	बौद्धिक और इलैक्ट्रोनिक

अतः आजकल ज्ञान विकास का प्रचलन अधिक है। इसमें ज्ञान पर आधारित श्रम का हस्तांतरण अधिक होता है। उदाहरण के लिए आज कम्प्यूटर, सॉफ्टवेयर, बायोतकनीक, नयी इंजीनियरिंग आदि ज्ञान आधारित उद्योग हैं।

B. **तकनीक और अर्थव्यवस्था :** (1) **बढ़ती हुई उत्पादकता :** गुणवत्ता तथा मात्रा दोनों ही द ष्टिकोण से तकनीकी का प्रभाव उत्पादकता पर संकारात्मक होता है। किसी हस्पताल में उद्देश्य यह हो सकता है कि गुणवत्ता को सुधारा जाए जैसे कि अत्याधुनिक उपकरण आदि के प्रयोग से मरीजों को अधिक सुविधाएँ मिलती हैं। उत्पादकता में व द्धि से श्रमिकों के वास्तविक भत्तों में बढ़ोत्तरी होती है और उनकी कार्यक्षमता में व द्धि होने से उत्पादों की कीमतों में कमी आती है। अतः परिणामस्वरूप श्रमिकों व नागरिकों में अत्याधिक तकनीकी विकास की कामना रहती है।

2. **अनुसंधान एवं विकास पर खर्च की आवश्यकता :** जैसे-जैसे तकनीक का उन्नयन होता है, वैसे-वैसे अनुसंधान एवं विकास कार्यों की प्रासांगिकता बढ़ती जाती हैं। ऐसे में कम्पनियाँ को निम्नलिखित छः तरह के मामलों में निर्णय लेना होता है।

प्रथम, अनुसंधान एवं विकास के लिए संसाधनों का आबंटन करना। निम्नलिखित सारणी में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का अनुसंधान एवं विकास पर राष्ट्रीय खर्च कर प्रकार दिया गया है।

R & D पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के राष्ट्रीय खर्च का प्रतिशत (%)

1980-81	0.62
1985-86	0.89
1987-90	0.94
1990-99	0.89

स्त्रोत : (विज्ञापन एवं तकनीकी विभाग की रिपोर्ट, 1992)

द्वितीय, तकनीकी हस्तांतरण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है जहाँ प्रयोगशाला से निकलकर व्यावसायिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तकनीकी बाजार में आती है। संगठन के आकार में व द्धि के साथ-साथ हस्तांतरण में समय भी अधिक लगता है।

निम्नलिखित सारणी में विभिन्न भारतीय कम्पनियों पर अनुसंधान विकास के खर्चे निम्नलिखित हैं :

1995-96 के दौरान R & D पर व्यय (करोड़ रुपये में)

कम्पनी	पूंजी	पुनराव त	कुल	विक्रय में % हिस्सा
रिलायंस	50.53	24.56	75.09	1.00
टिस्को	1.41	9.89	11.30	0.19
L & T	2.94	14.08	17.02	0.43
G.S.F.C.	0.31	5.12	5.43	0.30
Century Textile	4.30	2.12	6.42	0.36
Indal	1.04	6.74	7.78	0.66
Tata	0.23	0.54	0.77	0.05
Philips India	0.80	5.65	6.45	0.42
Bajaj Auto	9.07	13.66	22.73	0.55

स्त्रोत इॅकानामिक टाईम्स, 24 April, 1997

तीसरे अनुसंधान एवं विकास में समय एक महत्वपूर्ण कारक है। प्रतिस्पर्धा बढ़ने के साथ-साथ कंपनी अब यह मानकर चुप्पी नहीं साध सकती कि प्रतिस्पर्धियों को तकनीकी विकास करने में अधिक समय लगेगा। 1980 के दशक में जापानी कार निर्माताओं ने अमेरिका के कार निर्माताओं को इसलिए पीछे छोड़ दिया है कि उन्होंने नये उत्पाद को बाजार में पहुंचाने में सिर्फ 3 वर्ष का समय लिया। जबकि अमेरिका के निर्माता पांच वर्ष ले रहे थे।

चौथा, नई तकनीक के आने के बाद पुरानी तकनीक अप्रासांगिक हो जाती है तथा उसे बदलना पड़ता है। अतः अनुसंधान व विकास के प्रबंधकों को यह निश्चित करना होगा कि पहले विद्यमान तकनीकी को जोड़ा जाए तथा फिर नई तकनीक को विकसित अपनाया जाए। **पांचवें :** कम्पनी को तकनीकी विकास के लिए स्वयं ही अपना अनुसंधान एवं विकास करना होगा। अतः उसे वहाँ से मंगवाना है। ये खरीद अथवा निर्माण के निर्णय दोनों के लागत मूल्यांकन के आधार पर लिए जाते हैं। घरेलू तकनीक निम्नलिखित तथ्यों पर निर्भर है। कम्पनी की क्षमताएँ, तकनीकी योग्यता, अनुसंधान व विकास पर व्यय के प्रावधान और कम्पनी की वित्तीय स्थिति, प्रतिस्पर्धियों की तुलना में कम्पनी की तकनीक अपनाने की क्षमता इसके अतिरिक्त बाहर से तकनीक मंगवाना निम्नलिखित घटकों पर निर्भर है।

लागत, गुणवत्ता, अच्छी व बेहतर, उदार शर्तों पर हस्तांतरण, तकनीकी विकास प्रक्रिया में नये लोगों तथा नये संसाधनों की आवश्यकता पड़ती है।

अंत में उत्पाद-नवोन्मेष या प्रक्रिया नवप्रर्वत्तन के संबंध में निर्णय लेना होता है। शुरूआती चरण में वस्तु का सबसे महत्वपूर्ण भाग है : उत्पाद की संरचनात्मक योग्यता व अन्य गुण बाद में, उत्पाद के आर्थिक, प्रत्याय को बनाएँ रखने हेतु प्रक्रिया नवोन्मेष अधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं। उदाहरण के लिए परिमार्जित विनिर्माण सुविधाएँ, उत्पाद की बढ़ती गुणवत्ता तथा त्वरित वितरण। निम्नलिखित सारणी के माध्यम से विभिन्न देशों की प्रक्रिया एवं उत्पाद नवोन्मेष पर खर्च का वर्णन दिया जा रहा है। निम्नलिखित सारणी के माध्यम से विभिन्न देशों की प्रक्रिया एवं उत्पाद नवोन्मेषो पर खर्च का वर्णन दिया जा रहा है।

उत्पाद तथा प्रक्रिया नव-प्रवर्तन पर खर्च

देश	उत्पाद	प्रक्रिया
जर्मनी	50%	50%
जापान	30%	70%
यू.एस.ए.	70%	30%

स्त्रोत : M.Robert "मार्केट फ्रैगमेंटेशन वर्सेस मार्केट सेग्मेंग्टेशन" जर्नल ऑफ बिजनेस स्ट्रेटेजी अक्टूबर 1992 पेज 53।

3. **नौकरी अब अधिक बौद्धिक कार्य हो गया है :** तकनीकी के उन्नयन से अब नौकरियां अधिक बौद्धिक प्रोन्नत हो गई हैं। अब शिक्षित व अशिक्षित मजदूर की तुलना में शिक्षित एवं दक्ष मजदूर की आवश्यकता अधिक है। किसी कार्यालय में एक लिपिकीय पद हेतु अब कम्प्यूटर की दक्षता भी अनिवार्य है।

4. **तकनीकी संरचना की समस्या :-** न केवल नौकरी ही बौद्धिक बन जाती है अपितु नये कर्मचारी भी अधिक पेशेवर व ज्ञानी होते हैं। अधुनातन तकनीकी अपनाने वाले कर्मचारियों में वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, कॉलेज स्नातकों व उच्च दक्षता प्राप्त कर्मियों के लिए पर्याप्त रोजगार होते हैं। हालांकि ये संगठन अपने प्रगतिशील या उन्नतिशील होने की डींगे हांकते हैं परन्तु इनके कर्मियों का सामान्य मनोबल बढ़ाना एक समस्या से कम नहीं है। ये कर्मचारी वेतन, व द्धि, बोनस, आकर्षक पैकेज, नौकरी सुरक्षा आदि से इतने प्रोत्साहित नहीं होते जितने कि वे अपने कार्यक्षेत्र में मिलने वाले अवसरों व चुनौतियों से होते हैं। उन्हें सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा इस बात से मिलती है कि कम्पनी उन्हें क्या-क्या अवसर उपलब्ध करा रही है।

दूसरी समस्या यह है कि ये पेशेवर व ज्ञानी लोग अधिक समय तक एक ही कम्पनी के वातावरण में काम नहीं कर सकते। कम्पनी उन्हें अन्य जगहों पर जाकर रोजगार प्राप्त करने से रोकने के लिए कई हथकण्डे अपनाती है जैसे योग्य व्यक्तियों की समय से पहले प्रोन्नति, अधिक सुविधाएं, अधिक उत्तरदायित्व सौंपने आदि।

तीसरे :- चूंकि तकनीकी व्यक्ति ही तकनीकी संरचना का निर्माण करते हैं। अतः (उनकी निर्णय) निर्माण प्रक्रिया में भागीदारी भी आवश्यक हो जाती है। प्रबन्धन के समक्ष यह समस्या आ जाती है कि तकनीकी विशेषज्ञ द्वारा लिए गए निर्णयों को सामाजिक प्रभाव के साथ सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए।

5. **द्वि-पेशेवर व बहुपेशेवर प्रबन्धकों की आवश्यकता :** पेशेवर डिग्री के साथ-साथ तकनीकी योग्यता की मांग अब जोर पकड़ने लगी है एक प्रबन्धक का सैद्धान्तिक पक्ष ही ज्ञान होना चाहिए अपितु उसे व्यावहारिक कठिनाईयों को भी और सुधारते रहने के लिए अधिक से अधिक स्वाध्याय तथा पुनः प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

6. **बढ़े हुए नियमन तथा कठोर विरोध :** तकनीकी प्रोन्नति के फलस्वरूप सरकार द्वारा व्यवसाय पर विभिन्न तरह के नियंत्रण नियमन बनाकर स्थापित किए जाते हैं तथा जनता द्वारा इनका कठोर विरोध होता है। बैंको में कम्प्यूटरीकरण का विरोध आम जनता और उनके कर्मचारियों ने किया था। लोग अधिक उन्नत तकनीक का विरोध इसलिए करते हैं कि इससे पर्यावरण, निजत्व, गोपनीयता, सामान्यतः तथा मानवीय जाति का पतन होता है। लोगों को तकनीकी के लाभों के बारे में जागरूक करना चाहिए। तकनीकी के कुछ "साइड-इफेक्ट" होते हैं। तकनीकी की प्रदूषण के कारण सामाजिक लागत आती है। तकनीकी का प्रयोग इस तरह से होना चाहिए जिससे कि लोगों की बेकारी, प्रदूषण आदि न झेलनी पड़े।

7. **पूंजी की आवश्यकता :** नई तकनीक को अपनाने व विकसित करने के लिए अनुसंधान एवं विकास परिषद्, शिक्षण आदि पर खर्चे होते हैं। इसके लिए पूंजी की बड़ी आवश्यकता होती है। अतः व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को सभी प्रकार के तरीकों व उपायों के माध्यम से पैसा जुटाना चाहिए। इसके लिए ईमानदार एवं दक्ष वित्तीय प्रबन्धन की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षित एवं योग्य लोगों को वित्तीय प्रबन्धन की जिम्मेदारी वहन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

8. **उत्पादों व संगठनों का उदय व पतन :** एक नई तकनीकी से कोई नया उद्योग पैदा हो सकता है, परन्तु साथ ही पुराने उद्योग पर गाज गिरती है और उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए जैरोग्राफी ने कार्बन-पेपर का व्यवसाय समाप्त कर दिया तथा इंगजिस्टर के आने से वैकयूम-ट्यूब का उद्योग बंद हो गया। इसलिए शुम्पीटर ने तकनीक को "रचनात्मक-विनाश" कहा है। किसी भी उत्पाद को एक निश्चित जीवन चक्र के चरणों से गुजरना ठीक है। जैसे प्रारम्भिक,

व द्धि, परिपक्वता, गिरावट तथा विनाश अवस्था आदि और इसके बाद वह उत्पाद म त प्राय हो जाता है। इसी प्रकार संगठन का भी एक जीवनकाल होता है। जिसकी अवस्थाएं हैं : (i) जन्म (ii) व द्धि (iii) नीति (iv) प्रक्रिया (v) अंतिम क्रिया।

9. **व्यवसाय की सीमाओं का पुर्ननिर्धारण :** तकनीकी परिवर्तन व्यवसाय की सीमाओं के निर्धारण में एक शक्तिशाली भूमिका निभाता है। इससे या तो औद्योगिक सीमाएं विस्त त हो जाती हैं या संकीर्ण हो जाती हैं। उदाहरणतः सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से वित्तीय सेवाओं का पुराना सफल रचनात्मक आधार अपासांगिक हो गया है। आज बीमा, बैंकिंग तथा दलाली की सेवाओं को एक ही साथ वित्तीय सेवाओं में शामिल कर अन्तर्संबंधित किया जा सकता है।

परिणामस्वरूप सभी उद्योगों पर प्रभाव पड़ने से उस उद्योग के व्यवसाय में भी परिवर्तन आता है। कम्पनियां तकनीकी-बदलाव से स्वयं को दूसरे व्यवसायों में प्रविष्ट कर लेती है। तकनीकी परिवर्तन के कारण उत्पाद प्रतिस्थापन और उत्पाद विभिन्नीकरण को बल मिलता है।

उदाहरणतः प्लास्टिक ने स्टील के कई उत्पादों का स्थान ले लिया है तथा माइक्रोवेव ओवन परम्परागत ओवन की तुलना में अधिक प्रयुकत किए जा रहे हैं। तकनीकी परिवर्तन से विनिर्माण-प्रक्रिया सरल होती है और कार्यक्षमता बढ़ती है। उदाहरणत : रोबोटिक्स, स्वचालन के आगमन से लागत में तो कमी आई ही साथ ही कम्पनी को गुणात्मक द ष्टि से लाभ होता है।

अंत में, तकनीकी सुधार का लाभ बहुउत्पाद कम्पनी को होता है। उदाहरणतः तकनीकी परिवर्तन से विभिन्न व्यवसायों के मध्य 'सिनर्जी' उत्पन्न होती है। जिससे दोनों को ही मिश्रित लाभ होता है। उदाहरण के लिए Computer व दूरसंचार में उन्नति के माध्यम से ये 'सिनर्जी' प्रभाव संभव है।

C. **प्लांट स्तरीय परिवर्तन :** (1) **तकनीकी एवं संगठन संरचना** तकनीकी का संगठन की संरचना पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। इससे नियन्त्रण-स्कीम, मुख्य कार्यकारी, निर्देशन आदि पर प्रभाव पड़ता है। संगठन की संरचना उसमें अपनाई जा रही तकनीकी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में प्रत्योजन उस स्थिति में अधिक होता है। जब उसमें तकनीकी लोग अधिक मात्रा में कार्यरत हों।

2. **परिवर्तन का विरोध :** सामान्यत : लोग परिवर्तन के विरोधी होते हैं। उनका यह विरोध मनोवैज्ञानिक होता है। कोई परम्परागत व्यावसायी भी परिवर्तन विरोधी हो सकता है। वह नई तकनीकी का इसलिए विरोध करता है। क्योंकि यह खर्चीली जोखिम भरी हो सकती है। कर्मचारियों का विरोध इसलिए होता है कि वे अपने रोजगार में बाधा समझते हैं। उन्हें सदा भय सताता रहता है कि नई तकनीक से उनके रोजगार के अवसर समाप्त हो जाऐंगे और उनकी छंटनी भी संभव है।

3. **तकनीकी आयात की समस्या :** नई तकनीकी आयात करना अत्यन्त खर्चीला होता है। विदेशों से तकनीकी आयात करने का मतलब है - विदेशी मुद्रा का विदेशों को प्रवाह। तकनीकी आयात करने से ही सारी समस्याएं हल नहीं हो जाती अपितु उसकी टेस्टिंग, पर्यवेक्षण रख-रखाव मरम्मत, प्रशिक्षण और प्रयोग के बारे में भी तकनीशियनों आदि की आवश्यकता होती है जो कि एक व्यवसाय क्रिया हैं फिर तकनीकी आयात करना अधिकतर विकासशील देश नहीं चाहते हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो विकसित देश इसका हस्तांतरण नहीं करना चाहते। दूसरा वहां इनका विरोध विभिन्न राजनीतिक दल करते हैं। सरकार से किसी उद्यमी को मात्र स्वीकृति प्राप्त करने में ही एक वर्ष का समय लग जाता है।

4. **तकनीकी अपनाने में अयोग्यता :** कई कम्पनियां तकनीकों को शीघ्रता से अपनाने में आनाकानी करती है। भारत की एक समय की लोकप्रिय 350 CC की इनफील्ड बुलेट मोटरसाईकिल ने फुटब्रेक के लीवर को बाएं तरफ से हटाकर दायीं तरफ लगाने में बहुत समय लिया इसी तरह बजाज आटो लि. के स्कूटरों में पहले "साईड-ब्लिंकर्स" नहीं होते थे परन्तु ये लगाने के लिए कम्पनी ने 6 महीने का वक्त लिया।

5. **पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्ध :** पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्ध से तात्पर्य संगठन की गुणवत्ता की वचन बद्धता से है। गुणवत्ता ही कम्पनी की साख व ध्वनि का निर्माण करते हैं। पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्ध के अंतर्गत कर्मचारियों को समस्या के हल, समूह, निर्णयन तथा सांख्यिकीय प्रविधियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्ध TQM के निम्नलिखित सिद्धांत हैं।

(1) उपभोक्ताओं की मांगों को समय पर पूरा किया जाना, (2) त्रुटि रहित कार्य का प्रयास करना, (3) गुणवत्ता लागत की माप लगभग सभी संगठनों में TQM अपनाया जा रहा है। इस प्रक्रिया में प्रबन्धक तथा कर्मचारी दोनों ही बराबर की भागीदारी लेते हैं।

6. **व्यवसाय प्रक्रिया पुनर्विचार BPRE :-** इस संकल्पना के जनक माइकल हैमर हैं BPRE में यह विचार किया जाता है कि यदि संगठन में सारी चीजों को पुनः नये सिरे से शुरू किया जाए तो क्या किया जाए। TQM and BPRE दोनों को एक ही उद्देश्य है - उपभोक्ताओं के सेवा में उत्कृटीकरण लाना। लेकिन दोनों के लक्ष्य-प्राप्ति के तरीकों में विभिन्नता है TQM के माध्यम से जो सही है उसे और भी सुधारने का प्रयास किया जाता है। TQM एक नीचे से ऊपर है जबकि BPRE उच्च प्रबन्धन द्वारा संचालित होती है। BPRE का प्रभाव कर्मचारियों को नौकरी से हटवा सकता है। नई प्रकार की नौकरियों के लिए दक्षता का नवीन व हद स्तर, उपभोक्ता-वितरकों के मध्य अधिक अंतर्सबंध, चुनौतियां, बढ़ी हुई जिम्मेदारी की आवश्यकता होती है।

7. **लोचशील विनिर्माण प्रणाली (FMS):-** FMS के तहत् मशीनों का डिजाईन इस प्रकार से तैयार किया जाता है कि वे विभिन्न उत्पादों के बैंचो का उत्पादन कर सकें। FMS प्रणाली की मुख्य विशेषता यह है कि कम्प्यूटर एडेड डिजाईल (CAD) इंजीनियरिंग व विनियोग का समावेश करके अब कम लागत पर इच्छानुसार मात्रा में उत्पादन किया जा सकता है। FMS के द्वारा "पैमाने की मितव्ययता" सम्भव है। अब प्रबन्ध को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने की आवश्यकता नहीं है, जब प्रबन्धन नये हिस्से-पुर्जे बनाना चाहता है। इसमें मशीन परिवर्तन करने की जरूरत नहीं होती बल्कि कम्प्यूटर-प्रोगामिंग में ही परिवर्तन से काम चल जाता है। FMS प्रणाली में श्रमिकों को अत्याधिक प्रशिक्षण तथा उच्चतर दक्षता की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, लोचशील प्लांटों में कार्मिक समूहों में बंटे होते हैं और उन्हें उल्लेखनीय निर्णयन विवेकाधिकार प्राप्त होता है। सांगठनिक संरचना को इस तरह से डिजाईन किया जाना चाहिए ताकि परिचालन टीमों के हाथों में प्राधिकार को भारार्पित किया जा सके।

Sources of Technological Dynamics :-

ऐसे अनेक घटक हो सकते हैं जो किसी कम्पनी के प्रौद्योगिकी की गति विज्ञान को निर्धारित करते हैं। प्रौद्योगिकी परिवर्तन के स्त्रोत आन्तरिक अथवा बाहरी हो सकते हैं। जैसा पोर्टर का सुझाव हैं "प्रौद्योगिकी के मुख्य बाहरी स्त्रोतों वाले उद्योगों में प्रौद्योगिकी लीडर्स को आपस में मिलकर या एकाकी व्यवस्थाओं के माध्यम से इन स्त्रोतों में सर्वोत्तम को पकड़ना चाहिए ताकि वे अपनी बढ़त बनाये रखे या उद्योग के प्रति बाहरी तौर पर विकसित प्रौद्योगिकी को ग्रहण करने की एक परिष्कृत योग्यता बनाये रखें।"

महत्वपूर्ण घटक जो किसी कम्पनी के प्रौद्योगिकी गतिविज्ञान का निर्धारण करते हैं निम्न का समावेश करते हैं।

1. **कम्पनी की आविष्कारी चाह :-** अनेक कम्पनियां प्रौद्योगिकी को प्रतिस्पर्द्धा तथा विकास की प्रेरक शक्ति के रूप में देखती है तथा शोध तथा विकास को भारी महत्व देती है। फार्मस्यूटिकल उद्योग में शोध एवं विकास की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए, उदाहरणतः RANBAXY ने स्वयं को एक शोध आधारित अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी के रूप में जमा लिया है। कुछ अन्य फर्मे जैसे Dr. Reddy's Laboratories भी शोध तथा विकास पर भारी निवेश कर रही है तथा वह इससे पर्याप्त लाभ भी उठा रही हैं। कुछ व्यक्तियों की यह नीति है कि हर साल अपने विक्रय का एक प्रतिशत नये उत्पादों से आयेगा।

2. **ग्राहकों की प्रत्याशाऐं :-** किसी कम्पनी की प्रौद्योगिकी अभिन्मुखता तथा शोधन विकास प्रयास ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्रत्याशाओं से भी प्रभावित होते हैं। कुछ मामलों में ग्राहकों तथा सप्लायर्स का उत्पादों या समाधानों को विकसित करने में एक साझा सम्बन्ध होता है। यदि ग्राहक बहुत अधिक Demanding है तो कम्पनियों को विवश होकर Innovative बनना पड़ेगा।

3. **मांग की दशाएं :-** ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्रत्याशाओं को अतिरिक्त कुछ मांग से सम्बन्धित घटक भी होते हैं। जो प्रौद्योगिकी के चयन को प्रभावित करते हैं। उदाहरणत : मांग का आकार प्रौद्योगिकी के पैमाने के चयन को प्रभावित करता है। प्रत्याशित भावी प्रव त्ति भी महत्वपूर्ण हो सकती है। उदाहरण के लिए मांग की एक तेजी से बढ़ती प्रव त्ति बड़े आकार की प्रौद्योगिकी को लागू करने या विकसित करने को बढ़ावा देगी। यह शोध तथा विकास प्रयासों में भी तेजी लाएगी। एक गिरते उद्योग में यह अलग हो सकता है।

4. **सप्लायर्स के प्रस्ताव :-** अनेक बार प्रौद्योगिकी परिवर्तनों को कम्पनी के सप्लायर्स द्वारा बढ़ावा दिया जाता है। जैसे पूंजीगत माल के सप्लायर्स तथा अन्य प्रौद्योगिकी सप्लायर्स आदि। अनेक प्रक्रिया उद्योगों में प्रौद्योगिकी का मुख्य स्त्रोत ऐसे

होती है। (Construction Engineering Firms) जैसी जो उत्पाद प्रक्रियाओं की अभिकल्पना करती है तथा संयंत्रों का निर्माण करती है। इटली के टाईल उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा किसी हद तक गतिशील तथा आविष्कारी तकनीकी सप्लायर्स की ऋणी है।

5. **प्रतिस्पर्धी गतिविज्ञान :** प्रतिस्पर्धा सर्वोत्तम प्रौद्योगिकी को अपनाने के लिए निरन्तर अविष्कार के लिए प्रयत्नशील रहने की ओर विवश कर देती हैं। जापानी कम्पनियों में सामान्यतः उच्च मात्रा की तकनीकी अभिन्मुखता रही है। जापानी व्यवसाय की शान तथा प्रतिष्ठा औद्योगिक इंजिन का जीवन रक्त, अच्छी पुराने फैशन की प्रतिस्पर्द्धा ही है तथा इसने जापान के उपभोक्ता को बादशाह बना दिया है। जापान में अमेरिका सहित किसी भी अन्य देश की तुलना में सिविलियन औद्योगिक उत्पादों के कहीं अधिक निर्माता मौजूद है। प्रतिस्पर्द्धा की अनुपस्थिति भारत के कम्पनी जगत के प्रौद्योगिक तौर पर पिछड़ेपन का महत्वपूर्ण कारण रही है। प्रौद्योगिकी सुधारों पर प्रतिस्पर्द्धा का प्रभाव उदारीकरण के बाद भारतीय उद्योगों में स्पष्ट हुआ है।

6. **प्रतिस्थापन :** नये प्रतिस्थापनों का उदय या प्रतिस्थापन्नों के प्रौद्योगिकी सुधार जो प्रतिस्थापन्नों तथा उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा लाभ शक्ति में बदलाव लाते हैं प्रौद्योगिकी परिवर्तन के लिए एक बाध्यकारी कारण रहा है। पोर्टर ने इंगित किया है कि औद्योगिक संरचना पर प्रौद्योगिकी का शायद सबसे जाना माना प्रभाव प्रतिस्थापन्नों पर उसका प्रभाव ही है। प्रतिस्थापन्न प्रतिस्पद्धी उत्पादों के मूल्य के प्रति तथा उनके बीच परिवर्तन से जुड़ी परिवर्तन लागतों के प्रति सापेक्षिक मूल्य का कार्य हैं। प्रौद्योगिकी परिवर्तन से पूरी तरह से नये उत्पाद उत्पन्न करते हैं या उत्पाद दूसरों के लिए प्रतिस्थापन्नों का प्रयोग करते हैं। जैसे प्लास्टिक या लकड़ी के लिए फाईबर ग्लास, टाईपराईटर्स के लिए Word Processors तथा परम्परागत चूल्हे के लिए Micro Wave Ovens। यह सापेक्षिक मूल्य तथा प्रतिस्थापन्नों की परिवर्तन लागत दोनों को प्रभावित करता है। निकट प्रतिस्थापन्नों का उत्पादन करने वाले उद्योगों के बीच सापेक्षिक मूल्य पर प्रौद्योगिकी लड़ाई प्रतिस्थापन्न प्रक्रिया के हृदय में रहती है।

7. **सामाजिक ताकतें :-** अनेक सामाजिक शक्तियां जैसे वातावरणीय प्रदूषण या अन्य वायुमंडलीय संतुलन समस्याओं से बचाव, वातावरण मित्रवत उत्पादों के लिए मांग/प्राथमिकता अनेक सामाजिक समस्याओं से निपटने की आवश्यकता, आदि कुछ दिशाओं में प्रौद्योगिकी विकास के प्रयासों में जान डाल सकते हैं। प्रौद्योगिकी वातावरण के कुछ अन्य सामाजिक आयाम भी होते हैं। उदाहरणतः जापानी सदैव ही विदेशों से अपनी निजी प्रौद्योगिकी को विकसित करने के लिए उत्सुक रहे हैं तथा उपयुक्त पदार्थो या तंत्रों को बनाने के लिए उनको आत्मसात करते रहे हैं।

8. **शोध संगठन :-** व्यवसाय का प्रौद्योगिकी वातावरण विश्वविद्यालयों के शोद्य विभागों सहित शोध संगठनों द्वारा समक्ष होता है। जो नयी प्रौद्योगिकी को विकसित करते हैं तथा अन्य प्रौद्योगिकी इनपुट की व्यवस्था करते हैं। शोद्य संस्थान जैसे :- Indian Council for Scientific Research (ICSR), Central Food Technological Research Institute (CFTRI) Defence Food Research Laboratory आदि भारत में जाने माने संस्थान। भैंस के दूध से बेबी फूड बनाने के लिए CFTRI द्वारा विकसित प्रौद्योगिकी तथा अमूल तथा उसका व्यापारिकरण विकास में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं।

9. **सरकारी नीति :-** सरकार बहुधा प्रौद्योगिकी वातावरण में एक महत्वपूर्ण अभिनेता रही है। सरकार शोध संगठनों की स्थापना द्वारा तथा शोध एवं विकास की फन्डिंग करके अपनी प्रत्यक्ष सहभागिता द्वारा प्रौद्योगिकी के विकास के प्रति महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। अनेक प्रोत्साहन जैसे : कर प्रोत्साहन, अनुदान आदि देकर निजी शोध तथा विकास को भी बढ़ावा दे सकती है विदेशी प्रौद्योगिकी के प्रति सरकार की नीति भी अहम मुद्दा होता है।

परिपक्व प्रकृति प्रौद्योगिकी उत्पादन आधार की स्थिति तथा वैश्विक व्यापार प्रवाहों को प्रभावित कर सकती है। उदाहरणतः जब टेलीविजन प्रौद्योगिकी श्रम सघन थी तो इसमें टेलीविजन के उत्पादन को विकासशील देशों में स्थित करने को उत्साहित किया गया। प्रौद्योगिकी में विकास उत्पादन की पुनः स्थिति को भी उत्पन्न कर सकता है। वैसे अब अतिरिक्त प्रौद्योगिकी विकास ने टी.वी. के श्रम भाग को घटाया तो कुछ फर्मो ने अपने उत्पादन को पुनः विकसित कर लिया।

Time lags in Technology Introduction è Absorpotion
परिपक्व प्रौद्योगिकी की ग्राह्यता में समय अन्तराल

प्रौद्योगिकी को ग्रहण करने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बीच व्यापक समय अन्तराल देखा गया। इस अन्तराल को मात्र विकसित बनाम विकासशील देशों में टी.वी. काफी देर से आया। यद्यपि कलर टी.वी. विकासशील देशों में काफी Common हो चुका था प्रारम्भिक काल में केवल Black & White ही था। केबल टी.वी. तो भारत में केवल 1990 के दशक में ही आ सका। टेलीकास्ट के लेट प्रारम्भ तथा धीमे विस्तार ने न केवल टी.वी. व्यवसाय को प्रभावित किया वरन् उद्योग तथा उत्पादन संवर्द्धन भी प्रभावित हुए। प्रौद्योगिकीयों के प्रवेश में समय अन्तराल के कारण हो सकता है। कुछ उत्पाद बाजार ही न ले पाए हों। भारत में इलैक्ट्रानिक टाईपराईटर लोकप्रिय हो चुका था। इससे पूर्व को इलैक्ट्रिक टाईपराईटर बाजार में घुसपैठ कर सका होता। इलैक्ट्रानिक टाईपराईटर, कम्प्यूटर के उदय के कारण बहुत कुछ प्रगति नहीं कर सके। विकसित देशों की अनेक कम्पनियां अपनी प्रचलित प्रौद्योगिकी के लिए विकासशील देशों को बाजार के रूप में देख चुकी हैं। यहां तक कि कुछ विकासशील देश पुराने संयंत्र एवं मशीनों का आयात तक करते हैं। विकासशील देश सदैव विकसित देशों से पीछे रहे हैं। यहां तक कि विकसित देशों में प्रौद्योगिक संविलयन समान तथा साथ-साथ नहीं रहा। वैसे अनेक मामलों में समय अन्तराल घट रहा है।

Appropriate Technology and Technology Adaptation
उपयुक्त प्रौद्योगिकी तथा प्रौद्योगिकी ग्राह्यता

जब कई प्रौद्योगिकियां उपलब्ध होती है तो यह सुनिश्चित करना जरूरी होता है कि चुनी गई प्रौद्योगिकी ही कम्पनी देश के लिए सर्वोच्च रहे। एक वातावरण में उपयुक्त प्रौद्योगिकी हो सकता है अलग परिवेश ने उपयुक्त सिद्ध न हो। इसके अनेक कारण हो सकते है। उदाहरणतः प्राकृतिक घटकों में अन्तर यथा जलवायु दशाएं, जनसंख्या की स्थितियां, मिट्टी की दशाएं आदि, आय स्तरों परिचालन के पैमाने, मांग दशाओं में अन्तर तथा उपयोग सुविधा लक्षणों तथा ग्राहकों के लक्षणों में विभिन्नताएं।

यह बताया गया है कि जापान की सफल प्रगति का बहुत कुछ विदेशों से उपयुक्त प्रौद्योगिकियों का उसकी व्यवस्थित खरीद के कारण रहा प्रौद्योगिकियों का चयन इस बात से और मजबूत हो जाता है कि जापान में सक्षम वैज्ञानिकों तथा इंजीनियर्स की एक संख्या है जो अधिकांश समय तक सरकार द्वारा नियुक्त किए गए तथा सरकारी प्रयोगशालाओं में काम करते रहे।

एक MNC ने देखा कि विकासशील देशों में वाशिंग पाऊडर की नीची मांग के लिए कारण वाशिंग पाऊडरों का निम्न स्वामित्व था। नीची आय तथा बिजली न होना, पावर सप्लाई की अविश्वसनीयता, वाशिंग मशीनों को और अधिक खरीदने के कार्य में बाधक थे। अतः कम्पनी ने अपने RZD विभाग से कहा कि कम लागत की हाथ से चलने वाली बिना बिजली की वाशिंग मशीन बनाएं। Invovation Backward ने ऐसी एक वाशिंग मशीन को जन्म दिया। इसी तरह एक कम्पनी ने एक Crank Operated Cash Register विकसित करके Invovation Step Backward उठाया जिसकी कीमत आधुनिक कैश रजिस्टर की आधी थी। अनेक विकासशील देशों में इसकी भारी मांग हो गई।

संक्षेप में प्रौद्योगिकी उपयुक्तता विभिन्न वातावरणों से अलग-अलग हो सकती है। अनेक परिस्थितियां प्रौद्योगिकी में सुधारों की मांग करती है। संशोधन अनेक बार कम्पनियों को उसके मूल स्वरूप में प्रौद्योगिकी के उपयोगकर्त्ताओं की अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ करने में मदद कर देता है।

I.T. Revolution and Business Environment
सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति तथा व्यावसायिक वातावरण

कम्प्यूटर को ऐसी मशीन माना जाता है। जिसने दुनिया को बदल डाला तथा सम्बद्ध प्रौद्योगिकियों में तेजी से बदलाव व्यावसायिक वातावरण को भारी तौर से गतिशील बना रहे हैं।

LUCAS के अनुसार, सूचना प्रौद्योगिकी :

1. संगठनों की अभिकल्पना के नये तरीके प्रदान करती हैं जो T-Form संगठन जैसी संरचना की ओर ले जा सकते हैं।
2. ग्राहकों तथा सप्लायर्स के साथ नये सम्बन्धों का उदय जो इलैक्ट्रानिकली आपस में जुड़ जाते हैं।
3. Just in time उत्पादन को सुचारू बनाने के लिए Electronic data interchange के माध्यम से उत्पादन तथा सेवा उद्योगों में भारी कार्यक्षमताओं में समर्थ बनाती है।
4. ज्ञान श्रमिकों की उत्पादकता तथा लोभ के प्रति अंशदान :-

ऐसी अनेक प्रव त्तियां उभर रही है जिन्होंने संगठनों के प्रौद्योगिकी उपयोग के तरीके को ही बदल डाला है।

LUCAS के अनुसार

1. संगठन के परिवर्तन हेतु प्रौद्योगिकी का उपयोग।
2. कम्पनी रणनीति के भाग बतौर सूचना संसाधन प्रौद्योगिकी का उपयोग।
3. कार्य परिवेश के सर्वव्यापी भाग बतौर प्रौद्योगिकी।
4. प्रबन्धकीय कार्य स्थलों के रूप में पर्सनल कम्प्यूटर का प्रयोग।
5. कम्प्यूटर का एक कम्प्यूटिंग प्रणाली से संचारों के माध्यम तक का लम्बा सफर।

Impact of Technology on Globalisation

प्रौद्योगिकी विकासों ने व्यापक तौर पर वैश्वीकरण को संभव बनाया है। प्रौद्योगिकी विकास सारवान तौर पर Break Even हेतु अपेक्षित Scale Economics तथा Market Sale को बढ़ाते हैं।

Global Sourcing को न केवल व्यापारिक उदारीकरण ने बढ़ावा दिया था वरन् साथ ही प्रौद्योगिकी विकासों ने भी जिन्होंने परिवहन लागतें कम की। अनेक समर्थ प्रौद्योगिकियों द्वारा वैश्वीकरण की गति को बल मिला है। अनेक क्षेत्रों जैसे प्रौद्योगिकी क्रांति, जैसे परिवहन तथा संचार में, दूरी तथा लागत जैसे प्राकृतिक बाधाओं की हानियों की कमी के प्रति अपनी भारी योगदान देकर वैश्वीकरण के प्रति भारी उत्साह प्रदान कर चुकी है। IT क्रांति ने Global village के उदय के प्रति भारी योगदान दिया हैं। Air Cargo Transportation के क्षेत्र में विकासों ने वैश्वीकरण को बढ़ाया है। परिवहन तथा संचार की लागतों में भारी गिरावट ने वैश्वीकरण की रफ्तार तेजी की है। इस सभी ने Value Chain system के Logistical and Global distribution के भारी बदलाव का मार्ग प्रशस्त किया है।

Technical Policy of India

भारत सरकार की तकनीकी - नीति

भारत विभिन्नताओं वाला देश है। तकनीकी सामान्य जनता को अवश्य ही अनुकूल लगनी चाहिए। 1993 में भारत-सरकार ने तकनीकी-नीति का नया प्रारुप तैयार किया।

(a) तकनीकी दक्षता तथा आत्मनिर्भरता की प्राप्ति।
(b) समाज के सभी स्तरों के लोगों को अधिकतम लाभदायक रोजगार देना।
(c) समूह उत्पाद तकनीकी जनता के उत्पादन का समूचित मिश्रण।
(d) न्यूनतम पूंजी लगाकर अधिकतम उत्पादन करना।
(e) विद्यमान क्षमताओं के पूर्ण उपयोग के द्वारा उत्पाद की गुणवत्ता व निष्पादन को प्रोत्साहित करना।
(f) ऊर्जा की मांग कम करना।
(g) व्यर्थ सामग्री का पुनः प्रयोग (Recycling) तथा सह उत्पादों का पूर्ण उपयोग।

(Policy on Research and Development)
अनुसंधान एवं विकास नीति

विकास के लिए विज्ञान और तकनीकी प्रयोग की राष्ट्रीय प्रतिबद्धता के अनुरूप ही संसद ने 4 मार्च, 1958 को वैज्ञानिक नीति संकल्प पारित किया। इसमें सभी उचित तरीकों से सैद्धान्तिक व्यावहारिक एवं शैक्षिक सभी पक्षों में विज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रोत्साहन देने, इसका विकास करने और इसकी प्रगति बनाए रखने के लिए सभी को सरकार के दायित्व पर डाल दिया। नीति में विज्ञान, शिक्षा, कृषि, उद्योग और रक्षा के क्षेत्र में देश की आवश्यकताओं के अनुरूप वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ तैयार किए जाने के लिए सुनियोजित प्रयास किए जाने का प्रावधान है। विकास प्रक्रिया के एक अंग के रूप में सरकार ने नियोजित और समुचित संसाधन आबंटित करने के सजग प्रयास किए हैं।

पहली पंचवर्षीय योजना (1957-1958) से ही विभिन्न गतिविधियों के लिए संसाधन उपलब्ध कराए गए हैं। विज्ञान और तकनीकी के लिए तीन-निम्न क्षेत्रों के लिए अलग-अलग योजनाएं तैयार करके बनाई जाती हैं।

1. **छह वैज्ञानिक विभागों की योजनाएं :-** विज्ञान व तकनीकी, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान, बॉयोटैक्नॉलिजी, महासागर विकास, अंतरिक्ष विभाग, परमाणु ऊर्जा।
2. **सामाजिक :** आर्थिक क्षेत्रों से जुड़े 30 से अधिक विभागों के विज्ञान और तकनीकी से संबद्ध घटकों की योजनाएं : उदाहरणतः भारतीय कृषि, ICARI, ICMR बिजली बोर्ड आदि।
3. राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लिए योजनाओं में अलग से प्रावधान।
4. सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के उद्यम और बिना लाभ के लिए चलाई जाने वाली संस्थाएं आदि।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी विकास हेतु 1997 में विज्ञान एवं टैक्नालॉजी विभाग का गठन किया गया। इन क्षेत्रों में विविध क्षमताओं और उद्देश्यों वाले विभाग हैं।

उदाहरणतः राज्यों की विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषदें, राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचार परिषद्, मौसम की मध्यम रेंज की पूर्णसूचना के लिए राष्ट्रीय केन्द्र, विज्ञान और प्रौद्योगिकी संसाधन सूचना, भारतीय मौसम विभाग, भारतीय सर्वेक्षण विभाग, भारतीय विज्ञान अकादमी, भामा, रासायनिक रिसर्च सैंटर, परिवर्तनीय ऊर्जा साइक्लोरान केन्द्र, विकिरण तथा समस्थानिक प्रौद्योगिकी बोर्ड।

सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रतिष्ठान : भारतीय यूरेनियम निगम लि., टाटा मैमोरियल सेंटा स्मारक, इनसेट प्रणाली, ग्रामसेट, इसरो (बंगलूर, सेमीकण्डक्टर काम्पलैक्स लि., जैव प्रौद्योगिकी, भारतीय विज्ञान संस्थान, प्रजनन अनुसंधान केन्द्र नेशनल, फैसिलिटीज फॉर एनिमल टिशू एंड सेल कल्चर, पूणे।)

तकनीकी हस्तांतरण
(Technology Transfer)

तकनीकी का विकास तथा विपणन करना, तकनीकी का चयन कार्यप्रणाली तथा प्रक्रिया, आर्थिक राजनीतिक व वैधानिक पक्ष, सरकारी नीतियां, हस्तांतरण की पर्यवेक्षण प्रक्रियाएं, गुणवत्ता एवं उत्पादकता स्तर इत्यादि।

सारणी (A) में तकनीकी हस्तांतरण Matrix को दर्शाया गया है। यह एक खर्चीली प्रक्रिया है। जैसे कारपोरेट नियोजकी, औद्योगिक इंजीनियरिंग व गुणवत्ता निश्चयन इंजीनियरों द्वारा प्रभावशाली तरीके से किया जाना चाहिए।

Table (A)

विनिर्माण तकनीकी हस्तांतरण मैट्रिक्स

तकनीकी का प्रकार	प्रलेखन नियमावली प्रलेख	रिपोर्ट	प्रशिक्षण औपचारिक नौकरी पर	अनौपचारिक	सम्मेलन	मात्राएं व विनिमय	उपकरण व चयन	संप्रेषण समस्याए
प्रस्ताव व नियोजन उत्पादन डिजाईन विनिर्माण तकनीकी प्लांट डिजाईन प्रारम्भ उत्पाद विकास बाहरी सहयोग								

Selection of Technology

तकनीकी का चयन : हम 21 वीं शताब्दी में जी रहे हैं। भारत को एक विकसित देश बनाने के लिए किस प्रकार की तकनीकी चाहिए? कोई भी उत्पाद प्रक्रिया 5 वर्ष से अधिक नहीं चलती। आज भारत में 20-30 वर्ष पुराने उत्पादों व प्रक्रियाओं से ही काम चलाया जा रहा है। हमारी उत्पादन विधियां इतनी पुरानी पड़ चुकी हैं कि उत्पादकता स्तर विकसित देशों की अपेक्षा 1/3 वां भाग ही है। आज भारत ने सूचना-प्रौद्योगिकी व कम्प्यूटर के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है। तकनीकी चयन की रणनीति गतिशील और सदा आगे देखने वाली होनी चाहिए।

(MECHANISM)

एक देश को दूसरे देश की तकनीकी का हस्तांतरण निम्न कार्यप्रणाली के अनुसार किया जाता है।

1. गैर-वाणिज्यिक उपाय 2. अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक लेन-देन।

1. **गैर-वाणिज्यिक उपाय :** पुस्तकों, पत्रों तथा अन्य प्रकाशित सूचना का प्रवाह, सेमिनारों और सम्मेलनों के माध्यम से लोगों के भव्य सूचनाओं का आदान-प्रदान, विदेशी विश्व विद्यालयों में शिक्षा व प्रशिक्षण। तकनीकी हस्तांतरण के सर्वाधिक प्रयुक्त वाणिज्यिक उपायों का वर्णन इस प्रकार है :-

विदेशी कम्पनियों द्वारा प्रत्यक्ष निवेश, लाइसेंसिंग समझौते, हिस्से पुर्जों का निर्यात।

उपरोक्त प्रत्येक के कुछ लाभ भी हैं तो कुछ हानियां भी हैं। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अधिक प्रभावशाली हो सकता है। लेकिन विदेशी कम्पनी पर निर्भरता असीमित होगी।

तकनीकी हस्तांतरण प्रक्रिया :- तकनीकी हस्तांतरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसके प्रत्येक पक्ष से संबंधित विशेष समस्याएं एवं मुद्दे होते हैं।

सारणी

चरण	मुद्दे
तकनीकी नियोजन एवं तकनीकी प्राप्ति चरण।	तकनीकी की पसंद, वित्तीयन कार्यप्रणाली का चयन।
अवशेषण चरण।	डिजाईन व अनुकूलन, निर्माण प्रशिक्षण, प्लांट व मशीनरी का परिचालन।

प्रथम चरण : तकनीकी का चयन और हस्तांतरण। इसमें तकनीकी की उपयुक्तता का मूल्यांकन तथा निर्धारण की उपयुक्तता का मूल्याकंन तथा निर्धारण करने में मौलिक रूप से तकनीकी दक्षता की आवश्यकता होती है।

शोषण हस्तांतंरण प्रक्रिया का दूसरा चरण है। जब प्रत्यक्ष निवेश कार्यप्रणाली क्रियाशील रहती है, हस्तांतरण कार्यप्रणाली की स्थिति में, प्राप्ति करने वाले संगठन को अधिक प्रयास की जरूरत है।

अंततः प्राप्तकर्त्ता संगठन और उस देश को तकनीकी अपनाने में प्रभावी शोषण को उपरोक्त तरह से आचरण करना चाहिए। Absopition प्रक्रिया चरण को निम्न तीन भागों में बांटा गया है।

सूचना हस्तांतरण, अनुकूलन, अपनाया जाना या स्वीकृति की अवधि। इसे निम्न मॉडल द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

आगम	प्रक्रिया	निर्गम
तकनीकी सूचना डिजाइन, तकनीक उपकरण, हिस्से, पुर्जे	पुनरीक्षण और मूल्यांकन	तकनीकी साहित्य व प्रलेख
यंत्रीकरण	कर्मियों का चयन, पहचान	प्रशिक्षित लोग
गुणवत्ता मानक	मदों का चयन	सम्मेलन
सहयोग का व्यवहार	साधनों का चयन	प्रदर्शनी
पूर्व अनुभव	तैयारी	

फीड बैंक तकनीकी स्वीकृति मानक

आगम	प्रक्रिया	निर्गम
उपभोक्ता जरूरतें	पुनरीक्षा एवं मूल्यांकन	सफलतापूर्वक संशोधन
पूर्व अनुभव उत्पाद		सस्ता
उपलब्ध साधन		विनिर्माण समस्याएं
निष्पादन घटक		विपणन विफलता
साधन मूल्य		
नई तकनीक		
विपणन पूर्वानुमान		
विनिर्माता व्यवहार		

फीड बैक तकनीकी स्वीकृति मानक

आगम	प्रक्रिया	निर्गम
प्रशिक्षित अभियंता	पुनरीक्षा मूल्यांकन प्रक्रिया	बढ़ते हुए सम्बंध व कार्य दशाएं
प्रशिक्षित कार्मिक		
विनिर्माण परीक्षण की उपयुक्त सुविधाएं।		
अनुकूलतम डिजाईन व्यवहार		
प्रबंधकीय सहयोग		
व्यवस्था प्रतिष्ठान		

फीड बैक तकनीकी स्वीकृति मानक

गुणवत्ता सुनिश्चियन तथा तकनीकी हस्तांतरण

तकनीक हस्तांतरण के प्रत्येक चरण में गुणवत्ता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रभावशाली गुणवत्ता व्यवस्था की स्थापना के लिए निम्नलिखित पूर्वावश्यकताएं हैं।

- डिजाईनों का व्यवस्थित अनुकूलन।
- जिन पुर्जों को बदला जाना है उनके बारे में सप्लायरों की क्षमता तथा स्थानीय सामग्री के बारे में पर्याप्त सूचना।
- विभिन्न पुर्जे के लिए मशीन की प्रक्रिया क्षमता निर्धारित की जानी चाहिए।
- फील्ड निष्पादन तथा विश्लेषण के उचित रिकार्ड सुनिश्चित हों।

सार रूप में प्रबंधक को तकनीक हस्तांतरण की निम्न पूर्व शर्तों को पूरा करना चाहिए।

तकनीकी परीक्षण, विपणन के मद्देनजर नई तकनीक को अपनाना, संगठन के कर्मचारियों की सर्वसम्मति प्राप्त करना।

METHODS OF TRANSFER TECHNOLOGY

इसे दो तरीकों में बांटा जा सकता है।

1. प्रौद्योगिकी हस्तांतरण की प्रकृति के अनुसार।
2. प्रयुक्त उपकरण की प्रकृति के अनुसार।

प्रौद्योगिकी हस्तांतरण का एक त्रिस्तरीय वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है।

(a) **प्रौद्योगिकी का सरल प्रत्यक्ष विक्रय :** सीधी प्रत्यक्ष विक्रय में मूल्यों के लिए जो कमोवेश प्रतिस्पर्द्धी होते हैं, असम्बद्ध कार्यो द्वारा Embodied Technology Transfer प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के माध्यम से हो सकता है। जिसमें पूंजी, साहस, प्रबन्ध तथा प्रौद्योगिकी आदि का समावेश हो।

(b) **प्रौद्योगिकी का प्रक्रिया पैकेज विक्रय :-** अर्थात् एक ऐसी विधि जहां प्रौद्योगिकी किसी प्रकल्प के वाणिज्यिक परिचालन हेतु अन्य अनिवार्यताओं द्वारा जुड़ी होती हो अर्थात् मापकन, पूंजी, ब्रॉड नाम आदि।

(c) **प्रयुक्त उपकरण की प्रकृति के अनुसार :** विभिन्न देशों के बीच प्रौद्योगिकी हस्तांतरण अनेक तरीकों से अंजाम पा सकता है,

1. पुस्तकों, जर्नलों तथा अन्य प्रचारित सूचनाओं के प्रवाह द्वारा।
2. आब्रजन प्रवासियों की वापसी, अव्चयन, दौरों तथा अन्य मात्राएं।
3. विदेशी निवेश तथा ज्ञान एवं उपकरणों के सम्बद्ध हस्तांतरण द्वारा।
4. पेटेंट तथा तकनीकी ज्ञान ठहरावों, लाइसेंसिंग द्वारा।

अधिकांश विकासशील देश इन सभी विधियों को काम में लाते हैं। Multinational Corporations जैसे विकसित देशों से विकासशील देशों को हस्तांतरण का मुख्य उपकरण रहे हैं। MNCs विशालकाय औद्योगिक संगठन है जो अपनी शाखाओं या सहायक कम्पनियों के एक नेटवर्क के माध्यम से अनेक देशों में इन औद्योगिक तथा विपणन कार्यक्रमों को बढ़ाते हैं। वे अपने साथ लाते हैं प्रौद्योगिकी ज्ञान तथा उपकरण और लाइसेंसिग पेटेंट तथा तकनीकी ज्ञान के ठहरावों द्वारा विकासशील देशों के औद्योगिक विकास कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। वे अनेक देशों में निम्न पांच विकल्पों में अपनी गतिविधियां अंजाम देते हैं।

1. **शाखाएं :** गतिविधियां आगे बढ़ाने का एकदम आसान उपाय है। इस विकल्प के अन्तर्गत MNCs विकासशील देशों में अपनी शाखाएं खोलती है। ये शाखाएं अपने साथ सूत्रधारी कम्पनी की प्रौद्योगिकी लाती है तथा उस से स्वयं को जोड़ लेती है।

2. **सहायक कम्पनी (उपक्रम) :-** MNCs सम्बद्ध देशों में सहायक कम्पनियां स्थापित करके भी ऑपरेट करती है। किसी देश विशेष में एक सहायक कम्पनी देश के कानूनों के अन्तर्गत स्थापित की जाती है।

3. **संयुक्त उपक्रम कम्पनी :-** कभी-कभी MNCs किसी स्वदेशी व्यर्थ या एजेंसी के साथ संयुक्त उपक्रम कर लेते हैं। इस व्यवस्था में MNCs मशीनरी पूंजीगत माल तथा प्रौद्योगिकी दक्षता स्वदेशी फर्म को उपलब्ध कराते हैं।

4. **Franchise Holder :** इसके अन्तर्गत Affiliated Firm उस MNC से लाइसेंस प्राप्त करके उसके उत्पाद तैयार कर लेती है या विपणन कर पाती है।

5. **Turnkey Projects :** इस संगठनात्मक स्वरूप में MNC प्रकल्प को शून्य से लेकर क्रियान्वय चरण तक पूरा करता है जब प्रकल्प तैयार हो जाता है तो उसको मेजबान देश को सौंप दिया जाता है।

Basic Features of Technology Transfer

(1) **Principal Instrument of Technology :** हस्तांतरण के प्रमुख वाहक हैं MNCs जो या तो अपनी सहायक कम्पनी के माध्यम से या अन्य अनुबन्धात्मक लेन-देनों के द्वारा, जो वे विकासशील देशों के साथ करते हैं, मेजबान देशों को मशीनीकृत प्रक्रिया तथा उपकरण प्रदान करते हैं।

(2) **Foreign Exchange Policies of the Development Countries :-** विकासशील देशों में प्रौद्योगिकी की घुसपैठ का बड़ा भाग प्रतिस्थापन के माध्यम से औद्योगिकरण की नीति के जवाब में रहा है। विकासशील देश संरचनात्मक घटकों के कारण निर्यातों पर बहुत अधिक भरोसा नहीं कर सकते हैं। अतः विदेशी विनिमय कठिनाईयों के कारण हेतु वे आयात प्रतिस्थापन पर ही अधिक भरोसा करते हैं। इसमें MNCs को प्रोत्साहन मिलता है कि स्थानीय प्रबुद्ध बाजारों में विक्रय हेतु आयातित प्रतिबन्धित माल के उत्पादन हेतु अपने अपरिवर्तित संयंत्रों तथा प्रौद्योगिकी जानकारी के साथ विकासशील देशों की ओर जाये।

अध्याय 30
विदेशी व्यापार
(Foreign Trade)

प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान होता है। रोबर्टसन के अनुसार, ''विदेशी व्यापार आर्थिक विकास का ईंधन है।'' विदेशी व्यापार के कारण एक देश अपने प्राक तिक साधनों को उचित उपयेाग कर सकता है। प्राक तिक संकट के समय अनाज तथा अन्य वस्तुएं प्राप्त कर सकता है। विदेशों से तकनीकी प्राप्त कर सकता है। विदेशी व्यापार के द्वारा औद्योगिकीकरण के लिए आवश्यक पूंजी, मशीनें तथा कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है। विदेशी व्यापार के उचित नियन्त्रण एवं संचालन द्वारा रोजगार, उत्पादन, कीमत, औद्योगिकीकरण तथा देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव डाला जा सकता है। इसी के द्वारा ही दूसरे देशों से आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सहायता तथा अन्य उपकरण प्राप्त किए जा सकते हैं। यही कारण है कि भारत के योजना आयोग ने पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी व्यापार के विकास को बहुत अधिक महत्व दिया है।

अधिकतर अल्पविकसित देश काफी देर तक औपनिवेशिक शोषण का शिकार रहे हैं। यह शोषण उन पर शासन करने वाले विकसित औद्योगिक देशों ने किया। शोषण का एक मुख्य माध्यम विदेशी व्यापार था। पांचवे व छठे दशक में अर्थशास्त्रियों ने यह विचार व्यक्त किया कि शासक देशों को विदेशी व्यापार से दोहरा लाभ हुआ क्योंकि वे विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात करते हैं तथा कच्चे माल का आयात। इसके विपरीत शासित देशों को दोहरी हानि हुई है क्योंकि वे कच्चे माल का निर्यात करते हैं तथा विनिर्मित वस्तुओं का आयात ऐसा इसलिए होता है क्योंकि व्यापार की शर्तें लगातार विनिर्मित वस्तुओं के पक्ष में होती गई तथा कच्चे माल के विपक्ष में। इसी कारण दूसरे विश्व युद्ध के बाद जब बहुत से अल्पविकसित देश स्वतन्त्र हुए तो वे विदेशी व्यापार व विदेशी निवेश को सन्देह की नजरों से देखने लगे इसलिए उन्होंने विदेशी व्यापार पर ज्यादा ध्यान न दिया उन्होंने घरेलू उद्योगों को व्यापक संरक्षण दिया तथा आयातों व विदेशी निवेश पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण लगाए तथा विनिमय दरों को अवास्तविक स्तरों तक ऊंचा रखा गया। जहां तक निर्यात क्षेत्र का सम्बन्ध है, उसने निराशावादी द ष्टिकोण रहा। भारतीय निर्यातों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में गतिहीन व स्थिर मांग का सामना करना पड़ा इसलिए निर्यात आय को बढ़ा पाना भी सम्भव नहीं हो सका। परन्तु सातवें दशक के बाद से परिस्थितियां बिल्कुल बदल गई हैं। विकासशील देशों ने आयात उदारीकरण (Import Liberalisation) की नीति को खुले रूप से अपनाया और काफी सफलता प्राप्त की है इसी कारण भारत के भी व्यापार-उदारीकरण (trend liberalisation) की नीति को अपनाया है तथा पिछले कुछ वर्षों में आयात नियंत्रणों को काफी कम कर दिया है।

भारत का विदेशी व्यापार (Foreign Trade of India)—भारत का विदेशी व्यापार दो भागों में बांटा गया है:—

1. स्वतन्त्रता से पहले का विदेशी व्यापार (Foreign Trade before Independence)
2. स्वतन्त्रता के बाद का विदेशी व्यापार (Foreign trade after Independence)
3. स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का विदेशी व्यापार (Foreign trade of India before Independence)

भारत पुराने समय से ही दूसरे देशों से व्यापार करता रहा है। भारत की कलात्मक वस्तुएं जैसे ढाके की मलमल सारे संसार में प्रसिद्ध थी। सन् 1947 से पहले भारत ब्रिटिश सरकार का उपनिवेश था। इसी कारण व्यापार का स्वरूप एक परम्परागत औपनिवेशिक और क षि प्रधान देश की तरह का था। इसका विदेशी व्यापार मुख्यतः ब्रिटिश तथा राष्ट्रीय मंडल के अन्य देशों तक ही सीमित था। निर्यात मुख्यतः प्राथमिक वस्तुओं, खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल का ही होता था। आयात सीमित थे, जो मुख्य रूप से तैयार सामान के होते थे। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत के विदेशी व्यापार का अध्ययन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है—

(i) **व्यापार परिमाण (Volume of Trade)**—स्वतन्त्रता से पहले भारत का विदेशी व्यापार बहुत अधिक नहीं था। सन् 1834 में भारत का कुल विदेशी व्यापार 186 करोड़ रुपए का था। सन् 1939 में यह बढ़कर 321 करोड़ रुपए का हो गया जिसमें 169 करोड़ रुपए के निर्यात और 152 करोड़ रुपये के आयात थे। 1947-48 में कुल व्यापार 792 करोड़ रुपए का हो गया।

(ii) **विदेशी व्यापार का स्वरूप (Composition of Foreign Trade)**—स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का व्यापार बहुत कम

वस्तुओं में होता था। भारत से कच्चे माल और क षि वस्तुओं का निर्यात किया जाता था। भारत के निर्यातों में मुख्य स्थान सूती वस्त्र, कपास, अनाज, जूट की वस्तुएं, चाय और तिलहन का था। इस अवधि में दूसरे देशों से अधिकतर उपभोग की वस्तुएं, चाय और तिलहन का था। इस अवधि में दूसरे देशों से अधिकतर उपभोग की तैयार वस्तुएं मशीनें, रासायनिक पदार्थ तथा लौह और इस्पात की वस्तुएं की गई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत के निर्यात तथा आयात के स्वरूप में परिवर्तन आया। वर्ष 1938-39 में कच्चे माल का निर्यात में भाग 45 प्रतिशत था जो वर्ष 1947-48 में घटकर 31 प्रतिशत रह गया। सन् 1938-39 में तैयार किए गए सामान का निर्यात कुल निर्यात का 30 प्रतिशत था जो 1947-48 में बढ़कर 49 प्रतिशत हो गया।

(iii) **व्यापार की दिशा (Direction of Trade)**—स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का अधिकतर व्यापार इंग्लैंड तथा राष्ट्रमंडल के देशों के साथ होता था। कुल निर्यात का 34 प्रतिशत तथा कुल आयात 31 प्रतिशत व्यापार इंग्लैंड के साथ था। इसके अतिरिक्त दूसरे ब्रिटिश उपनिवेशों, जैसे बर्मा, कैनेडा, श्रीलंका आदि से निर्यात व्यापार 21 प्रतिशत और आयात 10 प्रतिशत था। इस अवधि में अमेरिका का भारत के कुल आयात में हिस्सा 7 प्रतिशत तथा निर्यात में 8 प्रतिशत था। सन् 1947-48 में भारत के आयात व्यापार में इंग्लैंड का हिस्सा कम होकर 25 प्रतिशत रह गया तथा अमेरिका का बढ़कर 30 प्रतिशत हो गया। रूस तथा पूर्वी यूरोप में देशों का विदेशी व्यापार में हिस्सा बहुत कम था।

(iv) **व्यापार शेष (Balance of Trade)**—स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का विदेशी व्यापार बचत का व्यापार था। इस अवधि में हमारे निर्यात, आयातों से अधिक रहे। सन् 1834 में 40 करोड़ रुपये का, 1939 में 17 करोड़ रुपये का, 1946-47 में 31 करोड़ रुपये का व्यापार शेष अनुकूल था। परन्तु 1947-48 में यह कम होकर केवल 14 करोड़ रुपए रह गया।

संक्षेप में, स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का विदेशी व्यापार अंग्रेजों द्वारा बनाई गई नीति के आधार पर संगठित था। इस नीति का उद्देश्य यही था कि भारत को केवल एक कच्चे माल की पूर्ति करने वाला देश बनाए रखा जाए जिसमें इंग्लैंड के कारखानों में बना हुआ माल बेचा जा सके। अंग्रेज सरकार भारत के विदेशी व्यापार को बचत का व्यापार बनाये रखने के पक्ष में थी, क्योंकि इसके फलस्वरूप भारत को जो विदेशी मुद्रा प्राप्त होती थी, उसका उपयोग भारत के प्रशासन के लिए इंग्लैंड द्वारा किये गए खर्च का भुगतान करने के लिए किया जाता था।

स्वतन्त्रता के पश्चात भारत का विदेशी व्यापार (Foreign Trade of India after Independence)—स्वतन्त्रता के पश्चात और विशेष रूप से 1951 से जब भारत ने पहली पंचवर्षीय योजना आरम्भ की तो विदेशी व्यापार में काफी परिवर्तन आया। इस परिवर्तन का अध्ययन भी चार भागों में किया जाएगा—(i) विदेशी व्यापार का परिमाण (Volume of Trade) इस अवधि में भारत से विदेशी व्यापार में व द्धि हुई। वर्ष 1947-48 में भारत का विदेशी व्यापार 792 करोड़ रुपए का था। सन् 1951 में यह बढ़कर 1250 करोड़ रुपये हो गया, उसके बाद महत्वपूर्ण औद्योगिक क्रान्तिम के फलस्वरूप विदेशी व्यापार की पूरी तरह काया पलट हो गई। अब यह व्यापार कुछ ही देशों या कुछ ही वस्तुओं तक सीमित नहीं है। आज विश्व के लगभग सभी देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध हैं और निर्यात होने वाले या आयात किये जाने वाले सामान की सूची में लगभग 7500 वस्तुएं हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं में भारत के विदेशी व्यापार का परिमाण निम्नलिखित तालिका से ज्ञात हो जाता है—

Volume of India's Foreign Trade (crore Rs.)

Year	Imports	Exports	Total
1950-51	650	600	1250
First Plan	3,651	3,109	6,760
Second Plan	5,402	3,063	8,465
Third Plan	6,119	3,735	9,854
Fourth Plan	10,035	9,426	19,461
Fifth Plan	20,882	17,937	38,819
Sixth Plan	17,134	11,744	28,878
Seventh Plan	35,412	27,681	63,093
Eighth Plan	47,851	44,042	91,893
Ninth Plan	2,30,873	2,03,571	4,34,444

Source : Economic Survey, 2002

(i) विदेशी व्यापार का परिमाण जो 1950-51 में 1250 करोड़ रुपए था, 2000-2001 में बढ़कर 4,34,444 करोड़ रुपये

का हो गया। विदेशी व्यापार के परिमाण में 348 गुणा व द्धि हुई है। (2) वर्ष 1950-51 में भारत में कुल आयात 650 करोड़ रुपए के थे, वह वर्ष 2000-2001 में बढ़कर 2,30,873 करोड़ रुपए के हो गए। इस प्रकार आयात लगभग 355 गुणा बढ़ गये। (3) वर्ष 1950-51 में भारत के कुल निर्यात 600 करोड़ रुपए के थे। वे 2000-2001 में बढ़कर 2,03,571 करोड़ रुपए के हो गये। इस प्रकार निर्यात 339 गुणा बढ़ गए। (4) पहली योजना में निर्यात की प्रतिवर्ष व द्धि दर बढ़ कर 1 प्रतिशत तथा आयात 3.8 प्रतिशत हो गई। छठी योजना में वर्तमान कीमतों पर निर्यात की व द्धि दर 13 प्रतिशत तथा आयात की व द्धि दर 13.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। (5) सातवीं योजना में आयात की व द्धि 19.3 प्रतिशत थी परन्तु निर्यात में 16 प्रतिशत की व द्धि हुई। (6) आठवी योजना में निर्यातों में 17.2 प्रतिशत तथा आयातों में 17 प्रतिशत की व द्धि हुई

(ii) **विदेशी व्यापार का स्वरूप (Composition of Foreign Trade)**—स्वतन्त्रता के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं में भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप में भी काफी परिवर्तन आया है। जिन वस्तुओं का पहले भारत से निर्यात किया जाता था। जैसे अनाज, कपास आदि का आयात किया जाने लगा। इसके विपरीत भारत के निर्यातों में तैयार माल, लोहा व इस्पात, इन्जीनियरिंग वस्तुओं, जवाहरात आदि का अंश काफी बढ़ गया।

निर्यात व्यापार की रचना में परिवर्तन
(Change in the Composition of Exports)

सन् 1947 के पश्चात भारत के निर्यात व्यापार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भारत चाय, जूट, चमड़े, कच्चे लोहे तथा मसालों का अधिक निर्यात करता था। अब अनेक प्रकार की तैयार वस्तुओं का निर्यात किया जाने लगा है जैसे पूंजीगत माल (मशीनों) इन्जीनियरिंग सामान, रसायन उत्पादन, सिले सिलाये कपड़े, हीरे, तैयार भोजन, हस्तशिल्प आदि। भारत के परम्परागत निर्यातों में चाय, जूट तथा खनिज पदार्थों का 1950-51 में कुल निर्यात में हिस्सा 55% था। 1996-97 में यह कम होकर केवल 23.9% रह गया। इसके विपरित इन्जीनियरिंग वस्तुओं का भाग जो 1951 में केवल 0.05% था वह 2000-01 में बढ़कर 15.5% हो गया। निर्यात की रचना में होने वाले परिवर्तन नीचे दी तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं।

India's Principal Exporters **(Rs. Crore)**

Commodity	1950-51	2000-01
1. Tea	80	1976
2. Jute Manufactures	114	933
3. Cotton Cloth	138	16030
4. Oil Cabes	17	2045
5. Cotton Apparel	-	25478
6. Iron Ore	18	1634
7. Engineering Goods	0.4	26111
8. Coffee	10	1185
9. Hems & Precious Stones	-	33734
Total Exports (including others)	600	203571

उपरोक्त तालिका से भारत के निर्यातों की रचना में ही होने वाले प्रमुख परिवर्तन स्पष्ट हो जाते हैं।

(ii) **क षि पदार्थों के निर्यातों के प्रतिशत में कमी**—स्वतन्त्रता के पश्चात क षि पदार्थों के निर्यातों का कुल निर्यातों में % भाग कम होता जा रहा है। उदाहरण के लिए 1970-71 में क षि पदार्थों के निर्यातों का कुल निर्यात के 31% भाग का परन्तु 2000-01 में यह कम होकर 13.3% भाग रह गया। इसका मुख्य कारण यह है कि देश की जनसंख्या में बहुत अधिक व द्धि हो जाने के कारण क षि पदार्थों की कुल घरेलू मांग काफी अधिक बढ़ गई है। इसके फलस्वरूप क षि पदार्थों निर्यात के लिए उपलब्ध नहीं हो पाते।

2. **परम्परागत वस्तुओं के निर्यात के प्रतिशम में कमी**—भारत के अधिकतर निर्यात परम्परागत वस्तुओं जैसे—चाय, जूट, खाद्यान्न आदि क षि पदार्थों तथा खनिज पदार्थों का करता था। 1970-71 में इन परम्परागत वस्तुओं का कुल निर्यात में 41% था परन्तु 2000-01 में इनका भाग कम होकर केवल 14.6% रह गया। इसका मुख्य कारण इन पदार्थों की घरेलू

मांग में व द्धि हो जाने के कारण निर्यात के लिए कम मात्रा का उपलब्ध होना है। देश के औद्योगिकीकरण में व द्धि हो जाने के कारण कच्चे माल की देश में ही खपत बढ़ गई।

3. **तैयार माल के निर्यातों में प्रतिशत व द्धि**—स्वतन्त्रता के पश्चात भारत के निर्यातों के तैयार माल के % में काफी व द्धि हुई है। उदाहरण के लिए 1970-71 में भारत में कुल निर्यातों में तैयार माल का भाग 56% था परन्तु 2000-01 में यह बढ़कर 80.0% हो गया।
4. **जवाहरात तथा सिलेसिलाये कपड़ों के निर्यातों का बढ़ता हुआ महत्व**—भारत के कुल निर्यात में जहां पहले जूट तथा चाय का सबसे महत्वपूर्ण स्थान था वहाँ अब उनका स्थान जवाहारात तथा सिले सिलाये कपड़ों के निर्यात ने ले लिया है। भारत के कुल निर्यात में जवाहारात का प्रथम स्थान तथा सिले सिलाये कपड़ों का दूसरा स्थान है।
5. **पैट्रोलियम पदार्थों के निर्यात**—भारत अब पैट्रोलियम पदार्थों का भी काफी निर्यात करने लगा है। 1970-71 में इन पदार्थों के निर्यात का मूल्य केवल 13 करोड़ रुपया था। अब यह बढ़कर 370 करोड़ रुपये हो गया। इससे सिद्ध होता है कि देश में पैट्रोलियम उद्योगों का विकास हो रहा है।
6. **क षि निर्यात की संरचना में परिवर्तन**—क षि निर्यातों की संरचना में काफी परिवर्तन आया है। 1970-71 में कॉफी, तम्बाकू तथा मछलियों के निर्यात क्रमशः 25 करोड़ रु., 33 करोड़ रु. 31 करोड़ रु. थे। परन्तु 2000-01 में इनके निर्यात बढ़कर क्रमशः 1185 करोड़ रु., 871 करोड़ रुपए तथा 6367 करोड़ रु. हो गये। इस प्रकार मछलियों तथा उनसे बने पदार्थों के निर्यात में बहुत अधिक व द्धि हुई। 1970-71 में चावल का निर्यात नहीं किया जाता था। परन्तु 2000-01 में 2943 करोड़ रु. मूल्य के चावल का निर्यात किया गया। यह वास्तव में नीली क्रान्ति तथा हरिन्त क्रान्ति का परिणाम है जूट के निर्यातों में कोई विशेष व द्धि नहीं हुई
7. **इन्जीनियरिंग के सामान, हस्तकला तथा चमड़े के समान के निर्यातों में व द्धि**—भारत के निर्यातों में इन्जीनियरिंग के सामान, हस्तकला तथा चमड़े के सामान का महत्व काफी बढ़ गया है। 1970-71 में इन्जीनियरिंग के सामान, हस्तकला तथा चमड़े के समान के निर्यातों का मूल्य क्रमशः 198 करोड़ रु. 173 करोड़ रु. तथा 80 करोड़ रु. था 2000-01 में इनके निर्याते बढ़कर क्रमशः 26111 करोड़ रु. 5097 करोड़ रु. तथा 8914 करोड़ रु. हो गये।

संक्षेप में भारत के निर्यातों में कच्चे माल के स्थान पर तैयार माल का महत्व काफी बढ़ गया है। यह परिवर्तन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए अधिक लाभदायक है।

(b) **आयात व्यापार की रचना में परिवर्तन**—स्वतन्त्रता के पश्चात भारत के आय व्यापार की रचना में काफी अन्तर आया है। सन् 1975 तक देश में अनाज, कपास, जूट आदि के आयात काफी बढ़ गये। भारत में पैट्रोलियम, खाद इस्पात, लोहा, धातुएं औद्योगिक कच्चा माल, मशीनरी, पूंजीगत सामग्री, खाने के तेल, बिना तराशे जवाहारात के आयात बढ़ गये हैं। आयात व्यापार की रचना में होने वाले परिवर्तन निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं।

Changes in the Composition of India's Import

Commodity	1950-51	2000-01
1. Iron & Steel	20	3569
2. Machinery	91	19142
3. Transport Equipment	41	4353
4. Food Grains	100	91
5. Chemicals	0.57	1542
6. Fertilizer	12	3034
7. Paper, Paperboard	10	2005
8. Petroleum	87	71497
Total Imports (Including Others)	**650**	**230873**

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि 1950-51 में अनाज के आयात का कुल आयात में भाग 15% था। 2000 में यह कम होकर केवल 5.6% रह गया है इसके विपरित पैट्रोलियम का भाग 1950-51 में कुल आयात में 5.4% तथा 1999-2000 में बढ़कर 24.3% हो गया।

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि भारत के आयातों में निम्नलिखित मुख्य परिवर्तन हुए हैं:—

1. **क षि पदार्थों के आयातों में कमी**—भारत के द्वारा किए जाने वाले कई प्रकार के क षि पदार्थों के आयात काफी कम हो गए हैं उदाहरण के लिए 1992-93 में अनाज के आयात का मूल्य 1960 करोड़ रुपए था परन्तु 1999-2000 में यह कम होकर 579 करोड़ रु. रह गया। सन् 1970-71 में 99 करोड़ रु. की मूल्य की कपास का आयात किया गया। परन्तु 1999-2000 में केवल 38 करोड़ रु. की मूल्य की कपास का आयात किया गया। सन् 1970-71 में खाद्य पदार्थों की आयातों का कुल आयातों में भाग 14.6% था वह 1999-2000 में कम होकर 5.6% रह गया।
2. **मध्यवर्ती वस्तुओं के आयात में व द्धि**—कई प्रकार की मध्यवर्ती वस्तुओं जैसे कच्चे काजु, धातु के रूप में रत्न आदि के आयातों में काफी व द्धि हुई हैं इन वस्तुओं का प्रयोग करके तैयार वस्तुएं बनाकर उनका निर्यात कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए 1970-71 में 29 करोड़ रु. की कच्चे काजु तथा 25 करोड़ रु. के रत्नों का आयात किया गया था। 1999-2000 में इनके आयात बढ़कर क्रमशः (934) करोड़ रु. तथा 23296 करोड़ रु. हो गए। इसका मुख्य कारण भारत में श्रम का सस्ता होना है।
3. **पैट्रोलियम का आयातों में प्रथम स्थान**—भारत के आयातों में पैट्रोलियम का प्रथम स्थान है 1970-71 में केवल 163 करोड़ रुपये के मूल्य के पैट्रोलियम का आयात किया गया। परन्तु 1999-00 में इनके आयातों का मूल्य बढ़कर 45421 करोड़ रुपये हो गया। इसके 2 मुख्य कारण हैं। एक तो पैट्रोलियम की कीमतों में होने वाली व द्धि तथा दूसरा भारत के बढ़ते हुए उद्योगों तथा यातायातों के लिए पैट्रोलियम की मांग में होने वाली व द्धि।
4. **पूंजीगत पदार्थों के आयात में व द्धि**—भारत के औद्योगिक विकास के फलस्वरूप पूंजीगत पदार्थों जैसे मशीनों, बिजली के यन्त्रों, धातुओं, यातायात के सामान के आयात में काफी व द्धि हुई है। उदाहरण के लिए 1970-71 में 404 करोड़ रु. की पूंजीगत पदार्थों का आयात किया गया। परन्तु 1999-00 में इनके आयात बढ़कर 29220 करोड़ रु. के हो गए। परन्तु कुल आयातों में पूंजीगत पदार्थों का प्रतिशत भाग कम हो गया है। 1970-71 में इनका कुल आयातों में 32% भाग था। 1999-00 में यह कम होकर 11.4% रह गया।
5. **कच्चे माल के प्रतिशत आयातों में व द्धि**—भारत के आयातों में कच्चे माल तथा पैट्रोल के आयातों का प्रतिशत भाग सबसे अधिक है। इनके प्रतिशत भाग में काफी व द्धि हुई है। 1970-71 में कुल आयात में इनका भाग 54% था 1999-00 में यह बढ़कर 71.6% हो गया।
6. **रासायनिक खाद्य के आयात में व द्धि**—भारत में हरित क्रान्ति के कारण रासायनिक खाद्य की मांग काफी बढ़ गई है। रासायनिक खाद्य के घरेलू उत्पादन के अप्रयाप्त होने के कारण अनेक आयातों में काफी व द्धि हुई है। सन् 1970-71 मं केवल 86 करोड़ रुपये की रासायनिक खाद्य का आयात किया गया। परन्तु 1999-00 में इनके आयातों में 5542 करोड़ रुपये की व द्धि हुई।
7. **विदेशी व्यापार की दिशाः**—स्वतन्त्रता के पश्चात भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में काफी परिवर्तन आया है।

(a) **निर्यात व्यापार की दिशा में परिवर्तन**—1950-51 से पहले भारत का अधिकतर निर्यात व्यापार इंग्लैण्ड, राष्ट्र मंडल के देशों तथा अमेरिका से था। 1950-51 में भारत की 27% प्रतिशत निर्यात इंग्लैंड या U.K. को 18.6% U.S.A. को 2.2 प्रतिशत जापान को होते थे। भारत के निर्यात व्यापार में रूस का भाग केवल 1.2% यूरोपियन यूनियन का 5.9 प्रतिशत तथा जर्मनी का 1.2% था। सन् 1999-00 में भारत को निर्यात व्यापार में U.K. का भाग कम होकर 6% तथा U.S.A. का 22.7% रह गया। जापान का भाग बढ़कर 45% तथा रूस का बढ़कर 2.5% हो गया। यूरोपियन यूनियन के देशों का भाग बढ़कर 25.1% हो गया तथा पैट्रोलियम निर्यात करने वाले देशों का भाग बढ़कर 10.6% हो गया। भारत के नए देशों की जैसे केनिया, बेल्जियम आदि से भी व्यापार करने लगा।

(b) **आयात व्यापार की दिशा में परिवर्तन**—स्वतन्त्रता से पहले भारत का अधिकतर आयात व्यापार भी इंग्लैण्ड अमेरिका आदि से होता था। 1950-51 में भारत के आयात व्यापार में अमेरिका का भाग 33.6% U.K. का 18.5% और रूस का 0.2% तथा जापान का 2.9% था। 1999-2000 में भारत के आयात व्यापार U.K. का भाग कम होकर 5.8%, U.S.A. का 7.7% रह गया। जापान का भाग बढ़कर 5% तथा रूस का 1.3% हो गया। E.U. के देशों का भाग बढ़कर 22% तथा पैट्रोलियम देशों का भाग बढ़कर 23% हो गया है।

भारत की व्यापार की दिशा को तालिका से भी स्पष्ट कर सकते हैं।

रूस के विघटन के पश्चात भारत के विदेशी व्यापार दिशा के अध्ययन की सुविधा की द ष्टि से विभिन्न देशों को 5 भागों में बांट दिया गया। निम्नलिखित तालिका द्वारा व्यापार की दिशा में होने वाले परिवर्तन स्पष्ट हो जाते हैं।

Direction of Trade

Percentage of Total Volume

Country	Exports	Imports	Exports	Imports
	1980-81		2000-2002	
1. Organisation of Economic Cooperation and Development Countries (O.E.C.D.)	46.6	45.7	57.8	46.9
2. OPEC	11.1	27.8	10.6	25.8
3. Eastern Europe	22.1	10.3	4.0	2.7
4. Developing Countries of which	19.2	15.7	26.1	22.7
(i) Asia	13.4	11.6	20.4	19.5
(ii) Africa	5.2	1.6	4.0	4.2
(iii) Latin America	0.4	2.5	1.9	1.8
5. Others	1.0	0.8	3.6	7.2

(Source : Economic Survey)

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि–

1. **आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन**–OECD देशों अर्थात् (i) E.U. (European Union) यू. के., जर्मनी, इटली, फ्रांस, नीदरलैंड, आयरलैंड, बेलजियम, डेनमार्क (ii) उत्तरी अमेरिका (यू. एस. ए. तथा कनाडा), (iii) Oceania अर्थात् आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, जापान ही आदि विकसित देशों से भारत का व्यापार बढ़ता जा रहा है। पिछले 16 वर्षों में इन देशों को किया जाने वाला निर्यात कुल निर्यात का 46.6 प्रतिशत से बढ़कर 58 प्रतिशत हो गया तथा आयात 45.7 प्रतिशत से घटकर 44.7 प्रतिशत हो गया। इन देशों में से निर्यात व्यापार में EU देशों को भाग 21.6 प्रतिशत से बढ़कर 25.1 प्रतिशत हो गया तथा आयात व्यापार में 21 प्रतिशत से बढ़कर 22 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार उत्तरी अमेरिका का निर्यात व्यापार में भाग 12 प्रतिशत से बढ़कर 22.7 प्रतिशत हो गया परन्तु आयात में भाग 1999-2000 में 14.8 प्रतिशत से कम होकर 7.7 प्रतिशत रह गया।
2. **तेल निर्यात संगठन (O.P.E.C.- Organisation of Oil producting Export Countries):**–सऊदी अरब, ईरान, ईराक, ब्राजील का भारत के निर्यात व्यापार में 1980-81 में 11.1 प्रतिशत भाग था। यह 1999-2000 में कम होकर 10.6 प्रतिशत रह गया। इसी प्रकार इस अवधि में आयात व्यापार में इन देशों का भाग 27.8 प्रतिशत से कम होकर 23.8 प्रतिशत रह गये।
3. **पूर्वी यूरोप (Eastern Europe)**–पूर्वी यूरोप के देशों जैसे रूस, पोलैंड, हंगरी, रूमानिया, चैकोस्लावाकिया आदि के साथ होने वाले विदेशी व्यापार का कुल व्यापार में प्रतिशत काफी कम रह गया है। 1980-81 में इन देशों का निर्यात में भाग 22.1 प्रतिशत था। यह 1999-2000 में कम कुल 3.0 प्रतिशत रह गया है। इसी प्रकार आयात व्यापार का भाग 10.3 से कम होकर केवल 1.7 रह गया। इस प्रकार रूस के विघटन के बाद इन देशों से होने वाले विदेशी व्यापार में काफी कमी आई है।
4. **विकासशील देशों (Developing Countries)**–विकासशील देशों से भारत का विदेशी व्यापार बढ़ रहा है सन् 1980-81 में इन देशों का भारत के कुल निर्यातों में भाग 19.2 प्रतिशत था यह बढ़कर 1999-2000 में 25.1 प्रतिशत हो गया। अफ्रीका के साथ किये जाने वाले निर्यातों के प्रतिशत में कमी आई है परन्तु आयातों के प्रतिशत में व द्धि हुई है।

   भारत के निर्यात व्यापार में यूरोपियन यूनियन (E.U.) का प्रथम स्थान है तथा U.S.A. का दूसरा स्थान है।
5. **व्यापार शेष (Balance of Trade)**–स्वतन्त्रता के बाद से अभी तक भारत का व्यापार शेष घाटे का चला आ रहा है। स्वतन्त्रता के बाद 1972-73 में पहली बार व्यापार शेष अनुकूल हुआ था। 1973-74 में दोबरा प्रतिकूल हो गया है।

1976-77 में यह दुबारा अनुकूल हो गया है। हमारे निर्यात स्वतन्त्रता के बाद काफी बढ़ गये हैं परन्तु आयात और भी अधिक बढ़ गये हैं। भारत का विभिन्न वर्षों में व्यापार शेष निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

योजनाएं	वर्ष	व्यापार संतुलन (करोड़ रुपये में)
	1950-1951	**-50**
First Plan (Last Year)	1955-1956	-82-5
Second Plan (Last Year)	1960-1961	-480
Third Plan (Last Year)	1965-1961	-603
Forth Plan	1972-1973	-104
(Last Year)	1973-1974	-432
Fifth Plan	1974-1975	-1,190
	1975-1976	-1,222
	1976-1977	+72
	1977-1978	-621
Sixth Plan	1980-1981	-5837
	1981-1982	-5802
	1982-1983	-5448
	1983-1984	-5,898
	1984-1985	-5,390
Seventh Plan	1989-1990	-7,731
	1990-1991	-10,640
Eighth Plan	1992-1993	-9,687
	1993-1994	-3,350
	1994-1995	-7,297
	1995-1996	-16,325
	1996-1997	-19,319
Ninth Plan	2000-2001	-27,307

Source : Reserve Bank of India, Bulletin March, 2002

उपरोक्त तालिका से सिद्ध होता है कि भारत का विदेशी व्यापार स्वतन्त्रता के बाद से घाटे का व्यापार रहा है। चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में यह घाटा कम हो गया था। इसका कारण यह था कि भारत में हरित क्रान्ति के फलस्वरूप अनाज का उत्पादन अधिक होने लगा था। इसके अतिरिक्त विदेशों से आने वाली बहुत सी वस्तुएं भारत में ही बनने लगी हैं। स्वतन्त्रता के बाद 1972-73 में पहली बार विदेशी व्यापार 104 करोड़ रुपये के अनुकूल हुआ है परन्तु 1973-74 में यह फिर 432 करोड़ रु. का घाटा का हो गया है। इस वर्ष खाद, अनाज तथा पैट्रोलियम के आयात में काफी व द्धि हुई। 1976-77 में यह फिर एक बार 72 करोड़ रुपये का अनुकूल हो गया। इस वर्ष अनाज, पैट्रोलियम तथा खाद के आयात पिछले वर्ष की तुलना में कम किये गये। इसके बाद से ही व्यापार शेष का घाटा बढ़ता जा रहा है। 1984-85 में व्यापार शेष का घाटा 5,390 रुपये था। परन्तु 1992-93 में यह बढ़कर 9,687 करोड़ रुपये हो गया है। इसका मुख्य कारण 1992-93 के निर्यात में 22% व द्धि होना तथा आयात में 32% व द्धि होना है। परन्तु 1994-95 में व्यापार शेष का घाटा बढ़कर 7,297 करोड़ रु. रह गया। इसका कारण यह था कि निर्यात में 18.56% की व द्धि हुई जबकि आयात में केवल 23% व द्धि हुई। 2000-2001 में यह घाटा बढ़कर 27,307 करोड़ रुपये हो गया। इसका कारण निर्यातों में केवल 12% की व द्धि होना और आयातों में 16.2% व द्धि होना था।

भारत में विदेशी व्यापार के असन्तुलित होने के कई मनुष्य कारण हैं जैसे—(1) मशीनों की अधिक आयात (2) युद्ध सामग्री के आयात में व द्धि (3) पैट्रोलियम की कीमत में व द्धि (4) निर्यात व्यापार में अपेक्षाक त कम व द्धि (5) विदेशी ऋणों के अधिक होने के कारण ब्याज का अधिक भुगतान (6) निर्यात वस्तुओं की मांग का कम होना।

विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएं—

Main Features of Foreign Trade—

स्वतन्त्रता के बाद भारत में विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) कुल राष्ट्रीय आय का बढ़ता हुआ प्रतिशत (Increase Share of gross National Income)—भारत के विदेशी व्यापार का कुल राष्ट्रीय आय में काफी महत्व है। 1950-51 में भारत का विदेशी व्यापार (आयात + निर्यात) शुद्ध राष्ट्रीय

आय का 12% था। 2000-2001 में यह बढ़कर शुद्ध राष्ट्रीय आय का 26% हो गया है।

(2) **संसार के विदेशी व्यापार में घटता हुआ भाग (Less percentage of World Trade)**—संसार के विदेशी व्यापार में भारत के विदेशी व्यापार का भाग घटता जा रहा है। 1950-51 में संसार के कुल आयात व्यापार में भारत का भाग 1.8% था तथा निर्यात व्यापार में 2% था सन् 2000-2001 में आयात व्यापार में भारत का भाग कम होकर 0.79% तथा निर्यात व्यापार में 0.8% हो गया है।

(3) **समुद्री व्यापार (Oceanic Trade)**—भारत का अधिकांश व्यापार समुद्री मार्ग में होता है। भारत के पड़ोसी देशों जैसे नेपाल, अफगानिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, आदि से व्यापारिक सम्बन्ध काफी कम हैं। इसलिए भारत का 68% विदेशी व्यापार समुद्री व्यापारी है।

(4) **थोड़े बन्दरगाह पर निर्भर (Independance on a few Ports)**—भारत का विदेशी व्यापार विशेष रूप से मुम्बई, कोलकाता और चेन्नई के बन्दरगाहों द्वारा होता है। इसके फलस्वरूप इन बन्दरगाहों पर काफी दबाव रहता है अब भारत सरकार ने कांडला, कोचीन, विशाखापटनम आदि बन्दरगाहों का विकास किया है।

(5) **व्यापार के परिणाम तथा मूल्य में व द्धि (Increase in Volume and Value of Trade)**—स्वतन्त्रता के बाद भारत के विदेशी व्यापार का परिमाण तथा मूल्य बढ़ गये हैं। भारत अब पहले से कई गुणा अधिक मात्रा तथा मूल्य की वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करता है। सन् 1939 में आयात 152 करोड़ रुपये के तथा निर्यात 169 करोड़ रुपये के हुए। भारत के विदेशी व्यापार का कुल मूल्य 321 करोड़ रुपये का था। स्वतन्त्रता के समय 1948-49 में कुल विदेशी व्यापार 792 करोड़ रुपये का था। 2000-2001 में यह बढ़कर 433444 करोड़ रुपये का हो गया। इस वर्ष 203571 करोड़ रुपये के मूल्य का निर्यात तथा 230873 करोड़ रुपये का आयात किया गया।

(6) **निर्यात व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन (Change in the composition of Export)**—स्वतन्त्रता के बाद भारत के निर्यात व्यापार के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत क षि वस्तुओं तथा कच्चा माल जैसे—पटसन, कपास, चाय, तिलहन, चमड़ा, अनाज, काजू तथा खनिज पदार्थों का निर्यात करता था। बहुत सा तैयार माल भी निर्यात किया जाता था। अब भारत तैयार माल जैसे मशीनें, सिले सिलाए कपड़े हीरे जवाहारात, चाय, जूट का तैयार सामान, काजू, इलैक्ट्रोनिक्स के समान आदि का भी निर्यात काफी मात्रा में करने लगा है।

(7) **आयात व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन (Change in the Composition of Imports)**—स्वतन्त्रता के पश्चात भारत के आयात व्यापार के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है स्वतन्त्रता से पहले भारत अधिकतर उपभोग वस्तुओं जैसे दवाइयां, कपड़ा, मोटर गाड़ियां, बिजली का सामान, लोहा, इस्पात आदि का आयात करता था। परन्तु अब पैट्रोल, मशीनें, रसायन, खाद, तिलहन, कच्चे माल, इस्पात, तेल आदि का आयात अधिक मात्रा में किया जाता है।

(8) **विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of Foreign Trade)**—किसी देश के विदेशी व्यापार की दिशा से हमारा अभिप्राय उन देशों से होता है जिसके साथ व्यापार किया जाता है। विदेशी व्यापार की दिशा में निम्नलिखित मुख्य परिवर्तन हुए हैं—(i) युद्ध से पूर्व 1938 में भारत का सबसे अधिक विदेशी व्यापार इंग्लैंड से होता था। भारत के निर्यात व्यापार का 34% तथा आयात व्यापार का 31% भाग इंग्लैंड से होता था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद इसमें काफी कमी आ गई। 1998-99 में भारत के निर्यात व्यापार में इंग्लैंड का भाग 5.7% तथा आयात में 6.1% तथा यूरोपियन यूनियन का भारत के निर्यात तथा आयात में सबसे अधिक भाग है 1998-99 में भारत के निर्यात में इन देशों का भाग 26% था तथा आयात में 23.6% था। भारत के विदेशी व्यापार में पेट्रोल निर्यात में इन देशों जैसे—ईरान, इराक सऊदी अरब आदि का महत्व भी पहले से बढ़ गया है। सन् 1998-99 में इन देशों का भारत के आयात व्यापार में भाग 18.7% था तथा निर्यात में 10.5% था। यू. एस. ए. का आयात में भाग 8.9% तथा निर्यात में 19.5% है। भारत का विदेशी व्यापार, रूस, हंगरी, पोलैंड तथा दूसरे कई देशों से बढ़ गया है। सन् 1998-99 में रूस का भारत के आयात व्यापार में भाग 1.3% था तथा निर्यात व्यापार में 2.1% था। भारत के विदेशी व्यापार में जापान का महत्व काफी बढ़ गया है। 1998-99 में निर्यात व्यापार में जापान का भाग 4.9% था। जापान से किए जाने वाले आयात 5.7% हो गये।

(9) **व्यापार शेष (Balance of Trade)**—स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का व्यापार शेष अनुकूल रहा। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद यह प्रतिकूल हो गया अर्थात् आयात बढ़ गये एवं निर्यात कम हो गये। सन् 1944-45 में व्यापार शेष 42 करोड़ रुपये के मूल्य का भारत के पक्ष में था। सन् 1946 में ही व्यापार शेष प्रतिकूल होना शुरू हो गया। 2000-2001 में व्यापार शेष का घाटा 27,307 करोड़ रुपये का था। योजनाओं की अवधि में केवल 1972-73 तथा 1976-77 के दो वर्षों में ही भारत का व्यापार शेष अनुकूल रहा है।

(10) **Dependent Trade**—भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशी जहाज कम्पनियों, बीमा कम्पनियों तथा बैंकों पर

निर्भर रहता है। स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान देना शुरू किया है। पंचवर्षीय योजनाओं में व्यापारिक समुद्री जहाजों का भारत में ही निर्माण शुरू किया गया है। भारतीय बैंकों तथा बीमा कम्पनियों ने भी इस ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ कर दिया है।

11. **State Control on Foreign Trade**—भारत सरकार विदेशी व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। सरकार की विदेशी व्यापार की नीति का प्रमुख उद्देश्य निर्यात को बढ़ावा देना है। अनावश्यक वस्तुओं का आयात बिल्कुल बन्द है। निर्यात को बढ़ाने के लिए कई संस्थाएं स्थापित की गई हैं। जैसे—(i) Board of Trade (ii) Export Promotion Councils (iii) Export Inspection Advisory Councils (iv) Export Credit and Guarantee Corporation. (v) Director of Exhibition.
12. **Foreign Trade by the Gorenment:**—सरकार ने विदेशी व्यापार चलाने के लिए कई निगम स्थापित किये हैं। जैसे—(i)State Trading Corporation की स्थापना 1956 की गई थी। निगम ने 2000-2001 में लगभग 1,339 करोड़ रुपये का विदेशी व्यापार किया था। (ii) खनिज तथा धातु व्यापार निगम (Mineral and Metals Trading Corporation) की स्थापना 1963 में खनिज पदार्थों तथा धातुओं का निर्यात करने के लिए की गई है।
13. **Export Import Ratio:**—निर्यात आयात अनुपात से अभिप्राय है कि निर्यात से प्राप्त होने वाली आय के द्वारा कुल आयात को कितने प्रतिशत मूल्य का भुगतान किया जा सकता है। सन् 1991-92 में निर्यात आयात अनुपात 87 प्रतिशत था अर्थात् कुल आयात को 13 प्रतिशत का भुगतान सुरक्षित साधनों या विदेशों से कर्ज लेकर करना पड़ता था। सन् 1999-2000 में यह बढ़कर 86 हो गया अर्थात् कुल आयात के केवल 14 प्रतिशत भाग का भुगतान विदेशों से ऋण लेकर या सुरक्षित निधि द्वारा पूरा करना पड़ता है।

Main Imports and Exports of India

भारत लगभग 7,500 वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करता है। भारत के आयात तथा निर्यात निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। 2000-2001 में 2,30,873 करोड़ रुपये के आयात किये गये जबकि 1950-51 में केवल 650 करोड़ रुपये के आयात किये गये थे। इसी प्रकार 2000-2001 में 2,03,571 करोड़ रुपये के निर्यात किये गये जबकि 1950-51 में केवल 600 करोड़ रुपये के निर्यात किये गये।

Chief Imports—भारत के आयातों का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन भागों में किया जाता है। इनका मूल्य तथा कुल आयात में प्रतिशत निम्नलिखित तालिका से ज्ञात किया जा सकता है:—

Principal Imports (Rs. Crore)

Commodity	1970-71		1999-2000	
	Imports	Percentage of Total Imports	Imports	Percentage of Total Imports
1. Food products and Allied Products	242	14.81	11,456	5.6
2. Raw Materials (Fuel) and Intermediate manufactures and others	889	60.47%	1,69,803	83
3. Capital Goods	404	24.72	23,324	11.4
Total Imports (including others)	1,535	100	2,30,873	100

(Source : Economic Survey, 2002)

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि भारत के कुल आयात का 78.4 प्रतिशत भाग कच्चे माल तथा मध्यवर्ती तैयार माल अर्थात् पैट्रोल, काजू, कपास, ऊन, खाद, जवाहारात के पत्थरों आदि का है। भारत मुख्य रूप से निम्नलिखित वस्तुएं दूसरे देशों से मंगवाता है:—

1. **Machinery :**—भारत के औद्योगिकीकरण की आवश्यकताओं के कारण सबसे अधिक आयात मशीनों का किया जाता है। इन मशीनों का अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी, जापान, रूस तथा पूर्वी यूरोप से आयात किया जाता है। 2000-2001 में 19,142 करोड़ रुपये की मशीनों का आयात किया गया।
2. **लोहा और इस्पात (Iron and Steel)**—भारत अभी तक लोहे एवं इस्पात के उत्पादन में आत्मनिर्भर नहीं हुआ है। अतः

प्रतिवर्ष काफी इस्पात विदेशों से मंगवाना पड़ता है यह अधिकरत जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैंड, इटली तथा फ्रांस से मंगवाया जाता है। 2000-2001 में 3569 करोड़ रुपये का लोहा तथा इस्पात बाहर से मंगवाया गया।

3. **लौह-हीन धातुएं तथा धातुओं का समान (Non-Perrous Metals and Metal Products)**—लौह हीन धातुओं जैसे—जस्ता, तांबा, टीन तथा इन धातुओं द्वारा निर्मित पदार्थ हमें दूसरे देशों से मंगवाने पड़ते हैं। ये धातुएं मलाया, ब्राजील, अमेरिका आदि देशों से मंगवाई जाती है। 2000-2001 में 2462 करोड़ रुपए की वस्तुएं गई। भारत में अब इनका उत्पादन बढ़ गया है।
4. **पैट्रोल तथा पैट्रोल उत्पादन (Petroleum and Petroleum Products)**—भारत अपनी मांग का 35% पैट्रोल विदेशों से मंगवाता है। यह पैट्रोल ईरान, कुवैत, इराक तथा सउदी अरब से आता है। 2000-2001 में 71,497 करोड़ रुपये का पैट्रोल तथा अन्य पैट्रोल उत्पादन मंगवाया गया। बम्बई के समुद्र से पैट्रोल निकालने के कारण अब हमें बाहर से पैट्रोल का कम आयात करना पड़ता है। इस समय भी कुल निर्यात का 19% पैट्रोल के आयात पर खर्च किया जाता है।
5. **यातायात के साधन (Transport Equipment)**—देश के आर्थिक विकास के लिए यातायात के साधनों की बहुत आवश्यकता है। इसके लिए मोटरे, समुद्री जहाज, हवाई जहाज आदि दूसरे सामान विदेशों से मंगवाने पड़ते हैं। यातायात का सामान अधिकतर जर्मनी, इटली, जापान अमेरिका तथा ब्रिटेन से आयात किया जाता है। 2000-2001 में 4353 करोड़ रुपये का यातायात का सामान विदेशों से आयात किया गया।
6. **रासायनिक खाद (Chemical Fertilizers)**—भारत में क षि उत्पादन को विकसित करने के लिये खाद की बहुत आवश्यकता है। अतः रासायनिक खाद काफी मात्रा में आयात की जा रही है। यह खाद अमेरिका, रूस, F.E.C के देशों से विशेष रूप से आयात की जाती है। 2000-2001 में 3034 करोड़ रुपए की खाद का आयात किया गया।
7. **खाद्यान्न (Foodgrains)**—विभाजन के बाद खाद्यान्नों की देश में बहुत कमी हो गई थी। इस कमी को आयात द्वारा पूरा किया जाता है। खाद्यान्न अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाड़ा, बर्मा तथा अर्जेन्टाइना से मंगवाए जाते हैं। सन् 1975 में 1058 करोड़ रुपये के खाद्यान्न आयात किये गये। परन्तु हरित क्रान्ति के कारण 1978, 1979 तथा 1980 में खाद्यान्न के आयात बहुत कम हो गए। 2000-2001 में केवल 90 करोड़ रुपये के खाद्यान्न विदेशों से आयात किये गये।
8. **काजू (Cashewnuts)**—भारत में विदेशों से कच्चा माल आयात किया गया है। इसे तैयार करके पुनः निर्यात कर दिया जाता है। वर्ष 1970-71 में 29 करोड़ रुपये के काजू आयात किये गये। 2000-2001 में काजू के आयात बढ़ कर 962 करोड़ रुपये के हो गये।
9. **कागज (Papers)**—भारत, स्वीडन, चैकोस्लोवाकिया, आदि कई देशों से कागज का भी आयात करता है। 2000-2001 में विदेशों से 2005 करोड़ रुपये का कागज तथा कागज का तैयार माल आयात किया गया जबकि 1970-71 में केवल 25 करोड़ रुपये का कागज विदेशों से आयात किया गया था।
10. **रसायन (Chemicals)**—भारत में विदेशों से कई प्रकार के रसायन, दवाइयां, रंगने का सामान आदि मंगवाएं जाते हैं। 2000-2001 में 1,542 करोड़ रुपये के रसायनों तथा 1,502 करोड़ रुपये की दवाइयों का आयात किया गया।
11. **खाद्य तेल (Edible Oil)**—भारत में पिछले कुछ वर्षों में खाने के तेलों तथा तिलहन के आयात काफी बढ़ गये हैं सन् 1975-76 में केवल 14 करोड़ रुपये के तेलों का आयात किया गया था। परन्तु 2000-2001 में इनके आयात बढ़कर 6093 करोड़ रुपये के हो गये। तेलों का आयात अधिकतर यू. एस. ए., कनाड़ा आदि से किया जाता है।

(12) **हीरे जवाहारात (precious Stones)**—भारत में हीरे जवाहारात के आयात पहले से काफी बढ़ गये हैं तराश कर दोबारा निर्यात कर दिया जाता है। ये अधिकतर बैल्जियम, दक्षिणी अफ्रीका, अमेरिका आदि देशों से आते हैं। 2000-2001 में 22101 करोड़ रुपये के हीरे जवाहारात आयात किये गये।

(13) **प्लास्टिक (Plastic)**—भारत में प्लास्टिक के आयात काफी बढ़ गये। प्लास्टिक, अधिकतर U.S.A., U.K. जापान आदि देशों से भी मंगवाया जाता है। 1970-71 में केवल 8 करोड़ रुपये के प्लास्टिक का सामान आयात किया गया था। परन्तु 2000-2001 में 2,781 करोड़ रुपये का प्लास्टिक का आयात किया गया।

मुख्य निर्यात (Main Exports)—स्वतन्त्रता के पश्चात देश के निर्यात बढ़ाने के विशेष प्रयत्न किये गये हैं। नौवीं योजना के प्रथम वर्ष 1997-98 में निर्यातों में केवल 6.3% की व द्धि हुई। भारत में निर्यातों का चार भागों में वर्गीकरण किया जाता है। इनका कुल मूल्य तथा कुल निर्यात में प्रतिशत मांग निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

India's Principal Exports and their percentage

Commodity	1970-71		2000-2001	
	Rs.(Crores)	**Percentage in** Togal Exports	**Rs.** Crores	**Percentage** Share in total Exports
(1) Agricultural and Allied Products	487	31.0	28,535	12.5
(2) Minerals	164	10.7	4,139	2.6
(3) Manufacture ofgoods and others	872	56.8	160771	80.0
(4) Mineral fuels andothers	13	0.8	10126	4.9
Total Exports	**1,536**	**100**	**203571**	**100**

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि 1970-71 में भारत का क षि पदार्थों के निर्यात में 31.7 प्रतिशत भाग था। परन्तु अब यह कम होकर 2000-2001 में 12.5 प्रतिशत रह गया है वर्ष 1970-71 में खनिज पदार्थों का कुल निर्यात में भाग 10.7% या परन्तु अब यह कम हो कर 2.6% रह गया। वर्ष 1970-71 में कुल निर्यात में तैयार माल का भाग 56.8% था। अब यह बढ़कर 80.5% हो गया। खनिज तेलों एवं अन्य का कुल निर्यात में भाग 4.9% हो गया भारत के कुछ निर्यात इस प्रकार हैं:—

(1) **पटसन का सामान (Jute Products)**—भारत के निर्यातों में पटसन के सामान का स्थान सबसे पहला था परन्तु 1999-2000 में यह 30 वां हो गया। यह भारत के लिए डालर कमाने का प्रमुख साधन था। पटसन की बनी वस्तुएं अधिकतर अमेरिका, अर्जेन्टीना, आस्ट्रेलिया, रूस, ब्रिटेन तथा कनाड़ा को जाती है। 2000-2001 में 933 करोड़ रुपये के सामान का निर्यात किया गया। पटसन के निर्यात कम होने का मुख्य कारण एक तो बंगला देश, थाईलैंड आदि देशों से प्रतियोगिता तथा दूसरा पटसन के सामान के स्थान पर अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है।

(2) **चाय (Tea)**—संसार में चाय का सबसे अधिक निर्यात भारत में किया जाता है। 2000-2001 में 1,766 करोड़ रुपये की चाय विदेशों को भेजी गई है चाय के प्रमुख ग्राहक ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका कनाड़ा, मिश्र, ईराक तथा आस्ट्रेलिया है। आजकल रूस को भी काफी चाय भेजी जाती है। भारत में सर्वाधिक चाय ब्रिटेन को भेजी जाती है।

(3) **सिले सिलाए कपड़े (Readymade Garments)**—भारत में सूती कपड़े तथा वस्त्रों का निर्यात किया जाता है। 2000-2001 में 16030 करोड़ रुपये सूती कपड़ा तथा हैण्डलूम का कपड़ा विदेशों को भेजा गया। भारत में सिले सिलाए कपड़ों का निर्यात बढ़ता जा रहा है। सन् 1970-71 में केवल 29 करोड़ रुपये से सिले सिलाए कपड़े विदेशों को निर्यात किए गए थे। जबकि 2000-2001 में 25478 करोड़ रुपये के सिले सिलाए कपड़े निर्यात किए गए। 2000-2001 कपड़े के प्रमुख ग्राहक आस्ट्रेलिया, पूर्वी अफ्रीका, श्रीलंका, मलाया, बर्मा, भूटान, इण्डोनेशिया तथा यूरोपियन समुदाय के देश हैं।

(4) **कच्ची धातुएं (Metallic Ores)**—भारत में कच्ची धातुएं जैसे मैगनीज, अभ्रक तथा लोहा विदेशों को भेजा जाता है। ये धातुएं अमेरिका तथा जापान आदि देशों को भेजी जाती हैं। 2000-2001 में कुल मिलाकर 1634 करोड़ रुपये मूल्य का लोहा 41 करोड़ का अभ्रक तथा 17 करोड़ रुपये का मैगनीज विदेशों को भेजा गया।

(5) **मसालें (Spices)**—भारत से कई प्रकार के मसाले जैसे काली मिर्च आदि का निर्यात किया जाता है। यह निर्यात इंग्लैंड, जर्मनी, इटली, फ्रांस ईरान, सऊदी अरब, अमेरिका आदि देशों को किया जाता है। 2000-2001 में 1619 करोड़ रुपये के मसाले विदेशों को भेजे गये।

(6) **चमड़ा तथा चमड़े का सामान (Leather and Leather Products)**—भारत से चमड़ा, जूते तथा चमड़े का दूसरा सामान विदेशों को भेजा जाता है इसके मुख्य ग्राहक इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी के रूस आदि देश हैं। 2000-2001 में 8914 करोड़ रुपए के मूल्य का चमड़े का सामान विदेशों को भेजा गया। जबकि 1970-71 में केवल 80 करोड़ रुपये का चमड़े का सामान विदेशों को भेजा गया।

(7) खल (Oil Cakes)—भारत से खल भी काफी मात्रा में निर्यात की जाती है। इसके मुख्य ग्राहक जापान, नीदरलैंड तथा ब्रिटेन आदि देश हैं। 2000-2001 में 2045 करोड़ रुपये की खल का निर्यात किया गया। जबकि 1970-71 में 55 करोड़ रुपये की खल का निर्यात किया गया। खल के निर्यात में होने वाली व द्धि वास्तव में मूल्य के बढ़ जाने के कारण है।

(8) तम्बाकू (Tobacco)—भारत से तम्बाकू भी काफी निर्यात होता है। भारत से तम्बाकू मुख्य रूप से इंग्लैंड, जापान, रूस तथा नेपाल को निर्यात किया जाता है। 1970-71 में भारत से 491 लाख k. g. तम्बाकू जिसकी कीमत 33 करोड़ रुपये की थी निर्यात किया गया 2000-2001 में तम्बाकू के निर्यात का मूल्य 871 करोड़ रुपये हो गया।

(9) कॉफी (Coffee)—भारत में कॉफी का निर्यात बढ़ता जा रहा है। भारत से कॉफी U.S.A. इटली तथा हंगरी आदि देश को भेजी जाती है 2000-2001 में 1,185 करोड़ रुपये की कॉफी का निर्यात किया गया। जबकि 1970-71 में केवल 25 करोड़ रुपयें की कॉफी का निर्यात किया गया था।

(10) काजू (Cashew, Kernels)—काजू के निर्यात से भारत को काफी लाभ प्राप्त होता है। भारत से काजू, रूस, अमेरिका तथा जापान आदि देशों को भेजे जाते हैं। 2000-2001 में 1883 करोड़ रुपये के काजू निर्यात किये गये।

(11) इन्जीनियरिंग का सामान (Engineering goods)—भारत से इन्जीनियरिंग का सामान श्रीलंका, सऊदी अरब, मिश्र, बर्मा, मलेशिया को भेजा जाता है। वर्ष 1970-71 में केवल 198 करोड़ रुपये का इन्जीनियरिंग का सामान विदेशों को निर्यात किया गया। परन्तु 2000-2001 में 26111 करोड़ रुपये का सामान निर्यात किया गया।

(12) हस्तकला (Handicrafts)—भारत के कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित हस्तकला का सामान जैसे हाथी दांत की वस्तुएं विदेशों को भेजी जाती है। ये वस्तुएं अमेरिका, जर्मनी, सऊदी अरब तथा मध्यपूर्व के देशों में भी जाती है। 2000-2001 में 5097 करोड़ रुपये के मूल्य का हस्तकाल का सामान निर्यात किया गया।

अध्याय 31
तटकरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता (गॉट)
(General Agreement on Tariff and Trade (GATT)

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों के मध्य विनिमय दर का निर्धारण एवं स्थायित्व प्राप्त करना दुर्लभ हो गया। अनेकों देशों ने अपने हितों की रक्षार्थ स्वार्थवश दूसरे देशों के हितों की उपेक्षा करके स्वतंत्र एवं स्वार्थपूर्ण नीति अपनायी। तीसा की महान मंदी के कारण कई देशों ने व्यापार पर विभिन्न प्रकार प्रतिबन्ध तथा सीमा प्रशुल्क लगाना शुरू कर दिया। द्वितीय महायुद्ध काल के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित नीतियों के निर्धारण एवं इनके कार्यान्वन के लिए विभिन्न देश संगठित हुए। विश्व के विभिन्न देशों के मध्य आपसी सहयोग की स्थापना तथा पारस्परिक व्यापार व द्वि हेतु ब्रेटन बुडस सम्मेलन बुलाया गया, जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) तथा विश्व बैंक की स्थापना की गई। इसी काल से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं रोजगार को प्रोत्साहन देने हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation-I.T.O.) की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की, परन्तु विभिन्न देश इस दिशा में काफी समय तक कोई निर्णय न ले सके। अन्ततः 1947 में हवाना अधिवेशन में ही एक समझौता हुआ, जिसको प्रशुल्क एवं व्यापार सामान्य समझौता'' की संज्ञा दी गई।

प्रशुल्क एवं व्यापार

सामान्य समझौता एक बहुपक्षीय संधि है, जिसमें पारस्परिक अधिकारों और दायित्वों को महत्व दिया जाता है। **लिप्से एवं स्टाइनर के अनुसार**, ''युद्धोपरान्त विश्व की सर्वाधिक उल्लेखनीय प्राप्तियों में प्रशुल्क एवं व्यापार सामान्य समझौता महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत सभी देश समय-समय पर मिलते हैं और प्रशुल्कों में कटौती के प्रश्न पर द्विपक्षीय रूप में समझौता वार्ता करते हैं ताकि सभी को लाभ हो सके।''

गॉट की स्थापना–

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व द्वि करने के लिए सन् 1947 में जिनेवा में एक बैठक हुई जिसके फलस्वरूप जनवरी, 1948 में गॉट की स्थापना हुई। इसके अन्तर्गत समझौता करने वाले दलों ने जो संबंधित नियम बनाये वे सदस्य देशों के व्यापारिक सम्बन्धों को लगभग सम्पूर्ण क्षेत्र में समन्वित करते हैं। इस समझौते की 1954-55 में पुनरीक्षा की गयी और इसमें कुछ संशोधन किए गये जिससे कम विकसित देशों के व्यापार तथा आर्थिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं को हल किया जा सके। इसे 1957 में व्यापार मंत्रियों की बैठक स्वीक त की गयी। इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए तीन समितियां स्थापित की गईं। इसने 1961 के अन्त में अपनी प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसका महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि इसमें कम विकसित देशों के व्यापार को प्रोत्साहन देने के संबंध में घोषणा की गई जिससे कम विकसित देशों के निर्यातों की समस्यायें दूर की जा सकें।

गाट सदस्य राष्ट्रों की स्वेच्छापूर्ण सामूहिक स्वीक ति पर आधारित एक संगठन है। इसमें प्रारम्भ में सदस्य संख्या 23 थी जो सन 1975 में बढ़कर 83 हो गयी है। साम्यवादी देशों ने अब तक इस संगठन की सदस्यता ग्रहण नहीं की है। जब किसी नये देश को सदस्य बनाया जाता है तब दो तिहाई सदस्यों की सहमति इसके लिए आवश्यक होती है। समझौते में दी गई आचार संहिता का पालन करना सभी के लिए अनिवार्य है। इस समझौते के प्रति सभी सदस्य देशों का दायित्व रहता है। यह समझौता निम्नलिखित महत्वपूर्ण सिद्धांतों पर आधारित है :–

(1) विभिन्न देशों के मध्य बिना भेदभाव के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाय,

(2) विदेशी व्यापार को प्रभावित करने हेतु केवल प्रशुल्क दरों का आश्रय लिया जाय,

(3) किसी भी देश द्वारा दूसरे देश के साथ भेदभाव पूर्ण नीति अपनाने से पूर्व वह संबंधित देश के साथ विचार विमर्श करें,

(4) तटकरों में परस्पर विचार विमर्श के माध्यम से ही प्रशुल्क दरों में कमी की जाय।

इस ''समझौते'' को चार भागों में बांटा गया है–

पहले भाग में सदस्य देशों के कर्त्तव्यों का विवरण है। दूसरे भाग में न्यायपूर्ण व्यापार के लिए आचरण की संहिता है। तीसरे भाग में सदस्य बनने तथा सदस्यता के परित्याग से सम्बद्ध नियमावली है। चौथे भाग में विकासशील देशों के व्यापार के विस्तार से सम्बन्धित विवरण हैं। इसमें विकासशील देशों को दी जाने वाली विशेष रियायतों का भी विवरण दिया गया है। परन्तु इसमें यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि बदले में विकासशील देशों के लिए तटकरों में कमी करना आवश्यक नहीं है। इन देशों को यह भी सुविधा दी गई है कि वे भुगतान सम्बन्धी कारणों से आयात कोटा निश्चित कर सकते हैं।

तटकरों एवं व्यापार के सामान्य समझौते के उद्देश्य (Objectives of GATT)

गॉट की स्थापना का प्रारम्भ में उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक लाभों की व्यवस्था करना था तथा इसके लिए व्यापार के प्रतिबन्धों तथा सीमा प्रशुल्कों में कटौती करना था। सदस्य राष्ट्रों के बीच विचार विमर्श एवं वार्ताओं के आयोजनों के माध्यम से तय किया गया कि निम्नांकित उद्देश्यों की पूर्ति की जायेगी–

(1) सदस्य राष्ट्रों के निवासियों के जीवन स्तर को उन्नत करना;
(2) सदस्य देशों के व्यापार में व द्धि करके पूर्ण रोजगार की दिशा में अर्थव्यवस्था को प्रव त करना तथा वास्तविक आय एवं प्रभावी मांग के परिणाम में व द्धि करना;
(3) विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उत्पादन में व द्धि करना;
(4) संसार के विभिन्न मानवीय एवं प्राक तिक साधनों का अधिक से अधिक उपयोग करना;
(5) स्वतंत्र व्यापार को बढ़ावा देना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बिना भेदभाव के प्रोत्साहित करना अथवा भेदभावपूर्ण व्यवहार को समाप्त करना।
(6) अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी को उत्पादक निवेश के लिए प्रोत्साहित करना।

समझौते के किसी भी अनुच्छेद में प्रत्यक्ष रूप से उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कोई प्रावधान नहीं है परन्तु ऐसा माना जाता है कि संसार के विभिन्न देशों के मध्य व्यापार को बहुमुखी पद्धति के आधार पर इस प्रकार समायोजित किया जाय कि प्रशुल्क दरों में कटौती करके इन्हें कम से कम स्तर पर लाया जाय जिससे इन देशों का आर्थिक विकास उन्नतिशील हो तथा आय एवं रोजगार के स्तर में सुधार हो। द्वितीय महायुद्ध काल में तथा उसके उपरान्त प्रशुल्क दरों एवं व्यापार प्रतिबन्धों में काफी व द्धि कर दी गई थी तथा उनमें कमी करने की आवश्यकता को बहुत अधिक अनुभव किया जा रहा था इसलिए प्रशुल्क दरों एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धों को पूर्णतः समाप्त न करके इन्हें काफी कम करने का प्रस्ताव रखा गया। सदस्य राष्ट्रों को यह मानना है कि कुछ-कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। परन्तु प्रशुल्क दरों में कभी भेदभाव की व्यापार नीति की समाप्ति दोनों पक्षों की तरफ से होनी आवश्यक है। ''समझौते में जोड़े गये नव-निर्मित अध्याय में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि विकसित देशों को यह अपेक्षा कदापित नहीं करनी चाहिए कि उनके द्वारा दी गई सुविधाओं के बदले विकासशील देश भी व्यापार की शर्तों एवं प्रशुल्क दरों में छूट देंगे या प्रतिबन्धों को समाप्त कर देंगें।

गॉट के सिद्धान्त (Principles of GATT)

''प्रशुल्क दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौते'' के विभिन्न सदस्य राष्ट्रों के मध्य समय-समय पर प्रशुल्क दरों तथा अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर गोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। जिनके आधार पर निम्नांकित तीन सिद्धांत हैं:–

1. विभेदात्मक नीति की समाप्ति
2. आयात पर मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध।
3. प्रशुल्क दरों में कटौती हेतु मंत्रणायें।

(1) विभेदात्मक नीति की समाप्ति–विदेशी व्यापार में विभिन्न देशों के बीच विभेदात्मक नीति न अपनाई जाय इस हेतु समझौते में भाग लेने वाले राष्ट्रों के द्वारा 'सबसे अधिक प्रिय देश' का सिद्धांत प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सदस्य देश के साथ अन्य देशों की भांति ही व्यवहार किया जाता है तथा किसी एक सदस्य देश को दी रियायत स्वतः ही अन्य सदस्य देशों के लिए भी उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार प्रशुल्क बैठकों में जबकि दो देशों के बीच मंत्रणा होती है, तब भी इसके अन्तर्गत प्रशुल्क दरों में दी जाने वाली छूट समझौते के सभी सदस्य देशों को प्राप्त हो जाती है।

फिर भी विशिष्ट मामलों में कठिनाइयां कम करने के लिए कुछ विशेष परिस्थिति में विभेदात्मक नीति को अपनाने की छूट दी गयी है। परन्तु इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि किसी भी नयी प्राथमिकता का निर्माण नहीं किया जायेगा और न ही व्यापार में प्रचलित प्राथमिकता में ही व द्धि की जायेगी। नई प्राथमिकताओं के अपनाने पर नियन्त्रण लगाने पर भी पूर्ण प्राथमिकता वाली प्रणाली अपनाने वाली व्यवस्थायें—जैसे चुंगी संघ, स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र आदि के निर्माण की अनुमति दी गयी है। परन्तु इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि इनका उद्देश्य अन्य देशों के विरुद्ध व्यापार प्रतिबन्धों में व द्धि करने का न होकर सदस्य देशों के बीच व्यापार को प्रोत्साहित करने का हो।

इसी संदर्भ में एक बैठक में भारतीय प्रतिनिधि ने कहा कि व्यवहार में समानता तभी न्यायपूर्ण है जब यह समान स्तर के देशों से सम्बन्धित हो। इसी आधार पर विकासशील देशों ने किसी सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेदभावपूर्ण नीति अपनाने की छूट चाही थी। इस प्रकार विदेशों में कम मूल्य पर बेचने की नीति एवं निर्यात अनुदानों के विरोध में क्षतिग्रस्त देश भी कोई कदम उठा सकते हैं। समझौते के अन्तर्गत प्रशुल्क दरों में आर्थिक प्राथमिकताओं का निषेध है फिर भी कस्टम यूनियनों एवं मुक्त व्यापार क्षेत्रों के रूप में ''पूर्ण प्रशुल्क प्राथमिकताओं को मान्यता दी गयी है।

(2) आयात पर मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध—सैद्धान्तिक तौर पर समझौते में आयात पर मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध का पूर्णतः निषेध है। परन्तु अपवाद स्वरुप तीन परिस्थितियों में इसकी छूट दी जाती है। वह परिस्थितियां निम्नांकित हैं—

(1) सम्बद्ध देश अत्यधिक प्रतिकूल भुगतान संतुलन की स्थिति में आयात कोटों का आश्रय ले सकते हैं। परन्तु वे ऐसा करने में उसी सीमा तक स्वतंत्र है जहां तक आयात कोटों के माध्यम से वे अपने सुरक्षित कोषों को बचाने या इनमें संभावित भारी कमी को रोक सकते हों। परन्तु आयात कोटों का इस रूप में उपयोग केवल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्वीक ति लेकर ही किया जा सकता है।

(2) सामान्य समझौते की स्वीक ति प्रक्रिया के अनुसार विकासशील राष्ट्र आर्थिक विकास के उद्देश्य से मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा सकते हैं।

(3) क षि तथा मछली आदि वस्तुओं के परिमाणात्मक प्रतिबन्ध केवल उस दशा में ही लागू किये जायेंगे जबकि इनका देश में उत्पादन भी उस प्रकार के प्रतिबंधों के अन्तर्गत किया जाता रहा हो।

(3) प्रशुल्क दरों में कटौती हेतु मंत्रणायें—समझौते के अठाहरवें अनुच्छेद में ये स्पष्टीकरण दिया गया है कि अनुबन्ध में सम्मिलित देश इस सिद्धांत में विश्वास रखते हों कि प्रशुल्क दरों का व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसी समझौते में यह प्राविधान भी है कि विभिन्न देशों के बीच आयात व निर्यात से सम्बद्ध मंत्रणाओं द्वारा प्रशुल्क दरों एवं अन्य करों में पर्याप्त कमी करने के लिए विशेष रूप से ऐसी प्रशुल्क दरों को कम करने के लिए जो न्यूनतम मात्रा में भी आयात न करने दें। प्रशुल्क मंत्रणाओं का आयोजन पारस्परिक सद्भावना व सद्विश्वास पर आधारित होना चाहिए तथा विकासशील देशों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लचीली संरक्षणात्मक प्रशुल्क नीति के माध्यम से आर्थिक विकास करना चाहिए। प्रशुल्क मंत्रणायें सामान्यतः निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित होती हैं:—

(i) पारस्परिक आदान प्रदान—प्रशुल्क मंत्रणायें प्रत्येक वस्तु के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान पर आधारित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि एक देश दूसरे देश को प्रशुल्क दर में छूट देता है तो दूसरे देश को भी पहले देश को इसमें छूट देनी होगी लेकिन यह सिद्धांत विकासशील देशों पर लागू नहीं होगा।

(ii) प्रशुल्क दरों को सीमित करना—इन मंत्रणाओं का प्रयोजन ऊंची प्रशुल्क दरों को कम करना तथा नीची दरों के स्तर को बनाये रखना होना चाहिए। यह प्रावधान उन देशों के हितों की रक्षा के लिए रखा गया जिनकी प्रशुल्क दर पहले से कम है तथा जो मंत्रणाओं के समय कोई भी छूट देने में असमर्थ है।

(iii) प्राथमिकता दरें और प्राथमिकता मार्जिन—प्राथमिता का मार्जिन नापने के लिए सबसे अधिक प्रिय देश के लिए निर्धारित प्रशुल्क दर और उसी वस्तु के लिए प्राथमिकता दर के बीच विद्यमान वास्तविक अन्तर को देखना चाहिए न कि इन दोनों दरों का आनुपातिक सम्बन्ध। इस प्रकार यदि सबसे प्रिय देश की दर कम कर दी जाये तो प्राथमिकता का मार्जिन स्वतः ही कम हो जायेगा। इसके विपरीत यदि सबसे अधिक प्रिय देश की प्रशुल्क दर बढ़ाई जाये तो प्राथमिकता का मार्जिन बढ़ जायेगा।

(iv) बंधी हुई तथा खुली हुई प्रशुल्क दरें—जब एक बार प्रशुल्क की दर अनुसूची में शामिल कर ली जाती हैं और इसमें व द्धि की किसी प्रकार की संभावना नहीं रह जाती तो उसे बंधी हुई प्रशुल्क दरें कहते हैं। ये प्रशुल्क दरें सन् 1948 से सन

1950 तक प्रचलित रहीं। तत्पश्चात सदस्य राष्ट्र को स्वतन्त्रता दे दी गई है कि वह दूसरे देश के साथ मंत्रणा करके उस रियायत (जो प्रशुल्क रियायत समझौते में वर्णित है) को वापस ले ले अथवा उसमें संशोधन कर ले। समय-समय पर सदस्य राष्ट्रों ने इस अनुसूची में वर्णित रियायतों की अवधि में भी परिवर्तन किए हैं। लेकिन नई अवधि के अन्तर्गत प्रशुल्क रियायतों को लागू करने के पूर्व सदस्य राष्ट्रों को आपस में विचार विमर्श करने की स्वतंत्रता दी गई है।

गॉट के विभिन्न सम्मेलन

गॉट के सदस्य राष्ट्रों ने आयात करों में स्थिरता एवं कमी लाने के लिए सन 1947 से 1968 के बीच छह प्रशुल्क अधिवेशन हुए। ये क्रमशः 1947 में जेनेवा में, 1948 में अनेसी में, 1950-51 में तोरके (Torquay) में, 1956 में जेनेवा में, 1960-62 में पुनः जेनेवा में, तथा 1964-68 में ब्रूसेल्स में हुए। इन अधिवेशनों में प्रत्येक वस्तु के बारे में विचार विमर्श हुए। विभिन्न प्रशुल्क वार्ता सम्मेलनों में लिए निर्णय निम्नांकित हैं।

प्रथम प्रशुल्क वार्ता : जेनेवा अधिवेशन

गॉट के सदस्य राष्ट्रों ने प्रशुल्क दरों में कमी करने हेतु प्रथम शुल्क वार्ता जेनेवा में आयोजित की। यह वार्ता सन 1947 में 10 अप्रैल से 30 अक्टूबर तक चली जिसमें 23 देशों ने हिस्सा लिया। इस समय गॉट का स्वरूप अस्थायी प्रक ति का था तथा इसका स्थायी स्वरूप सन् 1948 में ही बना। अस्थायी स्वरूप होते हुए इस अधिवेशन में विचार विमर्श के पश्चात निम्न प्रकार की प्रशुल्क रियायतें देना निश्चित किया गया।

(1) कुछ प्रशुल्क एवं प्राथमिकता की पूर्ण समाप्ति।
(2) कुछ प्रशुल्क दरों को विद्यमान स्तर पर सीमित कर दिया,
(3) कुछ प्रशुल्क दरों में कमी की गई,
(4) कुछ स्थितियों में प्रशुल्क से पूर्णरूपेण मुक्ति की स्थिति को बनाए रखना।

इस सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य राष्ट्रों ने 123 द्विपक्षीय समझौते किए जो उन देशों में दो-तिहाई आयात व्यापार से सम्बन्धित थे।

द्वितीय प्रशुल्क वार्ता अनेसी अधिवेशन

फ्रांस में अनेसी नामक स्थान पर सन 1949 में द्वितीय प्रशुल्क वार्ता हुई जिसमें 33 राष्ट्रों ने भाग लिया। इस अधिवेशन का उद्देश्य उन देशों को भी ''सामान्य समझौते से अनुबन्धित करना था जो प्रथम अधिवेशन में उपस्थित नहीं हो सके थे। 1949 तक दस देशों ने ''प्रशुल्क एवं व्यापार पर सामान्य समझौते'' को अपना औपचारिक समर्थन दे दिया था तथा सदस्य संख्या 33 हो गई थी। इस अधिवेशन में 500 वस्तुओं के विषय में 147 द्विपक्षीय मंत्रणाएं हुई। ये समझौते मई 1950 से लागू हुए। इस सम्मेलन की परिधि में विश्व का 30% व्यापार शामिल हो गया। ये सम्मेलन बहुत सफल रहा।

त तीय प्रशुल्क सम्मेलन : (तोरके Torquay)

इंग्लैंड में स्थित तोरके नामक स्थान पर 1950-52 में त तीय प्रशुल्क सम्मेलन हुआ। इसमें नए देशों ने भाग लिया। यह सम्मेलन अधिक सफल नहीं हो सका क्योंकि इसमें अपेक्षित 400 समझौतों के स्थान पर केवल 147 ही पूरे किए जा सके। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में कहा था कि विकासशील देशों को तो पहले ही काफी रियायतें दी जा चुकी है अब और अधिक देना सम्भव नहीं है। पं जर्मनी, आस्ट्रेलिया, पीरू, फिलीपाइन एवं यूरुग्वे ने प्रथम बार सम्मेलन में भाग लिया।

चतुर्थ सम्मेलन जेनेवा

जेनेवा में 1956 में चतुर्थ प्रशुल्क सम्मेलन हुआ। यह अधिक सफल नहीं रहा। वार्ता की प्रगति बहुत सीमित रही थी इस कारण कई देश इससे प थक हो गए। विभिन्न प्रशुल्क वार्ताओं के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका ने आयातों पर अधिकतम सम्भव छूट देने की घोषणा की। अमेरिका ने 90 करोड़ डालर के मूल्य के आयातों पर प्रशुल्क रियायतों की घोषणा की तथा अपने 40 करोड़ डालर के निर्यातों के लिए अन्य देशों से प्रशुल्क रियायतें प्राप्त कीं। परन्तु इस सम्मेलन से अन्य देश अधिक सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि उन्हें अमेरिका से इससे अधिक रियायतें प्राप्त करने की उम्मीद थी। इसके फलस्वरूप कई देश सम्मेलन से प थक हो गए।

पंचम प्रशुल्क वार्ता

सन 1960-61 में पांचवां सम्मेलन जेनेवा में हुआ। इस सम्मेलन में 44 देशों ने भाग लिया जिसमें 8 विकासशील देश भी सम्मिलित थे। आस्ट्रेलिया एवं भारत के प्रतिनिधि मंडलों ने विभिन्न मंत्रणाओं में प्रशुल्क-दरों के अतिरिक्त कोटा, आन्तरिक कर नीति आदि पर विचार करने हेतु ठोस प्रस्ताव रखे। ये प्रस्ताव लम्बी मंत्रणाओं के पश्चात स्वीकार कर लिए गए थे। सामान्यतः सम्मेलन के अन्तर्गत तीन महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार विमर्श किया गया जो निम्नांकित है–

(1) विकासशील देशों की निर्मित वस्तुओं के लिए औद्योगिक देशों में बाजार की व्यवस्था करना,

(2) प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाना, एवं

(3) प्रशुल्क प्राथमिकताओं को धीरे-धीरे समाप्त करना।

इस सम्मेलन में विकासशील देशों ने यह तर्क दिया कि पूर्व अधिवेशनों में परस्परता के सिद्धान्त के कठोर अनुपालन ने उनकी सौदा करने की शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर दिया था और वे और अधिक रियायतें अपनी प्रशुल्क नीति के अन्तर्गत देने में असमर्थ थे। दूसरी ओर औद्योगिक देश उन वस्तुओं पर कोई भी छूट नहीं दे रहे थे जिनमें विकासशील देशों की रुचि थी और वे उस नियम का सहारा ले रहा थे जिसके अनुसार कोई भी देश किसी भी वस्तु के विषय में मंत्रणा करना अस्वीकार कर सकता था। विकासशील देशों ने इस बात पर बल दिया कि अधिवेशन तभी सफल हो सकता थ जब औद्योगिक देश एकपक्षीय प्रशुल्क रियायतें देने को तैयार हों। हेबरलर रिपोर्ट में इस बात का समर्थन किया गया।

छठा प्रशुल्क सम्मेलन या कैनेडी राउण्ड (The Kennedy Round)

छठे अधिवेशन जिसे 'केनेडी राउण्ड' भी कहा जाता है, मई 1964 में प्रारम्भ हुआ था। इसे अमेरिका के राष्ट्रपति केनेडी के निर्देशन में प्रारम्भ किया गया था। उपरोक्त पांच सम्मेलनों में लगभग 60,000 प्रशुल्क दरों को कम करना अथवा स्थिर रखने के समझौते हो जाने पर भी गाट को विश्व व्यापार व द्धि में वांछनीय सफलता नहीं मिल सकी थी क्योंकि यह दोषपूर्ण द्वि-पक्षीय बहुपक्षीय वार्ता रही है। इस प्रणाली को विकासशील देशों के हित का विरोधी माना गया तथा प्रशुल्क दरों में कमी करने की गति को धीमा समझा गया। इन्हीं कमियों को दूर करने के लिए केनेडी सम्मेलन 1964-68 आयोजित किया गया। इससे कुछ ही समय पूर्व यूरोप में दो स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र बनाए गए।

(1) यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) तथा

(2) यूरोपीय मुक्त व्यापार क्षेत्र (European Free Trade Association of FETA)।

इन दोनों ही बाजारों को काफी सफलता मिली। इसी से प्रेरित होकर अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति केनेडी ने यूरोप के देशों तथा अमरीका के मध्य व्यापार की व द्धि करने के लिए सभी प्रकार के प्रशुल्क में कटौती करने का प्रस्ताव रखा। इससे पहले अमरीका संरक्षण का प्रबल समर्थक देश था। अमरीकी सरकार ने ऊंची प्रशुल्क दरों से विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर रोक लगा रखी थी तथा देशवासियों के जीवन स्तर को संरक्षण नीति के द्वारा अधिक ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया। अमरीका में पारित व्यापार समझौते कानून (1934-62) के तहत मंत्रणाओं द्वारा प्रशुल्क दरों में कमी करने की वैधानिक व्यवस्था थी परन्तु साथ साथ ''खतरे के बिन्दुओं'' (Peril Points) का भी प्रावधान था। खतरे के बिन्दु के अन्तर्गत ऐसी सीमाओं का निर्धारण करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त था जिनसे नीचे प्रशुल्क दरें नहीं ले जायी जा सकती थी। यही रियायती दरों की सीमायें थीं। यदि प्रशुल्क रियायतें इससे अधिक देने का प्रस्ताव हो तो उसे कांग्रेस में रखकर उसकी स्वीक ति मिलने पर उन रियायतों को लागू किया जाता था। को लागू किया जाता था। 1962 में व्यापार विस्तार अधिनियम (Trade Expansion Act) के अन्तर्गत ''खतरे के बिन्दु'' की व्यवस्था को समाप्त करके राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि आवश्यकता पड़ने पर वे सभी आयात करों में 50% तक की रियायत दे सकें। इस अधिवेशन में 49 सदस्य देशों ने हिस्सा लिया इसके अन्तर्गत विश्व के व्यापार का 75% भाग सम्मिलित था। इसमें 37 देशों द्वारा 4 करोड़ डालर के व्यापार पर प्रशुल्क रियायतें दी गयीं। अमरीका ने दो तिहाई आयातों पर औसतन 35% प्रशुल्क रियायत दी, किसी-किसी वस्तु पर यह छूट 50% या इससे अधिक थी।

केनेडी सम्मेलन में कई महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार किया गया। इसमें वार्ता का पहलू द्विपक्षीय के स्थान पर बहुपक्षीय था इसमें सदस्य देश एक-एक वस्तु के स्थान पर वस्तु समूहों के प्रशुल्कों में कमी करने पर विचार किया गया। विकासशील देशों के व्यापार विस्तार व आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए अतिरिक्त निश्चयात्मक प्रयासों की आवश्यकता का माना गया गॉट व्यापार तरक्की के लिए भावी कार्यक्रमों को तीन वर्गों में विभाजित किया–1. विकासशील देशों का व्यापार, 2. औद्योगिक पदार्थ, तथा क षि जन्म पदार्थ–इसमें विकासशील देशों के व्यापार विस्तार पर विशेष महत्व दिया गया। 3. तीसरे पहलू में विकासशील देशों

के निर्यात से बाधायें हटाने के सम्बन्ध में प्रयास था तथा गर्म देशों के उत्पादनों के प्रति उदारता बरतने पर भी विचार किया गया। 4. इस सम्मेलन में पूर्व में आयोजित किए गए सम्मेलनों की तुलना में अधिक सीमा कर में कमी करने की घोषणा की जानी थी।

केनेडी राउन्ड 1964-68 के अन्तर्गत यूरोपियन साझा बाजार देशों ने भी 50% की प्रशुल्क रियायतें प्रदान कीं। ब्रिटेन द्वारा प्रशुल्क दरों में छूट का औसत 38% जापान का 30% व कनाडा का 24% था। इन सभी रियायतों को तत्काल न देकर 5 वर्षों के भीतर प्रभाव में लाने का निर्णय लिया गया इसका महत्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि अन्ततः सभी प्रमुख औद्योगिक देशों द्वारा लगाई गई प्रशुल्क दरों में 5 से 15 प्रतिशत तक रियायत दी जानी चाहिए। परन्तु विभिन्न वस्तुओं पर दी गयी छूट में बहुत अंतर था। रसायन पदार्थों, कागज, आधारभूत एवं अन्य कुछ तैयार वस्तुओं पर छूट का अनुपात अधिक था जबकि लोहा व इस्पात, वस्त्रों, ईंधन एवं समशीतोष्ण प्रदेशों में प्राप्त वस्तुओं पर काफी कम रियायतें दी गयीं।

केनेडी राउन्ड के परिणामस्वरूप विकासशील देश यह उम्मीद लगाए हुए थे कि उनकी विनिर्मित वस्तुओं पर विकसित अधिक प्रशुल्क रियायतें देंगे परन्तु उन्हें उतनी छूट न मिल सकी और उन्हें निराश होना पड़ा। इसमें अधिकांश विकसित देशों का द ष्टिकोण विकासशील देशों के प्रति उदासीन रहा। इसमें सदस्य देशों के बीच व्यापार में विद्यमान प्रशुल्क बाधाओं को हटाने में भी कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। वास्तव में केनेडी राउण्ड की सफलता केवल निर्मित वस्तुओं पर प्रशुल्क रियायतें प्रदान करने तक ही सीमित रही। सम्मेलन में हुई मंत्रणाओं के द्वारा गेहूं की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत पर सहमति प्राप्त हो गयी। परन्तु क षि वस्तुओं के सम्बन्ध में हुई मंत्रणाएं अधिक सफल न हो सकीं। इस सम्मेलन में कई समस्याएं व असफलताएं होते हुए यह सम्मेलन सफल रहा क्योंकि इनमें प्रशुल्क दरों में कमी एवं व्यापार के विस्तार के सम्बन्ध में ठोस कदम उठाए गए। पूर्व समय में हुयी सभी वार्ताओं में केनेडी राउन्ड सर्वाधिक सफल आयोजन रहा।

टोकियो राउन्ड (Tokyo Round)

केनेडी वार्ता में स्वीक त बहुपक्षीय व्यापार वार्ता (Multilateral Trade Negotiations) सिद्धांत को पूर्णतः लागू करने के लिए गॉट के संविदकारी देशों के मंत्रियों का एक विशेष सम्मेलन सितम्बर 1973 में हुआ। इसका उद्देश्य व्यापार से सम्बन्धित सभी समस्याओं को दूर करना तथा विश्व व्यापार व द्धि करके अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुद ढ़ बनाना था। इन वार्ताओं का उद्देश्य व्यापार के निर्बाध प्रवाह में बाधक सीमाकर अवरोधों, मात्रात्मक प्रतिबन्धों, सीमा शुल्क, मूल्यांकन नीतियों तथा प्रक्रियाओं को अधिक उदार बनाने का था। इसमें उष्ण कटिबंधीय उत्पादन (Tropical Products) को भी महत्व दिया गया। इन वार्ताओं को सम्पन्न करने के लिए एक व्यापार वार्ता समिति (Trade Negotiations Committee) का निर्माण भी किया गया।

टोकियो राउण्ड 1983 में सम्पन्न हुआ था। इसमें भारत ने भी भाग लिया था। इसका महत्वपूर्ण उद्देश्य अल्पविकसित देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अतिरिक्त लाभों को दिलवाना था। जिससे अल्पविकसित राष्ट्र अपनी विदेश मुद्रा में आवश्यक व द्धि कर सकें। इसमें भाग लेने वाले सदस्यों ने प्रशुल्क रहित तरीकों को कम करने पर सर्वाधिक जोर दिया। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए कई समझौते तय किए गए। अन्ततः यह निर्धारित हुआ कि वार्षिक प्रशुल्क में कमी की प्रक्रिया 1 जनवरी, 1987 तक मान्य रहेगी तथा औद्योगिक देश अपने आयातों पर लगाये गए प्रशुल्क को 30% तक कम कर देंगे।

भारत में भी इस प्रकार के चार समझौतों पर हस्ताक्षर किये। इनमें से एक सीमा शुल्क मूल्यांकन (Agreement on Customs Valuation) 1 जनवरी, 1981 से लागू हो गया। तथा अन्य तीन समझौते (Subsidies and Counter Vailing Measures, Antidumping and Import Licensing Procedures से संबंधित हैं) हस्ताक्षर करने के 30 दिन की अवधि में लागू हो गये हैं।

जैनेवा मीटिंग (Geneva Meeting)

जेनेवा में गॉट के देशों के मंत्रियों की एक बैठक 26 नवम्बर, से 30 नवम्बर, 1982 को आयोजित की गयी। इसमें बहुपक्षीय व्यापार समझौतों का कार्यान्वन एवं विश्व व्यापार को प्रभावित करने वाली समस्याओं पर विचार विमर्श किया गया। अल्प विकसित देशों के हितों को ध्यान में रखकर यह निर्णय किया गया कि 1983 तक हुए सम्मेलन के विभिन्न नियमों में सुधार किया जाए व्यापार एवं विकास समिति (Committee on Trade and Development) को यह जिम्मेदारी दी गयी। गॉट ने 1984 के अधिवेशन में इस समिति द्वारा दिए गये सुझावों पर विचार किया गया[1] सम्मेलन में संरक्षणवाद पर नियंत्रण पाने के सम्बन्ध में गतिरोध बना रहा। अमरीकी और यूरोपीय आर्थिक समुदायों के मध्य क षि की पैदावार के निर्यात पर रियायतें देने के प्रश्न को लेकर यह गतिरोध उत्पन्न हुआ था। यूरोपियन आर्थिक समुदाय के देशों में व्यापार मंत्रियों की बैठक में कोई भी

ऐसी योजना तैयार न हो पायी जिसे अमरीका सहर्ष स्वीकार कर लेता। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश यह चाहते थे कि उन्हें क षि की पैदावार के निर्यातों के सम्बन्ध में जो रियायतें दी जा रही हैं उन्हें एकमत किया जाए जबकि अमरीका का विचार था कि इन रियायतों में उसके अपने क षि निर्यातों को क्षति पहुंच रही है। यूरोप और अमरीका, अमरीका और जापान, एवं विकसित देशों व विकासशील देशों के मध्य विवाद के कारण इस सम्मेलन में गतिरोध बना रहा।

गॉट के मंत्रिस्तरीय सम्मेलन में एक अमरीका अधिकारी के विचार में यह सम्मेलन निराशाजनक रहा। विकासशील देशों के अनौपचारिक गुट ने विकासशील देशों में उद्योगों के लिए 'सुरक्षा' के नाम से जाने वाले गॉट सुरक्षा उपायों के कम करने के अमरीकी प्रस्ताव की निन्दा की। विदेशी व्यापार में त तीय स्थान पर स्थित देश दक्षिण कोरिया को इसका लक्ष्य बनाया गया। दक्षिण कोरिया के वाणिज्य मंत्री ने स्पष्ट कहा है कि हम विकासशील देशों पर आर्थिक दायित्व डालने किसी भी ऐसे प्रयास के विरुद्ध हैं जो उनके आर्थिक विकास के चरणों के अनुरूप नहीं है।

इसी समय अमरीका ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय को चेतावनी दी है कि यदि उसने इस मंत्रिस्तरीय बैठक में रियायतों में कमी करने के लिए कार्यवाही नहीं की तो वह बदले की भावना के परिणामस्वरूप अपने क षि उत्पादों से विश्व की मंडी भर देगा। परन्तु इस बैठक में अमरीका की इस चेतावनी का किसी पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अतः प्रशुल्क एवं व्यापार के समझौते के सम्बन्ध में आयोजित इस बैठक में अमरीका व यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों में आपसी मतभेद अन्त तक बना रहा तथा कोई सफल समझौता न हो सका।

1. Report on Currency and Finance 1982-83, Volume I . P.P. 305-307

गॉट का संगठन
(Organisation of GATT)

प्रशुल्क एवं व्यापार सामान्य समझौता Gatt एक बहुपक्षीय संधि मात्र है जिसमें आपसी अधिकारों और दायित्वों को महत्व दिया गया तथा जिसके कार्यान्वित करने हेतु एक आवश्यक नियमावली प्रस्तुत की गयी जिसको तीन खण्डों में विभक्त करके प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. प्रशुल्क रियायतों की अनुसूची (Schedules of Tariffs Concessions)—

गॉट के इस समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र के लिए अलग-अलग प्रशुल्क रियायत अनुसूचियों का प्रावधान है। इनमें प्रत्येक राष्ट्र द्वारा प्रत्येक सूचीगत वस्तु अन्य सभी देशों पर लागू की जाती है। ये दरें वार्ता की शुरूआत में लागू दर से कम हों अथवा वे किसी दर के भारी उतार-चढ़ाव को रोकने में समर्थ हों। सन 1947 में तथा इसके बाद के वर्षों में आयोजित सम्मेलनों में इन रियायतों का निर्धारण हुआ। सन 1947 के प्रथम सम्मेलन में तटकरों में लगभग 45560 कटौतियों या प्रतिबन्धों को मान्यता प्राप्त हुई थी जिसकी व द्धि स्वरूप अब यह 60,000 तक पहुंच गयी है।

(2) नियमावली (Set of Rules)

गॉट के संगठन के अन्तर्गत सदस्य देशों की व्यापार की नीति के विषय में मार्गदर्शन के लिए एक नियमावली का निर्धारण किया गया है। इसमें व्यापार नीति के सामान्य नियमों एवं ऐसी स्थितियों का वर्णन किया गया है जिसमें सदस्य देशों को विचलनों की अनुमति दी गई है इस समझौते में कुछ अपवादों के अतिरिक्त मात्रात्मक प्रतिबंधों का प्रयोग करना वर्जित है। व्यापार को नियंत्रित करने के लिए विनिमय नियंत्रणों का प्रयोग करने की भी अनुमति नहीं है तथा इसमें निर्यात सहायता की प्रणाली को प्रोत्साहन नहीं दिया गया।

कुछ विशेष परिस्थितियों में सदस्य राष्ट्र नियन्त्रणों का उपयोग कर सकते हैं जैसे जब सभी देशों को व्यापार असंतुलन का सामना करना पड़ रहा हो, ऐसी परिस्थिति में इस प्रकार के मात्रात्मक नियंत्रण लगाये जा सकते हैं। जब किसी राष्ट्र के विदेशी विनिमय कोषों में लगातार कमी हो रही हो तब भी गॉट संबंधित सदस्य देश को आयात प्रतिबन्ध अपनाने की अनुमति दे देता है।

इस समझौते में यह भी प्रावधान है कि विकासशील देशों को शिशु उद्योगों के संरक्षण हेतु आयात नियंत्रण की भी रियायत दी जाती है। विशेष परिस्थितियों में निर्यात-सहायता की विधि को भी लागू किया जा सकता है तथा इसमें घरेलू क षि क्षेत्रों के लिए राज्य सहायता कार्यक्रमों को लगातार जारी रखने के लिए आयात अभ्यंश की भी व्यवस्था की गयी है।

(3) प्रशासनिक संगठन (Administrative Organisation)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन को प्रारम्भ में गॉट में सम्मिलित करने के विचार के परिणामस्वरूप इसके लिए प थक से कोई प्रशासनिक संगठन बनाने की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन पूर्ण अस्तित्व में आने से पूर्व ही समाप्त हो गया। गॉट में सदस्य देशों द्वारा सम्मिलित कार्यवाही की व्यवस्था है तथा इसमें सभी राष्ट्र विभिन्न कार्य आपसी विचार विमर्श करके पारस्परिक सहयोग से करते हैं, जैसे—व्यापार सम्बन्धी विवादों को निपटाने में सहायता, व्यापारिक विवाद में सदस्य राष्ट्र की हानि के लिए क्षतिपूर्ति करना आदि। इस संगठन का मुख्यालय जेनेवा में है। इसमें प्रत्येक देश को वोट का अधिकार होता है तथा सामान्यतः बहुमत के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं।

गॉट की सफलताएं (Achievements of GATT)

विश्व के व्यापार की तरक्की व आर्थिक सुधार के लिए गाट की स्थापना हुई। गॉट को अपने उद्देश्यों में काफी सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। गॉट के प्रयासों के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिला, उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं व प्रतिबन्धों को हटाने, व्यापारिक क्षेत्र की समस्याओं के निवारण करने, वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग बढ़ाकर उनके उत्पादन में व द्धि करने, आर्थिक विकास की ऊंची दर प्राप्त करने तथा लोगों के जीवन स्तर को उन्नत करने में गॉट का महत्वपूर्ण योगदान रहा है क्योंकि समस्त आर्थिक उन्नति व्यापार पर ही निर्भर करती है। इसकी निम्नांकित सफलताएं हैं—

1. **प्रशुल्क दरों में कमी**—प्रशुल्क एवं व्यापार समझौते की भारी सफलता इससे परिलक्षित होती है कि इसके सम्मेलनों के परिणामस्वरूप प्रशुल्क दरों में कमी व स्थिरता आ गयी। गॉट के प्रयासों से सदस्य राष्ट्रों के मध्य होने वाले विदेशी व्यापार के क्षेत्र में प्रशुल्क दरों में कमी करने व दरों को नीचे स्तर पर बनाए रखने में सफलता प्राप्त की है। आजकल 80 देश प्रशुल्क समझौते के अन्तर्गत आते हैं तथा 23 सदस्य राष्ट्र अस्थायी हैं, जिनका विश्व व्यापार में 80% भाग है। इन 80 देशों ने अपने व्यापार से 50 प्रतिशत प्रशुल्क करों को कम कर दिया है। इससे विश्व के दो तिहाई भाग पर प्रभाव पड़ा है तथा इसमें 60,000 प्रशुल्क दर शामिल किए गए हैं।
2. **विवादों का निपटारा**—गॉट की सबसे बड़ी सफलता विवादों के निपटारा करने की है। कोई भी देश वार्षिक बैठक के अवसर पर किसी अन्य देश के प्रति शिकायत प्रस्तुत कर सकता है जो नियम के विरुद्ध आचरण कर रहा हो। यह विवाद कार्यकारिणी समिति के समक्ष प्रस्तुत करके दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर सुलझाए जाते हैं। व्यवहार में अब तक सभी दोषी देशों ने केन्द्रीय समिति के निर्णयों को स्वीकार किया है। 1953 से सदस्य देशों का एक पैनल बनाया गया जो विवादों को निपटाने के लिए एक अनौपचारिक न्यायालय की भांति काम करता है तथा इन पर दिए जाने वाले निर्णयों का प्रारूप तैयार करता है। सन् 1953 में भारत और पाकिस्तान के बीच जूट एवं कोयले के व्यापार सम्बन्धी विवाद का निपटारा एक महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। इसी प्रकार गॉट के एक वार्षिक सम्मेलन में चिल्ली द्वारा यह शिकायत करने पर कि आस्ट्रेलिया की सरकार द्वारा नकली शोरे के उत्पादन को उपादान किए जाने के फलस्वरूप आस्ट्रेलिया ने चिली द्वारा दी गई प्रशुल्क संबंधी रियायतों को निरर्थक सिद्ध कर दिया है। गॉट के सदस्यों ने आस्ट्रेलिया से अपने उत्पादन सम्बन्धी नियमों में आवश्यक सुधार करने का सुझाव दिया था और आस्ट्रेलिया ने अपनी उपदान नीति में आवश्यक सुधार करके गॉट के सदस्यों के निर्णयों को माना था। यह गॉट की एक महत्वपूर्ण सफलता थी।
3. **परिमाणात्मक प्रतिबन्धों में कमी**—गॉट को उन मात्रात्मक प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई जिन्हें कोई देश अपने सीमित विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षण के लिए लगाता है। गॉट ने इस प्रकार की क्रियाओं का उल्लंघन करने वाले सदस्य देशों को, इनकी वांछनीयता को विस्त त सभा के सामने प्रस्तुत करवाया व इनकी निन्दा की, जिसका परिणाम यह निकला कि ऐसे प्रतिबन्ध लगाने से पूर्व सदस्य राष्ट्र काफी विचार करने पर ही आगे बढ़ते हैं। मात्रात्मक प्रतिबन्धों को हटाने के लिए या कम करने के लिए गॉट की सफलता रेमेण्ड बर्नन के शब्दों से आंकी जा सकती है—''सारांश में गॉट ने परिमणात्मक प्रतिबन्धों का उपयोग करने के सम्बन्ध में न तो हार स्वीकार की है और न ही इसको सफलता प्राप्त हुई है। सौभाग्यवश गॉट सामान्य भुगतान सन्तुलन कठिनाइयों से युक्त पश्चात काल में इस मूल सिद्धांत का इस प्रकार के प्रतिबन्धों का केवल उस सामान्य नियम के अपवाद के रूप में प्रयोग किया जा सकता है जो स्थिति अनुकूल होने पर तत्काल लागू किया जाना चाहिए, त्याग किये बिना जीवित रहा है।''
4. **प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना**—गॉट ने सन 1955 में अधिकारी वर्ग को व्यापार संबंधी प्रशिक्षण देने के लिए जेनेवा में एक प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की इनके द्वारा औपचारिक पाठ्यक्रम और सेवारत-शिक्षण द्वारा निर्यात-विपणन में इन देशों

के अधिकारियों को संघों तथा संस्थाओं की सहायता से प्रशिक्षण दिया जाता है। सन् 1964 में इस केन्द्र को व्यापक व्यापार केन्द्र का स्तर दिया गया है। यह विकासशील देशों को निर्यात बाजारों तथा निर्यात क्रिया-विधि सम्बन्धी सूचना देने का कार्य भी करता है। सन 1968 से संयुक्त राष्ट्र संघ व्यापार-विकास सम्मेलन (Unctad) ने भी इस केन्द्र के संचालन तथा वित्तीय सहायता देने में भरपूर योगदान दिया है।

गैट राउन्डस निम्नलिखित स्थानों पर सम्पन्न हुए।

(1) जिनेवा राउन्ड स्विटरलैंड में सन् 1948 में हुआ।
(2) दूसरा राउन्ड एनकी (फ्रांस) में 1954 में हुआ।
(3) तारक्वे राउन्ड इंलैंड में सन् 1958 में हुआ।
(4) जिनेवा राउन्ड स्विटजरलैंड में सन् 1963 में हुआ।
(5) डित्लो दौर स्विटजरलैंड में सन् 1965 में हुआ।
(6) कनेडी दौर स्विटजरलैंड में सन् 1966-69 में हुआ।
(7) टोक्यो दौर स्विटजरलैंड में सम्पन्न हुआ (सन् 1973)
(8) आठवां दौर ''उरुग्वे दौर'' सन् 1986 पुन्तादेल इस्ते में सम्पन्न हुआ।

आज गैट की सदस्य संख्या 107 है। भारत इसका संस्थापक सदस्य है। उपरोक्त राउन्डस में से उरुग्वे राउन्ड अत्यन्त चर्चित हुआ। बहुपक्षीय व्यापार बातचीत का उरुग्वे दौर प्रशुल्क और व्यापार से सम्बन्धित करार के तत्वाधान में सितम्बर 1986 में प्रारम्भ हुआ था ताकि और अधिक उदार अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तैयार किया जा सके। उरुग्वे दौर में अनेक प्रकार के व्यापक मामलों पर विचार विनिमय सम्पन्न हुआ। इस दौर में वाणिज्यिक नीति संबंधी प्रपत्रों से सम्बन्धित वर्तमान नियमों से साथ-साथ प्रशुल्क एवं व्यापार से सम्बन्धित विसंगत मुद्दों की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गई और कुछ नये क्षेत्रों अर्थात व्यापार संबधी निवेश उपाय, बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार आदि महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार विमर्श हुआ। क षि व्यापार के संबंध में भारत सहित अधिकतर विकासशील देशों ने औद्योगिक देशों के द्वारा छूट देने के प्रस्तावों का समर्थन भी किया।

व्यापार सम्बद्ध निवेश उपाय औद्योगिक देशों ने स्थानीय निर्माण आवश्यकताओं और निर्यात बाध्यताओं, जो विकासशील देशों द्वारा औद्योगीकरण को बढ़ाने और प्रौद्योगिकी उन्नयन तथा भुगतान शेष की समस्या को समाप्त करने में दी जाने वाली सहायता के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। व्यापार सम्बद्ध बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के पहलू पर विकसित देशों ने बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों का सभी देशों द्वारा उनके विकास के स्तर का ध्यान किये बगैर समान रूप से संरक्षण करने के लिए उच्च स्तर के मानकों को अपनाये जाने की सिफारिश की है।

भारत ने उपरोक्त सामान्य स्थिति प्राप्त की है कि बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के मानक प्रत्येक देश के आर्थिक एवं तकनीकी विकास के अनुरूप हो और यह उनमें से सबके लिए एक समान रूप से उच्च स्तर पर निर्धारित नहीं किया गया। व्यापार एवं सेवाओं में प्रमुख समस्या यह है कि जहाँ औद्योगिक देशों ने उन क्षेत्रों में प्रमुख समस्या यह है जहां उनका पर्याप्त वर्चस्व है, अर्थात बैंकिंग, बीमा, दूर संचार और सूचना विभाग आदि, वहां बाजार तक पहुंचने के अवसरों को बढ़ाने का प्रस्ताव किया है और वे श्रमिक और श्रम संबंधी सेवाओं, जहां विकासशील देशों का तुलनात्मक रूप से अधिक अधिकार है को उदार बनाने के विरुद्ध है। भारत एवं अन्य विकासशील देशों को विकसित देशों के द्वारा प्रशुल्क व्यापार संबंधी कराकर को सम्मिलित करते हुए एकीक त विवाद निपटान, बौद्धिक सम्पदा विचार आदि के इस प्रस्ताव से कठिनाई है। नए क्षेत्रों में जहां उनके लिए यह व्यावहारिक होगा कि निवेश, बौद्धिक सम्पदा अधिकारों और सेवाओं पर विकासशील देशों की घरेलू नीतियों में परिवर्तन करने के लिए सामग्री बाजार तक अपनी पहुंच का उपयोग करने का प्रयास करें।

यद्यपि उरुग्वे दौर दिसम्बर, 1990 में समाप्त होने वाला था, फिर भी ब्रू सेल्स में आयोजित मन्त्रियों की बैठक गतिरोध में समाप्त हुई क्योंकि क षि राजआर्थिक सहायता के आकार में कटौती और यूरोपीय समुदाय देशों द्वारा क षि-उत्पादों पर देशीय समर्थन के मामले में मतभेद था। अमेरिकी कांग्रेस का आर्थर डंकल (तत्कालीन गैट महानिदेशक) के इन प्रस्तावों पर एक स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

उरुग्वे राउन्ड के मसौदों पर विशेषकर विकासशील देशों को आपत्तियां हैं। इस राउन्ड में, जो 1986 में प्रारम्भ हुआ था 5 वर्षों तक वार्ता चलती रही और सन 1991 तक इसे अन्तिम रूप दिया जाना था परन्तु मार्च 1993 तक इस पर विश्व के तमाम देशों ने सहमति जताई है तथा इसी कारण इसको अन्तिम रूप नहीं दिया जा सका। भारत तथा अन्य विकासशील देशों ने इस राउन्ड का सर्वाधिक विरोध इस कारण किया था क्योंकि ग्रामों में निवास करने वाली अधिकतर जनसंख्या ने, जो क षि

अथवा क षि से संलग्न व्यवसायों से सम्बद्ध है, डंकल प्रस्ताव में क षि सेवाओं को सम्मिलित किये जाने का विरोध किया था।

डंकल प्रस्ताव 20 दिसम्बर सन 1991 में गैट के महानिदेशक आर्थर डंकल ने 436 प ष्ठों के दस्तावेज के रूप में प्रस्तुत किया था जिसके तीन प्रमुख मसौदे थे।

1. निवेश सम्बन्धी बौद्धिक सम्पदा अधिकार (TRIPS)
2. व्यापार सम्बन्धी निवेश उपाय (TRIMS)
3. सेवाओं में व्यापार के सामान्य समझौते (GATS)

उपरोक्त तीनों में निवेश सम्बन्धी बौद्धिक अधिकार ही सबसे अधिक भयंकर, विकासशील देशों के लिए सर्वाधिक अहितकार एवं सर्वाधिक विवादस्पाद बताया गया क्योंकि उत्पादों पर इस नियम के तहत 20 वर्ष तक एकाधिकार की स्थिति बनी रहेगी। सब्सिडी और संरक्षण हटाने पर समस्त औद्योगिक देशों के सहमत होने के बावजूद कटौती की सीमा संबंधी मुद्दे पर मतभेद हो जाने के कारण अप्रैल 1994 से पूर्व कोई समझौता नहीं हो सका। क षि नीतियों में परिवर्तन सम्बन्धी आर्थक डंकल के प्रमुख सुझाव है कि सब्सिडी सीमा को सन 1993 से 1999 के मध्य 20 प्रतिशत तक कर दिया जाय, प्रत्यक्ष अनुदान के रूप में दी जाने वाली निर्यात छूट (एक्सपोर्ट सब्सीडी) 1993 से 1999 के मध्य 36 प्रतिशत तक सीमित की जाय तथा सामान्य सीमा शुल्क में इतनी ही कमी की जाय।

विकासशील देशों के अत्याधिक प्रतिरोध के बाद आर्थक डंकल द्वारा एक परिवर्तित एवं संशोधित प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया कि प थक-प थक क षि उत्पादों पर समर्थन का स्तर 10 प्रतिशत तक होगा। कमजोर वर्ग के किसानों को अनुदान परिकलन की सीमा से बाहर रखा जायेगा तथा भुगतान सम्बन्धी पाबन्दियों वाले देशों के कर विभिन्न मामलों को सीमा शुल्क परिसीमा से बाहर रखा जायेगा।

विकासशील देशों के अर्थशास्त्री एवं विशिष्ट विद्वान आर्थर डंकल द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव को केवल विकसित एवं अमीर देशों के हक में मानते हैं। उनका मत है कि संयुक्त राज्य अमेरिका एवं अन्य विकसित देश विकासशील देशों पर अपना शिकंजा कसने को तत्पर है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि डंकल प्रस्ताव प्रभावी होने के बाद कोई भी देश उस दवा, बीज जीवाणु या पशुओं की नस्ल को तैयार नहीं करेगा जो अमेरिका या अन्य देशों ने पेटेन्ट करा रखी हैं और यदि बनाएगा भी तो उसे इसके लिए बहुत ऊंची कीमतें चुकानी पड़ेंगी। अमेरिका में विकसित बीज की किस्मों का प्रयोग करके उसे किसान पुनः बीज के रूप में प्रयोग नहीं कर सकता है, यदि करेगा तो उसे रॉयल्टी देनी पड़ेगी। अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि आर्थर डंकल का उक्त प्रस्ताव बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं अन्ततः विकसित देशों की यह गहरी साजिश है जिसके अन्तर्गत विकासशील एवं अल्पविकसित तथा कमजोर अर्थव्यवस्थाओं के हितों के स्थान पर उनका अहित करना प्रारम्भ किया जा सके। अधिकतर विकासशील देशों के विद्वानों का यह मत है कि अमेरिका व यूरोपीय देशों को इस प्रस्ताव से कई सम्भावित लाभ हैं जैसे उनकी आय में लगातार एवं स्थाई-व द्धि होना तथा अल्प विकसित देशों के ऊपर रहने वाला निरन्तर दवाब आदि।

यह तथ्य सत्य है कि डंकल प्रस्ताव में निहित ''बौद्धिक सम्पदा कानून अमेरिका फ्रांस या जर्मनी जैसे विकसित देशों के तो हित में हो सकता है क्योंकि वहां उच्च विकास क्षमता है, तकनीक तथा नवीन आधुनिक आविष्कार मौजूद हैं परन्तु यदि दूसरी ओर विकासशील देशों की स्थिति देखें तो उन्हें इस प्रस्ताव में कोई लाभ नहीं मिल पायेगा। इन अल्पविकसित देशों में अधिकतर जनता प्राथमिक उद्योगों (प्रमुख रूप से क षि) में लगी होती है। विकसित देश वास्तव में इतने चतुर हैं कि यदि वे अपनी जनता को दी जाने वाली सब्सीडी में डंकल प्रस्ताव के आधार पर 24 प्रतिशत की कमी कर भी देते हैं तो भी वह भारत जैसे विकासशील देश में दी जाने वाली सब्सीडी राशि से कहीं अधिक होगी अर्थात वहां संरक्षणवाद पर फिर भी अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। एक तथ्य यह भी है कि यदि डंकल प्रस्ताव की आयात-अनिवार्यता तथा निर्यात अनिश्चितता की प्रक ति स्वीकार कर भी ली गई तो भारतीय क षि पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। क षि क्षेत्र में पेटेन्ट किए गए जिन संसाधनों की अनुपलब्धता से वैज्ञानिक अनुसंधान में बाधा उत्पन्न होगी और क षि फसलों का अनुसंधान मुश्किल हो जाएगा।

डंकल प्रस्ताव का वह भाग सर्वाधिक महत्व का है जो भारतीय क षि पर कुठाराघात करता है। डंकल प्रस्ताव के अनुच्छेद नम्बर 27 के अनुसार यदि पौधों की नई प्रजातियों के विकास के लिए पेटेन्ट को स्वीकार किया जाता है अथवा माइक्रो बायोलोजीकल विधि के लिए पेटेन्ट को स्वीकार किया जाता है तो यह किसी भी प्रकार विकासशील देशों के हित में नहीं हो सकता साथ ही यदि माइक्रो ओरगेनिज्म प्रक्रिया के लिए पेटेन्ट को स्वीकार किया जाएगा तो वह भी भारत जैसे विकासशील देश के हित में नहीं रहेगा।

इस प्रस्ताव का एक पहलू यह भी है कि जैव तकनीक निर्धन देशों को प्राप्त नहीं होगी जिससे वे क षि पर आधारित महत्वपूर्ण उद्योगों की कभी स्थापना नहीं कर पायेंगे। पेटेन्ट किए गए बीजों के बहुत महंगे होने के कारण किसान उन्हें हर फसल के लिए क्रय करने में आर्थिक रूप से सामान्यतः सक्षम नहीं हो पायेंगे। रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक एवं दवाइयां भी पेटेन्ट युक्त होंगी। विकासशील देशों के क षक की हैसियत एक निम्न आर्थिक स्थिति वाले मजदूर की भांति हो जाएगी। डंकल प्रस्ताव की आड़ में हमें हमारे ही लाभों से वंचित किया जाएगा। अतः विशेषकर बौद्धिक सम्पदा कानूनों का पालन करना भारत के लिए अत्यन्त महंगा एवं जन विरोधी सिद्धान्त प्रतीत होता है। भारतीय अर्थशास्त्रियों का एक बड़ा समूह डंकल प्रस्तावों के विरोध में है।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद भी भारत सरकार ने अन्य देशों के साथ संशोधित डंकल प्रस्ताव पर अप्रैल 1994 में हस्ताक्षर कर ही दिए। अब इसके परिणाम धीरे-धीरे राष्ट्र एवं जनमानस के समक्ष आ जायेंगे।

अध्याय 32
व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन-अंकटाड
(United Nations Conference on Trade and Development–UNCTAD)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विश्व आर्थिक सहयोग की भावना से प्रेरित होकर गैट की स्थापना हुई। परन्तु इससे सभी राष्ट्रों को समान रूप से लाभ नहीं प्राप्त हो सका। इससे विकसित देशों को अधिक लाभ हुआ और अर्द्ध विकसित देशों को निराश होना पड़ा। फलस्वरूप यह अनुभव किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सहयोग के लिए नयी संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए जिससे सभी देशों को समान लाभ प्राप्त हो सके। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ''व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन'' (अंकटाड) की स्थापना की गई जिसके द्वारा विश्वव्यापी वातावरण बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व द्धि की चेतना जाग त करने का प्रयास किया गया। सन 1961 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 1961-70 को प्रथम विकास दशक (Development Decade) के रूप में मनाया या घोषित किया। इसका उद्देश्य विकासशील देशों की आय में 5% व द्धि करना था। व्यापार और विकास पर जुलाई 1962 में कैरों में व्यापार मंत्रियों के सम्मेलन को आयोजित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। जिसके फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ ने मार्च-जून 1964 में संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन आयोजित किया गया और इस प्रथम सम्मेलन में ही अंकटाड का जन्म हुआ। इसे प्रथम व्यापार व विकास सम्मेलन (Unctadi) कहा जाता है यह जिनेवा में 23 मार्च से 16 जून, 1964 को सम्पन्न हुआ। जनवरी 1965 में अपना कार्य शुरू कर दिया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए यह एक स्थायी संगठन बन गया है। इसे स्थापित करने का मुख्य श्रेय डा. राउल प्रेविश की है।

अंकटाड का संगठन (Organisation of Unctad)

व्यापार विकास सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र महासभा का एक स्थायी अंग है। इसका मुख्यालय जिनेवा में है। जहां इसका विशाल सचिवालय है तथा न्यूयार्क में इसका एक समन्वय संगठन है। इसके अपने कई सहायक संगठन भी हैं। इसका मुख्य कार्यकारी संगठन व्यापार एवं विकास बोर्ड (Trade and Development Board) है। जिसके 55 सदस्य हैं। अकटाड सम्मेलनों की अवधि के बीच में मण्डल कार्यशील रहता है तथा इसकी साल में दो बैठकें होती हैं। इसके सदस्यों का चुनाव सम्मेलन में समान भौगोलिक वितरण के आधार पर किया जाता है। मण्डल की सहायता के लिए चार विशेषज्ञ समितियां हैं जो विविध विषयों का गहन अध्ययन करके परामर्श देती हैं। ये समितियां निम्नांकित हैं—(1) वस्तु व्यापार समिति (Committee on Commodities (2) नौ परिवहन कमेटी (Committee on Shipping) (3) अद श्य व्यापार व वित्त समिति (Committee on Invisible Trade and Financing) (4) निर्माण उद्योगों की कमेटी (Committee on Manufactures) । सामान्यतः उपरोक्त समितियों की बैठक वर्ष में एक बार आयोजित की जाती है परन्तु आवश्यकतानुसार विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं। सम्मेलन की साधारण सभा का अधिवेशन तीन वर्ष में कम से कम एक बार बुलाया जाता है। सन् 1971-80 को विश्व का द्वितीय विकास दशक तथा 1981-90 को त तीय विकास दशक माना गया है। व्यापार व विकास का दूसरा सम्मेलन (Unctad-II) नई दिल्ली में फरवरी-मार्च 1968 में तीसरा सम्मेलन Unctad-III अप्रैल-मई 1972 में सेंटियागों (चिली) में चौथा सम्मेलन (Unctad-IV) मई 1976 में नेरोबी (अफ्रीका) में, पांचवां सम्मेलन (Unctad-V) 7 मई से 2 जून तक सन 1979 में मनीला (फिलीपीन) में तथा छठा सम्मेलन (Unctad-VI) 6 जून से 3 जुलाई तक 1983 में बिलग्रेड (यूगोस्लाविया) में हुआ। जिसमें 166 देशों ने भाग लिया।

अंकटाड के कार्य व उद्देश्य

1964 में अकटाड की स्थापना के समय मुख्य उद्देश्य यह रखा गया था कि विकासशील देशों को व्यापार सम्बन्धी जिन

समस्याओं का सामना करना पड़ता है उनका समाधान अंकटाड के माध्यम से किया जायेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए अंकटाड के निम्नांकित कार्य है:—

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन**—व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन का प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संवर्द्धन आर्थिक विकास का मूल आधार है जिसमें विकासशील देशों की समस्याओं के समाधान पर विशेष बल दिया जिससे उनके व्यापार एवं आर्थिक विकास को सहयोग मिल सके व आर्थिक विकास की गति तीव्र हो।

(2) **समन्वय केन्द्र**—अंकटाड का दूसरा कार्य विश्व के सभी राष्ट्रों के मध्य समन्वयक रूप में कार्य करना है और इन राष्ट्रों के लिए व्यापार एवं विकास सम्बन्धी सरकारी नीतियों के समन्वय केन्द्र का कार्य करना है।

(3) **सिद्धान्त और नीति निर्धारण**—अंकटाड का कार्य ऐसे नियमों और सिद्धांतों का निर्माण करना था जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक विकास से सम्बन्धित हों तथा उनकी व द्धि में सहायक हों।

(4) **वार्ता प्रारम्भ करना**—व्यापार एवं विकास सम्बन्धी वार्ता के लिए कार्य प्रारम्भ करना व कानूनी कागजात के विषय में अनुमति लेना।

(5) **समन्वय एवं एकीकरण**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित जो अन्य संस्थाएं संयुक्त राष्ट्र संघ में कार्यरत हैं उनमें समन्वय स्थापित करना तथा उनके कार्यों की समीक्षा कर उन्हें परामर्श देना अंकटाड का ही कार्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा एवं आर्थिक व सामाजिक परिषद को सहयोग देने का कार्य भी अंकटाड ही करता है।

(6) **कार्यान्वयन प्रस्ताव रखना**—अंकटाड निर्धारित सिद्धांतों तथा नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक प्रस्ताव प्रस्तुत करता है।

गॉट एवं अंकटाड में अंतर

गॉट एवं अंकटाड दोनों की स्थापना का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के गतिरोधों को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आर्थिक विकास करना था परन्तु दोनों के कार्य एक होते हुए भी दोनों में निम्नांकित अन्तर है।

(1) अंकटाड एक औपचारिक सन्धि सभा हे, किन्तु गॉट केवल अनौपचारिक वार्ता संगठन है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में गॉट उतनी व्यापक एवं विस्त त संस्था नहीं है जितनी कि अंकटाड।

(3) गॉट एक स्थैतिक संगठन है जिसमें मात्र व्यापारिक सम्बन्धों पर विचार होता है जबकि अंकटाड एक गत्यात्मक संगठन है जिसमें विश्व के राष्ट्रों के मध्य आर्थिक असमानता को कम करने का प्रयास किया जाता है।

(4) संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत अर्द्ध विकसित देशों की व्यापारिक समस्याओं के हल एवं आर्थिक विकास के लिए अंकटाड का उदय हुआ। जबकि गॉट एक स्वतन्त्र संस्था है जिसके उद्देश्य इतने व्यापक नहीं है।

(5) गॉट द्वारा विभिन्न वार्ताएं आयोजित की जाती हैं तथा अंकटाड द्वारा रचनात्मक तथा समझौता कार्यक्रम किए जाते हैं।

(6) अंकटाड के निर्णय अधिक प्रभावशाली होते हैं जबकि गॉट के निर्णय उतने प्रभावशाली नहीं होते।

(7) अंकटाड 166 सदस्यों का एक विशाल संगठन है परन्तु गॉट 92 सदस्यों का एक छोटा गुट है।

अंकटाड के विभिन्न सम्मेलन-सुझाव एवं उपलब्धियां

समय-समय पर होने वाले अंकटाड के विभिन्न सम्मेलनों से इसके कार्यों की प्रगति का विवरण मिलता है। जो निम्नलिखित हैं—

अंकटाड का प्रथम सम्मेलन (Unctad-I)

व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन जेनेवा में 23 मार्च से 17 जून, 1964 तक आयोजित किया गया। इसका उद्देश्य धनवान व निर्धन तथा विकसित तथा विकासशील देशों के बीच आर्थिक दूरी को कम करना था। प्रथम अधिवेशन में 118 देशों ने भाग लिया जिनमें से 77 विकासशील देश थे और बचे हुए 41 अविकसित देश थे।

77 विकासशील देशों ने अपने को गरीब देशों के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया तथा यह "77 का समूह'' के रूप में समझे जाने लगे। यह समूह अंकटाड के समक्ष अपनी समस्याएं प्रकट करने से पूर्व प थक से बैठकें कर लेते हैं जिनमें सम्मेलन में भाग लेने से पूर्व अपनी समस्याओं पर परस्पर विचार विमर्श कर लेते हैं। इस समूह ने अधिवेशन में अपनी समस्याओं का संयुक्त

प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें व्यापार व विकास के क्षेत्र में इस अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का स्वागत किया गया। इस सहयोग की भावना से ऐसा अनुभव होता है कि इस विश्व सहयोग से सम्पन्न एवं दरिद्र देशों का अन्तर समाप्त हो जायेगा। इसमें विचार करने के लिए निम्न आठ बिन्दुओं का कार्यक्रम तैयार किया गया–

(1) निर्मित एवं अर्द्ध निर्मित वस्तुओं का व्यापार,
(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार तथा आर्थिक विकास में इसका महत्व
(3) अर्द्ध-विकसित देशों के अद श्य व्यापार में सुधार,
(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास की वित्तीय व्यवस्था,
(5) अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समस्याएं,
(6) क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों के प्रभाव,
(7) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित उपायों को कार्यान्वित करने के लिए संस्थागत व्यवस्था, विधियां एवं उपयुक्त तन्त्र, एवं
(8) अन्तिम कानून।

प्रथम सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं को समझने एवं अर्द्ध विकसित देशों के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने व समस्याओं को सुलझाने में काफी सफलता मिली। प्रथम अधिवेशन के अन्तिम अधिनियम के अन्तर्गत 14 सामान्य एवं 13 विशेष सिद्धान्त सम्मिलित किए गए।

प्रथम अधिवेशन के सुझाव

इस सम्मेलन में निम्नांकित सुझाव दिए गए–

(1) विकासशील देशों के अद श्य व्यापार के सुधार सम्बन्धी सुझाव भी सममेलन में दिए गए विशेषतः पोतचालन व पर्यटन के विकास को बढ़ावा देने के विषय में वार्ता सम्पन्न हुई।

(2) राष्ट्रों को सामाजिक या आर्थिक प्रणाली की भिन्नता के आधार पर नहीं वरन् विभिन्न देशों के मध्य व्यापारिक एवं आर्थिक सम्बन्ध सम्प्रभुता और राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए।

(3) प्रत्येक विकसत देश को अपनी राष्ट्रीय आय का 1% प्रतिवर्ष विकासशील देशों के विकास के लिए विदेशी सहायता के रूप में देना चाहिए।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की व्यवस्था को लागू करना सम्मेलन में दिए गए सुझावों में से प्रमुख सुझाव था। इसके लिए यह निश्चित किया गया कि विकसित राष्ट्रों द्वारा अर्द्ध विकसित देशों के आयातों पर प्रशुल्क की मात्रा में और अधिक व द्धि न की जाए। यह भी सुझाव दिया गया कि सामाजिक-आर्थिक प्रणाली की भिन्नता के आधार पर देशों में किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए।

(5) सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौतों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति के अभिन्न अंग के रूप में मान्यता देने का भी सुझाव दिया गया।

(6) प्रथम सम्मेलन में यह सुझाव भी दिया गया कि विकासशील राष्ट्रों को प्राथमिक उत्पादनों के स्थान पर औद्योगिक उत्पादन को प्राथमिकता देनी चाहिए। उत्पादित माल के लिए निरनतर नये बाजारों की खोज भी करते रहना चाहिए। इस प्रकार विकासशील राष्ट्रों को विविधता लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(7) सदस्य राष्ट्रों के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि वह किसी भी प्रकार का राशिपतन न करें।

(8) सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि क्षेत्रीय संगठनों के द्वारा आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करने का प्रयास करना चाहिए।

उपरोक्त सुझावों को शीघ्र ही कार्यान्वित किया जाना चाहिए था किन्तु कार्य बहुत ही धीमी गति से होता रहा। गति धीमी होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था में प्रगति हुई। अमीर देशों ने यह तय कर लिया कि पश्चिमी बाजारों में निर्धन देशों के माल के प्रवेश पर उन्हें सीमा शुल्क प्राथमिकताएं देनी हैं। परन्तु अमीर देशों ने निर्धन देशों के सामने सीमा शुल्क के अतिरिक्त अन्य बाधाएं उत्पन्न कर दीं। निर्धन देशों के निर्यातों के मार्ग में प्रमुख बाधा विकसित देशों की प्रभावशाली संरक्षण नीति थी।

प्रथम सम्मेलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन

उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि अकटांड के प्रथम सम्मेलन में सुझाव तो काफी प्रभावशाली व अच्छे रखे गए परन्तु सुझावों को व्यवहारिकता में पूर्ण लागू नहीं किया जा सका। कुछ राष्ट्रों द्वारा एकपक्षीय कार्यवाही के कारण भी सम्मेलन के परिणाम निराशाजनक रहे। निम्नांकित बिन्दुओं के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है।

(1) यूरोपीय साझा बाजार ने संयुक्त क षि नीति के आधार पर वर्ष 1965 में फल और सब्जियों को अधिक संरक्षण प्रदान किया था जो कि सम्मेलन की सिफारिशों के प्रतिकूल था।
(2) सम्मेलन में यह मुख्य विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौते पर बल दिया जायेगा किन्तु यथार्थ में इस प्रकार के कोई समझौते नहीं किए गए।
(3) विकसित राष्ट्रों द्वारा अपनाई गई संरक्षण की नीति, सम्मेलन में दिए गए सुझावों के विपरीत थी।
(4) सम्मेलन के चार वर्ष बाद ही विकसित देशों ने विकासशील देशों के अर्द्ध निर्मित एवं निर्मित वस्तुओं के आयात पर प्रशुक्ल दिया।
(5) विकासशील देशों से जो औद्योगिक माल आयात किया गया उसके संबंध में परिणात्मक प्रतिबन्धों को न तो हटाया गया और न कम किया गया है।
(6) विकासशील राष्ट्रों को व्यापार के क्षेत्र में प्राथमिकता के आधार पर प्रवेश दिया जायेगा—इस विषय को भी हटाया गया और न कम किया गया है।
(7) सम्मेलन में एक महत्वपूर्ण सुझाव यह भी दिया गया था कि विकसित राष्ट्रों द्वारा अपनी आय का एक प्रतिशत भाग विकासशील राष्ट्रों को विदेशी सहायता के रूप में दिया जायेगा परन्तु विकसित राष्ट्रों ने उसका पालन नहीं किया।

उपरोक्त बिन्दुओं से यह ज्ञात होता है कि सम्मेलन कई अर्थों में असफल रहा परन्तु इससे विकासशील देशों में एकता की भावना जाग त हुई। प्रथम सम्मेलन के पश्चात ही एशिया, अफ्रीका और अमरीका के विकासशील देश 1967 में अल्जियस में एक मंत्री स्तरीय बैठक में सम्मिलित हुए और ''अल्जियर्स चार्टर'' को पारित किया तथा 77 देशों के समूह ने भी यह निर्णय लिया कि वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक मामलों में अकटाड के क्षेत्र के बाहर भी सहयोग देंगे।

अंकटाड का द्वितीय सम्मेलन (Unctad - II)

अंकटाड का प्रथम सम्मेलन के चार वर्ष उपरान्त अंकटाड का द्वितीय सम्मेलन तीन वर्ष के स्थान पर चार वर्ष में 1 फरवरी से 28 मार्च 1968 तक नई दिल्ली में सम्पन्न किया गया। इसमें विश्व व्यापार और विकासशील देशों की समस्याओं पर गहनता से विचार किया गया। इस सम्मेलन के निम्नांकित उद्देश्य निर्धारित किए गए—

(1) अंकटाड प्रथम में दिए गए सुझावों को कार्य रूप में परिवर्तित करने के परिणामस्वरूप जो आर्थिक परिवर्तन हुए, उनका पुर्नमूल्यांकन करना।
(2) विभिन्न समस्याओं पर पूर्ण रूप से विचार कर महत्वपूर्ण समझौता करना।
(3) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में प्रगति के लिए समुचित समझौता करना।

उपरोक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अंकटाड द्वितीय सम्मेलन में निम्नांकित कार्य निर्धारित किए गए—

(1) विश्व व्यापार और विकास की प्रव त्तियों एवं समस्याओं का उचित समाधान प्रस्तुत करना।
(2) विकासशील देशों में व्यापार विकास एवं आर्थिक एकीकरण की समस्याओं को सुलझाना समस्याओं को उचित समाधान प्रस्तुत करना।
(3) विकासशील देशों में जो देश सबसे कम विकसित है अथवा अत्यन्त पिछड़े हैं, उनके आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए विशिष्ट उपाय करना।
(4) वस्तु समस्याएं एवं विभिन्न देशों की नीतियों का विश्लेषण।
(5) विकासशील देशों की वित्तीय व्यवस्था एवं सहायता की समस्याओं को सुलझाना।
(6) विकासशील देशों की निर्मित एवं अर्द्धनिर्मित वस्तुओं के निर्यातों में विस्तार एवं विविधता सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण करना।
(7) विकासशील देशों की नौ परिवहन अन्य अद श्य मदों सम्बन्धों समस्याओं का निपटारा करना।
(8) अंकटाड के क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले सभी कार्यों की समीक्षा करना।

द्वितीय अंकटाड सम्मेलन की उपलब्धियां

द्वितीय अंकटाड सम्मेलन के समय विश्व का आर्थिक वातावरण काफी प्रतिकूल था। ब्रिटेन और अमरीका में भुगतान शेष की कठिनाई, स्वर्ण सकट, अमरीकी मंदी वियतनाम युद्ध इत्यादि ऐसी समस्याएं थीं जिनके कारण इस सम्मेलन को आशातीत सफलता न मिल सकी और कई विवादग्रस्त विषयों पर कोई समझौता न हो सका। इन सबके अतिरिक्त इस सम्मेलन की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां भी हैं जो निम्नलिखित हैं:—

(1) प्राथमिकतायें—द्वितीय अंकटाड सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि पूर्व में स्वीक त सामान्य भेदभावहीन एवं गैर पारस्परिक ढंग से प्राथमिकताएं सर्व स्वीक ति से जारी रहना चाहिए जिससे विकासशील देशों को लाभ होगा। विकसित देशों ने भी प्राथमिकताओं की एक सामान्य योजना को स्वीक त करके इसका विस्त त ब्यौरा एक विशेष समिति को सौंप दिया। इस योजना को प्राथमिकताओं की सामान्य योजना (G.S.P.) कहते हैं। जिसके निम्नांकित उद्देश्य थे—

(1) विकासशील देशों के औद्योगीकरण में व द्धि करना,

(2) विकासशील देशों के आर्थिक विकास की दर को गतिशील बनाना, तथा

(3) इन देशों को निर्यात आय में व द्धि करना।

(2) पिछड़े परिवहन वाले देश—सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि पिछड़े परिवहन युक्त देशों जिन्हें (Land Locked Countries) कहा जाता है उनके लिए परिवहन व संचार के विकास हेतु विकसित राष्ट्रों द्वारा तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संगठन द्वारा विशेष सहायता कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए।

(3) संस्थागत सहायता—आर्थिक मुद्रा कोष अथवा अन्य किसी माध्यम से आर्थिक सहायता के साधनों में व द्धि न करने का निर्णय द्वितीय सम्मेलन में ही लिया गया।

(4) वस्तु सम्बन्धित समझौते—इस सम्मेलन में विकसित राष्ट्रों ने यह स्वीकार किया कि यदि वस्तुओं की कीमतों में एक निश्चित सीमा के बाद गिरावट होती है तो इसका प्रभाव उत्पादक देश एवं आयतक देश दोनों पर होता है। अतः वस्तु व्यापार समझौतों के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय कोको (Cocoa) समझौता सम्पन्न करने के लिए जून 1968 से पूर्व सम्मेलन की बैठक बुलाई जाए तथा चीनी समझौता (Sugar Agreement) जनवरी 1969 से पूर्व कार्यान्वित किया जाएं।

(5) पूरक वित्तीय सहायता—निर्यात के क्षेत्र में आय की कमी से विकाशील देशों में होने वाली समस्याओं के समाधान हेतु विकसित देशों द्वारा पूरक वित्तीय सहायता प्रदान करने की अनुमति दे दी गई। इस कमी को भुगतान शेष की सहायता से ठीक नहीं किया जा सकता।

(6) विकासशील देशों में संगठन—विकसित देशों ने विकासशील देशों को वित्तीय एवं तकनीकी सहायता देने का संकल्प लिया तथा विकासशील देशों ने आपस में क्षेत्रीय एकता एवं व्यापार को बढ़ाने पर बल दिया, जिससे यह अनुभव होने लगा कि विकासशील देशों में व्यापार के विकास और उनमें संगठन के विषय में प्रगति हुई है। विकासशील देशों ने विकसित देशों से जो ''आशा की घोषणा'' (Declaration of Interest) की, वह विकसित देशों की ''समर्थन की घोषणा'' (Declaration of Support) के अनुरूप थी।

7. विदेशी आर्थिक सहायता—अंकटाड के प्रथम सम्मेलन में विकसित राष्ट्रों की सहमति में यह निर्णय लिया गया था कि वे अपनी आय का 1% भाग विदेशी आर्थिक सहायता के रूप में देंगे किन्तु इस निर्णय में यह स्पष्ट नहीं हो सका कि एक प्रतिशत भाग अपनी कुल राष्ट्रीय आय का या वास्तविक राष्ट्रीय आय का देना है। विकासशील राष्ट्रों ने इसे अपनी कुल राष्ट्रीय आय का तथा विकसित देशों ने अपनी वास्तविक राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत भाग माना था। इसलिए द्वितीय अंकटाड सम्मेलन में यह पुनः निर्धारित किया गया कि कुल राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत भाग विदेशी आर्थिक सहायता के रूप में देना है तथा यह सहायता उदार एवं सरल शर्तों पर संगठित रूप में दी जायेगी।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

अंकटाड का द्वितीय सम्मेलन महत्वपूर्ण उपलब्धियां न प्रदान कर सका। सम्मेलन में जिन विषयों पर चर्चा की गई उनमें से अधिकतर समस्याओं के समाधान नहीं निकाले जा सके। विकसित राष्ट्रों द्वारा कुल राष्ट्रीय आय के एक प्रतिशत भाग आर्थिक सहायता के निर्णय को भी क्रियान्वित नहीं किया जा सका। 1961 में विकसित राष्ट्रों की कुल राष्ट्रीय का 0.96% दिया गया जो कि कम होकर 1971 में 0.74% रह गया।

प्राथमिकताओं के समानीकरण के कार्यक्रम में विकासशील राष्ट्रों को नुकसान सहना पड़ा क्योंकि कुछ यूरोपीय देशों द्वारा सुविधाएं प्रदान करने पर भी अमरीका द्वारा कोई प्रयास नहीं किए गये एवं अमरीका ने तो 1971 में डालर संकट के कारण अपने आयातों पर 10% का अतिरिक्त कर लगा दिया था।

सम्मेलन के महासचिव डॉ. पाल प्रेविश ने विकसित राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों से उदारतापूर्ण व्यवहार बनाने की अपील की लेकिन वे इस कार्य में सफल न हो सके।

अंकटाड का त तीय सम्मेलन

अंकटाड के त तीय सम्मेलन के समय विश्व की आर्थिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ चुके थे इसलिए सम्मेलन में इन परिस्थितियों के अनुसार ही विचार विमर्श किए गये। यह सम्मेलन चिली की राजधानी सेण्टियागो में 13 अप्रैल, 1972 से 17 मई 1972 तक सम्पन्न हुआ। इसमें 120 देशों ने भाग लिया। इन देशों में 96 प्रतिनिधि विकासशील देशों से आये थे। इन देशों ने सम्मेलन में अपनी समस्याओं की तरफ विश्व संगठन ध्यान आकर्षित किया और विकसित देशों के अनुसार व्यवहार की कड़ी आलोचना की उनके अनुसार विकसित देशों की अनुदार नीति के कारण विकासशील देशों के व्यापार में अधिक व द्वि न हो सकी। सन् 1960 में विकसित देशों के निर्यात विश्व निर्यात के 67% थे जो कि 1970 में 71% हो गये इसके विपरीत इसी समय में विकासशील देशों के निर्यात विश्व व्यापार में 21% से घटकर 18% रह गये तथा यूरोपियन साझा बाजार का पारस्परिक व्यापार चार गुना हो गया कि यूरोपियन साझा बाजार में द. पूर्वी एशिया का व्यापार 3% से घटकर केवल 1.6% रह गया और विकासशील देशों का भाग 22% से घटकर सिर्फ 15.9% रह गया।

इस सम्मेलन में निम्न विषयों पर विचार किया गया—

(1) पिछड़े देशों को कम ब्याज की दर पर शर्त रहित ऋण।
(2) विकासशील देशों को विकसित देशों की ओर से विदेशी सहायता जारी रखना।
(3) देश के ऋण भार में राहत।
(4) अंकटाड की कार्य प्रणाली में सुधार।
(5) वस्तुओं के मूल्यों की स्थिरता।
(6) स्वेज नहर तथा निरस्त्रीकरण की समस्या।
(7) भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्था वाले राष्ट्रों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध।
(8) विश्व मुद्रा-व्यवस्था में सुधार।
(9) विकासशील देशों से उत्पादित तथा अर्द्ध निर्मित वस्तुओं को प्राप्त करना।
(10) विकसित राष्ट्रों से विकासशील राष्ट्रों को तकनीकी हस्तान्तरण।
(11) विकास कार्य के लिये विकासात्मक वित्त और SDR के मध्य सम्बन्ध।
(12) जहाजरानी व भाड़े की दरों के बारे में उचित व्यवस्था करना।

अंकटाड के त तीय सम्मेलन के महत्वपूर्ण सुझाव

(1) विकासशील राष्ट्रों ने विकसित राष्ट्रों की तीव्र आलोचना की क्योंकि विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक सहायता करने को तैयार नहीं थे।
(2) विकसित राष्ट्रों पर कुल विश्व के 92 प्रतिशत व्यापारिक जहाज है, जबकि इन पर 2è3 माल विकासशील राष्ट्रों का लादा जाता है। अतः इस कार्य के लिये ऐसे नियम बनाने का निर्णय लिया गया कि जिससे परिवहन का किराया व्यापारिक द ष्टि से कम रखा जाये क्योंकि यह अनुभव किया गया था कि जहाजरानी भाड़े के बारे में भुगतान शेष में भाड़े का कारण इनके भाड़े की दरें हैं।
(3) त तीय सम्मेलन में यह प्रयास किया गया कि धनी राष्ट्रों व निर्धन राष्ट्रों के मध्य का अन्तर समाप्त हो जाये।
(4) भारतीय प्रतिनिधि श्री भराथे ने विकासात्मक वित्त व SDR के बीच सम्बन्ध बनाने के लिये यह परामर्श दिया कि SDR के निर्माण से वास्तविक साधनों की जो बचत की गई है उनमें से कुछ भाग विकास कार्यों के लिये विकासशील देशों को आवश्यक रूप से दिया जाना चाहिये।

(5) विकासशील देशों की अनेकों आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए यह निर्णय लिया गया कि यूरोपीय देशों द्वारा दी जाने वाली प्राथमिकताओं को स्वीकार किया जाये, वस्तु समझौतों पर विशेष बल दिया जाये, परिवहन लागतों में कमी करने के लिए ठोस प्रयत्न किए जाए तथा विकासशील देशों के निर्यातों में व द्धि की जाए।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि यद्यपि अंकटाड का त तीय सम्मेलन अपने उद्देश्यों में पूर्णरूपेण सफल नहीं हुआ फिर भी इसमें असफलताओं को कम करने का प्रयास सफल हुआ। इस सम्मेलन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों को कोई सहायता नहीं देना चाहते वे अपने द्वारा अर्जित सम्पत्ति का बंटवारा या अधिकारों में कमी करना नहीं चाहते। अतः यह सम्मेलन अधिक सफल न हो सका।

अंकटाड का चतुर्थ सम्मेलन

त तीय सम्मेलन के बाद यह महसूस किया गया कि विश्व व्यापार के प्रचलित ढांचे और कार्यप्रणाली के कारण विकासशील देशों की आर्थिक प्रगति की दर में लगातार कमी आयी है। केन्या के राष्ट्रपति श्री केन्याता ने भी इस विषय में निम्नांकित विचार प्रस्तुत किया है—''विकासशील राष्ट्रों के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण संकट इनकी बढ़ती हुई आकांक्षाओं को पूरा होने की गति का धीमा होना है।'' अतः इन्हीं सब समस्याओं को दूर करने क लिए अंकटाड का चतुर्थ सम्मेलन केन्या की राजधानी नैरोबी (अफ्रीका) में 5 मई, 1976 से 15 जून, 1976 तक हुआ। इस सम्मेलन में 153 राष्ट्रों के लगभग 2,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

चतुर्थ सम्मेलन के उद्देश्य व कार्य

इस सम्मेलन में एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (New International Economic Order) बनाने का प्रयास किया गया और प्रमुख व्यापार सम्बन्ध वस्तुओं के विषय में समन्वित कार्यक्रम की सहमति दे दी गयी। अतः इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए चतुर्थ सम्मेलन में जो कार्य निर्धारित किए गए वह निम्नांकित हैं।

(1) **विकासशील देशों की निर्यात व द्धि**—चतुर्थ अधिवेशन में विकासशील देशों के व्यापार-विस्तार के सिद्धांत की दिशा में सक्रिय कदम उठाने की घोषणा की और स्पष्ट किया कि निर्धन देशों के निर्मित व अर्द्धनिर्मित माल के निर्यात विस्तार एवं निर्यात विविधीकरण के हर सम्भव प्रयत्न किए जायेंगे। इसमें विकासशील देशों द्वारा किए जाने वाले निर्यातों पर लगे प्रतिबन्धों को विकसित राष्ट्रों द्वारा समाप्त किए जाने का भी निर्णय लिया गया। विकासशील राष्ट्रों के निर्यात व्यापार में स्थिरता लाने के लिए एकीक त वस्तु कार्यक्रमों को अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावी बनाने का निर्णय लिया गया तथा विकास राष्ट्रों के निर्यात के लिए विश्व बैंक तथा अन्य क्षेत्रीय संस्थाओं द्वारा पुनर्वित्त का प्रबंध करने का निर्णय भी लिया गया।

(2) **विशेष समझौते**—विश्व व्यापार-विकास सम्मेलन की संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत ऐसे सम्मेलन के रूप में प्रस्तुत करने की अनिवार्यता महसूस की गयी, जिसमें विशेष वार्ताओं द्वारा विशेष समझौतों एवं वचनबद्धता को निभाया जा सके। इसको पूर्ण का निर्णय इसी सम्मेलन में लिया गया। इसमें बहुपक्षीय व्यापार समझौता को भी अन्तिम रूप दिया गया।

(3) **ऋण समस्या (Debt Problem)**—विकासशील देशों की ऋणग्रस्तता एवं सम्बन्धित समस्याओं के समाधान हेतु तत्सम्बन्धी क्रियाविधि सम्मेलन की एक प थक बैठक में कार्यक्रम निर्धारित करने का निश्चय किया गया तथा विकसित देशों ने उस संबंध में व्यापक निर्देश बनाने का वचन दिया इसकी सफलता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी अपेक्षा की गयी तथा निश्चित किया गया कि इस कार्य की प्रगति की समीक्षा 1977 अंकटाड का व्यापार एवं विकास बोर्ड द्वारा की जायेगी।

(4) **सामान्य वस्तु निधि (Common Fund for Commodities)**—अन्तर्राष्ट्रीय समीकरण भण्डार (International Buffer Stock) एवं ऋण मुक्ति के लिए, विकसित और विकासशील देशों की एक सामान्य निधि स्थापित का महत्वपूर्ण निर्णय चतुर्थ सम्मेलन में ही लिया गया। इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के प्रमुख कच्चे पदार्थों (Raw Materials) के मूल्यों में स्थिरता लाने और भारी उतार चढ़ाव कम करने के विचार से एक सामान्य वस्तु निधि बनाने का था। चार वर्ष तक गहन विचार विमर्श करने के पश्चात् जून 1980 में इस निधि की स्थापना हुयी। यह निधि इस समय 75 करोड़ डालर की है। इस संगठन में रूस और चीन भी सम्मिलित है। संयुक्त राष्ट्र संघ के 162 देशों में से प्रत्येक इसका सदस्य हो सकता है। इस निधि में विकास देशों को 47% उद्योग प्रधान पश्चिमी देशों को 42% पूर्वी यूरोपीय (साम्यवादी) देशों को 8% तथा चीन को 3% मताधिकार प्राप्त है। इस निधि का उद्देश्य प्रमुख 8 वस्तुओं के मूल्यों का स्थिरीकरण है, किन्तु अभी सिर्फ चार वस्तुओं (रबड़, काफी, चीनी व टीन) को निधि से भण्डार संग्रह का लाभ मिलेगा। निधि की सहायता से सम्बन्धित वस्तुओं के भण्डार रखे जायेंगें जिनसे उनके मूल्यों के उतार चढ़ावों की रोकथाम की जा सके। निधि के दो

भाग हैं। प्रथम भाग 40 करोड़ डालर का है जो भण्डार भरने के काम आयेगा और दूसरा भाग 35 करोड़ डालर का है जिससे अन्वेषण एवं विकास कार्य किये जायेंगें।

(5) **तकनीकी क्षमता सुद ढ़ करना**—इस सम्मेलन में यह निश्चित किया गया कि विकासशील देशों की तकनीकी क्षमता को सुद ढ़ करने के नए-नए उपाय किए जायेंगें तथा इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय एकस्व प्रणाली (International Patent System) में संशोधन किया जायेगा।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय निगम**—विकासशील देशों की निर्यात व द्धि में एक प्रस्ताव पारित करके अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के येागदान पर विशेष जोर दिया गया।

(7) **सामान्य अधिमान योजना (G.S.P.)**—चतुर्थ सम्मेलन में विकासशील देशों के निर्यात बढ़ाने के लिए एक प्रस्ताव द्वारा सामान्य अधिमान योजना में सुधार करने पर विचार किया गया। दस वर्ष की अवधि के बाद भी इस योजना को निरन्तर जारी रखने के विषय में कहा गया।

(8) **विकासशील देशों के मध्य आर्थिक सहयोग का कार्यक्रम**—इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित करके अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों की सहायता से एक ऐसी आचार संहिता (Code of Conduct) की रचना का निर्णय लिया गया। जो विकासशील देशों के मध्य आर्थिक सहयोग को बढ़ावा दे सके।

अंकटाड की जेनेवा बैठक (मार्च 1978)

संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन की एक बैठक मार्च 1978 में जेनेवा में आयोजित की गयी। इसमें विकसित देशों द्वारा अर्द्धविकसित देशों को दिए गए विकास ऋणों में छूट के विषय पर एक प्रशसनीय कार्य किया जिसमें किए गए निश्चयानुसार विकसित देशों ने विकासशील देशों पर चढ़े अपने 250 खरब डालर के कर्ज में ऋण शर्तों के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से काफी छूट की प्रक्रिया निर्धारित की। इस बैठक में यह निश्चय किया गया कि विकसित देश अपने ऋणी देशों के ऋणी शर्तों में संशोधन करेंगें जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन और पश्चिमी जर्मनी जैसे देशों द्वारा दिए गए ऋण प्रायः माफ कर दिए जायेंगें। इतनी बड़ी मात्रा में ऋणों की माफी हो जाने के कारण विकासशील देशों के प्रारम्भिक निवेश पर पड़ने वाला आर्थिक दबाव समाप्त हो जाएगा जिसके कारण विकासशील देशों की उत्पादन क्षमता बढ़ जायेगी और विकासशील देशों का माल विकसित राष्ट्रों के माल से प्रतियोगिता करके अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अपना विशेष स्थान बना सकेगा। उपरोक्त निर्णय इस मत के आधार पर हुआ कि जब तक विकासशील देशों के व्यापार में व द्धि नहीं होती तब तक इन राष्ट्रों के विदेशी व्यापार में भी व द्धि नहीं हो सकती। अतः इन राष्ट्रों के उद्योगों को लाभ पर चलाने के लिए यह आवश्यक है तथा व्यापार शेष को भी अपने पक्ष में करने के लिए यह प्रक्रिया आवश्यक है। सम्मेलन में अन्तिम निर्णय यह लिया गया कि सभी देशों को ऋण में राहत दी जाए जिनकी प्रति व्यक्ति औसत आय 285 डालर है या उससे कम है।

अंकटाड का पंचम सम्मेलन—(मनीला 1979) विश्व की आर्थिक प्रणाली के पुनर्निर्माण में विकसित और विकासशील देशों के मध्य कुछ प्रमुख मुद्दों पर समझौते के उद्देश्य को पूरा करने के लिए अंकटाड का पंचम सम्मेलन 6 मई 1979 से 2 जून 1979 तक फिलीपाइन्स की राजधानी मनीला में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 159 राष्ट्रों के 2,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। जिनमें से 117 विकासशील देश थे। पहले हो चुके सम्मेलनों की तरह इस सम्मेलन में भी विकासशील देशों की व्यापारिक समस्याओं को लेकर विचार विमर्श शुरू हुआ परन्तु इस बार कुछ नयी समस्याओं जैसे—तेल की बढ़ती हुई कीमतों एवं विश्व स्तर पर व्यापक मुद्रा स्फीतिक दशाओं पर भी विचार किया गया। अंकटाड के पांचवें सम्मेलन में निम्नांकित समस्याओं के विषय में विचार किया—

(1) विकसित राष्ट्रों द्वारा तटकर में छूट दिया जाना।

(2) तकनीकी ज्ञान के हस्तान्तरण के लिए उत्तरी से दक्षिणी भाग की दिशा के अलावा विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों की दिशा को भी अपनाना।

(3) सभी सदस्य राष्ट्रों के सामूहिक रूप से सहयोग के द्वारा वस्तु मूल्य स्थायित्व हेतु कोष का गठन करना।

(4) विकासशील राष्ट्रों की जनसंख्या समस्या, खाद्यान्न की कमी तथा विभिन्न कारणों से हुई भुगतान शेष की घाटे की समस्याओं पर विचार करना।

(5) विश्व में संरक्षणवाद की प्रव त्तियों की रोकथाम।

(6) बहुपक्षीय व्यापार समझौतों का मूल्यांकन।

पंचम सम्मेलन के सुझाव या कार्य

इस सम्मेलन में उपरोक्त समस्याओं के समाधान हेतु निम्नांकित कार्य किए गये।

(1) **वस्तु कीमतें**—चौथे अंकटाड सम्मेलन में एक संयुक्त कोष (Common Fund) की स्थापना का निर्णय लिया गया था तथा प्राथमिक वस्तुओं के स्थिरीकरण के विषय में भी काफी विचार विमर्श किया गया था। परन्तु विकसित देशों के इससे व्यक्तिगत वस्तुओं के समझौते कमजोर पड़ रहे थे अतः वे इसका निरन्तर विरोध कर रहे थे। इस विरोध के कारण संयुक्त कोष के आकार को 2 हजार मिलियन डालर से घटाकर 400 मिलियन डालर कर दिया गया। इसके सीमित हो जाने से बफर स्टाक की वित्तीय व्यवस्था करने में इसकी उपयोगिता भी सीमित हो गयी थी।

(2) **वित्तीय सहायता**—सम्मेलन में काफी विचार विमर्श के बाद यह निर्णय लिया गया था कि कम विकसित देशों के आर्थिक एवं व्यापारिक विकास के लिए एक नया व्यापक कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया जायेगा तथा इन देशों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता में महत्वपूर्ण व द्धि की जायेगी। किन्तु यह सहायता पहले से भी कम कर दी गयी पहले यह निश्चय किया गया था कि विकसित देश अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद का एक प्रतिशत सहायता के रूप में देंगे। बाद में यह घटा कर 0.7 प्रतिशत कर दिया गया। किन्तु 1970 में यह सहायता 0.34 प्रतिशत से घटाकर 1977 में 0.31 प्रतिशत रह गयी।

विकासशील देशों को वित्तीय सहायता देने के सम्बन्ध में निम्नांकित निर्णय लिए गए—

(1) वित्तीय विकास सहायता के सम्बन्ध में विकसित देश अपना स्पष्ट मत व्यक्त कर दें तथा जहां तक सम्भव हो सके तीन वर्ष की नीति घोषित कर दें।

(2) कम विकसित देशों को यह सहायता अनुदान के रूप में दी जानी चाहिए। ब्याज की राशि को घटा कर अधिक छूट दी जानी चाहिए तथा ऋणों की परिपक्वता की अवधि लम्बी कर देनी चाहिए।

(3) विकसित देशों को अपने राष्ट्रीय उत्पाद में व द्धि का कम से कम एक प्रतिशत सहायता के लिए प थक कर देना चाहिए तथा वास्तविक रूप से प्रतिवर्ष बजट में सहायता की राशि में व द्धि करनी चाहिए एवं अधिक त सहायता बढ़ाने के लिए अन्तरिम योजनाएं तैयार की जानी चाहिए।

(3) **वार्षिक समीक्षा**—सम्मेलन में व्यापार एवं विकास बोर्ड से आग्रह किया गया कि वह उत्पादन एवं व्यापार के स्वरूप की वार्षिक समीक्षा किया करें जिसमें उपलब्ध सूचना, प्रचलित नीति एवं सामयिक समस्याओं पर विचार किया जाए।

(4) **संरक्षण की रोकथाम**—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा विकासशील राष्ट्रों के विश्व उत्पादन में व द्धि के लिए संरक्षणवाद के संरचनावाद समायोजन के महत्व को स्वीकार किया गया। विकसित देशों से आग्रह किया गया कि वे संरक्षण की रोकथाम के हर सम्भव उपाय करेंगे तथा इस सम्बन्ध में किसी भी दबाव का विरोध करेंगें।

सम्मेलन में GATT से यह अनुरोध किया गया कि वह स्वयं या उचित संगठन के माध्यम से विकसित राष्ट्रों द्वारा संरक्षण के लिए किए जाने वाले भावी कार्यक्रमों की जांच की जाए। भावी संरक्षण को हतोत्साहित करने के लिए सम्मेलन ने गॉट से सिफारिश की कि यदि कोई विकसित देश विकासशील देशों के माल पर किसी प्रकार का संरक्षण कर लगाता है तो वह इसे हतोत्साहित करने के उपाय करें।

(5) **व्यापार का विकास**—अंकटाड के पंचम सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि विकासशील देशों से निर्मित वस्तुओं के निर्यात का प्रतिशत 8 से बढ़ाकर 30 तक पहुंचाया जाय। एक अध्ययन के अनुसार सम द्ध राष्ट्रों ने जो व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाये हैं उनसे विकासशील राष्ट्रों के व्यापार को 30 से 50 अरब डालर की हानि की सम्भावना है। सम द्ध देश, विकासशील देशों से निर्मित वस्तुओं का केवल 8 प्रतिशत खरीदते हैं जबकि 92 प्रतिशत निर्मित वस्तुयें उन्हें खरीदने पर मजबूर करते हैं। अतः सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि विकसित देशों को इस बात के लिए बाध्य किया जाये कि वह उक्त प्रतिबन्धों को समाप्त कर दे अथवा कम कर दे। व्यापार एवं विकास बोर्ड को यह अधिकार दिया गया कि वह प्रतिवर्ष उत्पादन और व्यापार के अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे का अध्ययन करे किन्तु बोर्ड को इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की कार्यवाही करने का अधिकार नहीं दिया गया।

(6) **विकासशील देशों में सहयोग**—विकासशील देशों में सामूहिक आत्मनिर्भरता बढ़ाने के लिए उनमें आर्थिक सहयोग होना बहुत ही आवश्यक है इस बात पर सम्मेलन में विशेष जोर दिया गया। इसमें यह निर्णय भी लिया गया कि विकासशील देशों को पूरक उत्पादन एवं आपस में व्यापार को बढ़ावा देना चाहिए। अंकटाड के द्वारा विकासशील देशों के विकसित देशों के मध्य वे आपसी मतभेद को दूर करने का भी प्रयास किया गया। बिना आपसी मतभेद दूर किए विश्व में उत्पादन

एवं व्यापार के ढांचे में अनुकूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता। विकासशील देशों के 117 देशों का हित तभी सम्भव हो सकता है जब वे आपस में सहयोग करके अपनी सामूहिक शक्ति के आधार पर विकसित देशों से समझौता कर लें। गैर तेल निर्यातक देशों के लिए अंकटाड एक महत्वपूर्ण संस्था है, जिसके माध्यम से वे विकसित देशों से अपने हितों की सुरक्षा की मांग कर सकते हैं। विकासशील व विकसित देशों के बीच की दूरी समाप्त करने का प्रयास अंकटाड सम्मेलन द्वारा किया गया एक सराहनीय कार्य है।

(7) **वस्तुनिधि की द्वितीय खिड़की**—अंकटाड के पांचवें सम्मेलन में सामान्य निधि की द्वितीय खिड़की के समर्थन पर बल दिया। वस्तु विशेष सम्बन्धी तत्कालीन कार्यक्रम को चालू रखने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया गया तथा विकासशील देशों की वस्तुओं के परिष्करण, विपणन एवं निर्यात के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग संगठन स्थापित करने का निश्चय किया गया। वस्तु निधि की द्वितीय खिड़की के लिए 870 डालर अंशदान की घोषणा भारत सहित 13 देशों ने की। इसके अन्तर्गत सम्मिलित वस्तुओं के अनुसंधान एवं विकास के लिए धन दिया जायेगा।

उपरोक्त लिए गए निर्णयों के आधार पर इस सम्मेलन को सफल नहीं माना जा सकता है। अंकटाड पंचम के सम्मेलन के अध्यक्ष फिलीपीन्स के विदेश मंत्री रोम्यूलों ने समापन भाषण में कहा कि, ''पंचम अंकटाड की न कोई सफलता रही न कोई असफलता।'' परन्तु इससे एक कार्य बहुत ही प्रशंसनीय व महत्वपूर्ण हुआ कि इसने विकासशील देशों के मध्य क्षेत्रीय एकीकरण व सहयोग की भूमिका तैयार की है तथा इसके प्रारूप के निर्मित करने के लिए 18 देशों की समिति की नियुक्ति की है।

अंकटाड का षष्ठम सम्मेलन

विश्व के तत्कालीन आर्थिक संकट से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान हेतु अंकटाड का षष्ठम सम्मेलन हुआ जो कि 6 जून से 3 जुलाई तक 1983 में बिलग्रेड (यूगोस्लाविया) में हुआ। इसमें 166 देशों के 3000 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में निम्नांकित 6 समस्याओं पर विशेष रूप से विचार विमर्श किया गया।

(1) कम विकसित देशों की आर्थिक स्थिति के सुधार सम्बन्धी 1981-90 दशक का कार्यक्रम और उसे कार्यान्वित करने की उपयुक्त विधि।
(2) विकासशील देशों की मुख्य समस्यायें और उनका उपचार।
(3) संरक्षणवाद का अंत और विकासशील देशों के निर्यात व द्धि के उपाय।
(4) विकासशील देशों को तकनीक का हस्तांतरण।
(5) विश्व व्यापार की प्रमुख वस्तुओं की समीक्षा करना, सामान्य कोष की स्थापना तथा वस्तु बाजारों की स्थिरता।
(6) अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय एवं मौद्रिक-व्यवस्था में ऐसे सुधार करना, जिससे कि विकासशील देशों को अधिक से अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध हो सकें।

अंकटाड षष्ठम के सुझाव

इस सम्मेलन में उपरोक्त समस्याओं को दूर करने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये गये—

(1) वर्तमान में उपभोक्ता वस्तुओं के लिए मांग तथा बिक्री के लिए पर्याप्त मात्रा में योगदान नहीं हो पा रहा है क्योंकि उपभोक्ता वस्तुयें निर्यात करने वाले देश अपने पूर्व विदेशी ऋणों के भुगतान से ग्रस्त हैं। अतः इस गम्भीर संकट को दूर करने के लिए विश्व व्यापार एवं मौद्रिक सम्बन्धों में सुधार की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया गया।
(2) विकसित राष्ट्रों द्वारा अच्छी तकनीक को अपनाकर अधिक मात्रा में उत्पादन किया जाता है तथा कम कीमत पर उत्पादन की बिक्री करके लाभ कमाया जाता है, जिससे की विकासशील राष्ट्रों की वस्तुयें बाजार में बिक नहीं पाती हैं। अतः इस सम्मेलन में उपभोक्ता पदार्थों की राशिपतन के आधार पर बिक्री पर रोक लगाने का सुझाव दिया।
(3) इस सम्मेलन में यह सुझाव भी दिया गया कि उपभोक्ता पदार्थों के लिए एक विशेष कोष की स्थापना की जानी चाहिए जिससे एक बार कोष प्रारम्भ होने पर उत्पादक और उपभोग करने वाले राष्ट्रों को लाभ होगा व अतिरिक्त उपभोक्ता पदार्थ समझौते की व्यवस्था भी हो सकेगी।
(4) अन्तर्राष्ट्रीय उपभोक्ता वस्तु समझौता 1981 में जिन कार्यक्रमों को सहायता देने का निश्चय किया गया था उन्हें विश्व मुद्रा कोष की शेष राशि में से सहायता दी जानी चाहिए। इस समझौते के अन्तर्गत टिन, कोको, रबर तथा चीनी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उपरोक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि छठा सम्मेलन सफल तो नहीं हुआ परन्तु उसे सर्वथा असफल भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इस सम्मेलन में विकसित देश इस पर लगभग सहमत हो गये थे कि संरक्षणावाद पर रोक लगायी जायेगी और परिमाण प्रतिबन्धों को कम करने अथवा सर्वथा हटाने की दिशा में विधिवत कार्य किया जायेगा।

सितम्बर 1983 में विकासशील देशों की आर्थिक सहयोग समिति (Committee on Economic Cooperation) की एक बैठक हुई जिसमें व्यापारिक अधिमानों को विश्वव्यापी प्रणाली (Global System of Trade Preferences GSTP) के सम्बन्ध में विचार विमर्श हुआ। किन्तु दोनों वार्ता में आपसी मतभेद होने के कारण समिति की इस बैठक में कोई निर्णय न लिया जा सका। भारत सरकार ने नई दिल्ली में जुलाई 1985 में 77 देशीय समूह (G-77) के मंत्रियों का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें व्यापार अधिमान विश्वव्यापी प्रणाली (GSTP) की समीक्षा की गयी तथा इसके विभिन्न पहलुओं पर गहन विचार विमर्श किया गया। तत्पश्चात एक समयबद्ध कार्यक्रम निर्धारित किया गया जिसमें पारस्परिक व्यापारिक सहयोग बढ़ाने पर विशेष बल दिया गया।

अंकटाड का सातवां सम्मेलन

विश्व अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श करने के लिए अंकटाड का सातवां सम्मेलन 3 अगस्त, 1987 को जेनेवा (फ्रांस) में आयोजित किया गया। इसमें ऊंची ब्याज दर, विकासशील देशों में पूंजी प्रवाह की अपर्याप्तता, बढ़ता हुआ ऋणभार, प्रतिकूल व्यापार प्रव त्तियां एवं अस्थिर विनिमय दर इत्यादि विषयों पर विचार विमर्श किया गया। विकास हेतु मुद्रा एवं वित्त विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होने की इच्छा भी बहुत से देशों ने व्यक्त की। विकसित देशों के समक्ष यह विचार प्रस्तुत किया गया कि वे स्थिर, सतत् एवं मुद्रा प्रसार पैदा न करने वाले विकास को प्रोत्साहित करें एवं आर्थिक नीतियों के बहुपक्षीय द ष्टिकोण को मजबूत करें। बाह्य वित्तीय साधनों को युक्तिसंगत एवं नीतियों के अनुरूप ढालने के लिए इस सम्मेलन में विकासशील देशों ने घरेलू वित्तीय एवं मानवीय साधनों को गतिशील बनाने के लिए सहमति व्यक्त की। इस सम्मेलन में मुख्य रूप से तीन विषयों पर विचार किया गया।

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार**—अंकटाड के सातवें सम्मेलन में मुख्य बात यह रही कि इसमें प्रायः सभी क्षेत्रों में अल्पविकसित देशों के हितों को प्राथमिकता दी गयी तथा इस सिद्धांत की पुष्टि की गयी कि वस्तु व्यापार में यह शर्त व्यापार नहीं होना चाहिए कि अन्य क्षेत्रों में छूट मिलने पर ही वस्तु व्यापार किया जाएगा। इस सम्मेलन में ही, गैट के यूराग्वे सम्मेलन में विश्व व्यापार प्रणाली के लिए अनुमोदित बहुपक्षीय व्यापार समझौते की पुष्टि की गयी तथा अल्पविकसित देशों के लिए व्यापार के बहुत नये कार्यक्रम को पूर्ण रूप से शीघ्र कार्यान्वित करने पर बल दिया।

(2) **विकासशील देशों की ऋण समस्या**—विकासशील देशों की ऋण सम्बन्धी समस्याओं के विषय में यह मांग की गई कि इसमें व्यापार एवं विकास बोर्ड समझौता 1978 को गरीब देशों की ऋण समस्याओं को हल करने के लिए लागू किया जाये किन्तु इस सम्मेलन में तीसरी दुनिया के ऋणों के बारे में कोई सहमति न हो सकी। इस सम्मेलन में ऋण समस्याओं के सम्बन्ध में सहयोगपूर्ण एवं विकासजनित व्यूह रचना पर विशेष जोर दिया गया तथा विकसित देशों के उत्तरदायित्व को स्पष्ट किया गया।

(3) **विकास हेतु बाह्य सहायता**—अंकटाड के इस सम्मेलन में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि विश्व बैंक के सदस्य देशों को बैंक की पूंजी में शीघ्र व द्धि करने के प्रयास करने चाहिए जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साधनों में व द्धि करके उन्हें मजबूत बनाया जा सके तथा जिससे सदस्य देशों को सहायता दी जा सके। सम्मेलन में स्थिर विनिमय दर का समर्थन किया गया जिससे संतुलित व्यापार, विनियोग एवं बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली में सहायता की जा सके। इसमें कम आय वाले देशों की सहायता का वचन दिया गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की संरचनात्मक समायोजन सुविधा (SAF) को तीन गुना करने की मांग की गयी।

औद्योगिक देशों ने उक्त सम्मेलन को मात्र तकनीकी सहायता देने का केन्द्र बिन्दु बनाने का प्रयास किया किन्तु भारतवर्ष ने इसका विरोध किया तथा अपना यह मत व्यक्त किया कि अंकटाड को व्यापार एवं सेवाओं तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। इसका कार्यक्षेत्र व्यापक होना चाहिये।

अध्याय 33
विश्व व्यापार संगठन
(World Trade Organisation)

1 जनवरी 1995 को गैट और डकल प्रस्तावों से विश्व व्यापार संगठन का जन्म हो गया है। दिसम्बर 1999 तक विश्व व्यापार संगठन के सदस्य देशों की संख्या 135 हो गयी है। अभी 20 देश जिनमें चीन इथोपिया शामिल हैं। इस संगठन की सदस्यता लेना चाहता है। भारत भी इस संगठन का एक सदस्य है। भारत सरकार ने एक कैबिनेट फैसले के द्वारा विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता पर मंजूरी की मोहर लगा दी है। जिसकी सूचना 9 दिसम्बर में दी गयी। इसमें शमिल होने के लिये भारत सरकार ने दो अध्यादेश निकालकर अपने कानून में भी संशोधन किये है।

इसी के साथ पांच दशक का इंतजार पूरा हुआ। 1944 मे अमेंरिका के ब्रेटनवूडस शहर में दुनिया की अर्थव्यवस्था चलाने के लिये जिन तीन संस्थाओं की कल्पना की गयी थी उनमें अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के अलावा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का भी प्रस्ताव था। दिलचस्प बात यह है कि तब अमरीकी संसद ने ही इसके जन्म को रोका था। यह अमरीकी संसद व सरकार की संप्रभुता का उलघन होगा, इस आधार पर सयुंक्त राज्य अेमरिका की संसद ने इस विषय के हवाना घोषणा पत्र की पुष्टि करने से इंकार कर दिया था। नतीजा यह हुआ कि गैट यानी व्यापार व सीमा शुल्क सम्बन्धी सामान्य समझौता ही चलता रहा, जो कि अंतराष्ट्रीय व्यापार संगठन के जन्म तक एक तदर्थ व्यवस्था के रूप मे ही प्रारम्भ में लाया गया था।

अमरीकी संसद के मत-परिवर्तन के पीछे एक बदली हुई अंतर्राष्ट्रीय स्थिति और दूसरा, स्वंय गैट व विश्व व्यापार संगठन का बदला हुआ स्वरूप है। पिछले कुछ दशकों में अंतर्राष्ट्रीय अर्थजगत में सबसे बड़ी घटना विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उदय और बढ़ते वर्चस्व की रही है। तकानालाजी के नये परिवर्तनों, विशेषकर दूरसंचार और जैव तकनालाजी के क्षेत्र में ने पूरी दुनिया मे उनकी साम्राज्य बढ़ाने में मदद की है। वित्तीय गतिविधियों के विस्फोट और विस्तार ने जिनका वास्तविक उत्पादन से कम ही संबध रहता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियो को पूरी दुनिया में पैर फैलना और बेइन्तहा मुनाफा कमाने का मौका दिया है। अंत में, साम्यवादी व्यवस्थाओं के पतन और अन्य देशों में विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव में बढ़ते निजीकरण व उदारीकरण ने भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिये नये क्षेत्र खोले हैं।

विश्व व्यापार संगठन और डंकल करार को समझने में इसकी कुछ विस्तार से पड़ताल सहायक होगी। पूरी दुनिया में आज लगभग 37,000 बहुराष्ट्रीय कंपनियां है, जो 1,70,000 सहयोगी कंपनियों के जरिये दुनिया में अपना जाल फैलाएं है। लेकिन इनमें भी वास्तविक ताकत थोड़ी सी कंपनियों के हाथ में सीमित होती जा रही हे। इनमें से सबसे बड़ी 200 कंपनियों के हाथ में 1992 में दुनिया का 27 प्रतिशत उत्पादन आ चुका था। इनमें से 172 कंपनियां मात्र पांच देशों की थी-सयुंक्त राज्य अमेरिका (60) जापान (54) फांस (23) जर्मनी (21) और ब्रिटेन (14)।

अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रो के बीच कम और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बीच ज्यादा होता है। पूरा विश्व का दो-तिहाई व्यापार आज 500 बड़ी कंपनियों द्वारा संचालित होती है। विश्व बाजार का 40 प्रतिशत से ज्यादा तो वास्तव में बहुराष्ट्रीय कंपनियां और उनकी शाखाओं या सहायक कंपनियों के बीच का आंतरिक व्यापार बन गया है। दुनिया की उत्पादक संपति का छठा हिस्सा 100 सबसे बड़ी कंपनियों के हाथों में केंद्रित हो चली हैं।

विश्व व्यापार की वास्तविकताओं के इस प्रकार देखें कम्प्यूटर, इलेक्ट्रॉनिकस, हवाई जहाज, बिजली उपकरण आदि अनेक वस्तुओं का आधे से अधिक विश्व बाजार मात्र पांच बड़ी कंपनियों के कब्जे में है। वाहन (आटो मोबाइल) उद्योग का 80 प्रतिशत विश्व कारोबार 13 बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथ में है। क षि-रसायनों का कारोबार दुनिया का एक बढ़ता हुआ कारोबार है जिसे नयी गैट व्यवस्था में काफी बढ़ावा मिलने लगा है। लेकिन इसका 94 प्रतिशत विश्व व्यापार मात्र 20 कंपनियों के हाथों में है इनमें 9 यूरोप की है, एक अमेरिका की और पांच जापान की है। तीसरी दुनिया के गरीब मुलको

का मुख्य निर्यात प्राथमिक वस्तुएं अर्थात् क षि उपज मांस, मछली, वनोपाज व खनिज पदार्थ है। लेकिन इनका विश्व व्यापार मात्र 6 बहुराष्ट्रीय कंपनियां नियन्त्रित करती हैं। अनाज का 70% अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एक अमरीकी कंपनी कारगिल के हाथ में है, यही वही कंपनी है, जो भारत के घुसपैठ के प्रयास में पिछले दिनों कांडला सत्याग्रह और कर्नाटक में किसानों के उक्त विरोध के कारण काफी चार्चित रही थी।

ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां इतनी बड़ी हो चुकी है कि इनमें से एक-2 के संसाधन व आमदनी दुनिया के अनेक देशों के राष्ट्रीय संसाधनों व कुल राष्ट्रीय आय से ज्यादा हो चुके है। इससे इनकी ताकत व इनके प्रभाव का अंदाजा लगाया जा सकता है। दुनिया की 15 बड़ी कंपनियों की सालाना आमदनी (बिक्री) 120 देशों की राष्ट्रीय आय के स्तर से ऊपर पहुँच चुकी हैं। शेल आईल कंपनी 1990 की कुल आय तंजानिया, इथोपिया, नेपाल, बंगलादेश, पाकिस्ताान, जायरे, युगांडा, नाइजीरिया और केन्या की राष्ट्रीय आय की सम्मिलित आय से भी ज्यादा थी। आज कारगिल कंपनी की सिर्फ कॉफी की सालाना बिक्री अफ्रीका के उन सारे देशों में किसी के भी राष्ट्रीय आय से ज्यादा है, जिनसे वह कॉफी बीज खरीदती है। और यदि दुनिया में कॉफी का कारोबार बढ़ता है या कॉफी का राष्ट्रीय दाम बढ़ता है तो इन कॉफी उत्पादकों में से कोई लाभन्वित नहीं होगा, सिर्फ कारगिल के मुनाफे बढ़ जायेंगे।

दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण, उदारीकरण और खुलेपन और विश्व व्यापार बढ़ाने की ताजा मुहिम का यही रहस्य है। डंकल करार पर दस्तखत होने के बाद दुनिया का व्यापार तेजी से बढ़ने की भविष्यवाणियां की गयी। बड़े-बड़े आंकडे पेश किये गये जिनके स्त्रोत और जिनकी सत्यता तथा विश्वसनीयता काफी संदेहास्पद है, लेकिन यह सत्य है कि जो व्यापार बढ़ेगा, उसको असली फायदा इन्ही विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मिलेगा। डंकल मसविदा बनवाने, पारित करवाने और उसको लागू करवाने के लिये विश्व व्यापार संगठन बनवाने, में सबसे ज्यादा स्वार्थ इन्हीं का है। अमेरिका-यूरोप जापान की सरकारे इन्हीं के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। गैट मे उनके प्रतिनिधिमंडल इन्ही कंपनियों के पूर्व और वर्तमान पदाधिकारयिों से भरे रहते है। यही तक कि गैट के वर्तमान माहदेशक पीटर सदरलैण्ड भी बहुराष्ट्रीय बैंको और कर्मचारियों के बोर्ड से ही इस पद पर आये है। जिस अमेरिकी संसद को साढ़े चार दशक पहले अंतराष्ट्रीय व्यापार संगठन, मंजूर नही था और उससे विश्व अर्थव्यवस्था में अपवर्चस्व व मनमानी पर अंकुश लगने का खतरा नजर आता था। वही आज विश्व व्यापार संगठन के लिए तैयार है तो इसी कारण कि आज अपनी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साम्राज्य विस्तार में ही अमेरिका को अपनी सर्वोच्चता की रक्षा का उपाय नजर आता है।

गौरतलब यह भी है कि 1986 में जब गैट की वार्ता का वर्तमान उरूग्वे दौर शुरू हुआ था? तब विश्व व्यापार संगठन का प्रस्ताव नहीं था। उरूग्वे के शहर युन्टा डेल एस्टे से वार्ता के मुद्दों को स्पष्ट करने वाला जो घोषणापत्र देशों की सहमति से जारी हुआ था। इनमें इसका जिक्र नहीं था। बाद में जब अमीर देशों को गैट में नये विषय लाने और गैट का दायरा फैलाने के प्रयासों में सफलता दिखाई देने लगी, तो उन्हें लगा कि इस नयी भूमिका के लिये गैट का वर्तमान ढांचा काम नहीं देगा। अतएवं डंकल प्रस्ताव मे बहुपक्षीय व्यापार संगठन की बात जोड़ी गयी। अंत में डंकल मसविदे पर दस्तखत होते-होते अंतिम क्षण में अमेरिका के आग्रह पर उसका नाम बदल कर विश्व व्यापार संगठन कर दिया गया। क्योंकि यह पहले अमेरिका बहुपक्षीय व्यापार संगठन का विरोध कर चुका था। वस्तुतः पूरे गैट और वर्तमान उरूग्वे दौर का इतिहास देखा जाय तो अनेक बार अनेक चीजे अमेरिका की इच्छा, सुविधा या स्वार्थों से ही तय हुई है।

विश्व व्यापार संगठन का सबसे प्रमुख काम व उद्देश्य डंकल करार के नाम से मशहूर नये गैट समझौता का क्रियान्वयन करवाना है 15 अप्रैल 1994 को मराकेश में विश्व व्यापार संगठन के विषय में जिस करार पर दस्तखत हुए है, इसमें इसका स्पष्ट उलेख है। गैट समझौते को, जिसमें ट्रिम्स, टिप्स सेवाओं को व्यापार आदि सम्मिलित है। इस करार का अभिन्न हिस्सा बनाया गया है। इस अर्थ में विश्व व्यापार संगठन अभी तक के गेट से काफी अलग होगा। अभी तक गैट का सराकर वस्तुओ के अंतराष्ट्रीय व्यापार पर राष्ट्रीय सरकारों द्वारा लगाए जाने वाले सीमा शुल्कों व अन्य प्रतिबंधों से था। यहाँ तक कि क षि भी आमतौर पर इसके क्षेत्र से बाहर थी। नया विश्व व्यापार संगठन न केवल संगठन केवल उद्योग, खेतों और सेवाओं के बाजार को मुक्त और विस्त त करना चाहता है, बल्कि दुनिया के देशाों के उत्पादन, उपभोग, तकनालाजी, अनंसंधान, पूंजी निवेश, मिलिकपत, राष्ट्रीय प्राथमिकताएं और आंतरिक नीतियां सबकों एक खास ढांचे में ढालना चाहता है। इसीलिये यह आंशका प्रकट की जा रही है कि विश्व व्यापार संगठन दुनिया के राष्ट्रो की सरकारों की सत्ता और सप्रभुता को सीमित करेगा और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की सत्ता 9 उनके साम्राज्य को बढ़ाएगा।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमित कुमार बागची ने डंकल-सदरलैण्ड दस्तावेज को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अधिकारों का घोषणा पत्र निरूपित किया है। नये गैट समझौते के एक-2 हिस्से की मीमांसा से यह स्पष्ट होता है। ट्रिम्स का मतलब है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों से यह स्पष्ट होता है। ट्रिम्स का मतलब है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियो को दुनियां में कही भी पूंजी लगाने व निकालने, धंधा करने ओर मुनाफा कमाकर ले जाने की पूरी आजादी हो। अभी तक सरकार अपने देश में कार्यरत विदेशी कंपनियों पर कई प्रतिबन्ध व शर्ते लगाती थी। जैसे, कारोबार में विदेशी मिलिकयत एक सीमा से ज्यादा नहीं होगी (भारत में कुछ समय पहले तक 40 प्रतिशत की सीमा थी) कुछ क्षेत्रों में उनका प्रवेश वर्जित होगा, उन्हें अपने साथ नयी तकनालाजी भी लानी होगी,उन्हें देश के निर्यात विदेशी मुद्रा कमाई में योगदान करना होगा, दामों पर नियंत्रण होगा, इत्यादि। इन शर्तो और बन्धनों का उछेश्य रहता था कि विदेशी कंपनिया नाजायज तरीके से देश का शोषण न करे और राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप कार्य करे। किन्तु अब सरकारों के हाथ बंधे होंगे।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों की करतूत जगजाहिर हैं। उन पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। भारत वासियों के लिये तो सबसे बड़ी मिसाल भोपाल गैस कांड है। विश्व व्यापार संगठन की सबसे कड़ी विंसगति यह है कि राष्ट्रो की सरकारों के लिए तो इसमें ढेरो नियम-कायदे निर्देश प्रतिबन्ध है जो हजारों प ष्ठों में फैले है, लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिये कोई नियम या आचार संहिता इसकी व्यवस्था में नहीं है और न राष्ट्रीय सरकारों को इजाजत दी गयी है कि वे उन पर कोई अनुशासन लागू करे, सरकारों का बंधन, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आजादी-यह नयी व्यवस्था का मूल सूत्र प्रतीत होता है।

'राष्ट्रीय व्यवहार' नयी डंकल व्यवस्था का एक प्रिय सिद्धान्त है, जिसका कई जगह उल्लेख है इसका मतलब है कि कोई सरकार विदेशी फर्मो व नागरिको के साथ वही बर्ताव करेगी जो देशी फर्मो व देश के नागरिकों के साथ वही बर्ताव करेगी जो देशो फर्मो व देश के नागरिको के साथ करती है, दूसरे शब्दों में सरकार देशी-विदेशी में भेद नहीं कर सकती। देशी की वरीयता व प्रोत्साहन नहीं दे सकती। जहां इस सिद्धान्त का उपयोग हुआ है, वहां सरकार को विदेशियों को वे सारे अधिकार देने पड़ेगे जो देशी कंपनियो या नागरिकों को दिये गये है। दरअसल विदेशियों के अधिकार स्थापित करना और बढ़ाना तथा सरकारों के अधिकार सीमित करना-यह नयी गैट व्यवस्था व विश्व व्यापार संगठन का प्रमुख उद्देश्य है। इसीलिये कई विद्वानो ने इसे नये रूप में फिर से उपनिवेश बनाने की प्रक्रिया निरूपित किया हैं।

सेवाओं का उदाहरण ले। विश्व व्यापार संगठन के कार्यक्षेत्र में दुनिया में सेवाओं का निर्बाध और स्वतन्त्र व्यापार सुनिश्चित करना भी है, लेकिन उन्ही सेवाओं पर आग्रह है जो तकनालाजी व पूंजी प्रधान है और जिस में अमीर देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व है, जैसे फोन, उपग ह, टी.वी., मीडिया, मनोरंजन, बैक, बीमा, शेयर व्यवसाय, समुद्री जहाज हवाई यातायात, विज्ञापन, डिजाइन, चिकित्सा आदि। दुनिया के गरीब देश जो सेवाए प्रदान करते है, वे श्रम प्रधान हैं, जैसे निर्माण कार्य लेकिन उनके स्वतंन्त्र विनिमय लिये मजदूरों, मैकेनिको, कर्मचारियो आदि के प्रवास की छूट होनी चाहिऐ, जिसके लिये अमीर देश तैयार नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अंतराष्ट्रीय व्यापार और खगोलीकरण (ग्लोबलाईजेशन) के इस खेल के लिये एक पक्षीय है। और अमीर देश बेईमानी कर रहे है।

आधुनिक सेवाओं के स्वतन्त्र व्यापार पर आग्रह के 2 प्रमुख कारण है। एक वस्तु उत्पादन में जब अमेरिका देश पिछड़ते जा रहे है। उनके ज्यादातर उद्योग घाटे में चल रहे है या उन्हें तीसरी दुनिया की भूमि पर स्थांनारित किया जा रहा है क्योंकि वहां श्रम सस्ता है, कच्चा माल उपलब्ध है। प्रदूषण और पर्यावरण विनाश की छूट है और मध्यम वर्ग के रूप में नया बढ़ता हुआ उपभोक्ता बाजार भी वही पर है। (और ट्रिक्स की बदौलत फिर भी मुनाफा उनका ही है) अमेरिका की अर्थव्यवस्था में क षि व उद्योग का हिस्सा घटता जा रहा है, "सेवाएं" ही सबसे प्रमुख प्रतिविधि हो गयी है, इन्हीं सेवाओं का निर्यात वे करना चाहते है और इनका जाल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर फैलाना चाहते है। दूसरी बात यह है कि सेवाओं के रूप में अंतराष्ट्रीय स्तर पर लूट का एक और माध्यम उनको मिल जाता है। (इसलिये सेवा शब्द बहुत भ्रामक है)। उदाहरण के लिये अंतराष्ट्रीय बाजार में बाकी का जो अन्तिम मूल्य होता है। उसका सिर्फ दस प्रतिशत काफी उत्पादकों को मिलता है। इस मूल्य का बड़ा हिस्सा थोक व खुदरा व्यापार, बैंक, बीमा पविहन, दूरसंचार, विज्ञापन संचार, परामर्श, तकनीकी सेवाओं आदि के नाम पर अमीर देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों को चला जाता है। न केवल इन सेवाओं का हिस्सा बहुत ज्यादा व नाजायज है, बल्कि इन सेवाओं की मान समाज की कितनी जरूरत है, यह भी गौर करने के लायक है, उदाहरण के लिये, वित्तीय सेवाएं ले-जिनमें बैक, बीमा, शेयरों का धन्धा, कंपनियो की खरीद-फरोखत, सटॅटेबाजी दलाली आदि गिनी जा सकती है। इन गतिविधियों का पिछले वर्षों में विस्फोट हुआ है और इन में संलग्न फर्मो व कंपनियों के मुनाफे बेतहाशा बढ़े

है लेकिन वास्तव में मानव समुदाय जरूरतें पूरी करने और वास्तविक उत्पादन बढ़ाने में इन्होने कोई योगदान नहीं दिया है।

बौद्धिक सम्पदा अधिकार के नाम से जो नया दावा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर डंकल करार के माध्यम से किया गया है वह भी अन्तर्राष्ट्रीय शोषण का एक माध्यम है। पेटेन्ट से बहुराष्ट्रीय कंपनियो को घर बैठे मुनाफे का नया स्त्रोत मिल जाता है। पूरी दुनिया में एक सी पेटेन्ट व्यवस्था लागू होने से बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बड़े क्षेत्रों में एकाधिकार हासिल हो सकेगा, वे मनमाने दाम बढ़ा सकेगी और रायल्टी वसूल करेगी। यह रायल्टी वस्तु के मूल्य के 50 प्रतिशत तक भी हो सकती है। पेटेन्ट व्यवस्था की एक खासियत यह है कि अनुसंधान या अविष्कार कोई भी करे उसका व्यवसायिक एकाधिकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में पहुंच जाता है। या वे स्वयं पैसा देकर यह अनुसंधान कराती है या फिर पैसा देकर पेटेन्ट के अनेक दावे फर्जी और सरसर अनुचित है। जैब तकनालाजी संबधी पेटेन्ट के अधिकार खरीद लेती है। फिर जैसा कि नीम के पेटेन्ट जैसे उदाहरणों से स्पष्ट है, पेटेन्ट के उनके दावे इसलिये भी अनैतिक है कि उनका सारा अनुसंधान तीसरी दुनिया की ही जैविक संपदा पर आधारित है जिसे उन्होने बिना सिकी मुआवजे के लूटने व नष्ट करने में कोई कसर नही छोड़ी है।

पेटेन्ट की अवधारणा स्वतंत्र व्यापार के उस सिद्धान्त के भी खिलाफ है जो अन्यथा गैट का मूल का आधार है और जिसकी दुहाई अमीर देशों की ओर से हमेशा दी जाती है। लेकिन चूंकि दुनिया के 80 प्रतिशत पेटेन्ट अमीर देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पास है, सिद्धान्त भी सुविधा के हिसाब से बदल जाते है।

पेटेन्ट ने पूरे मानव इतिहास के मूल्यों और विवेक को उलट दिया हैं। अभी तक ज्ञान, विद्या, आविष्कार या खोज के व्यक्तिगत संपति न मानकर मानवता की या समाज की विरासत माना जाता रहा। भारत में तो एक प्रसिद्ध सुभाषित इस विषय मे है जिसका आशय है कि विद्या एक ऐसा धन है जिसकी कभी चोरी नहीं की जा सकती और जिसे जितना बांटों उतना बढ़ता हैं। इसके ठीक विपरीत आज अमेरिका जैसा देश न केवल अपनी कंपनियों को स ष्टि की हर चीज का पेटेन्ट प्रदान कर रहे हैं, बल्कि पूरी दुनिया को चोर ठहरा रहें हैं। अमेरिका अपने देश में चाहे जो पेटेन्ट व्यवस्था बनाए इसके लिए वह स्वतंत्र है। लेकिन उसे पूरी दुनिया पर थोपना तथा पूरी दुनिया में उससे जुड़े उत्पादन व व्यवसाय को निषेध कर देना, एक प्रकार की अंन्तर्राष्ट्रीय दादागिरी हैं।

वस्त्र व्यापार में भी गैट व्यवस्था की विसंगति और भेद भाव स्पष्ट हैं। पूरे डंकल दस्तावेज में पचासों जगह यह कहां गया है कि सरकारें व्यापार पर मात्रात्मक प्रतिबंधो से परहेज करेगी और लगाना है तो सीमा शुल्क लगाएगी। लेकिन फिर भी वस्त्र व्यापार में अमेरिका व अन्य अमीर देशों ने आयात के कोटे तय कर रखे है, यह गैर विरोधी व्यवस्था न केवल कई बरसों से चली आ रही है, बल्कि नये करार ने इसको और दस वर्षो के लिये बढ़ा दिया है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कपड़ा और रेडीमेड वस्त्र तीसरी (जिस में भारत भी है), का प्रमुख निर्यात है तथा इसके व्यापार में अमीर देशों की बड़ी कंपनियां नहीं है।

खेती अनाज के मामले में भी विश्व व्यापार संगठन का हस्तक्षेप बहुराष्ट्रीय कंपनियों के स्वार्थी की पूर्ति करेगा। पिछले कुछ वर्षो में खेती, क षि रसायन, डिब्बाबंद खाद्य सामग्री, औषधि आदि से जुड़ी कंपनियों को तेजी से विलय, एकीकरण और विस्तार हुआ। अब वे विशालकाय कंपनिया पूरी दुनिया की खेती को अपने कब्जे में लेने और मुनाफे की फसले काटने के लिये तत्पर है। उनके लिये दुनिया के बाजार खोलने, आंतरक अनुदान व किसानों की मदद घटाने और पेटेन्ट या सुई जेनेरिस व्यवस्था के रूप में उनका एकाधिकार कायम कराने का काम विश्व व्यापार संगठन करेगा। खेती विश्व का सबसे बड़ा व्यापक उत्पादन है जिससे सार्वधिक लोगों की रोजी-रोटी जुड़ी है। दुनिया के लोगों की भूख व पोषण का संबध भी इससे है, इसीलिये यह पूरी येजना बहुत खतरनाक है।

उदाहरण के लिये, मैक्सिको की खेती और नापटा के असर का विश्लेषण किया गया है। नाफ्टा का मतलब है उतर अमेरिका स्वतंत्र व्यापार समझौता।

इसमें सयुंक्त राज्य अमेरिका, कनाडा व मैक्सिको शामिल है। डंकल करार पर दस्तखत होने के ठीक पहले यह हुआ था। नाफ्टा में मैक्सिकों में मांस निर्यात को, फल सब्जी उत्पादकों और कुछ गन्ना उत्पादको को फायदा पहुंच सकता है, लेकिन मक्का वहां की मुख्य फसल है जो 48 प्रतिशत खेतों में बोई जाती हैं मैक्सिको के 20लाख मक्का किसानों के लिये यह समझौता बरबादी का संदेश लाया है क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका 9 कनाडा से सस्ता अनाज मैक्सिको पहुंचेगा। अनुमान लगाया गया है कि नापटा के परिणामस्वरूप मैक्सिको के देहातों से लगभग 8,50,000 परिवार बर्बाद होकर पलापन

करने को संयुक्त अमेरिका चले आयेगे। विश्व व्यापार व धंधो के लिये सस्ता श्रम मुहैया करायेगें। विश्व व्यापार संगठन के निर्देशन में दुनिया में जिस प्रकार के परिर्वतन होने वाले है, उनकी यह एक झांकी है।

विश्व व्यापार संगठन की कार्य प्रणाली कैसी होगी, इसकी रूपरेखा तय होनी बाकी है। लेकिन मराकेश में हुए करार में कुछ चीजे स्पष्ट है, जिनसे पता चलता है कि कैसे दुनिया के गरीब देशो की बाहे और ज्यादा मरोड़ी जायेगी।

एक, विश्व व्यापार संगठन में क्रास रिटेलिएशन (तिर्यक प्रतिरोध) का प्रावधान है। इसका मतलब है कि एक देश की दूसरे देश से किसी एक मामले में शिकायत है तो वह अन्य देशों में भी बदले की कार्यवाई कर सकेगा। जैसे अमेरिका को शिकायत है कि भारत उसकी कंपनियों पेटेन्ट अधिकारी की समुचित रक्षा नहीं कर रहा है। तो वह भारत से कपड़े के आयात पर पांबदी लगा सकता है। यह बहुत सुपर 301 व स्पेशल 301 जैसा है। दरअसल यह एक प्रकार से अमेरिका के इन बदनाम कानूनों का अंतर्राष्ट्रीयकरण और उन्हें वैधता प्रदान करने के समान है। अब अमेरिका ही नहीं, सारे अमीर देश इसकी धमकियों का इस्तेमाल करेंगे, जो लोग विश्व व्यापार संगठन के पक्ष में यह दलील दे रहे हैं कि इससे सुपर 301 जैसी एकयक्षीय कार्यवाईयां रूक जाएगी और एक न्यायपूर्ण बहुयक्षीय व्यवस्था कायम होगी उनकी आंखे इससे खुल जानी चाहिये। भले ही क्रास रिटेलिएशन का अधिकार सारे सदस्य देशों को होगा, लेकिन गरीब व छोटे देश कभी इसका इस्तेमाल नहीं कर पायेंगे। वे इतने कमजोर निर्भर और दबे हुए है कि ऐसा साहस नहीं कर पांएगे। फिर दुनिया के व्यापार में उनका हिस्सा इतना कम है कि आयात पर पांबन्दी जैसे उपायों से वे अमीर देशे का कुछ नहीं बिगाड़ पाएगे। स्पष्ट है कि व्यवस्था अमीर देशो की ही हक में हैं।

दो, विश्व व्यापार संगठन के तहत नियम भंग की शिकायत करने वाले देश पर आरोप साबित करने की जिम्मेदारी नहीं है। जिस देश पर आरोप लगा है, उसे साबित करना होगा कि वह निर्दोष है, यह भारतीय न्याय सिंद्धान्त का उल्टा है, जिसमे दोष साबित होने तथा अभियुक्त को निर्दोष माना जाता है। यह गरीब 9 कमजोर देशों के लिये अन्यायपूर्ण है।

तीन, अभी तक गैट में प्रत्येक देश को यह अधिकार था कि वह दूसरे देश में अपनी वस्तुएं बेचने के लिये निर्यात अधिकार (देशो के बीच) बिना भेदभाव के हासिल करे। इस अधिकार पर कोई संशोधन सारे सदस्यों की सहमति से ही हो सकता था। अर्थात् सदस्य देशों में प्रत्येक को इस मामले में इस प्रकार का वीटो प्राप्त था।

यह कमजोर देशों के हित में था, किन्तु अब विश्व व्यापार संगठन के नियमों में संशोधन दो-तिहाई बहुमत से किया जा सकता है। यदि कोई देश इसे मानने को तैयार न हो तो तीन-चौथाई बहुमत से उससे विश्व व्यापार संगठन से बाहर निकाला जा सकता है।

चार, विश्व व्यापर संगठन के नियम समझौते व निर्णय बाध्यकारी होगें। राष्ट्रीय सरकारों के उनके मुताबिक अपने कानूनों व नीतियों को बदलना होगा। विश्व व्यापार संगठन के करार के अनुच्छेद चार में यह स्पष्ट कहां गया है कि प्रत्येक सदस्य अपनी जिम्मेदारियों के हिसाब से अपने कानूनों, नियमों और प्रशासनिक प्रक्रिया में बदलाव सुनिश्चित करेगा। इसका मतलब है कि विश्व व्यापार संगठन एक व्यापक दायरे में, अब राष्ट्रीय सरकारों के ऊपर सुपर सरकार की भांति काम करेगा। तीसरी दुनिया के देशों के लिये यह एक चिंताजनक स्थिति है।

पाँच, गैट में खेती सेवाएँ पूंजी निवेश बौद्धिक संपदा आदि अनेक नये विषय जोड़कर विश्व व्यापार संगठन काफी प्रभाव वाला ताकतवर संगठन बना है। लेकिन इतने पर ही यह रूकने वाला नहीं है। इसमें नये विषय भी जोड़े जो सकते है और इसका दायरा और ज्यादा बढ़ाया जा सकता है। पर्यावरण श्रम संबधी मानक और मान अधिकारों के मुद्दों को इसमे शामिल करने का प्रयास अमीर देश अभी से कर रहे है। व्यापार और पर्यावरण पर विश्व व्यापार संगठन के तहत समिति बनाने का फैसला मराकेश मे ही हो गया था। श्रम मानको और व्यापार के रिश्ते पर बहस की शुरूआत भी हो चुकी है।

दरअसल सौ-सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली है। दुनिया में पर्यावरण विनाश तथा गरीब देशों के मेहनत कशों के शोषण व अमानवीय जिन्दगियों के लिये औपनिवेशक विरासत औद्योगिक सभ्यता की संसाधनों की भूख आधुनिक तकनालाजी, अमीर देशो की जीवन-शैली और उनकी चालें ही सबसे ज्यादा जिम्मेदार है, और आज वे गरीब देशो पर इल्जाम लगाना चाहते है कि वे अपने पर्यावरण की उपेक्षा कर तथा श्रमिको का शोषण कर अपनी लागते कम रखे हुये है और व्यापार में अनुचित फायदा उठा रहे है। इसमें सच्चाई हो सकती है लेकिन अमीर देश जब कहते है, यह महज पाखड है, तीसरी दुनियां के देशों को विश्व व्यापार में उभरने से रोकने का यह एक नया औजार है।

यह एक अजीब सिलसिला चल पड़ा हैं व्यापार संबधिक निवेश उपाय संबधी बौद्धिक संपदा अधिकार, सेवाओं का व्यापार, व्यापार का पर्यावरण, व्यापार और श्रम मानकदानी व्यापार का विश्लेषण और उपसर्ग लगातार एक-2 करके दुनिया की हर चीज को वे अपने निंयत्रण में लाना चाहते है, यह एक खतरनाक प्रव ति है जिसे कबूल नहीं किया जाना चाहिये। यह ठीक है कि बाजार मनुष्य के सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य हिस्सा है। साम्यवादी व्यवस्थाओं की असफलता के बाद इसे सभी लोग मानने को तैयार है लेकिन बाजार की भूमिका मनुष्य के जीवन में सर्वोपरि बन जाए, व्यापार ही जीवन के हर पक्ष को नियजित करने लग जाये, यह भी भयावह स्थिति होगी और यदि यह व्यापार अंतर्राष्ट्रीय हो, इस व्यापार मंडी के नियम एक तरफा व पक्षपात पूर्ण हो जाये और उस पर अमीर देशों और उनके मुनाफाखोर सौदागरों का वर्चस्व हो, तब तो उनका विरोध और इससे विद्रोह जरूरी हो जाता है, विश्व व्यापार संगठन की स्थापना घोषणा पत्र में लिखा हैं कि वह अंतराष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के साथ सहयोग करेगा। इन दोनो संस्थाओं ने भी उसका हार्दिक स्वागत किया। किन्तु इन दोनों अंतर्राष्टीय संस्थाओं की कारगुजरियां किसी से छिपी नहीं है। अब वह तिकड़ी दूरी हो गई है। तीसरी दुनिया के बहुसंख्यक लोगों के लिये यह एक बुरी खबर है।

अमेरिका जैसे देशों में भी विश्व व्यापार संगठन को लेकर अपनी संप्रभुता के मामले के दुविधा थी। अमेरिका और जापान की संसदो से इसकी मंजूरी लेना टेड़ा काम था जबकि ये तो वो देश है जिनकी पांचो उंगलिया घी में रहती है। लेकिन भारत सरकार ने इस विषय पर संसद का मत लेना भी जरूरी नहीं समझा और सिर्फ संसद को सूचानाएं दे दी। प्रांतीय सरकारों को भी विश्वास में नही लिया गया जबकि उनके भी अधिकार इससे प्रभावित होंगे, भारत की आंतरिक नीतियों, आजादी, संप्रभुता और भारतवासियों की जिंदगी पर दूरगामी प्रभाव पड़ने वाला हो, उस पर निर्णय ले का अधिकार सिर्फ भारत की जनता का हो सकता है। यदि यूरोपिय संघ के मामले में यूरोप के हर देश में जनमत संग्रह हो सकता है तो "विश्व व्यापार संगठन और डंकल करार पर भारत के जनमत संग्रह क्यों नहीं हो सकता है"?

भारत सरकार की ओर से यह तर्क दिया गया कि नये समझौते से दुनिया का व्यापार बढ़ेगा तो भारत का विदेशी व्यापार भी बढ़ेगा और इससे भारत की प्रगति और विकास होगा। तीनों स्तरों पर यह तर्क श्र खला दोषपूर्ण है और इसकी मान्यताएं विवादस्यद है, लेकिन सबसे मोटी बात यह है कि विदेशी व्यापार का बढ़ना अपने आप में देश के लोगो की कंगाली, बेरोजगारी और तकलीफे ज्यादा बढ़ सकती है। व्यापार तो ईस्ट इंडिया कंपनी के आने के बाद भी बढ़ा था। उसी के साथ हुई थी देश के उद्योगो, खेती और गांव की बर्बादी। फिर आयी थी भयानक अकाल की श्र ंखला। अफीका के अनेक देशो में भी विदेशी व्यापार का बढ़ना और भयानक अकाल का पड़ना ये दोनों घटनाएं साथ-2 हुये है।

व्यापार या विनियम वही दोनों पक्षों को फायदा पहुचता है, जहां दोनों कमावेश एक ही स्तर के हो। किन्तु जहां घोर विषमता हो, सौदा शक्ति में काफी फर्क हो, गरीबी ऋण ग्रस्तता-परनिर्भरता- मजबूरी का मुकाबला अमीरी-बेईमानी-दादागिरी से हो वहां व्यापार, शोषण का जरिया बन जाता है। विश्व व्यापार संगठन अंन्तर्राष्ट्रीय शोषण का इसी व्यवस्था का नाम है।

अध्याय 34
विश्व बैंक
(World Bank)

अमेरिका के ब्रेटन बुडस शहर में IMF के अलावा जिस अन्य संस्था की स्थापना हुई वह अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण एवं विकास बैंक (International Reconstruction and Development Bank - IRDB) था। इसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहा जाता है। इस बैंक की स्थापना का मूल उद्देश्य अपने प्रतिनिधि सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिये दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है।

विश्व बैंक समूह (World Bank Group) :- विश्व बैंक समूह के विश्व बैंक तथा उसकी सहयोगी संस्था अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) के साथ ही दो संस्थाओं का और समावेश होता है - अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC) एवं बहुपक्षीय विनियोग गारंटी अभिकरण (MIGA)

विश्व बैंक के उद्देश्य
(Objectives of the World Bank)

विश्व बैंक की स्थापना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. **पुनर्निर्माण व आर्थिक विकास (Reconstruction and Economic Development)** : इसका मुख्य उद्देश्य युद्ध में जर्जरिक सदस्य राष्ट्रों के पुनः निर्माण के लिये वित्तीय सहायता देना एवं अविकसित और अर्द्धविकसित राष्ट्रों को उचित मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान करके उन देशों के तीव्र विकास को सम्भव बनाना है।

2. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना (Encouragement to International Trade)** : बैंक अन्तर्राष्ट्री व्यापार को प्रोत्साहन देता है और सदस्य राष्ट्र के लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाता है।

3. **विनियोग को प्रोत्साहन (Encouragement to Investment)** : इसका उद्देश्य ऐसे सदस्य राष्ट्रों को जो पिछड़े एवं कम उन्नतशील हैं तथा जो पूंजी के अभाव में अपने प्राकृतिक साधनों को समुचित विदोहन नहीं कर पाये हैं, उनको उन्नतशील बनाने के लिये व्यक्तिगत एवं संस्थागत पूंजीपतियों को ऋण गारंटी देकर उन राष्ट्रों में पूंजी के विनियोजन को प्रोत्साहित करना है।

4. **पूंजी उपलब्ध करना (To made Capital Available)** : बैंक अपने सदस्य राष्ट्रों में स्वयं पूंजी विनियोजित करता है तथा अन्य पूंजीपतियों को भी इस कार्य में सहयोग देने के लिये प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार यह पिछड़े देशों के लिये पूंजी की व्यवस्था करता है।

5. **शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था स्थापित करना (To establish Peaceful Economy)** : बैंक अपने सदस्य राष्ट्रों को युद्धकालीन अर्थव्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करने में सहयोग प्रदान करता है।

विश्व बैंक की सदस्यता : प्रत्येक राष्ट्र, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है, विश्व बैंक का भी स्वतः सदस्य बन जाता है, जून 1994 में विश्व बैंक के सदस्यों की संख्या 173 थी।

विश्व बैंक की पूंजी :

स्थापना के समय विश्व बैंक की अधिकृत पूंजी 10 अरब डालर रखी गयी थी जो 1 लाख अंशों में विभाजित थी। अप्रैल 1998 में बैंक के प्रशासन मण्डल ने बैंक की अधिकृत पूंजी में 6.2 लाख शेयरों की व द्धि की जिससे अधिकृत पूंजी बढ़कर 91,436

मिलियन डालर हो गयी। 30 जून 1989 को यह बढ़कर 1,15,668 मिलियन डालर तथा जून 1992 में यह बढ़कर 152. 24 बिलियन डालर हो गयी। बैंक की अधिकृत पूंजी में प्रदत्त 10,060 मिलियन डालर है।

1988 एवं 1992 में कुछ प्रमुख देशों की पूंजी निम्न प्रकार थी :-

विश्व बैंक के कुछ महत्वपूर्ण देशों की पूंजी

(मि.SDR) में

देश	पूंजी (SDR)	पूंजी 1992
अमेरिका	17,939	27,255
इंग्लैंड	4,698	8,372
फ्रांस	4,698	8,372
जर्मनी	4,902	8,734
जापान	6,348	11,312
भारत	2,875	5,404

एक देश की मताधिकार की शक्ति उसकी अंशदान राशि दर निर्भर करती है, प्रत्येक सदस्य देश के 250+1 प्रति लाख डालर मत होते है। वर्तमान में सबसे अधिक अंशदान अमेरिका (27,255 मिलियन डालर) है। अतः उसके मतों की संख्या सर्वाधिक 2,26,178 है। यह कुल मतों का 17.37% है। भारत के मतों की संख्या 45,054 है जो कुल मतों का 3.46% है।

विश्व बैंक का संगठन

(Organisation of the World Bank)

1. **प्रशासनिक मण्डल (Board of Governers)** : इस मण्डल में प्रत्येक सदस्य देश द्वारा एक गर्वनर तथा स्थानापन्न गर्वनर नियुक्त किया जाता है। इसकी वर्ष में कम से कम एक बैठक होना अनिवार्य है।
2. **सलाहकार परिषद (Advisory Council)** : 7 सदस्यों की एक सलाहकार परिषद् नियुक्त की गई है। इसमें बैंकिंग, व्यापार, उद्योग, श्रम तथा कृषि के विशेषज्ञ होते हैं।
3. **प्रबन्धक निदेशक मण्डल (Board of Executive Directors)** : प्रबन्धक निदेशक मण्डल में सदस्यों की संख्या 20 है। प्रत्येक संचालक का कार्यकाल 2 वर्ष होना है।
4. **ऋणी समितियां (Loan Committees)** : सदस्य देशों द्वारा मांगी गये ऋणों की उपयुक्त जांच करने के लिये बैंक ऋण समितियां नियुक्त की जाती है, जो यथासमय अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है।
5. **विशिष्ट उद्देश्यों के लिये निर्मित समितियां** : प्रशासकीय मण्डल द्वारा, विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने के लिये अन्य समितियां भी घटित की गई है, जिनमें प्रमुख हैं विकास समिति, संयुक्त अंकेक्षण समिति, लागत और बजट समिति, कार्मिक नीति समिति, संचालकों की प्रशासकीय मामलों की समिति तथा मण्डल कार्यनीति की तदर्थ समिति।

विश्व बैंक के कार्य

(Functions of World Bank)

विश्व बैंक अपने सदस्य राष्ट्रों को निम्नलिखित सुविधायें प्रदान करता है।

1. **ऋण प्रदान करना (To grant Lonas)** : विश्व बैंक अपना सदस्यों राष्ट्रों को निम्नलिखित साधनों से ऋण उपलब्ध कराता है।

   (i) **पूंजी में से ऋण देना (To grant Loans from Capital)** : बैंक सदस्य राष्ट्रों को ऋण देने के लिये अन्य राष्ट्रों से ऋण ले सकता है, इस प्रकार ऋण देने से पूर्व बैंक को उस देश की स्वीकृति लेनी पड़ती है जिसको मुद्रा बाजार से ऋण दिया जाता है।

   (ii) **कोष से ऋण देना (To grant Lonas from Fund)** : बैंक सदस्यों देशों की विकास संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अपनी पूंजी में से ऋण दे सकता है। बैंक इस कार्य के लिये अधिक से अधिक बची हुई पूंजी का 20% प्रयोग कर सकता है।

   (iii) **गारंटी देना (To Guarantee)** : बैंक सर्वप्रथम स्वयं ऋण न देकर अन्य राष्ट्रों या वित्तीय संस्थाओं से अपनी गारंटी देकर अपने सदस्य राष्ट्रों को ऋण उपलब्ध करवाता है।

2. प्रशिक्षण कार्यक्रम (Training Programme) : विश्व बैंक सदस्य देशों के अधिकारियों के लिये वित्त, मौद्रिक, व्यवस्था, कर-प्रणाली, तकनीकी, कुशलता तथा बैंकिंग संगठन इत्यादि विषयों पर प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करता है, इस कार्य के लिये 1995 में वाशिंगटन आर्थिक विकास संस्था की स्थापना की गई।

3. प्राविधिक सहायता (Technological Assitance) : बैंक अविकसित सदस्यों का आर्थिक सर्वेक्षण करता है तथा अपने विशेषज्ञों को विभिन्न आयोजन कार्यों में सलाह देने के लिये अपने समस्त देशों में भेजता है जो आर्थिक, वैज्ञानिक प्राविधिक तथा अन्य कार्यों में सहायता देते है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय समस्या सुझाना (To solve International Problems) : विश्व बैंक एक अन्तर्राष्ट्रीय निष्पक्ष संगठन होने के नाते विभिन्न देशों में आपसी झगड़ें एवं समस्याओं का समाधान करता है, इनसे भारत-पाक नहरी विवाद तथा स्वेज नहर विवाद को कुशलतापूर्वक सुलझाने में सराहनीय कार्य किया है।

विश्व बैंक की सफलतायें

(Achievement of World Bank)

विश्व बैंक द्वारा प्रतिपादित कार्यों की प्रगति निम्नलिखित है।

1. **वित्तीय साधनों का विस्तार (Expansion of Financial Resources)** : विश्व बैंक ने अपने कार्य-काल में समय-समय पर पूंजी में व द्धि करने के अनेक प्रयत्न किये हैं, विगत 50 वर्षों में विश्व बैंक ने अपनी पूंजी को दुगने से भी अधिक कर लिया है। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक समय-समय पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों से भी ऋण लेता रहा है।

2. **ऋण प्रदान करना (Advancing of Loans)** : 30 जून 1992 तक विश्व बैंक ने कुल 2,18,210 मिलियन अमेरिकन डालर के ऋण स्वीकृत किये जिनका विवरण निम्न प्रकार हैं :

(मि. डॉलर में)

ऋण का उद्देश्य	ऋण राशि
1. कृषि एवं ग्रामीण विकास	40,551
2. ऊर्जा	47,224
3. परिवहन	31,020
4. उद्योग	15,967
5. गैर परियोजन	19,045
6. जल पूर्ति एवं मल निकासी	9,718

7. नगर निकास	9,921
8. विकास वित्त कम्पनी	21,423
9. शिक्षा	9,470
10. लघु उद्यम	4,587
11. अन्य	9,284
योग	2,18,210

30 जून 1992 तक विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणों का क्षेत्रीय वितरण अग्रतालिका में दिखाया गया है।

क्षेत्र	ऋण की राशि	कुल ऋण का प्रतिशत (मि. डालर में)
1. अफ्रीका	16,765	7.6
2. पूर्वी एशिया व प्रशांत क्षेत्र	51,345	23.6
3. मध्य पूर्वी एवं उत्तर अफ्रीका	21,037	9.7
4. लैटिन अमेरिका तथा कैरबियन क्षेत्र के देश	71,667	32.8
5. यूरोप तथा मध्य एशिया	31,757	14.6
6. दक्षिण एशिया	25,639	11.7
योग	2,18,210	100.00

3. **तकनीकी सहायता** : विश्व बैंक ने अपने सदस्य बैंकों को तकनीकी सहायता भी प्रदान की है, इसके लिये बैंक अपने सदस्य देशों में तकनीकी विशेषज्ञ भेजकर उनका आर्थिक सर्वेक्षण करवाता है तथ उन्हें विकास के लिये तकनीकी सहायता उपलब्ध कराता है।

4. **विकासशील देशों का ऋण** : अपने पिछड़े एवं अल्पविकसित सदस्य देशों को बैंक ने विद्युत शक्ति तथा परिवहन के साधन के लिये ऋण प्रदान किया क्योंकि यह साधन किसी भी देश के विकास के लिये अनिवार्य होते हैं इनके अभाव में आर्थिक विकास की कल्पना असंभव है।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम** : यह संस्था विश्व बैंक से संबंधित है। इसकी स्थापना जुलाई 1956 में की गयी थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों में वित्तीय व्यवस्था को प्रोत्साहित करना है।

6. **अणु-शक्ति के लिये ऋण** : विश्व बैंक ने जहां बिजली, संचार, उद्योग तथा यातायात के साधनों के विकास के लिये ऋण दिये हैं वहां उसने इटली को 4 करोड़ डालर का ऋण अणु शक्ति के विकास के लिये होता है।

7. **विवादों का समाधान :** विभिन्न सदस्य देशों के आपसी मतभेदों का समाधान भी विश्व बैंक करता है। विश्व बैंक की मध्यस्थता से भारत-पाक नगर जल-विवाद तथा मिस्त्र एवं इंग्लैंड के मध्य स्वेज नहर से उत्पन्न विवाद का समाधान हुआ है।

विश्व बैंक की असफलताएं
(Failures of the World Bank)

यद्यपि विश्व बैंक की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक देश को लाभ प्राप्त हुआ है। परन्तु इसके द्वारा किये गये कार्यों के आधार पर इसकी निम्नलिखित आलोचनायें की गई हैं।

1. **ब्याज एवं कमीशन की दरें :** विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणों पर 8% तक वार्षिक ब्याज लिया जाता है। यह ब्याज व्यवसायिक द ष्टि से भले ही अधिक न हो लेकिन अर्द्धविकसित देशों की द ष्टि से यह ब्याज की दर बहुत अधिक है।

2. **अल्पविकसित देशों को कम ऋण** : एशिया तथा अफ्रीका के गरीब देशों को विश्व बैंक द्वारा दी गई सहायता उसे आर्थिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपर्याप्त है। इसी कारण इन देशों के प्रतिनिधियों ने विश्व बैंक की वार्षिक बैठकों में बैंक की ऋण नीति की आलोचना की है।

3. **ऋण देने में पक्षपातपूर्ण व्यवहार :** आंकड़े यह बताते है कि विश्व बैंक द्वारा जितना भी ऋण दिया जाता है। उसका अत्याधिक प्रतिशत पश्चिमी देशों को प्राप्त होता है, बहुत कम हिस्सा एशियाई देशों के विकास के लिये दिया जाता है।

4. **ऋण देने में विलम्ब :** बैंक द्वारा ऋण देने में बहुत विलम्ब होता है क्योंकि इसके ऋण लेने वाले देश को बहुत सी प्रारम्भिक कार्यवाहियों को पूर्ण करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऋण देने से पूर्व ऋण चुकाने की शक्ति पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है।

5. **कृषि आदि के लिये ऋण :** विश्व बैंक अल्पविकसित देशों को ऋण अधिकांशतः कृषि एवं सम्बन्धित कार्यों के लिये ही देता है। भारत एवं मूलभूत उद्योगों के लिये नहीं। भारत को जितने ऋण दिये हैं वे अधिकांशतः कृषि, सिंचाई, बिजली एवं खनिज आदि के विकास के लिये ही दिये गये हैं।

6. **अन्य :** बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों से सम्बन्धित उपयुकत अवस्थाओं की स्थापना में सहायता दी है।

   1. विश्व बैंक ने ऋणों को नियमित अदायगी और ब्याज के समायोजित भुगतान को प्रोत्साहित किया है।
   2. बैंक आसान शर्तों पर 25 से 30 वर्ष तक की अवधि के लिये ऋण देता है।
   3. बैंक ने बहुपक्षीय व्यापार एवं निवेश प्रणाली का भी विकास किया है।

विश्व बैंक और भारत

(World Bank and India)

भारत ने विश्व बैंक की प्रारम्भ में ही सदस्यता ग्रहण कर ली थी। अतः यह बैंक मौलिक सदस्यों में से एक है। इस बैंक की कार्यकारिणी को एक स्थायी संचालक नियुक्त करने का अधिकार है। अभ्यंश 100 मिलियन डालर है। भारत के आर्थिक विकास में बैंक ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विश्व बैंक की सदस्यता से भारत को निम्नलिखित लाभ प्राप्त हुए हैं।

1. **आर्थिक सहायता (Economic Help)** : 1991-1992 में विश्व बैंक द्वारा कुल 15,156 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किय गये, जिसमें से भारत को कुल 1.168 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत हुए। वर्ष 1992 में विश्व बैंक द्वारा भारत को स्वीकृत ऋणों का विवरण निम्न प्रकार है :

ऋण की मद	(मि.डॉलर में) स्वीकृत राशि
1. ऊर्जा	765
2. गैर परियोजना	250
3. परिवहन	153

भारत को जिन परियोजनाओं के लिये ऋण मिले हैं, उनमें से मुख्य निम्न प्रकार हैं :

1. रेल व्यवस्था का नवीनीकरण एवं विस्तार।
2. एयर इंडिया द्वारा हवाई जहाजों का क्रय।
3. टाटा-लौह एवं इस्पात तथा भारत लौह एवं इस्पात कंपनी।
4. चम्बल घाटी क्षेत्र तथा राजस्थान नहर क्षेत्र का विकास।
5. दामोदर घाटी निगम विद्युत परियोजना।
6. हलदिया बंदरगाह का निर्माण तथा मद्रास एवं कलकत्ता बंदरगाहों का विकास।

7. विद्युत शक्ति परियोजना।

8. निजी क्षेत्रों में कोयले का विकास हेतु ऋण।

9. औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की कार्यशील पूंजी में व द्धि।

10. कृषि विकास हेतु ऋण।

11. ट्राम्बे थर्मल पॉवर स्टेशन की स्थापना हेतु ऋण।

2. **भारत सहायता क्लब (India Aid Club)** : भारत की आर्थिक विकास योजनाओं की सफलता के लिये ऋण देने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने 1958 में कनाडा, जापान, इंग्लैंड, अमेरिका का एक सम्मेलन वाशिंगटन में बुलाया, जिसके परिणामस्वरूप भारत सहायता क्लब की स्थापना हुई, जो समय-समय पर भारत को आर्थिक सहायता देता रहता है। इसके अतिरिक्त ऋण की शर्तों को भी काफी उदार बना दिया है।

3. **तकनीकी सहायता** : आर्थिक विकास के लिये वित्तीय सहायता के अतिरिक्त विश्व बैंक भारत की समय-समय पर तकनीकी दल भेजता रहता है। अब तक 15 विशेषज्ञ दल भारत आ चुके हैं। 1957-88 से बैंक का स्थायी प्रतिनिधि भारत में रहता है, जो योजनाओं और आर्थिक पहलुओं पर अपने विचार देता है, जिससे हमारी योजनाओं के कुशल संचालन में यथेष्ट मार्गदर्शन हुआ है।

आलोचना
(Criticism)

1. भारत को आवश्यकता से कम मात्रा में ऋण मिले हैं।

2. विश्व बैंक ने भारत को केवल निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही ऋण दिये हैं।

3. भारत को दिये गये ऋणों पर बैंक ने ब्याज की काफी ऊंची दर वसूल की है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होना है कि विश्व बैंक ने भारत के आर्थिक विकास के लिये निरन्तर प्रयत्न किये हैं और समय-समय पर तकनीकी और आर्थिक सहायता प्रदान की है। भारत सदैव इसका ऋणी रहेगा। भारत का पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता किसी सीमा तक विश्व बैंक द्वारा प्रदान की गई सहायता से ही संभव हो सकी है। बिना विश्व बैंक की सहायता भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति का आंकलन असंभव है।

अध्याय 35
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International Monetary Fund)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से विश्व-आर्थिक परिद श्य पर विचार विमर्श करने के उद्देश्य से 1945 में बेटनबुडस सम्मलेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद की बैठक में 44 मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधित्व ने विश्व-स्तरीय दो मौद्रिक संस्थाओं-अंतराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की स्थापना का प्रस्ताव रखा। यह कोष एक तरह से विश्वस्तरीय केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करता है। इस तरह से किसी देश के केन्द्रीय बैंक तथा मौद्रिक कोष एक तरह से किसी देश के केन्द्रीय बैंक तथा मौद्रिक बैंक देश के व्यापारिक बैंको के नकद कोषों में से कुछ भाग अपने पास जमा के रूप में प्राप्त कर देश की मुद्रा कोष विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंको द्वारा जमा की जाने वाली राशि के आधार विभिन्न सदस्य राष्ट्रों की मौद्रिक तथा आर्थिक नीति में समन्वय लाने की दिशा में क्रियाशील होता है।

मुद्रा कोष और केन्द्रीय बैंक की प्रक ति में कुछ अतंर भी है। केन्द्रीय बैंक आवश्यकता के समय मुद्रा का निर्माण कर साख की कमी को दूर कर सकता हैं वह व्यापारिक बैंको को मौद्रिक नीति के पालन के लिए विवश कर सकता हैं जबकि मुद्रा कोष सदस्य राष्ट्रों की मुद्रा सम्बन्धी माँग को केवल कोष के आधार पर ही पूर्ण कर सकता है उसके पास मुद्रा के निर्माण कर सकने की शक्ति नहीं है। साथ ही सभी देश अपनी आतंरिक अर्थ-नीति को निर्धारित करने के विषय में स्वतन्त्र हैं।

अंतराष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्माण से दोनो ही प्रकार के देशों को जिनका भुगतान-संतुलन प्रतिकूल है तथा जिनका भुगतान-सतुंलन अनुकूल रहता है, लाभ है। मुद्रा कोष की स्थापना यदि न हुई होती तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समंवत उतना ही रह जाता जितना दो देशों के बीच प्रत्यक्ष विनिमय के द्वारा अथवा पारस्परिक द्विपक्षीय समझौते के द्वारा सम्भव होता।

1 **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग :-** स्थायी सस्था जो अन्तराष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं पर परामर्श देगी और पारस्परिक सहयोग को सम्भव बनाएगी की स्थापना करना अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समझौते का प्रधान उद्देश्य था। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में व द्धि सम्भव थी।

2. **संतुलित आर्थिक विकास** : अंतराष्ट्रीय व्यापार विस्तार और सतुंलित विकास की सुविधा प्रदान करना और इस प्रकार सभी सदस्य देशों में रोजगार का ऊंचा स्तर बनाए रखना।

3. **विनिमय स्थायित्व :-** विनिमय स्थिरता उत्पन्न करना, सदस्य देशों के मध्य विनिमय व्यवस्थाओं को बनाए रखना तथा प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन को रोकना।

4. **बहुमुखी भुगतान :-** सदस्यों के मध्य चालू व्यवसायों के सबंध में बहुमुखी भुगतान की वयवस्था की स्थापना तथा विदेशी विनिमय सबंधी प्रतिबंधो को हटाने में योगदान करना।

5. **आर्थिक सहायता :-** समुचित सुरक्षा के साथ सदस्य देशों के लिए कोष के साधनों को उपलब्ध कर उनमें विश्वास उत्पन्न करना और इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय उन्नति में बाधक रीतियों को अपनाए बिना ही भुगतान-संतुलन संबंधी असंतुलनों को दूर करने का अवसर प्रदान करना।

6. **असंतुलन कम करना :-** उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अनुसार सदस्य देशों के अंतर्राष्ट्रीय भुगतान-सतुलन संबधी असंतुलनों को दूर करने का अवसर प्रदान करना और असंतुलनों की अवधि और अंश को कम करना।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्य (Function of IMF)

अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मुद्रा कोष निम्नलिखित कार्य करता है

1. **सदस्य देशों की मुद्राओं की सम-मूल्य दरों का निर्धारण** : पहले मुद्रा कोष की स्थापना के आरम्भ में प्रत्येक देश

को अपनी मुद्रा का मूल्य डॉलर अथवा स्वर्ण में निर्धारित करना होता था। जब सभी देश अपनी-अपनी मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में घोषित कर देते थे तो विनिमय दरों को निर्धारित करना अति सहज हो जाता था। इस प्रकार बैटन वुडस समझौते के अनुसार स्वर्ण की सहायता से दो देशों के विनिमय की सम मूल्य दरें निर्धारित हो जाती थीं परंतु आजकल स्वर्ण का महत्व कम होने से उच्चावचन बढ़ गये हैं।

स्वर्ण पर आधारित विनिमय दरों के समता मूल्य निर्धारित करने में कुछ शर्तो का पालन करना अनिवार्य था। यदि कोई देश 10 से 20 प्रतिशत के बीच विनिमय दर में परिवर्तन करन चाहता था तो इसके लिए उसे कोष की अनुमति लेना अनिवार्य था। इस प्रकार मुद्रा कोष केवल उन्ही स्थितियों में समता-दर में परिवर्तन की अनुमति देता था जब वह सन्तुष्ट हो कि देश की आर्थिक स्थिति में अंतर आ जाने के कारण विनिमय दर में महत्वपूर्ण असंतुलन उत्पन्न हो गया हो। साथ ही इस बात की भी व्यवस्था थी कि यदि किसी सदस्य देश की मुद्रा का सम-मूल्य किसी भी दिशा में परिवर्तित होता था जिससे कि मुद्रा कोष की पूंजी का स्वर्ण मूल्य यथावत बना रहे। इस प्रकार किसी देश द्वारा मुद्रा के किए जाने वाले अवमूल्यन के मनमाने व्यवहार पर प्रतिबंध लगाने का माध्यम बना।

2. **विनिमय नियंत्रण पर रोक :-** यदि विनियम दर में स्थिरता प्राप्त करने के लिए विनिमय प्रतिबन्धों के द्वारा अतरांष्ट्रीय चालू व्यवसायों को काफी कम रखा जाए और इस स्थिति को विश्व की अर्थव्यवस्था का एक स्थायी तत्व रख दिया जाए तो यह दीर्घकाल में काफी हानिकारक सिद्ध होगा। इसलिए मुद्रा कोष का उद्देश्य विनिमय दर में स्थिरता लाने के साथ-साथ बहुपक्षीय व्यापार को प्रोत्साहित करना है। मुद्रा कोष उन प्रतिबन्धों को दूर करने की दिशा में भी प्रयत्नशील रहता है जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होता हैं इस संबध में सभी सदस्य देशों पर यह प्रतिबंध लगाया गया है कि वे चालू व्यवसायों के ऊपर तभी प्रतिबन्ध लगा सकेंगे जबकि मुद्रा कोष से इस सबंध में पूर्व अनुमति प्राप्त कर ले। जब मुद्रा कोष किसी देश की मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर देता है। उस समय मुद्रा कोश के सदस्य देश चालू व्यवसायों के ऊपर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। इस प्रतिबन्ध की प्रक ति मुद्रा कोष पुन घोषित कर देता है कि अब वह मुद्रा दुर्लभ नहीं है वैसे ही सदस्य देशों का चालू व्यवसायों पर प्रतिबन्ध हटा देने पड़ते हैं।

3. **अल्पकालीन अंतराष्ट्रीय साख की व्यवस्था** :- यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अल्पावधि साख की व्यवस्था करता है। यदि किसी देश के भुगतान संतुलन की स्थिति चितांजनक है तो वह उस देश की मुद्रा प्राप्त करके उसे ठीक कर सकता है। किंतु मुद्रा कोष का यह उत्तरदायित्व नहीं है कि वह स्वस्थ देश की भुगतान संतुलन सबंधी सभी आवश्कताओं को पूर्ण करे। इस तरह से मुद्रा कोष आकस्मिक संकट को दूर करने का एक महत्वपूर्ण उपाय है।

यदि किसी देश का भुगतान संतुलन अस्थायी है तो उसे दूर करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यों को मुद्रा कोष से विदेशी विनिमय क्रय कर सकने का अधिकार है। मुद्रा कोष का यह कर्तव्य है कि वह सदस्य देश द्वारा देशीय मुद्रा तथा स्वर्ण के बदले किसी भी अन्य देश की मांग को पूरा करे। परंतु इसके लिऐ दो शर्ते हैं-प्रथम किसी समय मुद्रा उसके निर्धारित अध्याश के दुगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए। दूसरा, कोई भी सदस्य देश एक वर्ष के अतंर्गत अपने चलन के बदले में अपने अध्याश के 25 प्रतिशत भाग से अधिक मूल्य के विदेशी विनिमय नहीं खरीद सकता। विदेशी विनिमय में मितव्ययता की द ष्टि से यह प्रतिबन्ध भी उचित ही है इन प्रतिबन्धों के होने पर यह आशा की जाती है कि सदस्य देश स्वंय ही अपनी स्थिति को सुधारने की चेष्टा करेंगें।

दुर्लभ मुद्राएं वे हैं जिनकी मुद्रा कोष पर मांग आपूर्ति से अधिक है अतिरिक्त मांग को पूरा करने के लिए कोष को यह अधिकार दिया गया है। कि वह आवश्यकता पड़ने पर सदस्य देश के उधार से किसी देश की मुद्रा की पूर्ति का आयोजन कर सके। मुद्रा कोष यदि मांग की अपेक्षा कम आपूर्ति कर पाता है तो मुद्रा कोष उसे दुर्लभ घोषित कर देता है।

परामर्शदात्री कार्य (Advisory Functions) मुद्रा कोष मौद्रिक तथा अन्य आर्थिक विषयों पर अंतर्राष्ट्रीय परामर्शदात्री संस्था के रूप में भी कार्य करता है। इसकी बैठकों में अनेक देशों के प्रतिनिधि अतंर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग एवं मौद्रिक मामलों पर विचार-विमर्श करते हे। आइवर रूथ के शब्दों में अतंर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समक्ष तीन प्रमुख कार्य हैं प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलन में परिवर्तन शीलतागुण द्वितीय सदस्य देशों की मुद्राओं में परिवर्तनशील गुण एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रभावों को कम करना।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विशेष आहरण अधिकार

(IMF and special Drawing Rights)

अंतर्राष्ट्रीय तरलता के लिए मुद्रा कोष के पास एक और साधन है जिसे विशेष आहरण अधिकार कहा जाता है SDR प्रणाली जब अपनाई गई तो SDR का मूल्य 0.8886 ग्राम स्वर्ण तय किया गया। उस समय अमरीकी डालर का भी यही मूल्य था। वर्तमान में इसका मूल्यन पाँच देशों के मुद्रा टोकरी के आधार पर किया जाता है। ये पाँच मुद्राए है यू.एस. डालर, ब्रिटिश पाउण्ड, फ्रांस की फ्रैंक, जापानी येन, जर्मनी की डयूश मार्क। जिसमें डालर का भार 42 प्रतिशत, मार्क का 19 प्रतिशत तथा अन्य तीनों में से प्रत्येक का 13 प्रतिशत है। यह काफी सीमा तक प्रतिनिधि है और यह इन मुद्राओं की अतर्राष्ट्रीय स्त्रोता में सही शक्ति को दिखाती है SDR व्यवस्था में भाग लेने वाले प्रत्येक देश SDR का प्रयोग भुगतान संतुलन के घाटे को पूरा करने के लिए कर सकता है। इसके लिए उसे पहले SDR के बदले में वांछित मुद्रा प्राप्त करनी होती है यह वांछित मुद्रा उसी देश से जिसकी यह मुद्रा है या किसी अन्य देश से प्राप्त करनी होती हैं यदि किसी देश के सामने भुगतान सतुलंन संबंधी समस्या नहीं है तो वह अपने SDR के बदले में विदेशी मुद्राएँ दूसरे देशों से प्राप्त नहीं कर सकता।

अब SDR व्यवस्था में निम्नलिखित सुधार किए गऐ है।

1. अब SDR हस्तांतरणीय हैं।
2. SDR निधि का औसत न्यूनतम स्तर नीचा कर दिया गया है।
3. पहले SDR निधि केवल व्यवस्था में भाग लेने वाले देशों और मुद्रा कोष के पास हो सकती थी लेकिन अब कुछ अधिक त वित्तीय संस्थाओं को भी SDR निधि रखने का प्रावधान किया गया है।
4. अनेक निजी स्तर पर किए जाने वाले सौदों और अंतराष्ट्रीय अनुंबधों में SDR के मूल्य की मापक के रूप में इस्तेमाल की स्वीक ति दी गई है।

मुद्रा कोष का प्रशासन एवं संगठन (Administration and Organisation of the Monetary Fund) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मुख्य कार्यालय वाशिंगटन (America) में है, क्योंकि अमरीका का हिस्सा सबसे अधिक है। कोष के प्रावधान के अनुसार मुख्य कार्यालय वहीं होना चाहिए, जहाँ का अम्यंश सर्वाधिक हो, अब यह निश्चित किया गया कि इसका प्रधान कार्यालय अमरीका में ही होना चाहिए। कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors) कार्यकारी संचालको की समिति (Board of Executive Director) , प्रबन्ध संचालक (Managing Directors) एवं अन्य स्टाफ की सहायता से किया जाता है। इसका विस्त त विवरण निम्नांकित बिन्दुओं के अर्न्तगत प्रस्तुत किया जा रहा है। मुद्रा कोष का संगठन इस प्रकार हैः-

1. **प्रशासक मन्डल (Board of Governors)**:- प्रशासक मन्डल के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य देश का एक-एक प्रतिनिधि होता है, जिसका कार्यालय पांच वर्ष होता है। यदि किसी सदस्य देश का प्रशासक अनुपस्थित होता है तो प्रशासन मन्डल की बैठकों मे भाग लेने के लिए एक वैकल्पिक प्रशासक की नियुक्ति भी की जाती है। वह अपने देश के प्रशासक की अनुपस्थिति में मतदान भी कर सकता है। सामान्यतः एक वर्ष में एक बार प्रशासक मन्डल की बैठक होती है, इसमें निम्नांकित विषयों पर विचार विमर्श किया जाता है :-

(1) निदेशकों की नियुक्ति, (2) नये सदस्यों का प्रवेश, (3) अभ्य की पुनराव ति इत्यादि। मुद्रा कोष के सदस्य देशों के सदस्य जो अपने पास कुल मताधिकार का 25 प्रतिशत रखते है या कोई भी पांच सदस्य, वार्षिक बैंठक के अतिरिक्त भी प्रशासक मंडल की बैठक बुलाने का अधिकार रखते हैं।

(2) **कार्यकारी संचालक मंडल** (Board of Exectuive Directors) - कार्यकारी संचालकों की समिति के 20 संचालक सदस्य होते हैं, उनमें से 6 उन देशों के होते है, जिनका सर्वाधिक होता है। वर्तमान समय में अमरीका, इग्लैड, जर्मनी, फ्रांस, जापान और भारत हैं बाकी 14 देशों के सदस्य प्रतिनिधि नियुक्त किए जाते हैं। ये सदस्य देश मुदा कोष के दिन प्रतिदिन के कार्य करते हैं इनमें से प्रबन्ध संचालक को इसका उत्तरदायत्वि सौंपा जाता है वह कार्यकारी संचालकों की समिति का अध्यक्ष होता हैं।

कार्यकारी संचालक मन्डल का प्रत्येक चुना हुआ सदस्य एक स्थापन्न सदस्य की नियुक्ति कर सकता है, जो संचालक मन्डल की सभाओं में भाग ले सकता है एवं अपने देश के सदस्य की अनुपस्थिति में मतदान भी कर सकता है। प्रत्येक सदस्य देश के 250 सदस्यों को अपना मत देने का अधिकार होता है। संचालक मण्डल द्वारा कार्यकारी संचालकों के लिए महत्वपूर्ण शक्तियां हस्तान्तरित नहीं की जा सकती, जैसे नए सदस्यों की नियुक्ति करना, नियतांश का संशोधन करना, सभी सदस्यों की मुद्राओं के मूल्य में परिवर्तन करना, किसी सदस्य का निष्कासन करना इत्यादि।

(3) **प्रबन्ध निदेशक** (Managing Director) मुद्राकोष का प्रबन्ध निदेशक ही मुद्रा कोष का प्रधान अधिकारी होता है, जो कि निदेशक मन्डल की सभाओं की अध्यक्षता करता है। किसी भी प्रश्न पर बराबर मत की स्थिति उत्पन्न होने पर ही प्रबन्ध निदेशक अपना मत दे सकता है, अन्यथा नहीं। मुद्रा कोष का निदेशक मंडल ही एक प्रबंध निदेशक और एक सहायक प्रबन्ध निदेशक की नियुक्ति करता है। एक मुख्य बात यह है कि निदेशक मन्डल अपने सदस्यों में से प्रबन्ध निदेशक नियुक्त नहीं कर सकता। निदेशक मन्डल अपनी इच्छानुसार प्रबन्ध निदेशक का कार्यकाल निश्चित करता है।

(4)) **मताधिकार** (Voting Power) - विश्व की अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के समान मुद्रा कोष में सभी सदस्यों को समान मत देने का अधिकार नहीं है। इसमें सदस्यों को साभार मत प्रदान करने का अधिकार होता है। कोष के सामान्य निर्णय बहुमत के आधार पर होते हैं जिसका निर्धारण मताधिकार द्वारा होता है। प्रत्येक सदस्य को 250 निश्चित मत प्राप्त हैं इसके अतिरिक्त प्रत्येक एक लाख अमेरिकी डालर के लिए एक अतिरिक्त मत प्रदान करने का अधिकार भी मिल जाता है। उदाहरणर्थ अमरीका का अभ्यंश 179, 183 मिलियन SDR है अतः उसका मताधिकार 1,79433 हैं इस मत प्रणाली के परिणामस्वरूप शक्ति का केन्द्रीकरण मुख्यतः दो देशों के हाथ में एकत्रित हो जाता है, वह दो देश ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका है, क्योंकि ये सर्वाधिक नियतांश वाले देश हैं। कुल मतदान शक्ति के लगभग 40 प्रतिशत पर इनका अधिकार रहता है। यदि ये देश चाहते हैं तो किसी भी प्रस्ताव को पारित करवा सकते हैं।

मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली (Mode of Operation of I.M.F)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली के अन्तर्गत निम्नांकित कार्यों का समावेश होता है : -

1. **ऋण देने सम्बन्धी कार्य (Leanding Operations)** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को स्वर्ण और सदस्य देशों की मुद्राओं में जो पूंजी प्राप्त होती है उसके द्वारा अस्थाई ऋणों के रूप में सदस्यों को मौद्रिक सहायता देने का कार्य इस कोष के द्वारा ही किया जाता है। यह कार्य मुद्रा के विक्रय के रूप में किया जाता है। किसी भी सदस्य देश को ऋण देने की तीन सीमाएं होती है। प्रथम तो यह कि मांगी गई मुद्रा का प्रयोग चालू भुगतान के लिए किया जाता है। द्वितीय सीमा क अर्न्तगत यह ध्यान रखा जाता है कि मुद्रा कोष ने मांगी हुई मुद्रा को दुर्लभ घोषित न किया हो तथा त तीय सीमा यह है कि जो सदस्य देश अपनी मुद्रा देकर, अन्य देश की मुद्रा खरीद रहा है, उससे सदस्य देश के अभ्यंश में एक वर्ष की अवधि तक के 25 प्रतिशत से अधिक की व द्धि नहीं होगी। सदस्य देश के कुल कोटे का 75 प्रतिशत से कम जमा होने पर 25 प्रतिशत की सीमा को ढीला किया जा सकता हैं

सभी सदस्य देशों पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि कोई भी देश अपने अभ्यंश के 200 प्रतिशत से अधिक मूल्य का विदेशी विनिमय मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता। ऋण सम्बन्धी इन सीमाओं का निर्धारण इसलिए किया जाता है कि मुद्राकोष के पास किसी सदस्य देश की मुद्रा की कमी न हो सके।

कोष के हितों का ध्यान रखते हुए यह व्यवस्था की जाती है कि ऋण अल्पकालीन व अस्थाई हों व तीन से पांच वर्ष की अवधि में ऋणों का भुगतान कर दिया जायेगा तथा कभी-कभी किसी विशेष परिस्थिति में मुद्रा कोष देने की शर्तो को उदार भी बना सकता हे। 25 प्रतिशत प्रतिवर्ष के प्रतिबन्ध के विषय में तो कई बार अतिक्रमण भी किया गया है किन्तु अभ्यंश की 20 प्रतिशत का प्रतिबन्ध के विषय पर सभी द ढ़ता से पालन करते रहे हैं। संकटकालीन स्थिति में मुद्रा कोष अभ्यंश के शतप्रतिशत ऋण की भी व्यवस्था करता है। सामान्यतः अभ्यंश के 50 प्रतिशत तक के कोष एक वर्ष में ही उधार दे दिए जाते हैं। मुद्रा कोष के भूतपूर्व प्रबन्ध निर्देशक जेकबसन ने अपने विचार इस विषय में इन शब्दों में व्यक्त किए हैं "मुद्रा कोष

आग बुझाने वाले इंजन की तरह है जिसका प्रयोग केवल संकटकाल में ही किया जाना चाहिए।" प्रायः मुद्रा कोष से निम्न रूपों में मदद ली जा सकती हैं-

(i) **संकट काल की स्थिति में**-यदि कोई भी संकट में घिरा हुआ देश अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करने का पूर्ण आश्वासन देता है तो मुद्रा कोष किसी भी ऐसे देश को आर्थिक सहायता शीघ्र से शीघ्र दे देता है। उदाहरणार्थ मुद्राकोष ने भारत को 1983 में 5.6 अरब SDR की संकटकालीन सहायता दी थी तथा ब्रिटेन को 1976 में आर्थिक संकट के समय 2,400 मि. SDR की सहायता प्रदान की थी। फ्रांस को 1968 के भीषण आर्थिक और राजनीतिक संकट के समय 745 मि. SDR तथा 1971 में डालर संकट के समय अमरीका को 1.362 मि. SDR सहायता लेने की आवश्यकता पड़ गई थी। 1967 में पौण्ड का अवमूल्यन होने पर मुद्रा कोष ब्रिटेन को 1,400 मिलियन SDR की सहायता दी थी।

(ii) **चालू भुगतान शेष की कठिनाई की स्थिति में**-कभी-कभी किसी-किसी देश को इस तरह की समस्या का सामना करना पड़ता है कि उसे उपभोग वस्तुओं या पूंजीगत वस्तुओं के अधिक आयात के कारण भुगतान शेष में कठिनाई होती है, ऐसी स्थिति में उसे मुद्रा कोष से अस्थाई या अल्पकालीन सहायता लेनी पड़ती है, जिससे वह चालू भुगतान शेष की कठिनाई से उत्पन्न स्थिति का सामना कर सके। भारत हालैंड, अर्जेण्टाइना, डेनमार्क, फ्रांस आदि ऐसे देश हैं, जो ऐसी परिस्थिति में मुद्रा कोष से ऋण ले चुके हैं

(iii) **सामायिक विनियम संकट दूर करने के लिए** सामयिक विनिमय संकट को दूर करने के लिए भी मुद्रा कोष ऋण देता रहता है। क्यूबा, निकारागुआ और होण्डुरास आदि देशों को सामयिक विनिमय संकट की स्थिति में मुद्रा कोष ऋण देकर सहायता कर चुका है। मुद्रा कोष द्वारा इस प्रकार की सहायता 6 से 12 माह के लिए नियमित रूप से दी जाती रही है। इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता कुछ ऐसे अर्द्धविकसित देशों को ही होती है, जो सीमित निर्यात कर पाते हैं तथा जो प्राथमिक उत्पादन के निर्यात पर ही निर्भर रहते हैं। जब तक उन्हें इस निर्यात का भुगतान नहीं मिल जाता, उन्हें विदेशी विनिमय कठिनाई उठानी पड़ती हैं

(iv) **स्थायित्व ऋण-** सब देशों के भुगतान के लिए समान विनिमय दर स्थापित करने के लिए इस प्रकार के ऋण दिए जाते हैं। कभी-कभी विनिमय नियंत्रण की सहायता लेकर एवं बहु विनिमय दरों को अपना कर भी बहुत से देश अपने भुगतान शेष की कठिनाई को दूर करने का प्रयास करते हैं, किन्तु इन दरों के कारण विनिमय मे काफी मुश्किल समायोजन करने पड़ते हैं, ऐसी स्थिति में वे मुद्रा कोष से अस्थाई ऋण लेकर एक समता दर अपनाने का प्रयास करते हैं।

(2) **दुर्लभ मुद्रा सम्बन्धी कार्य-** यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि मुद्रा कोष के पास किसी देश की मुद्रा दुर्लभ हो जाती है तो वह मुद्रा की दुर्लभता के कारणों सहित सदस्यों को इसके लिए सूचित करता है। यदि कभी ऐसा होता है किसी देश की मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि मुद्रा कोष उसको पूरा करने में स्वयं को असमर्थ अनुभव करता है तो कोष सम्बन्धित देश से मुद्रा उधार ले सकता है या सोने के बदले उसे खरीद सकता है। यदि ऐसा करने पर भी मुद्रा की मांग पूरी नहीं हो पाती तो उस मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर दिया जाता है। इन परिस्थितियों में मुद्रा कोष की मांग करने वाले सदस्य देशों को दुर्लभ मुद्रा वाले देशों से किए जाने वाले आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर अपने भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को ठीक करने का व दुर्लभ मुद्रा की राशनिंग का अधिकार मिल जाता है।

(3) **विनिमय स्थायित्व सम्बन्धी कार्य-** मुद्रा कोष की स्थापना के मुख्य उद्देश्य, सदस्य देशों के मध्य विनिमय स्थायित्व को कायम रखने के लिए, यह निश्चित किया गया था कि सब देशों की मुद्रा को स्वर्ण अथवा डालर में निर्धारित कर दिया जाए। मुद्रा कोष ने विनिमय दरों के निर्धारण के सम्बन्ध में प्रबन्धित परिवर्तनशीलता (Managed Flexibility) के सिद्धांत को अपनाकर विनिमय दरों को लोचपूर्ण रखा। इस सिद्धांत के अन्तर्गत सदस्य देश, कोष को सूचित करके, अपनी मुद्रा की प्रारम्भिक समता दर में 10 प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता है। यदि कोई भी देश 10% से 20% तक परिवर्तन करना चाहता है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह मुद्रा कोष की पूर्व स्वीक ति ले परन्तु इससे अधिक परिवर्तन के लिए दो-तिहाई सदस्यों की सहमति आवश्यक हैं।

1 जनवरी 1976 में कोष की अन्तरिम समिति ने अपनी जमैका में हुई बैठक मे यह निर्णय लिया गया कि विनिमय

दरों के सम्बन्ध में सदस्य देश अपनी स्वतन्त्र नीति अपना सकते हैं परन्तु कोष और अन्य देशों के साथ विनिमय की उचित व्यवस्था बनाने का उत्तरदायित्व सदस्यों पर रहेगा। 1 जनवरी 1976 की बैठक दिसम्बर 1975 मे हुए स्मिथ सोनियम समझौते (Smith Sonian Agreement) से अधिक सफल हुई, क्योंकि समझोते के अन्तर्गत सदस्य देशों द्वारा विनिमय की जो दरें निश्चित की गई थीं, बाद में सब देशों ने उन्हें त्याग कर स्वतंत्र विनिमय दरों को अपना लिया था।

(4) **विनिमय नियंत्रण को हटाना या कम करना-** विनिमय नियन्त्रण को हटाने व कम करने के लिए मुद्रा कोष ने यह व्यवस्था की कि व्यापार एवं चालू लेन-देन में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह को रोकने के लिए मुद्रा कोष विनिमय नियंत्रण को अनुमति देता है। के.के कुरिहारा (K.K. Kurihara) ने इस विषय में स्पष्ट शब्दों में कहा है, मुद्रा कोष एक ओर विनिमय द्रवता के बिना विनिमय स्थयित्व बनायें रखने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर कुछ विनिमय नियन्त्रण के साथ विनिमय की लोचपूर्णता को प्रोत्साहित करता है।

(5) **मुद्रा कोष के प्रकाशन-** मुद्रा कोष द्वारा मुद्रा, बैकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रशुल्क नीति से सम्बन्धित कई प्रकाशन प्रकाशित किए जाते हैं। इनमें वार्षिक रिपोर्ट, विनिमय प्रतिबन्ध पर वार्षिक प्रतिवेदन, भुगतान शेष, वार्षिकी, मुद्रा कोष सर्वे (पाक्षिक), अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सांख्यिकी (मासिक) व्यापार दिशा (मासिक) वित्त एवं विकास (त्रैमासिक एवं स्टार पेपर्स इत्यादि हैं। मुद्रा कोष विश्व बैंक के साथ मिल कर "The Fund and the Bank Review" त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करता है।

(6) **तकनीकी सहायता-**मुद्रा कोष दो प्रकार से सदस्य देशों की तकनीकी सहायता भी करता है-(1) मुद्रा कोष सदस्य देशों को अपने विशेषज्ञों की सेवायें प्रदान करता है। (2) आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा कोष द्वारा बाहरी विशेषज्ञों को भी जटिल समस्याओं के समाधान के लिए सदस्य देशों में भेजा जाता है। तकनीकी सहायता देने के लिए मुद्रा कोष के दो विभाग सदैव कार्यरत रहते हैं- (1) केन्द्रीय बैंकिग सेवा विभाग (Central Banking Service Department) एवं प्रशुल्क मामलों का विभाग (Fiscal Affairs Department).

(7) **प्रशिक्षण कार्यक्रम-** 1951 से सदस्य देशों के प्रतिनिधियों को मुद्रा कोष द्वारा प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम चलाया जा रहा है, जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास, आंकड़ों का संकलन और विश्लेषण और वित्तीय व्यवस्था इत्यादि का प्रशिक्षण सम्मिलित हैं यह प्रशिक्षण अधिकतर केन्द्रीय बैंक तथा सरकार के वित्त विभाग के उच्च पदाधिकारियों के लिए होता है।

(8) **ट्रस्ट कोष-** जनवरी 1976 में मुद्रा कोष द्वारा एक ट्रस्ट कोष बनाने का निर्णय लिया गया, जिसके अन्तर्गत चार वर्ष के कार्यकाल में मुद्रा कोष द्वारा 25 मिलियन और सोना बेचने का प्रावधान किया गया औस इसके विक्रय से मिलने वाली आधिक्य राशि का अधिकांश भाग ट्रस्ट-कोष में जमा किया जाता है। इस कोष में जमा राशि के विषय में यह निर्णय लिया गया है कि इसमें से आधा प्रतिशत राशि वार्षिक ब्याज की दर पर सहायता देने के लिए प्रयोग की जायेगी। इन देशों में भारत को मिलाकर 62 देश सम्मिलित हैं।

(9) **क्षतिपूरक वित्तीय सहायता-**जो देश मुख्यतः प्राथमिक पदार्थो का उत्पादन और निर्यात करते हैं, उन देशों को अभयंश के आधार पर निश्चित राशि के अतिरिक्त भी सहायता देने को प्रावधान हैं प्रारंम्भ में क्षतिपूरक वित्तीय सहायता के रूप में देश को एक वर्ष की अवधि में अपने अभ्यंश का 50 प्रतिशत भाग प्राप्त करने का अधिकार था किन्तु 1980 में मुद्रा कोष ने एक वर्ष की अवधि में अभ्यंश के उपर्युक्त शर्त समाप्त कर दी। जुलाई 1985 तक विभिन्न देनों को इस पद के अन्तर्गत दी गई सहायता की रकम 7.3 अरब SDR के तुल्य थी।

(10) **सेवा शुल्क एवं लाभांश-** मुद्रा कोष द्वारा किसी सदस्य देश को ऋण देने पर जिस मुद्रा में उसे ऋण दिया जाता है वह मुद्रा मात्रा में कोष की निश्चित मुद्रा की मात्रा में से कम हो जाता हैं अर्थात वह देश कोष का ऋणी हो जाता है और उसे वे सभी शर्ते माननी होती हैं जो तात्कालिक प्रभाव में लागू होती है। ब्याज की दरें प्रगतिशील प्रकार की होती है अर्थात् ऋण भार की मात्रा के बढ़ने से ऋण मात्रा की सीमा की व द्धि के अनुसार ब्याज की दर भी बढ़ती चली जाती हैं। इसका सीधा लाभ यह होता है कि एक तो देश मुद्रा कोष से उधार लेने में हिचकिचाता है, तात्पर्य यह कि वह कोष से ऐसे कार्यो के लिए ऋण नहीं लेता जो अनावश्यक प्रक ति के होते हैं। इससे एक ओर जहां उत्पादन में व द्धि एवं गुणात्मक सुधार करता है वहीं दूसरी ओर वह देश बड़ी ऋण ग्रस्तता से बच जाता हैं

उपरोक्त सभी बिन्दुओं से यह स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वाभाविक रूप से अच्छे उद्देश्यों को लेकर खोला गया था। युद्ध जनित परिस्थितियों से त्रस्त सभी राष्ट्र एक ऐसा मंच बनाने की तलाश में ही थे जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देशों को एकत्र करने का प्रयास करें उनकी सांस्क तिक एवं मानवीय मूल्यों पर भली प्रकार समालोचना प्रस्तुत करके सौहार्द उत्पन्न करे और वास्तव में यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने बखूबी किया परन्तु इसके कार्य काफी समय उद्देश्यों के प्रति उदासीन से लगते हैं तथा अधिक सहायता उन देशों को पहुंच जाती हैं जिनको सहायता की इतनी आवश्यकता नहीं है।

अतः स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित किया गया था, प्रारम्भ में तो उन उद्देश्यों की शतप्रतिशत सही पूर्ति होती रही परन्तु अर्थव्यवस्थाओं के विकास के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता तथा अन्य प्रव तियों में दिशा परिवर्तन हुआ हैं। मुद्रा कोष के कुछ प्रतिबन्धित कार्य भी है जैसे मुद्रा कोष को निजी संस्थाओं एवं व्यक्तियों के साथ व्यवसाय का अधिकार नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष केवल अधिक त मौद्रिक संस्थाओं तथा केन्द्रीय बैंक के माध्यम से ही कार्य सम्पन्न कर सकता है। इसके साथ-साथ मुद्रा कोष दीर्घकालीन ऋणों की पूर्ति नहीं करता है। यह केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकता हैं।

मुद्रा कोष का एक प्रमुख प्रतिबन्धित कार्य यह भी है कि देश के सम्मुख जो सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि भुगतान सन्तुलन को अपने पक्ष में (Favourable) लाने के प्रयास किए जाए। अन्य संस्थाएं आन्तरिक अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर देते हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का यह प्रतिबन्धित कार्य स्वीकार किया गया है कि वह भुगतान सन्तुलन अपने पक्ष मे लाने वाले देश के स्वयं के प्रयासों के बीच उलझाव का प्रयास नहीं कर सकता।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि द्वितीय महायुद्ध काल की परिस्थितियों ने ब्रेटनवुडस सम्मेलन में अर्न्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (M.M.F.) को कीन्स योजना, हाइट योजना आदि के मिश्रण के रूप में तथा बिगड़ती अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की महती आवश्यकता थी। प्रथम सम्मेलन में विनिमय पर परिवर्तन का अधिकार, स्वर्ण में भुगतान हेतु नियातांश की मात्रा, कोष से किये जाने वाले ऋणों का पुर्नभुगतान आदि विषयों पर गहन विचार विमर्श के उपरान्त ही इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का उदय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अभ्यंश पूंजी

(Quota Capital of IMF)

प्रत्येक राष्ट्र को सर्वप्रथम दौरे में ही अपने अयंभ्श का कम से कम 25 प्रतिशत अथवा अपने देश की कुल स्वर्ण एवं डालर निधि का 10 प्रतिशत (जो भी कम हो) देना पड़ा। बाद में इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करना पड़ा और व्यवस्था की गई कि प्रत्येक देश अपने अभ्यंश का 25 प्रतिशत स्वर्ण के रूप में जमा करेगा। परन्तु 20 सदस्यों की समिति रिपोर्ट "An Outline of Reform" के अनुसार जनवरी 1976 से मुद्रा कोष में स्वर्ण जमा करने की प्रणाली समाप्त कर दी गई और अब सदस्य देश अपने अभ्यंश का 3/4 भाग अपनी मुद्रा में तथा शेष 1/4 भाग किसी भी कोष मुद्रा में जमा कराने की व्यवस्था कर दी गई।

कोष की स्थापना के समय प्रारम्भिक पूंजी 1000 करोड़ डालर जमा हुई थी जो 1-1से लाख डालर के 1 लाख अंशों मे विभाजित थी। सन 1986 के अन्त में यह पूंजी बढ़कर 89,988 मिलियन SDRs हो गई तथा सन् 1992 के अंत में यह मात्रा 1,03,925 मिलियन SDRs हो गई है। इन अभ्यंशों में से की गई व द्धि का 40 प्रतिशत सदस्य देशें के वर्तमान में धारित अभ्यंशों के अनुपात का आबंटन किया जायेगा तथा बाकी 60 प्रतिशत चयन के आधार पर किया जायेगा जो किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के अनुरूप होगा। इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत गैर तेल उत्पादन विकासशील देश का भाग कम होकर लगभग 23.8 प्रतिशत होने की संभावना हैं। मुद्रा कोष भी अभ्यंश पूंजी में व द्धि को निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है :-

तालिका

वर्ष	1945	1970	1978	1986	1992
अभ्यंश पूंजी करोड़ डालर/ SDRs)	1,000	2,921	3901	8998.8	10393
तुलनात्मक व द्वि	___	50%	33.6%	48%	34%

यह सर्वविदित है कि पहले कोष की व्यवस्था की लेखे की इकाई डालर थी परन्तु 20 मार्च 1972 से कोष का खाता SDRs के रूप में रखा जाता हैं प्रारम्भ में 1 SDRs की इकाई का मूल्य 0.888671 ग्राम शुद्ध स्वर्ण के बराबर था परन्तु SDR की इकाई मूल्य को 16 प्रमुख देशों की मुद्राओं के औसत मूल्य के रूप में व्यक्त किया जाने लगा था परन्तु 1 जनवरी, 1981 से SDR का मूल्य 5 मुद्राओं (अमेरिकी डालर, जर्मन मार्क, फ्रेंच का फ्रेंक, जापान का येन तथा ब्रिटिश पौंड) के आधार पर आंका जाता हैं

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में स्वर्ण का स्थान

(Place of Gold in IMF)

प्रारम्भ में स्वर्ण का स्थान मुद्रा कोष प्रचलन में प्रमुख था और प्रत्येक सदस्य देश को भी अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में व्यक्त करना पड़ता था। कोष के द्वारा स्वर्ण के अधिकतम मूल्य की घोषणा की जाती थी। परन्तु जब यह पाया कि स्वर्ण के स्वंय के मूल्य ही अस्थिर हैं तथा विभिन्न देशों ने परिवर्तनशीलता की दर तक से इन्कार कर दिया जब अमेरिका ने यह गारन्टी दी कि वह अपनी मुद्रा डालर को स्वर्ण में 35 डालर प्रति औस की दर से परिवर्तित करता रहेगा। परन्तु डालर के अवमूल्यन के बाद यह भी कोई स्थाई आधार नहीं रहा क्योंकि अब स्वर्ण परिवर्तनशीलता की दर 42.22 डालर प्रति औंस हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की मौद्रिक सुधार समिति ने यह प्रस्ताव रखा कि विशेष आहरण अधिकार योजना को ही बस कारण महत्व दिया जाए क्योंकि स्वर्ण मूल्यों में उच्चावचन एवं अस्थिरता उन उद्देश्यों को ही समाप्त कर देती है जिनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.G.) का निर्माण किया गया हैं।

उपरोक्त समिति के सुझावों के आधार पर ही विशेष आहरण अधिकार (SDRs) का स्वर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया और स्वर्ण का अधिक त मूल्य (35 SDR=US Dollar 42.22 = ± औंस स्वर्ण) वाले आनुपातिक सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया। इसी समय 25 मिलियन औंस जो मुद्रा कोष की परिसम्पति का लगभग 1/6 भाग पड़ता था, का एक ट्रस्ट कोष तैयार किया जिसका प्रमुख कार्य यह था कि विकासशील देशों की समस्याओं, विशेषकर उत्पादन एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्ध समस्याओं का आंकलन करके सहायता दिए जाने की संस्तुति करेगा। इसके अलावा कुल स्वर्ण का दूसरा1/6 भाग सदस्य देशों को वापस कर दिया गया और बाकी स्वर्ण की निकासी कैसे होगी इसका निर्णय सभी दिशों के (सदस्य देशों के) 85 प्रतिशत बहुमत द्वारा लिया जायेगा। अतः मुद्रा कोष में स्वर्ण का अब कोई भी महत्व नहीं रह गया है बल्कि इसके साथ SDR के मूल्य की इकाई के रूप में स्वर्ण का महत्व समाप्त हो गया हैं सदस्य देश बाजार में आधिकारिक मूल्य के बिना भी स्वतन्त्र हैं अर्थात स्वर्ण को न तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का माध्यम स्वीकार किया जाने लगा और न ही मूल्य का मापक।

विश्व अर्थव्यवस्था की स्थिति एवं संभावनाएं

(Situation of World Economy and Possibilities)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का वर्तमान अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि विश्व अर्थव्यवस्था सन 1990 में 2.1 प्रतिशत से घटाकर 1991 में 1.2 प्रतिशत (व द्धि के रूप में) रह गई तथा अब इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमारा जो लक्ष्य 1992 में 3 प्रतिशत तक पहुंचने का तथा सन 1993 में 3.6 प्रतिशत का था, वह कदाचित संभाव नहीं हो सकेगा।

औद्योगिक देशों के सम्बन्ध में सन् 1990 में उत्पादन व द्धि में 2.6 प्रतिशत तक की कमी होने का अनुमान था फिर 1991 में धीरे-धीरे 1.3 प्रतिशत तक होने और तत्पश्चात 1992 में इसमें 5.8 प्रतिशत तक की व द्धि होने का पूर्वानुमान था परन्तु यह भी व द्धि संभव न हो पाई। विकासशील देशों में सन् 199० में उत्पादन व द्धि अब ०.6 प्रतिशत होने का अनुमान है। इसमें 1992 में 3.4 प्रतिशत की व द्धि होने से पहले 1991 में 0.8 प्रतिशत की साधारण व द्धि होने की संभावना है। पूर्वी यूरोप तथा सोवियत संघ के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुमानों में 1990 में उत्पादन में 3.8 प्रतिशत तथा 1991 में फिर 4.1 प्रतिशत और 1992 में 2.2 प्रतिशत की कमी होने के संकेत थे, ये अनुमान कमोवेश सही निकले।

विश्व-अर्थव्यवस्था के क्रियाकलापों से ये प्रव तियां व्यापार व द्धि में भी परिलक्षित होती है। विश्व व्यापार की मात्रा में 1990 में 3.9 प्रतिशत की तुलना में 1989 में 7.1 प्रतिशत गिरावट आने का अनुमान था। सन् 1992 में 5.5 प्रतिशत तक की व द्धि के आसार थे परन्तु निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुंचा जा सका। वर्तमान में खाड़ी सकट इतना भयंकर रूप लेता जा रहा कि सारे अनुमान विफल हो जाते है, कारण यह कि इतनी तीव्र गति से बढ़ते हुए मूल्यों को भुगतान करने पर व्यापार शेष ऋणात्मक हो जाता है और कम आयात करने पर देश के अन्दर सम्पन्न होने वाले कार्य पूर्ण नहीं हो पाएंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के कोटे की सामान्य समीक्षा

(Gerneral Assessment of IMF quota)

यह पूर्व में ही बताया जा चुका है अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों को कोटे प्रदान किए जाते है, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को दिए जाने वाले उनके अंशदान, उनकी सम्बन्धित वोट देने की शक्ति, निधि संसाधनों में उनकी अधिकतम पहुंच तथा SDRs के आवंटन में उनके भाग को निर्धारित करते हैं। जून 1990 में गवर्नर बोर्ड ने एक संकल्प लिया था जिसमें नौवीं समीक्षा में 90.1 अरब SDR से 50 प्रतिशत की व द्धि करके 135.2 अरब SDR करने का प्रस्ताव पारित हुआ था। इस समीक्षा में कोटों में 60 प्रतिशत की समग्र व द्धि को सभी सदस्यों को उनके मौजूदा अलग-अलग कोटों के समानुपात में संवितरत किया जायेगा एवं शेष 40 प्रतिशत का कुल संगणित कोटों में प्रत्येक सदस्य के आधार पर चयनित करके आवश्यकतानुसार वितरित किया जाएगा।

उपरोक्त संगठित कोटा फार्मूलों के एक निर्धारित सेट से प्राप्त किये जाते है, जो चालू मूल्यों पर सकल घरेलू उत्पादन, वार्षिक औसत चालू प्राप्तियां, वार्षिक औसत चालू अदायगियां, चालू प्राप्तियों की भिन्नता और सरकारी प्रारक्षित निधियों जैसे परिवर्तियों पर आधारित विश्व अर्थव्यवस्था में सामान्य रूप से सदस्य की संबंधित स्थिति पर विचार करके तैयार किए जाते हैं। समीक्षा में यह स्पष्ट था कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कोटे में विकासशील देशों के भाग में व द्धि के स्थान पर गिरावट आयेगी और यह 36.89 प्रतिशत से कुछ कम होकर 36.43 प्रतिशत रह जाएगा। भारत का भाग भी 2.45 प्रतिशत से कम होकर 2.26 प्रतिशत होने का अनुमान था अतः भारत अन्तर्राष्ट्रीय कोटे के हिसाब से ग्यारहवें स्थान की जगह 12 वें स्थान पर आ गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की उपलब्धियां (सफलताऐं)

(Achievements of I.M.F.)

सन् 1944 में द्वितीय महायुद्ध से त्रस्त जिन देशों ने ब्रेटनवुडस में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक जैसी

पुर्ननिर्माणी संस्थाओं को बनाया था उन संस्थाओं ने काफी आशाजनक परिणाम प्रस्तुत किए। हालांकि लक्ष्य : शत प्रतिशत तो पूर्ण नहीं हो सके परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने बहुत सी सफलताएं प्राप्त की जिन्हे निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता हैः-

(1) **विश्व व्यापार में व द्धि** (Increasing World Trade) मुद्रा कोष का सदैव यह प्रयत्न रहा कि विश्व व्यापार में आने वाले रूकावटों को दूर करने के समस्त प्रयत्न किए जाए। मुद्रा कोष ने भुगतानों का सरलीकरण किया, भुगतान असन्तुलन की स्थिति को साम्य की दशा अथवा देश के पक्ष में भुगतान सन्तुलन करने आदि में मदद दी। यह तथ्य इस बात से भी स्पष्ट है कि जहां 1948 में विश्व निर्यात केवल 53 लाख डालर के थे, वे 1993 में बढ़कर 1923 मिलियन डालर के हो गए हैं

(2) **समता दरों की उपयोगिता** (Utility of Equi Rates) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के समय पूर्व में जो विनिमय दर निर्धारिक किए जाने का प्रश्न उठता था तो मार्ग में कई अवरोध आते थे जैसे किसी देश की मुद्रा का अवमल्यन होना, विनिमय नियमों एवं मात्र में कठिनाई, आदि। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनिमय दरों के स्थान पर सदस्य देशों के मध्य समता दरें निर्धारित की जिससे विश्व-व्यापार में एक अवरोध कम हुआ। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष समझौते की धारा 4 के अन्तर्गत सदस्य देशों की विनिमय दरों पर कड़ी नजर रखता है। ऐसा इस कारण किया जाता है ताकि विनिमय दरों में इतने अधिक उच्चावचन न आ जायें जिससे कि विश्व व्यापार की व द्धि में कोई अवरोध उत्पन्न हो।

(3) **बहुपक्षीय व्यापार के पक्ष में** (In favour of Multi Lateral Trade)- द्विपक्षीय व्यापार में तो दोनों देशों की मुद्रा का आपसी विनिमय सुगमता से किया जा सकता है, परन्तु यदि देश बहुपक्षीय व्यापार करते हैं तो कुछ अनावश्यक अवरोध आने की संभावना रहती है। परन्तु मुद्रा कोष ने बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली की स्थापना की और इसके परिणामस्वरूप चालू भुगतानों के लिए मुद्रा केाष ने महत्वपूर्ण प्रगति की है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सुगम बनाया है।

(4) **भुगतान सन्तुलन में सहायक** (Helpful in Balance of Payments) - आज देशों के सामने जो सबसे भीषण अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है, वह है भुगतान-असन्तुलन की स्थिति की। अब जो घाटे की स्थिति पैदा हो जाती है वह यदि निरन्तर ही बनी रहती है तो वह देश आर्थिक रूप से जर्जर हो जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा ने इस सम्बन्ध में अति सूझबूझ के साथ उचित निर्णय लिए हैं तथा अपने उद्देश्यों में से इसे प्रमुख उद्देश्य स्वीकार किया कि सदस्य देशों के अल्पकालिक घाटों को दूर किया जाए। पूर्व में ही कहा जा चुका है कि तेल निर्यातक देश के द्वारा तेल के मूल्यों में भारी व द्धि के कारण सदस्य देशों के भुगतान में चालू खाते के अन्तर्गत घाटा उत्पन्न हो गया था। सन् 1978 में 33 विलियन डालर का अतिरेक था जो 1979 में 10 विलियन डालर के घाटे में परिवर्तित हो गया। अतः मुद्रा कोष हर संभव प्रयोग करके अल्पकालिक घाटों को दूर करके भुगतान-असन्तुलन को दूर कने का प्रयास करता है तथा इसमें उसे सफलता भी मिली है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग** (International Monetary Cooperatioin) - अपने सदस्य देशों को मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग भी प्रदान करता है। वह उनको आर्थिक प्रशुल्क एवं वित्तीय नीतियों तथा भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयों सम्बन्धी सहायता प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याएं कोई देश अकेला ही हल नहीं कर सकता है उसे अन्य देश की नीतियों के हिसाब से चलना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मौद्रिक सहयोग के लिए एक मंच प्रदान करता है। ताकि सभी देश मिल जुलकर अपनी समस्याओं को हल कर सकें।

(6) **पुनर्निमाण एवं विकास उद्देश्य** (Reconstruction and Development Moto)- विभिन्न देशों के, जिनकी आर्थिक स्थिति जर्जर है अथवा जो अपन विकास करना चाहते है उनके लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष अपनी सेवाएं प्रदान करता है। इससे कोषों का अधिक सार्थक उपयोग होने लगा है। पहले कोष का उद्देश्य यह रहता था कि कोष का प्रयोग केवल भुगतान असन्तुलन की समस्या को निपटाने के लिए ही किया जाता था परन्तु अब देशों के आर्थिक विकास के लिए भी उसका उपयोग किया जाता है।

(7) **विकासशील देशों की ओर विशेष ध्यान** (Special Attention towards developing countires)- विकसित

देशों को तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सहायता अपना आर्थिक स्तर बढ़ाने के लिए मिलती है परन्तु विकासशील देश जो संख्या में भी अधिक हैं तथा जिन्हें अपने विकास के लिए धन की आवश्यकता है उन्हें मुद्रा कोष उदारतापूर्वक विशेष सहायता प्रदान करता हैं इस विशेष सहायता को प्राप्त करके कई देश भुगतान-असन्तुलन की समस्या से उभर सके हैः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने पिछड़े एवं विकासशील देशों के लिए एक ट्रस्ट कोष (Trust Fund) भी बनाया है। सन् 1993 तक प्रदान की गई कुल सहायता का लगभग 68 प्रतिशत विकासशील देशों को ही प्रदान किया गया। कोष द्वारा प्रदत्त यह मात्रा लगभग 73,007 मिलियन SDRs के बराबर है जिससे विकासशील देशों को अपना स्तर सुधारने में सहायता मिली है।

(8) **तकनीकी ज्ञान के विस्तार में सहायक** (Helpful in extension of Technical knowledge)- भारत तथा अन्य विकासशील देशों के विकसित न हो पाने के पीछे एक कारण यह है कि उनके पास जो आर्थिक समाधान पाए जाते है वे वहां पूर्ण उपभोग नहीं हो पाते। किस्म एवं मात्रा दानों में ही कमी के कारण उचित मात्रा का निर्यात संभव नहीं हो पाता क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार प्रतिस्पर्धात्मक होता है। इन देशों के पास यदि उचित तकनीक हो तो वे अपने माल को कच्चे रूप में न भेजकर अर्द्धनिर्मित या निर्मित दशा में भेज सकते हैं तथा अपने सामान की उचित कीमत वसूल कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इन देशों की तकनीकी ज्ञान की समस्या को हल करता है। इसका प्रशिक्षण संस्थान तकनीकी समस्याओं को समझकर कोष से एक निश्चित धनराशि दिलाकर तकनीकी रूप से देश के विकास करने में सहायता प्रदान करता है। कोष द्वारा इस संबंध में प्रशुल्क मामलों का विभाग तथा केन्द्रीय बैंकिंग सलाह सेवाएं अति महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।

(9) **विकास और मुद्रा कोष** (Development and IMF)- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष प्रत्येक देश के विकास के लक्ष्य को लेकर निर्मित किया गया हैं इसके सदस्य देशों में से 24 देशों के समूह, जिन्हें G-24 के नाम से सम्बोधित किया जाता है, ने विकासशील देशों में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का अध्ययन करके उन्हें विकसित देशों के साथ उचित तालमेल की सलाह दी है। 1987 में G-24 ने "विकास के साथ समायोजन में मुद्रा कोष की भूमिका" विषय पर विकास गोष्ठी सम्पन्न की जिसकी रिपोर्ट के अनुसार मुद्रा कोष के कार्यक्रमों में आर्थिक विकास के समायोजन हेतु वित्तीय कार्यक्रमों के पूर्व विकास से सम्बन्धित कार्यो को पूर्ण करने की सलाह दी गई थी। विभिन्न देशों द्वारा लिए गए ऋणों की मात्रा, उन पर आरोपित ब्याज की दरें आदि को भी मुद्रा कोष ध्यान में रखता है तथा विकास के साथ समायोजन करता हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुद्रा कोष ने वर्तमान समय तक विभिन्न सदस्य देशों के लिए बहुत ही सफल कार्य किये हैं। भारत की द ष्टि से भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। आशा है कि आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का पूर्ण सहयोग भारत को मिलता रहेगा।

मुद्राकोष की आलोचनाएं

(Criticisms of I.M.F.)

मुद्रा कोष द्वारा किये गए विकास कार्यों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि कोष की समस्त कार्यवाहियां आलोचनारहित हैं बहुत से अर्थशास्त्री तो यहां तक कहते हैं कि "मुद्रा कोष अपने उद्देश्यों में सर्वथा विफल रहा है।" मुद्रा कोष की कुछ प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार प्रस्तुत हैंः-

(1) **भेदभाव पूर्ण नीति** (Policy of Difference)- मुद्रा कोष विकसित तथ सबल राष्ट्रों को अल्पविकसित एवं निर्बल राष्ट्रों के मुकाबले अधिक तरजीह देता हैं। सबल राष्ट्र यदि कुछ गलत भी कर दें तो मुद्रा कोष उन पर पूर्ण ध्यान नहीं देता। उदाहरणार्थ, फ्रांस ने सन् 1948 में बिना कोष की आज्ञा प्राप्त किये हुए ही अपनी मुद्रा को पुर्नमूल्यांकित कर दिया था फिर भी कोष ने इसका विरोध नहीं किया था जबकि यह क त्य कोष में उल्लिखित धाराओं में विपरीत था।

(2) **अभ्यंशों को त्रुटिपूर्ण आधार** (False Base of Quotes) - मुद्रा कोष के सदस्य देशों द्वारा प्रदत्त कोटा का आधार वैज्ञानिक एवं निश्चित तथ्यों पर आधारित नहीं है। वास्तव में यह आधार विनिमय आवश्यकताओं, भुगतान शेषों की प्रतिकूलता, विकास की स्थिति आदि तत्वों पर आधारित होना चाहिए था। इसी कारण कोष में सबल राष्ट्रों की संख्या कम होते हुए भी

उनका प्रभुत्व निबल राष्ट्रों की अधिक संख्या होने के बावजूद कोष पर रहा एवं वर्तमान में भी है।

(3) **केवल अल्पकालिक ऋण** (Only Short term loans) मुद्रा कोष जब राष्ट्रों को विकसित एवं पुननिर्मित करने का दायित्व निर्वाह कर रहा है तो दीर्घकालिक ऋण भी उपलब्ध कराने चाहिए जबकि कोष केवल अल्पकालीक सहायता ही उपलब्ध कराता हैं। इस सम्बन्ध में जाने माने अर्थशस्त्री प्रो. विलयम्स (Prof. Williams) का मत है कि "मुद्रा कोष की स्थापना दूसरे महायुद्ध के बाद की गई थी तथा उस समय विश्व के अधिकांश देशों में भुगतान असनतुलन पाया जाता था जिसके लिए दीर्घकालिक ऋण आवश्यक थे अतः कोष की स्थापना का उद्देश्य निरर्थक था।"

परन्तु यह आलोचना पूर्ण रूप में सही नहीं है क्योंकि मुद्रा कोष के पास कोषों की कमी थी एवं उसे सभी सदस्य देशों की समस्याओं को भी हल करना पड़ता था।

(4) **व्यापारिक प्रतिबन्ध** (Trade Restrictions)- खुली अर्थ व्यवस्था के कुछ अपने विशिष्ट लाभ होते हैं एवं प्रतिबन्धित अर्थव्यवस्था में हानियां। विकसित देशों के यह चाहने के बावजूद कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विकसित देशों को सलाह दे कि व्यापारिक प्रतिबन्ध हटा लिए जायें, कई विकासशील देश इस मत से सहमत नहीं हुए क्योंकि विकासशील देशों की अपनी अलग समस्याएं होती हैं तथा उन्हें स्वदेशी उद्योगों को विकसित करके अपने देशवासियों की रोजगार की समस्या का भी निवारण करना होता है। क्योंकि विकसित देश विकासशील देशों का लगभग 2/3 भाग आयात करते हैं अतः विकसित देश संरक्षण की नीति का परित्याग कराना चाहते हैं परन्तु मुद्रा कोष इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर सका।

उपरोक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त कुछ और बिन्दु भी मुद्रा कोष की असफलता दर्शाते हैं, जो निम्न प्रकार के है,

(5) मुद्रा कोष सदस्य देशों की विदेशी मुद्रा संबंधी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाया।

(6) कार्यकारी समिति अधिकतर विकसित देशों के हितों की रक्षा करती है, अल्प विकसित देशों की और पूर्ण ध्यान नहीं दे पाती।

(7) विकासशील देशों को अपर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकी हैं।

(8) ऋणों को अल्पावधि का एवं इसका क्षेत्र सीमित कर दिया गया हैं

(9) कोष डालर के अभाव को पूर्ण रूप से दूर नहीं कर पाया।

(10) कोष ने समता मूल्यों के निर्धारण उचित आधार पर नहीं किये है।

मुद्रा कोष की उपलब्धियों तथा आलोचनाओं का यदि समालोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि जिस संस्था का भी निर्माण अच्छे उद्देश्यों को लेकर किया जाता है, उसकी कमियां उसकी कमियां भी होती हैं परन्तु कमियों का तात्पर्य यह तो नहीं होता कि संस्था का निर्माण ही गलत हुआ हैं आलोचनाओं के आधार पर संस्था के कार्यों में सुधार लाया जाना चाहिए। हम इस तथ्य से भली भांति परिचित हैं कि मुद्रा कोष ने सदस्य देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग प्रदान करने में विशिष्ट सहायता प्रदान की है। आज विकासशील देशों के सम्मुख ऊर्जा समस्या, खाड़ी संकट, मन्दी की दशाऐं, भुगतान असन्तुलन की समस्या आदि विभिन्न प्रकार की समस्याएं विद्यमान हैं, जिनका समाधान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष बखूबी कर सकता हैं। इसके लिए कोष को अपनी कुछ नीतियों एवं मानकों को परिवर्तित करना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और भारत
(I.M.F. and India)

भारत अर्न्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्राथमिक सदस्य है। सन् 1944 में 44 राष्ट्रों द्वारा प्रारम्भ किए गए पुर्ननिर्माणत्मक सहयोग हेतु बनाए गए सहयोगी चार्टरों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक प्रमुख थे। यद्यपि उस समय भारत ब्रिटिश चुंगल में था इसी कारण देश के कई विद्वानों ने यह सुझाव दिया था कि भारत को इन संस्थाओं से अधिक लाभ प्राप्त नहीं

होगा क्योंकि ये संस्थाऐं विकसित राष्ट्रों के इशारे पर ही चलेंगी तथा विकसित देश अपने स्वार्थ में अल्प विकसित राष्ट्रों को कुछ नहीं देंगे। दूसरी बात इसके समर्थन में यह भी कही जा सकती थी कि जब भारत का भुगतान सन्तुलन पक्ष में है तो उसे सदस्य होने से क्या लाभ हो पायेगा। इन आपत्तियों के बावजूद भी भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन गया तथा मुद्रा कोष के चारर्ट पर हस्ताक्षर कर दिए। 27 दिसम्बर सन् 1945 को भारत इस संस्था का सदस्य बन गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रारम्भिक अभ्यंश 400 मि. डालर भारत ने जमा कर दिया तथा भारतीय मुद्रा रूपये की विनिमय दर 0.268601 ग्राम शुद्ध स्वर्ण अथवा 31.25 सेन्ट घोषित की। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन् 1949 में भारतीय रूपये का अवमूल्यन सरकार द्वारा कर दिया गया जिसके पश्चात भारत की विनिमय दर 0.118489 ग्राम स्वर्ण और 13.3 सेन्ट निर्धारित हुई। भारत का प्रारम्भिक अभ्यंश सर्वाधिक अभ्यंश दिए जाने वाले देशों में से एक था। प्रारम्भिक सदस्य होने तथा सर्वाधिक अभ्यंश वाले देशों मे से एक होने के कारण भारत को संचालक मण्डल में स्थायी स्थान प्रदान किया गया था परन्तु वर्तमान में भारत इस संस्था का स्थाई सदस्य नहीं है क्योंकि इसका कोटा कम हो गया है। भारतीय कोटे की स्थिति विभिन्न वर्षों में निम्न प्रकार रही हैं।

1. सन 1944 में कोटा 400 मिलियन डालर था।
2. सन 1960 में कोटा 500 मिलियन डालर हो गया।
3. सन 1965 में भारत का कोटा 750 मिलियन डालर हो गया।
4. सन 1970 में भारतीय अभ्यंश 940 मिलियन डालर हो गया।
5. सन 1976 में भारतीय अभ्यंश 1145 मि. SDR हो गया।
6. सन 1984 में भारतीय अभ्यंश 2208 मि. SDR हो गया।
7. सन 1992 में भारतीय अभ्यंश 2994 मि. SDR हो गया।

मुद्रा कोष से भारत को मिलने वो ऋण

(Debts Position of India from I.M.F.)

भारत को सन 1960 तक कुल 645 मिलियन डालर के ऋण प्राप्त हुए थे जिनकी मात्रा सन् 1975 तक बढ़कर 1865 मिलियन डालर हो गई। भारत प्रारम्भ में अपना ऋण पूरा चुकता करता रहा था तथा सन् 1973 तक भारत पर मुद्रा कोष का कोई ऋण शेष नहीं रह गया था परन्तु तेल संकट के कारण तथा मुद्रा कोष द्वारा तेल के लिए सुविधा हेतु दिए गए ऋणों से भारत को पुनः लाभान्वित किया गया तथा सन 1974 में भारत ने पुनः ऋण ले लिया। मुद्रा कोष द्वारा यह निर्णय लिया गया था कि गैर तेल उत्पादन विकासशील देशें को तेल संकट से उबरने के लिए सहायता प्रदान की जानी चाहिए। इसी से प्रेरित होकर कई देशों के साथ भारत ने भी सन् 1974-75 में 7532 मिलियन रूपये के बरावर ऋण राशि प्राप्त की। इस ऋण राशि पर ब्याज की मात्रा बहुत अधिक हो रही थी जिसके कारण भारत सरकार के निर्णय के अनुसार 21 जुलाई सन् 1978 को भारत ने मुद्रा कोष की पूर्ण ऋण राशि 20 करोड़ 13 लाख डालर का ऋण चुकता कर दिया तथा अब भारत पूर्णतः मुद्रा कोष के कर्ज से मुक्त हो चुका था।

इसके पश्चात भारत ने सन् 1980 में लगभग 540.8 करोड़ भारतीय रूपये के बराबर ऋण पुनः ले लिया जिसको 10 अर्द्ध वार्षिक किश्तों में चुकाया जाना था तथा इस पर 0.5 प्रतिशत की दर से ब्याज निर्धारित की गई थी। मुद्रा कोष के द्वारा दी गई क्षतिपूर्ति वित्तीय सुविधा के अन्तर्गत कोष ने भारत को विदेशी विनिमय क्रय करने की अनुमति भी प्रदान कर दी थी। यह क्रय 266 मिलियन SDR अर्थात 274 करोड़ रूपये के बराबर था और यह राशि कुल जमा भारतीय अभ्यंश का 23.2 प्रतिशत के बराबर थी।

सन् 1982 में भारत द्वारा मुद्रा कोष से 1500 मिलियन SDR का ऋण पुनः लिया गया। तत्पश्चात सन् 1983 में पुनः 1500 मिलियन SDR तथा सन् 2984 मं 600 मिलियन SDR के बराबर ऋण लिए गए। सन् 1985 तक भारत द्वारा

कुल 6031 मिलियन SDR के बराबर ऋण लिए गए थे जिनमें से 2135 मिलियन SDR के बराबर ऋणों का भुगतान कर दिया गया था।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से प्राप्त लाभों के बारे में यदि वर्तमान तक के सन्दर्भ में देखा जाए तो उसे कोष से भारी ऋण राशि मुद्रा कोष से विभिन्न संकटों से मुक्ति पाने हेतु प्राप्त हो चुकी है परन्तु यह देश का दुर्भाग्य है कि सबल चरित्र नागरिक न हो पाने की स्थिति में ऋण कोषों को सदैव पूर्ण उपयोग विकास कार्यों हेतु सम्पन्न नहीं हो पाया हैं जैसे कि वर्तमान में चल रही ग्रामीण विकास योजनाओं का सम्पूर्ण लाभ उन ग्रामीणों को प्राप्त नहीं हो सका हैं, जो वास्तव में गरीब तथा जरूरतमंद हैं, बल्कि लाभ का एक बड़ा भाग तो बिचौलिये हड़प जाते हैं इससे एक ओर तो विकास कार्यक्रमों में लगे धन की बर्बादी होती है दूसरी ओर धनीं और निर्धन के बीच खाई और गहरी होती जाती हैं। ठीक इसी प्रकार भारत ने जो भी ऋण मुद्रा चली कोष से प्राप्त किये उनका पूर्ण सदुपयोग नहीं किया जा सका और भारत उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सका जितना अपेक्षा की जाती थी। फिर भी संक्षेप में भारत को मुद्रा कोष से निम्नलिखित लाभ प्राप्त हुए हैं-

1. विदेशी विनिमय संकटों के अवसर पर मुद्रा कोष से सदैव सहायता प्राप्त होती रही है।

2. भुगतान सन्तुलन की स्थिति का पूर्ण अवलोकन एवं आंकलन करने के पश्चात मुद्रा कोष ने भारत को 1949 व 1966 में भारतीय रूपये का अवमूल्यन करने की अनुमति प्रदान की थी।

3. रूपये का मूल्य स्वर्ण में अंकित कराकर विभिन्न मुद्राओं पर निर्भरता को समाप्त कर दिया है।

4. भारत को मुद्रा कोष के तकनीकी विभाग के द्वारा समय-समय पर सहायता प्रदान की गई।

5. भारत को प्रमुख विकासशील देश का दर्जा प्रदान कराने में मुद्रा कोष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक तथा भारत

(The IMF, WB and India)

हाल के वर्षों तक नियोजन युग के दौरान भारत की औपचारिक आर्थिक नीति मिश्रित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र को एक वर्चस्वकारी भूमिका देने की रही है ताकि निजी क्षेत्र में कुछ हाथों में आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण को रोका जा सके, विदेशी पूंजी के अन्तः प्रवाह तथा साथ ही आयातों को नियंत्रित किया जा सके तथा घरेलू उद्योगों को संरक्षण दिया जा सके। अतः भारत की आर्थिक नीति स्वतंत्र उपक्रम, स्वतंत्र बाजार तथा स्वतंत्र व्यापार नीति की IMF तथा विश्व बैंक की नीति से टकराती रही है।

भारत की आर्थिक नीतियों ने नेहरू युग एवं तत्पश्चात् अवधि में परमिट राज के नियंत्रण हेतु व्यवस्था की। सोवियत के नियोजन माडॅल का पालन करके पर्याप्त भारतीयकरण के साथ, लेकिन देश एक बंद अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ चला। World Bank तथा IMF के अधिकारियों ने इसे तनिक भी उचित नहीं ठहराया। जब भी भारत ने विदेशी विनिमय सकंट का सामना किया इन संस्थानों का यही प्रयास रहा कि भारतीय औद्योगिक तथा व्यापार नीतियों को उदार बनाया जाये। सत्तर के दशक के बाद भारत को अपनी आर्थिक नीतियों को बदलना पड़ा। इनमें से अधिकांश परिवर्तन IMF के दबाव से हुई उदारीकरण की प्रक्रिया के कारण थे। 1975 में आपातकाल को लगाया जाना IMF के कार्यक्रमों तथा रणनीतियों के विरूद्ध राजनैतिक विरोध को दबाना भी था। वास्तव में श्रीमति इंदिरा गांधी पर भारी दबाव था कि अपनी अर्द्ध सामाजिक नीतियों को छोड़े तथा पश्चिमी की बाजार विचारधारा को अपना ले। IMF तथा World Bank द्वारा एक अत्यंत सोचा समझा तथा दीर्घकालीन आंदोलन छेड़ा गया यह देखने के लिए कि भारत पश्चिमी निजी निवेश, पश्चिमी प्रौद्योगिकी तथा समय के साथ-साथ बढ़ती मात्रा में पश्चिमी निर्यातों के लिए अपने दरवाजे खोलता है।

इन अन्तर्राष्ट्रीय सत्ताओं ने ऐसी वित्तीय स्थितियों में देश को आर्थिक सहायताऐं प्रदान की है। 1981 में विकास सहायता के नाम पर भारत को 5 मिलियन डॉलर्स का SDR Loan मिला था। 1991 में जब देश भारी विदेशी विनिमय तथा

वित्तीय संकट से जूझ रहा था तो IMF तथा World Bank न केवल सहानुभूति के तौर पर मदद के लिए आए वरन् उन्होंने अपने दायित्व का निर्वाह भी किया। इस सहायता के लिए देश की IMF की सभी शर्तों को मानने के लिए विवश होना पड़ा। वास्तव में व्यापारिक तथा विनिमय उदारीकरणों को काफी तेज कर के भारतीय अर्थव्यवस्था पर थोपा गया था जो सभंवत देश कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के उत्साह में गरीबी, असमानता तथा बेरोजगारी की लम्बी चलती समस्याओं की तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया। अतः जब भारत जैसे देशों को अन्तर्राष्ट्रीय स्त्रोतों से ऋण लेने की जरूरत पड़ती है तो उनको IMF तथा World bank के अधिकारियों की तरफ से समझाने तथा दबाने के प्रयासों को हतोत्साहित करने के लिए तैयार रहना चाहिए केवल उन्हीं प्रस्तावों तथा सुधारों के लिए प्रचार प्रसार करने से जिनकों वे सर्वोत्तम समझते हैं विशेषतः जब वे अनावश्यक तौर पर पक्षपात तथा अनुचित व्यवहार कर रहे हों।

यद्यपि विश्व बैंक ने एशिया में पारस्परिक सहयोग तथा आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा उसका एशिया के सभी देशों में स्वागत किया गया है तो भी इसकी निम्न आधारों पर आलोचना हुई है :-

1. चूंकि इसकी सदस्यता पश्चिम के गैर-एशियन विकसित देशों के लिए खुली है अतः कुछ लोगों द्वारा इसके एशियन चरित्र पर प्रश्न चिन्ह खड़ा किया जाता है।

2. चूंकि 'वोटिंग पॉवर' सदस्य देशों के पूंजी अंशदान द्वारा निर्धारित की जाती है। अतः गैर-एशियन विकसित देशों का ही बोलबाला रहता है। अमेरिका का पूंजी अंशदान सबसे अधिक है अतः वह बैंक के कामकाज पर अपनी विचारधारा को लागू करवाने में किसी हद तक सफल रहा है। गैर-एशियन विकसित देश बैंक के कामकाज पर अपनी राजनीति करते रहे हैं।

इसके विपरीत यह तर्क दिया जाता है कि गैर एशियन देशों से बैंक का इस क्षेत्र के भले के लिए ही है तथा ये देश तो अपने मुद्रा बाजारों से पूंजी अंशदान ही करते हैं तथा एशिया के विकासशील देशों को तकनीकी सहायता सुलभ कराते हैं। आज समय की मांग है कि बैंक के वित्तीय संसाधनों को बढ़ाया जाये ताकि एक प्रभावी विकास संस्था के रूप में यह और अच्छा काम कर सकें।

Asian Development Bank के मामले में कोषों के आबंटन की दर बहुत ही नीची रही है। इसका कारण रहा है अनुमति तथा क्रियान्वयन के बीच भारी अन्तराल। लेकिन यह इस कारण भी हो सकता है कि देश स्थानीय लागतों को पूरा कराने के लिए अपने बजटों में आवश्यक संसाधन सुलभ नहीं कर पा रहे हैं। जो प्रकल्प की कुल लागत का आधे से अधिक होता है। एक अन्य समस्या रही है कि विकसित देश Asian Development Bank द्वारा दिये गये अनुबंधों का एक बड़ा भाग ले जाते हैं। भारत यद्यपि एक दूसरा सबसे बड़ा क्षेत्रीय प्रदाता है तथा एक गैर-ऋणी भी हैं। जहां तक अनुबंधों का सवाल है इस द ष्टि से इसका आठवां स्थान रहा है।

वस्तुतः ADB एक क्षेत्रीय वित्त संस्थान है जिसकी United Economic Commission for Asia and Far East (EDAFE) के अंतर्गत दिसंबर 1995 में स्थापना की गई एशिया के देशों के आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए। बैंक का मुख्यालय फिलिपाईन्स की राजधानी मनीला में है। बैंक की सदस्यता ECAFE के सदस्यों को, उसके सम्बद्ध सदस्यों को तथा ECAFE क्षेत्र के अन्य ऐसे देशों को उपलब्ध हैं तो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं या उसकी किसी विशिष्ट संस्था के सदस्य हैं।

यद्यपि सदस्यों का बहुसंख्यक वर्ग क्षेत्रीय सदस्य है तथापि बैंक गैर-क्षेत्रीय सदस्यों को प्रवेश प्रदान करता है।

बैंक के चार्टर के अनुसार इसका पूरक उद्देश्य है, "एशिया तथा सुदूर पूर्व के क्षेत्र में आर्थिक विकास तथा सहयोग को बल देना तथा सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप में, क्षेत्र में विकासशील सदस्यों के आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गति प्रदान करने के प्रति योगदान करना।" (To faster economic growth and co-operation in the region of Asia and far East and to contribute to the acceleration of the process of economic development of the developing members in the region, collectively and individually)

मई, 1990 में Asian Development Bank की वार्षिक सभा नई दिल्ली में आयोजित हुई तथा बैंक ने उधार देने के एकदम एक नये क्षेत्र पर जोर दिया 'पुनः वनों के माध्यम से वातावरणीय संतुलन को बहाल करना सबसे पहली प्राथमिकता उन व्यापक क्षेत्रों के वन अभियान को दी गई जहां भारी वन कटाव के माध्यम से काफी जमीन बर्बाद हुई है। यह व्यक्त किया गया कि इन देशों में कृषि ऋण का कम से कम चौथाई भाग वनों, वातावरण तथा जल प्रबंध को दिया जाये। (Forestry, environment and water shed management process)

विशिष्ट विकास परियोजनाओं के लिए ऋण देने के साथ-साथ Asian Development Bank विभिन्न स्वरूपों में अपने सदस्य देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है।

1. प्रौद्योगिकी सहायता विकास परियोजनाओं के वित्त प्रबंध तथा क्रियान्वयन हेतु तैयारी में सदस्य देशों को दी जा सकती है।

2. राष्ट्रीय या क्षेत्रीय आधार पर नई संस्थाओं के स जन हेतु भी सदस्य देशों को सहायता दी जा सकती है। जैसे कृषि, उद्योग, परिवहन आदि के क्षेत्रों में।

3. बैंक सदस्य देशों की आर्थिक समस्याओं के समाधान में उनकी सहायता के लिए प्रौद्योगिकी सहायता मिशन भी गठित करता है।